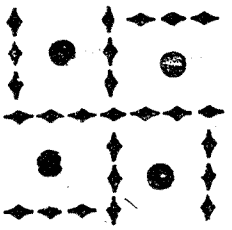
श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

(सर्वाधिकार सुरक्षित)



सुभाषित रत्न संदोह प्रवचन

(भाग १, २, ३)

मूल ग्रन्थकर्त्ता :—

श्रीमदमितगति आचार्य (द्वितीय)

प्रवचनकार :—

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, गुरुवर्य श्रीमनोहर जी वर्णी, 'सहजानन्द महाराज'

सम्पादक :—

पवन कुमार जैन

सदर, मेरठ

प्रकाशक :—

खेमचन्द जैन

मंत्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५-ए रंजीतपुरी, सदर मेरठ

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

१. श्री ला० महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स	सदर मेरठ
२. श्रीमती फूलमाला देवी धर्म पत्नी श्री महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स	,, ,,
३. श्रीमती शशिकान्ता जैन धर्मपत्नी श्री धनपाल सिंह जी जैन सर्राफ	सोनीपत
४. श्री ला० लालचन्द विजय कुमार जी जैन सर्राफ	सहारनपुर
५. श्रीमती सुवटी देवी जैन सरावगी	गिरीडीह
६. श्रीमती जमना देवी जैन धर्मपत्नी श्री भंवरीलाल जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
७. श्रीमती रहती देवी जैन धर्म पत्नी श्री विमल प्रसाद जी जैन	मंसूरपुर
८. श्रीमती श्रीमती जैन धर्मपत्नी श्री नेमिचन्द जी जैन	मुजफ्फरनगर
९. श्रीमान शिखर चन्द जियालाल जी एडवोकेट	,,
१०. श्रीमान चिरंजी लाल फूलचन्द बैजनाथ जी जैन बड़जात्या नई मण्डी	,,
११. श्रीमती पूना बाई धर्मपत्नी स्व० श्री दीप चन्द जी जैन	गोटेगांव

समादरणीय पाठक वृंद,

ग्रन्थराज 'सुभाषित रत्न संदोह' पर परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज के प्रवचन आपके सम्मुख प्रस्तुत हैं। इस ग्रन्थराज के मूलकर्त्ता आचार्य प्रवर श्रीमत् अमितगति हैं जो राजा मुंज के समकालीन थे।

सकल जैन वाङ्मय के पारंगत आचार्य देवसेन के शिष्य श्रीमान पूज्य अमितगति (प्रथम) आचार्य हुये। उनके शिष्य श्री नेमिषेण आचार्य हुये जो सज्जनों में प्रधान और माथुर संघ के तिलक स्वरूप थे। उनके शिष्य श्री माधवसेन सूरि तथा उनके विद्वान शिष्य श्री अमितगति (द्वितीय) आचार्य हुये जिन्होंने इस पवित्र शास्त्र की रचना की।

इस ग्रन्थ में संसार के विषयों के त्याग आदि ३२ प्रकरण हैं जिनको बड़े ही विशद रूप में समझाया गया है। सबसे अधिक उपयोगी बात तो यह है कि ये सभी प्रकरण मानव मात्र के काम के हैं चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो। आचार्य प्रवर की लेखन प्रणाली अपने में बेजोड़ है। क्योंकि इन्होंने प्रत्येक विषय को अनेकों प्रकार से समझाया है और फिर भी संतुष्ट न होने पर उसी विषय को अन्य स्थल पर अन्य प्रकार से समझा दिया है। सभी संसारी जीवों के हित की उत्कट भावना को अपने अन्तःकरण में रखते हुये ही मानों आचार्य प्रवर श्री अमितगति ने इस ग्रन्थ की रचना की। प्रस्तुत ग्रस्थ में सर्वाधिक विवाद ग्रस्त प्रकरण आप्त गुरू व आगम के स्वरूप वर्णन का है परन्तु आचार्य प्रवर ने इन विषयों को इस ढंग से समझाया कि जैन अजैन सभी ने इस स्वरूप को स्वीकार किया है। अस्तु प्रस्तुत ग्रन्थ वास्तव में एक कल्प वृक्ष व चिन्तामणि रत्न है जिसके अभ्यास व चिन्तवन से सांसारिक सुखों से परे पारलौकिक शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

ऐसे ग्रन्थराज पर परम पूज्य अध्यात्म योगी श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने प्रवचन करके जनसाधारण का महान उपकार किया है। महाराज श्री की प्रवचन शैली से प्रत्येक अध्यात्म प्रेमी मुमुक्षु भली-भांति परिचित है। लगभग ५०० ग्रन्थों के रचियता श्री मनोहर जी वर्णी ने अध्यात्म प्रेमियों के लिये इस सर्वोपयोगी ग्रन्थ को सरल भाषा में प्रस्तुत करके अध्यात्म साधना का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। मैं आशा करता हूं कि ये प्रवचन रत्न के समान हमारे जीवन को प्रकाशित कर अज्ञानांधकार को दूर करने में सहायक होंगे।

पवन कुमार जैन,
ज्वैलर्स
सदर मेरठ

अध्यात्मयोगी गुरुवर्य श्री सहजानन्द जी (मनोहर जी वर्णी) महाराज ने आत्म-विशुद्धि की धुन में करीब ५०० से अधिक ग्रन्थों की रचना की है। जैन शासन में जो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, ज्ञानार्णव, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, आत्मानुशासन, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, प्रमेयकमल मार्तण्ड, अष्टसहस्री, पञ्चाध्यायी, रत्नकरण्ड, द्रव्यसंग्रह, मोक्षशास्त्र आदिक सभी ग्रन्थों पर प्रवचन हैं, लघुजीवस्थानचर्चा, लघुकर्मस्थानचर्चा, सम्यक्त्वलब्धि, कर्मक्षपणदर्पण, गुणस्थानदर्पण, अध्यात्मसिद्धान्त आदि कई कुञ्जीरूप ग्रन्थ हैं जिनके अध्ययन से धवला, गोम्मटसार, लब्धिसार, समयसार आदि ग्रन्थों में सुगमतया प्रवेश होता है। सहजानन्दगीता अध्यात्मसहस्री, आत्मसंबोधन आदि अनेकों ग्रन्थ शान्तिकारक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। यह समाज के बड़े सौभाग्य की बात है जो ऐसे ज्ञानरत्न प्राप्त हुए हैं। जो महापुरुष इस साहित्य का अध्ययन करते हैं वे जानते हैं कि हमको कैसा अलौकिक ज्ञानलाभ व शान्तिलाभ मिला है। आशा है कि विवेकशील पुरुष इस साहित्य का अध्ययन कर अपना यह दुर्लभ जीवन सफल करें।

—प्रकाशक

卐 आत्म-कीर्तन 卐

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम ।
ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ।।टेक।।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान ।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।
सुख-दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुखकी खान ।
निजको निज परको पर जान फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।
जिन शिव ईश्व र ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हार जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूँ निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम ।।
होता स्वयं जगत परिणाम मैं जग का करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, "सहजानन्द" रहूं अभिराम ।।

☼ मंगल-तन्त्र ☼

मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं अतः निर्भार हूं ।
मैं ज्ञानघन हूं, मेरे स्वरूप में अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूं ।
मैं सहज आनंदमय हूं, मेरे स्वरूप में कष्ट नहीं, अतः स्वयं तृप्त हूं ।

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि ।

—●—

सुभाषित रत्नसंदोह प्रवचन

प्रथम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

जनयति मुदमंतर्भव्यापाथोरुहाणां, हरति तिमिरराशिं या प्रभा मानवीया ।
कृतनिखिलपदार्थद्योतना भारतीद्धा, वितरतु धुतदोषा सार्हती भारतीं वः ॥१॥

मंगलाचरणमें आर्हती भारतीका आशीर्लाभ—भारती अर्थात् जिनवाणी हम सबको तुम सबको भारती प्रदान करे अर्थात् जिनवाणीकी उपासनाके प्रसादसे हमको जिनवाणी प्राप्त हो, जो जिनवाणी सत्य खोजी भव्य जीवोंको हर्ष उत्पन्न करती है, जो जिनवाणी सूर्य की प्रभाकी तरह अज्ञान अंधकारकी राशिको नष्ट करती है, जो जिनवाणी समस्त पदार्थोंका यथार्थस्वरूप प्रकाशन करती है, जिस जिनवाणीमें रंच भी दोष नहीं है वह अरहंत भगवान से प्रकट हुई भारती हम सबको भारती प्रदान करे अर्थात् सद्बुद्धि दे, तत्त्वज्ञान देवे ।

भव्य जीवोंको आनन्द देने वाली भारतीका गुणानुवाद—इस मंगलाचरणमें पहला विशेषण दिया है वाक्य रूपमें कि यह जिनवाणी सत्य खोजी भव्य जीवोंको आनन्द प्रदान करती है । वास्तवमें आनन्द वस्तुस्वरूपके सम्यग्ज्ञानमें है और वस्तुस्वरूपके सम्यक् बोध होने पर जो आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दकी तुलना यहाँ संसारके बड़ेसे बड़े सुखोंसे भी नहीं दी जा सकती है संसारके प्रत्येक सुखमें आकुलता भरी हुई है और पहले तो यह ही देखें कि आकुलतासे ही सुखका भोगना होता है । ५ इन्द्रियके विषय और मनका विषय इनके सुखोंको जो कोई भी भोगता है वह शान्तचित्त होकर नहीं भोग सकता, किन्तु अन्तः क्षोभ आकुलता विकल्प मचा कर ही उसको भोग सकता है । तो सांसारिक सुखमें प्रथम तो यह ही एक अवगुण है कि वह आकुलतासे ही भोगा जा सकता है । तो जगतका कोई भी सुख

सत्य तथ्यके ज्ञान होनेमें हुए आनन्दकी तुलना नहीं कर सकता। जिस समय जीवको समस्त पदार्थोंकी स्वतंत्रताका परिज्ञान होता है। प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण स्वतंत्र सत् है। एकका दूसरे पर रंच भी अधिकार नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही परिणमता है ऐसा ही स्वरूप मेरा है। मैं असाधारण चैतन्यस्वरूप हूं। अपने आपमें ही अपनेको परिणमाता रहता हूं। इसका बाह्यसे रंच सम्बन्ध नहीं। यह स्वयं खुदमें अनन्त आनन्द और ज्ञानसे परिपूर्ण स्वभाव वाला है। वस्तु तत्त्वका जब यथार्थ। बोध होता है तो वहाँ अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। इस आनन्दको देने वाली कौन है? यह भारती माता, जिनेन्द्र भगवानकी वाणी। सो जो सत्यके खोजनहार पुरुषोंको अलौकिक आनन्द प्रदान करती है वह प्रभु वाणी हम आप सबको सद्बुद्धि प्रदान करे, निर्मल ज्ञान दे।

अज्ञानान्धकारको हटानेवाली प्रभुवाणीका गुणानुवाद—यहाँ दूसरा विशेषण दिया है कि यह जिनेन्द्र वाणी सूर्यकी प्रभाकी तरह तिमिर राशिको नष्ट करती है जैसे सूर्यकी प्रभा अंधकारको दूर कर देती है। यद्यपि सूर्य अपने आपमें ही है, जैसे वह पृथ्वीकायिक विमान है वह अपने आपमें अपना परिणमन कर रहा है। वह विमान अपने प्रदेशोसे बाहर किसी को कुछ प्रदान नहीं करता, न किसीका कुछ हरता है, पर निमित्त नैमित्तिक योग है ऐसा कि सूर्यका उदय हुआ, सूर्यकिरणोंका सन्निधान हुआ कि ये पृथ्वी आदिक प्रकाशावस्था वाले बन जाते हैं और जहाँ प्रकाश रूप बने पदार्थ वहाँ अंधकार पर्याय बिलीन हो जाती है। इस तरह निमित्त नैमित्तिकयोग वश यह बात होती ही है कि सूर्यकी किरणें इस तिमिर राशिको दूर कर देती हैं, अंधकार है पुद्गलद्रव्यकी पर्याय और यह है द्रव्य पर्याय, क्योंकि अंधकार पुद्गलद्रव्यके रूप, रस, गंध स्पर्श इन चार गुणोंमें से किसी भी गुणकी पर्याय नहीं है। कोई वस्तु यदि सफेद है तो अंधेरा छा जानेसे क्या उस वस्तुका रंग काला हो जाता है? रूपमें कुछ परिणमन नहीं होता। वह तो सफेद ही वहाँ पड़ी हुई है, सो देख लो, तुरन्त ही प्रकाशका सन्निधान पाकर वह वस्तु अपनी अंधकार अवस्थाको त्यागकर प्रकाश अवस्थामें आ जाता है। तो यह अंधकार जैसे गुणपर्याय नहीं है, किन्तु पुद्गलकी द्रव्य पर्याय नहीं है, प्रदेश पर्याय है, इस प्रकार प्रकाश भी पुद्गलद्रव्यकी गुणपर्याय नहीं है, किन्तु द्रव्यपर्याय है। सो जब पुद्गलद्रव्यमें प्रकाश पर्याय जगती है तो अंधकार पर्याय बिलीन हो जाती है। सो जैसे सूर्यकी प्रभा अंधकारकी राशिको दूर कर देती है इसी प्रकार यह जिनेन्द्र वाणी अज्ञान अंधकारको दूर कर देती है। ऐसी जिनेन्द्र वाणी हम आप सब लोगोंको निर्मल ज्ञान प्रदान करे।

वस्तुस्वरूपका द्योतन करने वाली प्रभुवाणीका गुणानुवाद—तीसरा विशेषण दिया है कि यह भारती समस्त पदार्थोंका द्योतन करती है। जो पदार्थ जिस रूपमें है उस पदार्थ

को उसी रूपमें जीवोंके ज्ञानमें प्रकाशित कर देना यह इस भारतीका कार्य है। भारती अर्थात् जिनवचन, ये वचन दो प्रकारके हैं—(१) भाववचन और (२) द्रव्यवचन। द्रव्यवचन तो पौद्गलिक हैं, भाववचन भावरूप हैं। सो प्रभुकी दिव्यध्वनि तो द्रव्यवचन हैं, पर उसको सुनकर श्रोताजन अपने आपमें उसे भाववचन बना लेते हैं। उन वचनोका जो अर्थ है उन अर्थो के रूपमें उनका अन्तर्जल्प चलता है। सो वचनों द्वारा पदार्थोंके स्वरूपका द्योतन किया जाता है। यदि यह भारती न होती तो पदार्थका स्वरूप लोग कहाँसे प्राप्त करते और मोक्षमार्गका कैसे उपाय बनाते ? इस कारण जिनेन्द्रवाणीका जितना उपकार माना जाय वह सब थोड़ा है, भले ही जिसको इस जिनेन्द्रवाणीका महत्व नहीं मालूम है वह भले ही इसकी उपेक्षा करे, सो उपेक्षा करके वे अपना भवितव्य ही बिगाड़ रहे हैं। जैनेन्द्र वाणीके विरोधमें, उपेक्षामें ज्ञानलाभ न अब है, न भविष्यमें हो पायगा, पर जो जानते हैं कि हमारी अगर कोई हितकारिणी माता है तो वह प्रभुवाणी है।

प्रभुवाणीमें असत्यताकी असंभवता—अरहंतदेवके वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकट हुई है, जिसके रागद्वेष नहीं रहा और समस्त पदार्थोंका परिपूर्ण ज्ञान हो रहा उसके वचन कभी भी असत्य नहीं हो सकते। असत्य वचन निकलनेके दो कारण हैं। एक तो रागद्वेष भाव होना, दूसरे—ज्ञानकी कमी रहना, किसीको ज्ञान पर्याप्त भी हो किन्तु किसी इष्ट अनिष्ट पदार्थमें रागद्वेष जग रहा हो तो अपनी खुदगर्जीके लिए जैसेमें इसका मन संतुष्ट हो उस प्रकार का वचन बोलेगा, वहाँ असत्य बात भी कही जा सकती है अथवा कोई प्रकट रागद्वेष तो नहीं है, किन्तु ज्ञान कम है, जानकारी ही नहीं है तो वह भी किसी प्रसंगमें असत्य बात कह सकता है। तो कहीं बिना जाने असत्य वचन निकले और कहीं कषायवश असत्य वचन निकले, किन्तु परमात्मामें रागद्वेष विकार रंचमात्र नहीं हैं और ज्ञानका परिपूर्ण विकास है, उसमें रंच भी कमी नहीं है, फिर शरीरसहित होनेसे ये परमात्मा दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश करते हैं। उस ध्वनिमें कोई भी वचन असत्य नहीं है। और उस ध्वनिको सुनकर गणधर देवने उसको स्पष्ट द्वादशांगकी वाणीमें समझा है, फिर उस वाणीमें समझकर लोक भाषामें उन्होंने उपदेश किया है। तो ऐसी शुद्ध परम्परासे आयी हुई वाणीमें किसी भी प्रकारका दोष नहीं है, अतएव वह वाणी सत्य ही है, उसमें जो कुछ पदार्थका स्वरूप बताया है वह निर्दोष है।

शुद्ध परम्परामें जिनवचनोंकी आज भी उपलब्धता—यह जैन शासनका उपदेश तीन तरहकी वचन रचनामें हुआ है। प्रथम भाषावर्गणा तो अरहंत भगवानकी दिव्यध्वनिमें है, उसमें लोक भाषाके योग्य कोई अक्षर नहीं होता, इसी कारण उसे निरक्षरी कहा करते हैं।

फिर भी कुछ ध्वनि तो होती ही है, वह ध्वनि मंत्रस्वरूप बीजाक्षर रूप होती है, जिसको बोलना कुछ कठिन है। जैसे कि कभी मंत्रशास्त्रमें ७-८ व्यञ्जनोंका संयुक्त अक्षर देखनेको मिलता है। जैसे तल्व्यूँ ह म ल् र् व् य् ऊ म्, इतने व्यञ्जन उसमें पड़े हैं, स्वर एक है, तो ऐसी कोई बीजाक्षररूप ध्वनि होती है। उस ध्वनिको झेलते हैं गणधरदेव। तो गणधर देव द्वादशांग वाणीमें उसे समझते हैं। यह दूसरी वाणी है। द्वादशांग वाणी भी लोकभाषाकी वचनरचनाके समान नहीं है। भला जहाँ दो तीन आदिक अक्षरोंको लेकर ५०-६० अक्षरों तकका संयोगी अक्षर होता है, वह वचनके द्वारा हम आपसे कैसे बोला जा सकता है? उस द्वादशांग वाणीको वचनरूपसे कहनेमें भी एक ऋद्धि होती है। उस द्वितीय वाणी द्वादशांग वाणीको समझकर गणधरदेव चूंकि वे लोकभाषा और द्वादशांग वाणी दोनोंके जानकार हैं सो फिर वे लोकभाषामें लोगोंको उपदेश करते हैं, तो ऐसे वीतराग सर्वज्ञदेवके मूलसे विनिर्गत यह जैनशासनका उपदेश सही वस्तु स्वरूपको बताने वाला है। ऐसी यह भारती समस्त पदार्थोंको प्रकट करने वाली है।

धुतदोषा प्रभुवाणीका आदर—चौथा विशेषण दिया है धुतदोषा, जिनके दोष धुल गए हैं, दूर हो गए हैं, जैनेन्द्र वाणीमें दोष रंच नहीं है, क्योंकि उनके मूल वक्ता आप्त सर्वज्ञदेव हैं और वे भी आशय, अभिप्राय रख करके नहीं बोलते, किन्तु भव्य जीवोंका भाग्य व प्रभुके वचनयोगका प्रवर्तन इन दो कारणोंसे वह दिव्यध्वनि निकलती है। जैसे मेघ बरसते हैं तो मेघ कभी यह अभिप्राय नहीं रख पाते कि मैं इस गाँवमें बरस जाऊँ, किन्तु उस गाँव वालोंका ही भाग्य है कि उनके भाग्योदयसे, सातोदयसे इष्ट मेघवर्षा हो जाती है तभी तो ऐसी विचित्रता देखनेमें आयी है कि जब जरूरत है पानी बरसनेकी तो एक गाँवमें तो बरस गया और उसके पासके अन्य गाँवमें नहीं बरसा तो ऐसा बरस जानेका कारण वहाँकी जनताके भाग्यका उदय है। तो ऐसे ही भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है उसमें मुख्य कारण है भव्य जीवोंका भाग्योदय। और वहाँ है प्रभुमें वीतरागता और सर्वज्ञता तो ऐसे निर्दोष आत्मासे जो भी ध्वनि पैदा होती है उसके जानकार जो गणधरदेव हैं वे यथार्थ प्रकाश पाते हैं। ऐसी धुतदोषा प्रभुवाणी हम आपको सम्यग्ज्ञान प्रदान करे। अब इस ग्रन्थमें ३२ प्रकरण हैं, उनमें से पहला सांसारिक विषयसुख निराकरण नामका प्रकरण है। उसका प्रारंभ किया जा रहा है।

१—सांसारिक विषयसुख निराकरण प्रकरण

न तदरिरिभराजः केसरी केतुरुग्रो, नरपतिरतिरुष्टः कालकूटोऽतिरौद्रः।
प्रतिकुपितकृतांतः पावकः पन्नगेंद्रो, यदिह विषयशत्रुर्दुःखमुग्रं करोति ॥२॥

विषयशत्रुकी उग्रदुःखकारिताके वर्णनके प्रसंगमें स्पर्शनविषय व रसनाविषय शत्रुका

निर्देश—संसारके प्राणियोंको जैसा उग्र दुःख ये विषयसुखरूप शत्रु उत्पन्न करते हैं उतना उग्र दुःख संसारकी अन्य कठिन-कठिन घटनायें भी नहीं करती। विषयशत्रुका अर्थ है—विषयोंकी तृष्णा। ५ इन्द्रिय और मन इन ६ के विषयोंकी तृष्णा जिस पुरुषको लगी हो उसको अतीव उग्र दुःख उत्पन्न होता है। स्पर्शनइन्द्रियका विषय है स्पर्श। किसीको ठंढा अच्छा लगता है, किसीको गर्म छूना अच्छा लगता है किसीको चिकना, किसीको रूखा स्पर्श अच्छा लगता है। किसीको कठोर, नरम, भारी अथवा हल्का अच्छा लगता है तो उन स्पर्शोंके छूने में तृष्णा जगाना यह है स्पर्शन विषयशत्रु। रसमें किसीको खट्टा अच्छा लगता, किसीको मीठा अच्छा लगता। किसीको कडवा, तीखा अच्छा लगता, यह जीवकी भिन्न-भिन्न प्रकृति है और भिन्न भिन्न कर्मोदय हैं। कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि उनसे मीठा नहीं खाया जाता। खट्टा उनको बड़ा रुचता। कोई कोई बालक दूध जरा सा भी नहीं पी सकते, किसीको मीठा ही अच्छा लगता। खट्टेसे बहुत दूर रहना चाहते। किसीको कड़वा भला लगता। करेलेकी साग बड़े चावसे खाते जितनी कड़वी लगती है उतनी ही अच्छी भी मानते हैं। और ऊंट आदिक जानवर तो कड़वी चीजको बड़े चावसे खाया करते हैं। तो ऐसी जीवोंकी भिन्न-भिन्न रुचि है रसके स्वादमें। जिसको जो रुचता है उसकी उस विषयमें तृष्णा बढ़ जाती, यह है रसना विषय शत्रु।

घ्राणेन्द्रियविषयशत्रु, चक्षुरिन्द्रियविषयशत्रु व कर्णेन्द्रियविषय शत्रुका निर्देश—सुगंध दुर्गन्धमें भी विचित्र रुचि है जीवकी। सुगंध तो प्रायः लोगोंको रुचती ही है, पर ऐसे भी मनुष्य देखे गए अथवा कीट आदिक प्राणी देखे गए, पशु पक्षी देखे गए कि जिनको दुर्गन्ध रुचती है। जो तालाबमें मछली आदिकका शिकार करते। व्यवसाय करते ऐसे ढीमर जन, उनको मछलियोंकी दुर्गन्ध ही रुचती है। कहीं फूलको या इत्रकी सुगंधकी जगह पहुंच जायें तो वह उनको नहीं रुचती और तिर्यञ्चोंमें तो अनेक हैं ही ऐसे। विष्टाके कीटको विष्टा ही रुचता है। अन्यत्र वह नहीं जाता। तो सुगंध दुर्गन्ध जिसको जो इष्ट है उसकी तृष्णा जग जाना यह है घ्राणविषय शत्रु। चक्षुइन्द्रिय द्वारा रूप भला लगता है। जिसको जो रूप रुचता है उसको मिल क्या जाता है। दूरसे उस रूपको निरखते रहने से इस निरखने वाले को लाभ क्या हो जाता है? आंखका परिश्रम किया। मनका बिगाड़ किया। आत्मामें निर्बलता उत्पन्न की। लाभ कुछ नहीं होता। उसे कोई लौकिक लाभ भी नहीं है, पर तृष्णा एक ऐसी प्रेरणा करती है कि जिसको जो रूप रुचा वह उस रूपको निरखनेमें अपना सारा बल खो देता है। तो रूप निरखना, तृष्णा होना यह है नेत्रविषयशत्रु। किसीको राग रागनी के शब्द अतीव इष्ट हैं और उनके सुने बिना चैन भी नहीं पड़ती। उसके लिए न जाने कहां कहां जाते। रातोंरात जगना, बहुत-बहुत परिश्रम करना यह सब तृष्णाके कारण होता है।

तो इस तृष्णाको कहते हैं कर्णविषयशत्रु ।

मनोविषयशत्रुकी उग्रदुःखकारिता—छठा शत्रु है मनोविषय । यह मनोविषय बड़ा प्रबल बैरी है । इस असार संसारमें यदि किन्हीं मायावी पुरुषोंका मायामयी नाम मायामयी लोगोंमें मायामय बन जाय तो उससे उस पुरुषको लाभ क्या मिलता है । वह आत्मा अमूर्त ज्ञानमात्र है । सर्वसे निराला है । उसको लाभ तो अपने आत्मामें रमण करने से है, पर तृष्णा ऐसी है कि उस मनके विषयमें बढ़ जाती है यह है मनोविषयशत्रु । तो इन विषय शत्रुवोंसे जैसा दुःख उत्पन्न होता है वैसा दुःख अन्य किसी घटनासे नहीं होता । मनोविषय-शत्रु तो बहुत ही क्लेशकारी है, विषय शत्रुवोंमें सर्व कठिन शत्रु है मनोविषयशत्रु । यह मन कितने भविष्य तक की किन-किन बातोंकी इच्छा करके इस आत्माको दुःखी करता है । मन के अनुकूल कार्य बनानेके लिए यह प्राणी किसी भी जीवकी हिंसा कर सकता है । झूठ चोरी आदिक सभी प्रकारके पाप कर सकता है जिसको इस दुनियामें अपने ख्यातिकी तीव्र लाल-सा जग गई हो । तो ऐसा यह मनोविषय शत्रु इस जीवको उग्र दुःख उत्पन्न करता है । बड़े-बड़े राजपुत्र और और भी राजा महाराजा एक इस मनके विषयसे पीड़ित होकर ही सारे जीवन दुःख पाते रहे । अनेक कथायें आती हैं—जिनमें जीवन दुःखसे भरा रहा है । किसी राजपुत्रने किसी सेठकी पुत्री या बहूको देख लिया तो उससे वह कामवासनासे पीड़ित हो गया, आहार छोड़ दिया, बड़ी आहें भरने लगा, अधमरा सा हो गया····यह क्या है ? यह मनोविषयका आक्रमण है ।

मदोन्मत्त हाथीसे भी अधिक विषयशत्रुकी दुःखकारिता—ये विषयशत्रु इस जीवको ऐसे कठिन दुःख उत्पन्न करते हैं जैसे दुःख बड़े भयंकर अनिष्ट समागममें भी नहीं होते । मदोन्मत्त हाथी जब बिगड़नेपर भागता है तो जो भी पुरुष मिलता है उसे सूँडसे पकड़कर झकोर देता, पैरके नीचे रखकर दाब देता, कितना भयंकर उत्पात करता है । पुराणोंमें ऐसी कथायें बहुत आयी हैं और यहाँ भी देखा जाता है । कि जब कोई हाथी बिगड़ जाता है तब वह बहुत संहार करने लगता है । मदोन्मत हाथियोंको तो वश किया जा सकता है, ऐसा किया भी है । एक कथानकमें स्वामी श्री महावीर जी ने भी किसी मदोन्मत्त हाथीको वश किया था । और भी अनेक ऐसे कथानक हैं कि उन उन हाथियोंको वश किया जा सकता, और वे जितना भी दुःख देते हैं वह दुःख एक भवका है । किसी हाथीने किसीपर आघात किया, किसीने किसीको मार डाला, मगर ये विषय शत्रु इस भवमें भी दुःखी करते हैं और इनके कारण भव भवमें जन्म मरण संकट ही सहना पड़ता है । तो मदोन्मत्त हाथी भी जितना भयंकर क्लेश उत्पन्न कर सकते हैं उससे कई गुना दुःख ये ५ इन्द्रियके विषय और मनके विषयका अनुराग व्यामोह इस जीवको दुःखी करता है । अब इन बिषयोंके मोहसे यह जीव

भव भवमें जन्म धारण करे, जीवनभर कष्ट पाये और मरण किया करे।

मांसलोलुपी सिंह, उग्रकेतु, अतिक्रुद्ध राजासे भी भयंकर विषयशत्रुकी दुःखकारिता—मांसलोलुपी सिंह, एक तो सिंह मांसभक्षी होता ही है और फिर जिसको मांसकी लोलुपता हो जाय तो वह अनावश्यक ही अनेक जन्तुवोंको, मनुष्योंको मारता रहता है। चाहे पेट भी भर गया हो, आवश्यकता न हो तो भी उसकी प्रकृति बन जाती है कि जो भी सामने आये उसीको ही खाता जाय। तो ऐसा मांस लोलुपी सिंह जितना कष्ट उत्पन्न कर सकता है जीवों को उससे भी भयंकर उग्र कष्ट ये विषयशत्रु उत्पन्न करते हैं, क्योंकि सिंहके आघातसे प्राणी एक बार ही मरा, लेकिन इन विषय शत्रुओंके आघातसे यह जीव भव-भवमें कष्ट पाता है। भयंकर राहु केतु लोकमें इन्हें दुःखकारी मानते हैं, एक ऐसी प्रसिद्धि है। चाहे वे निमित्तनैमित्तिक योगवश या कोई अशुभकी सूचनाके कारणवश ऐसा लोग कहने लगे हों या जो कुछ भी हो, पर उससे भी भयंकर दुःख इन विषयशत्रुवों द्वारा प्राप्त होता है। क्रुद्ध राजा जनता को बहुत पीड़ित कर देता है। राजा अपने नगरका पूरा मालिक कहलाता है। वह जिस किसीका भी कुछ कर दे। अन्याय अत्याचार सब तरहसे वह वर्तता है। किसीपर कितना ही अत्याचार कर, उसकी सुनवाई कहाँ हो सकती? तो किसीपर कोई राजा क्रुद्ध हो गया हो तो उसकी खैर नहीं, और इतना ही नहीं, कभी कभी क्रोधी राजा इतना भी हुक्म कर डालता है कि इसके समस्त कुटुम्बको कोल्हूमें पेल दो। तो कोई राजा यदि क्रुद्ध हो जाय तो उसके आघातसे रक्षा करने वाला कौन हो सकता है? जितना दुःख क्रुद्ध राजा देता है उससे भी कई गुना दुःख इन विषयशत्रुवोंसे प्राप्त होता है। ये विषयशत्रु कहीं बाहरसे नहीं आते किन्तु यह जीव खुद अपने अज्ञानसे, अपनी विषय तृष्णासे भाव बिगाड़ता है और अपने आपको भव-भवमें कष्टमें डालता है।

अतितीक्ष्णविष व अतिक्रुद्धयमसे भी अधिक विषयशत्रुकी क्लेशकारिता—अतितीक्ष्ण विष, कालकूट, हालाहल ये जिनने भयंकर विष हैं उनको कोई पी ले, खा ले तो उसका फल क्या है? तड़फ-तड़फकर मरना, बेहोश हो जाना, शरीरमें अनेक बाधायें होना और उन सब कष्टोंको भोगते हुए यह मनुष्य मर जाता है। तो यह अतितीक्ष्ण विष, यह बहुत कठिन दुःख देता, पर यह विष जितना दुःख दे सकता है उससे भी कई गुणित दुःख इन विषय शत्रुवोंके प्रेमसे होता है विष खानेसे एक ही भवमें प्राणघात होगा, मगर इन्द्रियके विषयोंमें रमनेसे या मनके विषयको पतंग उड़ाते रहनेसे तो भव-भवमें जन्म होगा, मरण होगा, सारा जीवन दुःखमय व्यतीत होगा। तो अतितीक्ष्ण विषपानसे भी जो दुःख उत्पन्न होता है उससे कई गुना विषयकषायोंसे होता है। अतिक्रुद्ध यमराज जीवोंको कष्ट पहुंचाता है। लोकप्रसिद्धि

है ऐसी कि यमराज कोई यमदूत होता है और जो लोग ईश्वरको सृष्टिकर्ता मानते हैं उनके सिद्धान्तमें ईश्वरके पास रोकड़ बही हुआ करती होगी उनमें सबका हिसाब रहता है। किसके मरनेकी बारी आयी है ? तो यमराजको हुक्म देता है और जाकर वह उसकी जान निकाल लेता है, ऐसी प्रसिद्धि कर रखी है, पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। ये सभी जीव अपने उपार्जित कर्मके अनुसार आयुके क्षय होनेपर मरते हैं, तुरन्त ही नवीन आयुका उदय होता है, उसी समय जन्म ले लेता है, तो यह एक निमित्तनैमित्तिक वाली बात है, पर यहाँ यह समझाया गया है कि मरणकाल जब आता है तो वह मृत्यु कितना कठिन दुःख जीवको देती है, पर उससे जितना कष्ट होता है उससे कई गुना कष्ट इन विषय शत्रुवोंके द्वारा हुए आक्रमणसे होता है।

प्रज्वलित अग्नि व विषधर पन्नगेन्द्रसे भी अधिक विषयशत्रुकी कष्टकारिता—प्रज्वलित अग्निसे सभी भस्म हो जाते हैं और वहाँ हिरण, खरगोश, मनुष्यादिक जो भी प्राणी उस बीच आ फंसा उसका मरण हो जाता है, और कोई जीवित प्राणी अग्निसे जल-जलकर मरे तो वह कितना कष्ट पाता है। तो ऐसी भयंकर अग्निसे, जाज्वल्यमान अग्निसे जीवोंको जितना कष्ट होता है उससे कई गुणित कष्ट इन विषय शत्रुवोंसे होता। अग्निमें थोड़ा भी जल जाय तो यह मनुष्य कितना कष्ट मानता है ? पर विषय शत्रुसे यह व्यामुग्ध हो जाता है। विषयोंको भोगते हुए यह मौज मानता है किन्तु मौज काहेकी ? तुरन्त भी आकुलता है आगे भविष्यमें भी आकुलता है। अनेक जन्म मरण करने पड़ेंगे, ऐसा है इन विषय-शत्रुओंका आक्रमण। पन्नगोंका इन्द्र—जो भयंकरसे भयंकर विषधर सर्प हैं वे यदि किसी मनुष्य या जानवरको डस लें तो बहुत देर तक जिन्दा नहीं रह सकता यथाशीघ्र मरण कर जाता है। तो ऐसे विषधर सर्पोंके डसनेसे जितना कष्ट होता है जीवोंको उससे कई गुना कष्ट इन विषय शत्रुवोंके व्यामोहसे होता है।

आत्महितार्थ विषयशत्रुसे दूर रहनेका कर्तव्य—इस छंदमें यह बताया गया कि सांसारिक सुख इस जीवके बैरी हैं। जैसे कोई ठगिया बड़ी भोली मनमोहनी बातोंसे लुभा कर किसीका सर्वस्व ठग लेता है, ऐसे ही ये इन्द्रियके विषय मनमोहक बनकर इस जीवको ठग लेते हैं। कहाँ तो जीवका अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्तिका स्वभाव और कहाँ विषय व्यामुग्ध होकर यह जीव अपने ज्ञान और आनन्दको भी खो देता है। जो आनन्द और मौज मानता है वह विकृत आनन्द है। आकुलतासे भरा हुआ कल्पित मौज है। इन विषयोंसे पीड़ित होकर यह जीव अपना सर्वस्व गमा देता है, इस कारण भव्य पुरुषोंको अपने इस दुर्लभ पाये हुए मनुष्यभवको बड़ी जिम्मेदारीका भव समझना चाहिए।

यहाँ इन्द्रिय आदिक योग्य मिली हैं, मन श्रेष्ठ मिला है इन सबका सदुपयोग आत्मज्ञानके लिए करना चाहिए।

न मरदिविजनाथा येषु तृप्यंति तेषु, कथमपरनराणामिंद्रियार्थेषु तृप्तिः ।
बहति सरिति यस्यां दंतिनाथोऽतिमत्तो, भवति हि शशकानां केन तत्र व्यवस्था ॥३॥

सुरेन्द्र नरेन्द्रोंको अतृप्तिकारक इन्द्रियविषयोंसे साधारण मनुष्योंके तृप्तिकी असंभवतों—यह विषयसुखकी नदी, विषय तृष्णाकी सरिता इतना प्रचण्ड बेग वाली है कि जिस विषय सुखकी नदी वेगमें बड़े-बड़े इन्द्र चक्रवर्ती जैसे महान जीव भी वह जाते हैं। फिर अन्य पुरुषरूपी खरगोशकी तो कथा ही क्या है ? कोई बहुत बड़ी विशाल वेग वाली नदी हो, पर्वतसे बहुत बड़ी मोटी धारोंसे गिरने वाली नदी हो, उस नदीमें बड़े बड़े मत्त हस्ती भी वह जाते हैं जिनमें इतना प्रचण्ड बल है कि जिसको कभी कोई कवि ऐसी उपमा देते हैं कि जितना २० बकरोंमें बल है उतना बल एक गधेमें जितना बल बीसों गधोंमें है उतना बल एक घोड़ेमें है। अनेक घोड़ोंमें जितना बल है उतना बल एक भैंसेमें, बीसों भैंसोंमें जितना बल है उतना बल है सिंहादिकमें और अनेक सिंहोंमें जितना बल है उतना बल है एक हाथीमें। यद्यपि सिंह हस्तीको मार डालता है, कारण कि उसमें आक्रमणकी कला है, उसके चारों पैरोंमें बड़े पैने नख हैं, मुखके भी दांत नखोंकी तरह पैने हैं, इस कारण आक्रमण हो जाता है। यदि उसके नख काट दिए जायें, मुख बंद कर दिया जाय और कहा जाय कि अब लड़ो हाथीसे तो हमारी समझसे हाथीसे सिंह पार नहीं पा सकता। इतना बलशाली हाथी किसी बड़ी महानदीके बेगमें बह जाय तो फिर वहाँ खरगोश आदिक बह जायें तो इसमें क्या आश्चर्य ? उनमें तो कुछ बल नहीं, ऐसे ही सांसारिक विषयसुखकी नदियोंमें इन्द्र चक्री आदिक भी बह गए। बड़े बड़े राजा महाराजा, बड़े-बड़े देव ये भी विषयसुखमें आसक्त हो कर कष्ट पाते हैं।

महान देवोंके भी इन्द्रियार्थवृत्तिसे विडम्बनाका एक उदाहरण—श्री वृषभदेवके पूर्व जन्मकी एक घटना है। जब ये ललितांगदेव थे, महाबल राजा ललितांग देवकी देवांगना हुई और जब वहांसे चलकर श्रीमती देवांगना एक राजाकी कन्या हुई और यह ललितांग दूसरे देशके राजाके यहाँ पुत्र हुआ। उस राज कन्याने आकाशमें किन्हीं देव देवियोंको जाते हुए देखा और इससे पूर्वभवका स्मरण हो आया तो उसने यह चाहा कि जो मेरा पति पूर्वभवमें था वही इस भवमें मेरा पति हो। तो उसने एक चित्र बनाया जिसमें अनेक बातें दिखाई गई और एक यह घटना दिखाई कि ललितांग देवके सिरमें कोई दाग था तो वह चित्रपट मंदिर के आगे बिछाकर उसकी दासी खड़ी रही और बता दिया कि जितने लोग दर्शन करने आयेंगे

और कितने ही झूठे लोग चित्रको देखकर झूठ-मूठ बेहोश हो जायेंगे। पहले स्वयंवरका या वरपरीक्षाका एक रिवाज था। तो उनसे बादमें पूछा कि तुमको किस घटनाको देख कर इतना विषाद हुआ और बता दिया कि इस घटनाको जो बताये सो उसको रोके रहना। बहुतसे राजपुत्र आये, कितने ही देखकर चले गए, कितनोंने ही झूठी बेहोशी बताया। एक राजपुत्रसे पूछा कि आपको किस बातपर विषाद हुआ? तो उसने बताया कि यह जो इस देवके मस्तकमें एक चिन्ह लगाया है इसको देख करके मुझे स्मरण हो आया वह घटना क्या थी कि ये देव देवांगना जब यथेष्ट विहार कर रहे थे, किसी बात पर यह देवांगना रूठ गई और इस देवांगनाने अपने ललितांग देवके मस्तकपर लात मारी थी, उस लात मारनेका यह चिन्ह दिखाया गया है। समझा, गया कि यह वही ललितांग देवका जीव है, आखिर उनका परस्परमें विवाह हुआ। तो बतानेका मतलब यह है कि उन देवोंमें भी जो बड़े बड़े देव होते हैं सो उनमें भी विषय सम्बधित घटनायें चलती रहती है। तो इस विषयसुख नदीमें बड़े बड़े देव भी बह गए, फिर साधारण मनुष्योकी तो कथा ही क्या है? वे कोई भी विषयोसे तृप्त न हुए। अज्ञानमें जो चेष्टायें हो जाती हैं उन चेष्टावोसे तो तृष्णा बढ़ती है। तृप्ति होने का वहाँ कोई सवाल ही नहीं। तो यह विषयसुख ऐसा भयंकर शत्रु है। इस ज्ञानबलसे इस विषयसुखसे हटना और आत्मदृष्टि करके जो आत्मीय सहजआनन्द है उसमें तृप्त रहना, यह कर्तव्य है कल्याणार्थी पुरुषोका।

ददति विषयदोषा ये तु दुःखं सुराणां, कथमितरमनुष्यास्तेषु सौख्यं लभंते।
मदमलिनकपोलः क्लिश्यते येन हस्ती, क्रमपतितमृगं स त्यक्ष्यतीभारिरत्र ॥४॥

विषयदोषोंकी अतिकष्टकारिता—ये इन्द्रिय विषय देवोंको भी बड़ा कष्ट उपजाते हैं फिर ये अन्य प्राणियोंको सुखकारी कैसे हो सकते हैं? जो सिंह मदोन्मत्त हस्तीका घात करने में भी हिचकता नहीं याने बड़े बलवान हाथीको भी दुःखी बना देता है वह सिंह अपने पञ्जे में फँसे हुए हीन हिरणको कैसे छोड़ सकता है? उसे तो अवश्य ही मारकर खा जायगा। स्वर्गोंमें कल्पवृक्ष होते हैं, जिनके नीचे पहुंचकर जो मनमें चाह करें, जिसको याचना करें वह वस्तु उन्हें प्राप्त हो जाती है, ऐसा सांसारिक सुख है स्वर्गोंमें, फिर भी विषयसुख साधन मिलनेकी इतनी सुविधा होनेपर भी उन देवोंकी विषय तृष्णा शान्त नहीं होती और वहांपर भी कोई सीमा तो होगी ही। भले ही कल्पवृक्षोंसे मनमाना सुख साधन मिल जाते हैं फिर भी सर्व सुखोंके साधन मिल ही जायें, ऐसी बात न होगी। तो बहुत कुछ मिल जानेपर भी कुछ मनकी इच्छा और बाकी रह गई तो उससे व्यथित होकर वे देव कितने ही खोटे कर्मों का बंध कर लेते हैं। उन देवोंकी विषयलोलुपता घटती नहीं, किन्तु बढ़ती ही जाती है।

यहाँ मनुष्य खुद अंदाज कर लें। अबसे किसीने १० वर्ष पहले, २० वर्ष पहले यह ख्याल बनाया होगा कि इतना सुखका साधन और बना लें, फिर इच्छा नहीं है, आनन्दसे रहेंगे। फिर आकुलता विशेष न होगी और धर्मध्यानमें अधिक लगेंगे, पर जैसे जैसे उनको मनमानी चीज प्राप्त होती गई, क्या उनकी तृष्णा उसी विधिसे बढ़ती नहीं गई ? जैसे जैसे विषयसुख साधन मिलते जाते हैं वैसे ही वैसे तृष्णा और बढ़ती जाती है।

विषयभोगके प्रसंगमें नपुंसक मनकी विडम्बितता—जब कभी यह शरीरसे इतना अशक्त हो जाता है बुढ़ापा आनेसे कि वह अब विषयोंको नहीं भोग सकता, बढ़िया पदार्थोंमें नहीं रम सकता, आँखोंकी लाइट कम हो जानेसे सिनेमा वगैरह नहीं देख सकता, कानोंसे राग रागनीके सुन्दर शब्द नहीं सुन सकता, तो इसका यह नपुंसक मन भीतर ही भीतर रुषता रहता है, और यह जीव दुःखी होता रहता है। आत्मानुशासनमें एक जगह इस मन को नपुंसक बताया है। व्याकरणकी दृष्टिसे भी मनः शब्द नपुंसक है। यह सकारान्त शब्द है, जिसके रूप चलते हैं--मनः मनसी, मनांसी, नपुंसक लिङ्गमें रूप चलते हैं। शब्द शास्त्र की दृष्टिसे तो मन नपुंसक है ही, पर यह प्रवृत्तिसे भी नपुंसक है। जैसे कोई नपुंसक विषयों को नहीं भोग सकता, पर कल्पनाकी अग्निसे वह अपनेको जलाता रहता है ऐसे ही यह मन किसी विषयको नहीं भोग पाता। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये ही ५ तो विषय हैं। इनको भोगने वाली इन्द्रियाँ हैं, किन्तु यह मन व्यर्थ ही उद्धत होता हुआ कष्ट पाता है। जीवको दुःखी करता है। तो ऐसे ही ये प्राणी मनमाने विषयसाधन न पानेसे कल्पनासे दुःखी होते रहते हैं। इन विषयसुखोंकी तृष्णाने बड़े बड़े देवोंको भी बख्शा नहीं, किन्तु महापुरुष देव भी इन विषयसुखोंके वेगसे कष्ट पाते रहे। अतः कल्याणार्थी पुरुषोंको इन विषय सुखोंमें, असार बातोंमें बुद्धि न जोड़ना चाहिए और सहज आत्मस्वरूपको निरखकर अलौकिक सहज आनन्द पानेका उपाय बनाना चाहिये।

यदि भवति समुद्रः सिंधुतोयेन तृप्तो, यदि कथमपि वह्निः काष्ठसंघा ततश्च।
अयमपि विषयेषु प्राणिवर्गस्तदा स्यादिति मनसि विदंतो मा व्यधुस्तेषु यत्नं ॥३॥

नदियोंसे समुद्रकी अतृप्तिकी तरह विषयोंसे प्राणिवर्गकी अतृप्ति—यदि समुद्र नदियों के जलसे तृप्त हो जाय अर्थात् उससे भरपूर होकर अपनी मर्यादा छोड़कर वह निकले तो भले ही मर्यादा छोड़ दे, किन्तु विषय भोगोंमें, यह प्राणिवर्ग कभी भी तृप्त नहीं हो सकता। समुद्रमें नदियाँ कितनी ही आती हैं, किन्तु समुद्रसे नदियाँ निकलती नहीं है। तो जितनी भी नदियाँ आती जायें फिर भी समुद्र मानो इस तरह तृषामय है कि उसे अभी और भी नदियाँ चाहियें। उसकी अभी तृप्ति नहीं हुई। तृप्तिका अर्थ यह है कि उस समुद्रमेंसे भी कोई नदी

वह निकले तब ही तो तृप्ति मानी जाय। पर ऐसा कहीं नहीं हो रहा। जो आजके समुद्र पाये जाते हैं उनमेंसे कहीं नदी निकली नहीं है। तो चाहे समुद्र नदियोंसे तृप्त हो जाय तो हो जाय, पर यह अकाट्य नियम है कि विषयोंमें रहकर प्राणिसमूह कभी भी तृप्त नहीं हो सकता। प्राणियोंका विषयोंसे तृप्त हो जानेका अर्थ यह है कि यह उन विषयभोगोंको छोड़ दे। जैसे कोई भोजन करता है तो जब कहता है कि मैं तृप्त हो गया, तो कब तृप्त होना कहलाता है कि जब और भोजन करनेकी बात वहाँ नहीं रह पाती। भोजनको छोड़ दिया यही तृप्तिका चिन्ह है। तो ऐसे ही विषय तृष्णावोंसे यह जीव तृप्त हो जाय, उसका चिन्ह यह है कि विषयभोगोंको छोड़ दिया। सो ऐसे विषयभोगोंसे तृप्ति इन प्राणियोंको नहीं हो पाती। जिस जीवको ऐसी तृप्ति होगी तो तत्त्वज्ञानसे तो होगी, मगर विषयोंके भोगसे तृप्ति नहीं, इसी प्रकार यदि अग्नि लकड़ीके ढेरसे तृप्त हो जाय तो हो जाय, परन्तु यह प्राणिवर्ग विषयभोगोंसे तृप्त नहीं हो सकता।

ईन्धनोंसे अग्निकी अतृप्तिकी तरह विषयोंसे प्राणिवर्गकी अतृप्ति—अग्नि भी ईंधन के मिल जानेसे कभी तृप्त नहीं होती। अग्निके तृप्त होनेका अर्थ यह है कि वह अब लकड़ी को जलाना छोड़ दे। जैसे अग्नि जलती रहती है और उसमें लकड़ियाँ डाल दीं तो अब वह अग्नि उन लकड़ियोंको न जलाये, पर ऐसा कहीं हुआ नहीं। जितनी चाहे लकड़ियाँ डालते जाइये, अग्नि कभी तृप्त नहीं हो सकती। सो जैसे अग्नि ईंधनसे तृप्त नहीं होती इसी प्रकार ये प्राणिवर्ग भी विषयभोगोंसे तृप्त नहीं होते। इस छंदमें असम्भव वाला दृष्टान्त दिया है और असम्भव वाला ही दृष्टान्त बताया है। जब ऐसा है कि कोई भी प्राणी इन विषयभोगों से तृप्त नहीं हो सकता तब उनका कर्तव्य क्या है हितके लिए, क्योंकि विषयभोगोंसे तृप्त न होनेमें इस जीवको परेशानी और संसारकी भटकना बराबर बनी रहती है। तो इतनी बड़ी विडम्बनाओंसे मुक्ति पानेके लिए जीवोंका क्या कर्तव्य है कि वे विषयभोगोंके लिए प्रयत्न न करें, यह बात इससे तब ही बन सकती है कि अपने सहज आनन्दस्वरूप अंतस्तत्त्वका परिचय पा ले। जैसे कोई भिखारी सूखी, पुरानी बासी रोटियोंको खाता रहता है और उसी में ही मौज मानता है जो कि किन्हीं सभ्य पुरुषोंके लायक बात नहीं है। तो अब बतलावो कि वह भिखारी उन बासी पुरानी रोटियोंका खाना कैसे छोड़ सकता है? उसके छोड़नेका एक ही उपाय है कि उसे ताजी पूड़ी पकवान आदिक मिल जायें, उनका स्वाद पा लेगा तब फिर इन बासी रोटियोंको छोड़ देगा, ऐसे ही यह जीव अपने आत्माके सहज स्वाधीन आनन्दामृतको पा लेवे तो विषय भोगोंका छोड़ना बिल्कुल आसान हो जायगा। छोड़ ही देगा। सो तत्त्वज्ञानके बलसे तो यह जीव तृप्त हो सकता है मगर विषय भोगोंसे यह जीव कभी

नहीं हो सकता। इस कारण आत्महित चाहने वाले जीवोंका कर्तव्य है कि वे विषय भोगोंमें प्रयत्न न करें, किन्तु आत्मीय ज्ञानानन्द स्वरूपको निहारनेमें, उसकी आराधनामें अपना पौरुष बनायें।

विषयोंके भोगनेसे तृप्तिकी असंभवता—कोई भी प्राणी ऐसा न विचार करे कि चलो इन इन्द्रियसुखोंको भोगते चले जायें तो कभी न कभी तृप्ति तो हो ही जायगी। जैसे भोजनको खाते चले जायें तो इस पेटकी तृप्ति तो थोड़े समयको हो ही जाती है। सो विषय भोगनेके विकल्पोंमें ऐसा विचार न करें। पेट तो तृप्त यों हो जाता है कि पेटमें जगह ही नहीं है कि कुछ चीज आ सके। पेटको खूब भर लिया भोजनसे तो पेट तो यों तृप्त हो गया, मगर जीवोंकी इच्छा, आशा, तृष्णा ये तो कोई वैसी चीज नहीं है कि उसके पेटकी सीमा हो। कितने ही विषयभोग मिलते रहें, पर इनकी तृष्णा दूर नहीं हो सकती। तो यह कभी भी ध्यान न बनायें कि कुछ समय तक ऐसे इन्द्रियसुख भोगते रहेंगे तो इनसे तृप्त हो जायेंगे। चाहे वृद्धावस्था आ जाय, पर जिसके तत्त्वज्ञान नहीं है वह इन विषयसम्बंधी वाञ्छावोंको और भी अधिक बढ़ायेगा। भोगनेका सामर्थ्य नहीं है तिसपर भी यह वृद्ध उन भोग आकांक्षावोंको अधिक बढ़ाता रहता है। सो यह ध्यान कभी न रखें कि इन भोगोंसे मैं कभी तृप्त हो जाऊँगा किन्तु यह ध्यान रखें कि ये भोग भोगने ही पड़ते हैं। तो अनाशक्ति से कम भोगना ही चाहिये और तत्त्वज्ञानका बल बढ़ायें कि किसी समय इनकी वाञ्छा ही चित्तमें न रहे।

असुरसुरनराणां यो न भोगेषु तृप्तः कथमपि मनुजानां तस्य भोगेषु तृप्तिः।
जलनिधिजलपाने यो न जातो वितृष्णस्तृणशिखरगताम्भः पानतः किं स तृप्येत् ॥६॥

असुर सुरादिकोंको तृप्त न कर सकने वाले भोगोंसे मनुष्योंके तृप्तिकी असंभवता—असुर हो या सुर हो, या मनुष्योंमें प्रधान हो। ऐसा कोई भी नहीं बचा जो भोगोंमें तृप्त हुआ हो। भोग भोगते जानेमें, भोग भोगते जानेके ख्यालमें, उसका प्रोग्राम बनाये रहनेमें कोई भी प्राणी तृप्त नही हो सकता। तो जब ये बड़े बड़े पुरुष, ये इन्द्रादिक ये भी भोगोंमें कभी तृप्त न हुए जिन्होंने उत्कृष्टसे उत्कृष्ट विषय सुखोंको भोगा है तो फिर इन मनुष्योंके इन सामान्य भोगोंसे तृप्ति कैसे हो सकती है? स्वर्गोंमें इन्द्रके कई कई हजार देवांगनायें हो जाती हैं और उन्हें कमाना खाना नहीं पड़ता तो सारेका सारा समय उनका खाली बना रहता है। तो उस खाली समयमें वे विषय सम्बंधित वार्तावोंमें ही समय गमाया करते हैं और उनमें विक्रिया ऋद्धि पायी जाती है नैसर्गिक तो कहीसे कहीं भी अच्छे सुरम्य बनोंमें, स्थानोंमें वे विचरते हैं, ठहरते हैं और अपने मनका बहुत मौज लेते हैं। हजारों वर्षोंमें कभी

भूख लगती है तो इच्छा करते ही उनके कंठसे अमृत झड़ जाता है और वे तृप्त हो जाते हैं। तो बड़े बड़े मौजमें रहते हैं वे इन्द्र, पर वे भी भोगोंमें रह-रहकर तृप्त नहीं हो पाते। मनुष्योंमें भी चक्री या अन्य बड़े-बड़े राजा महाराजा जिनके बड़ा ठाठ है, हजारों रानियाँ हैं, सभी आज्ञाकारिणी हैं, उनके विरुद्ध कोई नहीं रहता, सर्व प्रकारके आराममें पले हुए राजा महाराजा भी कभी भोगोंमें तृप्त न हो सके। जिन किन्हीं भी राजावोंको एक दीक्षाका प्रसंग मिला और वे उस दीक्षित अवस्थामें आनन्दमग्न रहे, तृप्त रहे तो वे भोगोंको छोड़कर तत्त्व ज्ञानके बलसे ही तो तृप्त रहे, भोग साधनोंके संगमसे तृप्त न हो सके। सो बड़े-बड़े देवेन्द्र आदिकमें भी जिन्होंने उत्कृष्ट भोग भोगे वे भी तृप्त न हो सके, फिर यह ख्याल बनायें कि मैं अमुक भोग भोगूं, मुझको तृप्ति हो जायगी, यह बिल्कुल भ्रम है। प्रति समय यह ही प्रतीति रखना कि जब भी तृप्ति होगी तो भोगोंके त्यागनेसे तृप्ति होगी। भोगोंके मेलसे तृप्ति न होगी। सो दृष्टान्तमें निरखिये कि जो प्यास समुद्रके समान अर्थात् इतने महान जल के पी लेने पर नहीं बुझती वह प्यास क्या घासके ऊपर पड़ी हुई ओसकी बिन्दुवोंके चाट लेनेसे बुझ जायगी ? नहीं बुझ सकती। जिस मनुष्यको, जिस किसी जीवको समुद्रका सारा जल पी जाने पर भी प्यास बनी रहती है उसको प्यास ओसकी बूंदोंसे कैसे बुझ सकती है ? इसी तरह अत्यन्त उत्कृष्ट भोगोंको भोगकर भी जो जीव तृप्त नहीं हो सकता उस जीवको सामान्य भोग तृप्तिदायक कैसे हो सकते हैं ?

परसे परकी तृप्ति हो सकनेकी वस्तुस्वरूपकी अनाज्ञा—आत्महित चाहने वाले पुरुषोंको यह सोचना चाहिए कि जगतमें जो कुछ भी पौद्गलिक ढेर पड़ा हुआ है उसके लगावसे, उसके संग समागमसे इस जीवका उद्धार नहीं हो सकता। इसको शान्ति और आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता, इस कारण बाह्य पदार्थोंको बाह्य हैं ऐसा ही जानना। इन समस्त परपदार्थोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरेसे अत्यन्त जुदा है, सो उनका कुछ भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरेमें कभी भी नहीं आ सकता। तो बाह्य पदार्थोंसे तृप्त हो सकनेकी बात तो अत्यन्त गलत है। जब किसी परका मुझमें प्रवेश ही नहीं होता तब फिर तृप्तिका ख्याल रखना कोरा मिथ्यात्व है। इससे बाह्य पदार्थोंसे आनन्दकी आशा न रखकर अपने ही ज्ञान-स्वभावके दर्शन अनुभवसे अपने आपमें आनन्द पानेका प्रोग्राम बनाना चाहिए। ऐसे आत्म-कल्याणके लिए जीवनका बहुभाग स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन तत्त्वचर्चामें व्यतीत करना चाहिए। यह जीवनका समय अत्यन्त वेगसे बहता चला जा रहा है। जिसको जो आयु व्यतीत हो गई अनगिनते प्रयास करनेपर भी एक पल भी तो वापिस नहीं आ सकता। जो समय गया सो गया। अब जो रहा हुआ समय है उस समयका सदुपयोग करें यह एक बुद्धिमानी

है। यदि गए गुजरे समयके समान कुछ भी व्यस्तता रखी जिससे कि ऐसा महसूस करें कि धर्मकार्यके लिए, स्वाध्यायके लिए समय नहीं मिलता तो फिर समय कब मिलेगा ? जब हाथ, पैर, आँख, कान आदि थक जायेंगे याने सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी तब तो स्वाध्याय, ध्यान करेंगे ही कैसे। और जब तक सामर्थ्य है तब तक यह सांसारिक कार्योंमें व्यस्त रहना चाहता है। तो इसके मायने यह है कि इस जीवनमें वे क्षण कभी प्राप्त ही न हो पायेंगे जब कि धर्मध्यानको प्रमुखता दी जा रही हो। सो सांसारिक विषय सुखोंमें लगाव रखना बरबादी है, ऐसा निर्णय कर इन सुखोंसे व्यावृत्त हों और अपने आत्माके कल्याणमें क्षण बितायें।

सततविविधजीवध्वंसनाद्यैरुपायैः स्वजननतनुनिमित्तं कुर्वते पापमुग्रम्।
व्यथिततनुमनस्का जंतवोऽमी सहंते, नरकगतिमुपेता दुःखमेकाकिनस्ते ॥७॥

जिनकी प्रसन्नताके लिये पाप किया जाता, पापफलमें नरकादि कुगतिमें जन्म लेने पर उनके साहाय्यकी असंभवता—ये मनुष्य अपने कुटुम्बी जनोंके और अपने शरीरके निमित्त घोर पाप करते हैं, किस उपायसे घोर पाप कर रहे हैं कि निरन्तर नाना प्रकारके जीवोंका जिनमें ध्वंस हो रहा है उन उपायोंसे अपने रिस्तेदार अथवा अपने शरीरके निमित्त उन जीवोंकी इच्छा पूरी करनेके लिए ऐसे उग्र पाप किया करते हैं। आरम्भ उद्यममें जो लगता है सो कितना ही बचाव किया जाय फिर भी अनेक जीवोंकी बाधायें होती रहती है फिर भी इन पर क्रियावोंमें उपयोग फंसानेसे कर्मबंध भी विकट होता रहता है। तो यह सब अपने आपके विध्वंसका ही उपाय बनाया है। सो ऐसे उपायोंसे स्वजनकी इच्छा पूर्तिके लिए ये अनेक पाप करते हैं। सो पाप करते हैं इतना ही नहीं, किन्तु उन्हीं पाप कार्योंमें अपनेको धन्य समझते हैं। चतुराई जानते हैं। स्त्री पुत्रादिकका मन खुश कर दिया। जो वे चाहते हैं वही प्रसंग उनको बना दिया। यह सोचते हुए वे अपने को धन्य समझते हैं कि मैं बड़ा ऊँचा कार्य कर रहा हूं। और किया कैसा यह सब कार्य कि कितने ही जीवोंको सताया, कितनोंको धोखा दिया, कितने जीवोंके प्रति क्या बर्ताव किया, ऐसे उग्र पाप द्वारा जो कुछ इष्ट समागम जुटाया सो केवल इस खुशीके लिए कि ये स्वजन कह उठें कि मेरे पालनहार ये हैं, तो उनकी रक्षाके लिए नाना जीवोंकी हिंसा आदिक पाप करते हैं और उस ही में अपनेको धन्य समझते हैं, परन्तु जब इस पापकर्मका उदय आयगा और वह मनुष्य मरण करके नरकमें जन्म लेगा और वहाँ नरकोंमें शारीरिक और मानसिक नाना पीड़ायें सहन करेगा, उस समय उसको उन घटनावोंमें से कोई भी जीव उन रिस्तेदारोंमें से कोई भी जीव जिनके लिऐ अनेक पाप किया था और खुश किया गया था वे तक भी इस अपरिमित

दुःखमें साथ नहीं दे सकते हैं। इस उग्र पापके करने वालेको ही नरक सम्बंधी अपरिमित दुःख अकेले ही भोगना पड़ता है।

पापफलको अकेले पापकर्ता द्वारा ही भोग्य जानकर पापसे विराम लेनेकी शिक्षा—यदि कोई जीव नरकमें पहुंचकर थोड़ा सही ख्याल बनाये तो वहाँ सोचता है कि जिन कुटुम्बी जनोंके लिए, जिन सम्बन्धी जनोंके लिए मैंने न करने योग्य कार्य भी करके पापकार्य कर उनको खुश किया है अब वे मेरे इस दुःखमें कोई भी साथ देने वाले नहीं हैं। ऐसा घोर दुःख इस जीवको अकेला ही भोगना पड़ता है। यहाँ यह विचार करना चाहिये कि जो ये खोटे पाप किए जा रहे हैं सो जिनको प्रसन्न करनेके लिए किए जा रहे हैं वे अब भी प्रसन्न नहीं हो पाते मुझपर। अपनी खुदगर्जीसे अपने आपमें मौज मानते रहते हैं, पर मुझपर प्रसन्न हो ही नही सकते, मुझमें वह प्रसन्नता ला ही नहीं सकते। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि कोई भी वस्तु अपनी कोई भी पर्याय किसी अन्य वस्तुमें दे नहीं सकती। तो जब मेरे पापके फलको कोई भोग ही न सकेगा, मुझको ही अकेलेको सारा पापफल भोगना पड़ेगा तो अब यह कर्तव्य है कि ऐसे समताभावका आदर करें कि हमसे पर नहीं छोड़ा जाता और गृहस्थी में बसना पड़ रहा है और यहाँ कुछ जीवोंका समागम हुआ है तो इनका जैसा भाग्य है उसको अनुकूल इनको साता असाता प्राप्त होगी। सो मेरे सहज प्रयाससे जिस प्रकार भी इनक पालन पोषण बने सो बने, पर अन्याय अत्याचार करके मैं कभी भी अपने आपको कलंकित न करूँगा। सो इन सब अकेले भोगने वाले दुःखोंको निरखकर भोगोंसे, दुष्कृत्योंसे अलग ही रहना चाहिए।

यदि भवति विचित्र संचितं द्रव्यमर्थ्यं परिजनसुतदारा भुंजते तं मिलित्वा।
न पुनरिह समर्था ध्वंसितुं दुःखमेतत्तदपि बत विधते पापमंगी तदर्थं ॥८॥

अन्यायार्जित द्रव्यको भोगने वालोंके द्वारा अन्यायकर्ताके दुःखफलको बांटनेकी असमर्थता—यह मनुष्य नाना तरहके पापमयी आचरणोंसे जो द्रव्य उपार्जित करता है उस द्रव्य का फल भोगादिकको तो ये स्वार्थी जन, दासी, दास, स्त्री, पुत्र, मित्रादिक मिलकर भोग लेते हैं। लेकिन जब उस पापकर्ता पुरुषको उन पाप आचरणोंके फलमें नरकादिक गतियोंमें जन्म लेकर जो दुःख भोगने पड़ते हैं अथवा इसी भवमें जब किसी झंझटमें कष्ट पाना पड़ता है तब कोई भी उसकी मदद नहीं करते। याने खाने भोगनेको तो सब मिलकर साथी बन जाते हैं मगर कष्ट भोगनेके लिए कोई साथी नहीं बन सकता। सामर्थ्य ही नहीं है कि कोई कष्ट भोगनेमें साझीदार बन जाय। कभी किसी कुटुम्बमें बड़ा प्रेम भी हो परस्परमें और वहाँ कोई ऐसी घटना गुजर जाय कि जो सभीको कष्टदायी हो, मानो इष्टका वियोग हो गया तो उससे

वह सारा घर कुटुम्ब दुःखी होता है पर उस समय भी किसीके कष्टको दूसरा कोई बाँट नहीं रहा। सभी कष्टोंमें पड जायें तो वे अपने अपने ही कष्टको भोग रहे हैं। किसीके कष्टको कोई दूसरा परिवारका सदस्य नहीं भोग सकता। तो इस जीवपर जो भी दुःख आता है उस दुःखसे बचानेमें ये कोई भी समर्थ नहीं हैं, जिन्होंने पापसे अर्जित सामग्रीको भोगा था। तो मतलब यह है कि पाप तो करेगा कुटुम्बका कोई एक मनुष्य और भोगेंगे उस कमाईको सभी लोग। लेकिन पापका फल जब फूटेगा तो इस पापकर्ताको महान् कष्ट होगा। उस कष्टसे बचानेके लिए यहाँ कोई समर्थ नहीं है, परन्तु खेद और आश्चर्यकी बात है कि अपने ऊपर आने वाली ऐसी विपत्तियोंका कारण समझ रहा है कोई मनुष्य अपनी वर्तमान प्रवृत्तिको, फिर भी यह प्राणी रात दिन कुटुम्बी, सम्बंधी आदि जनोंके लिए ही प्रयत्न कर रहा है। और अपने ही सिरपर पापका बोझ बढ़ा रहा है। मोहकी बड़ी विचित्रता है। मोहमें सन्मार्ग की सुध नहीं होती, बल्कि कुमार्गमें बढ़े चले जानेमें ये अपनी चतुराई मानते हैं और पाप कार्योंसे हट नहीं सकते। सो ऐसे तथ्योंको जानकर आत्महितार्थीका कर्तव्य है कि वह निष्पाप अविकार सहज परमात्मतत्त्वकी ओर उपयोग करे और बाह्य कामोंमें आशक्ति न करे।

धन परिजनभार्याभ्रातृमित्रादिमध्ये, व्रजति भवभृता यो नैष एकोऽपि कश्चित्।
तदपि गतविमर्षा कुर्वते तेषु रागं, न तु विदधति धर्मं यः समं याति यात्रा ॥६॥

शरीरसे जीवका निष्कासन होनेपर किसी भी परिजन मित्र आदिके द्वारा साथ निभानेकी अशक्यता—यह संसारविषय सुखके निराकरणका प्रकरण है। सुख भोगते भोगते जीवन बिताकर जिस समय यह जीव मरता है अर्थात् एक पर्याय छोड़कर दूसरी पर्यायको धारण करता है उस समय इसके साथ कुछ भी नहीं जाता। धन धान्य, दासी दास स्त्री पुत्र मित्रादिक कोई रंच मात्र भी इसके साथ नहीं जाते। ऐसी यह संसारकी प्रकट स्थिति है। और लोग देख भी रहे हैं, अनेक लोग हैं ऐसे जिनको अनेक मुर्दोंके जलानेमें शामिल होना पड़ा। जान रहे हैं कि कितने ही जीव शरीरको छोड़कर चले गए पर उनके साथ कुछ भी नहीं गया। ऐसा देखते हुए भी ये जीव ऐसे विचाररहित मूढ़ है कि उन ही में अनुराग करते हैं। जो साथ नहीं निभा सकते उन्हींमें इसकी आसक्ति बनी हुई है और जो साथ निभाने वाला है अर्थात् धर्म आत्माके स्वभावकी दृष्टि सो उस धर्मसे रंच भी प्रेम नहीं करता बल्कि उसको भूले ही रहता है। यहाँ जीवका आन्तरिक स्वरूप तो चैतन्यस्वभाव है और जितने ये इन्द्रियगोचर बाह्य समागम हैं वे सब बाह्य पदार्थ हैं। इस जीवपर ऐसा मोहविष चढ़ा है कि इन बाह्य समागमोंको तो अपना सर्वस्व समझता है, इनके बिना मेरा जीवन कैसे चलेगा? यही मेरे जीवनका सार है। यह कुटुम्ब, यह वंश, ये पुत्रादिक, इन्हींसे ही

मेरा महत्त्व है। ऐसा इन बाह्यपदार्थोंके बारेमें समझ रहा है। किन्तु जो शाश्वत शरण है ऐसे अपने धर्मका जरा भी ख्याल नहीं करता।

मोही जीवकी धर्मके प्रति बेसुधी और मायामय अर्थोंमें आसक्ति—जीव सत् है और जो सत् होता है वह स्वभावरूप होता है, उसका कुछ न कुछ स्वभाव है। जीव पदार्थ है, परमाणु है, उसका स्वभाव मूर्तिकरूप रहता है। यह आत्मा सत् है, उसका स्वभाव चैतन्य रूप रहता है। सो जो जिसका स्वभाव है वह उसका धर्म कहलाता है। स्वभाव कभी भी मिटता नहीं है, निरन्तर स्वभाव साथ है। अथवा वह पदार्थ स्वभावमय है, सो यह आत्मा भी अपने चैतन्यस्वभावमय निरन्तर है। तो यह आत्मा साक्षात् स्वयं धर्मरूप है, उसको कहीं धर्म बाहरसे नहीं लाना है, धर्मरूप तो यह खुद है ही, बस उसकी दृष्टि करना है, उपासना करना है, यह ही धर्मपालन कहलाता है। जीवके साथ स्वभाव ही जायगा, धर्म ही जायगा, और जितनी दृष्टि बना ली है, जैसी दृढ़ता स्वभावदृष्टिको कर ली है वह संस्कार भी साथ जायगा। सो जो साथ निभाने वाला है वह सदैव उसके साथ है। मानो यह भगवान सहज परमात्मा बाट जोह रहा है कि कब यह उपयोग मेरेपर दृष्टि दे कि मैं इसको परिपूर्ण आनन्दमय कर दूँ, ऐसी प्रतीक्षा करता हुआ यह भगवान चैतन्यस्वभाव जो निरन्तर बना हुआ है, यह मोही जीव उसकी तो सुध नहीं ले पाता है और ये बाहरी पदार्थ जो विनाशीक हैं, ये अन्य जीव जिन्हें कुटुम्ब मित्र पुत्रादिक कहते हैं, जो स्वयं अपने स्वार्थमें रत हैं उनके लिए अपना जीवन खो देते हैं। प्रत्येक जीव अपना अपना ही तो परिणमन करता है। तो कुटुम्ब माने गए ये जीव ये अपना परिणमन करेंगे। जैसी उनकी कषाय है, जिसमें वे अपने को सुखी मान सकते हैं उसरूप ही तो वे अपनी प्रवृत्ति करेंगे कहीं दूसरेके रूप तो प्रवृत्ति न करेंगे ? तो वस्तुस्वरूप ही यह बतला रहा है कि एकका दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। त्रिकाल भी इसका साथ नहीं निभा सकता।

जीवनमें परस्पर सहयोगमें भी वस्तुतः सबको स्व स्व सुखके प्रयासकी ही शक्यता—वर्तमानमें जो किसी घटनामें ऐसा समझ बैठता है यह मनुष्य कि मेरा साथी पुत्र है, मेरा साथी घरके अमुक लोग हैं, मेरे साथी ये मित्रजन हैं, वह भी भ्रम है, साथ कोई नहीं निभा रहा है किन्तु उन पुत्र मित्र आदिकको भी अपना सुख चाहिए और उनकी समझमें यह बैठा है कि पिता आदिकसे हम ऐसा प्रेमपूर्ण व्यवहार बनायेंगे तो हमको सुखके साधन खूब मिलेंगे ऐसा उनके चित्तमें विश्वास बैठा है जिसके कारण वे अपने सुखके लिए पिता आदिकका विनय करते, आज्ञा मानते, पर वस्तुतः वे अपने ही सुखके लिए सब कुछ कर रहे हैं दूसरेके

लिए कुछ नहीं करते, और उसकी परीक्षा भी हो जाती है। किसी समय पिता पुत्रके खिलाफ भी कुछ कह दे तो वहाँ पता पड़ जायगा कि वह पुत्र कितना चाहता है पिताको। तो जगत में जितना जीवोंका परस्पर मित्रताका, कुटुम्बपनेका सम्बंध बन रहा है वह सब अपने अपने सुखका निमित्त जानकर बन रहा है। तो यह जीव जब अपनी पर्याय छोड़कर दूसरी पर्याय को ग्रहण करता है तो यहाँका यह समागम एक भी साथ नहीं निभाता, फिर भी आश्चर्य और विषादकी बात है कि यह जीव उनही में रमता है जो साथ नहीं निभा सकते। और जो साथ निभा सकता है आत्मधर्मरत्नत्रय भाव, स्वभावदृष्टि यह उसकी सुध नहीं लेता।

यदिह भवति सौख्यं वीतकामस्पृहाणां, न तदमरविभूनां नापि चक्रेश्वराणां।
इति मनसि नितांतं प्रीतिमाधाय धर्मं, भजत जहित चैतान कामशत्रून् दुरंतान् ॥१०॥

सहजात्मस्वभावोपयोगज आनन्दकी अनुपमता—जो आनन्द संसारसुखसे विरक्त हुए पुरुषको प्राप्त होता है वह आनन्द देवोंके शिरोमणि स्वर्गोंके अधिपति इन्द्रको भी प्राप्त नहीं होता और छह खण्डके अधिपति चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता। आनन्द वास्तविक वह है जहाँ आकुलता रंच नहीं है। अब सांसारिक विषय भोगोंके सुखोंमें यह लक्षण घटाकर तो देखिये घटता है अथवा नहीं। संसारका सुख क्या है? मानो स्पर्शनइन्द्रियजन्य सुख, काम-सेवनका सुख, उसके लिए प्रयत्न करने वाला कितना आकुलित रहता है। पहले आकुलित रहा, भोगके कालमें आकुलित रहा, अन्यथा भोगके लिए प्रवृत्ति क्यों हुई? ऐसा कौनसा मनुष्य है कि जिसको फोड़ा फुंसीकी वेदना न हो और मलहम पट्टी लगाता फिरे, ऐसे ही ऐसा कौनसा जीव है जिसमें आकुलता न हो और वह विषयोंमें प्रवृत्ति किया करे। जो विषयोंमें प्रवृत्ति करता है वह आकुलताके कारण ही कारण है और विषयभोगके बाद वह और भी अधिक आकुलित या विषादमग्न होता है। तो ऐसे ही ५ इन्द्रियके विषयोंका सुख और मनके विषयका सुख, ये आकुलताओंसे भरे हुए हैं। यह मोही जीव आकुलता भी करता जाता है और इस इन्द्रिय व मनके सुखके लिए भी प्रयत्न करता जाता है। सो संसारके जितने भी सुख हैं वे सब आकुलतासे भरे हुए हैं। उन सुखोंके मालिकोंमें ऊँचे मालिक इन्द्र और चक्रवर्ती कहे जा सकते हैं, सो इन्द्र भी इन विषयसुखोंके भोगते समय आकुलित रहता है और इन बड़े देवोंके तो मानसिक व्यथा बहुत रहती है। जैसे यहाँ कोई समझता हो कि यह राजा, यह जमींदार, यह नेता, यह मालिक ये बड़े सुखी होंगे, क्योंकि इनका दूसरोंपर हुकुम चलानेका काम रहता है। सो लोग ऐसा सोचते तो हैं कि ये हुकुम चलाने वाले, आज्ञा देने वाले, ये लोग बड़े कहलाते हैं और ये बड़े सुखी हैं, पर आज्ञा देने वाले लोग आज्ञा पालने वालोंसे भी अधिक दुःखी हैं। आज्ञा पालने वाले सेवकोंने, मजदूरोंने तो जो हुक्म मिला उसे

झट कर डाला पर आज्ञा देने वालेपर देख लो कितना बोझ है ? उसे न जाने किस किसकी क्या क्या बात सोचनी पड़ती है, बड़े विकल्प होते हैं उसे, और बड़ा कठिन दुःख है। तो ऐसे ही लोग सोचते होंगे कि स्वर्गोंका इन्द्र बड़ा सुखी होगा, आखिर वह इन्द्र ही तो है या यहाँ मनुष्योंमें बड़े-बड़े महाराजा चक्रवर्ती बड़े सुखी होंगे, पर संसारके इन विषय प्रसंगोंमें, इन पौद्गलिक सम्पदावोंमें जो अधिक धनी है, ऊँचा है वह उतना ही अधिक कष्टमें पाया जाता है। तो सांसारिक सुख भोगने वालेमें शिरोमणि जो धरणेन्द्र और चक्रवर्ती हैं उन्हें कहाँ आनन्द रखा है ? आनन्द तो वास्तवमें विषयसुखोंसे विरक्त पुरुषोंमें ही पाया जाता है। और यह विरक्ति ऐसी विशुद्ध होना चाहिए कि आत्महितके भावोंपूर्वक ही विरक्ति हो।

मायामय लोकके लगावसे व विषयव्यासङ्गसे हटकर आत्मधर्मकी उपासना करने का अनुरोध—इन विषयोंके प्रसंगमें पूरा नहीं पड़ सकता। इनके लगावमें संसारमें जन्म मरण ही करते रहना पड़ेगा। आज यह दुर्लभ मनुष्यभव, यह दुर्लभ जैन शासनका समागम बड़े सुभवितव्यसे प्राप्त हुआ है, अब इसको व्यर्थ नहीं खोना है। इन मायामयी मनुष्योंमें मुझे क्या दिखाना ? इनसे मुझे क्या नाम लूटना ? यह दिखने वाला जितना मनुष्यलोक है यह सब मायामय है। मायामयका अर्थ यहाँ कपट करने वाला नहीं, हाँ कपट करने वाला भी मायामय हो सकता है व सरल भी मायामय हो सकता है, पर जीव, कर्म, शरीर वर्गणा इनके पिण्डसे बनी हुई यह पर्याय है जो मनुष्य दिख रहे हैं, जो अनेक पदार्थोंके सम्पर्कसे बने हुए हैं वे सब माया कहलाती हैं। जब अनेकका सम्पर्क है तो यह बिघटेगा, यह परमार्थ नहीं, यह वास्तविक नहीं। ऐसे इस मायामय जगतमें किससे क्या चाहना ? ये सब असार हैं, अपने आत्मस्वरूपको निरखूं और उपयोगको सहज ज्ञानस्वरूपमें लगाऊं, इसका ही ज्ञाता बना रहूं जिसके प्रसादसे समस्त विकल्प मिटकर निर्विकल्प स्थिति पाकर अलौकिक आनन्दका अनुभव प्राप्त होगा। आत्महितकी जिसको सुध है, ऐसा जिसका प्रयास है, पौरुष है उन पुरुषोंको जो आनन्द प्राप्त होता है वह आनन्द इस लोकके बड़ेसे बड़े पुरुषोंको भी प्राप्त नहीं हो सकता। जब यह अन्तर है विषयविरक्ति और विषयासक्तिमें कि विषयासक्ति तो क्षोभसे भरी हुई है और विषयविरक्ति आनन्दसे भरी हुई है, इतना महान अन्तर है इन दोनों परिणतियोंमें। तब है आत्मदृष्टि चाहने वाले भव्य पुरुष ! तू विषयासक्तिसे मुख मोड़। उससे बिल्कुल अलग हट और अपने आपके इस सहज आनन्दमय स्वरूपमें प्रवेश कर। इसके लिए इस दुष्ट मनको, नपुंसक मनको वशमें कर। इस मनके वश करनेके कारण फिर अपने आत्माकी ओर उपयोग रमेगा। सो विषयोंसे विरक्त होकर आत्माके इस चैतन्यस्वरूपमें रमनेका प्रयत्न करना चाहिये।

यदि कथमपि नश्येद्भोगलेशेन नृत्वं, पुनरपि तदवाप्तिर्दुःखतो देहिनां स्यात् ।
इति हतविषयाशा धर्मकृत्ये यतध्वं, यदि भवमृतिमुक्ते मुक्ति सौख्येऽस्ति वांछा ॥११॥

संसारमें भ्रमण कर उपलब्ध कष्टोंका दिग्दर्शन—हे आत्मन् ! यह मनुष्य पर्याय संसारकी सब योनियोंमें भ्रमण कर बड़ी कठिनतासे प्राप्त हुई है । संसारके जीवोंपर दृष्टिपात तो करें कितने प्रकारके, कैसी-कैसी निकृष्ट पर्यायोंके बीच जीव बस रहे हैं । जो समझमें आ रहे उन एकेन्द्रिय जीवोंपर भी तो कुछ दृष्टिपात करो । ये बनस्पति, पेड़, एकेन्द्रिय जीव खड़े हैं, इनके स्पर्शनइन्द्रिय मात्र है, कुछ बोध नहीं है । मिट्टी, जल इन्हींको ही जड़से खींचकर यही उनका आहार चल रहा है । जिनके अंगोपांग नहीं है, कैसा अटपट शाखाओंमें बढ़ गई हैं उन सबमें ये आत्मप्रदेश ही तो चल रहे, जिनपर लोगोंको कुछ करुणा नहीं अथवा इतना तक भी नहीं समझते कि ये जीव हैं । उन्हें कुल्हाड़ीसे काट लिया, अग्निमें झोंक दिया देखिये कैसा कठिन उपद्रव इन एकेन्द्रियोंने सहा । बताओ उन्हें कष्ट नहीं होता क्या ? लोग इस पृथ्वीको खोद डालते हैं, जलको खौला देते हैं, अग्निमें पानी डालकर अग्निको बुझा देते हैं, अग्नि भी मरी, पानी भी मरा, हवाको टायर ट्यूब वगैरहमें एक जगह रोक देते हैं अथवा पंखोंसे झकोरते हैं, तो इससे इन एकेन्द्रिय जीवोंको बाधा नहीं होती क्या ? मगर वे करें क्या ? विवश हैं । और उनके विषयमें लोग इतना तक भी नहीं जानते कि ये भी जीव हैं । फिर निगोद जीवोंकी तो कहानी ही क्या कहना ? वे हमारी इन्द्रियोंके विषयभूत नहीं हैं, उनको बड़े दुःख हैं । इन कीड़ा मकोड़ों पर कौन रहम करता ? प्रायः बाल वृद्ध सभी इन कीड़ियोंको मारनेमें जरा भी दया नहीं करते । बहुत कम सज्जन लोग हैं ऐसे जो कि जीवों पर करुणाभाव ला पाते हैं । ढीमर आदिक मछुवे अपनी बंशीमें केंचुवा आदिक जीवोंको बाँधकर पानीमें डाल देते हैं, मछलियाँ उन्हें खाती हैं, क्या उनको कष्ट नहीं होता है ? ऐसी ऐसी कुयोनियोंमें तू रहा बार बार उन भवोंमें उस उस प्रकारकी व्यथायें सही । कुछ और आगे बढ़ा, पंचेन्द्रिय जीव हुआ, पशु पक्षी हुआ, तो पशुओंकी दुर्दशा तो आँखों दिख रही है । जब तक वे काम आ रहे हैं तब तक उनको घास फूस आदिक खाना पीना दिया जा रहा, दुर्बल हो गए तो भी उनको गाड़ियोंमें या हलमें जोता जा रहा । यदि वे नहीं चल पाते तो उनपर डंडोंकी मार पड़ती, जबरदस्ती चलाये जा रहे । कंधे सूझ गए, खून टपक रहा फिर भी मार मारकर उनसे काम लिया जा रहा ? बताओ कौन रहम कर रहा उन पर ? और जब वे किसी कामके नहीं रहते तो उनको कसाइयों के हाथ बेच देते । कसाई उनका बध कर देते ।

अनादिसे कुयोनियोंमें भ्रमण कर सुयोगसे दुर्लभ नरजन्मकी प्राप्ति—हे आत्मन् !

तूने बड़े कठिन कष्ट अब तक सहे। उन कष्टोंको भोग भोगकर आज इस मनुष्यपर्यायमें आया है तो यहाँ भी तू अपने भगवान आत्माकी भक्ति नहीं कर रहा, अपने आपपर करुणा नहीं कर रहा और विषयसेवनके प्रयासोंसे यह अपने आत्माका हनन कर रहा है। सो कितनी कठिनाईसे यह मनुष्यपर्याय प्राप्त की। यदि भोग भोगमें ही रम करके इस मनुष्य पर्यायको गमा दिया तो फिर बड़ा ही कठिन होगा कि यह मनुष्य पर्याय फिर मिल सके। इस मनुष्य पर्यायका मिलना इतना कठिन है जैसे समझ लो कि किसी विशाल समुद्रमें एक छोरमें तो बैलोके जोतनेकी माची (जुवा) को डाल दिया जाय और दूसरे छोरमें उसके अन्दर पड़े हुए सैल डाल दिए जायें (सैल उन्हें कहते जिनको उस माचीके छिद्रोंमें फसा देनेपर बैल इधर उधर निकलकर बाहर नहीं जा सकते) तो मानो अब वे सब बह रहे हैं उस विशाल समुद्रमें, तो क्या कभी ऐसा हो सकेगा कि वे दोनों सैल उसी माचीमें फिरसे स्वतः ही लग जायें यह तो अत्यन्त दुस्तर बात है, दुस्तर भी क्या असम्भवसी बात दिखती है। तो इसी तरह समझिये कि इस संसाररूपी समुद्रमें बहते-बहते इस मनुष्यभवका पाना इससे भी कठिन और दुर्लभ है। ऐसे मनुष्य पर्यायकी प्राप्ति पुनः होना कठिन है। यदि इस मनुष्य जीवनको भोग विषयोंमें ही लगा दिया तो बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त हुआ यह मनुष्यजीवन व्यर्थ गया समझिये। जैसे समुद्रमें कोई रत्न डाल दिया गया तो कहीं वह रत्न पुनः मिल सकता है? कितना कठिन है। समुद्र अगाध है और फिर भीतर अंधकारमय नीचे दलदल भी पड़ा हो, जहाँ फँस जाय या कंकड़ोंमें मिल जाय तो अब ऐसे रत्नका पाना कितना कठिन है।

दुर्लभ नरजन्म पाकर संसारसंकटोंसे निवृत्त होनेका उपाय करनेमें ही वास्तविक चतुराई—आत्मन्! इस खोये हुए मनुष्यभवको इस संसारसागरमें पुनः पाना बड़ा कठिन है, इस कारण यदि आत्महित चाहते हो तो विषयसुख भोगनेकी इच्छाका त्याग करो और अपने अंतः प्रकाशमान सहज परमात्माकी दृष्टि रखकर धर्म धारण करो। जब तक संत गुरुजनकी करुणा नहीं प्राप्त होती तब तक अपने अन्तः प्रकाशमान इस परमात्मतत्त्वका दर्शन नहीं हो पाता। जब तक इस सहज परमात्मस्वरूपका दर्शन नहीं हुआ तब तक इन विषयसुखोंको त्यागनेकी शुरूआत हो ही नहीं सकती। यह जीव सुख चाहता है, प्रत्येक जीव सुख चाहता है, सो इतना तो हो जाता है कि बड़ा सुख मिल जाय तो वह छोटे सुखकी बातको त्याग देता है, किन्तु यदि कोई महान् सुख नहीं मिलता तो वर्तमान अल्प सुखको कैसे त्यागेगा? तो विषयसुखोंका त्याग उसीके बन सकेगा जिसने विषय सुखोंसे उत्कृष्ट अलौकिक अनुपम आत्मीय आनन्दका अनुभव किया हो। इस कारण बस जीवनमें एक ही पुरुषार्थ है करनेके लिए कि अपने अविकार आत्मस्वभावकी दृष्टि करके ऐसा ही शुद्ध चैतन्यमात्र अपनेको अनु-

भव करे और अलौकिक आनन्दको प्राप्त करे। यह आत्मीय अलौकिक आनन्द मिलनेके पश्चात् फिर ये संसारके विषयसुख तुझे न सुहायेंगे। सो शास्त्रको पढ़कर, लोगोंसे सुनकर यदि केवल यही प्रयत्न करते रहे कि इन विषयसुखोंको त्याग दें, इन परिग्रहोंको त्याग दें, इनसे हटकर बाहर चले जावें तो इतना करने मात्रसे सिद्धि न बन पायेगी, न अंतरंगसे विषयसुखोंकी भावना छूट सकेगी और न भविष्य भी उत्तम बन सकेगा। यद्यपि विषय सुख त्यागने योग्य है, त्यागना चाहिए, पर विषयसुखोंसे बढ़कर जो अलौकिक आनन्द है उसकी धुन बिना उसकी दृष्टि और प्राप्ति बिना इन बाह्य विषयोंको त्यागते रहनेपर भी पार नहीं पड़ सकता, इस कारण इन सब जगतके सुखोंको असार जानकर सारकी बात अन्तरंगमें परखें। सार मिलेगा 'ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो,' इस स्थितिके प्राप्त करनेमें। तब एक मात्र यही पौरुष करना कि मैं अपने इस ज्ञानके सहज शुद्ध स्वरूपको ही जानता रहूँ। इसके लिए तत्त्वज्ञान, वस्तुस्वरूपका अध्ययन और ध्यानका अभ्यास करना। आत्मध्यानके प्रतापसे ही संसारके समस्त संकट दूर हो सकते हैं।

विषमविषसमान्नाशिनः कामभोगांस्त्यजति यदि मनुष्यो दीर्घसंसारहेतून्।
व्रजति कथमनंतं दुःखमत्यंतघोरं, त्रिविधमुपहतात्माश्वभ्रभूम्यादिभूतं ॥१२॥

त्याज्य काम और भोगका विश्लेषण—यदि यह मनुष्य विषम विषके समान नाशवान, अहितकारी बहुत काल तक संसारमें भ्रमानेके कारणभूत काम भोगोंको छोड़ देता है अथवा छोड़ दे याने उन काम भोगोंसे सर्वथा मुख मोड़ ले तो निश्चयसे इसे अनन्त संसारके घोर दुःखोंका सामना न करना पड़े, नरकादिक कुयोनियोंमें जन्म मरण न करना पड़े। ये कामभोग कठिन विषके समान अहितकारी हैं। काम और भोग दोनों इन्द्रियके विषय कहलाते हैं। इन्द्रियके विषय ५ प्रकारके हैं। जिनमें स्पर्शन और रसनाइन्द्रियके विषयोंको काम कहते हैं और घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, कर्णेन्द्रियके विषयको भोग कहते हैं। काम और भोग में दो बातोंका अन्तर है। एक तो विषयभूत पदार्थोंका स्पर्श करना, मथना चबाना याने विषयभूत पदार्थोंके दलन मलनसे तो काम होता है और बाहरसे दूरसे ही केवल एक इन्द्रियविषयका सेवन है, उनका दलन मलन नहीं है वे सब भोग कहलाते हैं। यद्यपि कामविषयक इच्छा भी काम कहलाती है, पर स्पर्शनइन्द्रियके विषयमें स्पर्श होता है, आघात होता है और रसनाइन्द्रियके विषयमें भी आघात है। मुखसे चबाते हैं, पर इस तरहका चबाना, दलन मलन ये घ्राण, चक्षु और कर्णके विषयोंमें नहीं है। यह अन्तर काम और भोगमें समझा जा सकता है। दूसरा अन्तर है आसक्तिका। यद्यपि मोही जीव पंचेन्द्रियके सभी विषयोंमें आसक्त है फिर भी अपेक्षाकृत देखा जाय तो काम अर्थात् स्पर्शन और रसनाके विषयमें आसक्ति

बेसुधी अधिक होती है। स्पर्शन और रसनाके विषयोंके भोग कालमें इस जीवको अपने स्वरूपकी अत्यन्त बेसुधी हो जाती है। तो आसक्ति और अधिक आसक्ति इनका अन्तर है भोग और काममें,

काम और भोगकी अहितकारिता व विनश्वरता—ये काम और भोग ये ही जीवको संसारमें रुलाने वाले हैं। इससे बढ़कर और क्या विपत्ति कही जा सकती कि यह जीव नया भव पाये, जन्मे, फिर मरे, फिर जन्मे, फिर मरे, ऐसे जन्म मरण बराबर अनन्त कालसे चले आ रहे हैं और यह जीव अपने स्वरूपको न निरख सका, तो यह जन्म मरण परम्परा चिर काल तक चलती रहेगी, ऐसी जो कठिन विपत्ति है उसपर तो जीवका ध्यान नहीं है जो सामनेके आगंतुक थोड़े वचनकी किसीकी चेष्टा की, इस बातको देखकर केवल कल्पना करके दुःखी होते हैं, उन दुःखोंको यह बड़ा पहाड़ मान लेता है, ये सब महा व्यामोहकी चेष्टायें हैं, तो यह जीव यदि इन काम भोगोंको त्याग देता, तो संसारमें ऐसा अत्यन्त घोर दुःख न पाता। ये काम भोग अहितकर हैं। आकुलता इनमें बहुत है। काम भोगके समय भी आकुलता है। काम भोगके पश्चात् भी आकुलता है, और काम भोगके समय आकुलता होनेसे जो विकट कर्मका बंध किया उसके उदयमें बहुत भविष्यकाल तक भी यह आकुलतायें पाता रहेगा। अब निरखिये कि काम भोगका समय कितना अल्प है। जैसे भोजन कर रहे हैं तो उसका स्वाद लेनेका कितना समय है? पाव मिनट भी नहीं होता, चबाया, पेटमें गया उसके बाद तो स्वादसे कुछ मतलब न रहा। तो ऐसा पाव मिनट अथवा और कम समयकी थोड़ी मौज के खातिर अपने सागरों पर्यन्तका भविष्यकाल खोटा बना लेना यह कितनी मूढ़ताकी बात है। तो ये काम भोग विषय विषके समान अहितकारी हैं। ये काम भोग विनश्वर हैं। ये बहुत देर तक रहें, मिटें नहीं, ये जीवको साथ रहें तो चलो यह भी मान लिया जाय कि भोगनेमें आकुलता बहुत अधिक होती है तो होने दो, मगर बहुत बहुत काल तक काम भोग भोगकर मौज तो मान लिया जायगा सो भी नहीं। ये विनश्वर हैं, क्षण भरके बाद फिर ये विषय नहीं रहते। तो ऐसे विनाशीक काम भोगको यदि यह मनुष्य छोड़ दे तो इसको फिर संसारमें चिर काल तक जन्म मरणकी व्यथायें न सहनी पड़ें।

काम और भोगोंकी दीर्घसंसारहेतुता—इस जीवको संसारमें भ्रमण कौन कराता है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं कर सकता। लौकिक जन इस समस्याको न सुलझा पानेसे सुख दुःख पुण्य पाप कराने वाले, एक किसी ईश्वरकी कल्पना कर लेते हैं कि वह संसारके सब जीवोंको पैदा करता है, पुण्य पाप कराता है, सुख दुःख देता है, गतियोंमें भेजता है। परंतु यदि किसीसे कहा जाय कि बोलो तुम ऐसा ईश्वर बनना चाहते

हो, कैसा कि सब जीवोंका हिसाब रखो, किसको सुख देना, किसको दुःख देना, किससे पाप कराना, किससे पुण्य कराना। ऐसे सब अधिकार तुम्हें दिए जायेंगे, तुम्हें ऐसा ईश्वर बना दिया जायगा, बोलो बनना मंजूर है क्या ? तो जो थोड़ी भी बुद्धि रखता है वह मनुष्य यह कहेगा कि हम तो घरके थोड़े कुटुम्बियोंकी संगतिसे ही इतना कष्ट पा रहे हैं तो हम ऐसी उलझन लेकर क्या अपना सारा जीवन दुःखमय बना डालें ? मुझे न चाहिये ऐसी अवस्था जिसमें नाना चिन्तायें और क्षोभ उत्पन्न करने पड़े। मुझे तो अनन्तज्ञानानन्दमय निर्विकल्प ऐश्वर्य चाहिये। ईश्वरका रूप क्षोभ वाला नहीं है, क्योंकि ईश्वरके स्वरूपमें दो बातें मुख्य हैं दोष तो रंच न रहें और गुण पूरे प्रकट हो जायें। ऐसा चूँकि आत्माका स्वरूप है, उसके सहज सत्त्वमें दोष नहीं और गुणपर आवरण नहीं। वह एक चित् शक्ति है। तो चूंकि ऐसा स्वभाव है तब ही यह आत्मा पूर्ण निर्दोष और सर्वज्ञ हो सकता है। तो जिस आत्मामें दोष रंच न रहे हों और गुण पूरे प्रकट हो गए हों उसे कहते हैं भगवान। तो ऐसा भगवान समस्त ज्ञेयोंका ज्ञायक है और अपने आनन्दरसमें ही लीन है, प्रभुमें विकल्प तरंग उत्पन्न ही नहीं होती, कल्पना ही नहीं जगती। तो वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं कर सकता सो भगवान भी किसी दूसरेकी परिणति न कर सकेगा लेकिन उनके तो कोई कल्पना ही नहीं जगती, विकल्प ही नहीं उठता। भगवान तो परमशुद्ध हैं। तो कोई दूसरा, ईश्वर या अन्य लोग इस जीवको संसारमें नहीं घुमाते। संसारमें यह जीव अपने आपकी करतूतसे भ्रमण करते हैं। उसमें निमित्त है कर्मोदय। मगर भ्रमण करनेकी करतूत तो यह जीव ही बनाता है। जैसे कोई ध्वजा हवाका निमित्त पाकर उलझती है, तुलझती है, टेढ़ी जाती है, किसी दिशामें जाती है, उसमें नाना बातें बनती रहती हैं तो वह ध्वजा उस पवनका निमित्त पाकर स्वयंमें ही उलझती रहती, ऐसे ही यह जीव कर्मविपाक का निमित्त पाकर खुद ही में उलझता रहता है तो इस जीवको संसारमें घुमाने वाला है कौन ? खुद यही जीव अपने विचित्र शुभ अशुभ भावोंको बनाकर इस करतूतके निमित्तसे विकट कर्मबन्ध करता है और उनके उदयमें यह जीव खुद बेहोश, चारित्रहीन, कषायवान बन बनकर आगेके लिए कर्मबन्ध करता है और संसारमें रुलता रहता है। तो ये कामभोग संसारमें भ्रमण कराने वाले हैं। इनको यदि यह जीव छोड़ देता तो इसे संसारके घोर, दुःखोंका सामना नहीं करना पड़ता।

काम व भोगसे प्राप्त होने वाले दुःखोंका दिग्दर्शन—संसारमें कैसा घोर दुःख है। दो को एकेन्द्रिय आदिक जीव हैं, कीट पतिंगे आदिक हैं, पशुपक्षी हैं उनके दुःख तो नजर आ

रहे हैं, पर एक कठिन भव नरक गतिका है। सो नारकी जीवोंकी कहानी प्रभुकी दिव्यध्वनि की परम्परासे ज्ञात हुई है। उस कथामें कुछ भी, रंच भी असत्य नहीं है। नारकियोंके कितने कठिन दुःख है। कोई पापी जीव मरण करके नरकगतिमें जन्म लेता है तो उसके जन्मकी यह विधि है कि बिलके ऊपरी भाग याने जैसे छतका नीचेका तलभाग होता है उस प्रकारके अधः पृथ्वी तलमें निहित कुस्थलोंसे नारकी जीवका शरीर तैयार हुआ और गिरा। गिरते ही सैकड़ों बार नीचे नरककी जमीनपर गेंदकी तरह उछलता, गिरता। उछलता गिरता तो प्रारंभसे ही नरकगतिमें कष्ट शुरू हो गए। बहुत उछलने गिरनेके बाद यह थमा, तो चारों ओर से नारकी जीव आ-आकर उसपर टूट पड़ते हैं। जैसे कोई नया कुत्ता किसी मोहल्लेसे निकला तो उस मोहल्लेके कुत्ते उसपर टूट पड़ते हैं सो नारकियोंमें ऐसी अशुभ विक्रिया होती है कि चाहें कि मैं इसको कुल्हाड़ीसे मारूँ, ऐसा आशय करके हाथ उठाया मारनेको कि वही हाथ कुल्हाड़ा बन जाता है। उन्हें शस्त्रसंग्रह नहीं करना पड़ता या शस्त्र उठानेमें बिलम्ब नहीं करना पड़ता। उनका ही शरीर हाथ करोत बन जाय, कुल्हाड़ी बन जाय। बरछी बन जाय जिस रूप वे चाहें उसी रूप परिणमन हो जाय, तब समझिये कि उनका दुःख कितना कठिन है। यह नारकी भी तो नया-नया पहुंचता है सो अन्तर्मुहूर्त वह भी उसी प्रकारका हो जाता। तो परस्परमें एक दूसरेसे विकट लड़ाइयाँ चलती रहती हैं। वहाँ ठंड गर्मीके प्राकृतिक दुःख तो भयंकर हैं ही, पर ये परस्परके दुःख बड़े कठिन हैं और उनका शरीर तिल-तिल बराबर कट-कट कर अलग हो जाय तिस पर भी बीचमें मरण नहीं होता। वे बिखरे हुए कण टुकड़े फिर इकट्ठे होकर वही का वही शरीर बन जाता है। ऐसे दुःख सागरों पर्यन्त सहने पड़ते हैं। ऐसे दुःखदायी भवमें इस जीवको कौन ले गया? उसकी खुदकी करतूत। काम भोग सम्बन्धी इच्छायें रखी और उनके आधीन होकर इस मनको चंचल बना डाला, धर्मसाधनाको स्थान न दिया। दूसरोंके पीछे पागल रह रहकर यह समय गुजरा तो उसका फल यह है कि नरकगति जैसी दुर्गतियोंमें जन्म लेकर घोर दुःख सहना पड़ता है। यदि यह जीव उन काम भोगोंको त्याग देता तो फिर मन, वचन, कायके ऐसे क्लेशों को न सहना पड़ता।

संसारमें मानसिक कष्टोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन—संसारमें जो भी क्लेश हैं वे तीन प्रकारके हैं। (१) मानसिक (२) वाचनिक और (३) शारीरिक। दूसरेकी विभूतियोंको देखकर मनमें ईर्ष्या करना, अफसोस करना, वांछा करना, यह मानसिक कष्ट है। किसी को इष्ट मान लिया, अनिष्ट मान लिया, अनिष्टसे कतरा रहे हैं, इष्टसे लगाव रख रहे हैं, इन घटनाओंसे मनको बड़ा कष्ट पहुंचता है। तो यह कष्ट इनकी बेवकूफीका ही तो कष्ट है, क्या

मतलब पड़ा, क्यों कल्पनायें करें, जगतमें जो पदार्थ जिस रूप परिणमता है उसके ज्ञाता द्रष्टा रहें, प्रयोजन क्या पड़ा है ? फिर धर्मदृष्टि ही किसे कहेंगे ? तो यह मानसिक कष्ट बेवकूफी का कष्ट है, जैसे देवगतिमें अनेक प्रकारके सुख आराम होने पर भी वह देव मानसिक कष्टोंमें दुःखी रहकर सागरों पर्यन्त जीवनको निकाल देता है ऐसे ही यह मनुष्य भी पशु आदिक संज्ञी जीव भी नाना प्रकारके भवोंमें, दूसरेके बारेमें कल्पनायें करके, इच्छायें करके व्यर्थ कष्ट पाता है। तो यह मानसिक कष्ट इस जीवके लिए बहुत विकट कष्ट है। मनुष्यभव मिला, खाने पीने के साधन भी बहुत ठीक मिले, मन भी समझनेकी शक्ति रखने वाला मिला, सत्संग भी मिलता रहता है, देव, शास्त्र, गुरुविषयक उपासनाकी भी सुविधा मिली है, ऐसे सुन्दर वातावरणको पाकर भी कोई मनुष्य यदि परके विषयमें कुछसे कुछ कल्पनायें उठाकर मानसिक कष्ट पाये तो वह उसकी महामूढ़ता है। पर व्यामोही प्राणी मानसिक कष्ट उठाता रहता है और उनसे उपेक्षा करनेकी बात चित्तमें नहीं लाता।

वाचनिक कष्ट माननेकी व्यामुग्धता—इस जीवको वाचनिक कष्ट भी है। किसी पुरुष ने कुछ भी वचन कह दिया, निन्दा वाली बात कह दी, तो अव्वल तो सोचना यह चाहिये था कि जो भी निन्दा वाली बात कही जाती है उस सम्बंधमें कुछ न कुछ दोष मुझमें होगा तब ही तो यह बात प्रचलित हुई है। तो उसने तो अच्छा ही किया जो मुझे सावधान कर दिया कि अब मैं उस प्रकारके दोषमें रंच भी न जाऊँ। सो यह चिन्तन तो दूर रहा, किन्तु मोहकर्मके तीव्र उदयसे वह उसपर खेद करता और उसके प्रति विरोध भावना रखता है। यहाँ वाचनिक कष्ट भी बहुत है। किसीने कुछ वचन कह दिया तो हुआ क्या कि उस उपादान जीवकी ऐसी योग्यता थी, उसका इतना ही हृदय था और उस कष्टसे पीड़ित होकर उस ने वचन निकाला, सो ये वचन भाषावर्गणा जातिके पुद्गलका परिणमन हैं। अजीव हैं। शब्द में चेतना नहीं है। वह अजीव कहलाता। जैसे यहाँ प्रकट अजीव अजीव पदार्थोंके संघर्षसे शब्द निकलते हैं, हाँ उन शब्दोंमें भाषा नहीं है क्योंकि उनका अटपट सम्पर्क है, किन्तु इस मुखमें रहने वाले जीभ, ओंठ, दांत, कंठ, तालू, मूर्धा इनका सम्पर्क नाना प्रकारसे चलता है। उनसे भाषा जैसे शब्द निकल बैठते हैं तो आखिर वे शब्द हैं तो अजीव ही। उन अजीव शब्दों को सुनकर इस चैतन्य तत्त्वमें कौनसे कष्टकी बात आयी थी ? अजीव हैं, उनका परिणमन है इस तरहका परिणमन हो गया, पर मेरेमें उन अजीव शब्दोंकी किसी परिणतिसे कौनसी घटना घट गई ? कहाँ यह जीव प्रेरा गया ? वह शब्द समूह तो बाहर है। यह जीव तो उनका जानने वाला रहे। लेकिन यह जीव मात्र उनका ज्ञाता नहीं रह पाता किन्तु उस समय उन वचनोंको सुनकर बड़ा कष्ट मानता है। तो यह संसारी प्राणी जब तक मन न

मिला तब तक और तरहके कष्ट मानता रहा और जब मन मिल गया तो उससे हजार गुना कष्ट मान लेता। पहले तो कोई शारीरिक ही कष्ट थे, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदिक जीवोंके बस शारीरिक कष्ट हैं, और कष्ट नहीं, पर यह मनुष्य तो मन पाकर उन सब जीवोंके कष्टों से कई गुना कष्ट अपना बना लेता है। तो इसने मनसे वचनविषयक कल्पनायें करके वाचनिक कष्ट भी बहुत बना डाला, संसारके ये कष्ट हैं जिन कष्टोंको यह मोही प्राणी काम भोग में रत होकर भोगता रहता है।

संसारमें शारीरिक कष्टोंकी बहुलता—एक शारीरिक कष्ट है। शरीरमें रोग हुआ, शरीरमें कोई आघात हुआ चोट लग गई, हड्डी टूट गई या अनेक प्रकारके कोई रोग हो गए तो वह व्यथा भी तो कठिन व्यथा है। एक दृष्टिसे देखा जाय तो शारीरिक व्यथा होने पर कष्ट मानना, इसमें जितनी मूढ़ता है उससे कई गुनी मूढ़ता मानसिक और वाचनिक कष्ट माननेमें थी, पर शारीरिक कष्ट भी तो सहा नहीं जाता। ये संसारके दुःख हैं जिन दुःखोंको यह जीव काम भोगके आधीन होकर प्राप्त करता है। कीड़ा मकोड़ा, वृक्ष आदिकको छेदते भेदते समय कौन जीव उनपर कृपा करता? बहुत कम हैं ऐसे दयालु प्राणी जो दूसरे जीवों के कष्टोंमें खुद दुःखी हो जाते हैं। पर अनेक मनुष्य तो इन कीड़ा मकोड़ोंको सतानेमें खुश होते हैं, मौज मानते हैं। किसी भी कीड़े पतिंगेकी टाँग डोरेसे बाँध ली, अब उसे घुसा रहे हैं तो देख लो उस जीव पर क्या बीत रही है? एक बार कहीं देखा दिलका विनोद करनेके लिए क्रूर चित्त मनुष्यने किसी चूहेकी टाँग डोरेसे बाँध ली या पूछ डोरेसे बाँध ली, फिर आगकी तरफ उसे ले जाय, फिर उठाये फिर ले जाय, तो वह चूहा कितना तड़फता था, पर उसकी तड़फनसे ही वह क्रूर मनुष्य बड़ा खुश होता था बड़ी मिन्नतके बाद उसे छुटा पाया था। संसारके दुःखोंकी कहानी एक जीभसे क्या कही जा सकती है? हजारों जीभ भी हो जायें तो इतनी जिह्वाओंसे भी संसारके दुःखोंका वर्णन नहीं किया जा सकता जिन दुःखोंको हम आपने भोगा है, पूर्वभवके दुःखोंको भी छोड़िये, इस ही भवमें जिन दुःखोंको हम आपने भोगा है उन दुःखोंका भी हम आप वर्णन नहीं कर सकते। दूसरे को बता नहीं सकते कि हम कितनी तकलीफमें हैं, फिर संसारके इन दुःखोंका वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसमें है? ऐसे कठिन दुःख इस जीवने इन काम भोगोंके आधीन होकर भोगे। यह जीव अपने आपको ही संसारमें रुलाता है और अपने आप ही अपने आपको संसारसे छुटाकर मोक्षमें ले जाता है। तब सारी जिम्मेदारी अपने आपके आत्मा पर ही तो आयी।

भ्रमसे जीवोंकी कष्टपात्रता—संसारमें दुःख अनेक हैं। यह संसारका स्वरूप है, पर उन दुःखोंके बीच रहकर घबड़ाना क्या इस जीवकी बुद्धिमानी है? तत्त्वज्ञान करके भेद-

विज्ञान करके समस्त परद्रव्यों व परभावोंसे निराला सहज ज्ञानानन्दमय अपने स्वरूपको निरखकर भीतर प्रसन्न रहना इसमें चतुराई है। जैसे स्वप्नमें कभी ऐसा दृश्य दिख जाय कि मेरे ऊपरसे रेलगाड़ी जा रही है और यह सोने वाला पुरुष उस स्वप्नमें अपने आपमें श्वांस भरे बल लगाये पड़ा हुआ है व यह भी जान रहा कि यह रेलगाड़ी भाग रही है, बहुत भाग गई। थोड़ी और रह गई। निकल जायगी, हम सुरक्षित है, तो यह केवल एक स्वप्न जैसी बात है, अब उसके मुकाबलेमें इस जगते हुए की स्थितिमें भी निरखिये—जैसे स्वप्नमें एक झूठी ही विपत्ति मान रखी थी तो इस जागतेमें भी इस जीवने झूठी विपत्ति मान रखी है। विपत्ति नामकी कोई भी चीज इस जीवपर नहीं है। कोई धन बिगड़ गया तो पौद्गलिक वस्तु बिगड़ गई और वह बिगड़ी ही नहीं, वह तो ध्रुव है। इस जगह न रहा दूसरी जगह पहुंच गया। कोई पैसे की चीज, सोने चांदीकी वस्तु, वह मिटी कहाँ, वह तो सुरक्षित है। यहाँ नहीं है दूसरी जगह पहुंच गई। उस भिन्न वस्तुसे वह चाहे कहीं रहे, उससे मुझमें क्या कष्ट आया? अन्य अन्य जीवोंके भी जो परिणमन हों उनसे भी क्या कष्ट आया? उस बीच अपने अविकार ज्ञानस्वभावको निरखकर अपनेको सहज आनन्दमय अनुभवनेका पौरुष करें, इसमें ही बुद्धिमानी है।

बिगलितरसमस्थि स्वादयन् दारितास्यः स्वकवदनजरक्ते मन्यते श्वा सुखित्वं।
स्वतनुजनित खेदाज्जायमानं जनानां तदुपममिह सौख्यं कामिनां कामिनीभ्यः ॥१३॥

कामासक्त जनोंकी विडम्बना और भ्रान्ति—कामासक्त पुरुष अपने शरीरसे उत्पन्न हुए शक्ति वीर्यके प्रच्ययनसे उत्पन्न हुए सुखको स्त्रीजन्य सुख मानते हैं, अर्थात् काम प्रवृत्ति के समय यह मनुष्य अपने शरीरको, अपनी शक्तिको बरबाद कर रहा है और उस बरबादी में यह सुखकी कल्पना कर रहा है और मान रहा है यह कि यह सुख कामिनीसे प्राप्त हुआ है। यह ठीक ऐसी ही मूर्खता है जैसे कि कोई कुत्ता सूखी हड्डीको चबाता है जिस हड्डीमें लोहू, मांस आदिक रस रंच भी नहीं लगे हैं, ऐसी सूखी हड्डीको चबानेपर वह हड्डी और दांतके संघर्षणसे उस कुत्तेके ही अपने मुखमें उस ही के मसूढ़े बह जाते हैं और उसमें वह आनन्दमानता है। यह सोचता है कि मुझको यह सुख इस हड्डीसे प्राप्त हुआ है, पर यह हड्डी तो सूखी है, वहांसे न खून मिला न मांस मिला, न सुख मिला और कुत्तेके उस प्रयत्नसे, उस हड्डीके चबानेके श्रमसे, संघर्षसे जो उसके मुखसे खून निकला तो वह स्वाद ले रहा है उस खून निकलनेका और मान रहा है कि मुझको हड्डीसे स्वाद आया। इसे कहते हैं परात्मबुद्धि, ऐसे ही तो अज्ञानी जीव हर जगह पाते तो हैं अपनी कल्पनाका सुख हर स्थितिमें सुखके अनुकूल कोई कल्पना बनाये, उस कल्पनासे सुख उत्पन्न हुआ, पर

मानता है आश्रयभूत पर परदार्थका सुख । धन मकान परिजन मित्रजन आदिकका मुझे बड़ा सुख है, ऐसा लोग कहते ही हैं । तो वहाँ से सुख कैसे निकल सकता है ? वे तो स्वयं सुख-हीन हैं अथवा जो चेतन पदार्थ परिग्रह हैं उनमें सुख तो है, पर उनका सुख उनके ही लिए है । उनका सुख निकल कर किसी दूसरेमें नहीं आता । तो वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि एक पदार्थसे दूसरे पदार्थमें कोई परिणति नहीं आती । तब स्पर्शनइन्द्रियजन्य विषय सुख क्या किसी स्त्री आदिक बाह्य पदार्थसे मिल सकते हैं ? केवल ये कल्पनायें करते हैं और अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हैं ।

मिथ्या मान्यताको छोड़कर निज सहज सत्त्वमें उपयुक्त होनेमें कल्याण—अहो कैसी मूढ़ता वाली बात है परपदार्थसे अपना सुख माननेकी । जिसके पूर्वापर विचार नहीं है, बुद्धि हीन है वह उस सुखको मिथ्या मान्यताके साथ भोगता रहता है । जहाँ मिथ्यात्वभाव है, पर्याय बुद्धि बन रही है वहाँ तथ्य रहस्य कैसे समझमें आ सकता है । पहले बाँधे हुए मिथ्यात्वकर्म प्रकृतिका उदय चल रहा है, जिसका निमित्त पाकर इस जीवके विपरीत अभिप्राय ही बन रहे हैं । यह देहको ही मान रहा है कि यह मैं हूं, तब इस देहका पालन-पोषण जिनके निमित्तसे होता है उन्हें मान लेते हैं सुखका कारण । सो ये अज्ञानी जीव इन बाह्य पदार्थोंको सुखका कारण मानकर बाह्य पदार्थोंके संग्रह विग्रहमें ही अपना सारा जीवन गमा देते हैं, मेरे को सही सत्का ध्यान करना चाहिए । इन बाह्य पदार्थोंमें जो दृष्टिगोचर हो रहे हैं इनमें एक एक परमाणु सत् है उन अनन्त परमाणुओंका पिण्ड है यह दृश्यमान लोक जिसको मोही जीव सत्य मान लेते हैं, पर हैं ये सब मायारूप । जो सही नहीं है किन्तु सही अनेक पदार्थों के मेलसे बनी हुई कोई तीसरी अवस्था है तो वह तो मायारूप ही होगी, क्योंकि उस तीसरी अवस्थाका आधार कोई एक द्रव्य नहीं है । जो स्कंधदशा है इसका आधार एक-एक परमाणु नहीं है, किंतु उन परमाणुओंका संयोग बनकर कोई तीसरी हालत हुई है, यह सब माया है । इस मायाके तथ्यको न जानने वाले अज्ञानी पुरुष इस मायाको ही परमार्थ मान लेते हैं और जहाँ मायाको परमार्थ माना वहाँ फिर उनसे अपना सम्बंध स्थापित करते हैं, पर इस सम्बंध में अपनी कल्पनासे कोई सुख हुआ तो उसे मान लेते हैं कि यह सुख इन परपदार्थोंसे आया है । सो आत्महित चाहने वाले पुरुष मिथ्या मान्यताका परिहार करें अन्यथा जैसे अनन्तकाल संसारमें भ्रमण करते करते गुजर गए हैं ऐसे ही आगे भी संसारको इन कुयोनियोंमें भ्रमण कर करके गुजरेंगे ।

किमिह परमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेतत्किमथ परमदुःखं सस्पृहत्वं यदेतत् ।
इति मनसि विधाय त्यक्तसंगाः सदा ये, विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवंतः ॥१४॥

निःस्पृहत्वकी परमसौख्यरूपता व सस्पृहत्वकी परमदुःखरूपता—इस संसारमें नि-

स्पृहता ही परम सुख है। किसी भी बाह्यपदार्थ विषयक इच्छाका न रहना ही सुख है और स्पृहतासे युक्त होना ही परम सुख है। दुःख तो इच्छा है. इच्छासे दुःख होता है, यह भी कहा जा सकता है और इच्छा ही दुःखरूप है, यह भी कहा जा सकता है। जहाँ इच्छा है वहाँ तत्काल कष्ट है। यह आत्मा परम ब्रह्म समभावमें अवस्थित एक सहज सत्त्वकी दृष्टिसे अविकल आनन्दमय है। इस ज्ञानानन्द सागरमें कर्मोदय डला फेंका कि यहाँ तरंग उठने लगती है, और यह तरंग उठ-उठकर किनारेका भी उल्लंघन कर देती है। मैं परमार्थतः सहज सिद्ध ज्ञानमात्र तत्त्व हूं इसके स्वरूपमें कष्टका कोई काम नहीं। ऐसे ही स्वरूपकी दृष्टि कर निस्पृहता जगे तो इस जीवको अलौकिक आनन्द मिलेगा। यह निस्पृहता भेदविज्ञान तत्त्वविज्ञानके आधारपर ही निर्भर है, अन्य उपायोंसे निस्पृहता नहीं बन सकती, क्योंकि जबरदस्ती ही किसी प्रकार निस्पृहता बनायी जाय। तो इतना हो सकेगा कि एक पदार्थकी इच्छा न रहो, दूसरेकी इच्छा हो गई। दूसरेकी इच्छा न हो, जिसकी इच्छा की जा रही है उसकी भी इच्छा समाप्त हो जाय तब तो इस जीवका भला है अन्यथा एक इच्छा दूर की, अन्य इच्छायें जग गईं तो इससे तो अच्छा यह ही था कि उसी पुरानी बातकी इच्छा ही निरन्तर चलती रहती तो कमसे कम इच्छा बूढ़ी जीर्ण तो कहलाती, पर एक इच्छा दूर होते ही नवीन इच्छा बने तो उस युवती इच्छाने तो इसे और भी परेशान किया। तो इच्छावोंका अभाव भेदविज्ञान और तत्त्वज्ञान हुए बिना नहीं हो सकता।

निस्पृहत्वकी पात्रता—जिन साधुसंत पुरुषोंने चेतन अचेतन समस्त पदार्थोंका असाधारण स्वरूप जान जानकर एक दूसरेसे असम्बद्ध है, इस प्रकारका निर्णय किया है वह ही पुरुष निष्पृह हो सकता है। निष्पृहतामें जो आनन्द है वह आनन्द उत्कृष्ट आनन्द है, अन्य किसी भी स्थितिमें पाया ही नहीं जा सकता। संसारी मोही जीव स्पृहाको नहीं छोड़ पाते, क्योंकि आत्माका अविकार स्वरूप उनके लक्ष्यमें नहीं आया और चूंकि यह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्रगुण वाला है सो चारित्रगुणकी परिणतिमें रमणका ढंग हुआ करता है। सो रमनेकी आदत इस जीवकी है और आत्मस्वरूप इसे दिखा नहीं तो यह तो कहीं न कहीं रमेगा। कहाँ रमेगा ? जिसको सुखदायी माना हो, जिसमें आत्महितकी आशा रखी हो उस में रमेगा। तो इस अज्ञानी जीवने पंचेन्द्रियके विषयभूत पदार्थोंमें आस्था रखी है सो वहाँ रमता है। तो ऐसा परपदार्थोंमें रमना, पर पदार्थोंकी स्पृहा जगना यह सब कष्टरूप है। यही परम दुःख है। जगतके इन सब जीवोंको दुःख है किस बातका ? बस बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धमें इच्छा बन रही है, इस कुवृत्तिका ही कष्ट है। ये ज्ञानी संतजन निष्पृहताको सार और सस्पृहताको असार जानकर समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देते हैं और वे पुण्यवान मनुष्य इस

जिनधर्मका आचरण करते हैं।

निःस्पृहत्वकी अनुभूतिके लिये पौरुष करनेका अनुरोध—इस छंदमें मुख्य बात यह कही गई है कि परम आनन्द प्राप्त करना हो तो निस्पृहता बनना चाहिए। दूसरी बात यह है कि निष्पृहता तब ही बन सकती है जब निष्पृहता सार है और सस्पृहता असार है, यह बात जीवनमें उतर जाय। जिसके मनमें इन दोनो तथ्योंका यथार्थ निर्णय हो चुका है वे सर्वपरिग्रहका त्यागकर अपने आत्मामें ही मग्न होनेका पौरुष किया करते हैं। सो वे मनुष्य बड़े भाग्यशाली हैं जो निस्पृहताकी ओर उत्साहशील है और इस निस्पृहताकी प्रतीक्षा करते हैं। आत्मानुशासनमें श्री गुणभद्राचार्यने बताया है कि जीनेकी आशा और धनकी आशा जिनके लगी है उनके लिए ही कर्म कर्म हैं। और जिन्होंने निराशापनेकी ही आशा रख रखी है उनके तो निराशताकी परिणति हुई। आशाका सर्वथा अभाव हो, ऐसी जिन्होंने अपनी वृत्ति बनाया है उनके लिए कर्म कर्म नहीं रहते। उनका कर्म क्या कर लेंगे? सो इस कर्माधीन संसारमें इन सारे संकटोंसे बचनेकी भावना हो तो प्रथम सर्व पदार्थोंका उनके असाधारण स्वरूपको घटित कर स्वतंत्र स्वतंत्र सत् जानें। एकका दूसरेपर न प्रभाव है न परिणमन है, भले ही निमित्तनैमित्तिक योगमें कोई निमित्त बन रहा और उपादानमें वह कार्य हो रहा, पर सब अपने अपने कार्यमें ही लग रहे हैं। ऐसा भान होनेपर विवेकी जन सर्व परिग्रहोंका त्यागकर जिनधर्मका आचरण किया करते हैं।

उपधिवसतिपिंडान् मुञ्चते नो विरुद्धांस्तनुवचन मनोभिः सर्वथा ये मुनीद्राः।
व्रतसमितिसमेता ध्वस्तमोहप्रपंचा ददतु मम विमुक्ति ते हतक्रोधयोधाः ॥१५॥

साधुपुरुषों द्वारा विरुद्ध उपकरण वसतिका व पिण्डका अग्रहण—जिसने ज्ञाताद्रष्टा रहने मात्र स्थितिको सार समझा है और बाह्यपदार्थ विषयक विकल्पको असार जाना है वह पुरुष असार तत्त्वोंको छोड़कर सार तत्त्वोंमें ही प्रयत्न करता है। सो इस प्रयत्नमें मुनिजनों ने विरुद्ध उपकरण निवासस्थान आहार आदिकका त्यागकर दिया है। वस्त्रादिकका त्याग करके मुनि अवस्था धारण की है लेकिन अब भी तीन विधियोंका सम्बन्ध बनाना ही पड़ रहा है। एक तो उपकरण पिछी कमण्डल शास्त्र आदिक इनकी आवश्यकता रहती है। पिछी न हो तो प्रवृत्ति कैसे करें, दया पाले बिना बिहार आदिक नहीं हो सकता है और दयापालनका ऊँचा साधन है पिछी। सो पिछी आवश्यक है और जीवन चलानेके लिए आहार आवश्यक है। यदि आहार न किया जाय तो यह जीवन न टिक सकेगा और जीवन न टिका और किसी खोटी योनिमें जन्म हो गया तब तो उत्थानसे बिल्कुल दूर हो गए। सो मुनि जन आहार क्रिया भी करते हैं पर विरुद्ध न करेंगे। अनुचित सदोष आहार ग्रहण न

करेंगे। इसी प्रकार रहनेको कोई स्थान होना ही चाहिए। पर्वतकी गुफा हो, वृक्षकी खोह हो, छोड़ा हुआ खण्डहर हो, चैत्यालय हो, मन्दिर जी हो, क्योंकि स्थान पर निर्विघ्न रहे बिना संयमकी, ज्ञानध्यानकी साधना नहीं बन सकती। तो ये तीन बातें आवश्यक हो जाती हैं। उपकरण, वसतिका और आहार। सो ये मुनीन्द्र उनमें भी विरुद्ध पदार्थोंको मनसे, वचनसे, कायसे ग्रहण नहीं करते। मुनि संतजनोंकी दृष्टि केवल निरपेक्ष सहज चैतन्यस्वरूप में ही लगी है। यह मैं हूं, इस ही को बारबार निरखते हैं। इस चैतन्यस्वभावके आश्रयसे विकल्प हटकर विशुद्ध आनन्द जगता है। इस कारण ये ज्ञानी संत एक इस विशुद्ध कारण समयसार पर ही दृष्टि लगाये रहते हैं, सो अब ऐसे आत्मप्रेमी मुनिराज विरुद्ध पदार्थोंको कैसे ग्रहण कर लेंगे, जो शास्त्रविधिसे अनुचित है। जैसे केवल मुनिके लिए ही बनाया गया आहार अथवा जंतुवोंसे व्याकुल गुफा आदिक स्थान ऐसे विरुद्ध पदार्थोंको मन, वचन, काय तीनों योगोंसे ग्रहण नहीं करते।

व्रतसमितियुक्त जितक्रोध मुनिवरोंसे आशीर्लाभ—ये मुनिराज व्रत और समितिसे युक्त होते हैं। ५ पापोंसे विरक्त होनेको व्रत कहते हैं और आहार विहार प्रतिष्ठापन आदिक करने पड़ें तो निर्जन्तु जमीन देखकर करते हैं, ऐसी उनकी समिति रहती है। तो व्रत और समितिसे युक्त इन मुनिराजने मोह प्रपंचको दूर कर दिया है। जहाँ सत्यकी लगन हो गयी वहाँ असत्यकी प्रतिष्ठा कैसे की जा सकती है? सो मोहरहित साधुजन इस अविकार चैतन्य-स्वभावकी ही उपासना किया करते हैं। ऐसे मुनिराज जिनके क्रोध रूपी योद्धा न टिक सका, क्रोधको जीतने वाले हैं वे मुनिराज हमें मुक्ति प्रदान करें। जो बात जिस योग्यतामें जीवके जिस तरह होती है वैसा हो जाना उसके लिए आसान है। यदि अज्ञानी मोही क्रोधी जन बाह्य परिग्रहोंको सुखकारी जानकर उनका ही लगाव रखते हैं और उस लगाव रखनेके कारण उनमें बाधा देने वालेके प्रति क्रोध करते हैं तो ऐसी प्रकृति मोही जीवकी है, जिस बातसे हटना उनके लिए सामर्थ्यसे बाहर है। ऐसे ही ये ज्ञानी संतजन जिनको सहज परमात्मतत्त्व का दर्शन हुआ है और इस स्वतः सिद्ध विशुद्ध सहज परमात्मतत्त्वका दर्शन होनेके कारण अलौकिक आनन्द जगा है, अब उनसे हिंसा आदिक पापकी प्रवृत्ति कैसे बन सकती है? यदि मोहीजन शुद्धभाव करनेमें असमर्थ हैं तो ज्ञानी योगीजन अशुद्धभाव करनेमें असमर्थ हैं। ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभादिकसे रहित मुनिजन मुझको मुक्ति प्रदान करें। यद्यपि कोई दूसरा जीव मेरेको मुक्ति प्रदान नहीं कर सकता, पर मुक्ति जिन भावोंसे मिलती है उन भावोंको यह भव्य जहाँ देखता है तो उसमें इतना प्रसन्न हो जाता है कि उन भावोंमें और अपनेमें वह भेद भूल जाता है क्योंकि वे शुद्धभाव इसके ज्ञानोपयोगमें तो आये हैं। तो जिस समय

जो भाव उपयोगमें है उस समय वह उसी रूप अपने को अनुभवने लगता है। तो वह शुद्ध भाव जब इस ज्ञानोपयोगमें आया है तो अभेद करके इन्हीं भावोंसे इसके भीतरसे यह प्रार्थना बनती है कि मुझको मुक्ति प्रदान करें। जिसको बादमें फिर आराध्य और आराधक भिन्न भिन्न देखकर उपचारसे कहा जाता है कि ये मुनिराज मुझको मुक्ति प्रदान करें। मुक्ति प्रदान करनेका अर्थ है संसारसे छुटकारा पाना।

स्वभावकी उपासनामें श्रेयोलाभ—जहाँ स्वभाव और विभावमें सही परख हो गई, ये विभाव कर्माधीन है, नैमित्तिक है, विनाशीक है और यह मैं चैतन्यस्वभाव स्वाधीन हूं। मेरा स्वरूप है, ऐसा भेद जो जानता है वह विभावोंसे छुटकारा पाता है और अपने स्वरूपमें अनुभूति पाता है। कुछ थोड़ा यह विचार करना चाहिए कि ये विकार मेरे निकटकी चीज हैं या ज्ञानस्वभाव मेरे निकटकी चीज है? तो निकटकी चीजको छोड़कर बाहरकी चीजमें उपयोग फसाना यह अनर्थकारी कदम है। इससे हटकर मैं अपने आपके इस चैतन्यस्वभावमें ही मग्न होऊँ ऐसी भावना रखना चाहिये।

जनयति परभूतिं स्त्री धनं नाश दुःखं ददति विषयवांछाबंधनं बंधुवर्गाः।
इति रिपुषु विमूढास्तन्वते सौख्यबुद्धिं, जगति धिगिति कष्टं मोहनीयं जनानां ॥१६॥

स्त्री धन बन्धुजनोंकी अहितकारिता—इस मनुष्यकी इस लोक संगतिमें कितनी विडम्बना है यह इस छंदमें बताया गया है। स्त्री तिरस्कार करवाती है। कई घटनायें होती हैं ऐसी जिनमें स्त्री द्वारा तिरस्कार होता रहता है, वचनोंसे या कुछ करतूत घटनासे इसका तिरस्कार होता है। धन पाया है तो यह धन दुःखका ही कारण बनता है। जब कमाया तब दुःखसे कमाया। उसकी रक्षामें भी दुःख है और रक्षा करते करते भी नष्ट हो जाता है तो अतीव दुःख पैदा करता है। पर पदार्थ आत्माको दुःख उत्पन्न करता है, यह एक कहनेकी रूढ़ि है, वास्तविकता तो यह है कि उस दुःखका आश्रयभूत कारण बनकर चित्त में कल्पनायें करके कर्मोदयवश यह जीव दुःखी होता रहता है। पर धनमें लगाव तो रखता है। सो ये जीव भी समझ रहे हैं कि धन नष्ट होनेसे दुःख होता है। बंधु लोग विषयोंकी इच्छामें बाधा डालते हैं। इन मनुष्योंका प्रेम तीन बातोंमें अधिक है—(१) स्त्री (२) धन और (३) बन्धु। सो तीनोंकी ही बात दिखा रहे हैं कि इन तीनका संग कितना अनर्थके लिए है। बंधु लोग विषयोंमें बाधा डालते हैं या बिषयकी इच्छावोंका बन्धन बनाते हैं। कई भाई हो गए, आखिर उनमें जब कभी लड़ाई होती है तो इन विषय साधनोपर ही तो होती है। एक दूसरेको कुछ नहीं देना चाहते। तो यह ही तो बाधावोंका डालना है। इस को मेरेसे अधिक क्यों मिला, मुझे कम मिला, मुझे और मिलना चाहिए तो इन विषयों

की इच्छावोंका बंधन ही तो मिला। तो बंधु वर्गके होनेसे विषयोंकी इच्छावोंका बंधन बढ़ता है और विषयोंमें बाधा आती है तो यह मनुष्यके लिए अहितकारी है और अहितकारी होने से यह सब शत्रुवत् है। परमार्थ दृष्टिसे भी देखिये तो किसी भी परद्रव्यका लगाव आत्माके कष्टके लिए ही होता है। यद्यपि पर पदार्थ इसको कष्ट देने नहीं आते। वे तो जहाँ हैं वहाँ अपने अस्तित्वसे मौजूद है, अपनी योग्यतासे परिणमते हैं पर यह मोही जीव उन बाह्यपदार्थों का आश्रय करके अपने चित्तमें नाना विकल्प बनाता रहता है। तो विकल्पका आश्रय तो रहा, उसपर इतना ख्याल तो रहा। उस आश्रयभूतको छोड़ दें, किसी पर पदार्थका ख्याल न करें तो कर्मोदय अव्यक्त होकर निकलेगा, सो कब तक अव्यक्त रहेगा? व्यक्त होने न दिया जाय तो ये कर्म भी यथाशीघ्र नष्ट हो जायेंगे। पर यह जीव ख्यालमें तो पर वस्तुओं को ही लाता है, जो विकार हुए, न उनका ख्याल करता, कर्मोदय होनेपर हुए न उनका ख्याल करता। ख्यालमें तो ये इन्द्रियके विषयभूत पदार्थ ही रहते हैं सो ये अहितकर हो गए। तो ऐसे अहितकर होनेसे परमार्थसे कल्याणमें बाधक होनेसे ये सब समागम शत्रु हैं।

शत्रुवत् अहितकारी होनेपर भी मुग्ध प्राणियोंकी स्त्री आदिकी सेवा सुश्रूषामें अपने को धन्य माननेकी प्रकृति—विषयोंमें रमकर किसीने कोई लाभ पाया हो तो एक भी उदाहरण बता दो। स्त्री पाकर, धन पाकर, कुटुम्ब पाकर किसी आत्माने कोई अपनी उन्नति की हो, मोक्ष पाया हो या बड़ा पुण्य संचय करले इसके लगावमें एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है। कल्पित इष्ट पदार्थोंका लगाव तो इस जीवकी बरबादीके लिए ही है। यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि स्त्री, धन, बंधु आदिकका लगाव इस जीवके विनाशके लिए है, बरबादीके लिए है, पर यह मनुष्य इतना मूढ़ है, मोहसे इतना दबा हुआ है कि उन बैरियोंकी सेवा सुश्रुषा करनेमें ही सुख मानता है, अर्थात् जो बैरी जैसा आचरण करता है याने स्त्री, धन, बंधु इनका संग कष्टके लिए है तो भी इनकी ही सेवा चाकरी करनेमें यह मनुष्य अपनेको सुखी मानता है। कुछ थोड़ा भी गुण हो स्त्रीमें तो यह पुरुष अपनी मित्र गोष्ठीमें बैठकर स्त्रीकी बहुत प्रशंसा करता है। घरमें पुत्रादिक जिनमें मोह है उनकी यह बड़ी प्रशंसा करता है, मेरा एक लड़का कलेक्टर है, एक डाक्टर है, एक मिनिस्टर है, एक इन्सपेक्टर है, एक और टर है, ऐसी प्रशंसा करता है। तो उस प्रशंसाका सीधा अर्थ क्या है कि उसके लड़के तो होशियार हैं समझदार हैं पर यह खुद कुछ नहीं है, कोरा बुद्धू है। तो जिन वचनोंसे स्पष्ट जाहिर होता है कि सुनने वालेके हृदयमें यह आस्था बन जाती कि इन सेठजी के वधू व लड़के तो कलावान हैं पर इनमें खुदमें कोई कला नहीं। सो अपना अपमान भी सहते, जीवन भर कष्ट भी सहते पर ये मोही प्राणी मुग्ध होकर उन्हीं की ही सेवामें सुख मानते हैं।

मोहका धिक्कारवाद—इस मोहनीय कर्मको धिक्कार है जो ऐसा जीवको भ्रममें डाल रहा है। गल्ती करने वाला पुरुष गलत है, पर गल्तीको सही मानने वाला पुरुष उससे भी अधिक गलत है। गल्ती होती है, कर्मके उदय हैं और वे गल्तियोंको गलती स्वीकार कर लेते हैं, यह बात होती है सम्यक्त्व व विवेक जगनेपर। जो कुछ थोड़ा बहुत प्रसंग है विषय समागम आदिक उनमें जो विभाव बनते हैं वे भी तो गल्तियां हैं। पर ज्ञानी जीव उन गल्तियोंको जानता है कि मेरेमें इतनी कमी है, त्रुटि है पर मिथ्यादृष्टि जीव गल्ती करके भी अपनेको सही मानता है, कि मैं सही मार्गपर चल रहा हूं। कदाचित उन्हें कोई त्यागी ज्ञानी समझाये तो वे यह मानते कि इस बेचारेको कुछ पता नहीं, इसके पास धन, कुटुम्ब आदिक तो कुछ हैं नहीं, इसलिए ऐसा कहता है, उन्हें यह दयापात्र तक समझता है। तो यह मोहनीयकर्म इस जीवका बहुत प्रबल बैरी हैं। परमार्थतः तो मोह भाव जो इस जीवमें भ्रान्तिका परिणाम होता है यह है इसका प्रबल बैरी। सो आत्महित चाहिये है तो अपने स्वरूपकी संभाल करें और इस समस्त पर पदार्थोंसे, परभावोंसे अपने को निराला जाने और निर्दोष निज सारभूत इस ज्ञानप्रकाशमें ही रत रहें।

जैनी दीक्षा लेकर मद मदन कषायोंके वशीभूत पुरुषोंकी भ्रष्टता—यह विषय सुख निराकरणका प्रकरण है। इस प्रकरणमें विषय सुखोंकी असारता बताकर उनका निराकरण करनेका उपदेश किया है। इस छंदमें कहते हैं कि कोई पुरुष मुनि हो गया, उसने जिन दीक्षा ले ली, पर मुनि होनेपर भी अभिमान, काम, क्रोध, मान, माया आदिक कषायें ये शत्रु शान्त नहीं हुए हैं, तो उनकी दीक्षा मुक्तिके लिए तो नहीं है पर हां मुक्तिके लिए है याने संसारमें रुलता रहे इसके लिए समर्थ हो गई वह दीक्षा। मुनि दीक्षा लेने पर ऐसा प्रसंग आ भी जाता है क्योंकि लोग उनकी पूजा प्रतिष्ठा प्रणाम, वंदन करनेमें लगे रहते हैं, तो जिनको अंतस्तत्वका बोध नहीं है, जिन्होंने इस सहज स्वरूपकी सारता नहीं समझी है उनको घमंड हो जाया करता है। यदि लोगोंके पूजा प्रणाम आदिक निरखकर घमंड हो जाय तो उसकी दीक्षा व्यर्थ रही। वह पुरुष तो अतीव विमूढ़ है। जो कामविषयक विकल्प बनाये रहे। इसके कई नाम हैं एक नाम है मन मथ जो मनको मथ दे, मनोज जो केवल मनकी कल्पनासे ही उत्पन्न हो। किसीको मानो बुखार चढ़ जाय तो शरीरकी परिस्थिति है ऐसी जो असह्य बन रही है, सिर दर्द कर रहा, पेटदर्द कर रहा, तो ये व्यथायें ऐसी हैं कि जिनके बारेमें कह सकते हैं कि क्या करे बेचारा, ऐसा असाताका उदय आया, पर यदि कोई कामवासनाके भावोंसे मूर्ख होता फिरे, जगह-जगह डोलता फिरे, किन्हींको मनाता फिरे तो यह अतीव मूढ़ है। उसके शरीरपर कौनसा कष्ट आया है जो इस तरहकी विडम्बनामें

पड़ गया है ? तो दीक्षा लेनेपर जिसके चित्तमें कामविषयक विकल्प रहता है उनकी दीक्षा मुक्तिके लिए नहीं। किन्तु चिरकाल तक संसारमें जन्म मरण भोगते रहनेके लिए है। क्रोध मान, माया, लोभ ये चार इस जीवको कठिन दुःख देते हैं। ऐसे ये चार कषाय प्रायः सभी को आते हैं, तो अपने अनुभवसे समझ सकते हैं कि इन कषायोंमें कितनी अन्तर्व्यथा है। क्रोध आनेपर सारे गुण भस्म हो जाते हैं, घमंड आने पर इसकी दृष्टि कैसा दुनियामें चली जाती है। जो केवल एक इसकी कल्पनाकी ही दुनिया है, जिसे जगतके सभी लोग बुरी दृष्टि से देखते हैं, माया और लोभ तो बड़ी विडम्बनायें हैं, उनमें बड़ा कष्ट भोगना होता है। उससे कितनी ही उलझनें बढ़ जाती हैं। तो ये सारे कष्ट इन कषायोंसे प्राप्त होते हैं। कोई मुनि दीक्षा तो ले ले और उसके ये कषाय बैरी यदि शान्त न हों तो उसकी दीक्षा मुक्तिके लिए तो समर्थ नहीं है, पर संसारके दुःखोंको भोगनेके लिए समर्थ है।

जैनी दीक्षा लेकर विषयोंमें देहसुखमें आसक्त पुरुषोंकी भ्रष्टता—कोई पुरुष जिन दीक्षा लेकर विषयोंसे विरक्तिके परिणाम नहीं बना पाते, विषयोंसे विरक्त होनेकी भावना ही नहीं बना पाते, बल्कि ख्याल कर कर इन इन्द्रियके विषयोंमें प्रीति बढ़ाये जाता है तो ऐसी जैनेन्द्र दीक्षा लेनेसे लाभ कुछ न रहा, बल्कि संसारके दुःखोंका भोग करना ही लाभ रहेगा। साधु होनेके मायने तो यह है कि वह निरन्तर अपने सहज ज्ञानस्वभावकी साधना बनाये हुए है। जिस सहज ज्ञानस्वभावका जन्म नहीं, मरण नहीं, किसी प्रकारका जहाँ कष्ट नहीं उस निज सहजस्वरूपको जो आत्मा मान रहा है उसके चित्तमें जन्ममरण आदिकके कोई क्लेश नहीं हैं। निमित्तनैमित्तिक योग वश जो होता हो हो, उस ओर ज्ञानीका चित्त नहीं है। यह तो अविनश्वर अनादि अनन्त अहेतुक निज सहज स्वभावमें ही दृष्टि लगाये हुए है। तो ऐसे सहज स्वभावकी साधना करनेके लिए ही साधु दीक्षा हुआ करती है। तो कोई पुरुष ऐसी साधु दीक्षा लेकर जन्म मरणके दुःखसे डर रहा है उसकी यह जिनदीक्षा मुक्तिके लिए नहीं है, मोक्ष मार्गमें बढ़नेके लिए नहीं है। किन्तु वह संसार संकटोंमें ही लगनेका उपाय है।

जैनी दीक्षा लेकर कातर व देहसुखेच्छु बननेकी निन्द्यता—सर्व परिग्रहोंका त्याग तो कर दिया, नग्न केवल गात मात्र ही रह गए, पर शरीरके सुखसे वैराग्य नहीं जगा, चाह चाहकर कोमल शैया होना, पुराल होना, शरीरका स्वच्छ रखना, शरीरका आराम चाहना, ऐसी स्वयं चित्तमें बुद्धि बनी हुई है। शरीर सुखोंसे वैराग्य नहीं जगा है बल्कि शरीरसुख भोगनेकी इच्छा ज्यों की त्यों बनी हुई है। भोजन भी स्वादिष्ट हो और और तरहसे शरीर की शोभा बढ़े, बड़ी कीमती चटाई आदिक होने चाहिए और इतना ही क्या, जिन उपक-

रणोंकी जरूरत रहती है वे बड़े शोभित शृङ्गारपूर्ण होने चाहिए, कागज, कापी, पेंसिल आदिक बहुत उच्च कोटिके साफ साफ सजे हुए होना चाहिए। यदि यह वाञ्छा रह गई तो उसकी जिनदीक्षा लेनेका क्या फल रहा ? वह तो संसारमार्गमें ही बढ़ रहा है। मोक्षमार्ग में बढ़ना तो तब बनता जब सारी धुन एक सहज ज्ञानस्वभावकी साधनाके लिए हो जाती तो जो मनुष्य दीक्षा लेकर जन्म मरणके दुःखोंसे भयभीत है, शरीरके सुख भोगनेकी इच्छा पूर्ववत् ज्योंकी त्यों बनी हुई है उन मनुष्योंकी वह दीक्षा तपश्चरण मुक्ति प्रदान करने वाली नहीं, किन्तु उससे उल्टा संसार ही वह बढ़ा रहा है। ऐसा पुरुष तो जो कुछ भी तपश्चरण कर रहा है और दुनियाको दिखावाके लिए अथवा विषयभोगोंके साधन सुगमतया मिलते रहे, इसके लिए कर रहा है अथवा ढोंग रच रहा है, उसे यह मायामयी जगत ही सुहा रहा है ? मायामय पुरुषोंका समूह उस मायामय मुनिका जयवाद कर रहा। मानो इस तरह वह केवल संसारके बढ़ावाके लिए ही साधु दीक्षा लेकर एक यश और सुख भोगोंकी भूमिकामें उतरा हुआ है। जगतमें ऐसे बहुत मनुष्य हैं जो साधु दीक्षा तो ले लें, अपनेको साधु प्रकट करें परन्तु साधुता जैसे भाव और कार्य नहीं बन पाते। निरन्तर कषाय शरीरानुराग, इन्द्रियभोग की इच्छा जिनसे संसार बढ़ता है उन कार्योंको ही करता है। सो आचार्य मानो संकेत कर रहे हैं कि हे मुनिजन जो दीक्षा ली है उसके अनुसार ही काम करो। तब मोक्षमार्ग मिलेगा, मोक्षपद मिलेगा अन्यथा संसारमें ही रुलना होगा। गृहस्थजन भी इससे यह शिक्षा लें कि यदि मायाचार करके दुनियाको दिखानेके लिए ही धर्मप्रवृत्ति की जा रही है तो वह धर्म नहीं है किन्तु संसार संकट बढ़ानेका ही एक उपाय बना रखा है।

श्रुतमतिबल वीर्यप्रेमरूपाय रंगस्वजननतनय कांताभ्रातृपित्रादि सर्वं।
तितउगतजलं वा न स्थिरं वीक्षतेऽगो, तदपि बत विमूढ़ो नात्मकृत्यं करोति ॥१८॥

सर्व समागमोंकी विनश्वरता—

इस जगतमें जिसे जो कुछ मिला है, वह सब विनश्वर है। जैसे कहते हैं आदिसे अन्त तक जो भी संग मिला है, खूब निगरानी करके देख लो, कुटुम्ब, मकान, धन, दुकान कारखाना शरीर यश और और भी अनेकों नाम लेते जाइये, जो जो भी चीजें मिली है वे सब विनाशीक हैं, और इतना ही नहीं, जो और सूक्ष्म वस्तु विकार भाव हैं वे भी विनाशीक है। जो श्रुत पाया है याने शास्त्रज्ञान वह भी मिटेगा। हाँ शास्त्रज्ञान करके भीतरी अनुभूति पायी है उसका संस्कार अगले भवमें जायगा वह तो काम देगा मगर जो केवल विद्याके रूपसे अर्जन किया है वह भी यहीं पड़ा रह जायगा। जो इन्द्रियजन्य बुद्धि पायी।

शक्ति पाया, प्रेम पाया वह भी विनाशीक। शरीरका रूप, आयु, बंधुजन पुत्र, स्त्री, बहिन माता पिता आदिक जो जो भी पदार्थ मिले हैं वे सब बिनाशीक हैं। इस जीवनमें क्या है ? जबसे जीवन पाया है तबसे मरण तक दुःख ही दुख है। कभी किसी घटनाके कारण दुःख कम हो गया उसको यह सुख मान लेता है। सो ये सारे पदार्थ ये दिखते दिखते ही नष्ट हो जाते हैं। जैसे चलनीमें कोई पानी डाले तो चलनीके छेदसे जल देखते देखते ही निकल हा है। तो जैसे कोई चलनीमें पानी डालता है तो देखते देखते ही खतम हो जाता, ऐसे ही जिनको इन पदार्थोंका समागम बना है उनके देखते देखते ही ये सब नष्ट हो जाते हैं।

सब कुछ तथ्य देखनेपर भी व्यामुग्ध जनोंमें आत्मकृत्य करनेकी सूझका अभाव—यह सब कुछ आँखों देख रहा है कि यह सब संग प्रसंग विनश्वर है लेकिन खेदकी बात है कि यह सब तथ्य जानते हुए भी ये मूढ प्राणी अपने आत्माके कल्याणके लिए कुछ नहीं बिचारते। सब कुछ नष्ट हो जायगा, पर यह पहलेसे ही मान लें कि सब कुछ मेरेसे अलग है और किसी भी पदार्थके कहीं भी चले जानेसे इस मेरे आत्मामें कोई परिणमन नहीं बनता। मेरा परिणमन मेरे ही परिणमनसे बनता है। ऐसा वस्तु स्वातंत्र्यको जान लें तो उसका फल क्या होगा कि बाह्य पदार्थोंसे लगाव हटा लेगा और अपने आत्माके सहज स्वरूपमें ही आत्मत्व अनुभव करेगा। सो यह दृष्टि सृष्टि आत्माके हितके लिए है, लेकिन यह मूढ़ प्राणी हितकर कार्योंको नहीं करता। जो आत्माकी भलाईके कारण हैं सम्वेग वैराग्य, तत्त्वज्ञान, इनमें स्थिर नहीं रहता और वह रात दिन इन बाह्य पदार्थोंके लगावमें, धुनमें, संग्रहमें ही फसा रहता है। कर्तव्य यह है कि सब समागमोंको असार जानकर उनके प्रति आसक्त न रहना और अपने स्वरूपको ही अपना शरण जानकर इस स्वरूपमें ही रमण करना, यह ही आत्म हितका सही उपाय है।

त्यजत युवतिसौख्यं क्षीतिसौख्यं श्रयध्वं, विरमत भवमार्गात् मुक्ति मार्गे रमध्वं।
जहित विषयसंगं ज्ञानसंगं कुरुध्वममितगतिनिवासं येन नित्यं लभध्वं ॥ १९ ॥

मोक्षमार्गरुचिकोंको युवतिसंगत्यागका उपदेश—अपने आत्माको सहज आनन्दमें, परमार्थ संतोषमें रखना चाहते हो तो संसार भ्रमण बर्द्धक कार्योंको समाप्त करो। युवतियोंके सौख्यको छोड़ दो, पञ्चेन्द्रियोंमें सर्वाधिक बाधक स्पर्शनइन्द्रियका विषय है। यद्यपि स्पर्शनइन्द्रियका विषय तो शीत उष्ण आदिक स्पर्शरूप ही है, वहाँ तो काम मैथुन संज्ञाका प्रभाव है, पर उसमें अति निकट विषय स्पर्शनइन्द्रिय है। सो कामवासना जन्य सुखकी अभिलाषा को त्याग दो। वह सुख नहीं, वह तो परम दुःख है। उस सुखके भोगनेके कालमें यह जीव अपने आत्मस्वरूपसे बिल्कुल जुदा रहता है, सुध ही नहीं रहती है कि मैं कुछ आत्मा हूं और

फिर इस सुखके परिणाममें विपत्तियाँ, बिडम्बनायें, लाचारी आदिक अनेक प्रकारकी विपत्तियाँ बनती हैं और इस बेसुधी वाले विषयमें इतना तीव्र पापका बंध होता है कि जिसके फलमें कोड़ा कोड़ी सागर तक संसारमें जन्म मरण कर भटकना पड़ता है। अतः युवतीजनोंके सौख्य का परित्याग कर दे।

मोक्षार्थियोंको क्षमाशीलताका आश्रय करनेका उपदेश—हे आत्मकल्याणार्थी क्षमा-सम्बंधी आनन्दका आश्रय लो। क्षमाभाव रखनेमें कितना आनन्द है। आत्मसमतासे अपने ऐश्वर्यको अनुभवता हुआ स्थित रहता है। किसी भी घटनाको लेकर किसी प्राणीपर क्रोध, भाव आना, इसके फलमें दुःखी कौन होता? क्षमासे हटकर क्रोधमें आया हुआ यह ही जीव दुःखी होता है। क्षमाशील न रहनेका काम तो अज्ञानीजनोंका है। जिनको अविकार अंतः स्वरूपकी स्मृति नहीं है, सुध नहीं है वे सब कुछ अपना निर्णय इस मायामय जगतके निग्रह अनुग्रहमें किया करते हैं, ये बाह्य पदार्थ इतने आ जायें तो मेरा महत्त्व बढ़ जाय, मेरे विषयों में यह बाधक है, इसका समूल नाश हो जाय तो 'मेरेको आगे सुविधा रहे, निर्विघ्नता रहे, ऐसी कितनी ही कल्पनायें अज्ञानीजनोंके चित्तमें उत्पन्न होती हैं, और इस कल्पनाजालसे ही फिर बाहरमें क्रोधभावके अनेक प्रसंग आते हैं। क्रोध करनेकी इसकी आदत ही हो जाती। तो ऐसे क्रोधके फलमें इसके सारे गुण जल भुन जाते हैं और अपने सन्मार्गपर यह गमन नहीं कर पाता, इस कारण हे हिताभिलाषी भव्य पुरुष अपने आपपर दया करके क्षमा शील बननेका प्रयत्न करो। क्षमामें जो आनन्द है वह किसी भी श्रममें नहीं है, सर्वत्र आकुलता है। पर वस्तुका यथार्थ स्वरूप जानकर शान्तचित्त होकर रहे कोई तो उसका आनन्द परमात्माके आनन्दकी जातिका होता है। उस आनन्दका जगतमें अन्य कोई उदाहरण नहीं है। इस कारण हे आत्महितार्थीजनो क्षमा सम्बन्धी आनन्दका आश्रय करो।

मोक्षसौख्यार्थियोंको संसारमार्गसे विरक्त होनेका उपदेश—प्रथम तो आत्महितकी अभिलाषा होना ही कठिन है। जगतके जीव विषय सुखोंके पीछे ऐसा अंधाधुंध दौड़ रहे हैं कि इनको अपनी कुछ सुध ही नहीं कि मैं क्या हूं और किस प्रकार रहनेमें मेरा कल्याण है। यह अज्ञानियोंको नहीं विदित है, वे तो अपनेको भी इस मायामय देहरूप ही समझते हैं, यह भाषा भी ज्ञानियोंकी भाषा है, कहीं वे अज्ञानी मनमें यह नहीं सोचते कि यह शरीर है सो मैं हूं, किन्तु वे शरीरमें आत्मरूपसे ही आस्था रखते हैं। उनके लिए दो चीजें नहीं हैं अलग-अलग कि शरीर और मैं। पर कहना पड़ता है ऐसा समझानेके लिए जैसे कोई घड़ा गोल है तो लोग यह कहते हैं कि इस घड़ेका आकार गोल है, तो ये दो चीजें हैं क्या कि घड़ा अलग है और आकार अलग है। और फिर यह घड़ेका आकार है तो मेहरबानी करके

इतना ही कोई करदे कि गोल-गोल आकार तो वहीं रहने दे और घड़ा लाकर दे दे, ऐसा कोई कर सकता क्या ? पर समझानेके लिए दो बातें हैं। कि घड़ेका आकार गोल है, पर वहाँ दो बातें हैं ही नहीं। ऐसे ही समझनेके लिए दो बातें कही गई हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव देहको आत्मा मानता है, पर मिथ्यादृष्टिकी निगाहमें दो चीजें है ही नहीं देह और आत्मा। वह तो अपनेको ही मानता है कि मैं यह हूँ देहको निरखकर फिर इस भ्रमके कारण जितनी भी करतूत बनती है वे सब संसारवर्द्धक हैं। किसीसे प्रेम करेगा, किसीसे द्वेष करेगा, किसी स्वार्थ सिद्धिके लिए कुछ छल कपट करेगा। जितनी भी प्रवृत्तियाँ बनेंगी फिर लोगोंके निग्रह की अनुग्रहकी वे सब प्रवृत्तियाँ संसारवर्द्धक हैं। सो हे आत्महिताभिलाषियों उन समस्त सांसारिक कार्योंसे विरक्त हो जो कार्य जन्ममरण आदिक दुःखोंके देने वाले हैं। जो समय सांसारिक कार्योंमें गुजरे वह समय बहुत ही खोटा गया, जिसके फलमें यह जीव जन्म-मरण के और भी इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग वेदना आदिकके अनुकूल दुःख पाता रहा। संसारमें कौनसा पदार्थ ऐसा है जो इस जीवके स्वभावरूप ही जीवको आनन्द देने वाला हो ? कोई पदार्थ नहीं है ऐसा। जीवको अपने ही सहज स्वरूपपर दृष्टि जाय तो आनन्द प्राप्त होगा, दूसरा आनन्द पानेका कोई विधान ही नहीं है। सारे श्रम केवल कष्ट पानेके हैं, सो हे आत्महितके अर्थी पुरुषो, समस्त संसार मार्गसे विरक्त होओ।

मुमुक्षुवोंको मोक्षमार्गमें रमनेका आदेश—यह जीव उपयोगमय है, सो यह अपना उपयोग कहीं न कहीं रमाये, यह इसका स्वभाव कहीं छूट नहीं सकता सिद्ध भगवान हो गये, वहाँ कोई परपदार्थ उपाधिके झंझट ही नहीं तो अब वे सिद्ध भगवान अपने ही स्वरूप में रमे रहें इसमें कौन सी बड़ी तारीफ हुई ? तारीफ तो तब कहलाती प्रभुकी कि संसारके झंझटोंमें रहकर फिर उस शुद्धस्थितिकी तरह अपना करिश्मा करके दिखा दे। वह तो शुद्ध द्रव्य है। उसके अपने स्वभावके अनुरूप आनन्दमय परिणमते रहना यह तो एक आसान बात है उस स्थितिमें, पर वह स्थिति जब प्राप्त नहीं होती तो यह संसारका प्राणी मनुष्य विवेकी उस सिद्ध प्रभुके आनन्दको चाहता है तो उसे यह पौरुष पहले करना पड़ता और उसकी दृष्टिमें वह आनन्द प्रशंसनीय है और वह है भी प्रशंसनीय, मगर बात यह बतला रहे कि शुद्ध अवस्था होने पर रागद्वेष मोहकी बात करना कठिन है, असम्भव है। कभी हो ही नहीं सकती। वह स्वभाव विकास ही इस प्रकारका है कि स्वतः ही सहज स्वयंमें वह परिपूर्ण सहज आनन्दका अनुभव होता रहता है। तो ऐसे निर्विकार अयत्नसाध्यमें स्वभावतः होने वाला जो आनन्द है उसकी चाह करें और उसके लिए मोक्षमार्गमें रमण करें। अपनेमें रमनेकी आदत तो है किन्तु तू इन्द्रियविषयोंमें मत रम। वह तो बड़ी तेज ज्वाला

है, जिसमें रमकर तू अपनेको भस्म कर डालेगा। उन विषयोंसे विकारोंसे छूटनेका उपाय सहज आत्मस्वरूपकी भावना है। मैं स्वतः अपने ही सत्त्वके कारण किस प्रकारके स्वरूपमें हूं उसका ज्ञान करें और उस ज्ञानमें अपने उपयोगको रमाये, यही कहलाता है मुक्तिमार्गमें रमण करना। सो हे हितार्थी जनो, एक ही निर्णय रखो कि मेरेको जीवनमें करनेका दूसरा काम ही नहीं है। केवल एक ही काम है, इस मोक्षमार्गमें रमण करना।

धर्मपालनके लिये ही मानवजीवन माननेकी आस्थामें श्रेयोमार्गका सहज लाभ—ये बीच वाली झंझटें कोई बढ़िया चीज नहीं हैं। लोक दृष्टिसे देखो तो अज्ञानी मूर्ख मिथ्यादृष्टि उसकी अपनी दृष्टिमें द्विविधावाले झंझटमें तो नहीं है। उसका तो एक ही निर्णय है कि विषयोंमें ही सुख है और घरके ये कुटुम्बी लोग ही मेरे सब कुछ हैं। सो बड़े प्रेमसे बच्चोंको खिलाता है, सुखमें रमता है, वह एक इस किनारेपर है। और, जो संयत ज्ञानी निर्विकल्प समाधिके अनुरागी, उस समाधिके निकट ही रहने वाले हैं वे भी एक किनारेपर है, उनका एक ही निर्णय है कि इस विधिसे आत्महित करना, दूसरा कर्तव्य करना ही नहीं, किन्तु कुछ धर्मकी सनक रखने वाले और भीतरसे अनन्तानुबंधी लोभको न त्याग सकने वाले, कुछ समय मिला यदि सुखसुविधासे बचा हुआ तो धर्मवार्ता, प्रवचनश्रवण चर्चामें भी समय दे देते हैं, बाकी तो भीतरी लगनके साथ सांसारिक कार्योंमें ही समय गुजरता है, ऐसे पुरुष बड़ी द्विविधामें हैं और उनका वह कृत्य हस्तिस्नानकी तरह है। जैसे हाथीने किसी सरोवरमें स्नान किया, खूब बिल्कुल साफ हो गया, पर बाहर निकलते ही सूंढसे धूल उठा उठाकर शरीरके चारो तरफ फेंकता रहता है इस कामके लिए हाथीकी सूंढ मनुष्यके हाथसे भी अधिक काम करने वाली बन गई। एक तो सूढ़ चारों ओर घूमती जाती है, दूसरे जहाँ नहीं घूम सकती, नहीं जा सकती तो भीतरकी श्वांसकी, हवाकी प्रेरणा मिलती है जिससे कि सारे शरीरको धूल धूसरित कर देती है। वही स्थिति है बीच बिचौनियाकी, समय मिलने पर धर्म करना, बाकी सारा समय सांसारिक कार्योंमें गुजारना, ऐसे जीवोंकी क्रिया हस्तिस्नानकी तरह है, सो प्रगति चाहिये हो तो उस द्विविधाको छोड़ो और अपने पर दया करके एक प्रकाशकी स्थिति पानेके लिए ही अपना तन, मन, धन आदिक सर्वस्व लगायें। मोक्ष मार्ग ही हम आपका सच्चा रक्षक है। उसमें ही रमण करना योग्य है।

शाश्वत शान्ति चाहनेवालोंको विषयसंग छोड़नेका उपदेश—जो पुरुष आत्मशान्ति चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि सर्व प्रकारके इन्द्रिय विषयोंका संसर्ग छोड़ दें और उनसे भी कठिन मनका विषय है, उसका भी परिहार कर दें। मनके विषयमें यह जीव यश नाम कीर्ति की चाह रखता है। जिनके भी मन है उन सबके यह रोग लगा है। मनुष्य ही नहीं, बैल,

घोड़ा, हाथी, गधा, पशु पक्षी ये सब यश कीर्तिकी चाहमें लगे हुए हैं। हाथी, गधा, बैल आदिक पशु मनुष्योंमें क्या नाम चाहेंगे ? जैसे यहाँके मनुष्य बैल आदिक पशुओंमें अपना नाम नहीं चाहते कि ये पशु भी मेरा नाम जान लें, ऐसे ही ये पशु भी मनुष्योंमें नाम नहीं चाहते, पर अपनी बिरादरीमें वे अपना नाम चाहते हैं। कोई भी बैल अपने बैलोंमें, गायोंकी गोष्ठीमें अपनेको महत्त्वशाली जतानेकी कोशिश करते हैं। लड़कर भिड़कर किसी पशुको भगाकर व किसीको शरणमें लेकर वे एक गर्वका अनुभव करते हैं। ये सब बातें उनकी क्रियावों से विदित होती रहती हैं। तो वे क्या यश, नाम नहीं चाह रहे ? मनकी प्रकृति है यह। उसका सर्वप्रथम प्रहार नाम यशकी चाह द्वारा अपने भगवन्त सहज परमात्म स्वरूपका घात करनेसे होता है। सो सर्व प्रकारके विषयोंका प्रसंग छोड़ दो। किसी भी विषय सुखके प्रसंग में इस जीवकी सुरक्षा नहीं है। पाया हुआ अमूल्य समय बरबाद करना और उस सुख प्रवृत्ति से प्राप्त पश्चात्तापसे अपने आपको दुःखी करना, यह ही विषय सुखोंका परिणाम निकलता है, जो भी आज वृद्ध मनुष्य हो गए उन्होंने अपने जीवनमें क्या क्या चालें नहीं खेली, क्या क्या विषय प्रसंग नहीं किया, पर आज उनका वर्तमान नक्शा तो देखो, उनके पास कुछ रखा है क्या ? बाहरी परिग्रहमें मानो अनाजको ही जोड़ते जावो तो एक बोरा भर जाता है। मगर विषयसुखोंको यह करता रहा, जोड़ता रहा, मगर जोड़ जोड़करके उन वृद्ध लोगोंके हृदयमें सुख भर गया क्या ? अरे वे तो और भी अधिक रीते हो गए। तो ये विषयप्रसंग इस जीव के अहितकारी हैं, अतः मुमुक्षुजन इन विषयोंका प्रसंग त्याग दें।

उत्कृष्ट आनन्दके लाभके लिये ज्ञानसंग करनेका संदेश—सर्वोच्च संग है ज्ञानका। ज्ञानका संग ही आत्माके विकासको बढ़ाते बढ़ाते केवलज्ञानी बना देता है। उन मनुष्योंका तो बहुत ही बड़ा दुर्भाग्य है जिनको ज्ञानसे चिढ़ रहा करती है। ज्ञानके साधनोंसे चिढ़ रखना, ज्ञानके साधनोंमें बिघ्न डालनेमें उमंग रखना, ऐसा जिनका आशय होता है उनका बहुत खोंटा भाग्य है। वे संसारमें कितने मरण करते हुए भटकेंगे, कैसी कैसी कुयोनियोंमें जायेंगे। सो उनका बचाव करने वाला कोई नहीं हो सकता ज्ञान ही एक ऐसा अपूर्व तत्त्व है कि जिस का समर्थन, जिसका अनुमोदन, जिसकी उमंग ही एक ज्ञानावरणके क्षयोपशमको बढ़ा देती है। जैसे कोई कहता कि इस मनुष्यके बहुत बड़ा ज्ञान है, इसके ज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेष है, तो ज्ञानावरणका क्षयोपशम बने कैसे, उसका कोई उपाय भी तो होना चाहिए। निमित्त नैमित्तिक भाव दोनों ओरसे है। ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर जीवके ज्ञानका विकास होता है। तो जीवके विशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर ज्ञानावरण कर्मोंमें क्षयोपशम वि-

शेषताकी दशा बनती है। कर्म कोई एक ईश्वर नहीं है अलगसे कि उसपर कुछ नियंत्रण नहीं, जो कर्मकी दशा जीवके विकारका कारण बन जाय, यही इकतरका पक्ष हो। यदि कर्म-दशा जीवके विकारका कारण बनती है तो जीवके परिणाम कर्मोंको ध्वस्त करनेका कारण बनते हैं। सो यदि नहीं प्राप्त हुआ है मानो विशेष ज्ञान तो यह तो उपाय बनायें कि जिससे ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम बने और क्षयोपशम प्राप्त होने पर हम ज्ञानविकासको पायें। वह उपाय यही है ज्ञानके प्रति रुचि जगना। अब ज्ञानके प्रति जिनको रुचि है उनकी चेष्टायें, ज्ञानविकास और ज्ञानप्रसारके लिए जो जो साधन होते हैं उन सब साधनोंमें प्रीति जगती है। देखिये प्रारम्भमें ऐसे परिणाम हुए बिना ज्ञानावरणके विशिष्ट क्षयोपशमके अधिकारी नहीं बन सकते। सो ज्ञानका संग कीजिए। ज्ञानका संग नहीं प्राप्त हो रहा है तो ज्ञानके साधनोंमें उमंग बढ़ाइये।

मोक्षमार्गविषयक ज्ञानके साधनोंमें उमंग रखने वालोंकी सुभवितव्यता—उन पुरुषों का जीवन धन्य है जिनका जीवन ज्ञानके साधनोंमें लगा है। उनका भवितव्य उत्तम रहता। वे ही ज्ञानसाधनोंके सब कार्य करते। अपनी सारी जायदाद ज्ञानप्रसारके कार्योंमें लगाने वाले अनेक उदाहरण मिलेंगे। सागरका जैन महाविद्यालय एक कमरयावंशीय रज्जीलाल जी नाम के पुरुषने ही पूरा बनवाया। अपना सारा वैभव उसीमें लगाया, ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने संतान होते हुए भी सर्वाधिक भाग दानमें लगा दिया। ज्ञानके साधनोंमें जिसकी बुद्धि लगती है उसका जीवन धन्य है, ऐसे ही पढ़ानेमें लगाना, पढ़ने लिखने वालोंको मदद करना ज्ञानके साधनभूत शास्त्रोंका प्रसार प्रचार करना, ऐसी बातोंमें बुद्धि किसी बिरले जीवके लगती है। अच्छे कामोंमें सभीकी उमंग कैसे हो सकती है? ये ही उमंगें वे बीज बन जाती हैं जो ज्ञानावरणके क्षयोपशम बना-बनाकर ज्ञानविकासको उत्पन्न कर देती हैं। यदि आत्मकल्याण चाहिये हो तो ज्ञानका संग करें। उसमें यह बहाने बाजी न हो कि कोई लौकिक विद्याके प्रसार प्रचारमें ही अपना तन, मन, धन, वचन लगा कर उसमें दम भरें कि हम ज्ञानदान कर रहे, वह तो एक धनार्जनकी कला है। चाहे किसीको व्यापार सिखाकर उसे धनार्जनके योग्य बना दें और चाहे उसे लौकिक विद्या सिखाकर धनार्जनके योग्य बना दें। यद्यपि यह भी कर्तव्य है मगर वह मोक्षमार्गके कर्तव्यमें नहीं रहा, वह रहा दीन दुःखी व समाजका उपकार करने वाला, कर्तव्योंमें जो अरहंत भगवानने उपदेश किया उस सम्यग्ज्ञानके प्रचारमें उमंग हो तो ज्ञानावरणका क्षयोपशम वृद्धिगत होता है। जिसके परिणाममें इस जीवको अलौकिक ज्ञानविकास प्राप्त होता है। सो हे आत्महितार्थी, ज्ञानके संगको करो

जिससे तुम अपरिमित सुखका साधन जो मोक्ष है उस मोक्षपदको प्राप्त कर सको।

श्रुतिसहजविवेकज्ञानसंसर्गदीपास्तिमिरदलनदक्षाः सर्वदात्यंतदीप्ताः।
प्रकटितनयमार्गा दस्य पुंसोऽत्र संति स्खलति यदि स मार्गे तत्र दैवापराधः ॥२०॥

पौरुषकी कर्तव्यताका संदेश—जिसके पास शास्त्रज्ञान, सहजविवेक, ज्ञान, सत्संगति का दीपक मौजूद है जो कि सभी अंधकारके नष्ट करनेमें समर्थ है अत्यन्त दीप्त है। जिसने नयमार्गको प्रकट किया, ऐसा दीपक भी जिसके पास है, प्रयोग भी करे उसका यह पुरुष यदि मार्गसे चूक जाय तो इसमें भाग्यका ही अपराध समझना। इस छंदमें यह बात बतायी जा रही है कि पुरुषार्थ करना अपना कर्तव्य है। तत्त्वज्ञान करें, मनन करें, भावनायें बनायें, सत्संगति बनायें, सब तरहसे अपने आपको मुक्तिमार्गके लिए पौरुष करें, निष्कपट पौरुष करें आत्महितके लक्ष्यसे पुरुषार्थ करें, ऐसा समस्त पुरुषार्थ करनेपर भी यदि कोई मनुष्य धर्म मार्गसे चूक जाय तो यहाँ यह सोचना चाहिए कि इस चूकमें इस बेचारे भव्य आत्माका कोई अपराध नहीं है, यह अन्दरसे खोटे आशय वाला बनकर नहीं चूक रहा है, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मोंका ऐसा ही तीव्र विपाक है कि जिसके उदयमें यह अचल नहीं रह पाता अपने लक्ष्यमें और डगमगा जाता है। और बात है भी सही। आत्मा तो स्वभावतः निरपराध है। इसक स्वरूप ज्ञान है। ज्ञाताद्रष्टा रहना यह इसका काम है। तो स्वभावकी ओरसे देखा जाय तो आत्माका क्या अपराध है? जो भी अपराध बन रहा है सो यह कर्मोंके अनुभागका प्रतिफलन है और उस कर्म निमित्तके सन्निधानमें उस कर्मविपाकके प्रतिफलनमें यह चोट खाकर मानो बाह्यपदार्थोंकी ओर लग जाता है। तो जीवकी मंसा समझना चाहिए कि इसका भीतरी आशय क्या है? जिस जीवका आशय गंदा हो, वह माना जाता है अतिभ्रष्ट पर जिसका आशय गंदा नहीं और पुरुषार्थ भी भलेके लिए कर रहा है तिसपर भी चूक जाय तो वह दैवका अपराध समझना चाहिए।

पुरुषार्थी भव्यात्माके शास्त्रज्ञानपौरुषकी व नयमार्गगमनकी सराहनीयता—देखिये जिस भव्यात्माके लिए यहाँ संकेत किया है वह भव्यात्मा कितने पुरुषार्थमें चल रहा है। सदा दैदीप्त रहने वाले अज्ञान अंधकारको नष्ट करनेमें समर्थ इसके पास अलौकिक दीपक है। इसे शास्त्रज्ञान भी अधिक स्पष्ट है। जैनशास्त्रोंके परिचयसे नयमार्गका स्पष्ट बोध होता है। नयमार्ग एक ऐसे गहन बनके बीच जाने वाला मार्ग है कि इसका पार वही पा सकता है जिसने वस्तुस्वरूपका अध्ययन मनन किया और अपनेमें सहज स्वरूपका अनुभव किया है। अन्यथा नयोंका जाल इतना गहन है कि एक नय जो इस समय कह रहा है कि वास्त-

विकता यह है यही नयका विषय कुछ ऊँची दृष्टि बनने पर वह गौण और हेय हो जाता है।

लोकभाषामें ठीक माना जानेपर भी निमित्तनैमित्तिकव्यवहारके समक्ष उपचार कथनकी असमीचीनता व गौणता—जैसे यह कहा जाय कि पुद्गलकर्मने जीवको रागी कर दिया तो ऐसा कहनेमें भी कोई बड़ी चूक नहीं है। समझने वाले समझते ही हैं कि निमित्त को भी लौकिक भाषामें कर्ताके रूपसे बोला जाता है। समझने वाले इस वाक्यको सुनकर भी भ्रममें नहीं आते, किन्तु संक्षेपमें बोलने की यह ही भाषा है अन्यथा इस बातको आप ठीक सही भाषामें बोलिये तो इतना लम्बा बोलना पड़ेगा कि पूर्वकालमें जीवविकारका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणामें कर्मत्व आया था सो उन अनुभाग विशिष्ट कर्मोंका जब उदय काल आया तो उसका निमित्त पाकर जीवमें अपनी परिणतिसे विकार हुआ है। अब इतना लम्बा बोलनेका अवसर कहाँ है? हाँ कोई निर्णय वाली सभा हो तो उस सभामें तो यों बोला जायगा मगर शीघ्र शीघ्र ज्ञान कराना है तो इस भाषामें बोलते ही हैं। जैसे घरमें किसीने कहा अपने बड़े बच्चेसे कि बेटा जरा वह घी का डिब्बा उठा लाना, तो क्या वह लड़का यहाँ भ्रममें पड़ जाता कि घी से बना हुआ। डिब्बा तो यहाँ कहीं रखा नहीं। मैं कैसे उठाऊँ, कैसे ले जाऊं? यों वह जरा भी भ्रम नहीं करता और घी भरे डिब्बेको उठाते समय भी वह यह नहीं जानता कि यह टीनसे बना डिब्बा नहीं है, यह घी से बना है। कोई भ्रम नहीं होता सच्चाई उसके हृदयमें रहती है और उसकी आज्ञाका तुरन्त पालन कर देता है। तो उपचार भाषामें जिसको प्रयोजन विदित हो गया और उस प्रयोजनके लिए यह भाषा बोली गई है ऐसा स्पष्ट ज्ञान करने वालेको क्या हर्ज है ऐसा सुनने और बोलनेमें कि पुद्गलकर्मने जीवको रागी कर दिया। ऐसी भाषा सुनकर अगर कोई अज्ञानी जीव कर्ताकर्मकी बुद्धि लाद ले कि जीवका वश क्या है? ये कर्म हैं ईश्वर, सो ये जीवको रागी कर डालते हैं। तो यदि कोई अज्ञानी भ्रममें आकर अपना विघात कर ले तो उससे कहीं ज्ञानियों की भूमिका तो न बदल जायगी। सो एक बार यह भी सुन लेना ठीक लग रहा कि पुद्गलकर्मने जीवको रागी कर दिया। पर जब इसके मुकाबलेमें निमित्त नैमित्तिक भावकी सही वाक्य रचना आती है कि कर्मोदयका निमित्त पाकर जीव रागी बन गया तो पहले कही हुई बात अब इसकी मिथ्या अथवा गौण हो जाती है।

निमित्तनैमित्तिकव्यवहारभाषाकी भी निश्चयदृष्टिके समक्ष गौणता—अब यह बात तो ठीक है कि पुद्गलकर्मका उदय आये तो उसका निमित्त पाकर जीव रागी बन जाता है, किन्तु जब एक और नई वाक्य रचना और दृष्टि आती है कि जब एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ सम्बंध नहीं है तो सम्बंध क्यों जोड़ना? वहाँ तो यह जीव अपनी योग्यतासे, अपने

परिणमनसे रागी बन रहा है। तो यह है निश्चयनयकी भूमिका। एक ही द्रव्यको निरखा गया है। तो लो वह निमित्त नैमित्तिक व्यवहार भी गौण हो गया, अब केवल यही नजर आ रहा कि जीव अपनी परिणतिसे रागी बन रहा, किन्तु जब जीवका स्वभाव निरखते हैं तो स्वभावमें तो यह बात पड़ी ही नहीं है कि जीव अपने स्वभावसे रागी बन जाय तो उस दृष्टिमें जब यह बोलते हैं कि जीव अपने भावसे रागी नहीं बनता, किन्तु वह रागी परिणमन तो पौद्गलिक है, तो इस दृष्टिमें अब पहलेका कथन गौण हो गया। जब इसके बाद एक अखण्ड निरखनेकी ही दृष्टि आती है कि यह आत्मा अखण्ड एक सहज चैतन्य स्वरूप मात्र है तब उसको अन्य सारी दृष्टियां गौण हो जाती हैं। कब किस मूडमें किस नयसे लाभ मिलता है, इस सबका विश्लेषण करना यह सब उसे सुगम नहीं है। इस प्रकार नयजाल एक कठिन वन है। उस नय जालका भी जिसने विश्लेषण कर दिया और स्पष्ट मार्ग दिखा दिया ऐसे आगमका जिसको ज्ञान है, इतना महान दीपक है वह अपनी सद्भावनामें ही तो रहता है और फिर भी कोई कठिन बेदना आ गई, उपसर्ग आ गया, किसी बातके आनेपर यदि स्व-स्वभावके आश्रयसे हट गया, चिग गया धर्मसे तो यहाँ दैव (भाग्य) का अपराध समझना और वहाँ स्वभावकी दृष्टि रखकर अपने स्वभावका भी पोषण करना।

सत्सङ्गतिका महत्त्व—ज्ञान और सत्संगति ये बहुत महान दीपक हैं जो कल्याणार्थी-जनोंको सन्मार्ग दिखाते हैं। ज्ञान न हो तो किस ओर आचरण करें, सत्संगति न हो तो उस ज्ञानको ताजा और प्रगतिशील कैसे बनाये रखे? स्वाध्याय द्वारा ज्ञान भी प्राप्त कर लिया, पर प्रकृति है और जीवके कर्मोदय हैं कि वह ज्ञान एक बासी सा पड़ जाता है, जैसे बासी भोजनमें किसीको खानेकी उमंग नहीं रहती। हाँ तीव्र भूख लगी हो तो विवश होकर खाना पड़ रहा है पर उसमें उमंग तो नहीं। तो ऐसे ही जब सत्संगति नहीं प्राप्त होती तो अर्जित किया हुआ ज्ञान भी उसके लिए बासी सा बन जाता और उसमें उमंग सी नहीं रहती। इसे ठठेरेके कबूतर जैसी उपमा दी है। जैसे किसी ताँबा, पीतलके बर्तन बनने वाले कारखानेमें जहाँ कि ताँबे पीतलकी ठुकाईसे निरन्तर शब्द होते रहते हैं उस हालतमें जरा सी आहटमें उड़ जाने वाला कबूतर पक्षी है मगर वह इतनी तेज आवाजमें जिसमें रहकर मनुष्य भी घबड़ा जाय, पर वह कबूतर वहींका वहीं बैठा रहता है, उड़ता भी नहीं। उस कबूतरसे यदि कोई पूछे कि रे कबूतर तू इतनी तेज आवाजमें भी क्यों बैठा रहता, उड़कर भाग क्यों नहीं जाता? तो शायद उसका यही उत्तर होगा कि ऐसी ठन-ठन तो रोज-रोज चल रही है, हम कहाँ तक उडें, भागें? तो ऐसे ही सत्संगतिकी प्रेरणा जिसको प्राप्त नहीं होती और स्वाध्याय द्वारा ज्ञान करते जा रहे हैं या बनाये हुये हैं और उनके आत्मामें वीतरागताके लिए उमंग नहीं बन पाती,

स्वभावानुभूतिके लिए उनको उमंग नहीं हो पाती तो ऐसे द्रव्य ज्ञानीसे पूछा जाय कि भाई तुम्हारे ज्ञान तो बहुत बना हुआ है, पर तुम आगे प्रगति क्यों नहीं करते ? तो उसका उत्तर यह ही होगा कि ऐसे ज्ञानका तो हम रोज रोज पाठ करते रहते हैं। सत्संगति एक अमूल्य निधि है, पर लोगोंको चूँकि सत्संगति मिलनेमें कुछ खर्च नहीं करना पड़ता इसलिए उसका कोई महत्व नहीं है लोगोंके चित्तमें मगर सत्संगति हो जाना तो इतना महत्वशाली धन है कि जिसके बिना शान्ति नहीं, प्रगति नहीं और प्रकाश भी नहीं प्राप्त होता। तो ऐसे ज्ञान और सत्संगका भी जिन्होंने अमूल्य वैभव प्राप्त कर लिया है वे पुरुष भी कोई तीव्र कर्मविपाक आनेपर अपनी दृष्टिसे चिग जायें तो लो अब इस जीवका अपराध कैसे कहा जाय इसने कोई मायाचारी नहीं की, पुरुषार्थमें भी बराबर लग रहा। पर तीव्र उदय है ऐसा कि वह चिग गया, तो ऐसी स्थिति पा लेने पर उस पुरुषका अपराध नहीं कहा जा सकता। यह अपराध है दैवका।

ज्ञानदीपककी महिमा—यह ज्ञानदीपक अंधकारको कष्ट करनेमें समर्थ है। ज्ञान-स्वरूप है यह आत्मा, पर कर्मोंका आवरण ऐसा छाया है कि जिसके उदयमें इस ज्ञानका विकास नहीं हो पा रहा और साथ ही मिथ्यात्वका उदय हो तो वह ज्ञान उल्टी दिशामें लिये जा रहा है, जिस ज्ञानको यह मानता था कि निजको निज और परको पर, पर मिथ्यात्वके प्रसंगसे वह ज्ञान निजको पर अथवा निजकी सुध ही नहीं है। और परको निज मानने लगा, तो ऐसे ही ज्ञानकी चेष्टायें अज्ञान कहलाने लगती हैं, तो ऐसे अज्ञान अंधकारको दूर करनेमें पूर्णतया समर्थ है यह सहज ज्ञानका प्रकाश, सो यह ज्ञानप्रकाश भी जिसे प्राप्त हो गया यों कह लीजिए कि सम्यक्त्व भी जिसके जग गया और फिर भी सम्यक्त्व छूट जाता है तो उस सम्यक्त्वके छूट जानेमें किसका अपराध माना जाय ? जिस जीवको सम्यग्दर्शन हो गया तो सम्यग्दर्शनके रहते सहते कोई परिणाम बिगड़े तो नहीं हो सकते फिर क्या वजह है कि उसका सम्यक्त्व छूट जाता है ? जिसका भी छूटता है उसका कारण क्या इस आत्माकी गल्ती कहा जाय ? वह तो ठीक पुरुषार्थमें लगा है। अगर ऐसी स्थिति आती है तो वहाँ मानना पड़ेगा कि यह सब दैवापराध है। जैसे कोई पुरुष अच्छे उजेलेको करने वाली लालटेनको हाथमें लेकर चले, सावधानीसे चले, निरखकर चले तिस पर भी वह मार्ग भूल जाय या किसी गड्ढेमें गिर जाय तो लोग उसका अपराध नहीं कहते। वह बेचारा तो अपनी शक्तिके अनुसार पूरा पुरुषार्थ करके चल रहा था, भूल गया रास्ता तो भाग्यका दोष कहा जाता है, ऐसे ही जो सभी उपायोंसे मुक्तिके मार्गमें लगा है तिसपर भी वह मुक्तिके मार्गसे चलित हो जाता है तो यही कहना होगा कि उस आत्माका क्या दोष है ? दोष

तो उसके भाग्यका है। इस वर्णनसे हमें यह शिक्षा लेना चाहिये कि अपनी सामर्थ्यके अनुसार मोक्षमार्गमें लगे रहना चाहिए। आगेका संशय न रखना और उस पुरुषार्थमें ही अपने को निर्बाध बनाना ताकि अपनेमें दोष न रहे।

जिनपतिपदभक्तिर्भावना जैनतत्त्वे विषयसुखविरक्तिर्मित्रता सत्त्ववर्गे।
श्रुतिशमयमशक्तिर्मूकतान्यस्य दोषे मम भवतु च बोधिर्यावदाप्नोमि मुक्तिं ॥२१॥

मुमुक्षुकी जिनपतिपदभक्तिकी अभ्यर्थना—इस विषयसुख निराकरणके प्रकरणमें अन्तमें यह भावना की गई है कि जब तक मुझे मुक्ति प्राप्त न हो तब तक ये बातें मुझको मिलती रहें। जिनेन्द्रभगवानके चरणोंकी भक्ति। प्रभुका, सिद्धका जो भक्तिभावसे स्मरण करता है उसको ऐसी उमंग जगती है कि वह अंतरंगमें कह उठता है कि हे प्रभो! मुझे तो वहीं बुला लो। मैं तो इस ही स्वरूपमें रह जाऊं, अन्य घटनावोंकी मुझे चाह नहीं है। जिनेन्द्र भगवान, भगवद्भक्ति एक अपना ही विकास है, जहाँ दोष न हो ऐसे हृदयमें ही तो भगवानके गुणोंका स्मरण रहता है। सो प्रभुभक्ति मेरे हृदयमें बनी रहे जिससे मैं सन्मार्ग को तो न भूलूं। जब प्रभुकी सुध रहती है तो सन्मार्गकी भी सुध रहती है। संसार संकटों से छूटनेका उपाय केवल एक यह सन्मार्ग है। जहाँ सहज आत्मस्वरूपकी दृष्टि बनी रहती है और उस सहज आत्मस्वरूपमें ही अपने आत्मत्वकी प्रतीति बनी रहती है। प्रभुभक्तिके प्रसादसे जन्म जन्मके किए हुए पाप भी नष्ट हो जाते हैं। सो मैं निष्पाप बनूँ इस ही में कल्याण है। सो जब तक मैं मुक्तिको न प्राप्त कर पाऊं तब तक प्रभुचरणोंमें भक्ति बनी रहे।

मुमुक्षुकी जैनतत्त्वभावनाकी अभ्यर्थना—दूसरी कामना है जैनतत्त्वकी भावना। जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वकी भावना भाता रहूं। उस प्रभुकी दिव्यध्वनिकी परम्परा से ही आज ये आर्ष ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, जिनमें वस्तुस्वरूपकी स्पष्ट घोषणा है कि प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त है। अपने आपमें स्वरूपतः ध्रौव्य है और चूंकि वह द्रव्य है सो द्रव्यका स्वभाव ही यह है कि प्रति समय परिणमन करता रहे। सो जब यह स्वभाव यह लक्षण प्रत्येक द्रव्यमें मिल रहा है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूपमें अपना परिणमन करता रहता है और सदा बना रहता है तो उसका फिर मोह कहाँ ठहर सकता? और मोह न ठहरे तो उसको शान्तिका मार्ग मिल जायगा।

मुमुक्षुकी विषयविरक्तिकी भावना—तीसरी कामना है विषय सुखोंसे विरक्त होना। ये विषयोंके सुख इस आत्माके बड़े भयंकर शत्रु हैं। विषयसुखकी भावना ही शत्रु है। जगत का कोई दूसरा जीव शत्रु नहीं है, यह जीव तो अज्ञानी है। अपनी अज्ञानदशासे उल्टा बुद्धि

करके आज यह उसके विरोधमें है तो यह ही जीव कल अर्थात् कभी भी उसका अत्यन्त मित्र बन जायगा। तो इसकी शत्रुता मित्रताका तो ठिकाना ही नहीं है, कोई उसका आधार ही पक्का नहीं है। इस जीवको अपने मनके खिलाफ कोई बात दिखती है तो यह उसका शत्रु बन जाता है और अपने मनके अनुकूल कोई बात नजर आती है तो मित्र बन जाता है। ये बाहरके जीव कोई किसीके शत्रु अथवा मित्र नहीं हैं उनमें अदल बदल भी चलती है, और वास्तविकता भी नहीं है, पर यह विषयसुख इस जीवको ही तो परिणमन है, कोई यह बाहरी चीज नहीं है, नैमित्तिक अवश्य है, सो ये विषयसुख केवल क्षोभको ही उत्पन्न करते हैं। विषय सुख पानेसे पहले क्षोभ, विषयसुख पानेके समयमें क्षोभ, विषयसुख भोग लेनेके पश्चात् भी क्षोभ। तो ये विषयसुख नियमतः जीवको कष्ट ही उत्पन्न करते हैं। ये चाहे कष्ट मानें या न मानें, यदि कष्ट नहीं मानते तो यह तो और भी बड़ा कष्ट है। मिथ्यात्वका कष्ट बड़ा भयंकर होता है। तो मेरा वास्तविक शत्रु तो विषयसुख है। इन विषयसुखोसे विरक्त होवे तो ये विषयसुख भी हैरान हो जायेंगे। इनका अड्डा न जम पायगा और ये सदाके लिए विदा हो जायेंगे और इनके बिदा होते ही आत्मामें अन्तः बसा हुआ सहज विशुद्ध परम आल्हाद रूप आनन्द इसके प्रकट हो जायगा। सो यह ज्ञानी भावना करता है कि जब तक मैं मुक्तिको न प्राप्त करलूं तब तक मेरी विषयसुखसे विरक्ति रहे, अर्थात् उन विषय सुखोंसे उपयोग हटा रहे जिससे मेरे सहज स्वाधीन आत्मीय आनन्दकी प्राप्ति हो जाय।

मुमुक्षुकी सर्व जीवोंमें मित्रताकी भावना—पञ्चेन्द्रिय और मनके विषयोंको असार जानकर उनसे इस मुमुक्षुका चित्त हट गया है तो अब यह आत्माकी ओर अभिमुख हो रहा। इस समीचीन कार्यके साधक कुछ अवस्थावोंकी यह भावना भा रहा है। मेरा समस्त प्राणियों में मित्रताका परिणाम हो। कोई प्राणी मेरे लिए अपराधी न जचे। जो कोई भी प्राणी कुछ विरोधकी भावना रखता है तो वह अपने कर्मोदयके अनुसार अपनेमें नैमित्तिक परिणमन करता है। वस्तुतः वह भी आत्मा निरपराध है अर्थात् स्वभावसे कोई अपराध नहीं, कोई विकार नहीं, ऐसा निरखने वाले किसी भी प्राणीमें शत्रुताका या विरोधका भाव नहीं रख सकता। सो सर्व जीवोमें मेरा मित्रताका परिणाम हो। मित्रतामें किसी भी प्रकारसे दुःखका काम नहीं जुटाया जाता। मित्रताका लक्षण ही यह बताया है, दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री। दुःख अनुत्पत्तिकी अभिलाषा रखना अर्थात् इस जीवको दुःख उत्पन्न न हो, ऐसी मनमें, अभिलाषा होनेको मित्रता कहते हैं। सर्व जीव स्वरूपतः ज्ञानमय हैं, आनन्दमय हैं, निरपराध हैं, ऐसे ही उनमें विकास बने, ऐसा इच्छा रखता है यह साधक, जो अपने आपमें चाह रहा है। मित्रतामें यह होता ही है कि जो बात अपनेको इष्ट होती है उस ही की भावना दूसरेके लिए

होती है। सर्व जीवोंको जब अपने स्वरूपके समान समझा है तो सर्व जीवोंमें मित्रता होना स्वाभाविक ही बात है। यह ज्ञानी साधक सर्व जीवोंमें मित्रताकी भावना कर रहा है।

मुमुक्षुके श्रुतिशक्तिके लाभकी अभिलाषा—विषय सुखकी रंच भी भावना न रहे, ऐसा निर्लेप शुद्ध आत्मा बने, इस कार्यके लिए अनेक योग्य उपाय साधक हैं, उनमें श्रुतिका पौरुष भी एक साधक है। ज्ञान प्राप्त करना, शास्त्र पढना, उपदेश सुनना, अनुभवी पुरुषोंकी वाणी सुनकर उसका मनन करना, और उस उपदेशपर अपनेको चलाना, ऐसी भावना बनती है। सो यह साधक श्रुतिकी दृढ़ भावना रख रहा कि मेरेमें श्रुतज्ञान और उसके अनुसार प्रयोग मेरेमें दृढ़ रहे। जीवका हित श्रुतिसे प्राप्त होता है। देशनालब्धिमें श्रुतिकी ही तो विशेषता है। सभी जीवोंको सम्यक्त्व प्राप्त करनेमें पञ्चलब्धि अनिवार्य है। पञ्चलब्धि पाये बिना जीव सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता। उनमेंसे क्षयोपशमलब्धि तो प्रायः अयत्नसाध्य है। जो कुछ भी थोड़ा परिणामका प्रयोग चलता है वह न कुछके बराबर है। इस जीवको कर्मस्थितियाँ और उनका अनुभाग विचित्र प्रकारकी अपनी स्थितियोंमें फैल जाता है। तो अनेक भवोंके बाँधे हुए कर्म पूर्वके प्रति समयसे अनेक सागरों पहलेके भी बाँधे हुए कर्म अपनी स्थितिके अंशपर उदित होते हैं। तो उस उदित निषेकमें कैसा अनुभाग आता है, वह विचित्र हो जाता है। यों कभी मंद अनुभाग आया और उस कालमें इस जीवके कुछ विशुद्ध परिणाम बढ़ें तो यह कल्याणका मार्ग प्रारम्भ कर लेता है। जैसे कि किसी नदीमें बड़ा तेज बढ़ाव चल रहा है, कोई मनुष्य उसको पार कर रहा है उस बीच बहाव कम हो जाय, वेग छोटा हो जाय तो उस हल्के वेगमें उस पुरुषका साहस बन जाता है। और पुरुषार्थ बन जाता है कि वह नदीको पार करले। तो ऐसे ही क्षयोपशमलब्धि होने पर इस जीवका पुरुषार्थ चलता है। उससे विशुद्धि बढ़ती है और उस विशुद्धि बढ़ने पर आचार्य गुरुजनोंकी देशनाको धारण करनेकी योग्यता आ जाती है। उस देशनालब्धिमें श्रुतिका ही तो लाभ है। तो यह साधक भावना करता है कि मैं श्रुतिमें खूब दृढ़ रहूँ।

आत्महिताभिलाषीके प्रशमभावकी भावना—शान्त परिणामका होना एक जीवका विशेष महत्त्वशाली कदम है। अज्ञानी जीवोंको यह भ्रम बना है कि किसी भी कार्यको हम क्रोध और उद्दण्डताके बलसे सिद्ध कर लेते हैं। क्रोध, उद्दण्डता होने पर कोई कार्य सिद्ध भी हो जाय तो वह पूर्वकृत पुण्यका तीव्र उदय था, सो वह सिद्ध हो गया, पर क्रोध उद्दण्डतासे कोई सिद्धि नहीं होती। वह तो पापभाव है। वहाँ तो पापकर्मका बंध है तो यह कहा जा सकता है कि जो सिद्धि होनेको थी उसमें कमी हो गई। प्रशमभाव कोई पुरुष मेरे प्रति विरोध कर रहा है तो भी मेरा उसके प्रति बदलाका भाव न आये और उसको क्षमा

कर सकूं और मेरेमें प्रशम भाव बना रहे। सहज शुद्ध आत्माकी अनुभूति प्रशमभाव पूर्वक ही हो पाती है। किसी भी कषायका वेग होनेमें, वर्तनामें इस जीवको स्वानुभूतिकी पात्रता नहीं रहती। कषाय शान्त हों, ऐसा प्रशमभाव बिराजा हो तो उसका उपयोग सहज शुद्ध आत्माको अनुभूतिके लिए चलता है, क्योंकि अनुभूतिमें ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, यह स्थिति हुआ करती है। तो ऐसी स्थिति पानेके लिए ज्ञान शुद्ध होना चाहिए ना? और ज्ञानकी शुद्धता कषायके शान्त होनेसे ही होती है। अतः यह साधक आत्महितके लिए भावना कर रहा है कि मैं शम परिणाममें खूब दृढ़ रहूं। कितनी ही घटनायें विरुद्ध आयें तो भी तत्त्वज्ञानके बलसे मेरी शान्तिमें, कषायशमनमें बाधा न आये।

आत्मकल्याणार्थीके यम नियमकी दृढ़ताकी भावना—यह साधक आत्माभिमुख रहने के लिए भावना कर रहा है कि मैंने जो यम और नियम धारण किया है उनमें खूब दृढ़ रहूं। यमका मतलब है यावज्जीव पाप कर्मोंका त्याग करना। और, नियमका मतलब है कुछ अवधि लेकर विशेष विरति धारण करना। नियम भी यमकी एक श्रेणी है, यह कुछ समयको लेकर है। यम यावज्जीव है, पर त्याग भावना दोनोंमें ही चल रही है। जो भी व्रत संयम धारण किया है उस व्रत परिणाममें मैं सदा दृढ़ रहूं, स्खलित न होऊँ, ऐसी भावना साधक कर रहा है। व्रत संयम आत्माका हितकारी कदम है, यदि यह किसी नियममें शिथिल बने और सोच ले कि क्या हर्ज है, पीछे ठीक कर लेंगे, प्रायश्चित्त कर लेंगे शुद्धि हो जायगी, अभी यह एक स्थिति है इसलिए नियमका भंग होने दो। एक बार भंग किया, प्रायश्चित्तसे शुद्ध हो गए। दूसरी बार भी शुद्ध हो सकता है। और ऐसा भंग कई बार बने तब तो फिर उसमें नियमकी पात्रता नहीं रह पाती। किसी भी समय वह उन नियम व्रतोंको एकदम छोड़ सकता है। ऐसी शिथिलता निरन्तर बनी रहती है। सो साधक भावना कर रहा है कि मैंने जो पापकर्मका त्याग किया है और अच्छे कार्योंके धारणका 'नियम किया है सो मेरा यह यम और नियम खूब दृढ़ रहे ताकि मैं आत्माभिमुख रहनेमें निर्विघ्नतया सफल हो सकूं।

आत्महितार्थीका परदोषवादमें मौनत्वका प्रयोग—साधक जानता है कि किसीके दोष को बोलना यह एक ऐसा अनर्थ कदम है कि जिसमें यह भी रीता हो जाता है और दूसरे लोगोंके द्वारा सदैव उपद्रव होनेकी शंका बनी रहती है। जिन पुरुषोंके दूसरोंके दोष कहते रहनेकी प्रकृति बनी रहती है वे पुरुष आचरणमें हीन हैं और सदैव विपत्तियोंका बोझ लादे हुए हैं। जब किसीके दोषका वर्णन करता है कोई तब उसके ज्ञानमें दोषका स्वरूप तो आया ही है और जब ज्ञानमें दोषका स्वरूप समाया है तो वह ज्ञान उस कालमें सदोष बन गया। तो सर्वप्रथम तो दूसरेके दोष कहने वालेने अपनेको सदोष बनाया, फिर वह जब दोष कहता

है तो सुनने वालोंके चित्तसे उसके प्रति उपेक्षा हो जाती है याने उसमें आस्था नहीं रहती है कि यह सज्जन पुरुष है। सुनने वाले लोग जानते हैं कि इसको दोषवादमें बड़ी उमंग बनी रहती है। यह तो उदार नहीं है, अनुदार है। तीसरी आपत्ति यह है कि जिसके दोष कहे गए हैं वह पुरुष जब जान जाता है कि यह पुरुष मेरी निन्दा करता फिरता है तो वह उसका कठिन शत्रु हो जाता है और उसका अपमान करनेके लिए, पीटनेके लिए, बध करनेके लिए अपनी इच्छायें बनाता है, साहस करता है और ऐसा ही आरम्भ कर देता है। तो दूसरेके दोष कहनेमें अन्तरंगमें भी हानि है, बहिरंगमें भी हानि है। तो जो आत्माभिमुख होना चाह रहा है वह भावना कर रहा कि मेरा दूसरोंके दोष कहनेमें मौन भाव रहे। कभी दूसरोंके दोष मेरे मुखसे न निकलें। दूसरोंके दोष कहनेमें मैं गूंगा हो जाऊं, ऐसा साधक आत्महितके लिए भावना कर रहा है। ये सब भावनायें जो कही गई हैं ये विषयसुखके निराकरणमें साक्षात् अथवा परम्परया कारण बनती हैं। जिनका चित्त विशुद्ध है, आत्माकी ओर लगनेकी जिनको सुगमता है ऐसे पुरुष इन्द्रियविषयोंको और मनके विषयों को सुगमतया दूर कर डालते हैं, तो उन विषयसुखोंके निराकरणके लिए ये सब भावनायें साधन है और उन विषयसुखोंसे उत्कृष्ट शाश्वत आनन्दकी प्राप्तिमें बढ़नेके लिए उसका कदम बढ़ता रहता है।

मुमुक्षुके बोधिलाभकी भावना—यह साधक भावना कर रहा है कि मुझे बोधिका लाभ हो। बोधि रत्नत्रयभावको कहते हैं। आत्माके सहज स्वरूपका विश्वास और उस निश्चय सम्यक्त्वकी साधक सप्त तत्वोंके यथार्थ श्रद्धान, देव, शास्त्र, गुरुका विनय, अनायतनों से उपेक्षा इन भावोंकी अभ्यर्थना कर रहा है कि ऐसा भाव मेरा बना रहे, जिसके प्रसादसे कभी निर्विकल्प समाधि पाकर मुक्तिको प्राप्त कर लूं। यथार्थ विश्वास सहित जो आत्मतत्वका अधिगम है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सही ज्ञान और सम्यग्ज्ञानमें कुछ अन्तर है। सम्यग्दर्शनसे पहले जो ज्ञान है वह भी सही ज्ञान है। कहीं विपरीत ज्ञानसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति नहीं हुआ करती। ७ तत्वोंका ज्ञान, देव, शास्त्र, गुरुके स्वरूपका ज्ञान यह सही हो तब तो सम्यक्त्व प्राप्त हों, पर सम्यक्त्व प्राप्तिसे पहले उन सही ज्ञानोंके समय सही आत्मस्वरूपकी अनुभूति और प्रतीति नहीं है इस कारण उन्हें सम्यग्ज्ञान न कहेंगे। पर उन सही ज्ञानोंके प्रसादसे सम्यक्त्वका लाभ होते ही वह सही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है और जैसा सहज आत्मस्वरूपका दर्शन हुआ, जैसा उनका सम्यक् बोध हुआ उस ही प्रकार आचरण बने अर्थात् ऐसा ही ज्ञाता दृष्टा रहे वह है सम्यक्चारित्र। तो यह साधक विषयसुख निराकरण प्रकरणके अन्तमें अपने हितके लिए भावना कर रहा है कि जब तक मैं मुक्तिको

प्राप्त न होऊं तब तक मेरेको बोधिका लाभ बना रहे।

कोपोऽस्ति यस्य मनुजस्य निमित्तमुक्तो नो तस्य कोऽपि कुरुते गुणिनोऽपि भक्तिं।
आशीविषं भजति को ननु दंदशूकं नानोग्ररोगशमिना मणिनापि युक्तं ॥२२॥

क्रोधी पर अनुरागकी असंभवता—अब इस छंदसे क्रोधके निराकरणका प्रकरण चल रहा है। क्रोध ऐसा दुःखदायी विकार है कि जिसमें क्रोध हो ऐसा पुरुष यदि गुणवान भी हो तो भी उसके प्रति, लोगोंकी आस्था नहीं जमती और सदैव उससे शङ्का बनी रहती है, न जाने उसे कब क्रोध आ जाय और उसके प्रति क्यासे क्या बर्ताव करे। जिस मनुष्यके क्रोध बना रहता है। जो मनुष्य बात बातमें क्रोध करता है, कोई निमित्त भी न हो, कोई खास विशेष कारण भी नहीं है फिर भी जिसके क्रोध करनेकी आदत बनी रहती है वह अपने आपको भी दुःखी करता है और दूसरे मनुष्योंको भी दुःखी करता है। क्रोधी मनुष्य चाहे अनेक गुणोंका भण्डार भी क्यों न हो। दूसरे कोई पुरुष उसकी भक्ति सेवा सुश्रुषा नहीं कर सकते, क्योंकि लोगोंको उससे अशान्तिकी आशा रहती है। पता नहीं कब यह क्रुद्ध हो जाय और मेरे साथ यह क्या बर्ताव करने लगे। यह तो सब व्यावहारिक बात है। आप सबके उपयोगों उतरी हुई बात है। जिस पुरुषको क्रोध करनेकी आदत है उस पुरुषके प्रति दूसरा कोई लगाव नहीं रख सकता। सभी उससे दूर रहना चाहते ताकि मेरे पर कोई विपत्ति न आ जाय। सो क्रोधी पुरुष अनेक गुणोंका भण्डार हो तो भी वह सेवनीय नहीं है।

गुणभण्डार होनेपर भी क्रोधीके प्रति अनुरागकी असंभवताका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—जैसे एक दंद शूक जातिका महान विषधर सर्प होता है। उस सर्पके फणमें मणि होती है, जैसे गजमुक्ता बताया जाता है। किसी किसी हाथीके मस्तकमें मोती भी होते हैं, तो आखिर वे मोती बनते हो तो हैं। समुद्रमें किसी किसी सीपमें जब कि किसी भले समयमें कोई मेघ की बूंद पड़ जाय तो उसका संसर्ग पाकर वहांके स्कंधोंकी मणिरूप रचना हो जाती है। उसे कहते हैं मुक्तामणि। तो जब सीपोंमें मोती बन जाते हैं तो गजके मस्तकमें भी मोती हों तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात? और, किसी विशिष्ट सर्पके फणमें भी मोती हों तो वह भी सम्भव है। तो किसी विशाल विषधर सर्पके फणमें मणि होती है जो कि बड़ी अमूल्य होती है तो भी उस सर्पको कोई नहीं पकड़ता है। क्योंकि वह सर्प हानि पहुंचाता है। बड़ा विषैला होता है। थोड़ा भी छू जानेपर वह छूने वालेको काट लेता है, उसका मरण हो जाता है। तो ऐसा सर्प जिसमें मणि पड़ी हो फिर भी वह भयंकर क्रोधी मृत्युकारी होनेसे सेवनीय नहीं होता, उसे कोई पकड़ना भी नहीं चाहता। तो ऐसे उस महान् विषधरके समान क्रोध-

विषको रखने वाले पुरुष चाहे कितने ही अपूर्व गुणोंके धारी हों फिर भी उनकी सेवा सुश्रुषा करनेमें लोगोको हिचक रहती है ।

सर्व गुण भस्म कर देने वाले क्रोध ज्वालाके शमनमें ही अपना विवेक—यह क्रोध एक विकट ज्वाला है जिसमें सारे गुण भस्म हो जाते हैं और यह भी जीवन भर दुःखी रहता है । घरोंमें देख लो, जो पुरुष या स्त्री क्रोध करनेकी ही आदत बनाये रहते हैं तो घरमें रह-कर भी वे दुःखी, बाहर जाकर भी दुःखी । उनका सारा जीवन क्लेशमय होता है । क्रोध करते समय बुद्धि ठीक काम नहीं देती, तब ही तो चतुर लोग मुकदमेकी सुनाईके समय प्रति पक्षीके वकीलके विरुद्ध अटपट बात भी बोलते हैं ताकि इसमें क्रोध आ जाय, फिर यह सही तरहसे वकालत न कर सके । क्रोधी पुरुष चाहे गृहस्थ हो, श्रावक हो, साधु हो, त्यागी हो, जो भी हो, क्रोधमें होनेके कारण उसके वचन सही नहीं निकलते और यह देखा भी होगा कि जिसको तीव्र क्रोध आता हो वह जब बोलता है तो उसके वचन साफ नहीं निकलते । ओंठ अटपट फड़फड़ाते हैं, जिह्वा टेढ़ी मेढ़ी चलती है । वे शब्द स्पष्ट हो ही नहीं पाते । तो क्रोधका प्रभाव मनपर भी है, वचनपर भी है और कायपर भी है । क्रोधी पुरुषके हाथ पैर कांपने लगते हैं, वह सही ढंगसे खड़ा भी नहीं हो पाता । तो जैसे क्रोधका असर मन, वचन, काय पर भी पड़े तो समझिये कि उस क्रोधका दुष्प्रभाव जिसको क्रोध प्राप्त हुआ है उस आत्मापर कितना पड़ जाता है । तब ही तो बताया है कि क्रोधमें सब गुण भस्म हो जाते हैं । तो क्रोध करनेसे इस लोकमें भी हानि है और तत्काल पापबंध होनेसे परलोकमें भी हानि होती है । सो आत्महित चाहने वाले ज्ञानी पुरुष इस क्रोधभावके त्यागके लिए अनेक पौरुष करते हैं मगर सब पौरुषोंमें प्रधान पौरुष है तत्त्वज्ञान । मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञाता द्रष्टा रहना यही इसकी वास्तविक वृत्ति है, इसमें विकारका प्रवेश नहीं है । ये विकार तो, ये क्रोधादिक तो कर्मके अनुभागसे झलक रहे हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं है, इस प्रकार जो विकार से विविक्त अपने आत्माके सहज स्वरूपको निरखता है उससे ही यह वास्तविक उपाय बनता है, ऐसा ज्ञान जगता है कि जहाँ फिर क्रोधके ठहरनेकी, आनेकी, पनपने की गुञ्जाइश नहीं रहती । सो यह साधक सर्व पौरुष पूर्वक इस क्रोधपर विजय पानेका मुख्य ध्यान रखता है ।

पुण्यं चित्तं व्रततपोनियमोपवासैः क्रोधः क्षणेन दहतीं धनवद्धुताशः ।
मत्वेति तस्य वशमेति न यो महात्मा तस्याभिवृद्धि मुपयाति नरस्य पुण्यं ॥२३॥

क्रोधाग्नि द्वारा व्रतसञ्चित पुण्यका दहन—यहाँ इस प्रकरणमें क्रोध दूर करनेका उपदेश किया गया है । क्रोध ऐसी विकट ज्वाला है कि जिस ज्वालासे किया हुआ पुण्य सब नष्ट हो जाता है । व्रतके धारणसे विशेष पुण्यबंध तो होता ही है ।यद्यपि व्रतमें विरक्तिका भाव

है और विरक्तिमें कोई कर्मबंध न होना चाहिए, पर व्रतमें विरक्तिके साथ व्रतोंका भाव है। जैसे अहिंसा महाव्रतमें हिंसाका त्याग किया है तो साथमें यह बात लगी है कि दया रूप प्रवृत्ति करना। किसी को हिंसा न हो ऐसे मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति रखना और इसी कारण उसे शुभ आश्रव कहा गया है। मात्र विरक्तिमें व्रतका नाम नहीं आता। रागका अभाव जहाँ है वहाँ तो निर्विकल्प समाधि है। जहाँ व्रत है वहाँ साथमें प्रवृत्ति है और उस शुभ प्रवृत्तिसे, उस शुभ भावसे पुण्यका बंध होता है सो यह क्रोध जब आता है। तो यह क्रोध ज्वाला इस पुण्यको भस्म कर देती है। क्रोध कषाय कितना बड़ा कलंक है, कैसी अद्भुत अग्नि है कि जिसमें यह जीव व्याकुल हो जाता है। उस क्रोधको दूर करनेमें ही आत्माका हित है।

क्रोधाग्नि द्वारा तपःसञ्चित पुण्यका सहन—इस जीवने तपश्चरण द्वारा पुण्यबंध किया। तपश्चरण भी कर्मनिर्जराका कारण होता है, क्योंकि इच्छाओंका निरोध होना ही तप है। जहाँ इच्छायें दूर हुई कि वहाँ तो रागांश दूर हुआ और जितने अंशमें राग दूर होता है उतने अंशमें उसकी निर्जरा चलती है, पर तपकी भावना, तपरूप प्रवृत्ति, तपके साथ जो कुछ भी शुभ राग चला उसके कारण पुण्यका बंध हुआ। तो ऐसे पुण्यको भी यह क्रोध समाप्त कर देता है। द्वीपायनमुनि सम्यग्दृष्टि मुनि थे। मिथ्यादृष्टि मुनिको तैजस ऋद्धि नहीं प्राप्त होती। उनके सम्यक्त्व था, सही मुनि थे, उनका इतना विशुद्धभाव था कि जिसके प्रतापसे उनको तैजस ऋद्धि प्राप्त हुई थी। तैजस ऋद्धिके बलसे दो तरह की बातें होती हैं। यदि किसी पर कृपा करें वे मुनि तो उसका भला हो जाय, नगरका भला हो जाय, दुर्भिक्ष दूर हो जाय, रोग शान्त हो जाय और कदाचित उस मुनिको क्रोध आ जाय तो उस नगरको भस्म कर दे, ऐसा तैजस शरीर निकलता है। तो जब उनको क्रोध आया द्वारिकापुरीमें युवकोंके उपद्रवके कारण तो बाँये कंधेसे उनका तैजस शरीर प्रकट हुआ और सारी नगरीको भस्म कर दिया और खुद भी भस्म हो गए और वहीं मरण करके नरकमें गए। तो क्रोध एक ऐसी विकट ज्वाला है कि किए कराये भले कामको भस्म कर देता है।

नियम एवं उपवास द्वारा सञ्चित पुण्यका क्रोधाग्नि द्वारा दहन—जीवनमें अनेक प्रकारके नियम किए जाते हैं। उन नियमोंसे आत्माकी भलाई है। कोई नियम यावज्जीव होता है कोई कुछ कालके लिए होता है। नियम वही पुरुष कर पाता है जिसको कि खोटे कामोंसे विरक्ति हुई है। तो नियमोंके द्वारा नियमरूप प्रवृत्तिके द्वारा इस जीवने पुण्यबंध किया, पर क्रोध आ जाय उसको तो वह सारा पुण्यबंध भस्म हो जाता है। पुण्य पापरूप

हो जाय तो यह पुण्य भी भस्म हुआ ही तो कहलाया। उपवास किये जाते हैं आत्मशान्तिके लिए। उपवासका अर्थ है उप मायने समीप वास मायने बसना आत्माके समीपमें अपने उपयोगको बसाना उपवास कहलाता है। उपवासमें अपना उपयोग, ध्यान, आत्माकी ओर रहना चाहिये। उस उपवासका प्रयोजन यह है कि यह मुमुक्षु यह अभिलाषा करता है कि मुझको दूसरेके सम्बन्धका विकल्प भी न करना चाहिए। आहार करनेमें बड़ा विकल्पजाल चलता है। जो भक्षण किया जा रहा है उसमें चित्त रहता है। अब अच्छा लगा, अब कड़वा लगा, उसे राग तो होता ही है, तो इस विकल्प जालसे बचनेके लिए उपवास ग्रहण किया जाता है। साथ ही उपवासमें यह ध्यान रहता है कि आहार करनेसे कुछ न कुछ आलस्य आता है। तत्काल आलस्य आता है। तो उस आलस्यसे भी बचे, विकल्पसे भी बचे और हमारा सारा समय धर्मध्यानमें जाय, ऐसी जिसको आत्माकी धुन हुई है वह उपवास किया करता है और इस प्रयोजनके बिना जो अन्य किसी ध्येयसे उपवास किए जाते हैं जैसे कि लोग जान जायें कि इन्होंने उपवास किया ये बड़े तपस्वी हैं....तो वे उपवास वास्तविक उपवास नहीं हैं। उपवासके द्वारा पुण्यबंध हुआ, फिर यदि किसी समय उसे क्रोध आ जाय तो वह क्रोध उस पुण्यको भस्म कर देता है।

क्रोध न होनेसे व्रतादिकी सार्थकता—यहाँ यह शिक्षा लेना कि जो व्रतमें, तपमें, नियममें, उपवासमें अपनी साधना बनाता है उसको यह ख्याल अधिक रखना चाहिए कि किसी भी बात पर संयोगपर क्रोध न आना चाहिए। यदि क्रोधपर विजय किया है तो उसके व्रत संयम आदिक सार्थक हैं और क्रोधादिक हों तो निरर्थक हैं। जैसे गृहस्थीमें शुद्ध चौका शुद्ध होकर बनाते हैं और उसमें छुवाछूतका बहुत अधिक विचार किया करते हैं। कोई छू न जाय ठीक है छूनेसे बचना अच्छा ही है मगर देखनेमें आता कि किसी बच्चेने यदि छू लिया तो इतना तेज गुस्सा आ जाता है कि दूसरोंको आफत सी आ जाती। अब यह बतलावो कि किसी दूसरे ने छू लिया उससे अपवित्रता आयी या इसमें खुदमें क्रोध जगा उससे अपवित्रता आयी। पवित्रता और अपवित्रता तो आत्माकी निरखना चाहिये। तो यह ध्यान रखना आवश्यक है धर्मार्थी पुरुषोंको कि किसी भी प्रसंगमें क्रोधभाव न जगे। क्रोध न जगना यही तो उसके धर्मात्मापनका चिन्ह है। ज्ञानकी दृढ़ता और निर्विकल्पताका परिचय है। जिसका ज्ञान निर्बल है, वस्तुस्वातंत्र्यका परिचय नहीं है, दृढ़ विकल्प उठ बैठते हैं परके द्वारा परमें कुछ माना जानेका, उनके क्रोध शीघ्र जगता है और जिन्होंने वस्तुके स्वरूपका सही निर्णय रखा है उन्हें क्रोध नहीं जग पाता। तो क्रोध एक ऐसी विकट ज्वाला है कि बड़े पुण्यको भी यह क्रोध सहसा भस्म कर देता है। जैसे कि विकट अग्नि ईंधनको

शीघ्र खतम कर देती है। सो धर्मके अभिलाषी पुरुषोंको यह समझ कर क्रोधके वशमें न आना चाहिए। जो महात्मा क्रोधके वशमें नहीं आता उसका पुण्य वृद्धिको प्राप्त होता है।

पुण्यकी भी चाह न करके धर्मधारणका कर्तव्य—यह एक साधारणतया उपदेश है। वैसे तो पुण्यकी भी चाह न करना चाहिए। पापके फलमें दुर्गतियोंमें जन्म होता है। दुर्दशायें मिलती है तो पुण्यके उदयमें क्या मिलता है? इष्ट सम्पदा समागम प्राप्त होते हैं, उसकी प्राप्तिमें इसका उपयोग कैसा बनता है? किसीका अहंकार रूप, किसीका चिन्ता रूप। आखिर बाह्य समागमोंसे कष्ट ही प्राप्त होता है। तृष्णा एक ऐसी बुरी लत है कि किसी भी स्थितिमें मनुष्य पहुंच जाय वहाँ वह अपनेको हीन ही समझता है। अपनेको चिन्तातुर बना लेता है, मेरेको कुछ नहीं मिला। और मिलना चाहिए। वह सब भूल जाता है कि अनेक लोग हमसे भी कितनी छोटी स्थितिमें रहकर गुजारा करते हैं। बराबर धर्मध्यान भी बनाये रहते हैं। इनसे तो कई गुना अधिक सम्पदा मेरे पास है। कौन सा कष्ट है? मगर कितना ही वैभव मिले फिर कल्पनायें करके वह अपनेमें कष्ट ही अनुभव करता है कि अभी मेरेको कुछ नहीं है। पुण्यके उदयमें यह इल्लत मिल जाती है। तृष्णा कौन करेगा? जिस के पुण्योदय है और समागम अच्छा मिला है तृष्णा उसके जगेगी अधिक। जो गरीब है, छोटी स्थितिका है उसके तृष्णा कितनी सी जगेगी? कल (अगले दिन) के लायक कमायी हो जाय कि खाना खा सके या और और भी खर्च चला सके, मगर वैभववान पुरुषकी तृष्णा अथाह हुआ करती हैं। जो ज्ञानी पुरुष है वह ही वैभवको पाकर तृष्णासे दूर रहता है। ज्ञानबल बिना इस कलंकसे बचना बड़ा कठिन है। तो यों पाप और पुण्य दोनो ही संसाररूप हैं, पर स्थिति ही ऐसी है कि यदि खोटे भाव बनते हैं तो पापरस बढ़ता है, पुण्य भस्म होता है। इसलिए खोटे भावमें क्या मिलता है वह बात बतायी जा रही है। तो क्रोध एक खोटा भाव है, उसके होने पर पाये हुए गुण, पाया हुआ पुण्य सब भस्म हो जाता है, इस कारण क्रोध से दूर होनेका ही उपाय करना, उसका उपाय है अपने स्वभावकी दृष्टि रखना। मैं तो क्रोध रहित हूं। मेरे स्वरूपमें विकार कहाँ है? यह तो चैतन्यमात्र है। इसका कार्य तो प्रतिभासमात्र है, ऐसे अविकार स्वरूप मुझ आत्माके क्रोध क्यों जगे अर्थात् न जगे ऐसी भावना करना चाहिये।

दोषं न तं नृपतयो रिपवोऽपि रुष्टाः कुर्वंति केसरिकरींद्रमहोरगा वा।
धर्मं निहत्य भवकाननदावविन्हं यं दोषमत्र विदधाति नरस्य रोषः ॥२४॥

क्रोधमें दुष्ट नृपतियोंसे भी अधिक पुरुषकी विघातकारिता—मनुष्यका क्रोध उस दोषको उत्पन्न करता है जिस दोषके कारण इस भयमें भी कष्ट होता। अगले भवमें भी कष्ट

होता। जीवका जितना अहित क्रोध करता है उतना अहित दुनियाका कुछ भी समागम नहीं करता। किसी राजाको क्रोध आ जाय बहुत किसी का बिगाड़ करनेका तो वह क्रुद्ध राजा कितना बिगाड़ कर सकेगा? अधिकसे अधिक धन छीन लेगा, अपने नगरसे भगा देगा। क्या करेगा क्रोध करके पर यदि इस मनुष्यमें क्रोधविकार उत्पन्न हुआ तो यह तो धर्मवनको ही समाप्त कर देगा। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म कैसे टिक सकता? एक भवमें दुःख दे सकेगा क्रुद्ध राजा भव-भवमें दुःख न दे सकेगा, पर यह क्रोध विकार इस धर्मको ध्वस्त कर देता है। जो धर्म संसार बनको जलानेके लिए अग्निके समान समर्थ है अर्थात् संसारके कष्टोंसे छुटकारा धर्मभाव ही दिला सकता है, ऐसे धर्मको क्रोध नष्ट कर डालता है जिससे कि भव भवमें इसको कष्ट भोगना पड़ता है। जीवका मित्र मात्र धर्म है। यह बड़ी विपदा है जो किसी जीव पर ऐसा भाव बना है कि यह मेरा हितू है, यह मेरेको सुख देगा। इससे ही तो मेरा महत्त्व है, ऐसा जीवोंके प्रति जो भाव बनता है यह भाव विपदा है, कलंक है, आत्माको कल्याणसे वंचित रखने वाला है और ऐसा भाव करके यह जीव पायगा क्या? कष्ट ही पायगा। घरोंमें होता क्या है? बहुत काल तक आराम पाते हैं, आराम मानते हैं और किसी भी समय किसी इष्टका वियोग हो जाता है तो वहाँ कष्ट उठाना पड़ता है। किसीका भी जीवन ऐसा नहीं हो पाता कि वह जीवनमें कल्पित सुख भी सदा सुख ही सुख पाता रहे और बीचमें कोई कष्ट न उठाना पड़े। सबके जीवनमें कोई न कोई कष्ट आता है। क्यों आता है यह कष्ट? धर्मदृष्टि न होने से।

जीवका सच्चा मित्र धर्म—कभी कभी लोग ऐसा कह देते कि अमुक भाई बड़ा धर्म पालते हैं, सुबह नहा कर आते हैं, पूजा प्रक्षाल करते हैं, बड़ी भक्तिसे पूजा पढते हैं, लेकिन इनका कष्ट तो नहीं मिटा। दरिद्रता तो नहीं मिटी, और और प्रकारके उपद्रव तो नहीं मिटे। तो धर्मसे होता कुछ नहीं है, ऐसी शङ्का करते हैं, मगर यह निर्णय नहीं किया कि उसने धर्म किया कहाँ? धर्म यदि करता तो उसको दुःख हो ही नहीं सकता। अब इस बातको विचारें कोई मनुष्य वास्तवमें धर्मभाव करे तो क्या करेगा? वह अपने आपमें ज्ञाता द्रष्टा मात्र अनुभव करेगा। मैं चेतन परम पदार्थ हूं, जिसका स्वभाव मात्र प्रतिभासका है। इष्ट लगना, अनिष्ट लगना, तरंग होना, विकल्प जगना, यह मेरे स्वरूपमें नहीं है। यह तो कलंक है, विकार है। इस रूप मैं नहीं हूँ, मैं अविकार चैतन्यस्वरूप हूँ। ऐसी जो भावना भरेगा उसके प्रतापसे वह अपने आपमें आनन्द पायगा, तृप्त रहेगा। अब एकदम पूर्वपापके उदयसे ऐसे धर्मात्माके दरिद्रता भी आये पर उसको तो रंच भी दुःख नहीं है। वह तो आनन्दघन आत्माको निरखकर तृप्त हो रहा है, खाने पीनेको क्या आज इतनी तेज महंगाई

है तो लोग सोचते हैं कि रोज-रोज १०) से कममें तो भोजन हो ही नहीं पाता। हिसाब भी लगा लो, घी, दूध, फल, सब्जी वगैरहका मगर आज भी कोई चाहे तो १) में भी पेट भर सकता है। उतना ही तृप्त हो सकता है जैसे कि बड़े मिष्ठ रसीले भोजन करने वाला। दरिद्रता आये तो उससे बिगाड़ क्या ? थोड़ेमें पेट भर लिया, साधारण कपड़ोंमे रह लिया, पर यह धर्मात्मा अपने आत्मस्वरूपकी दृष्टि रखकर निरन्तर तृप्त रहता है। उसको दुःख कहाँ हुआ ? कदाचित उसको इष्ट पुत्र मित्र स्त्री जनोंका, किसीका वियोग हो जाय तो चूँकि उसकी धर्मदृष्टि है, अविकार आत्मस्वरूपमें आत्माका अनुभव है तो उसको इस स्थितिमें भी रंच भी दुःख नहीं है। तो जो वास्तविक रीतिसे धर्मपालन कर रहा है उसको दुःख हो ही नहीं सकता यह तो बात कही है उसको जिस धर्मात्माके पूर्व संचित पापकर्म का उदय आ रहा है किन्तु प्रायः धर्मात्मा जनोंके दारिद्रय हो, ये बातें नहीं हुआ करती। कोई तीव्र ही पापबंध हो पहलेका तो ऐसा हो जाता है पर धर्मात्माको इससे भी कोई हानि नहीं है। तो ऐसा धर्म जो संसारके संकटोंसे छुटा सकता है उस धर्मको नष्ट करके अनेक आकुलता विकार दोषोंको यह क्रोध उत्पन्न करता है।

क्रोधमें दुष्टरिपु सिंह सर्प आदिसे भी अधिक पुरुषकी विघातकारिता—क्रोध आत्मा का इतना तेज बिगाड़ करने वाला दुश्मन है जितना बिगाड़ अन्य कोई नहीं कर सकता। वस्तुतः बिगाड़ तो खुद ही किया करता, पर व्यवहारमें जो कहा जा रहा उस दृष्टिसे भी देखें। तो बड़ासे बड़ा क्रुद्ध दुश्मन राजा भी इस मनुष्यका वह अहित नहीं कर पाता जैसा अहित इसका क्रोध कर बैठता है। कोई दुश्मन बहुत अधिक क्रुद्ध हो जाय और उसका दांव भी लगे तो अधिकसे अधिक वह क्या बिगाड़ कर देगा ? एक भवका मरण भी कर दे, इतना तक बिगाड़ कर सकता है, पर उसकी परभवमें भी कोई गति है क्या कि उसका बिगाड़ कर दे, किन्तु क्रोध जिससे कि धर्मका ध्वंस हुआ है वह तो अनेक भवों तक पीड़ा दे सकता है। लोग डरते हैं सिंह, हाथी, सांप आदिकसे, क्योंकि इनसे खतरा है, प्राणघात हो सकता है, पर ये सिंहादिक जानवर कितना ही क्रुद्ध हो जायें तो वे क्रोधमें अधिकसे अधिक प्राणघात कर देंगे, शरीरका विदारण कर देंगे, मगर एक भवमें ही तो कर सके, भव भवमें दुःखी कौन करने वाला है ? एक आत्माका दुर्भाव। जो समझो कि जिन दुर्भावोंके करते हुए भी मस्त रहते हैं। कौन जानता है कैसा ही अन्याय करे, कैसा ही दूसरों पर अत्याचार करे, कैसा ही वह विषयोंका लोलुपी बने, इन अनेक पापोंमें रहने वाला पुरुष अपने आपका कितना बिगाड़ कर रहा है, यह बात इस मोही जीवके चित्तमें नहीं उतरती। दो काम एक साथ नहीं होते कि मोक्षमार्ग भी मिल जाय और संसारके ये सुख भी मिलते रहें। जिसे मोक्ष चा-

हिए उसे सांसारिक सुखोंसे उपेक्षा करनी ही पड़ेगी। यह त्रिकाल असम्भव है कि वैषयिक सुखोंकी वाञ्छा भी रखे और कुछ ऊपरी ढंगसे धर्मके क्रियाकाण्ड करके चाहें कि मेरेको मोक्ष मिल जाय तो ये दो काम एक साथ नहीं हो सकते। अब यह निर्णय कर लें कि हमको संसार में जन्म मरण करते रहना अच्छा है या इस शरीरसे, कर्मसे, विकारसे, इस संसारसे हटकर अपने आपमें मग्नता पाना अच्छा है। जो बात भली है उसका लक्ष्य तो बना लें। उस पर जितना चलते बने उतना चलें, पर लक्ष्य रहेगा तो उसका कभी न कभी लाभ हो जायगा। गुरूजी सुनाते थे कि एक बार सिमरिया ग्रामके कुछ लोग सांभर ग्राम नमक खरीदने गए। वह गाँव कोई २०० मील पड़ता था। उस समय रेल मोटरके साधन तो थे नहीं सो बैल गाड़ियोंसे गए। खैर वहांसे नमक खरीदकर चल दिये, कोई एक मील ही चल पाये थे कि वे अब यह कहते जा रहे थे कि सांभर दूर सिमरिया नीरे याने जिस ओरसे मुख मोड़ लिया, जिधरको पीठ कर लिया वह दूर हो गया और जिस ओर मुख कर लिया वह निकट हो गया, जितना चलते जायेंगे उतना निकट ही तो होगा। सो लक्ष्य यही बन जाय तो आत्मकल्याण बिल्कुल निकट है।

यः कारणेन वितनोति रुषं मनुष्यः कोपं प्रयातिं शमनं तद्भावतोऽस्य।
यस्तत्र कुप्यति विनापि निमित्तमंगी तो तस्य कोऽपि शमनं विदधातुमीशः ॥२५॥

अकारण ही क्रोध करनेकी प्रकृतिवाले पुरुषके क्रोधके शमनकी अशक्यता—अनेक मनुष्य ऐसे होते हैं जो बिना कारणके भी चित्तमें क्रोध बसाये रहते हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे ऐसा होता नहीं है कि कुछ भी कारण न हो और क्रोध बसाये रहे लेकिन स्थूलरूपसे यह बात देखी जाती है कि किसी भी कुटुम्बपर, मित्रपर, अन्य किसी भी प्राणीपर, क्रोधकी बात नहीं आ रही है, कोई प्रतिकूल करने वाला सामने नहीं है तब भी वासना बसी रहती है इस कारण क्रोधका स्वभाव रहता है। सो यह देखा जाता है कि ऐसा क्रोधका स्वभाव रखने वाला पुरुष जिस किसी पर भी क्रोध करने लगता है तो उसने कारण बादमें बनाया। किसीने विरोध किया, निन्दाकी, दुर्वचन बोला तब क्रोध कषाय आयी। किसीके चित्तमें तो क्रोध बसा रहता है सो जिस चाहे पर क्रोध उतार दिया। उसको लक्ष्यमें ले करके कह रहे हैं कि जो पुरुष बिना कारणके ही क्रोध किया करते हैं उनके क्रोधका शमन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। हां कारण मिलनेपर क्रोध करता हो कोई तो कारण हट गया तो क्रोध भी दूर हो जायगा किन्तु जिनकी प्रकृति बिना कारण ही क्रोध करनेकी है उनके क्रोधके शमनको करनेके लिए कोई समर्थ नहीं है। ऐसी आदत बनती है अज्ञानीजनोंकी। सो ऐसे क्रोधका दुःख मिटानेके लिए केवल एक ही उपाय है कि वह तत्त्वज्ञान करे। यथार्थता समझे और अपनी इस

आदतको खतम करे ।

धैर्यं धुनाति विधुनोति मतिं क्षणेनारागं करोति शिथिलीकुरुते शरीरं ।
धर्मं हिनस्ति वचनं विदधात्यवाच्यं कोपो ग्रहो रतिपतिर्मदिरामदश्च ॥२६॥

कोप ग्रहकी धैर्यध्वंसकता—जैसे कि कामवासनाका वेग आया तो वह अपने धैर्यको नष्ट कर देता है भ्रान्तिको उत्पन्न करता है । अन्य पुरुषोंसे द्वेष करने लगता है जिन्हें अपने विषयोंमें बाधक समझता है । शरीरके अंजर पंजर ढीले कर देता है । धर्म वहाँ रहता नहीं । ऐसे ही इस गृहपिशाच कामके समान यह क्रोध भी इस मनुष्यके धैर्यको चलित कर देता है । क्रोध होने पर विवेक नहीं रहता, दूसरोंके विनाशका इसके भाव बन जाता है । और इसको इतनी आतुरता उत्सुकता हो जाती है कि इसका विनाश जल्दी ही किया जाय और क्रोध होने पर अपने योग्य कार्यके लिए भी धैर्य नहीं रहता । धैर्यका वास्तविक अर्थ क्या है ? यह शब्द बना है धीरसे । धीरस्यभावः धैर्यं, धीर पुरुषके परिणामको धैर्य कहते हैं और धीर कहते किसे हैं ? इसमें दो शब्द हैं—(१) धी और (२) र । धी तो संज्ञा है और र धातु है, जिस का अर्थ होता है धीं रातिं ददादि इति धीरः, जो परिणाम, जो भाव बुद्धि देवे उसे धीर कहते हैं । धैर्यभाव ही बुद्धिको विकसित करता है इस कारण यह बुद्धि प्रदायक भाव है धैर्य । जब क्रोध जगता है तो इस मनुष्यका धैर्य समाप्त हो जाता है ।

कोपग्रहकी मतिभ्रान्तिकारिता—क्रोध बुद्धिको भ्रान्त कर देता है । कभी कभी अदालतमें वकील लोग ऐसा किया करते हैं कि दूसरे वकीलके खिलाफ कुछ ऐसे शब्दोंमें बोलते कि जिससे उस वकीलको क्रोध आ जाय, बस क्रोध आ जाना चाहिए फिर वह अपना पार्ट ठीक अदा न कर सकेगा, क्योंकि क्रोधमें बुद्धि भ्रांत हो जाती है । जहाँ बुद्धि विवेक सही नहीं है वहाँ वह सही वचन नहीं बोल सकता । किसी पुरुषका अपमान करना हो तो उसका एक ही उपाय है कि धीरेसे कोई ऐसी बात बना दो कि जिससे उसके क्रोध जग जाय । क्रोध जग जायगा तो वह अटपट तो बोलेगा । बड़े नेता लोग, बड़े पुरुषोंके अपमानका एक यह उपाय है, क्योंकि क्रोध जगनेपर फिर वह अपनेको नहीं संभाल सकता और अटपट वचन बोलेगा । इससे उसका अपमान हो जायगा । दूसरेसे बदला लेनेका एक बहुत सुगम तरीका है कि इस तरहका वचन बोले कि जिससे उसके चित्तमें क्रोध आ जाय और वह अपनी सारी बुद्धिको खतम कर दे । क्रोध एक ऐसी ज्वाला है कि जिससे उसके सभी गुण भस्म हो जाते हैं । जीवनमें क्रोध न आये यह बहुत बड़ी साधना है और इस साधनाके लिए अनेक गुणोंकी आराधना उपासना बनानी होगी तब ये क्रोधादिक विकार ये दुर्वचन छूट सकते हैं । जिसमें धैर्य हो, जिसको ज्ञान हो जिसे मात्र अपने हितका प्रयोजन हो, ऐसी सीख जिसके

चित्तमें आयगी वही पुरुष क्रोधपर विजय प्राप्त कर सकता है। तो यह क्रोध बुद्धिको भ्रान्त कर देता है।

क्रोधग्रहकी द्वेषकारिता व अङ्गशैथिल्यकारिता—यह क्रोध राग भावको याने दूसरेके प्रीति भावको समाप्त कर देता है, दूसरे लोग क्रोधीके द्वेषी बन जाते हैं। क्रोधी तो द्वेषी हो ही जाता है। किसीका कितना भी उपकार किया गया हो, अनेकों बार उपकार किया गया हो, किन्तु एक बार उसके साथ क्रोध वाला व्यवहार बन जाय तो वह सब उपकारोंको भूल जाता है और इसही बुनियाद पर आज अनेक घरोंमें झगड़े चलते हैं। बच्चेका कितना ही उपकार किया, जब छोटा था तब कितनी ही खुशामद की, जब कुछ बड़ा हुआ तो उसे पढ़ाया लिखाया, यह पिता खुद अपने आप तकलीफ भोगकर गरीबीमें समय बिताता रहा, पर उसके पढ़ाने लिखानेका इन्तजाम करता रहा। जब और बड़ा हुआ तो विवाह कर दिया बड़ी उमंगसे सब कुछ उस बच्चेका उपकार किया, धन भी दिया, कुछ दुकान धंधा भी कराया, पर एक ही बार यदि उसको प्रतिकूल जंच जाय, पिताके किसी बात पर क्रोध आ जाय और उसे कोई कड़ा वचन कह दे तो वह लड़का उन सब उपकारोंको भूल जाता है। क्रोध भी एक विष है यह शरीरके अंजर पंजरको ढीला कर देता है। जिसके क्रोध जगता है वह भली भाँति खड़ा भी नहीं हो पाता। उसके पैर काँपने लगते। शरीर शिथिल हो जाता है। क्रोध ऐसी एक ज्वाला है कि यह तो चेहरे पर भी झलकने लगता है क्रोध उसके चेहरेको भी कुरूप बना देता है। कोई पुरुष या महिला कितना ही सुन्दर हो शरीरसे। पर क्रोध करता हो तो उसकी आकृति कितनी भयंकर हो जाती है। वहाँ फिर सुन्दरता रंच भी नहीं रहती। बल्कि वह अदर्शनीय हो जाता है। तो यह क्रोधका वेग जिस पर आता है उसके मन, वचन, काय तीनों ही बिगड़ जाते हैं।

क्रोध पिशाचकी धर्मध्वंसकता—क्रोध कषायका कितना खोटा प्रभाव है, यह इस प्रकरणमें बताया जा रहा है। क्रोधभाव धर्मका नाश कर देता है। जैसे काम, मान आदिक कषायोंके वेगमें कोई आत्माकी सुध नहीं रख पाता ऐसे ही क्रोधके वेगमें तो आत्माकी सुध रखनेकी गुञ्जाइश भी नहीं है। कदाचित लोभ आदिकके कारण कोई विपत्ति आयी हो ऐसी विपत्तिमें वह आत्माकी सुध कर भी सकता है। आत्महितमें जितना सहयोग दुःखका है उतना सुखका नहीं है। सुख प्राप्त होनेके कालमें आत्माकी सुध करना बहुत कठिन है, कोई दुःख आये, विपत्ति हो, ऐसे समयमें तो कुछ आसान है कि वह आत्माके स्वरूपकी सुध ले सकता है पर सुखोंके समागममें सुध लेना कठिन है और उससे भी कठिन है क्रोध कषायके वेगमें आत्माकी सुध लेना। क्रोध जगता जाय और आत्माकी सुध लेता जाय यह

बात नहीं हो पाती और जहाँ आत्माकी सुध नहीं है वहाँ धर्मका नाश है। धर्म कहीं बाहर नहीं पड़ा है जहाँसे उठा लिया जाय, खरीद लिया जाय या केवल एक धर्मके बलपर धन बना लिया जाय। धर्म तो आत्माका स्वभाव है, स्वरूप है और धैर्यके साथ, गुप्त पुरुषार्थके साथ इस आत्मस्वभावकी दृष्टिकी जाती है। जहाँ अपने आपमें यह अनुभव बना कि मैं आत्मा केवल चैतन्यस्वरूप हूं। इसका इससे बाहर रंच मात्र भी कुछ नहीं है। यह अपने आपमें पूरा है, आनन्दमय है, ज्ञानस्वरूप है, इसको अब क्या कमी है? जब अपने आपके स्वरूपका अनुभव परिचय चलता है तो वहाँ धर्मका पालन कहलाता है, इस ही धर्मपालनके लिए मन, वचन, कायकी, प्रवृत्ति सभीकी जाती है। ऐसे धर्मको यह क्रोध भाव नष्ट कर देता है।

कोपग्रहकी अवाच्यवचनविधायकता—यह क्रोध न कहने योग्य बातको भी कहलवा देता है। गाली गलौज देना, मर्म भेदी वचन कहना, यह सब क्रोधके कारण ही तो होता है, ऐसी अनेक घटनायें होती हैं कि भाई भाई परस्पर जब जुदे होते हैं तो बड़ेसे बड़े वैभव बँटते जाते हैं, शान्तिसे सब बंटवारा बनता जाता है। अन्तमें कोई एक छोटी सी बात पर जैसे मान लो एक फुट किसी जगह पर कुछ बात अड़ जाय और हठ कर जाय कोई और क्रोध युक्त वचन बोले, अपमान करे तो एक उस ही विषयको लेकर इतना बड़ा विवाद हो जाता, कचहरियां हो जातीं कि अन्तमें एक भाईके पास तो रह जाता है निर्णय फैसलाका कागज और दोनो भाई धनसे हाथ धो बैठते हैं। तो यह क्रोध इतना भयंकर है कि जिसके कारण भाई भाईमें विवाद हो, कुटुम्ब शान्तिसे न रह सके। ये सारी विडम्बायें बनती हैं, जहाँ अ-शान्ति है वहाँ आत्मसाधना नहीं है। जैसे किसी को किसी बातकी धुन हो जाय, अनेक घटनायें इतिहासमें आयी भी हैं कि कोई राजपुत्र किसी कन्यामें मुग्ध हो गया, उसके पीछे उसका खाना पीना तक छूट गया, बस एक उस कन्याके ही स्वप्न देखता रहा, सबके देखनेमें वह एक पागल सा बन गया, उसके उसको उसके लिए बड़ी तेज धुन बन गई। ऐसी तेज धुन वाला अन्य किसी बातकी पर वाह नहीं करता। तो वह तो उसकी एक खोटे धुनकी बात है, पर धुनमें बात जो होती है वह सबके हुआ करती है। जिसको आत्मतत्त्वकी धुन लग गई उस पुरुषका व्यवहार बाहरमें रूखा रहे, मौन रहे, उपेक्षा रहे। कैसी भी स्थिति हो वह अपनी धुनको नहीं छोड़ पाता। ऐसे आत्माकी धुनको क्रोधी पुरुष कैसे रख सकता? क्रोधीका चित्त तो बहुत जगह फैल जाता है। किसका क्या निग्रह अनुग्रह करूं, कल्पनायें बढ़ा लेता है और वह क्रोधी ऐसे वचन बोलनेपर उतारू हो जाता कि जो वचन बोले न जाने चाहियें। सो यह क्रोध महान् उपग्रह है, इस क्रोधसे बचनेका उपाय विवेकीजन करते हैं

और क्षमाशील, बनकर अपने आत्माको आराधनामें रहा करते हैं।

रागं दृशोर्वपुषि कंपमनेकरूपं चित्ते विवेकरहितानि च चिंतितानि।
पुंसाममार्गगमनं समदुःखजातं कोपः करोति सहसा मदिरामदश्च ॥२७॥

क्रोधसे नेत्रोंमें लालिमा तथा शरीरमें कम्पन—यह क्रोध नेत्रोंमें लाली ला देता है। कैसा निमित्तनैमित्तिकयोग है कि इस जीवमें क्रोध प्रकृतिके अनुभागका प्रतिबिम्ब आया और यह अज्ञानी जीव इस अजीव क्रोधके प्रतिबिम्बको अपनाने लगा और इस क्रोधबिम्बको अपनानेके कारण यह क्रोधभावसे परिणत हो गया। अब क्रोध आ जाने पर शरीरपर भी प्रभाव आ गया, नेत्र लाल हो गए। तो अब समझिये कि भीतर कितनी उसके वेदना है, क्रोधकी कितनी तड़फन और आकुलता है कि जिसका निमित्त पाकर यह सफेद आंख भी लाल हो गई। इससे उस क्रोधकी बेचैनी अनुभव कीजिए। यह क्रोध आंखोंमें लालिमा उत्पन्न कर देता है। शरीरमें अनेक प्रकारकी कंपकंपी पैदा कर देता हैं। जब किसी बापको अपने बच्चेपर तेज क्रोध आता और उसको डाटता है तो उस बच्चेके वचन उस समय साफ नहीं निकल पाते। अनेक बार तो अनुभवमें भी नहीं आता कि यह बोल रहा है, क्योंकि वे ओंठ, जीभ, आदि सब ऐसे कँप गए कि वहाँ शुद्ध शब्द भी नहीं निकल पाते। हाथ पैर आदिक सभी कँप जाते हैं। तो इस कंपकंपीको देखकर यह अंदाज करें कि यह क्रोध कितना अनर्थ करने वाला भाव है और इसने भीतरमें अपनी ज्वालासे कैसा गुणोंको भस्म कर दिया होगा।

क्रोधसे चित्तमें विवेक रहित चिन्तन—क्रोध भाव चित्तको विवेक रहित कर देता है, विवेक पूर्ण विचारोसे गिरा देता है। क्रोधमें ऐसे ही विचार बन जाते कि जिनका फल बड़ा खोटा होता है और खुद ही उससे हानि प्राप्त कर लेता है। कभी कभी घरके लोग क्रोध में आकर अपनी ही चीज फेंक देते हैं। डबलेमें घी रखा हो, उसे लिए हो और क्रोधका वातावरण हो तो उस क्रोधमें कहो उस घी के डबलेको फेंक दे और सारा घी बगर जाय। अपने आप अपनी हानि कर लिया। कहो अपने ही कपड़े क्रोधमें आकर फाड़ ले। तो क्रोधमें यह जीव विवेकरहित हो जाता है। और जिससे अपनी हानि हो ऐसा काम लोग क्रोधमें आकर कर डालते हैं।

क्रोधसे जीवका कुमार्गमें गमन—यह क्रोध जीवको कुमार्गमें गमन कराता है जहाँ अनेक प्रकारके दुःख समूह भरे हुए हैं। जैसे मदिरा पीने वालेमें मद अनेक बुराइयोंको पैदा करता है। उन बुराइयोंमें, इस क्रोधके वेगमें जीवको बड़े दुःख सहने पड़ते हैं। अब जरा बहुत सूक्ष्म दृष्टिसे विचारें तो क्रोध वास्तविक अपने आपका अहित करने वाला वह भीतरी

भाव है जो अपने परमात्मस्वरूपका घात करता है। अनन्तानुबंधी क्रोध कहते किसे हैं ? बाहर में गुस्साका रूप आये, लोगोंको दिखे, बेग होवे, इसे अनन्तानुबंधी क्रोध नहीं कहते। भले ही यह क्रोध चारों प्रकारके क्रोधोंमें प्रधान और भयंकर है मगर जो ऊपरसे दिखे क्रोध वही भयंकर, बड़ा क्रोध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, श्रावकका क्रोध दिखनेमें इतना भयंकर लगता है कि कितना महान क्रोध है यह, पर वह अनन्तानुबंधी क्रोधसे भयंकर नहीं है। एक कोई मुनि जिसको सम्यक्त्व नहीं हुआ किन्तु इस देहमें ही, इस मुनिभेषमें ही आप अनुभव कर रहे कि मैं यह मुनि हूं और मुझको ऐसा व्यवहार रखना चाहिए कि जिससे दूसरेको कष्ट न हो। कोई शत्रु इस मुनिपर उपद्रव भी करे, घानीमें भी पेले तो भी वह उसपर द्वेष नहीं करता, उसका बुरा नहीं सोचता, इस कारणसे कि मैं मुनि हूं। यदि मैं इस पर द्वेष करूँगा तो मुझे मोक्ष न मिलेगा। यों केवल देहके नाते से बात कर रहा है, उस मुनिके अनन्तानुबंधी क्रोध है। जो मिथ्यात्वका सम्बंध बनाये उस क्रोधको अनन्तानुबंधी क्रोध कहते हैं।

अनन्तानुबंधी कषायके अभावमें भी अप्रत्याख्यानावरण कषायके वेगमें अद्भुत प्रवृत्ति की संभवता—अनेक लोगोंको शंका होती कि श्री रामने सीताजी के वियोगमें ऐसा पागलपन जैसा काम किया कि जंगलोंमें पशुपक्षियोंसे भी पूछते फिरे कि क्या तुमने मेरी सीता देखी ? तो शंका यह करते कि जब ऐसी पागलपनकी बात वहाँ दिखती तो वह सम्यग्दृष्टि कैसे कहलाये ? अथवा एक शंका यह करते कि चक्रवर्ती जब अनेक राजा महाराजावोंका विध्वंस कर देता है तो फिर वह सम्यग्दृष्टि कैसे ? पर इस बातको समझनेके लिए एक दृष्टान्त लो। एक राजा यदि अपनी प्रजाके किसी गरीबको मारना चाहे तो जब चाहे जितने चाँटे जड़ दे, उसका विशेष विकल्प या श्रम उसे नहीं करना पड़ता पर वह गरीब यदि उस राजाको मारना चाहे तो वह सुगमताओंसे उसे नहीं मार सकता उसे महीनों पहलेसे बड़े विकल्प करने होंगे बड़ी तैयारी करनी होगी तब कहीं वह एक चाटा राजाके लगा सकेगा। अब बताओ भयंकर क्रोध यहाँ राजाको रहा या उस गरीबको ? उस गरीबको भयंकर क्रोध रहा, क्योंकि महीनों तक उसने क्रोध किया, बड़ा विकल्प मचाया। राजाको उसके लिए कोई विशेष क्रोध नहीं करना पड़ा। तो क्रोध अधिक रहा उस हीन पुरुषका। देखनेमें तो यों लग रहा कि उस हीन पुरुषने कोई खास क्रोध नहीं किया, पर राजासे भी कहीं अधिक क्रोध किया। तो ऐसे ही समझलो कि दिखने वाला क्रोध अनन्तानुबंधी क्रोधसे भी बहुत भयंकर होता, ऐसा नियम नहीं है। श्रीराम या चक्र महापुरुष हैं इनको थोड़ी कषायें भी प्रवृत्ति अधिक बन जाती, अधिक प्रवृत्तिसे कषायकी अधिकता नहीं आंकी जा सकती। वास्तविक क्रोध यह जीव अपने

आप पर करता है जिसके कारण यह परमात्मस्वरूपकी सुध नहीं ले सकता। तो सभी प्रकारके क्रोध हम दूर करें और ऐसा अपनेको क्षमाशील बनायें कि अपने आपके स्वरूपकी आराधनामें समय लगा सकें।

मैत्रीयशोव्रततपोनियमानुकंपासौभाग्यभाग्यपठनेंद्रियनिर्जयाद्याः।
नश्यंति कोपपुरुवैरिहताः समस्तास्तीव्राग्नितप्तरसवत्क्षणतो नरस्य ॥२८॥

क्रोधवैरी द्वारा मैत्री व यशका विध्वंस—क्रोधरूपी बैरीसे अच्छे गुण भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं मित्रता परस्परमें मित्रता हो, जीवोंके साथ प्रीतिका व्यवहार हो, कुटुम्बमें, संघमें, आपसमें बड़े अनुरागसे रहना हो और उनमें यदि कोई तेज क्रोध करे तो वह मित्रता खतम हो जाती है। मैत्री एक गुण है और वह कुछ भूमिकाओं तक करने योग्य है। जैसे घर कुटुम्बके लोग मैत्री व्यवहारके बिना गृहस्थीमें नहीं रह सकते। घरमें रहने वाले लोग परस्पर लड़ें, झगड़ें तो उन्हें न नींद आयगी, न खाना पीना भायगा, उन्हें निरन्तर विकल्प रहेंगे, और मैत्री हो तो सुख शान्ति रहेगी, इसी तरहसे संगमें भी लोग धर्मानुराग और मित्रतासे रहें तो शान्ति बर्तती है और यदि क्रोध करने लगे कोई जिससे मित्रता खतम हो जाय तो वहाँका रहना दूभर हो जाता है। तो क्रोध एक ऐसी ज्वाला है कि बड़े समय से प्राप्तको जा रही हुई मैत्री भी क्षण भरमें नष्ट हो जाती है। यश जैसे कोई बड़ा अनुष्ठान करके, परोपकार करके, त्याग करके, दान देकर किसी भी तरह सत्कार्योंको करके बहुत काल में यशकी प्राप्ति होती है। किसीका यश तुरन्त ही नहीं हो जाता। बहुत काल तक साधना होती है। बहुत काल तक उपकार किया जाय तो उसका यश प्रकट होता है। तो जो यश बहुत समयसे अच्छे कर्तव्योंके द्वारा प्राप्त किया है वह यश यदि वह पुरुष किसी समय सभा गोष्ठीमें क्रोध कर बैठे और वह क्रोध भी दूसरोंसे असह्य हो जाय तो उसके क्रोध करनेके कारण अब तक का कमाया हुआ यश सब नष्ट हो जाता है। क्रोध एक ऐसी ज्वाला है।

क्रोधबैरी द्वारा व्रतका विध्वंस—क्रोधको वशमें वही पुरुष कर सकता है जो क्रोध रहित ज्ञानमात्र अपना स्वभावकी धुनमें रहता है। उसका ऐसा संस्कार बनता है कि घटनायें घटने पर भी उसके क्रोध उपस्थित नहीं होता। कल्याणार्थी पुरुष आत्मकल्याणके लिए व्रतोंका पालन करते हैं। व्रतोंके पालनसे ऐसा सदाचार बनता है कि जिसकी सुगंधमें अनेक धर्मार्थी भी प्रसन्न रहा करते हैं। हिंसा पापका त्याग कर दिया। किसीका दिल दुःखें ऐसा कोई काम नहीं किया जाता। प्राणघातकी बात तो अत्यन्त ही दूर है। सदा सत्य वचन बोलते हैं। कभी झूठ कपटका मायाचारका दुःख देनेके आशयका कोई वचन नहीं बोलते। दूसरेकी चीजको चुरानेका कभी भाव नहीं होता। ऐसी वृत्तिमें रहने वाला पुरुष कदाचित

कोई किसी पर क्रोध कर जाय तो उसका यश भी गया, मित्रता भी गई, लोगोंका आकर्षण भी गया, पर स्वयंमें पापका बंध कर लिया, व्रतका विनाश भी कर लिया। शील व्रत पालन कर अनेक भव्य जीव अपने आपको बहुत शान्तिके वातावरणमें रखते हैं। खूब शीलपालन किया, स्वप्नमें भी काम वासना नहीं बनती, ऐसा शीलका दृढ अभ्यासी पुरुष सदा क्रोध करनेका स्वभाव रखे और अपनी गोष्ठीमें क्रोध करता रहे तो शीलके गुणका तो कोई ध्यान न देगा, पर यह बड़ा क्रोधी है, यह किस कामका है, इस प्रकार उसका क्रोध प्रकट होगा और शीलको नष्ट कर देगा। परिग्रह त्याग किया, सब कुछ त्याग दिया, केवल एक शरीर मात्र परिग्रह रहा, ऐसी बड़ी साधना करते हुए भी जिसके क्रोध करनेका स्वभाव है, क्रोध करता रहता है तो उस क्रोधकी स्थितिमें क्या वह निर्ग्रन्थताका लाभ ले रहा है? परिग्रह २४ प्रकारके कहे गए हैं—बाह्य परिग्रह त्यागा तो क्या त्यागा, अन्तर परिग्रह तो त्यागे ही नहीं। वहाँ भी यह क्रोध कषाय है। ऐसी क्रोध कषाय कर बैठे तो उसका निर्ग्रन्थपना भी खतम क्योंकि अन्तरङ्ग बहिरङ्ग दोनो ग्रन्थोंका (परिग्रहोंका) त्याग होना चाहिये और फिर लोगोंमें अपवाद, जैनधर्म हँसी यशका बिगड़ना आदिक अनेक उपद्रव होते हैं।

क्रोधवैरी द्वारा तप अनुकम्पा और नियमका विध्वंस—क्रोध एक ऐसी विकट ज्वाला है कि पाये हुए गुणोंपर पानी फेर देता है, उन्हें जला देता है। बहुत काल तक तपश्चरण भी किया, बड़े-बड़े कठिन तपश्चरण भी किया, जिस तपश्चरणके प्रभावसे बड़ी बड़ी ऋद्धियाँ भी पैदा हो जायें, जो किसीसे करते न बनें, ऐसे कठिन कठिन तपश्चरण हुए, पर ऐसा तपस्वी पुरुष कभी क्रोध करे तो उसका तपश्चरण खतम हो जाता है। द्वीपायन मुनिका चिर संचित तपश्चरण क्षण भरमें क्रोधमें नष्ट हो गया था ऐसे ही कितने ही क्रोधी पुरुषोंने अपनी दुस्साध्य कठिन तपस्यावोंका भी विनाश किया। क्रोध भयंकर ज्वाला है। अनेक प्रकारके नियम भी भव्य जीव पालन किया करते हैं। असिधारा व्रत, शीलका पालन, एकान्तनिवास, उपसर्गोंका सहना, कभी कभी एक बार भोजन अनशन ऊनोदर आदिक १२ प्रकारके तप कहे गए हैं। उनमें अनेक तरहके नियम शीतकालमें रात्रि भर एक ही षड्गासनसे नदीके तीर खड़े ग्रीष्मकालमें पर्वतपर तपश्चरण किया, वर्षाऋतुमें वृक्षके नीचे बरषते पानीमें बड़ी मोटी मोटी बूंदोंको सहा, अनेक तरहके नियम किया, पर ऐसा नियमवान पुरुष भी कभी क्रोध आ जाय तो अन्तरमें ही ऐसी ज्वाला बढ़ी उस क्रोधको कि बाहरमें यश आदिक बिगड़े सो तो ठीक है और उनके बिगड़नेका नुकसान भी कुछ नही किन्तु जिन नियमोंका पालन किया वे नियम भी सब जल जाते हैं। कोई पुरुष बड़ा दयालु है, दुःखी दीन पुरुषोंपर अनुकम्पा किया करता है, दयामें होता क्या है? अनुकम्पा। अनु मायने अनुसार, कम्पा मायने कँप जाना।

जो दूसरा जीव दुःखी है उसके दुःखको देखकर यह देखने वालेका हृदय भी कँप गया यह कहलाता है दया। जिसने दया करके अनेकों पुरुषोंका पालन पोषण किया, अनेकोंका उपकार किया, रोजिगार धंधोंमें लगाया, व्रत, नियम, शील आदिकमें प्रवर्ताया, लौकिक दया, सर्व प्रकारकी दयायें कीं, पर ऐसा दयालु पुरुष भी यदि कभी क्रोध करे तो वह दया सब खत्म हो जाता है। क्रोधके समय दया कैसे रह सकती ? दया होना और क्रोध होना, ये दो बातें कहाँ से बनेंगी ? जिस पर क्रोध जगा है उस पर दयाका भाव नहीं रहता, जिस पर दयाका भाव जगा है उसके लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है, वह क्रोध कैसे करेगा ? खूब दया की, अनेकोंका उद्धार किया, पर ऐसे दयालु पुरुषको कभी क्रोधका वेग आ जाय तो उसकी दया भी खतम, और लोकमें उसकी कृतज्ञता भी खतम हो जाती है।

क्रोध वैरी द्वारा सौभाग्यका विध्वंस—पूर्वकृत पुण्यके उदयमें सौभाग्य जगा, सुख साधन मिले, धर्मका वातावरण मिला, धर्मात्मावोंकी सेवामें भी समय व्यतीत किया गया, सम्पदाकी रात दिन वृद्धि होती रहती है। आज्ञाकारी स्त्री पुत्रादिक प्राप्त हुए, सर्व तरहका सौभाग्य मिला, ऐसे सौभाग्यमें रहता हुआ पुरुष कभी क्रोध करे तो उस क्रोधके वेगसे वे सारे सौभाग्य नष्ट हो जाते हैं। क्रोधका परिणाम पापरसको बढ़ाता है, पुण्यरसको मिटाता है। तो जिसके पाप बढ़ रहे, पुण्य दूर हो रहे तो उसकी स्थिति दुर्भाग्यकी आ ही जायगी। तो जो पुरुष क्रोध करता है वह अपने सौभाग्यको समाप्त कर देता है। क्रोधसे पुरुष बेचैन हो जाता है। भीतर आत्मा खौलने लगता है। जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि शरीर कँपने लगता है और वह चाहता है क्रोधी कि मेरे पैर डगमगायें नहीं। पक्के दृढ़ बने रहें, पर उसके वशकी बात नहीं रहती। क्रोध एक ऐसा भयंकर वेग है कि सारे शरीरको हिला देता है, तो पहले आत्मा ही खौला डाला तब तो शरीर हिला डाला। तो अब समझिये कि यह क्रोध कितनी विकट ज्वाला है कि जिस पुरुषके क्रोध आये उस पुरुषके सौभाग्य और भाग्य नहीं रहता।

क्रोध वैरी द्वारा पठनका व पठितका घात—बहुत काल तक विद्याध्ययन किया किसी ने। अच्छे-अच्छे गुरुजनोंसे विद्याध्ययन किया वस्तुके तथ्योंको परखनेकी विद्या भी प्राप्तकी ऐसी ऐसी लौकिक और अलौकिक विद्यायें जिसको देखकर लोग आश्चर्यसे निरखते हैं कि इनको कहाँसे इनका ज्ञान जगा ? कैसे इतनी विद्या बनी, इनकी विद्याकी तो थाह ही नहीं है, ऐसी ऊंची विद्याका कोई अर्जन भी करले, ऐसा उच्च पठन करले, किन्तु उस पुरुष को कभी क्रोधका वेग आ जाय, दूसरोंको गाली गलौज दे, दूसरोंको रूठ जाये, दुर्वचन कहे, ऐसा क्रोध उमड़ गया तो उसका जिन्दगी भरका पढ़ना वह सब नष्ट हो गया। भोजन किस

लिए बनाया जाता ? भोजन बना चुके तो आरामसे उसे खाये । अब भोजन तो बनाये जा रहे हैं और खानेका काम न करे, सिर्फ बनाता भर जाय तो बतावो वह भोजन किस लिए बनाया गया ? निरर्थक रहा । न खाना न खिलाना, सिर्फ बनाने बनानेका ही शौक बना लिया तो वह भोजन किस कामका ? तो ऐसे ही कोई विद्यार्जन करे । पठन करे तो यह सब किस लिए कि कषायें मंद हो जावें और अपने आत्माकी दृष्टि बने । इसके लिए है यह सब पठन । पर पढ़े तो कोई खूब, किन्तु आ गया उसे विकट क्रोध तो उस क्रोधकी वृत्तिमें वह सारे जीवनका पढ़ना वह सब बेकार हो जाता है, ध्वस्त हो जाता है, याद भी नहीं रहता । अवधिज्ञानके विषयमें बताया गया है कि ६ प्रकारके अवधिज्ञान होते हैं—वर्द्धमान, हीयमान आदिक अब उनमें दो प्रकार भी होते हैं सबमें अनुगामी और अननुगामी । तो अवधिज्ञान इस क्षेत्रमें उत्पन्न हुआ, इस नगरमें उत्पन्न हुआ और वह दूसरे नगरमें पहुंचा, कहो अवधि-ज्ञान न रहे, इतने में ही न रहे अवधिज्ञान । सुबह था दोपहर अवधिज्ञान नदारद । दूसरे क्षेत्रमें पहुंच गया तो न रहा अवधिज्ञान, किसी किसीके रहता भी है । मरने पर अगले जन्म में साथ गया अवधिज्ञान, किसीके नहीं गया, खतम हो गया । तो जो ज्ञान खतम हो जाता है दूसरी जगह पहुंचने पर, तो होता क्या है ? विशुद्धिमें अन्तर आया व संक्लेश भाव होने लगा । पाया हुआ ज्ञान खतम हो गया । तो ऐसे ही जो पढ़ा, जो ज्ञान अर्जित किया, अर्जन करने वाले पुरुषको क्रोध आने लगा बेगसे तो वह पढ़ा भी भूल जाता है । पढ़ना निरर्थक तो हो ही गया मगर वह विद्या भी विस्मृत हो जाती है ।

क्रोध बैरी द्वारा इन्द्रियविजय आदि गुणोंका ध्वंस—इन्द्रियविजय स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन ५ इन्द्रियके विषयोंपर विजय प्राप्त करना, खूब अभ्यास किया, अपना ज्ञानबल भी बढ़ाया और उस ज्ञान द्वारा कषायोंपर विजय प्राप्तको मनको वश किया मन पर विजय पायी, ऐसा इन्द्रियविजयका महान इन्द्रियसंयम पालन करने वाला पुरुष भी यदि कभी क्रोध कर बैठे तो उसका इन्द्रियविजय व्यर्थ और नष्ट भी हो जाता है । इन्द्रिय-विजय साधारण बात नहीं है । बड़े बड़े पुरुषोंसे ही इन्द्रियविजय बनता है । स्पर्शनइन्द्रियका विषय काम वासनाको मूलसे उखाड़ना, रसास्वादनकी भावना खतम करना, सुगंधकी चाह करना, दुर्गन्धसे घृणा करना यह सब लोगोंसे होता ही रहता है, इनपर विजय पाना यह बहुत बड़े ज्ञान और विवेक द्वारा हो सकता है । चक्षुइन्द्रियसे रूप देखा जाता । दूर खड़े होकर किसीका रूप ही तो देखा जाता । न वहाँ कुछ पकड़ा गया न खाया गया, न कुछ किया गया । रूप किस काम आ सकता ? केवल दूरसे देखा गया, बस देखने भरका काम किया है मगर मोही पुरुष दूरसे देखकर भीतरमें अपना सब कुछ खो डालते हैं ऐसे चक्षु

इन्द्रियके विषयपर विजय करना यह बड़े ज्ञान और सदाचार द्वारा सम्भव है। इन्द्रियसे शब्द सुनते हैं कोई बोलने चालनेको न मिले तो घबड़ा जाते हैं। जहाँ अच्छे शब्द सुननेको मिलें वहाँ ही जी रुचता रहता है तो ऐसे शब्द विषयको दूर करना, इन विषयोंपर विजय करना कठिन काम है। जिसने विजय पा लिया और किसी समय क्रोधका वेग आया तो लो मन तो तुरन्त ही खराब हो गया। जहाँ मन खराब है वहाँ सब खराब है। इन्द्रियविजय आदिक समस्त गुण क्रोध ज्वालाके द्वारा भस्म हो जाते हैं और उनमें उनके भस्म होनेमें देर नहीं लगती, शीघ्र ही भस्म हो जाते हैं। जैसे कोई पारा अग्निके समीप रख दिया जाय, जहाँ बड़ी प्रचण्ड अग्नि चल रही है उसके निकट, उसके ऊपर किसी बर्तनमें कहीं भी रख दिया जाय तो अग्निका संताप न सह सकनेसे वह पारा क्षण भरमें ही ध्वस्त हो जाता, खतम हो जाता उड़ जाता, ऐसे ही क्रोध कषायकी अग्निसे ये सब मैत्री आदिक गुण उस क्रोधके शीघ्र ही ध्वस्त हो जाते हैं। इससे यह शिक्षा लेना कि वह तत्त्वज्ञान बनायें जिसके बलपर दूसरेकी प्रतिकूल परिणति देखकर भी ज्ञान सही जागृत रहे और क्रोधसे गुण भस्म न हो जायें।

मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्यं ध्यानं करोतु विदधातुबहिर्निवासं।
ब्रह्मव्रतं धरतु भैक्ष्यरतोऽस्तु नित्यं रोषं करोति यदि सर्वतनर्थकं तत् ॥२९॥

क्रोधके कारण मासोपवास, सत्य व ध्यानकी अनर्थकता—यदि कोई मनुष्य महीनों तक भी उपवास कर रहा है, सिर्फ जल लेना या कोई एक आध पदार्थ भक्षण करना, और उपवास करता हुआ भी अपनेमें धैर्य रखना यह बहुत कठिन तप है। किया किसीने महीनों उपवास, पर ऐसा उपवासी पुरुष भी यदि क्रोध कर डाले तो उस क्रोधमें उपवासका गुण खतम हो जाता है। कोई पुरुष सदा ही बोलता है, कभी असत्य नहीं बोलता, कभी किसीके साथ कपटका व्यवहार नहीं किया, बिल्कुल सरल पुरुष है। ऐसा सदाचारसे रहने वाला पुरुष समीचीन हितकारी वचन बोलनेकी प्रकृति वाला पुरुष कभी क्रोध कर जाय, क्रोधके वेगसे वह आत्मा भुन जाय तो उसका सत्य बोलना कोई शुभ फल देने वाला नहीं हो सकता। तीनों संध्यावोंमें ध्यान करने वाले भी बहुत हैं, प्रातः, मध्याह्न, सायं आत्माका ध्यान, भावनाओंका चिन्तन, स्वपर पदार्थका बोध सर्व कुछ ध्यान किया, सामायिक किया, पर ऐसे पुरुषको भी क्रोध आ जाय तो यह सब निरर्थक है। जहाँ क्षमा नहीं है वहाँ यह सदाचार भी व्यर्थ हो जाता है।

क्रोधके कारण बहिर्निवास, ब्रह्मव्रत व भैक्ष्यरतताकी अनर्थकता—कोई पुरुष घर बार छोड़कर जंगलमें रहने लगा। परिग्रह भी छोड़कर जंगलमें बसने लगा, वहीं सत्संग हो गया, अनेक लोग रहने लगे तो अब देखिये—घरका छोड़ना कितना कठिन तप है। लोग

घरमें ही बड़े बड़े आरामके साधन रखते हैं। अच्छा कमरा, सजा हुआ पलंग, कुर्सी ठीक हों, पासमें ही लैट्रिन हो, पासमें ही स्नानगृह हो, भोजन, वस्त्रादिकके भी उत्तमसे उत्तम साधन हों, बड़े आरामके सब साधन हों तो ऐसे लोगोंको घर छोड़कर जंगलमें रहना कितना कठिन है। कोई पुरुष घर छोड़कर जंगलमें रह रहा तो उसके घर छोड़ते ही कुटुम्ब छूटा, धन सम्पदा छूटी, अकेला ही रह रहा बनमें, तो यह एक बड़ी तपस्या है। ऐसा तपश्चरण करने पर भी यदि वह क्रोध करने लगे तो उसके ये सब तपश्चरण, एकान्त निवास, घर बार छोड़ना सब व्यर्थ हो जाता है। कोई पुरुष अखण्ड ब्रह्मचर्यको पाल रहा है और सदा भिक्षा वृत्तिसे उदर पूर्ति करता है अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनीश्वर बन गया, सब प्रकारके व्रतोंका वह ठीक ठीक पालन कर रहा, उदर पूर्ति करना हर एकको आवश्यक है यदि जिन्दा रहना है तो, और जिन्दा रहना मुनिको भी आवश्यक है, क्योंकि संयमकी साधना करना है। असमयमें यों ही मर गए तो अधिकसे अधिक देवगतिमें चले गए, वहाँ भी देवियोंका राग, अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं। संयम वहाँ प्राप्त हो ही नहीं सकता है। तो खोटा ही तो जन्म पाया। मुनि पदके आगे वे सब खोटे पद हैं। तो संयमके लिए उदर पूर्ति करना आवश्यक है और वह मुनि भिक्षावृत्तिसे उदर पूर्ति करता है। निराकुल रहनेके लिए ऐसे बड़े बड़े दुर्धर तपश्चरण में लगने वाला पुरुष भी किसी समय प्रचण्ड क्रोधी बन गया तो उसके उस क्रोधके द्वारा ये सब गुण भस्म हो जाते हैं। तो यहाँ यह बात शिक्षामें लेना कि क्षमा एक ऐसा सुगुण है, अपना हितकारी मित्र है कि जिसके प्रतापसे कोई व्रत भी न पालन करे तो वह भी उत्तम गतिको प्राप्त होता और व्रतका पालन करे, क्षमाशील हो तब तो उसको सर्वोच्च दशा प्राप्त होती है। क्षमा गुण न रहा, क्रोध आ गया तो जप तप आदिक समस्त धार्मिक कार्य ये निरर्थक हैं। इनका कोई उत्तम फल प्राप्त नहीं होता। इससे तत्त्व ज्ञान ऐसा जागृत करें कि किसी भी प्रतिकूल घटनामें क्रोध भाव न जग सके।

आत्मानमन्यमथ हंति जहाति धर्मं पापं समाचरति युक्तमपाकरोति।
पूज्यं न पूजयति वक्ति विनिंद्यवाक्यं किं किं करोति न नरः खलु कोपयुक्तः ॥३०॥

क्रोधीकी हिंसकता—जिसके क्रोधका स्वभाव है, जो क्रोध करने वाला है वह स्वाभाविक क्षमा गुणका नाश करता है। आत्माका स्वभाव क्षमा है, क्रोध नहीं। जो चीज अपने आप अपनेमें से प्रकट हो दूसरेके निमित्त बिना वह कहलाता है स्वाभाविक। तो क्षमा ही स्वाभाविक है, क्योंकि आत्माका स्वरूप ही क्षमा है, किन्तु क्रोध प्रकृतिका उदय आनेपर क्रोध होता है इस कारण क्रोध स्वाभाविक नहीं है। तो जो क्रोध करता है उसके क्षमा गुण नहीं रहता। जीव यदि अपने सहज चैतन्यस्वरूपका ध्यान करे तो स्वयं ही वहाँसे क्षमा प्रकट होती

है और किन्हीं परवस्तुवों पर ध्यान करें, उन्हें इष्ट अनिष्ट मानें तो वहाँ विकार भाव जगता है। जहाँ क्रोधभाव जगा वहाँ क्षमा नहीं रहता। जहाँ क्षमा नहीं रहती वहाँ आकुलता है और निरंतर भीतर अंधेरा छाया हुआ रहता है। तो क्रोध ऐसा दुर्गुण है इस कारण क्रोधका बचाव करनेका, क्रोधसे दूर रहनेका पौरुष होना चाहिए। तो यह क्रोध स्वाभाविक क्षमा गुणका नाश करता है और फिर अपने और दूसरेके प्राणोंका भी नाश करके हिंसा करता है। क्रोधमें क्या होता है? स्वयंकी हिंसा तुरन्त हो गई, क्योंकि वह विकारमें लग गया। जो विकारभावमें लगा है उसने अपने परमात्मस्वरूपका घात किया है। तो क्रोध करने वालेने प्रथम तो अपनी ही हिंसा की और फिर दूसरेकी हिंसा की। तो इसे जो पाप लगा है वह स्वकी हिंसासे पाप लगा है, उसमें जब दूसरेका विघात हो जाता है या दूसरेका प्राण पीड़ा जाता है तो वह भी बदला लेनेका उद्यम करता है, तब इसे फिर अनेक विडम्बनायें बन जाती हैं। तो क्रोध ऐसा दुर्गुण है कि क्षमा गुणका नाश करके अपने प्राणोंका भी नाश करता है और दूसरेके प्राणों का भी नाश करता है। आत्महत्या करने वाले पुरुष क्रोधवश ही तो आत्महत्या करते हैं। कोई क्रोध इतना तेज जगा किसी भी बात पर तो फिर यह ही उपाय सूझता है कि मैं अपनी हत्या कर लूं और मेरे हत्या होनेसे इन लोगोंपर विपत्ति आयगी, तों यों क्रोधी पुरुष हिंसक होता है।

क्रोधीके धर्मपरित्याग, पापसमाचरण व योग्यकार्यपरिहार—जो पुरुष क्रोध करता है वह धर्मको छोड़ देता है। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म कहाँ है? धर्म तो आत्माके ज्ञाताद्रष्टा रहनेमें है। जो आत्माका स्वभाव है उसके अनुरूप इसका आचरण बने तो धर्म पालब कहलाता है। स्वभाव वह होता है जो आत्मामें स्वयं सहज अपने आप प्रकट होता है। सदैव रहता है स्वभाव और उसकी वृत्ति स्वाभाविक होती है। तो केवल जानना देखना यह है स्वाभाविक वृत्ति। तो जहाँ क्रोध उत्पन्न होता वहाँ स्वभावका कौन ध्यान रखता है? क्रोध में दूसरेका विनाश करनेकी ही वासना जग जाती है। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म नहीं रहता। तो क्रोधी पुरुष धर्मको छोड़कर पाप करने लग जाता है। और सर्व योग्य कार्योंको छोड़ बैठता है मायने पुण्यकर्म तो खतम कर देता है और पापकार्योंमें लग जाता है। कोई पुरुष धर्मकार्य करके भी यदि क्रोध कर रहा है तो वहाँ धर्मकी व्यवहारक्रिया भी ठीक नहीं चल रही है। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म नहीं। वहाँ पुण्य कार्य भी नहीं बनता है, क्योंकि क्रोधकी ज्वालामें इसका उपयोग दूसरेसे घृणा करनेका बन गया हैं। जब दूसरेसे घृणा करनेका भाव है वहाँ सर्व जीवोंके समान स्वरूपका ध्यान कहाँ रह सकता है? उसके कारण कोई पुरुष योग्य कार्योंको छोड़ बैठता है और पाप कार्य करने लगता है।

क्रोधीके पूज्योंमें अनादरभाव--जिस जीवके क्रोध आता है वह अपनेसे बड़ोंका भी आदर सत्कार नहीं कर पाता। जब क्रोध आ गया किसी पर, बड़े पर या अन्य पर तो अब उसमें आदर बुद्धि न रही। मानो क्रोध किसी दूसरेपर ही आया, आत्मा पर ही आया या कहीं आया तो ऐसी स्थितिमें जो बड़े पुरुष हैं उनकी उपेक्षा हो जाती है। वे सामने भी खड़े हों तो उनका विनय सत्कार नहीं बन पाता, क्योंकि क्रोधका वेग चढ़ रहा है और कभी मानो किसी बड़े पुरुष पर ही क्रोध आ जाय तब तो उसका आदर सत्कार कर ही कैसे सकता है ? तो क्रोधी पुरुष कभी विनयशील नहीं हो सकता और वह बड़ेका सत्कार भी नहीं कर सकता तो क्रोधभावमें दूसरेके प्रति विनय और आदरकी बुद्धि नहीं रहती। जब दूसरेके प्रति विनय आदरकी बुद्धि न रही तो उसका जीवन बेलगाम बेतुका अटपट बन जाता है। वह फिर अपने सत्कार्योंमें प्रगति नहीं कर सकता ? प्राय: लोग अविनयसे ही दुःखी हैं, एक दूसरेका विनयभाव नहीं चाहते और अपने आपमें मैं ही सब कुछ हूं, इस अहंकार भावके कारण उसे क्रोध आता है। क्रोध और मान ये दो द्वेष कषाय माने गए हैं। माया और लोभ ये राग माने गए हैं। क्रोध आनेका मुख्य कारण मान है। अथवा अपने विषयोंमें विघ्न होना दो कारणोंसे प्राय: क्रोध आता है। जिन विषयोंको कोई चाहता है उन विषयोंमें कोई विघ्न डाल दे तो क्रोध जगेगा या जहां अपना मान चाह रहे हैं और उसमें विघ्न आ जाय तो क्रोध जगेगा। क्रोधी पुरुष दूसरेका आदर सत्कार नहीं कर सकता।

क्रोधीके भंडवचनका व्यापार एवं अयोग्यकार्यमें उमंग--जो जीव क्रोधी है वह नाना प्रकारके भंड वचन बोलता है। क्रोधमें अच्छे वचन कैसे निकल सकते ? मर्मभेदी अपमान कारक, आत्मप्रशंसा (अपनी प्रशंसा) करने वाले वचन ही निकलेंगे, और ऐसे भंड वचन क्रोधमें निकल जाते कि जिन्हें बोलकर यह क्रोधी खुद क्रोध शान्त होनेपर पछताने लगता है। मेरेको क्या क्रोध चाण्डाल आया जो मेरी बुद्धि खराब हो गई और इस इस प्रकारसे लोगोंको सज्जनोंको भंड वचन बोल दिया। भंड वचनोंसे झगड़ा शुरू होता है और झगड़ेमें भंड वचनकी धारा बन जाती है और ये सारी बातें क्रोधवश होती हैं। यदि क्रोध न रहे चित्तमें तो न भंड वचन बोलेगा और न कलह होगी। जीवनमें एक बहुत बड़ी साधना है यह। गृहस्थोंको भी आवश्यकता है इस साधनाकी कि क्षमा भावका आदर करें। यदि क्षमा गुण नहीं रहता तो परिवारमें, कुटुम्बमें रहकर वह शान्ति नहीं पा सकता। क्रोधसे दूसरे लोगोंमें शिक्षा न आ सकेगी किन्तु क्षमा गुणसे दूसरोंको शिक्षा मिल जायगी। जिन बच्चोंको शिक्षा देना चाहते हैं उनपर कोई क्रोध करके उन्हें शिक्षा देना चाहे तो उनको शिक्षा मिलना तो दूर रही, वे उल्टा परिणमने लगेंगे और स्वयं माता पिताके अपमानमें भी प्रवृत्त हो जायेंगे। तो

बड़े पुरुषोंका आभूषण है क्षमा। क्षमा होनेसे कुटुम्बके सभी लोग क्षमाशील बन जायेंगे। क्रोधी होनेसे ऐसा वातावरण बनेगा कि कुटुम्बके लोग भी क्रोधप्रकृतिके बन जायेंगे। तो क्रोध ऐसा दुर्गुण है जिसके वेगसे भंड वचन निकलते हैं और उन भंड वचनोंके कारण कलह बढ़ने लगती है और भंड वचन बोलनेसे यह संसारमें निन्दाका पात्र होता है। मनुष्यका धन वचन है। वचनोंसे ही परखा जाता है कि यह भला मनुष्य है या दुष्ट मनुष्य है। परखा जाय या न परखा जाय इसकी बात छोड़ो पर स्वयंकी भलाई चाहिये तो क्रोधको त्यागकर क्षमा गुण को अपनाना चाहिए। तब इस क्रोध पिशाचके वश होकर यह जीव नाना अन्य कुकर्मोंको कर डालता कि जिनको कहना बोलना भी कठिन है, जिनका वचनोंसे उल्लेख भी नहीं किया जा सकता। तो इन सब अवनतियोंका कारण क्रोध जानकर इसे दूर करें और क्षमाभावको धारण करें।

दोषेषु सत्सु यदि कोऽपि ददाति शापं सत्यं ब्रवीत्ययमिति प्रविचित्य सह्यं।
दोषेष्वसत्सु यदि कोऽपि ददाति शापं मिथ्या ब्रवीत्ययमिति प्रविचित्य सह्यं ॥३१॥

ज्ञानीके दोष होनेपर दोष बतानेवाले निन्दकपर क्षमाभाव—यदि कोई पुरुष गाली देता है, निन्दा करता है, ऐब लगाता है तो उस समय यह विचारना चाहिए कि मुझमें यह दोष है या नहीं। जिन बातोंको यह दूसरा पुरुष कह रहा है झूठा, चोर, कपटी या जो जो भी शब्द बोले, जिन जिन शब्दोंको गालियोंको यह पुरुष दे रहा है वे दुर्गुण मुझमें मौजूद हैं या नहीं, पहले यह निरखें। यह मुझमें वे दोष हैं तो वह बेचारा तो सत्य बोल रहा है। उस समय क्रोध करनेका क्या काम ? मैं ही दोष निकालूँ तो मेरा भला होगा। दूसरा यह पुरुष यदि मेरे दोषोंको जताता है तो यह तो उपकारी हुआ। ऐसा पुरुष तो मिलना दुर्लभ है जो मेरे दोषोंको मुझसे बोले। चाहे किन्ही वचनोंसे बोले—प्रायः करके अनुरागी पुरुष दोषोंको ढक देता है और व्यर्थकी प्रशंसा करता है जिससे कोई लाभ नहीं है। आज यदि इस मनुष्यने मेरे दोष कह दिया तो यह तो मेरा बड़ा उपकारी है, सत्य बोलने वाला है तो इसका क्या बुरा मानना, वह बात सहन कर लेना चाहिए।

दोष न होनेपर भी दोष व निन्दित वचन कहने वालेपर ज्ञानीके दयाभावकी वृत्ति—अब यदि अपनेमें वह दोष नहीं है, ऐसा निरखमें आ जाय, यह व्यर्थ झूठ बोल रहा है मुझमें तो इस प्रकारका ऐब नहीं, मैंने कभी असत्य नहीं बोला, यह असत्यका नाम लगा रहा है, मैंने कभी किसीका दिल नहीं दुखाया, किसीके साथ कलहका व्यवहार नहीं किया। यह व्यर्थ ही मुझे कपटी आदिक कहकर मेरी निन्दा कर रहा है। मैंने कभी बुरी दृष्टि नहीं की। कभी किसीका बुरा नहीं बिचारा, यह व्यर्थ ही दोष लगा रहा, मुझमें दोष नहीं है, ऐसा

निरखकर यह ध्यानमें लायें कि यह तो मिथ्या बोल रहा है। इसके बोलका बुरा क्या मानना ? दूसरी बात यह है कि जिसने आत्मस्वरूपका ध्यान किया है वह पुरुष जानता है कि यह भी मेरे ही समान, प्रभुके समान चैतन्यस्वरूप है। इस आत्माका स्वयं कोई अपराध नहीं है, किन्तु कर्म उपाधिके सम्बंधमें ऐसा विकार उमड़ आता है सो वह परभाव है। औदयिक दोष है। यह आत्मा भी स्वयं निरपराध है, यह नहीं बोल रहा, इसका क्या बुरा मानना ? जैसे कोई मदिरा पिये हुए पुरुष हो और वह गाली देने लगे। जब मालूम पड़ जाय कि इसने शराब पी रखा है तो उसकी गालीका कोई बुरा नहीं मानता। जानता है कि यह बेहोश है, इसकी मदिरा इससे ऐसा बुला रही है। तो इसी तरहसे जो दोष कहता है। गाली देता है उसके स्वरूपको निरखें कि इसका तो निरपराध स्वरूप है। यह तो कषायके बेगमें आकर ऐसे वचन बोल रहा है। यह जान लेनेपर फिर उसका बुरा नहीं माना जा सकता। सो यदि मुझमें दोष नहीं है और कोई दोष ला रहा है तो यह मिथ्या कहाँ रहा ? ऐसा जानकर उसे भी सहन कर लेना चाहिये और आत्मगुणोंका घात न होना चाहिये।

कोपेन कोऽपि यदि ताडयतेऽथ हंति, पूर्वं मयास्य कृतमेतदनर्थबुद्धया।
दोषो ममैव पुनरस्य न कोऽपि दोषो, ध्यात्वेति तत्र मनसा सहनीयमस्य ॥३२॥

किसीके द्वारा ताड़े जाने पर भी अपने पूर्वापराधका चिन्तन करने वाले ज्ञानीके क्षमाकी वृत्ति—यह क्रोध निराकरणका प्रकरण चल रहा है। ग्रन्थकर्ता आचार्य अमितगति देव क्रोध जैसे दूर हो उस प्रकारकी भावना बता रहे हैं। यहाँ यद्यपि कहा जा रहा है कि क्रोधके वश होकर यदि कोई पुरुष मेरेको ताड़ने लग जाय, मारने पीटने लग जाय तो वहाँ यह समझ लेना चाहिए कि मैंने पूर्व कालमें किसीका बुरा बिचारा था कि इसका अनर्थ हो जाय, इसका बिगाड़ हो, बरबादी हो ऐसी भावना की थी, जिसके फलमें ऐसा ही कर्म बंधा उसके उदयमें ऐसा ही योग निमित्त जुड़ा है कि इसके द्वारा पिट रहा हूं। तो मैंने जो पहले अनर्थ किया था उसी का ही तो दण्ड मिल रहा है। मैंने तो पहले मारा। पहले अपराध किया, यह तो पीछेसे मार रहा है। इसमें दोष मेरा ही है। इसका नहीं है। तो अब इसका कार्य कारणभाव देखिये जो मैं आज किसीके द्वारा ताड़ा जा रहा हूं या किसी तरह बरबाद किया जा रहा हूं तो यह ध्यानमें रखिये कि मेरे ही अपराधसे ऐसा हो रहा है। पूर्वकालमें मैंने ऐसे ही खोटे भाव किया था और उन खोटे भावोंमें ऐसा ही कर्म बंधा था जिसके उदय में आज मेरी ताड़ना हो रही है। यदि मैं ऐसा न करता पहले भवोंमें तो फिर यह मुझे क्यों ताड़ता, क्यों मारता ?

कर्मबन्धसे दूर रखने वाले भावोंकी हितकारिता—देखिये कर्मबंध करना आसान

है, पर कर्मका उदय जब आता है तो उसे टालना आसान नहीं है। जो जैसा करता है उसे वैसा भोगना पड़ता है। भले ही कभी विशिष्ट ज्ञान हो और ज्ञानस्वभावमें ही उपयोग रम जाय ऐसी समाधि बने तो उस परिणामसे उन पाप कर्मोंका संक्रमण निर्जरण हो जाता है तो तिस पर भी जो परमाणु बंध गए वे दूसरी प्रकार बन कर उदयमें आये, पर उदयमें आते ही हैं इसीलिए बताया है कि कर्म भोगे बिना नष्ट नहीं होते। हां अन्तर यह हो जाता है कि उनका संक्रमण भी हो सकता। स्थिति कम हो जाय, अनुभाग कम हो जाय, पुण्यरूप में विकल जाय, पर जो परमाणु बाँध लिया, वे भोगेसे ही जाते हैं और फिर इतना तेज समाधि कि ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, इतनी स्थिति बनना आसान है क्या ? तो यह ध्यान में लें कि मुझसे कोई खोटा भाव न बने जिससे खोटा कर्म बंधे और उसका फल भोगना पड़े। तो यह पुरुष क्षमाशील है सो चिन्तन करता है कि यदि मैंने अपराध न किया होता तो न ऐसे कर्म बँधते, न उदय होता और न आज यह दुःखका सामना करना पड़ता। ऐसा सोच करके यह दूसरोंपर क्रोध नहीं करता और मन शुद्ध करके उस घटनाको सहन कर लेता है।

व्याधादिदोषपरिपूर्णमनिष्टसंगं, पूतीदमंगमपनीय विवर्ध्य धर्मं।
शुद्धं ददाति गतबाधनल्पसौख्यं, लाभोममायमिति घातकृतो विषह्यं ॥३३॥

ज्ञानीके घातकर्तापुरुषके प्रतिउपकारकताका चिन्तन—क्रोधवश होकर कोई पुरुष कदाचित पीटते पीटते प्राण लेने तक भी उतारू हो जाय तो जिसको अपने सहज परमात्म-तत्त्वकी रक्षाकी धुन है वह उसमें भी क्षमा प्रदान करता है। उस समय ऐसा चिन्तन करता है कि यह मुझे मारने वाला पुरुष मेरा बड़ा ही उपकारी है। कैसा उपकारी है कि मेरा यह वर्तमान शरीर नाना चिन्तावोंसे ग्रस्त है, व्याधि चिन्ता आदिक अनेक दोषोंका घर है। जिस शरीरके सहारे मुझे नाना प्रकारके दुःख उठाने पड़ रहे हैं। और फिर जिस शरीरके मोहमें पड़े हैं, रागमें पड़े हैं वह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धमय है। ऐसे दुर्गन्धित शरीरका वियोग हो जाना निश्चित है। होता है वियोग तो हो जाय ऐसा चिन्तन करता है ज्ञानी पुरुष। कौनसा ज्ञानी ? जिसने आत्माकी साधना करके अपने आपको स्वच्छ बना लिया है और यह सहज ज्ञानतत्त्व जिसकी धुनमें, ध्यानमें सतत् रहता है वह तो इस प्राणवियोगको भी उपकारी मानता है। तो ऐसे शरीरका नाश करके यह पुरुष तो उसके अभीष्ट तत्त्वकी सिद्धि कर रहा है और इस घटनाके समय जो उसका अधिक ध्यान इस आत्मस्वरूपकी ओर आ रहा है तो यह तो मेरे धर्ममें भी सहायक बन रहा। प्रायः ऐसा होता है कि जब यह जान लिया कि मेरा मरण निश्चित है। किसी तीव्र रोगमें उपसर्गमें या किसी भी कठिन

स्थितिमें जहाँ यह बोध हो जाता कि मेरा मरण निश्चित है तो थोड़ा भी विवेकी हो तो उसका ध्यान आत्मकल्याणकी ओर हो जाता है। मोह ममतामें नहीं रमता। हाँ कोई अज्ञानी ही है, विशेष मोही है, तो उसके यह बात नहीं आ पाती, किन्तु थोड़ा भी अगर धर्म की साधना रही है तो मरण कालमें उसे धर्मकी ओर आकर्षण होगा। तो यह ज्ञानी उस समय विचार कर रहा है कि यदि यह मेरे प्राण ले रहा है और इस समय मेरी बुद्धि आत्म-स्वभावकी ओर जानेको तैयार हो रही तो यह तो मेरा बड़ा उपकारी है, ऐसा चिन्तन करके कोई प्राणघात भी करे तो भी उस पर क्रोध नहीं करता है, क्योंकि यदि शान्तिभाव पूर्वक मरण होता है तो यह संस्कार, यह लगार जन्म तक पहुंचता है और जैसा संस्कार जन्मके समय रहा वह जीवनमें भी रहता है इस कारण समाधिमरण होना यह जीवका बड़ा उपकारी है।

धर्मे स्थितस्य यदि कोऽपि करोति कष्टं, पापं चिनोति गतबुद्धिरयं बराकः।
एवं विचिंत्य परिकल्पकृतं त्वमुष्य, ज्ञानान्वितेन भवति क्षमितव्यमत्र ॥३४॥

धर्ममें स्थित ज्ञानीपर उपसर्ग करने वाले अज्ञानीपर ज्ञानीका क्षमाभाव—ज्ञानवान पुरुष अपनेको कष्ट पहुचाने वाले पुरुषके प्रति विचार करता है। उस कष्ट पहुचाने वाले मनुष्य को ऐसा समझता है कि भाई मैं तो धर्ममें स्थित हूं। अपने सहज चैतन्यस्वभावके उपयोगमें आ रहा हूँ और यह पुरुष मुझ पर उपसर्ग कर रहा है, किसी कारणसे क्रुद्ध हो रहा है, गाली दे रहा है, तो यह तो पापार्जन कर रहा तो यह कितना उपकारी है कि स्वयं पापका अर्जन करके नारकादिक गतियोंमें जानेकी तैयारी कर रहा है और मुझे धर्ममें लगाकर मेरा उपकार कर रहा है। तो ऐसा उसे उपकारी समझता है। सो ऐसे अपनेपर संसर्ग करने वाले या बिघात करने वाले पुरुष पर क्रोध क्या करना? वह बेचारा स्वयं ही अपने क्रोधसे रह रहा, दुर्गतिमें जा रहा, अब इस बेचारे पर क्या क्रोध करना। ज्ञानीके कैसा विलक्षण ज्ञान है कि अपनेको सताने वाले पुरुष पर भी दया कर रहा कि यह बेचारा बड़ा दुःखी है। कषायके बेग में आ रहा है। अपने आपको नहीं सम्हाल पा रहा है और ऐसा मन, वचन, कायकी खोटी वृत्तिपर उतारू बन गया। यह अपना ही बिगाड़ कर रहा है। तो जो स्वयं अपना महान बिगाड़ कर रहा ऐसे बेचारे अज्ञानीपर क्या क्रोध करना? यह तो भविष्यमें अपने आप महान दुःख भोगनेकी तैयारी कर रहा है। अब क्रोधमें मैं आऊँ और इसका अनिष्ट करूँ याने सोचूं यह तो बिल्कुल निरर्थक है अथवा क्रोध करने वालेने मेरेको सावधान ही किया प्रेम-प्रेमकी बात सुनाने वाले लोग मेरे आत्माको उतना सावधान नहीं कर सकते जितना कि स्पष्ट और दोषकी बात कहने वाले लोग मुझे सावधान बना सकते हैं और फिर जो यह आज मेरे प्राण

ले रहा है तो पहले मैंने ही तो अनर्थ किया था जिससे ऐसा ही कर्मबंध हुआ, जिसके उदयमें आज मुझपर भी यह घटना आ रही है। तो ऐसा सर्वप्रकार पूर्वापर विचार करके ज्ञानी पुरुष दूसरेपर क्रोध नहीं करता।

शप्तोस्मयनेन न हतोस्मि नरेण रोषान्नो मारितोस्मि मरणेपि न धर्मनाशः।
कोपस्तु धर्ममपहंति चिनोति पापं, संचित्य चारुमतिनेति तितिक्षणीयं ॥३५॥

आत्मधर्मानुरूप उपायोंसे ही शान्तिकी संभवता—सब जीवोंको अपनी अपनी शान्ति इष्ट है। जिस किसी भी प्रकार हो मेरे आत्माको शान्ति साता मिले। किसी प्रयोजन से मनुष्य घर बार बसाते हैं, व्यापार करते हैं, मंदिर आते हैं, मुनि बनते हैं। जो कुछ भी चेष्टा पुरुष करते हैं उसका प्रयोजन है कि मेरे आत्माको शान्ति प्राप्त हो। अगर शान्तिका उपाय सच्चा किया जाय तब ही शान्ति हो सकती है। मिथ्या उपायोंसे शान्ति नहीं मिल सकती। वह सच्चा उपाय क्या है इस विज्ञानसे निर्णीत कर लीजिए। मैं क्या हूं और शान्ति नाम किसका है ? इन दो बातोंका सही निर्णय होने पर शान्तिका मार्ग अवश्य मिल जायगा। लोगोंको इन दो बातोंकी सुध नहीं है। मैं क्या हूं इसकी खबर नहीं है तो भले ही धर्मके नाम पर बड़े बड़े विधान पूजन भी करने चलें, पर जिसे उसकी खबर नहीं है वह शान्तिका रास्ता नहीं पा सकता। मैं क्या हूं इसका निर्णय करें बडी समतासे। मैं हूं कोई जानने वाला पदार्थ हूं वह अमूर्त हूं। यदि मैं इन दिखने वाले पदार्थोंकी तरह रूपरस आदिकका पिण्ड होता तो मैं कभी जान न सकता था। जो जानने वाला मैं हूँ सो आकाश की तरह अमूर्त पदार्थ हूँ। कभी यह मैं आत्मा न आँखोंसे दिख सकता, न किसी इन्द्रियसे जाना जा सकता। मैं हूँ, ज्ञानस्वरूप पदार्थ हूँ, जो मैं हूँ स्वयं अकेला वह कष्टरहित है। विकार रहित है। स्वयंमें स्वरूपसे उसमें न कष्ट है, न विकार है, फिर ये कष्ट, ये विकार आये कैसे ? ये कष्टविकार आये तो कर्मोदयका निमित्त पाकर मगर इनकी व्यक्ति हुई है इन्द्रियके विषयभूत इन पदार्थोंमें दिल लगाकर। देखिये बहुत ध्यानसे मनन करना है। कर्मोदय आया, यदि मैं इन विषयभूत पदार्थोंमें उपयोग न फंसाऊं तो विकार व्यक्त न होगा। अन्दर ही प्रतिफलित होकर अव्यक्त रहकर विकार निकल जायेगा। तो अब देखिये कि जो ही बात मेरे दुःखका कारण है उस ही बातमें लोगोंकी उमंग रहती है। उन्हें शान्ति कैसे प्राप्त हो ? इन्द्रियके विषयभूत, मनके विषयभूत इन दिखने वाले पदार्थोंमें उपयोग लगानेसे कष्ट होता है। किन्तु लोग इसी पर ही कमर कसे हुए हैं कि विषयोंको अधिकसे अधिक भोगें। विषयोंके साधनोंको अधिकसे अधिक जुटायें। तो विपरीत उपाय करनेसे कभी शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है।

प्रत्येक परिस्थितियोंमें ज्ञानानन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी प्रतीतिकी आवश्यकता—

यद्यपि यह आवश्यक हो गया गृहस्थीमें रहनेके कारण गृहस्थोंको कि वे मकान भी रखें, आजीविका भी करें, धन भी रखें सब आवश्यक हो गया, मगर उद्देश्य तो यह न रहना चाहिये कि मेरा काम तो केवल धन जोड़ना और दुनियामें वाहवाही लूटें और अपना नाम सबसे ऊपर करें। यदि यह लक्ष्य रहा तो शान्ति कभी नहीं मिल सकती। आवश्यक होनेके कारण गृहस्थीमें व्यापार करना, धन भी रखना यह सब करना पड़ता है, इनके करते हुए भी गृहस्थके योग्य धर्ममें बाधा नहीं आ सकती। अपना लक्ष्य शुद्ध हो तो सारे काम सही बनेंगे, किन्तु जिसने इस जीवनका उद्देश्य यह बनाया हो कि मुझे इस दुनियामें बहुत बड़े नाम वाला बनना है, बहुत बड़ा धनिक बनना है और लोगोंको दिखाना है कि मेरे पास कितने आरामके साधन हैं, ऐसा लक्ष्य करने वाला पुरुष जीवनमें कभी शान्ति नहीं पा सकता। अब जानें कि मैं ज्ञानमात्र हूं, स्वयं आनन्दमय हूँ। मेरे स्वरूपमें विकार नहीं है। कष्टका यहाँ कोई काम ही नहीं है। अब रही यह बात कि पहले बांधे हुए कर्म उदयमें आ रहे हैं तो अब मैं क्या करूँ? आ रहे हैं उदयमें तो आप यह करिये कि जगतमें इन सारे पदार्थोंको असार जानकर भिन्न जानकर इनमें मेरा कुछ नहीं रखा, ऐसा समझकर इन सब पदार्थोंका मोह छोड़ दीजिए और अपने ज्ञानस्वरूप आत्माकी भक्तिमें लगिए। सारे कार्य आपके सिद्ध हो जायेंगे। तो शान्ति अपने आपमें है, आत्मदृष्टिकी आवश्यकता है। सच्चा ज्ञानप्रकाश चाहिये फिर इस आत्माका नियमसे उद्धार है।

गाली गलौज एवं ताडना होनेपर भी ज्ञानीका क्षमागर्भित चिन्तन—इस अनन्त आनन्दस्वरूप आत्माकी रक्षाके लिए हमें बाहरमें कोई भी उपद्रव आयें, सबको हँस करके सह लेना चाहिये, क्योंकि बाहरकी बातें क्या हैं? बाहरी परिणतियाँ हैं। किसी पुरुषने गाली दी तो उसने मेरा क्या बिगाड़ दिया? ध्यानसे तो सोचें, वह पुरुष ऐसे ही कर्मोंसे घिरा हुआ है, उसके इस ही प्रकारकी कषायोंका उदय चल रहा है उसका निमित्त पाकर ऐसा बोल निकल पड़ा है, ये सब बाहरी बातें हैं। ये सब परपदार्थोंमें हुई घटनायें हैं। उनसे मेरेमें क्या बिगाड़? मैं तो सहज आनन्दस्वरूप ज्ञानमात्र परमात्म पदार्थ हूँ। सो इस निज परमात्मदेवकी रक्षाके लिए बाहरमें कुछ भी बीते उसकी उपेक्षा करना और कोई कष्ट दे उसे भी सहन करना और इसके साथ ही साथ कष्ट देने वाले पर क्षमाभाव रखना यह इतना बड़ा काम किसलिए करना है कि मेरे सहज परमात्मस्वरूपकी रक्षा रहे। क्योंकि मैंने इस परमात्मतत्वका घात किया तो मेरा सब बिगड़ गया। ऐसा ही विवेक रखने वाले ज्ञानी पुरुष चिन्तन करते हैं कि यदि इस मनुष्यने क्रोधके आधीन होकर मुझे गाली दी है तो उसने क्या किया? उसने तो अपने आपका परिणमन किया और वह परिणमन दूर दूर

ही रहा। उसने मुझे मारा तो नहीं कदाचित कोई पुरुष मुझे पीट दे तो आखिर मेरा कषाय भाव मेरी ऐसी चेष्टा सब कुछ हुई उसका शरीरपर ही संयोग रहा, मेरे प्राणका घात तो नहीं किया। संयमका साधनभूत यह शरीर यह जीवन अभी इसने लिया तो नहीं। क्या इस पर क्रोध करना ?

प्राणघात होनेपर भी ज्ञानीका क्षमामंडितचिन्तन एवं कोपका दुष्परिणाम—कदाचित् वह प्राणघातपर भी उतारू हो जाय तो जो आतमहितका अभिलाषी ज्ञानी पुरुष है वह चिन्तन करता है कि इसने प्राण ही तो लिया, मेरा और कुछ तो नहीं लिया। मेरेमें जो मेरा स्वरूप है उस स्वरूपको कोई ले ही नहीं सकता। ज्ञान और आनन्द मेरा स्वभाव है, इस स्वभावको तो नहीं हरा। यह तो मुझे प्राणोंसे भी प्यारा है। वह तो बराबर सुरक्षित है, जो होता हो बाहर सो होने दो। ऐसे समयमें यदि मैं क्रोध कर गया तो मेरा धर्म नष्ट हो जायगा, मेरे परमात्म स्वरूपका घात हो जायगा, पापका आश्रव होगा। उनके उदयकालमें मेरेपर विपत्तियाँ आयेंगी। बाहरमें किसीकी कुछ भी परिणति हो, मुझे क्रोध नही करना है, यह चिन्तन चलता है ज्ञानीका। यहाँ एक बात और समझना कि गृहस्थोंसे उतनी उत्तम क्षमा नहीं निभ पाती, मगर यह भावना तो करें, चिन्तन तो हो और इसी कारण चूँकि वह गृहस्थ है सो उसके संकल्पी हिंसाका त्याग कहा है। उसे क्रोध भी आता है मगर गृहस्थ का क्रोध अज्ञानभरा क्रोध नही रहता। केवल अपने बचावके वास्ते ही क्रोध आया है, उस दूसरेको बरबाद करनेके लिए क्रोध नहीं आया, इतनी ज्ञानी गृहस्थकी सावधानी रहती है, पर उपदेश तो सबके लिए दिया गया है। मुनि जनोंके लिए तो खासकर ही ग्रन्थ बने हुए हैं। तो ज्ञानीका यह चिन्तन बताया है कि दूसरे लोग चाहे कैसी ही परिणति करें मगर वह बाह्य परिणति है। उससे मेरे स्वरूपमें कुछ घात नहीं है, इस कारण किसी भी दशामें क्रोध भाव न लाना चाहिये।

दुःखार्जितं खलगतं वलभीकृतं च, धान्यं यथा दहति वह्निकणः प्रविष्टः।
जानाविधव्रतदयानियमोपवासै रोषोऽर्जितं भवभृतां पुरुपुण्यराशिं ॥३६॥

कोपाग्नि द्वारा पुण्यराशिका दहन—क्रोध ऐसी विकट ज्वाला है कि जिस पुरुषमें यह क्रोध चाण्डाल उमड़ आया तो उसके सारे जीवनकी साधना, व्रत, नियम, उपवास आदिक ये सबके सब क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं। जैसे खेती करने वाले पुरुषने कितना ही परिश्रम किया खेतमें। सब साधन जुटाये, खेत जोता, उसे और ठीक बनाया, बीज बोया, पानी उसमें प्रवाहित किया, उसकी घास भी उखाड़कर निराई की, बराबर पानी सींचा, फसल काटकर खलिहानमें रखा। यहाँ तक कितना समय लग गया, कितना परिश्रम लग गया और वहाँ

कोई अग्निका कण उस अनाजके ढेरपर पड़ जाय तो साराका सारा ढेर तत्काल भस्म हो जाता है। देखिये—कई महीनेका तो परिश्रम और कितना उसपर खर्च किया, कैसे कैसे आशय बनाया और किसी क्षण असावधानीसे अग्निका एक भी कण उसपर गिर जाय, मानो कोई किसान बीड़ी पीता है और वह जलती हुई गिर जाय तो कुछ ही मिनटमें वह साराका सारा उपार्जित किया हुआ अनाज भस्म हो जाता है। ऐसे ही अपने आपके बारेमें भी सोचिये—खूब पढ़ लिख करके तत्त्वज्ञान किया, दसों वर्ष उसमें लगाया, व्रत, नियम, उपवास आदिक भी किया, बड़े-बड़े तपश्चरण भी किया जिसके प्रसाद यह आत्मा अपने प्रभुके निकट आ सक रहा है। सारे जीवनभर खूब शुभ परिणाम किया, बड़ा पुण्य समूह संचित होनेपर किसी क्षण तीव्र क्रोध आ जाय तो सारे जीवनका संचित किया हुआ वह पुण्य क्षण भरमें नष्ट हो जाता है।

क्रोधकी अकल्याणकारिता—अज्ञानवश जरा-जरा सी घटनाओंमें क्रोध जगने लगता है। घटना भी क्या ? इतने लोगोंके सामने मेरेको यह इस तरह बोल रहा है। बस यह सोचा, क्रोध उमड़ आया, लेकिन जिन लोगोंके सामने बोल रहा है वे लोग मायामय है परमार्थ नहीं हैं। मेरी ही तरह जन्ममरण कर दुःख सहने वाले लोग हैं। जैसे मैं मरण कर जाऊंगा वैसे ही ये सब भी मरण कर जायेंगे। इसने यदि एक माया प्रसंगमें कुछ सुन रखा उसके खिलाफ इसने मेरे आत्माका क्या बिगाड़ किया ? यह ध्यानमें नहीं रहता और गाली देने वाले के प्रति या सही कहने वालेके प्रति जो दोष बोल रहा है क्रोध उमड़ आता मगर वह क्षण भरका क्रोध कई वर्षोंकी साधनाको नष्ट कर देता है, इस कारण क्रोधसे बहुत दूर रहना चाहिये। फिर क्रोधसे मिलता भी कुछ नहीं है। क्षमा करनेमें तो बहुतसे लाभ हैं मगर क्रोध करनेमें कोई लाभ नहीं। चाहे उसका प्रयोग घरमें कर लें, समाजमें कर लें। किसी जगह देखलो क्रोधसे लाभ नहीं है। कोई पुरुष अयोग्य कार्य कर रहा हो तो उसको क्षमाशील होकर भी समझाया जा सकता है। और ऐसा समझानेमें उस पर असर भी पड़ सकता है, पर क्रोध करके कोई समझाये तो उस समझानेका भी कोई प्रभाव नहीं होता। जीवनमें यह गुण जिसके आ जाता है उसका जीवन धन्य हो जाता है।

कोपेन यः परममीप्सति हंतुमज्ञो, नाशं स एव लभते शरभो ध्वनंतं।
मेघं लिलंघिषुरिवान्यजनो न किंचिच्छक्नोति कर्तुमिति कोपवता न भाव्यं ॥३७॥

दूसरेके घातके अभिलाषीका स्वयं निश्चित विघात—जो अज्ञानी पुरुष क्रोधके वश होकर दूसरे जीवोंको मारना चाहता है उसका विघात तो हो ही गया। अब उस दूसरेका घात हो अथवा न हो, जैसे अष्टापद एक भयंकर पशु होता है, वह क्रूर होता है। क्रोधी

होता है, कभी वह मेघकी तीव्र गर्जना सुनले और उसे मेघपर क्रोध आ जाय और वह ऐसा प्रयत्न करे कि मैं उछल कर इस मेघको पटक दूं और वह बहुत तेज उछल जाय तो गिर कर उसका ही तो घात होगा। मेघका उससे कुछ बिगाड़ न होगा। कोई पुरुष हाथमें अग्नि लेकर दूसरेको मारना चाहे, फेंके तो पहले खुदका हाथ तो जल ही जायगा, अब दूसरे का उदय है कि उसके वह अग्नि लगे अथवा न लगे। उससे वह जले अथवा न जले। तो ऐसे ही क्रोध करने वाला पुरुष क्रोधअग्नि द्वारा अपने गुणोंको भस्म कर डालता है और उसमें सहज ज्ञानस्वरूपका घात हो जाता है। विकार जगने लगता है। अब जिसपर क्रोध किया उसका बिगाड़ हो अथवा न हो। धवल सेठने श्रीपालकी पत्नीपर आसक्त होकर श्री पालको समुद्रमें गिरा दिया। अब सेठ जान चुका था कि यह अवश्य मरेगा और मैं निर्बाध होकर अपनी अभिलाषा पूरी करूंगा। उसके जाननेमें कोई मारनेकी कसर न रही। तो धवल सेठने खोटा भाव किया और उसको सिद्धि भी न मिली पर यहां श्रीपाल कोई लकड़ीके सहारे समुद्र पार हो गया, समुद्रके एक किनारे लग गया। कोई किसीको कितना ही मारना चाहे, उसका उदय है मरनेका तो मरेगा नहीं तो न मरेगा। श्रीकृष्ण नारायणके पुत्र प्रद्युम्नको जो कि काल संवरके यहां पला पुषा था, काल संवरकी स्त्रीने हो जिसको कालसंवरने बेटेकी तरह प्रद्युम्नको सौंपा था। जब वह बेटा जवान हुआ। पेटका जाया न था, लाया हुआ था। तो उस रानीकी भावना बिगड़ गई और सोचा कि इसके साथ विषय भोगूं पर यहां बात कहां बनती थी? उसने बहुत उपद्रव किया। यहां तक क्रोध आया कि उसके मारनेके उपाय बनाया। अन्य लड़कोंने अनेक प्रयत्न किया मारनेके पर जहां जहां मारने का यत्न किया वहीसे उसे सिद्धियां मिली। कोई किसी दूसरेका बिगाड़ करनेमें समर्थ है क्या? क्यों भाव बिगाड़ा जाय? सर्व जीव सुखी हो, यह ही भावना चित्तमें आनी चाहिए। भैया, अपनी सम्हाल कीजिये, दूसरेका क्या विचारना? जो अज्ञानी पुरुष क्रोधके वश होकर दूसरेको मारना चाह रहा है उल्टा उसका ही घात होता है। तो अपने आपके परमात्मदेवकी रक्षाके लिए अपनेको सर्व कुछ सहना मंजूर होना चाहिए और गुणोंमें क्षमा बढ़नी चाहिए। आत्माके स्वरूपका ज्ञान कर उसकी भक्तिमें बढ़ना चाहिए। यही एक उपाय है उपने आपके उद्धारका, शान्ति पानेका। जिस घरमें आप बस रहे हैं न यह आपका घर सदा रहेगा, न कुटुम्ब सदा रहेगा, न यह देह रहेगा, न यह नगर आपके लिए रहेगा। मरण करनेपर इस ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें न जाने कहां-कहां जन्मेंगे, मरेंगे। आज सुयोगसे मनुष्यभव पाया है तो किसलिए पाया है? क्या इन्द्रिय विषयोंको भोगते रहनेके लिए ही पाया है? भोगोंसे आखिर आत्महित क्या हो जायगा? खूब दिलसे सोचिये।

घरकुटुम्बका अर्थ गुजारा कमेटी—घर और कुटुम्बके बारेमें निर्णयपर पहुचें कि घर मायने है गुजारा कमेटी है। घर मायने है गुजारा, कुटुम्ब मायने है कमेटी। घर कुटुम्ब याने गुजारा कमेटी। गृहस्थी एक संस्था है जिसमें ५-७-१० सदस्य हैं और उस संस्थाका उद्देश्य है कि सबके प्राणोंकी रक्षा रहे और जीवनमें आत्मज्ञान पाकर, आत्मभक्ति करके आत्मकल्याण पायें। अब इस गुजारा कमेटीका उद्देश्य यह है। जैसे कमेटीमें कोई अध्यक्ष है, कोई मंत्री है, कोई कोषाध्यक्ष है, कोई व्यवस्थापक है, ऐसे ही इस गुजारा कमेटीमें बिना चुने अपने आप जो घरका मुखिया है वह अध्यक्ष है। जो उसका सलाहकार है—स्त्री हो, बड़ा लड़का हो, वह उसका मंत्री है। जिसके पास पैसा रखनेकी व्यवस्थाकी है, रोकड़ रखे, खर्च करे वह आपकी गुजारा कमेटीका कोषाध्यक्ष है। जो रसोई बनाये, व्यवस्था करे, सफाई करे, सब चीजोंकी व्यवस्था बनाये या आजीविकाके कामोंमें मददगार हो वह व्यस्थापक है। घर क्या है ? एक गुजारा कमेटी है। इस कमेटीमें रहकर तो गुजारा भर करना है, और उद्देश्य एक यही रहे कि मैं अपने स्वरूपका ज्ञान करूँ और उसमें ही मग्न होऊँ। रत होऊँ और इस निर्विकल्प समाधिके बलसे मैं मोक्षमार्गमें बढ़ूं। अभी इतना ही सब कुछ करनेका नहीं सोचना है। इसके आगे भी सोचना है। गुजारा कमेटीमें जब तक मुझे गुजारा करनेकी जरूरत है तब तक गुजारा कर रहा हूं। जब मैं समझूंगा कि मैं इस योग्य हूँ कि इस गुजारा कमेटीका सहारा लेनेकी जरूरत नहीं है तो मैं सर्वपरिग्रहोंका त्याग करके एकाकी रहकर अपना आत्महित करूँगा, ऐसा भाव है इस ज्ञानी गृहस्थका। तो अपने जीवनको ऐसा ढालिये, ऐसा मोड़िये कि बाहरकी वासनाकी दुर्गन्ध न रहना चाहिए आत्मामें। करना पड़ रहा है सब कुछ मगर वासनाकी दुर्गन्ध न रहेगी तो आपका यह करना भी निर्जराका कारण बनता है। सत्य ज्ञानप्रकाश पानेमें कितना लाभ है कि जो काम आप कर रहे हैं दुकानका घरका, रसोईका सबका यह ही काम आपकी निर्जराका कारण बनें यदि ज्ञानप्रकाश चित्त में है। आत्मामें है तो, और ज्ञानप्रकाश नहीं है तो आपके ये धर्मके कार्य भी आपके कर्मबन्धके कारण बन जायेंगे। आत्मज्ञान कितना आवश्यक है ? यदि आत्मज्ञान सहित धर्मके कार्य बने तब देखिये उसका आनन्द। प्रभुके गुणोंमें अनुराग होना, अपने सहज आत्मस्वरूपकी दृष्टि होना, इसका जो आनन्द है वह अलौकिक आनन्द है। सो ज्ञानार्जनके विधानसे उस आनन्दको पानेका प्रयत्न कीजिये, इसीमें मनुष्यजीवनकी सफलता है।

कोपः करोति पितृमातृसुहृज्जनानामप्यप्रियत्वमुपकारिजनापकारं।
देहक्षयं प्रकृतकार्यविनाशनं च मत्वेति कोपवशिनो न भवंति भव्याः ॥३८॥

क्षमा, शान्ति और आनन्द जीवस्वभावकी वृत्ति—जिसे जीव चाहता है वही जीवके

स्वरूपमें है, जीव चाहता है आनन्द और आनन्द ही मेरा स्वरूप है, यह चाहता है कि खूब ज्ञान बढ़े और ज्ञान ही इसका स्वरूप है, पर यह तो बतलावो कि वही तो स्वरूप है और वही मैं चाहता हूं और फिर भी नहीं हो पाता, इसका क्या कारण है ? इसका कारण यह है कि जिस ढंगसे स्वरूप है उस ढंगसे हम स्वरूपको नहीं जान पा रहे सो चाह रहे हैं स्वरूप-विकासकी ही बात मगर और और ढंगकी चाह रहे। स्वरूप है और ढंगमें और ज्ञान चाहता है बाहरी पदार्थोंका ज्ञान, पर पदार्थका ज्ञान। कौन पदार्थ कैसा है, किस ढंगमें है ऐसा ज्ञान चाह रहे, आनन्द चाह रहे तो इन्द्रिय विषयोंका सुख चाह रहे। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, मन इनके विषयोंका सुख मिले, यश हो, कीर्ति हो, नाम हो, लोग मुझे ऐसा कहें, ऐसा तो मनके आनन्दको चाहते। अच्छे शब्द मिलें। प्रेमके शब्द मिलें, राग रागनीके शब्द मिलें, विषयोंमें उमंग दिलायें ऐसे शब्द मिलें, यों शब्दोंको सुनना चाहते हैं। अच्छा रूप मिले जो प्रिय लगना है। अच्छी गंध हो, अच्छा रस मिले, अच्छा स्पर्श हो, इस प्रकारके सुखको चाहते हैं। तो जैसे ज्ञान और सुखको चाहते हैं वह ज्ञान और वह सुख आत्माका स्वरूप नहीं। आत्माका स्वरूप तो सहज ज्ञानप्रतिभास केवल जानन रहे, उसके साथ कोई विकार न हो, ऐसा शुद्ध ज्ञान, यह ही स्वरूप है आत्माका। इसको चाहें तो क्यों न प्रकट होगा ? निराकुलता, परम आल्हाद, जिसमें किसी प्रकारका विकल्प नहीं, केवल शुद्धआनन्द यह है अपना स्वरूप मगर चाहते हैं क्षोभसे भरा हुआ विषयोंका सुख तो उल्टी चाह कर रहा है इस कारणसे ज्ञान और आनन्द प्रकट नहीं हो पाता। तो ज्ञानानन्द स्वरूप निज अंतस्तत्त्वकी दृष्टि बने, यह बात बनती है तत्त्वज्ञानमें और समताभावमें जहाँ क्षमाभाव बने क्षमा एक ऐसा प्रधान गुण है कि जिसके आधार पर सभी गुण शोभायमान होंगे। दशलक्षण धर्ममें दस धर्मोंमें सबसे पहले क्षमा कहा है, क्योंकि वह सब गुणोंका आधार है। क्षमा होगी तो गुणोंका विकास होगा। क्षमा भी आत्माके स्वभावकी वृत्ति है।

क्रोधमें स्वजनोंकी भी अप्रियता—जहाँ समता है और अलौकिक आनन्दका अनुभव है, ऐसी क्षमा जब नहीं होती तो उसके एवजमें क्रोधभाव रहता है तो उस क्रोधके कारण अपने कुटुम्बमें भी प्रेम नहीं रहता, पिताका भी प्रेम हट जाता है। पिता यदि क्रोध करे तो यद्यपि उस पिताने बच्चेका पालन पोषण किया, बड़ा किया, पर क्रोध अगर करे पिता पुत्रको तो पिता पुत्र दोनोंके चित्तमें, दोनोंकी कदर नहीं रहती। क्रोध ऐसा बैरी है, इसी तरह माता आदि क्रोध करे तो वहाँ भी परस्पर प्रेम नहीं रहता। क्रोधी सारे गुण भूल जाता, कृतज्ञता सब नष्ट हो जाती एक क्रोध भावके जगनेसे। जो क्रोध करे उसपर क्षमा भावका असर नहीं रहता। क्रोध ऐसी भयंकर ज्वाला है कि जिसमें जीव बेचैन हो जाता है, उस क्रोधीके पास

जो भी बैठे वह भी अपना चैन खो देता है। ऐसी क्रोधकषायको समूल दूर करनेका उपाय क्रोध रहित आत्माके चैतन्यस्वभावकी दृष्टि है। चिन्तन करना चाहिए कि मेरा कौन सा काम अट का है दुनियामें जिसके लिए क्रोध करूँ और अपने आपके गुणोंको भस्म करूँ। तो मेरा कोई काम नहीं अटका, ये सब ख्याल हैं कि धन वैभव बढ़ेगा तो मेरा महत्व बढ़ेगा या राष्ट्रमें नेतागिरी बनेगी तो मेरा महत्व बनेगा। एक बार महत्व बन जाय लोगोंकी दृष्टिमें, लेकिन उस कल्पित महत्वके पा लेने पर रात दिन व्याकुलता रहती है, यह कभी नष्ट न हो जाय। जो कभी प्रधानमंत्री था, अब न रहा और उसके थी तृष्णा और इच्छा तो अपमानसे बेचैन है। जगतमें कोई काम ऐसा नहीं है जो आत्माके कर्तव्यमें शामिल हो। हाँ करने पड़ते हैं गृहस्थीकी परिस्थितिमें धन भी कमाना पड़ता, अनेक कार्य भी करने पड़ते, पर ये करने पड़ रहे हैं ऐसा ध्यानमें रखें, ये आत्माके कर्तव्य नहीं हैं। आत्माका कर्तव्य तो अपने सहज ज्ञान स्वरूपको निरखना और उस निरखनेमें ही तृप्त रहना यह काम यदि बन सके तो श्रामण्य मिलेगा, अरहंत पद मिलेगा और सिद्ध भी बन जायेंगे। जीवनमें ध्येय एक ही होना चाहिए कि मैं सिद्ध हो सकूँ। वह उपाय करना है, बाकी समग्र उपाय केवल धोखा है अपने लिए संसारमें रुलानेका कारण है।

उपकारीजनोंका अपकार आत्मघात कार्यविनाश आदिकी क्रोधमें संभवता—जब जगतमें कोई भी घटना कोई भी काम, कोई भी पदार्थ मेरे हितका साधक नहीं है तो फिर मैं किसलिए क्रोध करूँ? जो भव्य विचार सहित है वह समझता है कि क्रोध करनेसे माता पिता भाई बहिन मित्रजन इन लोगोंका भी प्रेम हट जाता है। कितना ही सगा मित्र हो, कुटुम्बका हो, घरका हो और बात जाने दीजिए, पति पत्नी भी हो और कोई क्रोध करता ही रहे तो दूसरेका प्रेम भी नहीं रह सकता, और जहाँ घरमें रहना पड़ रहा और प्रीति परस्पर नहीं है तो वह घरमें रहनेका अर्थ क्या है? उससे तो बन अच्छा है। जिस घरमें रह रहे हों उस घरमें यदि परस्परमें प्रीति न हो और एकका दूसरके प्रति घृणा और द्वेष हो वह घर तो क्या, वह तो दुर्दशाकी चीज है। तो जीवनमें एक यह साधना बनायें कि किसी भी स्थितिमें मेरेको क्रोध उत्पन्न न हो। मान लो कोई घटना ऐसी भी बने कि जो अनुचित है, अन्याय की भी है, लेकिन उस समय भी क्रोध करनेसे लाभ क्या है? बुद्धि और बिगड़ जाती है। तब जो करने योग्य कार्य है वह नहीं कर पाता है। इससे क्षमा स्वभावका ध्यान रखते हुए क्रोध भावको दूर करनेका ही ध्यान रखना चाहिये। क्रोध करनेसे जो अपना उपकारी भी हो उसका भी ये अपकार कर बैठते हैं। किसीने मेरा कितना ही भला किया हो, पर मेरेको क्रोध जग जाय तो उसके भले कामका कोई ध्यान न रहेगा और उसके प्रतिकूल चलना, उसका

विघात करना यह ही चित्तमें रहेगा। तो क्रोध भाव करनेसे लोगोंका भी अहित याने अपकार बन जाता है।

क्रोधकी महती अनर्थकारिता—कोई समर्थ आदमी क्रोधमें आ जाय तो कितना अनर्थ कर डालता, असमर्थ आदमी क्रोधमें आ जाय तो उसमें इस समय तो सामर्थ्य नहीं है कि दूसरेका अनर्थ करे पर निरन्तर इस धुनमें रहता तो अपना अनर्थ करता, और कभी मौका पाता तो दूसरेका भी अनर्थ करता। एक पौराणिक घटना बताया है कि एक राजा जिसके राज्यमें दण्डक बन भी था, वह मुनियोंका बहुत भक्त था, किन्तु उसके मंत्री मुनियोंके विरोधी थे। जब राजा बंदनाको गया तो मंत्रियोंको भी साथ जाना पड़ा। वे मंत्री भीतरमे बड़ा कषायभाव रखे थे और कोई घटना भी हुई कि जिससे मुनियोंका अपमान भी हुआ, तो उन्होंने सोचा कि क्या उपाय रचा कि एक भाँड़को बहुत सा लालच दे करके सिखा दिया कि तुम मुनि बनकर पिछी कमण्डल भी कहींसे लेकर रानीके महलमें पहुंचो और उससे कुछ रागवचन बोलने लगो, तो उस भाँड़ने वैसा ही किया, उसी समय राजासे उन मंत्रियोंने बताया कि आप जिनकी भक्तिमें रहते हैं उनका चरित्र भी जानते, बड़ा खोटा होता है और फिर दिखा दिया कि देखो वह मुनि आपकी रानीके पास पहुंचकर किस प्रकारका वचन व्यवहार कर रहा है। अब उस राजाको विवेक न रहा और उसे एकदम क्रोध आ गया और उसने उस दण्डक बनमें ठहरे हुए सारे मुनियोंको कोल्हूमें पिलवा दिया। देखिये जब किसीको क्रोध जगता है तो उसके कुछ विचार नहीं रहता कुछ भी सोचता, कुछ बात करता, मगर क्रोधमें तो विवेक सब खतम हो जाता है। तो जीवनमें एक अपनी साधना यह होना चाहिए कि अपनेमें क्षमाका भाव रहे। उससे लौकिक काम भी सही सिद्ध होते हैं और पारलौकिक धार्मिक कार्य भी सही सिद्ध होते हैं। क्रोधी पुरुषोंको देखा होगा करीब करीब दुर्बल कृश रहा करते हैं। तो मालूम होता कि क्रोध एक ऐसी ज्वाला है कि जिसका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। अब जिसका इतना प्रभाव शरीर पर पड़े उसका आत्मापर कितना प्रभाव पड़ता होगा इसका भी कुछ अनुमान कर सकते हैं। क्रोध भावमें संयम, व्रत, तप, नियम, विवेक, बुद्धि सब खतम हो जाते हैं। कोई सा भी काम बहुत दिनों तक मिल जुल कर सुधार रहे हैं और किसी समय क्रोधका वेग आ जाय तो प्रारम्भ किया हुआ काम, सुधारा हुआ काम भी नष्ट हो जाता है। तो यह सुभाषित रत्नसंदोह नामका ग्रन्थ है इसमें क्रोध कषायके निवारणके प्रकरणमें आचार्यदेव कह रहे कि क्रोधभाव आत्माका लौकिक भी बिगाड़ करता और पारलौकिक भी बिगाड़ करता है।

तीर्थाभिषेकजपहोमदयोपवासा, ध्यानव्रताध्ययनसंयमदानपूजाः ।
नेदृक्फलं जगति देहवतां ददंते, यादृग्दमो निखिलकालहितो ददाति ॥३६॥

क्षमाका तीर्थाभिषेकादिसे भी अधिक गुणकारिपना—क्षमाभाव स्वयं पुण्यका भण्डार बना देता है । जिसके क्षमा नहीं है वह धर्मके कितने भी कार्य करे तीर्थयात्रा आदिक मगर वे कार्य सफल नहीं हो पाते । क्योंकि इसके क्रोधकी प्रकृति बनी है । प्रायोगिक रूप देखो, कोई यदि भगवानके सामने खड़े होकर पूजा पाठ करे और जरा जरा सी बात पर माली या किसी नौकर पर क्रोध करता हो तो बतावो उसका वह पूजा पाठ कार्यकारी है क्या ? भले ही मुखसे छंद पढ़े मगर भीतर जब क्रोध कषायसे भरा आशय है तो वहाँ पूजा पाठका रंच भी भाव नहीं आ सकता । अनेक पुरुष तीर्थयात्रा करते हैं, कुटुम्बीजन साथ हैं, पड़ोसी भी साथ हैं । यात्रा कर रहे हैं, अनेक यात्रा कर चुके, अनेक अभी करेंगे मगर रास्ते भर क्रोध ही क्रोध बरसता रहे तो फिर बताओ वह तीर्थयात्रा कुछ फलवान हो सकती है क्या ? शान्तिसे समतासे क्षमाभाव रखकर प्रभुके गुणोंका स्मरण करता हुआ यात्रा करता तो वह तीर्थयात्रा थी मगर क्रोधभावमें उस तीर्थ यात्रा पर जिसमें श्रम किया, समय लगाया खर्च हुआ मगर बेकार कर दिया । जितना पुण्य लाभ एक क्षमाभावमें है वह पुण्यलाभ तीर्थयात्रा आदिक कार्योंमें भी नहीं हो पाता, ऐसा क्षमाका महत्त्व जानना । जो सभी देश, सभी-काल, सभी क्षेत्रोंमें हित करने वाला है ऐसा क्षमाभाव धारण करें उसमें अद्भुत फल प्राप्त होता है । वैसा फल तो बड़ी बड़ी तीर्थयात्रावोंमें भी नहीं प्राप्त हो सकता । यदि वह क्रोधी बना हुआ तीर्थयात्रायें कर रहा है तो । जिनेन्द्रभगवानका अभिषेक कर रहा, पूजा कर रहा और बात बातमें निरन्तर क्रोधभाव आता है तो उसका कोई फल नहीं ।

पूजकके योग्य भावोंकी व्यञ्जना—पूजा करते समय मनुष्यका ऐसा भाव रहना चाहिये कि सर्व जीव अपने समान नजर आयें । वहाँ जो नौकर हो या माली हो उसके प्रति भी असभ्यवचन, निरादरके वचन, ये प्रयोगमें न आने चाहिए । जैसे कि किसी किसीकी आदत होती है कि पूजा करते जा रहे और मालीको अबे तबे कहते जा रहे, अबे तूने आग क्यों जलाया मुझे धूप खेना है—वहाँ पूजा कहाँ रही ? छोटेसे छोटे पुरुष पर अपने समान भाव होना चाहिए तब तो पूजाका चित्त रहेगा नहीं तो नहीं रह सकता । कौन नौकर कौन मालिक ? स्वरूपको देखें और खासकर ऐसे समयमें जहाँ स्वरूपको दृष्टिमें लेनेका काम कर रहे, पूजाका अर्थ ही क्या है ? आत्मस्वरूपकी दृष्टि बनाना, बस यह ही पूजाका प्रयोजन है । तब ही तो कहते हैं कि हे प्रभो ! तुम्हारे चरण मेरे हृदयमें रहें, मेरा हृदय तुम्हारे चरणोंमें रहे जब तक कि मोक्षपदकी प्राप्ति न हो । अब इन शब्दोंको कोई दूसरा सुने तो क्या कहेगा

कि यह कैसा भक्त है कि भगवानसे यह कह रहा कि जब तक मुझे मोक्ष न मिले तब तक मेरी आपमें भक्ति रहे। मगर यह तत्व ज्ञानी है। वह जानता है कि मोक्षपद प्राप्त हो तो फिर न कोई पूज्य और न कोई पूजक। केवल निजआनन्दरसलीन की दशा रहती इसी लिए कह रहा ऐसा। यदि ऐसा कोई सोचे कि हे प्रभो मैं भव भवमें हमेशा आपका पुजारी रहूँ तो उसके अभी अज्ञान बसा हुआ है। क्या यह हमेशा संसारी जीव ही रहना चाहता? यदि संसारी बनकर रहेगा तब तो पुजारी कहलायेगा। पुजारी जरूर है मगर पुजारी ही अनन्तकाल तक बना रहे भव भवमें यह तो मोह और मिथ्यात्वकी बात है। यदि कोई पुरुष भगवानकी पूजा कर रहा, अभिषेक कर रहा और उस समय क्रोधभाव कर रहा सेवक पर साथीपर तो उसका यह सब करना बिल्कुल व्यर्थ है।

क्षमाभावकी जप तप आदिसे भी अधिक गुणकारिता—कोई तपश्चरण करता, बड़ा तप करता, बहुत-बहुत उपवास करता, गर्मी सर्दी को समतासे सहता, अनेक प्रकारके तपश्चरण करता हुआ भी वह पुरुष यदि क्रोध स्वभाव वाला है तो उसका तपश्चरण व्यर्थ है। दया, उपवास, ध्यान, व्रत आदि ये सभी कार्य हैं तो भले मगर इनको कर रहा पुरुष क्रोधी बन रहा, क्रोध कर रहा तो उसका वे सब कार्य करना व्यर्थ है। इनसे कोई फल प्राप्त नहीं होता। एक क्रोधने इसकी सारी साधना बिगाड़ दी। अपमानका कारण है क्रोध। क्रोध करनेमें ऐसी अटपट चेष्टा हो जाती। ऐसे अटपट वचन निकल जाते, आखिर इसका ही अपमान होता है। कोई पुरुष व्रतका तो पालन करे, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण, परिग्रह त्याग, इन्द्रिय विषयोंका त्याग, सर्वप्रकारसे तो साधना बनाये, मगर क्रोध करे तो उस क्रोधका कारण है घमंड। धार्मिक कार्योंको करते हुए भी जिन बंधुवोंको क्रोध आता रहता है तो उसका कारण है घमंड। अपने आपमें यह बुद्धि बनी है कि मैं उच्च हूँ। बड़ा हूँ। ये सब छोटे हैं, ऐसी स्थितिमें क्रोधके अवसर आते हैं।

सर्व जीवोंको स्वस्वरूप सम माननेका प्रभाव—अपनी यह पद्धति बनाइये कि जब धर्मकार्योंमें लग रहे हो मंदिरके, पूजाके कोई भी धार्मिक प्रसंगमें हैं उस समय सबको अपने समान मानना, किसीको भी अपनेसे छोटा न मानना, अगर यह गुण नहीं आता तो वह धर्म नहीं कर सकता। बड़े बड़े कार्य कर लिये जायें धर्मके और भीतरमें अगर यह भाव है कि मैं सबसे अच्छा हूं, ये लोग मेरे सामने कुछ नहीं जानते, करते, इस तरहकी अगर दृष्टि ही बन जाय तो बस वह धर्मसे च्युत हो गया। कहाँ तो सभी समय सभी जीवोंको अपने स्वरूपके समान समझना चाहिए, मानलो कभी इस बातसे चूक भी जायें तो धार्मिक कार्य करनेके समय तो रंच भी न चूकना चाहिए। बल्कि यह मानना चाहिये कि यह मुझसे

महान है। कोई बता सकता क्या कि कौन महान और कौन छोटा ? किसीके भावकी परख कोई कर सकता है क्या ? जहां बताया है समंतभद्राचार्यने कि अगर निर्मोह गृहस्थ है तो वह मोक्षमार्गमें स्थित है, पर मोही मुनि हो तो वह मोक्षमार्गमें स्थित नहीं और वह गृहस्थोंसे भी हल्का है। तब किसीके दिलकी बात कोई जान सकता है क्या ? धर्मके प्रसंगमें यहां सभी लोग आये हैं सभी अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार धर्मकार्य कर रहे हैं, कहो बहुत बहुत धर्मका व्यापार करने वाला भी इतना विशुद्ध न हो सके जितना कि एक छोटासे छोटा व्यक्ति विशुद्ध भावों वाला हो जाय। तो यहां न कोई महान न कोई छोटा। धार्मिक प्रसंग में सबको एक समान समझना है। सब मेरे समान हैं, मुझसे बड़े हैं। एक भीतरी भावकी बात है। चाहे ऊपर कुछ भी वृत्ति हो, होता ही है ऐसा कि बड़े समूहमें बड़ेको आगे बैठा देते हैं, पर बड़ेका हृदय इतना निर्मल होता है कि उसे बैठना पड़ता है, स्थिति ऐसी है, मगर उनके चित्तमें कोई पुरुष छोटा नहीं है। वे सबको अपने स्वरूपके समान निरखते हैं। ऐसा परिणाम हो तो धार्मिक काम करते हुए पुण्यबंध होगा और वे सब कार्य सफल होंगे। और एक अहंकार आ गया जिसके कारण क्रोध भी आता रहता है तो उसके धार्मिक कार्य सब निष्फल हो जाते हैं। तो जो फल क्षमाभाव धारण करनेसे प्राप्त होता है वह फल धार्मिक बड़े बड़े कार्योंसे भी प्राप्त नहीं होता।

क्षमा स्वभावके लाभ--देखिये—अपने जीवनमें यह गुण तो अवश्य ही होना चाहिये सबको क्षमा करनेका स्वभाव। कोई अज्ञानी है, छोटा है, असभ्य है, बोलचाल भी ठीक नहीं कर पाता तो उसे समझें कि इस आत्माका क्या अपराध ? इसके ऐसा ही कर्मका उदय है, कर्मकी छाया पड़ी है कि यह इस प्रकारकी बात निरखता है। यह तो निरपराधी है। ये सब कषायके बेग हैं, यह सोचकर उसे क्षमा क्षमा कर देता है। हर एक घटनामें जब क्षमा का स्वभाव रखें तो वह भीतर कितनी अलौकिक उपलब्धि पा लेता है और इसीके प्रतापसे उत्तम वचन बोलता है। किसीके प्रति कभी भी कटुवचन न निकालें। उस समय इतना तो सावधान रहना ही चाहिए कि मेरे मुखसे खोटे वचन न निकलें, क्योंकि खोटे वचन निकलेंगे तो किसका अनर्थ करेंगे ? इसही का अनर्थ होगा, दूसरेका क्या अनर्थ हो ? खुद पछतायगा बादमें और दूसरोंका आकर्षण भी हटेगा, दूसरे फिर चाहेंगे भी नहीं इसलिए दुर्वचन किसी भी समय न कहना चाहे खुद पर कोई विपत्ति भी आ रही हो किसीसे पर दुर्वचन कहनेसे विपत्ति मिट जायगी क्या ? अपने भाव और खराब किया। विपत्ति आने पर भी अगर अच्छे वचन निकलेंगे तो वह खुद शरमा जायगा और खुद आपका दास बन जायगा। क्रोधके कारण आपका कोई प्रेमी न बन सकेगा। कोई शत्रु हो उस पर भी क्षमा

भाव धारण करें तो वह अन्य मित्रोंसे भी ऊंचा मित्र बन जायगा। इससे जीवनमें क्षमाभाव का स्वभाव बने और अपने वचन हितमित प्रिय ही निकलें ऐसी अपनी योग्यता बने फिर ऐसा जीवन रहेगा निर्बाध कि आप अपने आत्मस्वभावकी दृष्टि रखकर धर्मसाधनामें खूब बढ़ सकेंगे। इससे जीवनमें बस दो बातें बनें—आत्माका स्वभाव रखना और दूसरोंसे अच्छे वचन कहना, हितकारी हों, परिमित हों और प्रिय भी हों, ऐसा जीवन रहेगा तो उस जीवनमें धर्मसाधना बन सकेगी।

भ्रूभंगभंगुर मुखो विकरालरूपो, रक्तेक्षणो दशन पीडित दंत वासः।
त्रासं गतोऽतिमनुजो जननिंद्यवेषः क्रोधेन कंपित तनुर्भुविराक्षसो वा ॥४०॥

क्रोधकी निन्द्यता—क्रोधके आवेशमें आकर इस मनुष्यकी भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं और मुख भी टेढ़ा हो जाता है। क्रोध ऐसा पिशाच है कि जिसकी मुद्रा मुख पर भी झलक ने लगती है। उसकी विकराल मुद्रा हो, जाती है। क्रोधी पुरुषकी आँखें लाल लाल हो जाती हैं, दाँतोंमें मिसमिसी बंध जाती है। क्रोधी पुरुष वचनालाप भी स्पष्ट नहीं कर पाता है। क्रोधमें यह दूसरेको डाटता डपटता है मगर वह सुन भी नहीं पाता कि यह क्या कह रहा है डाटते हुए में क्रोधी पुरुषको आगे पीछे नाना दुःख उठाने पड़ते हैं। उसका वेश भूषा निन्द्य-नीय होता है। शरीरमें कम्पन होने लगती है। खड़ा खड़ा भी काँपता रहता, हाथ पैर भी काँपते रहते। क्रोधी पुरुष राक्षस जैसा भयंकर मालूम होने लगता है। क्रोधके वश होकर बड़े बड़े पुरुष भी विपत्तिमें आये। और उन्हें कोई साथी सहाय न हो सका। क्रोधीके प्रति जनताकी स्वयं ही उपेक्षा हो जाती है, उसके प्रति अनुराग नहीं रहता है। ऐसा क्रोधभाव दूर करने पर ही आत्माको अपने स्वभावदृष्टिका और धर्मपालनका उत्साह मिलता है।

कोऽपीहलोहमिति तप्त मुपाददानो दंदह्यते निजकरे परदाहमिच्छुः।
यद्वत्तथा प्रकुपितः परमाजिघांसुर्दुःखं स्वयं व्रजति वैरिवधे विकल्पः ॥४१॥

क्रोधीका स्वतः विनाश—क्रोध करने वाला पुरुष जिसपर क्रोध करता है और उसके बिगाड़के लिए चेष्टा करता है सो उस दूसरे पुरुषका बिगाड़ हो अथवा न हो, किन्तु इस क्रोध करने वाले पुरुषका बिगाड़ नियमसे हो जाता है। जैसे कोई मनुष्य किसी दूसरेको जलानेकी इच्छासे आगका अंगारा हाथमें उठाकर मारे तो जिसके मारा वह जले या न भी जल सके इसका कोई नियम नहीं, पर जलाने वालेका हाथ नियमसे जलेगा। यही हालत क्रोधी पुरुषकी है। क्रोधके प्रसंगमें पुराणोंमें कितनी ही कथायें आती हैं कि किसी ने किसी दूसरेके लिए कुछ अनर्थ विचारा पर हुआ क्या कि खुदका ही अनर्थ हो गया, दूसरे का नहीं। क्रोधी पुरुष अपने वैरीको मारनेकी चेष्टा करता है तो तत्काल भी वह बड़े संक्ले-

शमें रहता है और ऐसा ही उसके कर्मबन्ध होता कि उनके उदयमें आगामी कालमें भी वह दुःख पायगा खोटी योनियोंमें जन्म लेगा। तो यह क्रोध एक बहुत भयंकर रोग है इससे दूर रहने वाले पुरुष ही सत्संगति ज्ञानलाभ आदिकके लाभ लूट पाते हैं।

वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति, रूपं विरूपयति निंद्यमति तनोति।
दौर्भाग्यमानयति शातयते यकीर्ति, रोषोऽरिरोषसदृशो न हि शत्रुरस्ति ॥४२॥

क्रोधीकी चिरकाल कष्टकारिता— क्रोधके सदृश इस जगतमें कोई भी शत्रु नहीं है। यह क्रोध रूपी बैरी लोगोंसे बैर बढ़ा लेता है जिसके फलमें यह अनेक भवोंमें मरण पायगा। कोई यहाँ देहधारी बैरी हो तो भी अधिकसे अधिक क्या करेगा? एक बार जान ले लेगा तो एक ही बार मरण हो सका। पर क्रोधसे जिनके गुण भस्म हो जाते हैं, नाना संस्कार बना लेते हैं वे प्राणी भव भवमें दूसरेके योगसे मरणको प्राप्त होते हैं। क्रोधी पुरुषको मित्रता किसीसे भी नहीं निभ पाती। यह सबके लिए अनुभूत प्रयोग है। क्रोधीके चित्तमें सदैव विडम्बना बनी रहती है। क्रोधी पुरुष अपना रूप बिगाड़ डालता है। कितनी ही क्रोधी महिलायें तो अपना ही शरीर जला डालती हैं। दूसरेको कलंकित साबित करनेके लिए कितना ही उद्यम करतीं, पर उस उद्यममें सफल न होने पर स्वयं आत्महत्या कर लेती हैं। वे किसीके सामने मुंह दिखाने लायक नहीं रहती। क्रोधमें विवेक भी नष्ट हो जाता है। इस क्रोधके कारण बड़े श्रमसे कमायी गई कीर्ति भी नष्ट हो जाती है। इस कारण जो विवेकी जन है वे अपने हितकी भावना रखते हैं और कभी क्रोधभाव नहीं करते।

३—मानमायापरिहाराधिकार

रूपैश्वर्यकुलजाति तपोबलाज्ञाज्ञानाष्टदुः सहमदाकुलबुद्धिरज्ञः।
यो मन्यतेऽहमति नास्ति परोऽधिकोऽपि मानात्स नीचकुलमेति भगवाननेकान् ॥४३॥

आश्रयभूत कारणोंके उपयोगसे कषायकी व्यञ्जना—यह माया और अहंकारको दूर करनेका उपदेश वाला तीसरा प्रकरण है। जीव सीधा स्पष्ट प्रतिभासमात्र अमूर्त है, उसका जिसको बोध नहीं होता वह अज्ञानी पुरुष बाह्य पदार्थोंके संगसे अपने आपमें अभिमान बसा लेता है। अभिमानके आश्रय हैं ज्ञानमद आदिक ८ प्रकारके मद। जगतमें निमित्त नैमित्तिककी व्यवस्था सही ढंगसे चल रही है। अटपट नहीं है कि कोई ऐसा मान ले कि नैमित्तिक काम हो तो निमित्त कहा जाता है। यदि मेरा पैर अग्निपर पड़ जाय तो मैं जल जाऊँ, तब वह अग्नि कहलाये ऐसा तो नहीं होता। योग्य उपादान निमित्तसन्निधानमें अपना प्रभाव बना ही लेता है और आश्रयभूत कारणका अन्वय व्यतिरेक नहीं है, ये सब बाहरी पदार्थ आश्रयभूत कारण हैं। इस कारण इनमें उपयोग लगे तो ये कारण बन जाते हैं और उपयोग न लगे तो कारण नहीं बनते। ये आश्रभूत कारण आरोपित कारण कहलाते हैं।

सुन्दरताके अहङ्कारका दुष्परिणाम--

घमंड करनेके आश्रयभूत कारण क्या क्या हैं ? पहला ले लीजिए सुन्दरता, क्योंकि जीवका शरीरके साथ घनिष्ट सम्बंध है। और शरीरमें ही सुन्दर रूप दीखा तो उसका वह अभिमान करने लगता है कि मैं बहुत सुन्दर हूं, यद्यपि अपने लिए अपना शरीर सभीको सुन्दर जचता है करीब करीब। बिरला ही पुरुष ऐसा सोचता होगा जिसको कि भयंकर रोग हुआ हो, मुख सारा चेचकके दागोंसे खराब हो गया हो, अत्यन्त कुरूप हो तब ही वह अपनेको मानेगा कि मेरा रूप बिगड़ गया। साधारण बिगड़े हुए रूपमें भी कोई पुरुष अपनेको कुरूप नहीं अनुभव कर पाता। तो इस सुन्दरताके अभिमानमें अपनेसे भी कोई सुन्दर हो तो वह सुन्दर न जंचेगा, स्वयं ही सुन्दर जंचेगा इसमें कितना तीव्र मिथ्यात्व है कि देहके साथ उसने एकता मानली। यह है सो मैं हूं। यह ही मेरा सर्वस्व है। अपने ही देहकी सुन्दरतासे अपना महत्व आंक रहा है उस पुरुषको आत्मस्वरूपकी सुध कैसे हो सकती है ? जिसे आत्मज्ञान चाहिए उसको क्रोधकी तरह मानका भी खण्डन करना होगा। क्रोधसे मान और भी विकट कषाय है। यद्यपि ये चारों कषाय सब अपने-अपने हिस्सेमें बिकट ही विकट हैं, किन्तु किसी दृष्टिसे मान कषाय अतिविकट है क्योंकि क्रोध कषायका बेग होता है और कुछ समय क्रोध शान्त होता है, पर मान कषाय ऐसी भीतर जमी हुई है कि उसका निकलना कठिन होता है। और क्रोधके बलपर होता है। क्रोधके कारण प्रायः किसीको मान हुआ क्या ? मानके कारण क्रोध हुआ यह बात प्रायः देखी जाती है। तो जो क्रोधकषायकी जड़ है वह मान कषाय अति भयंकर है। जो जगत अन्य जीवोंको तुच्छ मानता, छोटा मानता उसकी दृष्टिमें चैतन्यस्वरूप कहाँ रहा ? वह अन्य जीवोंको अपने समान कैसे मान सकता है ? सुन्दरतामें अभिमान करने वाला पुरुष अपनेको तो बड़ा मानता है और अन्य कोई रूपमें बड़ा भी हो तो भी उसका अपमान ही करता है। अपने दिलमें उपेक्षा करना यह ही उसका अपमान है। इस मानका फल है नीच कुलमें उत्पन्न होना।

जीवकी सर्व घटनावोंमें जीवकी मूल जिम्मेदारी—देखिये शरीर पौद्गलिक है, उसकी रचनाका कर्ता यह जीव नहीं है। मगर जीवने जिस प्रकारके भाव किया था, जिस प्रकारके कर्म बंधे थे उस प्रकारके कर्म उदयमें आये हैं। तो यों शरीर रचना हुई है। तो शरीररचनाका मूल जिम्मेदार जीव ही रहा। तो जो सुन्दरताका अभिमान करते हैं वे नीच कुलका बंध करते हैं और अशुभ प्रकृतियोंका बंध करते हैं। आगे भविष्यमें उनको फिर सुन्दर शरीर नहीं प्राप्त हो पाता।

प्रभुताके मानका दुष्परिणाम—लोग प्रभुतापर अभिमान करते है। कुछ लोकमें

चला चलने लगा, अपनी बात निभने लगी तो वे अपनी प्रभुता याने नेतागिरीपर अभिमान करने लगते हैं। मैं तो सबका प्रभु हूं। मैं जैसा ले जाऊं वैसा ये चलते हैं। तो उसे प्रभुताका अभिमान हो जाता है। इस अभिमानमें भी वह अन्यको तुच्छ मानने लगता। अभिमानका स्वरूप ही ऐसा है कि वह दूसरोंको तुच्छ मानने लगे, लेकिन अभिमान करने वाले पुरुष ऐसे कारण कलाप प्राप्त करते हैं, उनको ऐसी कोई घटना सामने आती है जिससे उनको विषाद बहुत भोगना पड़ता है। मानो दिलमें तो यह बसा रखा कि मैं इन सबका मालिक हूं प्रभु हूँ, जिस रास्तेसे इन्हें ले जाऊं उस रास्तेसे ये चलेंगे। मेरे हुक्मके खिलाफ ये नहीं हो सकते और कदाचित इस प्रभुतामें बाधा आये, किसीने आज्ञा न माना तो यह बेचैन हो जाता है, ऐसी बेचैनी बहुतोंके पायी जाती है। कोई अपनी बात न माने तो वह बड़ा खेदखिन्न होता है। लौकिक बातोंमें तो ऐसा होता ही है। मगर कोई अज्ञानी पुरुष कुछ धर्मकी बात बोलने लगा हो और वह अपनी ही बात सबको बताये, समझाये और मान रहा हो कि मैं इन सब में अधिक जानकार हूं और कोई बात न माने तो वहाँ भी झगड़ा खड़ा हो जाता है। बड़ी बड़ी मीटिंगोंमें या धार्मिक चर्चावोंमें विवाद क्यों होता है? उसमें कारण है मद। मैं इन सबमें बड़ा हूं, समझदार हूं, जो मैं कहता हूँ वह इनको मानना चाहिये ऐसा भीतर भाव भरा है। उसके कारण विवाद विसम्वाद चलता है। प्रभुतामदमें दूसरोंको अपनेसे हीन मान लेता है। घमंड भी कभी कभी शरीरपर दिखने लगता है। घमंडके आसनसे बैठना, घमंड जैसा मुख बनाना, घमंड जैसी बात बोलना, इन सबसे प्रभुताका, घमंडका अनुमान बनता है। प्रभुताका मद भी एक विकट विष है कि जिसमें यह जीव अपनी सुध नही ले पाता। बताते हैं कि अनात्मज्ञ लोग आत्माका ऐसा उपदेश करते कि जिसको सुनकर दूसरे लोग सुलट जायें और खुद न सुलटे। उसका कारण क्या है? तो उसके ये ही सब कारण है। भीतरमें मोह है जिसके कारण प्रभुताका मद बना हुआ है। उस मदमें आत्माकी सही बात को कह रहा है, पर अपने आपमें असर नहीं होता। दूसरे लोग भले ही सुलट जायें। प्रभुता का मद भयंकर विष है।

कुल जाति मदका दुष्परिणाम—अनेक लोग कुलका जातिका मद करते हैं। यद्यपि यह बात पायी जाती है कि जो उच्च कुलमें जन्म लेता है उसकी प्रवृत्ति सभ्यताको रहती है और उच्च विचारकी रहती है, यह बात प्रायः पायी जाती है। पर नियमकी बात यह भी नहीं है, किन्तु वहाँ कोई कुलके उपयोगसे अपने आपमें गर्व करे तो वह तो उसके लिए दोष हो गया। जीवका कुल क्या? जीव तो देहरहित चैतन्यस्वरूप हैं। उसके लिए देहका सम्बन्ध होना ही कलंक है। अब उस कलंकमें ही ऊँच नीचपनका विकल्प बनाते हैं तो यह तो

स्वरूपदृष्टिका साधक नहीं है। जिसको जाति कुलके विकल्पमें धर्मका आग्रह बनता है वह आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं पा सकता। जो है सो है, उच्च कुल मिला है, ठीक है, भली बात है, मगर उसको ही दृष्टिमें रखे कोई कि मैं अच्छे कुलमें पैदा हुआ हूं, मैं उच्च कुल वाला हूँ तो इस अभिमानमें आत्मस्वरूपकी दृष्टि नहीं बन पाती। यह तो अच्छे आचार विचारका फल है कि उच्च गोत्र बन गया, उच्च गोत्रमें जन्म हो गया, मगर मैं उच्च कुलका उच्च जातिका हूं इस प्रकारका अभिमान बसाये तो उसे आत्मदृष्टि नहीं जग सकती। व्यवहारके प्रसंगमें भले ही कुल काम आये, मगर स्वानुभूति, मोक्षके योग्य भाव, दोषोंसे हटना, इसके लिए कुलकी बात चित्तमें रखना बाधक होता है, क्योंकि वह तो बीचमें ही अटक गया। यह उपयोग आत्मा के अभिमुख रहा, और इस अटकके कारण उसके आत्माकी दृष्टि नहीं बन सकती। जो पुरुष कुलका अभिमान रखता है वह इस अभिमानमें दूसरोंको तुच्छ समझता है। जैसे मानो जैन धर्मके मानने वाले वैश्योंमें अनेक कुल जातियाँ हैं खण्डेलवाल, अग्रवाल, परवार, ओसवाल, जायसवाल आदिक अनेक जातियाँ हैं तो जैनत्वके नातेसे वे सब समान हैं। उनमें कैसे कहा जायगा कि ये ऊँचे हैं और ये नीचे हैं ? मगर लोकमें प्रायः देखा जाना कि जो जिस कुलमें जन्मा है वह उसमें ऐसा अनुभव करता है कि श्रेष्ठ तो मेरा कुल है। बाकी कुल तो यों ही साधारण हैं। ऐसी बुद्धि है तो यह दोष वाली बुद्धि है। भले ही कुछ थोड़ा बहुत अन्तर हो रीति रिवाजके कारण लेकिन उस कुलका जो अहंकार है वह अहंकार ही स्वयं दोष है और इन दोषोंमें वह स्वानुभवका पात्र नहीं रहता। स्वानुभूतिके लिए तो यह ध्यान बनना चाहिए कि मैं देह नही हूं। मेरे देह नहीं है। मैं केवल चैतन्यस्वरूप मात्र हूं, यह दृष्टि बननी चाहिए। कुलकी बात तो बहुत ही दूर रही। जब देहसे विविक्त अपने आपको निरखेंगे तब ही तो हम आत्माके अभिमुख बन पायेंगे। तो यह कुलमद अहंकार अपने आपका ही घात करने वाला है और अहंकारमें नीच गोत्रमें जन्म हुआ करता है।

तपोमदका दुष्परिणाम– अनेक लोग अपने तपश्चरण, आचारोंपर अहंकार करते हैं। आचरण किया जाय सही, पर सही आचरण करके, तपश्चरण करके यह अहंकारभाव मैं अन्य जीवोंसे मैं ऊँचा हूं, मैं ऐसा कर लेता हूँ, तो यह अहंकार तो खुद दोष हो गया, फिर आचरण कहाँ अच्छा रहा ? नम्रता, विनय, मार्दवधर्म, ये ही तो आधार हैं इस आचारके। इन का विघात कर दिया। तो जो पुरुष तपश्चरण, आचार आदिकका अहंकार करते हैं वे अन्य को नीच समझने लगते हैं। जैसे आचरणोंमें सबसे ऊँचा धर्म है मुनिधर्म। अब वहाँ भी यदि कोई मुनि अच्छे आचरणसे रहकर इस प्रकारका अनुभव बनाये कि मैं ऊँचा आचरण करता हूं, जो आचरण अन्य मुनियोंसे न बने, ऐसे आचरणसे मैं रहता हूं, तो यह तो उसके लिए

दोष बन गया। तपश्चरण भी किया, कष्ट भी सहा और दोष बन गया। चैतन्य स्वरूपकी दृष्टि पानेपर श्रावकको कैसा होना चाहिए, मुनिको कैसा होना चाहिये, ये सब बातें आसानी से (सुगमतासे) अपने आप आ जाती हैं और जहाँ देहके आधारसे अहंकार आ जाता वहाँ सब बातें उल्टी पड़ जाती हैं। बड़े बड़े मुनिराजोंको भी जो तपश्चरण आदिक पर अहंकार हो जाता है। उसका कारण क्या है कि उसने देहका लगाव रखा और देहको देखकर माना कि यह मैं मुनि हूं तो देह बुद्धि हुई, मोह हुआ, जहाँ मोहभाव आया वहाँ अच्छा आचरण कहाँसे आ सकता जो मोक्षमार्गके अनुकूल हो।

बलमदका दुष्परिणाम—अनेक पुरुष बलका अहंकार करते हैं। शरीरमें बल विशेष हुआ तो मैं बलिष्ट हूं, मैं इनसे ऊँचा हूं, ये सब शक्ति हीन हैं, कायर हैं, ये मुझसे बहुत हल्के छोटे हैं, इस प्रकार बलका अहंकार बन जाता है, मगर जो बलका अहंकार कर रहा है उस का आत्मा निर्बल हो रहा है, यह उसे ख्यालमें नहीं है। यदि शारीरिक बलसे बड़ा माना जाय तो इस मनुष्यसे बड़े तो भैंसा, हाथी आदिक अनेक जानवर हैं, यह मनुष्य तो उनके आगे बलमें कुछ भी नहीं है। शारीरिक बल तो एक मैल है आत्माका। यद्यपि कभी कभी ऐसा अनुरूप चलता है कि आत्मा विशुद्ध होता है, तो शरीरका बल भी बढता है मगर शरीरबल अन्य चीज है, आत्मबल अन्य चीज है। शरीरबल वाले बीसों भैंसोंको आत्मबल वाला एक ८ वर्षका बालक भी डंडेके जोरसे हाँक देता है। जहाँ ले जाना चाहे ले जाता है। शारीरिक बल और आत्मबलमें बहुत अन्तर है। जिसके आत्मबल है वह तृप्ति पा सकता है, शारीरिक बल वाला तृप्ति नहीं पा सकता, मगर जिनको देहसे ही लगाव है वे देह बलसे अपने आपमें अहंकार अनुभव करते हैं और उस अहंकारमें दूसरोंको छोटा मानते हैं।

बुद्धिमद व आज्ञामदका दुष्परिणाम—किसीको बुद्धिका भी घमंड होता, मैं बुद्धिमान हूं, मैं इन सबमें अधिक जानकार हूँ। ये लोग कुछ नहीं जानते। अरे बुद्धिका घमंड रखने वाला जीव कितना अपने आपको अंधेरेमें रख रहा। जगतके सभी जीव शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं। उनमें विकारका नाम नहीं, कष्टका नाम नहीं। यह तो सब कर्मकी छाया पड़ रही है। सर्व जीव ज्ञानस्वरूप हैं, ज्ञानघन हैं यह बात उसके चित्तमें नहीं आ सकती जिसमें अपनी बुद्धिका घमंड बना हुआ है, जो सर्व जीवोंमें उस ज्ञानस्वरूपको नहीं तक सकता है वह पुरुष स्वानुभवका कैसे पात्र बनेगा ? बुद्धि ज्ञानकी व्यक्तिसे देखें तो केवलज्ञानके सामने मनःपर्ययज्ञानी गणधर देव भी यह मानते हैं कि मेरे ज्ञान कुछ नहीं है, फिर अन्य ज्ञानकी और हम आपके ज्ञानकी तो कथा ही क्या है ? थोड़ा क्षयोपशम बढ़ गया, बुद्धि प्रकट हो

गई तो इतनेमें ही अभिमान बन गया तो ज्ञानावरण कर्मका बंध विकट हो रहा और आगे ज्ञानदशा नहीं प्राप्त हो सकती। किसी भी जीवको मूर्ख न तकना और जो कुछ कमी है, जो कुछ मूर्खताकी बात है वह सब कर्मकी छाया है। जीव तो ज्ञानस्वरूप है सो प्रत्येक जीव के बारेमें स्पष्ट निर्णय रहना चाहिए अन्यथा अपनी बुद्धिपर अहंकार आयगा, तो उस अहंकारके कारण अपने ज्ञानका घात करेगा। जो पुरुष बुद्धिके अहंकारमें रत रहा करता है वह पुरुष स्वानुभव नहीं पा सकता, दूसरोंको तुच्छ निरखता है और नीच कुलका बंध करता है। आज्ञामद भी ऐसा ही भयंकर विष है।

नीतिं निरस्यति विनीतमपाकरोति कीर्तिं शशांकधवलां मलिनी करोति।
मान्यान्न मानयति मानवशेन हीनः प्राणीति मानमपहंति महानुभावः ॥४४॥

मानसे न्याय नीति व विनयका उल्लंघन—जो पुरुष घमंडी है वह नीति और न्याय को भूल जाता है, वह पुरुष विनय छोड़कर उद्धत हो जाता है और अपनी निर्मल कीर्तिमें धब्बा लगा देता है। किसी पुरुषने कितना ही उपकार किया हो दूसरोंका, पाठशालायें खुलवायीं, शास्त्रप्रकाशन किया, विद्वानोंके व्याख्यान दिलवाये, अनेक गरीबोंको सहायता दी और वह पुरुष किसी सभामें या कुछ पुरुषोंके बीच यह बोलने लगे कि मैंने इस प्रकार इन दुःखियों का ऐसा उपकार किया तो लोगोंकी निगाहमें फिर वह कुछ नही रहता। मानके वचनोंमें उसके किए कराए कामपर पानी फिर जाता है। जो पुरुष अभिमानी है वह न्याय नीतिको भूल जाता है। कैसा बर्ताव करना चाहिए, कैसे वचन बोलना चाहिये, इस बुद्धिको भ्रष्ट कर देती है यह मान कषाय। मानी पुरुष विनय छोड़कर उद्दण्ड हो जाता है। मैं हूं सब कुछ, ऐसा मानता है। वह दूसरे धर्मात्मा पुरुषोंको भी न कुछ जैसा देखता है। कभी कोई धर्मात्माजन, त्यागीजन दिख जायें तो उनके प्रति विनय करना तो दूर रहा, उल्टा उद्दण्डतासे पेश आते हैं। यह एक देहात्मबुद्धि होनेसे अहंकारका रूप बन गया।

अभिमानमें निर्मल यशका भी विध्वंस एवं मान्योंकी अमान्यता—अभिमानी पुरुष चन्द्रमाके समान भी अपनी निर्मल कीर्ति हो तो उस कीर्तिको भी नष्ट कर देता है। रावणके विषयमें लोग यह दोष देते हैं कि उसने परस्त्रीकी वाञ्छा की थी। इससे उसका लोकमें बड़ा अपमान चल रहा है, मगर साथ ही यह भी ध्यान दें कि वह परस्त्रीकी लालसाको उतना तेज न कर सका था जिससे कि वह कुशीलका बर्ताव करता, ऐसा क्यों नहीं कर सका कि उसने एक केवलीके सम्मुख यह नियम लिया था कि जो परस्त्री मुझे न चाहेगी उसके साथ मैं बलात्कार नहीं करूँगा। सो भले ही रावणने परस्त्रीकी वाञ्छा की, लेकिन उसको अपनी प्रतिज्ञा याद रही और अपनी प्रतिज्ञामें दृढ़ रहा। सीताने रावणको नहीं चाहा इससे रावणने

सीताके ऊपर अपने बलका प्रयोग नहीं किया। बलप्रयोगकी भावना ही उसके नहीं बनी एक बात, दूसरी बात—परस्त्रीकी वाञ्छा की उस दोषसे बड़ा विकट दोष उसका अभिमान था, वह जान चुका था कि सीता मुझे चाहती ही नहीं है तो सीताका रखना तो बेकार है मुझे क्योंकि मेरी प्रतिज्ञा है कि जो परस्त्री मुझे नहीं चाहती उस पर मैं बलात्कार नहीं कर सकता। इसलिए सीताको तो वापिस देना ही है, क्योंकि मेरे लिए वह बिल्कुल बेकार है, लेकिन उसके चित्तमें यह बात थी कि मैं इसे दे कैसे दूं, इसमें तो मेरी कायरता समझी जायगी। हाँ पहले श्रीरामको युद्धमें मैं जीत लूं और फिर सीताको दूं तो इसमें मेरी शान है, इससे मेरा यश बढ़ेगा, यह उसके भाव था। तो आप समझिये कि मान कषाय रावणमें तेज थी। पापकी वासना रावणमें तेज न थी, मगर अभिलाषाकी बात तेज थी रावणमें जिस अभिमानके कारण वह नीति न्याय सब भूल गया था, उसके चित्तमें आया कि मैं युद्धमें जब श्रीरामको जीत लूंगा तब सीताको वापिस दूंगा, वह इस बातको भूल गया कि इस युद्धमें तो लाखोंका विध्वंस होगा और मेरा भी विध्वंस हो सकता। तो अभिमान एक ऐसी विकट ज्वाला है कि जिसमें न्याय नीतिके सारे गुण भस्म हो जाते हैं। बहुत समय और श्रमसे कमाया हुआ निर्मल यश भी इस अभिमानके कारण खत्म हो जाता है। वैसे रावणकी कीर्ति बिल्कुल उज्ज्वल थी, आज भी दक्षिण देशमें लंका वगैरामें रावणके भक्त मिलते हैं, एक उसके अभिमानके कारण उसकी सारी कीर्ति धूलमें मिल गई। अभिमानी पुरुष हीन होकर भी बड़ोंका अपमान करता है, पर जो विचारशील पुरुष हैं वे मानसे सर्वदा दूर रहते हैं। मान कषाय बहुत भयंकर विष है, इसे हटाना चाहिए, उसका उपाय है मानरहित ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूपको अपना अनुभव करें कि मैं तो यह प्रतिभासमात्र पदार्थ हूँ।

हीनाधिकेषु विदधात्यविवेकभावं धर्मं विनाशयति संचिनुते च पापं।
दौर्भाग्यमानयति कार्यमपाकरोति किं किं न दोषमथवा कुरुतेभिमानः ॥४५॥

अभिमानवशीका छोटे बड़े पुरुषोंमें अविवेक भाव—जो पुरुष अभिमानके वशीभूत है वह बड़े और छोटे मनुष्योंको एकसा समझने लगता है। आप कहेंगे कि यह तो अच्छी बात है—बड़े और छोटेको एकसा मान लेना, पर बड़ा और छोटा सबको एकसा मान लेता है, छोटेपनमें सबको एकसा मान लेता है, और अविवेकसे दोनोंको एकसा ही तुच्छ नीचा बर्ताव करने लगता है। मान कषायका नाम लोग अहंकार भी कहते हैं, पर अहंकारका अर्थ मान कषायसे भी और खराब है। मानमें तो दूसरोंकी अपेक्षा अपनेको ऊँचा समझना यह बात आती है और अहंकारमें जो मैं नहीं हूं उसको अहंकर डालनेकी बात आती है। अहंकारका सम्बंध मिथ्यात्वसे है। जो मैं नहीं उसको मैं मानना अहंकार है। अनहं अहं करोति

इति अहंकारः, जो मैं नहीं हूं उसे मैं कर डालना। तो अहंकार और मानका घनिष्ट सम्बंध है। मानकषायका वेग उन्हीं पुरुषोंके आता है जिनके देहमें आत्मबुद्धि है। वहाँ मान कषाय सम्यग्दृष्टिके भी जगता, मगर उसका तीव्र वेग मिथ्यात्व हुए बिना नहीं बन पाता। तो जो पुरुष मानके वशीभूत हैं उन पुरुषोंकी निगाहमें सच्चा प्रकाश नहीं रहता। इस जीवनमें सबसे प्रमुख विशेषता यह होनी चाहिए ऐसा अभ्यास बनाये कि सब जीवोंमें उनका सहज आत्म-स्वरूप नजर आने लगे। दोषकी बात तो बादमें नजर आयी। वह नैमित्तिक है, औदयिक है, परभाव है। इसके स्वरूपमें यह बात नहीं पड़ी है, पर सब जीवोंमें वही स्वरूप है जो मुझमें स्वरूप है। इस दृष्टिका आना कल्याणार्थीको बहुत ही आवश्यक है। जिसके मान भाव है उसके यह दृष्टि नहीं बन पाती।

अभिमानी पुरुषके धर्मविनाश व पापसंचय—अभिमानी पुरुष अपने धर्मका नाश कर डालता है। अपना धर्म क्या है ? चैतन्यस्वरूप, और उसरूप अपनेको मानना, यह बुद्धि अभिमानमें नहीं रहती है। तो जो अपने आपका विघात करे वह कषाय अपना हितकारी कैसे हो सकता ? यह जगत सब मायारूप है। जो कुछ दिख रहा है सब माया है, मायाका प्रयोग अन्य लोग भी करते, ब्रह्म है, माया है, मिथ्या है, पर मिथ्याका क्या स्वरूप है ? मायाका स्वरूप है—जो दो पदार्थोंके संयोगमें बना हो उसका नाम है माया। जो अकेला न हो, किन्तु अनेक पदार्थोंके सम्बंधसे बना हो वह सब माया कहलाती है। अब आप नजर डालिये कि जो कुछ आपको दिख रहा है वह अनेक द्रव्योंका संयोग दिख रहा या कोई केवल एक द्रव्य दिख रहा। जो ये पिण्ड नजर आ रहे सो अनन्त परमाणुओंका पिण्ड नजर आ रहा। पशु-पक्षी मनुष्य जो नजर आ रहे सो जीव और शरीर कर्मका पिण्ड नजर आ रहा तो यह सब मायारूप है। अभिमान करने वाला पुरुष किसको जताना चाहता है कि मैं ऊँचा हूं। इसका उत्तर उससे पूछो—इन लोगोंको जताना है कि मैं बड़ा हूं तो ये लोग आपके भविष्यके निर्माणकर्ता हैं क्या ? क्यों जताना चाहते ? इनके कुछ समझ लेनेसे उसका कुछ भला होनेका है क्या ? व्यर्थ है अपनी उच्चता दिखाना। धर्मके प्रसंगमें यदि कोई अपनी उच्चता दिखानेका भाव रखता है तो उसे कहते हैं अनन्तानुबंधी मान। और और प्रसंगोंमें व्यापारमें गृहस्थीमें किन्हीं अन्य घटनाओंमें कुछ भाव आ जाता है अपनेमें उच्चपनका तो वह अनन्तानुबंधी मान हुआ। चाहे न हो, पर धर्म प्रसंगमें जो अपनी उच्चताका भाव रखता है और दूसरेको तुच्छ समझता है वहाँ अनन्तानुबंधी मान है। चारों कषायोंमें यह ही बात है व्यापार करनेमें, घर गृहस्थीमें क्रोध आता रहता है, पर धार्मिक कोई अनुष्ठान करतेमें क्रोध आये और ऐसी क्रोधकी प्रकृति रहे और धार्मिक अनुष्ठानके आश्रयसे ही क्रोध करे तो

वह अनन्तानुबंधी क्रोध होगा। माया और लोभसे धार्मिक प्रसंगमें यदि कपट व्यवहार करे तो वह अनन्तानुबंधी माया है, मिथ्यात्वके सहचारी हैं। धार्मिक प्रसंगमें यदि लोभ आये अपनी सामर्थ्य होते हुए भी तो वह अनन्तानुबंधी लोभ है। अन्य अन्य स्थानोंमें कषाय जग जाय तो उसके मेटनेका उपाय धर्मस्थान है, पर धर्मस्थानके सहारे कोई कषाय जगाये तो उसके मेटनेका और क्या स्थान हो सकता है। तो यह मान कषाय, आत्मधर्मका नाश कर बैठता है। और इस अभिमानके कारण निरन्तर पापकर्मका संचय होता रहता है।

जहाँ दुसरोंसे अपनेको अधिक जतानेका भाव आया है वहाँ पुण्यभाव कहाँ रहा? वह पुरुष तो पापरसको और आगे बुलाता है। अभिमान करने वालेका कोई साथ नहीं निभाता। भले ही कोई पुरुष उससे कुछ प्राप्त होता हो तो उस लोभमें आकर उसे निभा ले, पर लक्ष्य भी न हो और फिर भी अभिमानी पुरुषका कोई साथ निभाये, ऐसा कभी नहीं देखा जाता। तो अभिमानी पुरुष दुर्भाग्यको अपने निकट बुलाता है और जो कार्य अच्छे प्रारम्भ किये उन प्रारम्भ किए हुए कार्योंको भी नष्ट भ्रष्ट कर देता है। कुछ भी रचना की, साहित्य रचना की, व्यापारकी बात, भोजन आदिककी बात कुछ भी चीज बनायी और क्रोध आ जाय तो वह अपनी बनायी हुई चीजको भी नष्ट कर देता है, और वह क्रोध मानवश, मानमें आकर वह अपना भी बिगाड़ करता और दूसरेका भी। कहाँ तक बात कहियेगा? ऐसा कौनसा दोष है जिसे अभिमानी पुरुष न कर सके। अपने मानकी रक्षाके लिए लौकिक जन जान जायें इसके लिए वह सब कुछ करनेको तैयार रहता है।

मानविजयसे मानवकी श्रेष्ठता—चार गतियां हैं और चार ही कषाय हैं। नरकगति में क्रोध कषाय मुख्य है, उनका काम है लड़ना भिड़ना, मारना मरना। उनका क्रोध कषाय मुख्य रहता है। तिर्यञ्चगतिमें माया कषाय मुख्य रहती है। अब देखिये—माया कषायकी प्रबलतासे तिर्यंचगतिमें जन्म होता है, पर देखा यह जाता कि उन तिर्यंचोंके मायाका भाव तो बहुत तेज रहता है, मगर मायाका कोई व्यवहार अधिक नहीं कर पाता। कुछ ही जानवर हैं ऐसे जो अपनी मायाका व्यवहार रचते हैं। जैसे छिपकली, बिल्ली, कुत्ता आदि कुछ जानवर हैं ऐसे जो माया कपटका व्यवहार रचते हैं, और है सबके अन्दर मायाकी विशेषता, पर उनकी रचना ही इस प्रकार है कि वे माया कपटका खिलाफ व्यवहार नहीं कर पाते, पर भीतरमें मायाका संताप बना रहता है। इस छिपकलीका नाम यदि कुछ उसकी वृत्तिको देखकर सोचे तो उसका नाम रखना चाहिए छिपकर ली, जो अपना शिकार छिपकर ले सो छिपकली। बड़ी शान्त पड़ी रहती है भीत पर, जैसे कि मानो कुछ हो ही नहीं, एक मरीसी पड़ी रहती और थोड़ा निकटमें कोई मक्खी, मच्छर या कीड़ा कीड़ी गिर जाय तो एकदम

उसे खा जाती है। अब जल्दी-जल्दी बोलनेमें र नहीं बोला जाता तो उसका नाम पड़ गया छिपकली। बिल्ली भी कैसा मायाचार करके अपना शिकार करती है। तो मायाचार प्रधान है तिर्यञ्चमें। और लोभकी प्रधानता है देवगतिमें। लगता है ऐसा कि लोभकी प्रधानता मनुष्योंमें है, लोभके पीछे ही मर रहे, पर ऐसी बात नहीं, चिन्तन करें तो मनुष्योंसे अधिक लोभ देवोंमें पाया जाता, और मनुष्योंमें मान कषायकी मुख्यता है। मनुष्य लोभ करते, तृष्णा करते तो केवल इस दृष्टिसे करते कि लोगोंके बीच मेरी प्रतिष्ठा बढ़े, मैं बड़ा धनिक कहलाऊँ, लोग समझ जायें कि हाँ यह भी लखपति करोड़पति है। तो मनुष्योंके लोभका भी प्रयोजन मान कषाय है। तो यह मान कषाय यदि मनुष्योंसे जीती जा सके तो वे मनुष्य सन्मार्गमें बढ़ सकते हैं।

माने कृते यदि भवेदिह कोपि लाभो यद्यर्थहानिरथ काचन मार्दवे स्यात्।
ब्रूयाच्च कोपि यदि मानकृतं विशिष्टं मानो भवेद्ध्रुवभृतां सफलस्तदानीं ॥४६॥

मान करनेपर लाभका अभाव व नम्रता करनेपर हानिका अभाव—इस छंदमें यह बतला रहे कि भाई मानके करनेपर यदि कोई लाभ होता हो तो बताओ? आत्माके लाभकी बात पूछी जा रही है। मान बढ़ गया मान लो इस देशकी जनतामें, इस देशकी सारी जनता ने इसका नाम जान लिया तो इतने मात्रसे याने दूसरे पदार्थके इस परिणमनसे इस आत्माको कौनसा लाभ मिला? इसका आनन्द बढ़ा या पवित्रता बढ़ी या मोक्षमार्ग मिला। कुछ भी लाभ नहीं होता। और मार्दवपरिणाम यदि करे, नम्रतासे रहे, अपना उच्चताका भाव न बनाये तो इसके कौनसे प्रयोजनकी हानि हो गई? बाह्य पदार्थोंकी कुछ भी परिणति हो उससे आत्माको कोई लाभ-हानि नहीं है। हाँ यदि अपना श्रद्धान, ज्ञान, आचरण बिगड़े तो हानि है और श्रद्धान, ज्ञान, आचरण उज्ज्वल बने तो हमारा लाभ है। तो यदि इस संसारमें अभिमान करनेसे किसी तरहका लाभ होता हो और नम्रता करनेसे कोई हानि होती हो तब तो मानकी बात करनेकी सोची जाय।

मानकी निरर्थकता—मानसे हानि और नम्रतासे लाभ होता है। कोई अभिमानी अपनी प्रशंसा करता हो। तो मान करने वालेने तो अपनी प्रशंसा भी खो दी और जो नम्रता से रहे, उसकी कोई निन्दा करता हो तो बताओ। तो जब मान करनेसे कोई लाभ नहीं और मान न करनेसे कोई हानि नहीं, तब मान करना बिल्कुल निरर्थक है। समाजमें, घरमें झगड़े का प्रधान कारण मानकषाय है। नहीं तो जिस धर्मका हम आप प्रचार करते हैं वह तो प्रभु का धर्म है और उस धर्मकी प्रभावना करनेके लिए हम आपकी उमंग है। तो जितना बने उतनी प्रभावना करें, मगर वहाँ कोई काम बिगड़ता हो तो हम आप क्यों लड़ें? लड़ें तो

महावीर भगवान लड़ें (हंसी) । देखिये---यदि कुछ ज्ञानप्रकाश किसीको जगा है तो समाजमें रहनेके नातेसे जितना बने उतना समाजका उपकार करें । उपकार करने पर भी यदि कोई उपकार नहीं मानता और विपरीत होता तो उससे यही कहे कि भाई हम क्या करें, हमसे अधिक उपकार करते नहीं बनता, पर किसी भी प्रसंगमें मान कषाय करना और दूसरोंको नीचा दिखानेका भाव रखना यह मोक्षमार्गीकी आदत नहीं हुआ करती । उसका तो एक निर्णय बन गया कि मुझे दुनिया जाने तो क्या, न जाने तो क्या, मेरी दुनिया मेरे आत्मामें है । यह ही मेरा लोक है, यह ही मेरा परलोक है । जो कुछ है सो मेरी जिम्मेदारी पर मुझे है । उसके मान कषाय नहीं बनता ।

मानो विनीतिमपहंत्य विनीतिरंगी सर्वं निहंति गुणमस्तगुणानुरागः ।
सर्वपदां जगति धाम विरागतः स्यादित्याकलय्य सुधियो न धरंति मानं ॥४७॥

मान कषायसे विनय व कृतज्ञताका विनाश—मानी मनुष्य न्यायवृत्तिको छोड़कर अन्यायमार्गमें, कुमार्गमें फंस जाता है । क्योंकि उसका एक ही ध्येय रह जाता कि चाहे किसी को नुक्सान पड़े, किसीका अपमान हो, पर मेरा नाम रहना चाहिए । नाम एक बहुत बुरी समस्या है । बौद्ध दर्शनमें तो जहाँ आश्रवके कारण बताया है वहाँ सर्वप्रथम नामको गिनाया है । वेदना, विज्ञान आदिक बादमें कहे गए । तो इस नामके सहारे कितनी ही प्रकारकी अनीतियाँ हो जाती हैं । सो मानी पुरुष न्यायको छोडकर अन्याय मार्गमें फंस जाता है और कुमार्गमें फंस जानेसे उसके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं । किसी आदमीको खूब अच्छा भोजन करा दो बढ़िया व्यंजन बनाकर और उसके बाद उसको यदि कह दो कि कहो आज कैसा भोजन खाया आपने ? ऐसा तो कभी आपके बापने भी न खाया होगा तो उस खाने वालेको ऐसी भावना हो जायगी कि यदि वह सब किया हुआ भोजन कम हो जाय तो अच्छा है । देखिये—सब कुछ उपकार किया, पर एक अभिमान भरे वचन बोल दिया तो सब किया कराया मिट्टी हो जाता है । यह तो बात घरकी है और समाजमें तो और भी सावधानी रखनेकी जरूरत है । घरमें भी उपकार करके अभिमानकी बात न करें और जन समाजमें, जनतामें, देशमें भी उपकार करके अभिमान करनेकी बात न करे । घरमें अभिमान करनेसे तो कही वह देरमें लोगोंकी निगाहसे तुरन्त गिर जायगा ।

मानके कारण गुणोंका दहन हो जानेसे सब आपदावोंका भार—मान कषाय इतना अहंकार विष है कि मान करनेसे उसके सारे गुण नष्ट हो जाते हैं । उसने कितना ही उपकार किया हो, लोगोंमें उसके प्रति कृतज्ञता आनी चाहिए, पर इस मान कषायके जगनेपर प्रायः लोगोंमें उसके प्रति कृतज्ञताका भाव दूर हो जाता है । उसके गुण फिर लोगोंको नहीं दिखते ।

और जब गुण भस्म हो जाते हैं तो संसारमें सारी विपत्तियोंका स्थान बन जाता है। जैसे मानो प्रजातंत्र राज्यमें कोई देशका प्रधान बन गया हो और उसने देशकी भलाईके लिए कितने भी कार्य किया हो, पर जब उससे कोई ऐसा कार्य बन जाता कि जिससे जनताको अतीव कष्ट होने लगता और अन्याय होने लगता और उसकी सब सूझ बूझ खत्म हो जाती तो उस समय वह जनताकी दृष्टिसे तो गिर गया, पर अभी तक शासन है सो कोई कुछ कर सकता नहीं, पर जब कभी शासनमें वह नहीं रहता याने उसका शासन नहीं चलता तब फिर उसका कितना अधिक पतन हो जाता है। अभिमानी पुरुषके फिर उन गुणोंको भी सोचने वाला कोई नहीं रहता कि इसने देशको कितना विशाल बना दिया था। ऐसी ही सभी जीवोंकी बात है। तो अभिमान कितना भयंकर विष है कि जिसके होनेपर फिर लोगों के चित्तसे वह बिल्कुल उतर जाता है, फिर उस पर सारी विपत्तियाँ आने लगती हैं। उसके विरुद्ध कार्यवाही होती है और उन पर अनेक तरहके संकट आने लगते हैं। ये सब बातें अभिमानी पुरुष पर बीतती हैं। तो जिस व्यर्थके मान कषायके कारण सारी विपत्तियाँ आती हैं उस मानकषायको विवेकी पुरुष नहीं करता। इन कषायोंके ऐसे सुन्दर नाम हैं कि उनको अगर उल्टा पढ़ा जाय तो कषाय मेटनेका उपाय नजर आने लगता है। जैसे रोष (क्रोध), मान, माया और लोभ, इनका उल्टा करो। सरो—यदि क्रोधको छोड़ दिया जाय तो काम सरेगा अर्थात् बनेगा। नमा—याने नम जावो तो भला हो, यामा याने यह कुछ है ही नहीं मेरे लिए ऐसी दृष्टि बन जाय तो बस उसका भला हो जाय। भलो—याने लोभ कषाय न रहे तो उसका फिर भला ही भला है। इस प्रकार चारों कषायोंके नाम जो दिए हैं उनका उल्टा करके पढ़ने पर कषायोंके मेटनेका उपाय समझा जा सकता है।

हीनोयमन्यजननोपहिताभिमानाज्जानोहमुत्तमगुणस्तदकारकत्वात्।
अन्यं निहीनमवलोकयतोपि पुंसो मानो विनश्यति सदेति वितर्कभाजः ॥४८॥

अभिमानका फल हीनता जानकर हीन जनोंके प्रति अभिमानकी अवृत्ति—जब कभी लोकमें छोटे कहलाने वाले दरिद्र, भिखारी आचरणसे गिरे हुए छोटे लोग नजरमें आने लगते तो उनको देखकर यह चिन्तन होना चाहिए कि इन जीवोंने पिछले भवोंमें अभिमान किया था इससे ये नीच बन गए हैं। अभिमानका फल है नीच बन जाना, और मैंने पिछले भवोंमें अभिमान नहीं किया था इसलिए मैं उत्तम बन गया, बड़ा बन गया, अच्छे संगमे आ गया। अब यदि इस तुलनाको देखकर कोई अभिमान करने लगे तो उसका फल यह है कि ऐसा नीचा बनना पड़ेगा। तो छोटे मनुष्योंको देखकर तो अभिमान नष्ट होनेका मौका है न कि अभिमान करनेका, उनको देखकर तो यह ध्यानमें आना चाहिए कि इन्होंने अभिमान किया

था इस कारण ये नीच बन गए। यह है अभिमानका फल। ऐसा जो निरखता है वह कैसे अभिमान कर सकता ? तो छोटे लोगोंको भी देखकर विवेकी जनोंके हृदयमें मान कषाय नहीं जगती।

सर्व आत्मावोंके सहजात्मस्वरूपका परिचय होनेसे ज्ञानीके अहंकारका अभाव—मूल बात यह है कि जिसको आत्माके सहजस्वरूपका परिचय हुआ है वह सर्व आत्मावोंमें इस ही स्वरूपको निरखता है। तो जब सब जीव मेरे ही समान हैं, भगवत्स्वरूप हैं तो मान करने का अब कहाँ अवकाश रहा ? मान होता है तब ही जब कि दूसरोंको तुच्छ समझे और अपने आपमें बड़प्पनका आशय रहे। मगर सहज आत्मस्वरूपका परिचय कर लेने पर वहाँ तुच्छपनेका और अपने महानपनेका आशय नहीं रहता। फिर इस विवेकीके मान कषाय नहीं जगता। जीवनमें उतारने लायक यह बात है कि घरमें भी मान न करें, काम अच्छे करें, उपकारके काम करें, पर मान न करें। समाजमें, देशमें, पुरा पड़ौसमें भी काम अच्छे करें, पर उनको करके अभिमान न करें। अन्यथा सब कुछ सबका भला कर दिया, पर मानकषाय जग जानेपर वह सबकी दृष्टिमें गिर जाता है, और जब गिर गया तब लोगोंके सहयोगसे वह हाथ धो बैठता है। एक बात और भी देखिये—मानकषायकी बात सभा सोसायटियोंमें कोई बोल भी नहीं सकता। बड़ीसे बड़ी सेवा करने वाला भी अगर सभाके बीचमें भाषण दे तो वह मैं मैं की बात न कर पायगा, और अगर करता है तो समझो कि उसकी बुद्धि खराब है और उसमें मूढ़ता आयी है। सब कुछ बना देने पर भी वह यह ही तो कहेगा कि भाइयो, आप सबकी कृपासे यह काम बन गया, मैंने कुछ नहीं किया, ऐसा कहता है तभी उसकी इज्जत रहती है और यदि वह यह कहे कि देखिये—आप लोग यहाँ वहाँ भटकते फिर रहे थे, दुःखी हो रहे थे, पर मैंने आप लोगोंकी सुविधाके लिए यह काम कर दिया, धर्मशाला बनवा दिया···ऐसा यदि बोल दे तो समझो कि उसका धन भी लगा, श्रम भी किया, पर उसकी सब बात खराब हो गई। तो जो बात चार आदमियोंके बीच बैठकर बोली नहीं जा सकती वह भाव तो खोटा ही है। इस प्रकारका खोटा भाव करना ही न चाहिए। तो जो पुरुष मान कषायसे दूर रहते हैं वे इस लोकमें भी सुखी हैं और आत्माके स्वभावकी दृष्टि करनेके वे पात्र बने रहते हैं।

गर्वेण मातृपितृबांधव मित्रवर्गाः सर्वे भवंति विमुखा विहितेन पुंसः।
अन्योपि तस्य तनुते न जनोऽनुरागं मत्वेति मानमपहस्तयते सुबुद्धिः ॥४६॥

मानी पुरुषके प्रति कुटुम्बी मित्रवर्ग व अन्य जनोंका अननुराग—मानके कारण माता-पिता, बंधु, मित्र सभी इस मानकर्तासे विमुख हो जाते हैं। किसीको दूसरेका मान

देखना पसंद नहीं। सम्मान देखना तो पसंद है, पर वही पुरुष यदि मान कर रहा हो तो वह नही देखा जाता, और यही कारण है कि घरमें यदि कोई मान कर रहा है तो माता-पिता भी उस मानी पुत्रसे विमुख हो जाता है। नाता कब तक है जब तक प्रीति है, राग है। जब राग नहीं रहता तब नाता नहीं रहता। चाहे वह कषायवश नाता टूटे चाहे वैराग्य से नाता टूटे, जब राग नहीं, मोह नहीं तब वह नाता नहीं रहता। जैसे आजकल लड़कियों के विवाहमें लड़केके माता-पिता या खुद लड़का बहुत-बहुत दहेज ले लेते हैं, कहकर लेते, माँग कर लेते, तंग करके लेते, तो चाहे बेटी वाला होनेसे प्रीति करे, परन्तु हृदयसे प्रीति फिर नहीं रहती। ऐसे ही कोई मान करे तो मान करने वालेसे भी हृदयसे प्रीति नहीं रहती। और मित्रता भी तब ही तक टिकती है जब तक परस्परमें कोई एक घमंड नहीं करता। दो मित्र हैं, एक साथ चलते हैं, उनमें अगर एक मित्र मान करने लगे और दूसरे मित्रसे अपना अपमान जाहिर करने लगे या सभाओंमें या किन्हीं गोष्ठियोंमें अपनेको ऊँचा जाहिर करे, ऊँचे आसनमें बैठे, उसे पूछे नहीं, किसी तरह उसे जंच जाय कि यह मान कषायमें आ गया है और मुझे तुच्छ मानता है तो फिर मित्रता नहीं ठहरती। मान कषाय इतनी बुरी चीज है। तो जब घरके ही कुटुम्बीजन विमुख हो जाते मानी पुरुषसे अन्य पुरुष तो अनुराग करेंगे ही क्या ? मानीसे प्रत्येक पुरुष घृणा करने लगता, इस कारण जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे कभी भी मान नहीं करते।

आयासकोपभयदुःखमुपैति मर्त्यो मानेन सर्वजननिंदितवेषरूपः।
विद्यादयादमयमादिगुणांश्च हंति ज्ञात्वेति गर्ववशमेति न शुद्धबुद्धिः ॥५०॥

मानीके मानसिक व क्रोधकृत दुःखोंकी बहुलता—मानके कारण मनुष्य मानसिक क्लेशोंको प्राप्त होते हैं। आत्मस्वरूपकी जिन्हें खबर नहीं, देहको ही जो आत्मा मानते हैं, दूसरे देहको भी दूसरा आत्मा मानते हैं ऐसे पुरुष लोकमें अपना मान चाहते हैं, मानके लिए अनेक यत्न करते हैं, सो जब मान सम्मान चाह रहा है उस समय भी मनमें पीड़ा है और उस मानकी बात बनानेके लिए जो प्रयत्न करता है उस समय भी मानसिक पीड़ा है, और जिस समय लोगोंने मान शुरू कर दिया, इसको बड़ा मानना प्रारम्भ कर दिया, इसको आज्ञा में रहते हैं, इसके हाथमें देशकी बागडोर आ गई। बड़ा मान मिल गया उस समय भी दुःख और कदाचित् यह बागडोर हाथसे चली जाय और साधारण आदमी ही रह जाय तो उस समय भी मानसिक दुःख। तो मानके कारण सदैव मानसिक दुःख होता है, मानके ही कारण क्रोध प्रबल बनता है। जहाँ अपनी प्रतिष्ठा लोकमें गिरते देखा वहाँ क्रोध जग जाता अथवा मान प्रतिष्ठा होने पर दूसरोंके प्रति जरा-जरासी त्रुटि होनेपर इसे क्रोध आने लगता है।

क्रोधका मुख्य कारण मनुष्यगतिमें तो मान है। नरकगतिमें भले ही मानकषायके कारण क्रोध नहीं आता, स्वतः आता ही रहता है। जन्मजात बैरसा बना रहता है, पर मनुष्योंमें जिनको भी क्रोध जगता है उनको मान कषायके ही कारण क्रोध जगता है। घरमें क्रोध आता है तो मानके कारण आता है। किसीने कोई बात न माना, अब जान रहे कि मैं इनमें बडा हूं मेरा यहाँ अधिकार है, तो क्रोध आने लगता है। आपसमें झगड़ेका भी मुख्य कारण मान कषाय है। देवरानी जेठानीमें क्रोध बन गया बहुत तो आप घटना जानेंगे तो यह पता पड़ेगा कि दोनोंमें मान कषाय बनी है इस कारण क्रोध जगा है। इसने ऐसा क्यों कह दिया ? यह हमारा हुक्म क्यों नहीं मानता ? कुछ न कुछ मानकी बात है तब क्रोध जगता है। तो जिस पुरुषके मान जग रहा है, उसका उपयोग तो परकी ओर हो ही गया। अब स्वकी सुध कैसे ले ? और स्वकी सुध न लेना। यही सबसे बड़ी विपत्ति है। इसीको भटकना कहते हैं। पर परपदार्थ ही उपयोगमें रह जायें इसीके मायने है आत्माका भटकना। कोई तेज दौड़ लगानेको भटकना नहीं कहते। एक ही जगह बैठे हैं, मगर जगह-जगह उपयोग जा रहा है, अपने आपमें उपयोग नहीं आता, तो इसको कहते हैं कि भटक गया। तो ये सारी आपत्तियाँ मानसे उत्पन्न होती हैं।

मानीके भय और विविध दुःखोंका उद्भव—मानके कारण भय होता है। मैं इतना बड़ा हो गया हूँ। कहीं मेरे बड़प्पनमें हानि न आ जाय। कहीं कोई दूसरा मेरेको कुछ हल्की बात न कह दे। कभी कोई मुझे इस पदसे न उतार दे आदिक अनेक भय जगने लगते हैं जिसके मान कषाय है। एक दृष्टान्त है लालबहादुर शास्त्रीका। वह रेलमंत्री बन गए थे। और केवल एक दुर्घटना हुई तो तत्काल कह दिया कि मैं इस लायक नहीं हूँ जो इस पदको निभा सकूं, प्रधानमंत्री होनेपर यदि कोई घटना हुई तो तत्काल कह दिया कि मैं इस पदको निभाने लायक नहीं हुं। तो ऐसे पुरुष तो बिरले ही होते हैं, मगर जिसको जो पद मिला उस पदमें वह चिपका रहना चाहता है। चाहे अन्याय हो, मायाचार हो चाहे किसी पर अत्याचार करना पड़े, पर वह अपना पद नहीं छोड़ना चाहता। तो यह क्या है ? यह है उसकी मान कषाय। इस मान कषायसे सदा दुःख है। लोग तो सोचते हैं कि ये बड़े लोग, धनिक लोग या बड़े पद पर पहुंचे हुए लोग बड़े सुखी हैं, पर वे कोई सुखी नहीं है। जरा कुछ दिन उनके निकट रहकर देख लो, वे तो बड़े दुःखी हैं। सुखी शान्त होनेका उपाय वह है ही नहीं। सुखी शान्त होनेका उपाय तो सहज आत्मस्वरूपका ज्ञान ही है, अन्य कोई न हो सका, न है, न होगा। यह तो एक गणितका जैसा हिसाब है सही निमित्तनैमित्तिक भाव है। यदि मछली उछलकर पानीसे बाहर कहीं रेतमें गिर जाय तो वह मछली व्याकुल होती

है। व्याकुल होना ही पड़ता है उसे शांति नहीं प्राप्त होती ऐसे ही यह आत्मा अपने ज्ञानबल से फिरकर दूर बाहर पर पदार्थों में गिर जाय इसका उपयोग पर पदार्थोंमें लग जाय तो सिवाय अशान्तिके दूसरा उसका फल है ही नहीं। परका आश्रय करके कोई शान्ति चाहे तो शान्ति मिलना असम्भव है। जैसे सूईके छिद्रसे ऊँटका निकलना असम्भव है।

जितने भी जीव प्रभु हुए, मुक्त हुए वे सब परका आश्रय छोड़कर ही हुए, सदाके लिए शान्त हुए। तो हम भगवानकी पूजा करें, वंदना करें, दर्शन करें, भक्ति करें और भगवानके बताये हुए मार्गको मानना ही न चाहें तो उसे भक्तिका रूप कहा जा सकता क्या? नहीं कहा जा सकता। जैसे—मान लो कोई पिताकी खूब शारीरिक सेवा करे, खूब हाथ-पैर दबाये, पर उसे खाने-पीनेको न पूछे उसकी आज्ञा न माने जरा-जरासी बातमें उस पर झुंझलाता फिरे तो वह उसकी भक्ति कहलायगी क्या? ना कहलायगी। ऐसे ही प्रभुकी भक्ति तो कोई बहुत-बहुत करे, पर उनकी आज्ञा न माने तो वह प्रभुकी भक्ति न कहलायगी। मान कषाय वालेको गुण कैसे प्राप्त हो सकते हैं? वह तो स्वयं ही अपनेको भगवानसे कम नहीं समझ रहा। वह सन्मार्ग नहीं पा सकता। तो मानमें इतना अनर्थ है।

आबालगोपाल सभीके दुःखोंका मूल प्रायः मान कषाय—जितने भी दुःख होते हैं मनुष्योंको वे करीब मान कषायके वश होते हैं। छोटे-छोटे बच्चोंकी भी हालत देख लो वे भी मानकषायसे दुःखी होते रहते हैं। कोई छोटा बच्चा माँ की या किसीकी गोदमें बैठा हो और उसे नीचे बैठा दे तो वह बच्चा रोने लगता। क्यों रोता? इसलिए कि वह यह समझता कि मैं अभी इतना ऊँचे चढ़ा था, अब मुझे नीचे जमीनमें पटक दिया तो इसमें अपना अपमान समझकर वह रोने लगता है। मान लो किसी बच्चेको लेकर उसके माता-पिता किसी सभामें पहुंच गए और उस बच्चेके मनमें आ जाय कि अब तो मुझे घर जाना चाहिए, पर माता-पिता घर नहीं जा रहे, वहीं सभामें बैठे रहें तो वह रोने लगता है। वहाँ वह यह समझता कि ये मेरे माता-पिता मेरा कहना नहीं मानते, सो इसमें अपना अपमान महसूस कर वह रोने लगता है। तो हर जगह देख लो, क्या नेताजन, क्या साधुजन, क्या गृहस्थजन जो जो भी दुःखी होते वे इस मान कषायके कारण पद-पदपर दुःखी होते रहते हैं। एक बार रुड़कीमें मेरे एक सहपाठीने मुझसे कहा—महाराज आजकल जो बड़े-बड़े मुनियों को भी गुस्सा आते देखा जाता तो उसमें मूल कारण क्या है सो यदि आप कहो तो मैं बताऊँ? तो मैंने कहा—हाँ हाँ बताओ तो सही, पर मैं तो बतानेसे पहले ही समझ गया कि आप क्या कहना चाहते? तो फिर वह बोले—हाँ आप समझ तो गए होंगे पर मेरे मुख से भी सुन लो। तो कहा—अच्छा सुनाओ। तो वह बोले—आजकल मुनि लोग अपनेको

मानते कि मैं मुनि हूं, ऊँचा हूं, पूज्य हूं और ये श्रावक लोग नीचे हैं, ये मेरे भक्त हैं, पुजारी हैं, इनको मेरी आज्ञामें रहना चाहिए···· पर वैसा जब देखनेको नहीं मिलता तो वे पद-पद पर क्रोध कर बैठते और दुःखी होते। तो हमने कहा—ठीक है। देखिये कोई भी मनुष्य दुःखी हो उसमें उसका मूल कारण है मान कषाय।

मानसे विद्या विनय दया आदि सब गुणोंका विनाश—मान कषायसे अभिभूत हो जाना यह सबसे बड़ी एक कमजोरी है। मानके वश होकर यह जीव बड़े-बड़े निंदित कार्य भी कर डालता है, विद्या दया आदिक गुणोंसे भी वह हाथ धो बैठता है। गुरुजी एक घटना सुनाते थे कि कोई एक लाठी चलानेकी विद्या सिखाने वाला गुरु था। उसने कई शिष्योंको इस कलामें निपुण बना दिया। एक बार कोई एक नवयुवक शिष्यके मनमें आया कि मुझे तो गुरुजी से ही लाठी चलाकर उनपर विजय प्राप्त करनी चाहिए। अब गुरु तो था बेचारा बुड्ढा और वह शिष्य था, खूब हृष्ट-पुष्ट नवयुवक। उसने गुरुको भी नीचा दिखाना चाहा सो बोला—गुरुजी हम तो अब आपसे ही लट्ठ चलायेंगे, देखेंगे कि कौन जीतता है? अपने ही शिष्यके मुखसे यह बात सुनकर गुरु दंग रह गया, बगर बोला—ठीक है बेटा, कोई बात नहीं। चला लेना हमसे लट्ठ। आजके १० दिन बादकी तिथि इसके लिए निश्चित कर रहा हूं। इन दस दिनोंमें तुम भी अपनी तैयारी कर लो।····ठीक है। अब गुरुने क्या किया कि कोई १०-१५ हाथका बांस मंगाया और अपने द्वार पर खड़ा कर लिया। उधर शिष्य इस ताकमें रहा करता था कि देखें तो सही कि गुरु जी अपनी किस तरहकी तैयारी कर रहे हैं, उससे बढ़कर तैयारी मैं करूंगा। सो शिष्यने जब देखा कि गुरुजी ने १०-१५ हाथका बांस हमसे लड़नेके लिए मंगाया है तो उसने कोई २५ हाथका बांस लाकर अपने द्वार पर खड़ा कर लिया, क्योंकि गुरुसे बढ़कर तैयारी करनी थी ना? प्रतिदिन उस बांसमें तेल लगाये, उसे ठीक करे। जब लड़नेका दिन आया तो वह अपना वही २५ हाथका बांस लेकर आया और गुरु वही तीन साढ़े तीन हाथकी लकड़ी लेकर आया। अब भला बताओ कैसे वह उस उतने बड़े बांससे लड़े, उसका घुमाया ही न घूमे, और गुरुने उसे छोटी लकड़ीसे ही पराजित कर दिया। तो देखिये—मानकषायके वश होकर वह शिष्य अपनी विद्या भी भूल गया। उसके दिमागमें यह बात न आयी कि इतने बड़े बांससे मैं कैसे लड़ सकूंगा? मानके वश होकर विद्या भी नहीं रह पाती। इस मान कषायके रहते हुए कोई अपना आत्महित भी नहीं कर सकता। आत्महित चाहने वालोंको तो यह मान कषाय दूर ही कर देना चाहिए, क्योंकि मान कषायके रहते हुए आत्मविद्या टिक नहीं सकती। आत्मविद्या पाये बिना जीवका कल्याण हो नहीं सकता।

स्तब्धो विनाशमुपयाति नतोऽतिवृद्धि मर्त्यो नदीतटगतो धरणीरुहो वा ।
गर्वस्य दोषमिति चेतसि संनिधाय नाहं करोति गुणदोषविचारदक्षः ॥५१॥

दृष्टान्तपूर्वक मानीके विनाशका व नम्रके अविनाशका कथन—इस छंदमें एक दृष्टांत दिया है कि जैसे नदीके किनारे पर सीधा लम्बा खड़ा हुआ कोई वृक्ष हो तो उस नदीके वेग के या नदीके जलसे कट-कटकर वह गिर जाता है, पर नदीके किनारे जो छोटी-छोटी घास लगी होती है वह घास कभी नष्ट होते नहीं देखी गई। वेग आता तो भी नम जाती, मगर बहुत कम उखड़ती हुई देखी गई, पर ऊँचे लम्बे मानी वृक्ष जो इतने ऊँचे लम्बे उठ गए हैं वे नदीके किनारे टिक नहीं पाते इसी प्रकार जो अहंकारसे दूसरेसे नहीं नमता है वह पुरुष संसारमें नाना कष्ट पाता है और नम्र होने वाला यह यश कीर्ति गुणोंको प्राप्त करता है। यह तो है लौकिक बात, पर जो नम्र होगा वह अपने आत्माकी ओर आ जायगा और जो कठोर परमें अपनी जान लड़ाने वाला होगा वह अपनी ओर कहाँ आ पायेगा ? वह तो पर-पदार्थकी ओर ही अपना उपयोग फंसायेगा। देखो गजबकी बात कि यह उपयोग मेरे प्रदेशमें है, मेरी ही चीज है, पर दुःखसे संतप्त होकर यह उपयोग मेरे स्थानको छोड़कर भग गया है। यद्यपि रहा प्रदेशोंमें ही मगर बाहरके बाह्य पदार्थोंमें जब यह उपयोग रम रहा है तो यह कहा जायगा कि स्थानभ्रष्ट होकर यह बाहर भटक रहा है। यह बाहर भटकने वाला उपयोग जो निरंतर दुःखी ही रहा है इसका भटकना और दुःखी होना कैसे मिटेगा ? उसका उपाय है कि यह नम्र बनकर अपने आपके स्थानमें आ जाय।

स्वधामसे जुदे हुए उपयोगका परसे निवृत्त होकर स्वधाममें आनेपर ही शान्तिकी संभूति—जैसे समुद्रका पानी सूर्यकी तीव्र किरणोंसे संतप्त होकर भापके रूपमें उड़कर अपने स्थानको छोड़कर आकाशमें भटकने लगता। वह बादल क्या है ? वह समुद्रका भाप ही है। अब वह पानी मेघके रूपमें स्थानभ्रष्ट होकर आकाशमें यत्र तत्र डोलता है। जहाँ वायुका झोंका लगा उसी तरफ दौड़ गया। अब यह बादल भटकता रहता है। सुयोगसे जैसा वर्षा ऋतु आदिकमें उसमें कुछ गीलापन आया, कठोरताको छोड़ दिया तो वह मेघ और गीलापन आकर वह बदल जाय, नीचे गिर जाय और उसे नीची गली मिलती ही है सब गलियोंसे तो नम्र गलीसे चलकर अपने स्थानमें आ जाता है। समुद्रमें आ जाता है। तो पानी जब तक भ्रष्ट रहा अपने स्थानसे तब तक भटकता रहा, और नम्र होकर अपने स्थानमें आ गया तो वह शान्त हो गया, ऐसे ही हम आपका उपयोग रूपी जल मोह राग द्वेष आदिकके तीव्र आतापसे संतप्त होकर अपने ज्ञान सरोवरसे हट गया और हटकर बाह्य पदार्थोंमें भटकने लगा सो जरा ही वातावरण मिला, आश्रयभूत पदार्थ मिला तो वेगमें आकर उसी ओर बह

गया। यह भटकने वाला उपयोग जब कभी थोड़ा नम्र बने, कुछ इसको अपने आपकी सुध आये और यह बरष जाय। तत्त्वज्ञानमें आ जाय और इसमें फिर विनयभाव आये, नम्रता आये तो उस विनयकी गलीसे चलकर यह अपने ज्ञानसागर आत्मतत्त्वमें मिल जायगा तब यह शान्त हो पायगा। तो जब तक यह मानके वश रहा, कठोर रहा तब तक सर्वत्र भटकता ही रहा। सो जो गुण दोषके विचार करनेमें चतुर पुरुष हैं वे कभी भी मान नहीं करते।

हीनानवेक्ष्य कुरुते हृदयेऽभिमानं मूर्खः स्वतोऽधिकगुणानवलोक्य मर्त्यान्।
प्राज्ञः परित्यजति गर्वमतीव लोके सिद्धांतशुद्धिषणा मुनयो वदंति ॥५२॥

अज्ञानी मुग्धजनोंमें गर्व आनेकी प्राकृतिकता—आचार्योंका यह उपदेश है कि जो मूर्ख मनुष्य हैं, तत्त्वज्ञानसे अनभिज्ञ हैं वे तो इस संसारमें अपने से हीन मनुष्योंको देखकर घमंड करते हैं, अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। एक अहाना सा है ना कि माने जगतमें कुल दो आँखें हैं जिनमें डेढ़ आँखें तो मेरे पास हैं बाकी आधी आँख जगतके सारे मनुष्योंको मिली भयी है। मैं सारे जगतसे बढ़कर तिगुना बुद्धिमान हूं, सो मूर्ख मनुष्य हीन मनुष्योंको देखकर विकल्प करते हैं किन्तु जो बुद्धिमान मनुष्य हैं वे अपनेसे अधिक गुण वालोंको देख कर नम्र हो जाते हैं। अपने से हीन तुच्छ व्यक्ति मानते हैं। चार भावनायें कितनी सुन्दर हैं। (१) सब जीवोंमें मैत्रीभाव करना (२) गुणीजनोंको देखकर हर्षभाव करना (३) दुःखी जीवोंपर दयाभाव करना और (४) अविनयी जीवोंके प्रति मध्यस्थभाव रखना। जिसके मान कषाय है उसके ये चार भावनायें नहीं बन सकतीं। सब जीवोंमें मित्रता तो तब रहे जब सबको अपने स्वरूपके समान मानने पर मानमें अन्तर तो नहीं आ सकता। गुणीजनों को देखकर हर्षका परिणाम करना यह तब ही बनेगा जब खुदमें घमंड न हो। अगर घमंड है तो यह तो भगवानकी भक्ति करके, पूजा करके या मनौती मनाकर तीर्थयात्रा करके महावीर जी या पद्मपुरी वगैरहमें जाकर कोई काम बन जाय तो यह समझता है कि मैंने देखो प्रभुको मना लिया, अपना काम कर लिया। प्रभु भी उतने चतुर नहीं हैं, और हम जो चाहते हैं सो प्रभुसे करा लेते हैं, प्रभुमें भी हमसे अधिक कोई खास अक्ल नहीं है। तो जो मानी पुरुष है वह तो प्रभुसे भी अधिक अपनी महत्ता समझता है, वह गुणियोंको देखकर क्या प्रमोद करेगा, गुणियोंको देखकर क्या दया करेगा और विपरीत बुद्धि वालोंको देखकर कैसे मध्यस्थ रह सकता? तो मान कषायसे सब प्रकार के अवगुण उसके लग जाते हैं। तो जो विवेकी पुरुष हैं वे मान कषायको दूर कर मानरहित चैतन्यस्वरूप अपने आपको अनुभवते हैं।

जिह्वासहस्रकलितोऽपि समासहस्रैर्यस्यां न दुःखमुपवर्णयितुं समर्थः ।
सर्वज्ञदेवमपहाय परो मनुष्यस्तां श्वभ्रभूमिमुपयाति नरोऽभिमानी ॥५३॥

अभिमानवश प्राप्त नरकवासके दुःखोंके वर्णन करनेकी हजार जिह्वावोंसे भी अशक्यता—अभिमानी पुरुष अपने अभिमान दुर्गुणके कारण नरकभूमिको प्राप्त होता है। सो उस नरकभूमिमें कितना दुःख है उसका वर्णन करनेके लिए वह भी समर्थ नहीं हो सकता जिसके हजारों जिह्वायें हों। सर्वज्ञदेवको छोड़कर और कोई मनुष्य उस नरकके दुःखका ज्ञान नहीं कर सकता। तो सर्वज्ञदेव भी मात्र ज्ञाता रहते नहीं तो उनको बड़ा कष्ट हो। वे केवल ज्ञातामात्र रहते हैं। जैसे कहीं नदीके किनारेपर खड़े हुये वहाँ पड़ी हुई रेतको एक निगाहसे देख लेते हैं, पर उसे गिन नहीं पाते कि इसमें कितने कण हैं। एक मुट्ठीभर रेत भी नहीं गिन सकते। उसकी भी बहुत संख्या है, तो ऐसे ही एक निगाहसे सर्वज्ञने परख लिया, पर वह दुःख अनन्त है। उसका वर्णन तो कहीं आ ही नहीं सकता, वह नरकभूमि क्या है जिस पृथ्वीपर अपन चलते, बैठते उठते हैं। ये पृथ्वी बहुत मोटी है, और इस पृथ्वीके नीचे तीन भाग हैं, जिसमें ऊपरके पहले और दूसरे भागमें भवनवासी और व्यन्तरोंके भवन बने हुए हैं। नीचेके तीसरे भागमें पहला नरक कहा जाता है, सो तीसरा जो वह हिस्सा है सो एकदम खुला हुआ नहीं है, किन्तु जैसे एक फुट लम्बे चौड़े मोटे काठका पाटिया हो, बीच-बीचमें छिद्र हो १०-२०-५० उन छिद्रोंका मुख न ऊपर है न अगल-बगल, न कहीं वह बीचमें ही छिद्र है ऐसे ही उस तीसरे खण्डमें उस मोटी भूमिमें जगह-जगह बिल बने हैं, मगर वे बिल करोड़ों अरबों योजनके लम्बे हैं और ऐसे बिल पहिले नरकमें ३० लाख हैं फिर इस पृथ्वीके नीचे बहुत सा आकाश छोड़कर दूसरी पृथ्वी आती है। उस दूसरी पृथ्वीमें भी बिल हैं। खुली हुई बिल्कुल जगह नहीं है, लेकिन वे बिल भी करोड़ों अरबों योजनके हैं इसलिए खुला सा लगता है मगर उनका मुख किसी ओर नहीं है निकला हुआ कि जिससे कहीं आसमानमें या पृथ्वीके ऊपर आ सके। ऐसे बिल दूसरे नरकमें २५ लाख हैं। तीसरे योजनमें याने पृथ्वी में नीचे बहुतसा आकाश छोड़कर तीसरी भूमि है, उसके बीच बिल हैं, वह तीसरा नरक कहलाता है। ऐसी ये ७ पृथ्वियाँ हैं जिससे ये ७ नरक कहे गए हैं।

नरकोंके दुःखोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन—उन नरकोंमें पृथ्वीके पूर्व भागमें ऐसा दुःख होता कि हजार बिच्छुवोंके डसनेसे भी नहीं होता। तो देखिये उसी पृथ्वीपर उसी नरकमें देव पहुंच जायें तो देवोंको दुःख नहीं होता, ऐसी क्या वजह है ? तो जैसे मानो इसी कमरेमें करंट आ जाय भीतमें या नीचे फर्शमें तो वहाँ खुले पैर पहुंचनेपर दुःख होता है कि नहीं ? होता है। और यदि कोई प्लास्टिक या रबड़के जूते या चप्पल पहिनकर आ जाय तो उसे

करंट नहीं लगता। तो ऐसे ही उन देवोंके शरीरकी ऐसी प्रक्रिया है कि उनको उन नरकों की जमीनसे भी दुःख नहीं होता। भूख प्यासका दुःख, एक दूसरेने मारा काटा उसका दुःख, तीसरे नरक तक असुर कुमार जातिके देव आपसमें भिड़ाकर दुःख बढ़ा दें तो उसका दुःख, ठंड गर्मीका बड़ा कठिन दुःख, यह मान कषाय वाला पुरुष नरकमें जाकर ऐसे दुःखोंको सहन करता है, इस कारण अपने आपकी रक्षा करना हो तो मानकषाय चित्तमें न जगना चाहिए। सब जीवोंको अपने स्वरूपके समान निरखें। जीवनमें व्यवहार भी करना पड़ता आवश्यक, मगर स्वरूप प्रतीति खत्म नहीं हो, इसीके आधारपर मानकषाय न जगेगी। अब मायाके विषयमें कह रहे हैं।

या छेदभेददमनाकनदाहदोहवातातपान्नजलरोचवधादिदोषा।
मायावशेन मनुजो जननिंदनीया तिर्यग्गति व्रजति तामतिदुःखपूर्णां ॥५४॥

मायावी पुरुषोंका तिर्यग्गतिमें जन्म लेकर नाना दुःखोंका सहना—माया कहते हैं छल कपटको, कैसा छल ? कि मनमें और, वचनमें और, करे कुछ और, ऐसी माया जिसमें भरी है वह मायावी पुरुष बड़ा भयंकर होता है, उससे अपनी रक्षा करना बड़ा कठिन है। तो ऐसा मायाचार करने वाला पुरुष मरकर तिर्यंच गतिमें उत्पन्न होता है। तिर्यञ्चगतिमें बड़े कठिन दुःख हैं। ऐसे पशु-पक्षियोंकी बात तो हम आप रोज-रोज देखते ही हैं। गाड़ीमें बैल लदे जा रहे हैं, उसमें कितना ही बोझ लदा है। चलनेमें यदि मंदगति कर दी तो उन पर चाबुक मारे जाते हैं, और जब वे इतना अशक्त हो जायें, वृद्ध हो जायें, कामके न रहें, तो प्रायः लोग अब इस जमानेमें उन्हें कसाइयोंके हाथ बेचनेमें भी रंच संकोच नहीं किया करते हैं। उनको बड़े कठिन दुःख हैं। क्या ऐसे पशु हम न थे ? न जाने कैसे कैसे दुःख भोगे, आज भी यदि अपनी सम्हाल न करें तो बस यही संसारके जन्म मरण चलते रहेंगे। बड़ा कठिन दुःख होगा। यह अवसर ऐसा चेतनेके लिए मिला है कि एकदम अपना मोड़ बना लें और इसी भवमें उसका आनन्द ले लें जो ज्ञानस्वरूप आत्माकी अनुभूतिसे प्राप्त होता है, जिसके प्रसादसे आगेका भव भी ठीक रहेगा और और निकट कालमें ही मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। एक निर्णय बना लें कि मुझे तो मुक्तिका उपाय बनाना है और इस जीवनका दूसरा कोई कार्य मेरे लिए है ही नहीं। जो कुछ करना पड़ रहा है सो कर्मोदयवश गुजारा करनेके लिए करना पड़ रहा है, पर मेरे करनेका काम तो केवल मोक्षमार्ग है। मुझे किसी परका विश्वास नहीं, मेरा तो मोक्षका प्रोग्राम है, ऐसा चित्तमें बसा हुआ होना चाहिए, अन्यथा कषायोंमें लगकर फिर संसारका परिभ्रमण बना रहेगा।

मायावी जीवके तिर्यग्गतिके दुःखोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन—इस छंदमे बतला रहे हैं कि

जो मनुष्य मायाचार करते हैं वे तिर्यंच गतिमें नाना बाधाओंको सहते हैं। उनके नाक, कान आदि छेद दिये जाते। उनकी नसबंदी जैसे कर दी जाती। जैसे कि किसान लोग बैलोंकी नसबन्दी किया करते हैं। वे कोई डाक्टर तो नहीं हैं। वे तो बैलोंको रस्सियोंसे बाँधकर गिरा देते और उनके अंडकोषोंको मूसल या किसी अन्य चीजसे कूट-कूटकर उनको नपुंसक जैसा बना देते जिससे कि ये कभी अपनी वीर्यशक्तिको बरबाद न कर सके, और इनकी शक्ति से हम लाभ उठायें। तो इस प्रकारसे उन पशुओंका छेदन-भेदन करते, जब मर्जी आयी तब उन्हें खाना-पीना दे दिया नहीं तो भूखे-प्यासे बँधे हैं, ठंडी गर्मीके भी बड़े दुःख सहते हैं, बोझा ढोते हुए में यदि चलनेमें कुछ कमी की तो उन पर डंडेकी मार पड़ती है। तो देखिये मायाचारी करनेके फलमें पशु बनकर ये सब दुःख सहने पड़ते हैं। यह माया कषाय बड़ी ही कलुषित है तब ही तो इसको शल्यमें गिनाया है। माया, मिथ्या और निदान ये तीन शल्य हैं। मायाचार करने वाले पुरुषको जीवन भर शल्य बना रहता है। जिनके बीच मायाचार किया है उनके बीच कहीं हमारा कपट खुल न जाय इस शल्यमें वह मायाचारी पुरुष निरंतर रहा करता है, पर मायाचार खुल सबका जाता है। चाहे किसीका जल्दी खुले, चाहे देरमें खुले, पर यह मायाचार प्रकट हो जाता है, और जब मालूम पड़ जाता है लोगोंको कि यह बड़ा छली पुरुष है तो फिर उसकी जिन्दगी बड़ी खराब हो जाती है। उसे कोई पासमें नहीं बैठाता, कोई उसका विश्वास नहीं कर पाता।

मायाचारकी विडम्बनाका एक दृष्टान्त एक बार एक राजा अपने बगीचेमें घूम रहा था तो उसको एक जगह एक पेड़के नीचे बहुत बढ़िया सेब पड़ा हुआ दिख गया। उसे देखकर राजाका जी ललचा गया, पर पड़ा था वह गोबरके ऊपर। सो उसने पहले तो देखा कि कोई देख तो नहीं रहा, फिर उसे उठाकर, कपड़ेसे पोंछकर खा लिया। अब खा तो लिया, पर शल्य उसे बराबर बनी रही कि कहीं किसीने इस तरहसे हमको खाते हुए देख तो नहीं लिया। देखिये — राजाओंको इस तरहसे खाना तो नहीं बताया। वे तो तब खाते जब कि लोग बड़ी भक्तिपूर्वक थाल सजाकर लायें और निवेदन करें कि महाराज भोजन ग्रहण कीजिए तब कहीं वे भोजन करते। यदि इस पद्धतिके विरुद्ध कार्य करें तो वह तो चोरीमें शामिल हो गया। अब कोई यों भी कह सकता कि वह चोरीकी क्या बात ? वह बाग राजा का ही तो याद सो ऐसी बात नहीं। जो विधि है राजाके भोजन करनेकी, उसके विपरीत चेष्टा करने पर चोरी ही कहलायगी। खैर वह राजा बगीचेसे चलकर महलमें आया। तो महलमें प्रतिदिन दिनमें दो ढाई घंटेके करीब नृत्य गायन वगैरा हुआ करते थे। सो अनेक प्रकारके गायन हुए, पर उस दिन राजाने किसी भी गायन पर खुश होकर किसीको इनाम न

दिया। सबसे बादमें एक नर्तकी (नृत्य करने वाली) उठी और एक गीत गाते हुए नृत्य करने लगी उस गीतकी टेक थी·····"कहि देहौं ललनकी बतियां।" अब इस टेकको उस नर्तकीने कई बार बोला तो राजाको यह भ्रम हो गया कि कहीं इसने मुझे बगीचेमें सेब खाते देख तो नहीं लिया जिससे कह रही कि कहि देहौं ललनकी बतियां। अगर इसने सभाके बीच कह दिया कि राजाने गोबरसे भिड़ा हुआ सेब उठाकर बगीचेमें खाया था, तब तो मेरी मिट्टी पलीत हो जायगी, सो यह नर्तकी सभाके बीचमें वह बात न कहे यह सोचकर उसने अपना एक सोनेका आभूषण उतारकर दे दिया। नर्तकीने यह समझा कि राजाको हमारा यह गीत प्रिय लगा सो बार-बार उसीको दोहराये, राजा बार-बार एक-एक आभूषण उतार-उतारकर देता जाय। यहाँ तक कि राजाके सारे आभूषण इसी गीतमें उतर गए। जब एक भी आभूषण पासमें न रहा तो स्वयं बोल उठा—अच्छा जा, कह दे, यही तो कहेगी कि राजाने अपने बगीचेमें गोबरसे भरा सेब उठाकर उसे पोंछकर खाया था···। लो उसकी बात उसीके द्वारा प्रकट हो गई। तो मायाचारी किसीकी छिपती नहीं। एक न एक दिन वह प्रकट हो जाती है। मायाचारी प्रकट होने पर उसे बड़ा दुःखी होना पड़ता है। तो ऐसा निर्णय करके इस मायाचारीके दोषसे बचना ही चाहिए।

यत्र प्रियाप्रियवियोगसमागमान्यप्रेष्यत्वधान्यधनबांधवहीनताद्यैः।
दुःखं प्रयाति विविधं मनसाप्यसह्यं तं मर्त्यवासमधितिष्ठति मायया गी ॥५५॥

मायावी जीवका मनुष्यगतिमें भी जन्म लेकर कठिन दुःखोंका सहन—मायाचारी पुरुष मनुष्यगतिमें भी उत्पन्न हो जाय तो भी वहाँ बड़ा दुःख है। जैसे इष्टवियोग। इष्टवियोग में इस जीवका बिगड़ता कुछ नहीं है, दूसरा पदार्थ है, रहे तो रहे, चला जाय तो चला जाय, किन्तु जिसके ज्ञान नहीं है और इसी कारण उसको बड़ा इष्ट समझ रखा है तो उसका वियोग होने पर कितना उसे कष्ट होता है, सो जगतमें दिख ही रहा है। तो ऐसा मनुष्य इष्ट वियोग का, अनिष्ट संयोगका घोर दुःख भोगता है। जो वस्तु खुदको इष्ट नहीं है उसका संयोग हो तो उसकी बड़ी वेदना मानता है। मायाचारी पुरुष मरकर मनुष्यगतिमें भी उत्पन्न हो तो वहाँ भिखारी, भृत्य, दास जैसा जीवन व्यतीत करता है तथा दरिद्रता, बंधुहीनता आदिकके असह्य दुःख भोगता है और जहाँ शारीरिक मानसिक अनेक बाधायें सहनी पड़ती हैं।

सहजात्मस्वरूपका बोध न होने पर विविध विषयकषायोंको विडम्बितता—काम एक है कि मेरा जो शाश्वत शरण है, मेरा स्वयंका स्वरूप जो कभी मुझसे हटता नहीं उस ही की दृष्टिमें तृप्त रहना, बस यह ही एक कार्य है, पौरुष है, जिसके बलसे इसकी रक्षा है बाकी बाहरमें इन चर्मचक्षुओंसे जो देखा तो मायावी पुरुषोंको निरखकर ईर्ष्या, दाह, आशा

आदिक कितने ही प्रकारके अवगुण लग जाते हैं, पर जो बाहरमें अंधा है, भीतरमें ज्ञानचक्षुसे जागृत है उसके लिए कोई समस्या नहीं है। बाहरी काम करने पड़ रहे हैं, उन्हें सम्हालता है और अपनी आन्तरिक प्रसन्नताको भी अनुभवता रहता है, आत्मदृष्टिके सिवाय कोई उपाय नहीं है कि यह जीव शान्त हो सके, आनन्दमय हो सके। किसीको अगर बहुत अधिक धनिक देखा, जैसे– बिड़ला, टाटा, बाटा, डालमिया आदि माने हुए देशके दो-चार बड़े फर्म हैं, उनके प्रति तो ऐसा भाव होना चाहिए कि वे तो बेचारे बड़े कष्टमें हैं, क्योंकि उनको आत्माकी अनुभूति, पहिचान, दृष्टि करने तकका भी समय नहीं मिलता, निरन्तर आरंभ परिग्रह सम्बंधी बात ही उनके चित्तमें बसी रहा करती है, उसकी आशा तृष्णामें ही वे निरन्तर संतप्त रहा करते हैं। ऐसा सोचने पर न उन्हें डाह जगेगी, न इतना बडा उच्च होनेकी बात चित्तमें आयगी। पुण्योदयसे यह सब हो रहा है, ऐसा सोचकर वे तृप्त रहेंगे, और अपना लक्ष्य अपने इस शाश्वत चित्स्वरूपका बनेगा। मैं तो यह हूं अमूर्त, ज्ञानमात्र, आनन्दमय, इसमें कष्टका नाम नहीं। ऐसा जिसको ज्ञानप्रकाश नहीं मिला वह अटपट व्यवहार करके विषयोंके पोषण करने की ही धुनमें रहता है। कोई पुरुष मायाचारीमें मरकर मनुष्य भी हो तो भी बड़ी दुर्दशाओं से ग्रस्त वह मनुष्य रहता है।

यत्रावलोक्य दिवि दीनमना विभूतिमन्यामरेष्वधिककांतिसुखादिकेषु।
प्राप्याभियोगपदवीं लभतेऽतिदुःखं तत्रैति वंचनपरः पुरुषो निवासे ॥५६॥

मायावी पुरुषका देवगतिमें उत्पन्न होनेपर भी ईर्ष्यादिवश व्यर्थ क्लेश सहन—यह मायाचारी पुरुष कदाचित कारणवश जैसी कि पहले आयु बांध रखी थी, देवगतिमें भी पैदा हो जाय तो वहाँ भी उसे कठिन दुःख होता है। देवगतिकी इतनी बात सुनकर कि उनको कमाना नहीं पड़ता। जब कभी हजारों वर्षोंमें भूख लगती तो उनके ही कंठसे अमृत झड़ जाता और उससे वे तृप्त हो जाते, फिर भूख-प्यासकी वेदना नहीं सताती। उनका वैक्रियक शरीर है, आयुसे पहले वे मरते नहीं, ऐसी कुछ बातें सुनकर मैं देव बनूं ऐसी भावना बहुतसे लोग करने लगते, मगर देव क्या मनुष्योंसे भले हैं? उनको कष्ट नहीं है क्या? अरे उनको तृष्णा, ईर्ष्या, विरोध, चिन्ता आदिकका बड़ा दुःख होता है। वे देव तो सब ठलुवा ही हैं, न रोजगार करनेकी उन्हें फिक्र, न घर गृहस्थीके सम्बंधकी अन्य कोई फिक्र, तो ऐसा ठलुवापन उन्हें मिला जिससे कि वे बड़े दुःखी रहते, क्योंकि यह मन ऐसा ही विचित्र है कि अन्याय न्यायकी अनेक कल्पनायें करके बड़े दुःखी होते हैं। दूसरेके ऋद्धि वैभवको देखकर मनमें बड़े विषाद किया करते हैं देवगण। अपनेसे किसी दूसरे देवकी कांति अधिक दिखे, वैभव दिखे, सुख अधिक दिखे तो देख करके उन्हें बड़ा दुःखी होना पड़ता।

मायावी पुरुषोंका हीन देवोंमें उत्पन्न होकर संक्लेशसहित कष्टोंका अनुभव—कुछ देव ऐसे हैं कि उन्हें बड़े देवोंकी आज्ञामें रहना पड़ता। देखिये—उनका कर्मविपाक ऐसा ही है कि उन्हें आज्ञामें रहना जरूरी हो जाता। भला बताओ जिनको किसी प्रकारका कष्टका प्रसंग नहीं वे अगर मना कर दें कि हमें नहीं आज्ञामें रहना है तो इन्द्र उनका क्या बिगाड़ कर सकता? कुछ नहीं कर सकता, पर ऐसा हो उनका नियोग है कि उन्हें इन्द्रकी आज्ञामें रहना ही पड़ता है। यदि इन्द्र कहे कि हाथी बनकर यह सामान लादकर या इतनी सवारी लेकर चलो तो उन्हें वैसा करना पड़ता। उनका ऐसा ही नियोग है कि वे उस आज्ञाका विरोध नहीं कर सकते। तो जब आज्ञामें रहकर उन देवोंको चलना पड़ता तो भला बतावो उन्हें दुःख न होता होगा क्या? अरे वे तो बड़ा दुःख मानते होंगे। देवगतिमें न बड़े देवोंको शान्ति, न छोटे देवोंको शान्ति। तो कदाचित् मायाचारी पुरुष देवगतिमें भी उत्पन्न हो जाय तो भी वह भला देव नहीं बन पाता। छोटी जातिका देव बनकर ऐसी ही आज्ञामें रहना पड़ता है जिससे वह अपनेको बड़ा दुःखी अनुभव करता है।

देवगतिमें भी पुरुषोंकी भांति अपमानके दुःख—अच्छा यह दुःख है सो तो है ही, मगर जैसे किन्हीं-किन्हीं मनुष्योंको घरमें सब प्रकारके आरामके साधनोंके बीच रहते हुए भी स्त्री-पुत्रादिकके दुर्वचन सुनकर बड़ा दुःखी रहना पड़ता है इसी प्रकार उन देवोंको भी सब प्रकारके आरामके साधन होते हुए भी देवांगनाओंके रति आदिके समय होने वाले अनेक दुर्व्यवहारोंसे बड़ा दुःखी रहना पड़ता है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता कि देवियाँ देवोंके साथ क्या किसी प्रकारका दुर्व्यवहार कर सकती? तो उसका समाधान दिया कि हाँ कर सकती। इसे एक दृष्टान्त द्वारा सुनो—ऋषभदेव अपने पूर्व भवोंमें एक बार ललितांग देव हुए थे, उनकी पूर्व भवकी स्त्री एक देवी हो गई थी। जब वह ललितांग देव वज्रजंघ बना तो वह देवी बनी श्रीमती कन्या वहीं। उस श्रीमतीने जब ऊपरसे देवोंको जाते देखा तो उसे पूर्व भवकी याद आ गया और उसने सोचा कि मेरा जो पति था देवगतिमें वही पुरुष मेरा अब पति बने। सो उसे एक घटना स्मरण आ गयी। एक बार किसी बात पर ललितांग देवकी देवीने ललितांग देवके सिरमें लात मारी थी और उसकी निशानी ललितांग देवके मस्तकपर बन गई थी। उस श्रीमती कन्याने ललितांग देवका एक चित्रपट बनाया, उस चित्रपटमें वह निशान उसने अंकित कर दिया। उसका प्रण था कि जो भी देव उस लात मारनेके निशानकी घटनाको सही-सही बता देगा उसीको अपना पति चुनूंगी। सो उस चित्रपटको देखने अनेक लोग आये, सभीने मूर्छाका रूपक दिखाया, इसलिए कि यह कन्या श्रीमती जान जाय कि यही मेरा पति था, पर सभीको वह अस्वीकार करती गई। अंतमें जब जिस देवने उस लात मारनेके निशानकी घटना बतायी तब उसे अपना पति चुना। तो इस घटनाका अर्थ यही हुआ ना कि देवगतिमें भी

दुर्व्यवहार संबंधी कितनी ही बातें चलती हैं, क्योंकि वे कोई ज्ञानी थोड़े ही होते। तो मायाचारी पुरुष देवगतिमें भी जन्म ले ले तो भी उसे देवगतिसे सम्बंधित अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं।

या मातृभ्रातृपितृबांधवमित्रपुत्रवस्त्राशनाभरणमंडनसौख्यहीनाः।
दीनानना मलिनर्निदितवेषरूपा नारीषु तासु भवमेति नरो निकृत्या ॥५७॥

मायाचारी पुरुषोंकी दुर्दशा—जो पुरुष मायाके वश होकर दूसरोंको ठगते हैं वे नारियोंमें भी विकृत और दुर्भगावस्था वाली नारियाँ होती हैं। माया एक ऐसा शल्य है कि जिसके कारण धर्ममार्गमें व्रत, तप आदिक भी किए जायें तो भी वे निष्फल होते हैं। यह मायाचार उनके ही जगता है जिनको अपने मायारहित सरल सहज चैतन्यस्वरूपका अनुभव नहीं हुआ। मायाचारी पुरुष अपनेको बुद्धिमान समझता है। उसकी दृष्टिमें अन्य लोग तुच्छ नजर आते। वह जानता है कि इन लोगोंको मेरी कलाका ज्ञान नहीं हो पाता और मैं माया से इन दूसरोंको ठग लेता हूं या अपनी स्वार्थसिद्धि कर लेता हूं, पर जितना भी बाहरी स्वार्थ की बात सोचता है वह सब उसीके लिए धोखा है। जैसे जगतमें कोई किसीका सहायक नहीं। वस्तुका स्वरूप ही वह है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कर्ता नहीं, कुछ उसमें परिणतिमें सहयोग दे सकता नहीं। जो कुछ है वह अपने ही आपकी परिणतिसे चलता है, वह परिणति कैसी होती है यह विषय अलग है, वह नैमित्तिक है। पूर्वबद्ध कर्मके उदयका निमित्त पाकर होता है, क्योंकि वह विकार है। जो भी विकार है वह इसी कारण है विकार कि निमित्त पाकर होता है अतएव स्वभावके अनुरूप नहीं हो पाता। जिसे अपना हित चाहिए उसे कपट जाल छोड़ना पड़ेगा। कदाचित् कपटके बलसे दुनियामें अपना यश भी फैला ले तो भी वह काहेका यश ? मायावी पुरुषोंमें थोड़ा मायावी नाम बन गया, इसपर क्या खुश होना, मगर कपटके फलमें जो दुर्गतियाँ मिलेंगी उनको जगत्का कोई पुरुष मदद न कर सकेगा।

धर्मकी आड़ लेकर कपट व्यवहारकी रचनामें अधिक खतरा—कपट लोक व्यवहार में भी होता, कपट धर्मकी आड़ लेकर भी होता और लोकव्यवहारमें जो कपटका व्यवहार चलता है उससे अधिक खतरनाक है धर्मकी आड़में कपट करनेका काम। जो धर्मकी ओट लेकर कपट करके अपना यश फैलाने पर तुला हो उसके अनन्तानुबंधी माया कषाय समझना चाहिए। अपने उद्धारका मार्ग बिल्कुल सीधा स्पष्ट है। जैसा कि आचार्य देवोंने सीधे शब्दोंमें बताया। स्वभावदृष्टि करिये। स्वभावके आश्रयसे आत्मविकास होता है। और वह स्वभावदृष्टि कैसे बने ? जो विकार है यह स्वभाव नहीं है, यह बात समझमें आये तो विकारोंको छोड़ेगा स्वभावदृष्टि बनेगी। विकार मेरा स्वरूप नहीं है, यह बात जब समझमें आती है तब

यह विदित होता कि ये विकार मेरे स्वभावसे स्वतः उत्पन्न नहीं हुए, किन्तु निमित्तकी माया, छाया प्रतिफलन है यह नैमित्तिक है अतएव विकार है, और यह मेरा स्वरूप नहीं है। जो विकारको स्वरूप नहीं मान रहा उसकी स्वभावदृष्टिका बल है ही, अन्यथा विकारमें स्वरूपका निषेध कैसे कर लेता ? अविकार चैतन्यस्वरूप यह मैं हूं ऐसा अनुभवन करना यह है सीधा मोक्षमार्ग। अब किसीको अधिक ज्ञान नहीं है, दार्शनिक करणानुयोग आदिक विषयोंका विशेष ज्ञान नहीं है तो उसे सीधी-सादी बातसे ही अपने उपयोगको निर्मल बनाकर अपना काम निकालना चाहिए, पर प्रयत्न यह करें कि हम दार्शनिक और करणानुयोगके ज्ञानके बलसे इस अध्यात्मतत्वको स्पष्ट बनायें।

भेद्य पदार्थोंके स्पष्ट बोधसे भेदविज्ञानमें विशेषता—कोई एक घटना है कि एक सेठ के यहाँ एक मुनीम और अनेक पल्लेदार रहते थे। उसके यहाँ गल्लेका व्यापार चलता था। अब मुनीमका वेतन था पल्लेदारोंसे कई गुना अधिक। इस बातको पल्लेदार लोग सोच सोचकर बड़ा कष्ट मानते थे कि देखो हम सेठका कितना तो काम करते बड़ा बड़ा बोझ दिन भर ढोते और यह मुनीम बैठे बैठे सिर्फ कलम भर हिलाता रहता कोई खास काम नही करता, आरामसे रहता फिर भी इसको हमसे कई गुना अधिक वेतन क्यों मिलता ? इस बातकी शिकायत भी की सेठसे पल्लेदारोंने। तो सेठने उस समय तो कोई खास उत्तर न दिया पर मनमें यह आया कि इनको किसी घटना द्वारा ही मौका पाने पर उत्तर दे देंगे। अब एक दिन क्या हुआ कि पास ही सड़कसे कोई बारात जा रही थी, बड़ा कोलाहल मचा हुआ था क्योंकि बड़े गाजे बाजेसे धूम धामसे बड़े जलूसके साथ वह बारात जा रही थी। सो वहाँ सेठ ने उन पल्लेदारोंको भेजा कि जावो मालूम करके आवो कि सड़कपर वह क्या चीज है। अब वे पल्लेदार कोई पढ़े लिखे तो थे नही, सो सड़क पर गए और मालूम किया कि क्या चीज है ? पता लगा कि बारात है और वापिस आकर सेठसे बस इतना ही भर कहा कि वह बारात है। उसी वक्त मुनीमसे कहा कि अब मुनीम जी तुम जावो पता लगाकर आवो कि सड़क पर वह क्या चीज है ? तो मुनीम गया और बीसों बातें पूछ पूछ कर लिख लाया और सेठसे आकर बताया कि बारात है। अमुक जगहसे आयी है, अमुक जगह जायगी। अमुकका लड़का है। अमुकके घर जायगी, अमुक समयमें वापिस होगी। यों बीसों बातें बतायी। तो सेठने उसी समय पल्लेदारोंसे कहा कि देखो तुम लोगोंमें और मुनीममें यही फर्क है कि बात हमने तुम दोनोंसे एक ही कहा कि मालूम करके आवो कि क्या है ? सो मुनीमने तुम लोगोंकी अपेक्षा कितना स्पष्ट करके सब बातें बतायीं। पल्लेदारों की समझमें सब बात आ गई ? ठीक यही बात अध्यात्मके मार्गमें लगायें। बात तो कुल

इतनी भर समझना है कि यह आत्मा सर्व पर भावोंसे विविक्त और अपने स्वरूपमात्र है, अब इतनी सी बातको स्पष्ट रूपसे समझे बिना उसका स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। किसी ने मानो इतना भर सुन लिया कि ये कर्म धूल है, मेरेसे भिन्न हैं तो इतनी भर बातसे वह स्पष्टता नहीं आ पाती। स्पष्टता तब होती जब कि सब बातोंका ज्ञान हो कि इन कर्मोंका क्या स्वरूप है। क्या कार्माण वर्गणायें हैं, कैसे कर्मत्व आता है, कैसा उनकी स्थितिका बंटवारा चलता है, कैसा विपाक है—ये सब बातें जब स्पष्ट रूपसे समझमें होती है तब उनसे विविक्तताका ज्ञान भी स्पष्ट होता है।

मायाचारीको धर्मनायक बनानेका दुःसाहस—जब तक स्पष्ट ज्ञान नहीं होता तब तक उसका ज्ञान डगमग रहता है। जैसे इन्द्रियके विषयभूत समस्त पर पदार्थ ये सब बाह्य चीजें हैं, यहाँ तक कि न दिखने वाली जो कर्मदशा है वह भी बाह्य चीज है। उसको हम युक्ति और आगमसे स्पष्ट रूपसे समझते हैं, अब जो कुछ भी विकार जगता है उस विकारके जगनेमें निमित्त कारण केवल कर्मदशा है। लोग प्रायः जानते हैं और रोज रोज समझमें आता है कि इन बाहरी विषयोंको आश्रय करके, धन वैभव कुटुम्ब आदिकको ख्यालमें लेकर कषायें जग जाया करती हैं। तो अब अज्ञानमें यह भ्रम हो जाता है कि ये भी निमित्त हैं, जिन विषयोंका आश्रय करके हमारे विकार व्यक्त बनते हैं और कर्मकी बात आगमसे सुन रखी है उसे भी निमित्त कहते हैं। अब जब थोड़ा मनोबल जगता है जिसे कहो अधकचरा विवेक और यह विदित होता है कि ये बाहरी विषयभूत पदार्थ ये तो सच्चे निमित्त नहीं जंचते। कभी ये सामने हों तो भी कषाय नहीं जगती, कभी ये न हों और कुछ हो तो भी जगती, तो निमित्त कुछ नहीं है यों निमित्तमात्रका खंडन करने लगते अरे ये दृश्य निमित्त है ही कहाँ? ये तो सब नोकर्म हैं और विकारके आश्रयभूत हैं। विकार दशामें निमित्त तो केवल कर्म विपाक दशा ही है। सो जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक हो ऐसे परपदार्थको कहते हैं निमित्त और जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक न हो किन्तु उपयोगके आश्रयभूत हों ऐसे पर पदार्थको कहते हैं बाह्य कारण आरोपित कारण। कदाचित यह भेद भी ज्ञात हो जाय तो सही बात कहनेमें चित्तमें पोजीशनकी बात सतानेको आती है कि मैं तो अब इस तरह लोगोंको कैसे समझाने लगूं कि ये बाह्य पदार्थ निमित्त नहीं हैं बल्कि केवल कर्मदशा निमित्त है और निमित्तका प्रतिफलन विकार है सो यह नैमित्तिक है। निमित्तत्वका खंडन मैं अज्ञान में करता रहा यह बात कहनेमें शर्म आने लगती है। भैया, ये बाहरी पदार्थ मात्र आश्रयभूत हैं। निमित्त नैमित्तिकयोगका उल्लंघन नहीं हो सकता है। नैमित्तिकताकी वजहसे तो ये

विकार परभाव कहलाते हैं, मेरे स्वभाव नहीं है। इस सब परिचयसे स्वभाव दृष्टि बड़ी सुगम होती है। मायाचारी पुरुषके मनमें कभी सच कहनेको मन करता है लेकिन तब फिर पोजीशन इज्जत सताने लगती है, कैसे कह दूं? जो कहता आया पहलेसे, आज उसके विरुद्ध कैसे कह दूं? नहीं तो सारे जीवनकी कमायी हुई यश कीर्ति मेरी धूलमें मिल जायगी। अब इस प्रकारका यदि ज्ञानप्रकाश प्राप्त है, किन्तु कुछ मायाचार करना पडता है तो यह एक ऐसा कर्मविपाक है कि जिसका निमित्त पाकर ऐसा कर्मबंध होता है जो कि दुर्दशा प्राप्त होती है।

निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातन्त्र्यके परिचयमें स्वभावदृष्टिकी सुगमता—ज्ञानी पुरुष किसी भी बातमें संकोच नही करता। जो सत्य है वही वस्तुतत्व है। वस्तुतः यदि स्वरूप देखा जाय तो ये रागादिकभाव यदि परसंग बिना होने लगें तो आत्मा नित्यकर्ता बन जायगा ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यने, अमृतचन्द्रसूरिने, जय सेनाचार्यने स्पष्ट शब्दोमें अनेक बार कहा "तस्मिन्निमित्तंपरसंगएव, तस्तु स्वभावोऽयमुदेति तावत्" अर्थात् ये रागादिक विकार यदि परसंग बिना हों तब तो ये विकार स्वभाव बन बैठेंगे, फिर ये विकार हटाये नहीं जा सकते। ये विकार तब ही हटाने लायक हैं कि जब ये औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, मेरे स्वरूप की वृत्ति नहीं है। मैं हूं चैतन्यस्वरूप। मेरेमे मेरे लिए मेरे ही सत्त्वसे जो वृत्ति जगेगी वह केवल चेतनाकी दृष्टि, ज्ञाताद्रष्टापनेकी दृष्टि, अविकार वृत्ति जगेगी। जितने भी विकार जिस किसी भी पदार्थमें आयें, एक जीवकी ही बात क्या पुद्गलमें भी जितने जब जो कुछ विकार आते है उसमें भी परसंग ही कारण है। वैज्ञानिक लोग इस पर काफी प्रयोग करते हैं और वे जानते है कि अमुक वस्तुका संग पाकर यह वस्तु इस प्रकार बन जायगी। और हम आप लोगोंके भी रोज रोज घटनायें घटती हैं, जैसा काम रोज करते हैं उस प्रकारकी घटनायें चलती हैं, रोटी पकानेके लिए रोज रोज आग ही सुलगाती हैं महिलायें। कभी उनको यह भ्रम नहीं होता कि रोटी आगमे रोज सिकती थी सो सब अटपट था, आग निमित्त है नही, रोटी सिकी तो निमित्त कहलाने लगती है तो आज पानीसे ही रोटी सिक जाय तो क्या हर्ज है। ऐसा पागलपन निमित्तत्व खंडन करने वाले स्वामी स्वामिनी कभी नहीं करते। यह प्रतिनियत व्यवस्था क्यों बनी है? यह प्रतिनियत व्यवस्था निमित्तनैमित्तिक योगको सिद्ध करती है, पर वहाँ कर्ता कर्मभाव रंच भी नहीं दिखता।

वस्तुस्वातंत्र्य, निमित्तनैमित्तिक भाव, कर्तृकर्मत्वाभावका परिचय होनेपर अहङ्कार व कायरताका अभाव—आत्महितके लिये सत्य ज्ञान प्रकाश आवश्यक है। यदि मैं अपने विकारके बारेमें यह श्रद्धा लेकर बैठूं कि मेरे विकारोंको कर्म कर देते हैं तब तो मैं कायर

बन गया। फिर तो यह उमंग ही नहीं जग सकती है कि इन कर्मोंसे हट सकूँ। तो कर्तृकर्म भाव माननेसे अपनेमें विकार मिटनेकी बात कभी हो ही नहीं सकती। ये कर्म कर देते हैं राग द्वेष। यदि ये कर्म ही गम खायेंगे तो ये मेरे रागद्वेष मिटेंगे। मेरा इनमें क्या वश है? यों कायर होकर सदा भ्रमण करते रहेंगे। ऐसा कर्तृकर्म भाव नहीं है स्वरूपमें, यह बात समझ लें और जान लें कि केवल निमित्तनैमित्तिक भाव है यहाँ कि जो कर्मविपाकका निमित्त पाकर मैं ही खुद रागादिक रूप परिणमता हूं। कहीं कर्म नहीं, रागरूप परिणमते। मैं ही परिणमता हूं। परस्पर कर्तृकर्मभावके अभावकी दृष्टि होनेसे न तो उसे अहंकार जगेगा, न तो यह भाव जगेगा कि मैं दूसरोंका पालन-पोषण करता हूँ, मैं दूसरोंको ऐसा प्रगतिशील बना देता हूं, ऐसा भाव न आयगा। तो अहंकार भाव न रहेगा। यदि कर्ता कर्मकी बुद्धि होवे तो इसके अहंकार बना रहेगा। जगतके जीवोंको क्यों अहंकार बना हुआ है कि वे प्रत्येक द्रव्य का कर्ता अपनेको मानते हैं। मैंने मकान बनाया, दुकान बनाया, लड़कोंको ऐसा कुशल बनाया, मैं समाजको पालता हूं, मैं अमुक अमुक काम कर देता हूं। इस प्रकार परपदार्थोंमें कर्तृत्वकी बुद्धि होनेसे अहंकार जगता है और इसी तरह दूसरे मेरेको दुःखी कर डालेंगे। वे जो चाहे मेरा बिगाड़ कर सकते हैं, यों परकी ओरसे कर्तृत्व माना जाय तो वहाँ कायरता बनती है। पर जो वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव इनका सही परिचय पाते हैं वे न कायर बनते हैं, न अहंकारी बनते हैं, न कुमार्गगामी हो सकते हैं, किन्तु सन्मार्गपर यथा-शक्ति चलते हुए ज्ञानस्वभावकी भावनाको भरते रहते हैं। तो अपना शुद्ध स्वरूप जानें और ऐसा ही दुनियाको बतायें जैसा कि स्वरूप है, उल्टा बतानेका कपट न रखें तो इस जीवकी वर्तमानदशा भी समीचीन होगी। भविष्य भी उज्ज्वल रहेगा।

मायावी पुरुषोंका दुर्दशापूर्ण नारीभवमें जन्म—जो पुरुष मायावी हैं उनकी उत्पत्ति ऐसे दीन हीन नारियोंमें होती है कि जैसे कोई माताके न होनेसे बेचारी लड़की कहलाती है या पिताके न होनेसे असहाय होती। बांधवका वियोग होनेसे कुटुम्बहीन होनेसे उसका कोई सहायक नहीं रहता। माता, पिता, पुत्र, बांधव आदिक रहित दीन दरिद्र ऐसी स्थिति वाली नारियोंमें जन्म होता है। तो बुद्धिमान पुरुषोंको सोचना चाहिए कि जगतमें कौन सी वस्तु ऐसी है मेरे हितरूप कि जिसकी प्राप्तिके लिए मुझे मायाचारी करनी चाहिये। कोई पुरुष उदार भी हो। धन दौलतकी विशेष परवाह न रखता हो किन्तु उसे यश इज्जतकी ममता लग जाती हो तो उसके कारण मायाचार करता। तो यश कीर्ति नामवरी ये भी असार बातें हैं। यशका क्या अर्थ? कुछ लोगोंको जिनको कुछ सहूलियत मिल जाय तो उस लोभके कारण वे कुछ नाम गा दें तो आखिर इतना ही तो किया उन्होंने। लोभके

कारण ही तो वे यश गाते हैं, वे कोई ऐसे न मिलेंगे जो बिना लोभके वश होकर यश गाते हो। हाँ जिनमें धर्मरुचि हो वे ही पुरुष धर्मात्माजनोंका, गुणीजनोंका, परमेष्ठियोंका, प्रभुका गुणगान करते हैं। बाकी लोग जिनको वस्तुस्वभावकी श्रद्धा नहीं है वे यदि किसीका गुण-गान करते हैं तो उसमें कोई न कोई लोभ कारण होता है। तो लोभके कारण कुछ पुरुषों ने कुछ नाम गा दिया तो यह गुणगान उनका कहाँ तक सहायक होगा ? उसका क्या महत्त्व है ? मेरेको ऐसा कुछ निर्णय तो रखना चाहिये कि क्या संसारके इन मायामय प्रसंगोंमें, कीर्तिमें ही अपने आपको बहाकर खो दिया जाय ? कुछ नहीं बाहरमें देखना ? कोई कुछ कहे, उससे मेरा उद्धार नहीं। मैं ही आचरणसे यदि सही हूं, मैं प्रभुके मार्गमें चल रहा हूं तो मेरा उद्धार है और प्रभुका मार्ग छोड़कर कुमार्गमें चल बैठें तो मेरा पतन है। कोई दूसरा मेरा न सुधार करता न पतन करता।

देखिये—सबसे बड़ा व्यामोह होता है नामवरीका। सो नामवरी खूब करते जावो यदि होती हो तो। अब पूछा जाय कि बताओ तुम कितने लोगोंमें और कितने क्षेत्रमे नाम-वरी चाहते हो ? तो शायद यही उत्तर होगा कि हम तो संसारके सब जीवोंमें अपना नाम चाहते हैं। अब जीव तो हैं संसारमें अनन्तानन्त। तो क्या संसारके सब जीवोंमें किसीका नाम फैल सकता ? अरे सब जीवोंकी तो बात छोड़ो, सारे मनुष्योंमें भी नहीं फैल सकता। जब ऐसी बात है तब फिर थोड़ेसे परिचित क्षेत्रके थोड़ेसे लोगोंमें अपना नाम चाहनेसे क्या फायदा ? इतना सा परिचित क्षेत्र सारे विश्वके सामने तो कुछ भी गिनती नहीं रखता। विश्व तो ३४३ घनराजू प्रमाण है तो क्या सर्वत्र किसीका यश फैल पाता है ? इस सारी दुनियाके आगे एक बिन्दुभर जगहमें कुछ स्वार्थी जनोंने यदि कुछ यश गा दिया तो इतने व्यामोहसे अपने अनन्त संसार भ्रमणका कारण क्यों बनाया जा रहा है ? अच्छा कितने समय तक यश चाहिए ? क्या कोई कह देगा कि हमें तो बस १००-५० वर्ष ही यश चाहिए ? अरे वह तो यही कहेगा कि हमें तो यश सदैव चाहिए। तो ऐसा कहनेसे होता क्या ? काल अनन्त है। उस अनन्त कालके सामने ये १००-५० वर्ष तो कुछ गिनतीमें ही नहीं आते, इतनासा समय तो एक विशाल समुद्रके एक बिन्दु बराबर है। इतनेसे समयका व्यामोह अगर छोड़ दिया जाय तो सन्मार्ग मिलेगा।

निज सहज स्वभावमें स्वात्मत्वके अनुभवसे उद्धार—जिनका होनहार भला है, जिनको स्वरूपदृष्टि मिली हुई है वे सर्व कार्य अपने आप बना लेते हैं। क्या चाहिए ? स्वभाव का अनुभव। मैं वास्तवमें सहज स्वरूपसे क्या हूं, ऐसा अपनेको सोचना चाहिए। यह बात यदि बनेगी तो सब काम ठीक बनने लगेंगे। फिर अन्य कामोंमें विशेष प्रतिबोधकी आवश्य-

कता नहीं होती। यही एक मौलिक उपाय है अपने आपके उद्धारका। सो जो मायाचार करता है वह अपने सहज परमात्मतत्त्वको ही ठगता है दूसरेको नहीं ठगता। कोई भी ठगने वाला खुदको ठगता है। अब जिसको ठगा जाय उसकी दुर्गति हो, यह नियम नहीं, पर ठगने वालेकी नियमसे दुर्गति होती है। अब बताओ ठगने वाला टोटेमें रहेगा या ठगा जाने वाला। टोटेमें तो ठगने वाला ही रहा, ठगा जाने वाला टोटेमें नहीं रहा। थोड़े प्रसंगोंमें धैर्य खो देना, अपने स्वरूपको भूल जाना और लौकिक रीतिमें बढ़ जाना यह अपने आपके घातके लिए है। इससे नित्य शाश्वत अन्तः प्रकाशमान सहज आनन्दरूप अपनी ही सत्ता मात्रके कारण अपनी चिद्वृत्तिरूप अन्तस्तत्त्वमें यह मैं हू ऐसी दृढ़ पकड़ होनी चाहिये। इस ही पकड़के बलसे हम आपका उद्धार होगा।

शीलव्रतो यमतपःशमसंयुतोऽपि नात्राश्नुते निकृतिशल्यधरो मनुष्यः।
आत्यंतिकी श्रियमबाध सुखस्वरूपां शल्यान्वितो विविधधान्यधनेश्वरो वा ॥५८॥

नाना सम्पन्नतायें होनेपर मायाशल्ययुक्त पुरुषके शान्तिका असंभवपना—जिसके चित्तमें माया शल्य है वह अनेक तरहकी सम्पन्नतायें होने पर भी शान्त नहीं हो सकता, क्योंकि भीतरमें मायाचारका परिणाम बड़ा कुटिल है और सब जगह अनेक स्थानोंमें इस उपयोगको बुरी तरह भ्रमाता है जैसे कि कोई पुरुष धन-धान्यादिकसे सम्पन्न हो तो भी मन में चित्तमें रहनेसे किसी भी प्रकारका सुख नहीं प्राप्त कर पाता, क्योंकि वह चिन्तासे ही दुःखी रहता है। तृष्णा एक ऐसी बुरी बला है कि अनावश्यक व्यर्थके विकल्प और चिन्तायें करता रहता है। मनुष्यको क्षुधा तृषाको मिटानेका साधन चाहिए और ठंडी गर्मीसे बचनेका साधन चाहिये। इसके अतिरिक्त कोई ऐसी आवश्यक चीज नहीं है कि जिसके बिना काम न सरता हो। इसके अतिरिक्त गृहस्थीमें चूंकि वह संयम पालन करनेका पूरा पात्र नहीं है सो गृहस्थी बसायी, वहाँ कुछ दंद-फंद बढ़ गया, वहाँ भी सबका गुजारा हो, इतने मात्रकी आवश्यकता है, इससे अधिक कुछ न चाहिए। और चाहनेसे होता भी क्या है? पुण्य पापके उदयके अनुसार थोड़ेसे प्रयाससे सर्व समागम बन जाते हैं। फिर इसका कर्तव्य है कि जो भी स्थिति बने उस स्थितिमें अपने गुजारेका ढंग बनाना और धर्मपालनकी धुन बनायी। सम्पन्नता भी होना, धन-वैभव जुड़ना यह तो अपने लिए सार बात नहीं है, पर जो भी वैभव हो, सम्पन्नता हो उसमें ही गुजारा कर लेना, यह अपनी कला आवश्यक है। तब उसके लिए क्यों ललचायें? सुखी ही तो रहना है, सुखी शान्त होनेके लिए धर्म ही एक आश्रय है।

विषयसुखोंकी क्षोभरूपता—जिसको हम विषय सुखोंका मौज कहते हैं। वे सब आकुलतायें हैं। कोई भी विषयका भोग शान्तिके साथ कोई करता हो तो बतलावो? क्षोभ

के साथ करता है। गायनका सुनना, सिनेमा थियेटरका देखना, किसी रूपका देखना, गंधका सूंघना, स्वाद लेना और विषय मैथुन प्रसंग करना। कोईसा भी विषय ले लो ? क्षोभसे प्राप्त होता है, और क्षोभसे वही अत्यन्त पीड़ित है। जैसे एक मैथुन प्रसंगकी ही बात ले लो। आकुलता न हो, क्षोभ न हो, वेदना न हो तो कौन उस खोटे प्रसंगमें लगे ? और जिस समय खोटे प्रसंगमें लगता है उस समय भी कितना भीतरमें व्यग्रता और घुड़दौड़ मची रहती है कल्पनाओंकी और विषयप्रसंगकी बात अपनेको शक्तिहीन करती है और तुरन्त कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकता। ऐसी ही सभी विषयोंकी बात है। जब रसनासे स्वाद लेते हैं, खानेका मौज लेते हैं तो वेदना हुए बिना कोई खाना खाता है क्या ? पीड़ा होती है और उस पीड़ा को प्रकट करनेके लिए खाना खानेका परिक्रम किया जाता है और खाना खाते हुए क्या यह समता और शान्तिका अनुभव करता है ? व्याकुलता भी अनुभव करता है। अभी यह खाया अब यह खा रहे हैं, अब यह खायेंगे, कुछ मौजसा आ रहा है तो उसमें व्याकुलताके साथ प्रवृत्ति हो रही है। उसके बनानेमें भी क्षोभ, खानेमें भी क्षोभ। हर बातमे क्षोभ। कौनसा ऐसा भोग है जो शान्तिके साथ भोगा जाता हो और भोगनेके बाद शान्ति प्राप्त होती हो ? ये सब अनावश्यक बातें हैं।

सात्त्विकता व उदारताके संगममें जीवनक्षणोंकी उज्ज्वलता—भैया, अपना ऐसा जीवन बितायें कि अपने खाने पीनेको साधन-सामग्री मध्यम वर्गके लोगोंकी तरह रखें। गरीब लोगोंकी तरह सात्त्विक वृत्तिसे अपने जीवनमें रहें और पुण्योदयसे अगर धन बढ़ता है तो उस धनका सदुपयोग करे परोपकारमें। तब वह जीवनमें जितनी शान्ति पायगा वह शान्ति वह पुरुष नहीं पा सकता जो अपने आरामके लिए बड़े साधन जुटाये। बँगले, कार, अच्छे दोस्तों का प्रसंग आदि बड़ी-बड़ी बातें जुटायें तो एक तो धन विशेष, कामकी चिन्ता, दूसरे जितना ही अधिक पुरुषोंका प्रसंग होगा उतनी ही विपत्तियाँ आयेंगी। कभी कभी कोई परिवार मौज में ही बहुतसे रिश्तेदारोंको अपने घर बुला लेते, जैसे मानो गर्मीकी छुट्टी है तो उन दिनों अनेकों लोगोंको अपने घर बुला लिया, इसलिए कि कुछ दिन आनन्दका वातावरण रहे, मगर होता क्या है कि वहाँ रात दिन क्षोभ और क्रोधके प्रसंगोंकी बात अधिक रहती है। जितना अधिक प्रसंग होगा उतना ही अधिक क्षोभकी बात बनती जायगी। तो ये सब अनावश्यक बातें हैं। आवश्यक जितना हो उतनेसे ही संतुष्ट रहें और बाकी सब कुछ धर्मपालनके लिए समय और उपयोग लगायें, जीवन तो उसका निष्फल है, पर तृष्णा ऐसी पिशाचिनी है कि वह विवेकको खो देती है और जहाँ तृष्णा बढ़ती है वहाँ मायाचार करना पड़ता है। किसी को मायाचार करनेकी कुछ अटकी थोड़े ही है मगर व्यर्थ की तृष्णा लगी है और उस तृष्णा

के अनुकूल साधन चाहते हैं। और साधन मिल जायें ऐसा पुण्य नहीं है तो छलसे, कपटसे, किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ कहा, यों मायाचारका व्यवहार करते हैं। तो ऐसा व्यवहार करने वाला पुरुष कदाचित् सम्पन्नता भी पाये तो भी वह शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

सरलता व आत्मधुनमें ही आत्मलाभ—दुनियाकी दुनियावी दृष्टिमें बेवकूफसा (उल्लू सा) बनकर रहनेमें लाभ है। यह सारी दुनिया, इसके लिए कौन बुद्धिमान बनता फिरे ? और बुद्धि बढ़ाता फिरे तो वह सब उलझन है। और यदि इस मायाचारको छोड़कर, विषय कषायको छोड़कर सरल विधिसे चलें तो यद्यपि दुनियाके लोग उसे बेवकूफ कहेंगे, पर कह लेने दो बेवकूफ, अगर खुद धर्मपालन करते हुए चल रहे अपने जीवनमें तो उससे सारा फायदा ही फायदा है। धर्मस्वरूपको छोड़कर दुनियामें सर्वोच्च जंचनेके लिए जिसने प्रयत्न किया है उसको तो इस जीवनमें भी बड़ा दुःख सहना पड़ता है। वह एक घंटा भी आरामसे सो नहीं पाता। मान लो कोई बड़ा नेता बन गया या राज्याधिकारी मिनिस्टर बन गया तो बनते समय भी उसे दुःख और यदि उसका वह पद मिट गया तो उस समय भी दुःख। यद्यपि दुःखके कारण ये नहीं हैं किन्तु आत्मज्ञान न होनेसे दुनियाकी दृष्टिमें उच्च बननेका भाव बन गया तो उसको तो केवल कष्ट ही कष्ट है। शान्ति कभी नहीं मिल सकती। तो मायाचार छोड़कर सरल भावसे अपने जीवनमें रहे। अनादि कालसे भव भवमें भ्रमण करते करते आज मनुष्यभव मिला है जिसमें मन भी श्रेष्ठ मिला है, तो आत्महित जिसमें हो, केवल यह ही धुन होना चाहिए और बाकी दुनियाकी पार्टी चक्कर, अर्थसंग्रह, कीर्ति, चाह आदिकी बातें ये सब व्यर्थ हैं। केवल आत्महितकी धुन रहे, उसके लिए जो कुछ भी छोड़ना पड़े उसमें कोई संकोच न हो। सो सरल भावसे रहनेका कर्तव्य इस जीवनमें हो।

दुर्लभ योग्य जिह्वाके लाभका सदुपयोग हित मित प्रिय संभाषण—देखिये—अनन्त काल निगोदमें बीता, वहाँ तो जीभ मिली नहीं। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रिय को जीभ मिली तो वे जीभसे क्या बोलें ? वे कहाँ स्पष्ट शब्द बोल पाते हैं। पशु पक्षी हो गए, उनको भी जीभ मिली तो भी वे वचन वर्गणायें नहीं बोल पाते। भाषा तो है उनके भी, मगर जैसे अक्षर हम आप बोलते वैसे अक्षर वे कहाँ बोल पाते ? वे तो बाँय बाँय, भौं भौं, चीं चीं करते रहते हैं। तो इस जीभसे भी वह लाभ उन जीवोंको न मिल पाया जो मनुष्योंको मिल रहा। मनुष्योंको ऐसा जीभ, ओंठ, मुख, तालू आदिकी रचना मिली कि जिससे अपने मनकी सब बात दूसरों स्पष्ट बता सकते और दूसरोंके मनकी बात सुन सकते। अब कोई इस जिह्वाको पाकर यदि इसका दुरुपयोग करे तो अलंकारमें यों समझो कि कर्म फिर उसे जीभ न देंगे, समझ लेंगे कि इसे तो जीभकी कुछ जरूरत नहीं है। तो फिर वही

एकेन्द्रिय बनना पड़ेगा। वहाँ फिर जीभ न मिलेगी। तो अपनी एक बड़ी जिम्मेदारी है कि इन पाये हुए दुर्लभ वचनोंका सदुपयोग करें। अपना हित, मित, प्रिय वचन व्यवहार रखें। मायाचारी रहित अपना वचन व्यवहार रहे। अपने इन वचनोंके द्वारा किसीको ठगनेका विचार न करें। कष्ट आखिर दूसरोंको ठगने वाला ही पायगा। जो ठगा गया वह कष्ट पाये ही, ऐसा कोई नियम नहीं। वह तो उसके उदयसे सम्बंधित बात है।

क्लेशार्जितं सुखकरं रमणीयमर्ध्यं धन्यं कृषीबलजनस्य शिखीव सर्वं।
भस्मीकरोति बहुधापि जनस्य सत्यं मायाशिखी प्रचुरदोषकरः क्षणेन ॥५६॥

मायाग्नि द्वारा गुणसमूहका दहन व मायाचारी पुरुषसे विशेष खतरा—जैसे कोई कृषक बड़े परिश्रमसे धान पैदा करे—खेत जोते, बीज बोये, उसे समय-समय पर पानी दे, उसकी निराई की गई, और और भी उससे सम्बंधित बड़े-बड़े श्रम करे। सब श्रम करके बड़े कष्ट उठाकर फसल तैयार करे, उसे काटकर खलियानमें रखे, उसकी दाँय करे, सब काम कर डाले, पर अन्तमें उस धानकी बड़ी राशिमें कोई अग्निकण गिर जाय तो वह सारा धान भस्म हो जाता है इसी प्रकार बहुत-बहुत कष्ट उठाकर दुनियामें बड़ा यश भी प्राप्त किया, बड़े बड़े गुणसमूह भी प्राप्त किए फिर भी पीछे यदि बुद्धि बिगड़ जाय, क्रोध, मान, माया आदिक कषायोंमें प्रवृत्त हो जाय तो उसके वे सारे गुणसमूह भस्म हो जाते हैं। जिस पुरुषको क्रोध कषाय करनेका स्वभाव है उसके पास तो आप बैठ भी सकते हैं, देखा जायगा, जब क्रोध करेगा तब हट जायेंगे, सावधान हो जायेंगे, मान करने वालेके पास भी आप बैठ सकते हैं, और लोभ करने वालेके पास भी आप बैठ सकते हैं। जिस समय उसकी वैसी प्रवृत्ति होते देखा उस समय सावधान होकर उससे दूर हट गए, मगर मायाचारी पुरुषके पास कोई नहीं बैठना चाहता, क्योंकि वह बड़ा खतरनाक है। उसके प्रति यह पता नहीं कि कब कैसा मायाचारीका बर्ताव कर दे कि घोर विपत्तिका सामना करना पड़ जाय।

मायाचारी असत्यवादियोंके संगका बड़ा खतरा—एक कथानक है कि किसी पुरुष को झूठ बोलनेकी बहुत आदत थी, वह एक बार एक सेठके पास पहुंचा और बोला कि सेठ जी हमें अपने यहाँ नौकर रख लो। तो सेठने पूछा—क्या वेतन लोगे ?....अजी वेतन कुछ नहीं, सिर्फ सीधा-सादा भोजन देते रहना और पूरा काम लेते रहना। इससे अधिक हमें कुछ न चाहिए। तो सेठने समझा कि यह तो बड़ा सस्ता नौकर मिल रहा। इतना सस्ता नौकर कहाँ धरा ? सेठ बोला—भाई और कुछ बता दो—क्या लोगे ? /तो वह पुरुष बोला—सेठ जी हमको सालमें एक बार झूठ बोलनेकी आज्ञा दे दो, इससे अधिक नहीं, क्योंकि हमको

कुछ झूठ बोलनेकी भी आदत है। तो सेठ बोला—हाँ हाँ सालमें एक बार झूठ बोल लेना। सेठने सोचा कि हम तो रोज-रोज कितना ही झूठ बोलते, यह तो सालमें एक ही बार झूठ बोलनेको कह रहा, और फिर जब यह झूठ बोलेगा उस समय हम सावधान हो जायेंगे। यह सोचकर सेठने उसे अपने घर नौकर रख लिया। खैर चलता रहा, जब करीब १ वर्ष होनेको हुआ तो उस पुरुषने एक माया रची। आखिर उसे झूठ बोले बिना चैन तो पड़ नहीं रही थी, क्योंकि एक आदत ही ऐसी बन गई थी। सो क्या किया सि सेठानीसे कह दिया कि सेठानी जी आपको कुछ मालूम भी है, ये सेठजी प्रतिदिन रात्रिको करीब ११ बजे एक वेश्या के घर जाते हैं। इनका चरित्र बहुत बिगड़ गया है। (देखिये—स्त्रियोंको सबसे बड़ा दुःख इस बातमें होता जब कि उसका पति परस्त्रीगामी या वेश्यागामी है) तो इस बातको सुनकर सेठानी बहुत दुःखी हुई। फिर वह पुरुष सेठानीसे बोला— देखो तुम्हें अगर इस बातकी परीक्षा करना हो तो एक उपाय करो, हम वह उपाय बताते हैं—रात्रिके करीब १० बजे जब सेठजी सो जावें तब तुम बढ़िया उस्तरेसे उनकी दाढ़ी एक तरफ़ बना देना, जब सेठजी उस रूपमें वेश्याके घर जायेंगे तो वहाँ हो हल्ला मच जायगा, बस तुम्हें उसका सही पता पड़ जायगा। तो सेठानी बोली—ठीक है ऐसा ही करूँगी। उधर सेठसे कह दिया कि देखो सेठ जी तुम्हारी सेठानीका चरित्र बिगड़ गया है वह आज रात्रिको करीब १० बजे उस्तरा लेकर तुम्हारी गर्दन साफ करने आयगी, सो सावधान रहना। अब उस दिन जब सेठजी बिस्तरमें सोनेके लिए लेटे तो उन्हें नींद न आये। यों ही बनावटी आँखें मींचकर लेटे रहे। उधर वह सेठानी उस्तरा लेकर सेठकी एक ओरकी दाढ़ी बनाने आयी। (देखिये कुछ उस्तरे ऐसे भी होते कि सोतेमें हजामत बना दीं जाय, पर पता न पड़े) सो जब सेठानी उस्तरा लेकर आयी तो सेठने समझ लिया कि मेरा नौकर ठीक ही कह रहा था, सो झट उठा और सेठानीसे लड़ने लगा। दोनोंमें बड़ी तेज लड़ाई हुई, मार-पिटाईकी नौबत आ गई। बादमें वह नौकर बोला— सेठजी बस लड़ाई बंद कर दो, हमने अपना वेतन पा लिया। तुम दोनों ही ठीक हो, खराब कोई नहीं। यह तो हमने अपना वेतन चुकाया है। तुमने ही तो सालमें एक बार झूठ बोल लेनेका वायदा दिया था। बस लड़ाई बंद हो गई। तो मायाचारी पुरुष बड़ा खतरनाक होता है, पता नहीं उसके द्वारा कब विपत्तिका सामना करना पड़ जाय। यह माया रूपी अग्नि बड़े बड़े गुणसमूहको भी क्षणभरमें ध्वस्त कर देती हैं।

विद्वेषवैरिकलहासुखघात भीतिनिर्भर्त्सनाभिभवनासुविनाशनादीन्।
दोषानुपैति निखिलान् मनुजोऽतिमायी बुद्ध्वेति चारुमतयो न भजंति मायां ॥६०॥

नाना दोषोंकी खान मायाके व्यवहारसे स्व पर दोनोंकी हानि—मायाचारी पुरुष

इस संसारके बैरको बढ़ाता है, एक दूसरेकी मित्रताको खतम करा देता है, उनमें परस्पर बैर को बढ़ा देता है और वह खुद शत्रुवोंके डरसे चिन्तित होकर दुःख पाता है। ऐसा पुरुष कहलाता है दोगला। इससे बढ़कर होता है चोगला। चुगलखोरको चुगला कहते। देखिये—जिसके दो गले हों सो दोगला और जिसके चार गले हों सो चोगला। याने एकसे कुछ कहा, दूसरेसे कुछ कहा वह हो गया दोगला और एक ही बातको एकसे कुछ कहा, दूसरेसे कुछ कहा, तीसरेसे कुछ कहा और चौथेसे कुछ कहा तो यह हो गया चोगला। ऐसा मायाचारी पुरुष निरन्तर चिन्तित रहता है। कहीं इन दोनोंमें या सबमें दोस्ती न हो जाय, और मेरी मायाचारीकी बात खुल न जाय इस बातकी शल्य उसे निरन्तर बनी रहा करती है। मायाचारी करने वाला पुरुष रात-दिन लड़ाई-झगड़ेमें फंसा रहा करता है, सुखसे वह हाथ धो बैठता है। उसे सुख शान्ति नहीं मिलती। शान्ति पानेका बहुत सुगम तरीका यह है कि जब गृहस्थजन हैं तो अपना और कुटुम्बी जनोंकी भूख-प्यासकी बाधा मिटे, ठंड गर्मीकी बाधा मिटे, इसके लिए कमाई करना भी जरूरी हो जाता है, मगर उसकी भी विशेष चिन्ता क्या करना? जिस पुण्य प्रकृतिके उदयसे मनुष्य हुए, श्रेष्ठ समागम मिले, श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुए तो इतना भाग्य तो कमसे कम है ही कि गुजारा आसानीसे कर सकें, फिर सारे समय खुद धर्मपालनके लिए और अपने कुटुम्बमें रहने वाले लोगोंको धर्मपालनकी शिक्षाके लिए प्रायोगिक काम करें।

व्यवहारधर्म व निश्चयधर्मकी उपयोगिता—धर्मपालन है मात्र स्वभावदृष्टि, इसके पानेके लिए उतना कार्य करना पड़ता है जितना कि हम भूलकर भटक गए हैं वहांसे लौटने के लिए आवश्यक है उस ही का नाम व्यवहारधर्म है मायने है विकार शत्रुओं पर प्रहार करना। युद्धमें जो योद्धा लड़ने जाता है उसके हाथमें ढाल और तलवार दोनों रहते हैं। आजकल चाहे ढाल और तलवारका रूप कुछ भी रख लिया हो वैज्ञानिक तरक्की कर लेने की वजहसे, मगर बिना ढाल और तलवारके योद्धा लोग युद्धमें सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। बचाव करनेके उपायका नाम है ढाल और प्रहार करनेकी जो वृत्ति है उसका नाम है तलवार। इन दोनोंको जो युद्धमें लेकर जाता है वह योद्धा युद्धमें सफल हो पाता है। अब कोई सोचे कि युद्धमें तो प्रहार भर करता है, ढालकी क्या जरूरत? केवल तलवार लेकर उतर जाय तो बचावका उपाय न होनेसे चारों ओरसे घिर जायगा और मार दिया जायगा। अब कोई सोचे कि ढाल ही ढाल ले जावें, वही सब कुछ है, तलवारकी वहां क्या जरूरत? तो केवल ढाल लेकर युद्धमें जाने वाला भी मारा

जायगा। वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता। ढाल और तलवार जैसे ये दोनों उपयोगी हैं युद्धमें विजय पानेके लिए ऐसे ही संसारयुद्धमें विजय पानेके लिए व्यवहारधर्म निश्चयधर्म ये दोनों ही उपयोगी हैं। व्यवहारधर्मसे अपनेको सुरक्षित बनायें, क्योंकि व्यसन, पाप आदिके खोटे संस्कार जो अनादिकालसे साथ लगे हैं वे उदयमें आते हैं, उनसे दूर होनेका सीधा तात्कालिक उपाय क्या है ? पूजा, भक्ति, दया, दान आदि शुभ कार्योंमें लगना। धर्मात्मा जनोंकी सेवा-भक्तिसे सम्बंधित जो कार्य हैं उनका नाम है व्यवहारधर्म। उससे तो अपनेको सुरक्षित बनायें ताकि व्यसनोंका, पापवासनाका प्रहार अपने पर न आ सके। उनसे अपनेको बचा लें। अब उस सुरक्षित दशामें कर्तव्य यह है कि अपनी प्रखर तत्त्वज्ञानदृष्टिसे अपने आपको ज्ञानमात्र सहज स्वरूप अनुभवनेका प्रयत्न करें, सफलता हो जायगी। यह एक सीधी सादी सी बात है। विवाद विसम्वाद आदिमें पड़कर सारा जीवन यों ही व्यर्थ खो देनेमें कोई बुद्धिमानी नहीं है।

पक्षपोषणकी कषायमें नाना विडम्बनायें—एक घटना है कि किसी स्टेशनके पास कोई दो मित्रोंमें विवाद हो गया, इस बातपर कि एक तो कह रहा था कि खण्डवाके लिए इस स्टेशनसे ११ बजे रात्रिको एक्सप्रेस गाड़ी मिलती है बीचमें कोई गाड़ी नहीं है। एक कह रहा था कि ८ बजे रात्रिको एक एक्सप्रेस जाता है, इसी बातपर दोनोंमें बात बढ़ गई, तेज झगड़ासा दोनोंमें मच गया, यहाँ तक कि मार-पिटाई तककी नौबत आ गई। इतनेमें कोई विवेकी पुरुष आया और पूछा कि भाई तुम लोग आपसमें क्यों झगड़ते हो ? तो उन दोनोंने अपनी-अपनी बात कही। एक बोला कि यहाँके स्टेशनसे खण्डवाको गाड़ी रात्रिके ८ बजे जाती है और यह झूठ बोलता कि ११ बजे जाती है, दूसरा बोला—यहाँसे खण्डवाको गाड़ी ११ बजे मिलेगी, यह झूठ बोलता है कि ८ बजे रात्रिमें मिलेगी। तो उस विवेकी पुरुष ने पूछा कि भाई तुम दोनोंमें से किसे खण्डवा जाना है ? तो वे दोनों ही बोले कि हमें नहीं जाना है तो वह विवेकी बोला—जब तुम्हें जाना नहीं है तब फिर इतना बड़ा झगड़ा कर डालनेसे फायदा क्या ? तो यही बात यहाँ समझ लो, कल्याण तो किसीको करना नहीं है, सिर्फ कल्याणके सम्बन्धकी बातें कर-करके आपसमें झगड़ रहे हैं। अरे व्यर्थके झगड़ोंमें पड़-कर इस दुर्लभ मानव-जीवनको क्यों व्यर्थ खोया जा रहा है ? व्यर्थकी मायाचारी करनेका फल तो बड़ा भयंकर होगा। मायाचारी करने वालेके चित्तमें धर्मका प्रवेश नहीं हो सकता। जैसे मालाके किसी दानेमें टेढ़ा छेद हो तो उसमें सूत नहीं पिरोया जा सकता, इसी प्रकार टेढ़े हृदय वाले व्यक्तिके अन्दर धर्मका प्रवेश नहीं हो सकता। मायाचारीसे भरा हृदय तो बेकार हृदय है, यह तो उसके संसारका परिभ्रमण ही बढ़ायेगा। इसलिए अपने हितकी धुन

रखनी चाहिए कि किसी भी प्रकार जैसे बने मेरेको ज्ञानप्रकाश मिले और उस पर अपनी शक्ति अनुसार चलकर जो कुछ शेष काम हैं, आगे करके संसार सागरसे छुटकारा पायें यही केवल एक भावना होनी चाहिए। करनेका कर्तव्य तो केवल एक यही है, बाकी तो सब व्यर्थ समझिये।

या प्रत्ययं बुधजनेषु निराकरोति पुण्यं हिनस्ति परिवर्द्धयते च पापं।
सत्यं निरस्यति तनोति विनिंद्यभावं तां सेवते निकृतिमत्र जनो न भव्यः ॥६१॥

मायाचारीके विश्वासकी समाप्ति—माया मायने छल-कपटका व्यवहार विद्वानोंमें विश्वास खो देता है। याने मायाचारी पुरुषोंका विद्वानोंमें फिर विश्वास नहीं रहता, लोग उसके प्रति विश्वास नहीं करते और जिसका विश्वास उठ गया उसका जीवन यों ही गया। तो मायासे इतना बड़ा नुक्सान है और फिर मायासे कुछ बनता भी नहीं। बहुत संक्लेश करनेसे बड़े मायाचारके भाव बनाये तो भी इससे मिलता कुछ नहीं है। जो जितना पुण्योदय है मिलेगा उतना ही, पुण्यसे बाहर न मिलेगा और पुण्य गया तो मिली हुई सम्पत्ति भी गई। मायाचार करनेसे क्या होता कि जो पुण्यबंध था या होता उसमें भी कमी आ जाती है।

सम्पत्तिलाभको पूर्वकृत पुण्यके उदय पर निर्भरता—एक बार एक सेठ गरीब हो गया। बहुत बड़ा सेठ था। इतना गरीब हो गया कि खानेके लिए उसे कहीं छोटा काम करना पड़ा। मिल गया काम उसे अर्जीनवीसीका। अर्जीनवीसीका काम वह कहलाता है कि किसीका पत्र लिख दिया, किसीका कुछ लिख दिया, और मिल गए दो-चार आने पैसे। उन्हीं से अपना गुजारा करे। बड़ी गरीबीकी स्थिति थी। वही सेठ एक बार जीनेसे नीचे उतर रहा था तो वहाँ एक आवाज आयी—क्या मैं आऊँ? तो सेठने तुरन्त तो कोई जवाब न दिया और न कुछ समझ ही पाया कि यह किसकी आवाज है? अब सेठने सेठानीसे बताया तो सेठानी थी चतुर, वह सब समझ गई कि वह लक्ष्मीकी आवाज थी, सो बोली– इस बार यदि कहे कि क्या मैं आऊँ तो मना कर देना कि मत आवो। सो दुबारा जब आवाज आयी कि क्या मैं आऊँ? तो सेठने मना कर दिया कि मत आवो। वही आवाज लगातार ७ दिन तक आती रही और सेठ बराबर मना करता रहा कि मत आवो। बादमें सेठानीने कहा कि अच्छा आजके दिन कह देना कि आवो तो सही, मगर आकर जावो नहीं तो आवो। सो सेठ ने वैसा ही कह दिया। वहाँ लक्ष्मी बोली--ऐसा तो हो नहीं सकता कि मैं आऊँ तो फिर जाऊँ नहीं, पर हम तुम्हें एक सहूलियत देती हैं कि जब जाऊँगी तो बताकर जाऊँगी। (देखिये यह भी कम सहूलियत नहीं है, लक्ष्मी कहीं किसीसे बताकर नहीं जाया करती। जब जाना होता तो बिना किसीको बताये, तुरन्त चली जाती है।) सेठने वही बात सेठानीसे आकर

बताया। तो सेठानी बोली—अच्छा कह दो कि आ जाय। अब क्या था, लक्ष्मी धड़ाधड़ आना शुरू हो गया। उसी दिन क्या हुआ कि उस नगरका राजा जो कि बहुत दिन पहले परदेश गया हुआ था उसकी रानीने उस अर्जीनवीससे कहा कि हमारी ओरसे एक पत्र राजा जी को लिख दो और इस ढंगसे लिखो कि उस पत्रको पढ़कर राजाको रंच भी विषाद न हो और तुरन्त चले आवें।....ठीक है। सो उस अर्जीनवीसने वैसा ही पत्र राजाके लिए लिख दिया। रानीने पत्र लिखाईकी उस अर्जीनवीसको एक मोहर प्रदान की। देखिये—कहाँ तो कुछ थोड़ेसे पैसे प्रतिदिन मिल पाते थे, पर उस दिन अन्य दिनोंकी अपेक्षा सैंकड़ों गुना धन अधिक मिल गया। अब वह पत्र पहुंचा राजाके पास तो उसे पढ़कर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और विचारने लगा कि अहो, मेरे नगरमें ऐसा कौन बुद्धिमान रहता है जिसने इस प्रकारका उत्तम ढंगका पत्र लिखा। आखिर अपने नगर आया और आते ही तुरन्त पता लगाया कि वह पत्र किसने लिखा था। तो रानीने बता दिया कि अमुक अर्जीनवीसने लिखा था। राजा ने उसे अपने पास बुलवाया और कहा कि आजसे तुम अर्जीनवीसीका काम छोड़कर मेरे यहाँ का मंत्रीपद सम्हालो। अब मंत्री हो गया वह अर्जीनवीस। (सो आप सब जानते ही हैं कि मंत्री हो जाने पर आमदनीके कितने ही जरिये बन जाते हैं।) एक तो वेतन ही अधिक, दूसरे—मान लो किसी सड़कसे जा रहा और किसी सेठसे कह दिया कि तुम्हारा यह मकान सड़कको काफी दाबे हुए है। इसकी वजहसे सड़क सीधी नहीं है, यह गिरवा दिया जायगा, तो बस मकान गिरवानेके भयसे, सेठ तो न जाने कितने ही रुपये उस मंत्रीको दे डालेगा। खैर वह मंत्री पदपर हो जानेसे थोड़े ही दिनोंमें मालोमाल हो गया। देखिये लक्ष्मीको आते हुए देर न लगी।

पुण्योदयसमाप्तिपर सम्पत्तिसमाप्ति—अब वही लक्ष्मी जब जाना हुआ तो किस तरह गई, सो भी देख लीजिए। उस मंत्रीने धनको अपने मकानके आँगनमें खूब अच्छी तरहसे सम्हालकर गाड़ दिया था, इसलिए कि यह अब मेरे पाससे कहीं जा न सके, पर देखिये—एक दिन वह राजा उस मंत्रीके साथ जंगल घूमने गया। सो चलते चलते थक जानेसे दोनों एक वृक्षके नीचे बैठकर आराम करने लगे। मंत्रीकी जंघापर सिर रखकर वह राजा सो गया, उसी बीचमें वहाँ वह लक्ष्मी मायामयी स्त्रीका रूप रखकर पहुंची और बोली—अब मैं जाती हूं। तो मंत्रीने समझ लिया कि यह लक्ष्मी है जो जानेको कह रही है। सो उसे तो गर्व था कि मैंने सारे धनको खूब छिपाकर रख दिया है, वह जा कैसे सकती है? सो बोला—तू नहीं जा सकती। फिर लक्ष्मी बोली—मैं तो जाऊँगी।...,...तू नहीं जा सकती।....मैं तो जरूर जाऊँगी। इसी प्रसंगमें मंत्रीको तेज क्रोध आ गया और राजाके कमरमें लटकी हुई तलवार

खींचकर बोला—तू मेरे पाससे नहीं जा सकती। खैर लक्ष्मी तो मायामयी थी, अन्तर्ध्यान हो गई, पर उसी प्रसंगमें राजाकी नींद खुल गई और नींद खुलते ही राजाने अपने सिरके ऊपर खिची हुई तलवार देखी। राजा डर गया, पर कुछ बोल न सका, इस भयसे कि यदि मैं कुछ बोलता हूं तो यह मंत्री मुझे मार देगा। मेरेसे यह बलवान भी है। सो राजा तो यों चुप रह गया, और मंत्री यों चुप रह गया कि मैं यदि लक्ष्मीको मारनेकी बात कहूं तो इसे कौन मान लेगा ? खैर दोनों ही चुपचाप चले। राजा राजमहल पर पहुंचा और पहुंचते ही राजाने सेनापतिको बुलाकर आदेश दिया कि उस मंत्रीको अविलम्ब इसके समस्त परिवार सहित तुरन्त ही राज्यसे बाहर निकाल दिया जाय। अब क्या था, राजाका आदेश पाकर सेनापतिने उस मंत्रीको तुरन्त ही सपरिवार राज्यसे बाहर निकाल दिया। अब बताओ उसके पास कहाँ लक्ष्मी रही। वह तो फिर ज्योंका त्यों गरीब हो गया। तो यहाँ यह बता रहे कि जब लक्ष्मीको आना है तब आती है और जब जाना है तब जाती है।

मायाचारकी अनर्थकारिता—सम्पत्तिके पीछे मायाचारीका परिणाम करनेसे कुछ लाभ नहीं। बल्कि मायाचारीका परिणाम करके अपने पुण्यको और भी खोया जा रहा है। यह मायाका परिणाम सज्जनोंमें मायाचारीके विश्वासको नष्ट कर देता है। पुण्यको नष्ट करता है और पापको बढ़ाता है, क्योंकि वह दुर्भाव है। देखिये—निमित्तनैमित्तिक सम्बंध अटल तो है कि जो दुर्भाव करेगा, उसके दुर्भाव निमित्तके सन्निधानसे बँधा हुआ पुण्यकर्मका अनुभाग क्षीण हो जाता है, पापकर्मका अनुभाग बढ़ जाता है, यह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बंधसे होता रहता है। प्रायः सभी लोग जानते हैं कि इस चीजका सम्बंध होनेसे इस चीज में ऐसा परिवर्तन हो जाता है। इस निमित्तनैमित्तिक सम्बंधका खंडन नहीं किया जा सकता, बस ज्ञान इतना रखनेकी जरूरत है कि वह निमित्तभूत पदार्थ, कुछ उसकी परिणति न कर देगा, किन्तु वह दूसरा पदार्थ स्वयं उसका निमित्त पाकर अपनी योग्यतासे उस रूप परिणम जाता है। तो इस मायाचारीके परिणामसे पापरस बढ़ता है और पुण्यरसका क्षय हो जाता है। मायाचारीके भावसे सत्यकी जगह झूठ का साम्राज्य आ जमता है। जो मायाचारी करेगा वह सत्यवादी नहीं हो पाता, उसे झूठ बोलना ही पड़ता। यहाँ कुछ बोला, वहाँ कुछ बोला, ऐसा जिसने कपट जाल रचा हो वह सत्य नहीं बोल सकता। यह सत्यवादिताका एक ही गुण समस्त कषायोंको और दुर्भावोंको दूर कर देता है। मायाचार करनेसे तो सत्यको जगह झूठका साम्राज्य छा जाता है और नाना प्रकारके जो निन्द्य भाव हैं वे भी आ जाते हैं।

मायाचार न करनेकी शिक्षाकी उपादेयता—यह शिक्षा पुरुषोंको भी लेनी चाहिए और स्त्रियोंको तो विशेष करके लेना चाहिए, क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि जो घरमें

ठलुवासे अधिक रहते उनमें ये प्रवृत्तियाँ अधिक बढ़ जाती हैं। दूसरी बात यह है कि वह स्त्रीका भव ही ऐसा है कि वहाँ ये बातें अधिक पायी जाती हैं। देखिये—स्त्री शब्दके अनेक पर्यायवाची शब्द बताये हैं—स्त्री, भार्या, नारी, महिला, दारा, अबला, औरत, आदि तो इनमें जो दारा शब्द आया है उसका अर्थ है—दारयति भेदयति भ्रात्रानि इति दारः अर्थात् भाई-भाईमें जो बँटवारा करा दे, लड़ाई करा दे या एक दूसरेका प्राण हरने वाला बैर, विरोध उत्पन्न करा दे उसे दारा कहते हैं। उनमें प्रायः ऐसे ही आदत होती कि कभी कुछ भिड़ाया, कभी कुछ, वे भाई भाईके प्रेममें बहुत बड़ा आघात पहुंचा देती हैं। उन स्त्री पुरुषों को बड़ा पुण्यवान समझना चाहिए जिनको धन वैभवके प्रति अधिक ममता न हो और परस्परमें धर्मसाधना करनेकी दृष्टिसे खूब हिल-मिलकर रह रहे हों। तो यह मायाचारीका परिणाम स्वयंको भी बहुत दुःखी कर डालता है और दूसरोंको भी भयंकर दुःखमें डाल देता है।

प्रच्छादितोपि कपटेन जनेन दोषो लोके प्रकाशमुपयातितरां क्षणेन।
वर्चो यथा जलगतं विदधाति पुंसां माया मनागपि न चेतसि संनिधेया ॥६२॥

मायाचारकी जलगत विष्टाकी तरह प्रकटता व उसकी पीड़ा—किसीका मायाचार बहुत दिनों तक छिपकर नहीं रह पाता। वह दबाये दबाये दबा रहता है, मगर कुछ समय बाद वह स्पष्ट हो जाता। उसीके मुखसे या किसी वृत्तिसे या उसके किसी चिन्हसे वह माया प्रकट हो जाती है। इस विषयमें आचार्यदेवने एक दृष्टान्त दिया है कि जैसे किसी सरोवरके जलमें या नदीमें किसी जगह कोई मनुष्य वहाँ विष्टा कर दे तो एक बार वह विष्टा पानीमें नीचे पहुंचता है, मगर उसके अंश जो वजनके हैं जैसे ही वे घुलते हैं वैसे ही वह विष्टा तुरन्त ऊपर आ जाता है। ऐसे ही यह मायाका दुष्परिणाम दबाता है, मगर यह दब नहीं सकता। किसी कालमें किसी भी समय यह फिर उभर जाता है और जब मायाचार प्रकट हो जाता है तब फिर उसका जीवन दूभर हो जाता है, लोगोंकी दृष्टिसे वह गिर जाता है। सो इस प्रकरणमें मान और माया कषाय दूर करनेका उपदेश किया है। अब तक इसके तीन प्रकरण हुए हैं। पहले प्रकरणमें विषयसुखका निराकरण किया था। वह प्रकरण बहुत ही लाभदायक और हृदयको स्पर्श करने वाला है। दूसरे प्रकरणमें क्रोध कषायको दूर करनेका उपदेश किया। अब चतुर्थ प्रकरण आ रहा है जिसमें लोभ कषायका दूर करनेका उपदेश किया जा रहा है।

—:०:—

४—लोभनिराकरण प्रकरण

शीतो रविर्भवति शीतरुचिः प्रतापी स्तब्धं नभोजलनिधिः सरिदंबुतृप्तः ।
स्थायी मरुच्च दहनोऽदहनोपि जातु लोभानलस्तु न कदाचिददाहक स्यात् ॥६३॥

लोभाग्निकी दाहकता—लोभरूपी अग्निको विषयसुखका ईंधन मिलता रहे तो वह कभी बुझती नहीं है। दुनियामें जितनी भी असम्भव बातें हैं वे चाहे सम्भव हो जायें, पर लोभकी अग्नि, लोभके विषय धन सम्पदा आदिक ये मिलते रहें और कोई सोचे कि इतना मिल जाय, जुड़ जाय, फिर मैं लोभ न करूँगा, आरामसे खूब धर्मसाधना करूँगा तो ऐसा सोचना उसके लिए स्वप्न जैसी बात है कि धन सम्पदा भी सामने बनी रहे, पास बनी रहे और तद्विषयक उसके लोभ कषाय न जगे, यह कैसे हो सकता ? चाहे जो चीज स्थायी है वह अस्थायी बन जाय, जिसमें जो स्वभाव है चाहे वह अपना स्वभाव छोड़ दे, सूर्य चाहे गर्मी छोड़कर शीतल हो जाय, पर लोभरूपी अग्नि यह कभी शीतल (ठंडी) नहीं हो सकती। एक कविने कहा है कि भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः, तपो न तप्त वयमेव तप्ता। कालो न यतो वयमेव याताः, तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः। मैंने भोगोंको नहीं भोगा। बल्कि मैं ही भोगोंसे भुग गया। अब भरपेट भोजन कर लिया तो अफरा हो गया, पेट पकड़े बैठे हैं, कष्ट मान रहे हैं तो इसमें खुद ही तो भुग गए, भोजनका उसमें क्या बिगड़ा ? इसी प्रकारकी बात सभी भोगोंकी है। भोग नहीं भुगे, किन्तु मैं ही भुग गया तप नहीं तपा, किन्तु हम ही तप गए। जहाँ अज्ञानभाव है, ज्ञानप्रकाश नहीं है वह कितना ही तप करे तो तप तो नहीं तपा, किन्तु वह मनुष्य ही तप गया। काला हो गया, जीर्ण हो गया, हड्डियाँ निकल आयीं, ये सारी परिस्थितियाँ बन गईं। और समय नहीं व्यतीत हुआ, हम ही व्यतीत हो गए। समय तो आ ही रहा है, वह कभी नष्ट न होगा, अनन्तकाल तक रहेगा, मगर हम ही व्यतीत हो गए, वृद्धावस्थाकी सारी बातें आयीं और कुछ समय बाद रोगादिक होकर मरे या न भी रोगादिक हों तो भी जब आयु समाप्त होती है तो बैठे बैठे यों ही चले जाते हैं। कुछ समय ही नहीं लगता, लोग आश्चर्य करके रह जाते, कि कल तक तो वह दुकानमें बैठता था आज सुबह भी मेरेसे बातें कर रहा था और अब एकदम चल बसा। तो काल नहीं व्यतीत हुआ, किन्तु हम ही व्यतीत हो गए। तृष्णा जीर्ण नहीं होती, किन्तु हम ही जीर्ण हो गए।

लोभाग्निमें दाहकतापरिहःरकी अशक्यता—भैया, धर्मपालनके लिए कभी ऐसा नहीं सोचा जाता कि पहले इतना धन बढ़ा लें, इतनी जायदाद जोड़ लें बादमें सब कुछ छोड़कर फिर धर्म करूँगा। तो धर्म करना तो स्वभावदृष्टि है, और यहाँ खूब जोड़-जोड़कर धन रख लिया और उसमें ही मन लगा है तो उसमें ही मन लगा रहेगा। स्वभावदृष्टि कहाँसे बनेगी ?

और जिसको परवाह नहीं और धन भी मिले तो भी स्वभावदृष्टि रहेगी। उसकी रुचि घरमें, धनमें, भोग प्रसंगोंमें न रहेगी। किसी भी इष्टके समागममें उसे न हर्ष होगा और न विछोह में विषाद। वे सर्व कुछ बाह्य हैं यह ही उसकी नजरमें रहा, इसलिए वह विरक्त माना गया। तो तृष्णा अग्नि ऐसी है कि किसी पदार्थमें व्यामोह हो, तृष्णा हो और उसका ईंधन जुड़ता रहे तो यह हो सकता क्या कि वह तृष्णाअग्नि शान्त हो जाय। चाहे सूर्य अपने ग्रीष्म स्वभाव को छोड़कर शीतल हो जाय, पर यह तृष्णारूपी अग्नि विषयरूपी ईंधनके पानेपर कभी शान्त नहीं हो सकती। चन्द्रमा चाहे अपनी शीतलताको त्याग दे, देखिये--चन्द्रमामें स्वयं ऐसा गुण है कि वह मूलमें भी ठंडा और उसका निमित्त पाकर जहाँ-जहाँ जो-जो चीज प्रकाशित हो रही है वह भी ठंडी, जिसे सीधा यों कह दें कि चन्द्रमाकी किरणें ठंडी होती हैं। सो चंद्र चाहे शीतलता छोड़ दे, लोभाग्नि दाहकताको नहीं छोड़ सकती।

वस्तुस्वरूपपर कुछ प्रकाश व लोभपरिहारका उपदेश--अब वस्तुस्वरूप देखिये--भाई लगता जरूर है कि इस चंद्रमामें से किरणें फूट रहीं, मगर चंद्रमाकी कोई भी चीज चन्द्रमाके प्रदेशोंसे बाहर नहीं जा सकती। वस्तुस्वरूप देखिये--चन्द्रमामें या सूर्यमें बाहर निकलने वाली किरणें नहीं हुआ करतीं। हीरा रत्न वगैरा जो जो भी चमकीले पदार्थ हैं उनमें बाहर जाने वाली किरणें नहीं हुआ करतीं। किसी भी पदार्थकी कुछ भी चीज उस पदार्थके प्रदेशसे बाहर नहीं होती, तब फिर देखते तो खूब हैं कि ये किरणें हैं और ग्रन्थोंमें भी लिखा है कि सूर्यकी इतनी किरणें हैं, चन्द्रकी इतनी किरणें हैं तब फिर कैसे कह रहे कि किरणें नहीं हैं ? तो भाई उन किरणोंका अर्थ यह है कि अपनी जो आँखोंकी दृष्टि है सो जब ये आँखें किसी चमकदार पदार्थको निरखती हैं तो आँखोंमें ही एक ऐसी कला है कि उसके द्वार देखनेपर प्रकाशक पदार्थनिमित्तक जो आकाशगत सूक्ष्म स्कन्ध प्रकाशित है उनकी पंक्तियाँ दृश्य बन जाती हैं, प्रकाशमान पदार्थको देखनेमें इतनी पंक्तियाँ बन जाती हैं एक बात, दूसरी बात यह है कि आकाशमें बहुतसे सूक्ष्म स्कंध पड़े हुये हैं सो जैसे सूर्य चन्द्रका सान्निध्य पाकर यहाँके पदार्थ प्रकाशमान हो जाते हैं, यह प्रकाश चन्द्रका नहीं, सूर्यका नहीं, बिजली का भी नहीं, सूर्य, चंद्र, बिजली आदि ये सब अपनी-अपनी जगहपर हैं, उनकी जितनी बोडी है बस उतने ही में हैं, मगर वे ऐसे प्रकाशमान पदार्थ हैं कि उनका सन्निधान मिलने पर ये सब पदार्थ प्रकाशरूप हो जाते हैं। अब देखिये--यह निमित्तनैमित्तिक सम्बध बड़ा अबाधित है, उसका निराकरण नहीं किया जा सकता। वहाँ तो कर्ताकर्मभाव नहीं है, बस इस दृष्टि की विजय तो बन सकती है, मगर कोई सही बातका निराकरण करे तो भले ही थोड़ेसे ही बहकाया जा सके, पर हृदय निराकर्ताओंका भी सब समझता है। अब जो यथार्थ बात है

उसे निरखिये। वहाँ निमित्तनैमित्तिक भी बराबर है और कर्ता कर्म भाव किसीका किसी दूसरेमें रंच नहीं है, ऐसा ही योग है कि अमुकका सन्निधान पानेपर यह पदार्थ इस रूप परिणम जाता है। तो जैसे सूर्य चन्द्रका सन्निधान पाकर ये भींत, पृथ्वी, मकान आदिक प्रकाशमान हो गए, इसी प्रकार यहाँ भी पड़े हुए सूक्ष्म स्कंध प्रकाशमान हो जाते हैं। अब आँखोंसे जब देखते हैं तो आँखोंके देखनेकी विधि ही यह है कि प्रकाशमान पदार्थको देखनेके समय पंक्ति बन जाती हैं और उन पंक्तियोंका नाम किरण है। तो जैसे प्रकाश सूर्यका निमित्त पाकर आया है ऐसे ही गर्मी भी सूर्यका सन्निधान पाकर जो पदार्थ गर्म हुए हैं उन ही की परिणतिसे वे गर्म हुए हैं। तो वह ऐसा निमित्त है कि पदार्थके गरम होनेमें निमित्त बन गया इसको सब जानते हैं कि यह इस जातिका निमित्त है कि इसका योग होनेपर यह पक जायगा, यह गल जायगा, यह सड़ जायगा। सबका अलग अलग निमित्त योग बराबर व्यवस्थित है। निमित्त कुछ न हो, अटपट हो जाय कार्य, ऐसा नहीं होता। जो सामने खड़ा हो उसे निमित्त मान लो ऐसा अगर निमित्त हो तो प्रतिनियत व्यवस्था कहाँ रही और वह विज्ञान पद्धति कहाँ रही ? सो सब प्रतिनियत व्यवस्था है ? लेकिन कर्तृकर्मभाव नहीं है। अमुकका योग होनेपर अमुक पदार्थ किस रूप परिणम जाता है, उसकी योग्यता और अनुकूल निमित्तका सन्निधान यह कहलाता है निमित्तनैमित्तिक योग। सो चाहे चन्द्रमा भी शीतलताको त्याग दे, गरम बन जाय, ऐसी असम्भव बात भी सम्भव हो जाय, लेकिन लोभ कभी शान्ति उत्पन्न नहीं कर सकता। जिसके चित्तमें तृष्णाकी दाह आ गयी उसके तो वह दाह रहेगी, वहाँ कभी शान्ति नहीं आ सकती। इस कारण लोभको अपना तीव्र बैरी जानें और यह भावना भरें कि मेरे हृदयमें लोभ विकार न आ सके और मैं अपने अविकार सहज ज्ञानस्वभावमें ही तृप्त रहूं, ये ही क्षण मेरेको इष्ट हैं।

विषयेन्धनोंसे तृष्णाग्निकी तृप्ति असंभव—लोभकषाय इस जीवको कितना प्रेरती है उसके विषयमें हजारों जीभ हों तो भी बताया नहीं जा सकता। अनुभव सबको है कि जब लोभ कषाय चित्तमें होता है तो कितना परेशान होना पड़ता है ? आचार्यदेव कहते हैं कि आकाश चाहे स्तब्ध हो जाय, कोई पिण्डरूप बन जाय, रूपी हो जाय, मगर तृष्णारूपी अग्नि अपने दाहपरिणमनको छोड़ दे याने लोभी पुरुषके गुणोंको भस्म कर दे और उसे व्याकुल कर दे, इस स्वभावको लोभ अग्नि छोड़ दे यह कभी नहीं हो सकता। कदाचित् समुद्र नदियोंसे तृप्त होकर अपनी मर्यादा छोड़ दे, होता नहीं ऐसा, जैसे कहने लगते कि चाहे पूरब का सूर्य पश्चिममें उगने लगे, ऐसा कहकर एक दृढ़ता बतायी जाती है। नदियाँ सभी समुद्रमें मिलती हैं, पर समुद्रसे नदी कोई नहीं निकलती। तो मालूम होता कि यह समुद्र नदियोंसे तृप्त ही नहीं होता कितनी ही नदियाँ पड़ जायें समुद्रमें, पर समुद्र मानो यह न कह सकेगा

कि बस खूब नदियाँ आ गईं, अब मेरेमें समाती नहीं तो चाहे नदियोंसे समुद्र तृप्त हो जाय और अपनी मर्यादा छोड़ दे अर्थात् समुद्रसे पानी बहने लगे, इतनी असम्भव बात चाहे होने लगे, पर लोभरूपी अग्नि कभी शांतिदायक नहीं हो सकती। पवनका स्वभाव है बहते रहना। कोई हवा एक जगह स्थिर होकर रही क्या ? हाँ कोई पहियेमें भर दे वह बात अलग है, क्योंकि चारों तरफ उसके आवरण है, हवा कहाँ जायगी ? अगर खुली जगहमें हवा एक जगह रुक जाय, ऐसा तो नहीं होता या तो हवा है ही नहीं और है तो वह बहती हुई ही है। एक जगह खड़ी हुई, बैठी हुई हवा नहीं हो सकती। सो चाहे हवा अपने बहनेका स्वभाव बंद कर दे, बहना बंद कर दे, पर लोभ अग्नि कभी अशान्तिदायकताको नहीं छोड़ सकता है। जहाँ लोभ है वहाँ अशान्ति होगी ही।

व्यवहृत पाप व अशान्तिका जनक पापस्वरूप लोभ—लोभ पापका बाप बखाना। बापके मायने जनक। पापको उत्पन्न करने वाला कौन ? लोभ कषाय। कदाचित् अग्नि जलानेका काम बंद करके शान्त होकर बैठ जाय, जो कि अत्यन्त असम्भव है। अग्नि होती जाज्वल्यमान और उसपर कागज कूड़ा कुछ भी डालें, उसको जला देती है। शान्त होकर बैठ जानेकी बात अत्यन्त असम्भव है, पर कह रहे कि चाहे असम्भव बात भी सम्भव हो जाय, पर लोभ अग्नि कभी शान्तिदायक नहीं बन सकती। यह दुर्लभ मानवजीवन गुजार दिया लोभ और मोहमें ही रहकर, पाया क्या ? सब खोया ही खोया है। दूसरे पदार्थसे मोह किया, उसका फल क्या मिलता है ? प्रत्येक मनुष्यको देख लो, पछतावा मिलता है। कोई भी जोड़ा हो, चाहे पिता-पुत्रका ले लो या पति-पत्नीका ले लो, यह समागम सदा बना रहे, ऐसा हो सकता क्या ? मृत्यु सबकी है। अब मृत्यु होनेपर कोई पहले मरेगा, कोई बादमें मरेगा। तो जो पहले मर गया वह उतना टोटेमें नहीं रहता जितना कि जिन्दा रहने वाला टोटेमें रहा, क्योंकि जो मर गया सो चला गया, नये शरीरमें पहुंच गया, नया उपयोग बन गया, नई बात हो गई और जो घरमें बच गया, जिन्दा है वह उस मरेको याद करके, सोच-सोच करके बहुत दिनों तक दुःखी रहता है। तो कौन रहा टोटेमें मरने वाला या जिन्दा रहने वाला ? जिन्दा रहने वाला। तो मतलब यह है कि मृत्यु सबकी होती है, जो मोह करेगा उसके फलमें अन्तमें पछतावा ही हाथ लगता है।

मोहका दुष्परिणाम—गुरुजी एक घटना बतलाते थे कि बम्बईका कोई एक बड़ा ऊँचा गणितका प्रोफेसर था। उसे अपनी स्त्रीमें बड़ा मोह था। जब स्त्री घरसे कहीं बाहर जाती थी तो वह उस स्त्रीके ऊपर छाता लगाकर साथ जाया करता था, इतना मोह था उस पर। ऐसा तो आजकल भी कोई नहीं करता। तो उस स्त्रीने उस प्रोफेसरसे कहा कि देखो

हमसे इतना अधिक मोह न रखो। नहीं तो हमारे मर जाने पर तुम पागल बन जावोगे। आखिर हुआ भी वैसा ही। वह स्त्री मर गयी तो वह प्रोफेसर उसके पीछे पागल बन गया। वह एक दिन बनारसके भदैनी घाटकी एक धर्मशालामें ठहरा हुआ था। अकेला ही था। वहीं पर हमारे गुरु गणेशप्रसाद जी व धर्ममाता चिरोंजाबाई जी भी ठहरी हुई थीं। सो एक बार सहसा ही आवाज आयी—अरे तुम अभी उठोगी नहीं क्या, सवेरा हो गया है, मंदिर नहीं जावोगी क्या ? खाना नहीं बनाओगी क्या ?···इस प्रकारकी आवाज सुनकर बाई जी ने सोचा कि यहाँ उस एक प्रोफेसरके अलावा दूसरा कोई ठहरा नहीं है, यह कह किससे रहा ? यह जाननेके लिए उस प्रोफेसरको अपने पास बुलाया और पूछा कि अभी तुम किससे बातें कर रहे थे ? तो उस प्रोफेसरने उस अपनी स्त्रीकी फोटो निकालकर दिखायी और सारी घटना बतायी कि इस तरहसे हमारा दिमाग बिगड़ गया। तो देखिये मोह करनेसे नफा कुछ नहीं, उल्टा बरबादी ही है। मतलब कुछ नहीं, लेना-देना कुछ नहीं, भिन्न सत्ता है, न कभी कुछ मेरा हुआ, न हो सकता है, न हो सकेगा। सो यह बाहरी पदार्थ तो मानो यह कह रहा है कि तुम मुझसे मोह न करो, मैं भिन्न हूं, परपदार्थ भिन्न हैं और यहाँ मोही कह रहे कि मान न मान मैं तेरा महिमान। ये चेतन अचेतन सब पदार्थ रोज घटना द्वारा शिक्षा देते रहते हैं कि हम तुम्हारे कुछ नहीं हैं, पर यह मोही यह कहता है कि तुम मुझे मानो या न मानो, हमारे तो तुम महिमान हो, बड़े हो, सर्वस्व हो। तो मोहमें ऐसी स्थिति बिगड़ती है कि इसको संसारमें रुलकर दुःखी ही होना पड़ता। सबसे बड़ी विपत्ति है जीवपर तो यह है कि अज्ञान और मोहभाव इसपर लदा हुआ है। दूसरी कोई विपत्ति नहीं। बाहरी पदार्थ जुड़ गए या कम हो गए यह कोई विपत्ति नहीं। इतने कम हो गए तो हो गए, अमुक जगह हो गए तो हो गए, यह कोई विपत्ति नहीं। जो आत्मामें मोह और लोभके परिणाम बन रहे हैं ये विपत्ति हैं। यह भार है अपने ऊपर। सो इस छंदमें यह बताया गया है कि किसी समय असम्भव बात भी सम्भव हो जाय तो हो जाय, पर लोभसे शान्ति सुख मिल नहीं सकता।

लब्धेंधनज्वलनवत्क्षणतोपि वृद्धिं लाभेन लोभदहनः समुपैति जंतोः।
विद्यागमव्रततपः शमसंयमादीन् भस्मीकरोति यमिनां स पुनः प्रबुद्धः ॥६४॥

जैसे कोई अग्नि बुझने वाली हो, ऐसी स्थितिमें उसको इंधन मिल जाय तो वह अग्नि फिरसे जवान बनकर, तीव्र बनकर बड़ेसे बड़े मकानोंको भस्म कर सकती है, इसी प्रकार कभी लोभ रूपी अग्नि कुछ बुझ सी रही हो याने झक मारकर लोभ छोड़ा जा रहा हो, हर बातमें निराशा ही निराशा पा रहा हो और बाह्य पदार्थोंकी प्राप्ति नहीं हो पाती है

तो यह अपनी लोभ कषायको भी क्षीण कर देता है। उसमें अब लोभकी जवानी नहीं बन पाती। तो ऐसी स्थितिमें जहाँ कि लोभ कषायरूपी अग्नि बुझसी ,रही हो उसको मिल जाय कुछ ईंधन। कुछ वैभव तो वह लोभ फिरसे बढ़कर इतना प्रबल हो जाता है कि बड़े-बड़े तपस्वियोंकी विद्या, यम नियम संयम इन सबको खत्म कर देता है। द्वीपायन मुनिका लोभ कितना बुझासा ही तो था सभी कषायें बुझी थीं तब ही तो उनको तैजस ऋद्धि प्राप्त हुई थी। मिथ्यादृष्टिको तैजस ऋद्धि कहाँ प्राप्त होती ? वह सम्यग्दृष्टि थे। उनके लोभकषाय तो बहुत बुझा सा ही था, मगर एक घटनामें जरा सा क्रोधका ईंधन मिला कि एकदम दहक उठा और सारी नगरीको भस्म कर दिया। खुद भी भस्म हो गया। तैजस ऋद्धि वालेके क्रोधमें बायें कंधेसे बिलावकी तरह बुरे आकारका तैजस पुतला निकलता है सो वह ९ या १२ योजन तक फैलकर जो कुछ है सबको भस्म कर डालता है। ऐसी ही लोभकी बात है। लोभ कषाय कुछ बुझसा रहा हो और ऐसे समयमें विषयसाधनोंका ईंधन मिल जाय तो फिर यह लोभ कषाय फिरसे तगड़ा बन जाता है, और सारे गुणोंको भस्म कर देता है। कषायें तो सभी अग्निकी तरह हैं। क्रोधको भी अग्नि कहा, मानको भी अग्नि कहा, मायाको भी अग्नि कहा और अब लोभको भी अग्नि कह रहे। और ऐसी तीव्र अग्नि हैं ये सभी कषायें कि इस दिखने वाली अग्निसे भयंकर हैं। मान भी गुणोंको भस्म करता, मायासे भी सब गुण भस्म हो जाते हैं और लोभसे भी सब गुण भस्म हो जाते हैं। लोभसे उल्टा चलें तो भला। लोभका उल्टा शब्द है भलो। अगर लोभसे उल्टा चलें तो भला होगा। इससे इस लोभ कषायका परिहार करना चाहिए।

उदारता एवं सत्कृतिसे पुण्यकी वृद्धि—इस सम्बंधमें एक किम्वदन्ती है कि एक बार ब्रह्माजी किसीको करोड़पति सेठके घर पैदा होनेके लिए भेज रहे थे और उसके भाग्य में लिख रहे थे—काला घोड़ा और ५ रुपया। उधरसे निकले कोई साधु महाराज और पूछ बैठे कि ब्रह्माजी, आप क्या कर रहे हैं ? तो ब्रह्माजी बोले—हम इस जीवको एक करोड़पति सेठके घर पैदा होनेके लिए भेज रहे हैं और इसका भाग्य लिख रहे हैं। तो साधु बोला—इसके भाग्यमें आपने क्या लिखा ?....काला घोड़ा और ५ रुपये।....अरे अरे यह तो आप उसके साथ अन्याय कर रहे। इससे तो अच्छा है कि उसे किसी दरिद्रके घर भेज दो।.... नहीं नहीं हमने तो जो इसके भाग्यमें लिखना था सो लिख दिया।....अच्छा तो आपका इस रेखाको हम मेटकर ही रहेंगे। (देखिये यह अन्य मत वाले लोगोंका कथानक है। मात्र प्रेयोजनकी बात इससे लेना) अब वह बालक पैदा हो गया उस धनिक सेठके घर। उसके पैदा होते ही सेठका धन कम होने लगा। ज्यों-ज्यों वह बालक बड़ा होता गया त्यों-त्यों सेठका

सारा धन क्षीण होता गया। अन्तमें उस लड़केके पास रह गया वही काला घोड़ा और ५ रुपये। वहाँ वह साधु पहुंचा और बोला—बेटा, तुम मेरा कहना मानोगे ?....हाँ हाँ अवश्य मानेंगे। कहो क्या आज्ञा है ?...तुम अपना घोड़ा बेच दो और तुम्हारे पास जो ५ रुपये हैं उन सहित सबकी भोजन-सामग्री (शक्कर, तेल, दाल, चावल, आटा वगैरा) मंगा लो और नगरके सभी लोगोंको खूब भोजन कराओ। अब उस लड़केने वैसा ही किया। बाजार गया, १००) में घोड़ा बेच दिया, अब उसके पास हो गए १०५) सो १०५ रु० की भोजन-सामग्री मंगाकर सभी लोगोंको खूब खिलाया। अब उसके पास घोड़ा और ५ रु० तो रहे नहीं सो ब्रह्माजी ने सोचा कि हमने इसके भाग्यमें काला घोड़ा और ५ रुपये लिख रखा है सो तुरन्त भेजना चाहिए। यह सोचकर दूसरे दिन फिर उस लड़केके पास काला घोड़ा और ५ रुपये हाजिर हो गए। दूसरे दिन भी उस साधुने वैसा ही कार्य कराया। यही काम बीसों दिन चलता रहा। अब रोज-रोज कहाँसे ब्रह्मा जी काला घोड़ा लायें ? ५ रुपये तो जब चाहे टपका दें, पर काले घोड़े वाली समस्या उनके सामने भारी आ गई। आखिर परेशान होकर ब्रह्मा जी को उस लड़केकी वह रेखा मेटनी पड़ी और उसके भाग्यमें वैसा ही लिखना पड़ा जैसा कि उसके पिताका भाग्य था। यह किंवदन्ती शिक्षाके लिये दुहराई है।

पुण्यविपाकसे पुनः समागमोंकी घटनायें—भैया ! लोभ करनेसे फायदा क्या ? इस लोभसे उल्टा चलें तो भला होगा। आज जो पुण्योदयसे धन प्राप्त हुआ है उसको योग्य कार्यों में खर्च करें तो उससे कहीं धन कम नहीं होता। अगर पुण्यका उदय है तो धन तो धा-धाकर आयगा। बड़े बड़े राजा महाराजावोंके कथानक सुननेको मिलते हैं कि वे सब कुछ छोड़कर चले गए, पर उनके पुण्यका उदय होनेसे फिर ज्योंके त्यों धनिक बन गए। यहींकी बात देख लो—जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तानमें बंटवारे पर आंतरिक युद्ध शुरू हो गया तो कितने ही लोग सब कुछ छोड़कर मात्र एक तौलिया पहनकर भगे, पर कुछ ही दिनोंमें वे फिर ज्योंके त्यों धनिक बन गए। तो इस लोभकषायका त्याग करें। इस लोभ कषायके ही कारण बड़े-बड़े गुणसमूह भस्म हो जाते हैं।

वित्ताशया खनति भूमितलं सतृष्णो धातून गिरेर्धमति धावति भूमिपाग्रे।
देशांतराणि विनिधानि विगोहते च पुण्यं बिना न च नरो लभते स तृप्तिं ॥६५॥

पुण्यके बिना इष्टलाभकी अशक्यता—यह मनुष्य धनकी आशासे पृथ्वीके तलको खोद देता है। यहाँ मिलेगा धन, घरके इस हिस्सेमें मिलेगा धन। खोदता है और कुछ प्राप्त नहीं होता। एक विचित्र बात जिसकी शोहरत है कि घरमें बहुत धन उसके पिता या बाबा माड़कर रख गए थे और कदाचित् वह खोदता है तो कभी-कभी निकलता तो मटका है, पर

उसमें कोयला निकलता है। अब बताओ कोयला भरकर कोई गाड़ेगा क्या ? अरे गाड़ा तो था धन, मगर वहाँ कोई ऐसी ही विधि बन जाती कि वहाँसे कोयला निकलता है। इस बात का अंदाज आप एक दृष्टान्तसे कर लीजिए। आप लोगोंने अनेकों बार जादूगरोंके तमाशे देखे होंगे। उसमें क्या बात देखनेमें आती सो आप सब जानते ही हैं। बड़ा आश्चर्य हो जाता है उनका वह कार्य देखकर। मान लो उस जादूगरने पूछा किसीसे कि बोलो तुम कौनसी चीज कहाँकी मंगाना चाहते हो, हम तुरन्त हाजिर करके दिखायेंगे। यदि वह कहे कि हमें तो विदेशकी अमुक चीज मंगाकर दिखा दो तो वह जादूगर झट वही चीज मंगाकर सबके सामने हाजिर कर देता है। अब बात वहाँ क्या हुई, सो मेरे ख्यालसे तो उन्हें किसी देवकी सिद्धि होती है। सो वह देव तुरन्त अपनी कलासे वह चीज लाकर सबके सामने हाजिर कर देता है, नहीं तो उस जादूगरमें ऐसी सामर्थ्य कहाँ जो ऐसा करके दिखा दे। एक बात यहाँ समझना कि जिनको भूत प्रेतकी सिद्धि होती है, उनका जीवन बिल्कुल बेकारसा रहता है, दूसरे वे किसीके धनको हर नहीं सकते। हाँ भले ही किसीका धन भूला हुआ हो, जिससे किसीको कुछ कष्ट न हो, ऐसे धनको भले ही वे वहाँसे निकाल सकें। तो बात यह बतला रहे कि जब किसीके पुण्यका अस्त होता है तो वही धन उसे कोयलेके रूपमें प्राप्त होता है और जिसके पुण्यका तीव्र उदय होता है उसके साथ कोई कितने ही उपाय करे, पर उसका कोई बाल-बाँका नहीं कर सकता है। देखिये—कालसम्वरके पुत्रने प्रद्युम्नको मारनेके लिए कितने ही उपाय किए, पर जहाँ जहाँ भी वह प्रद्युम्न गया वहींसे उसको अनेक विद्यायें मिलीं। तो ये सब बाहरी बातें पाप पुण्यकर्मके आधीन हैं। बुद्धिमान् पुरुष वे हैं जो इनकी चाह नहीं करते। सबका अपने-अपने भाग्यके अनुसार गुजारा चलेगा, उसकी अधिक क्या चिंता करना ?

सहजज्ञानानन्दसम्पन्न अन्तः प्रभुको भूलकर अन्य नाना प्रयत्नोंमें भी शांतिकी असम्भवता—धनकी आशासे लोग पृथ्वी तलको खोदते हैं। कितने ही लोग धन जोड़नेके लिए पर्वतकी शिलावोंका धातुवोंका दहन करते हैं। और भी न जाने कितने ही कष्ट उठाते एक धन जोड़नेके लिए। धन संचय करनेके प्रयत्नमें रात-दिन रहते फिर भी कभी तृप्त नहीं हो पाते। कितने ही मनुष्य तो राजाके आगे-आगे दौड़ते हैं, क्योंकि धन प्राप्तिका स्थान राज्याश्रय है। आज भी यही देखा जा रहा है। भले ही कोई राजा नहीं रहा, मगर किसी तरह परमिट लेना, किसी प्रकारके अन्य कोई अधिकार पाना, उससे धनसंचयका काम करते हैं। तो धनसंचयके लिए राजाके आगे-आगे दौड़नेपर भी मिलता वही है जितना कि उसके पुण्य बंधा है उससे अधिक यह मनुष्य एक धनसंचयकी आशासे ही तो देश-विदेश भागता-फिरता है। बहुत-बहुत यत्र-तत्र भटकनेपर भी जिसके जैसा पुण्यका उदय है उसके अनुसार उसे धन प्राप्त

होता है। यहीं देख लो—एक ही माँ के दो सगे भाइयोंमें एक भाई तो कहो बड़ा राज्याधिकारी बन जाय, कड़ा धन-वैभव, यश-प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले और एक भाई कहो दो रोटियोंके लिए भी मोहताज हो जाये। तो कितना ही प्रयत्न कर लिया जाय, पुण्यके योग बिना कहीं भी लाभ सम्भव नहीं। ये सब-बाह्य बातें हैं, इससे अपने चित्तको ऐसा बनाना चाहिये कि इन बाह्य पदार्थोंकी क्या आकांक्षा करना? एक ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वकी आराधनामें ही सर्व सिद्धि है। बाह्य पदार्थोंके आश्रयसे मानो ये बाह्य पदार्थ प्राप्त भी हो जायें फिर भी शान्ति तो नहीं मिल पाती, पुण्यके प्रभावसे कहो घर बैठे ही सम्पदा आये और पुण्यके अभावसे कहीं भी जाये, कितना ही श्रम करे, पर सम्पदा नहीं मिल पाती, बल्कि जो पासमें है वह भी निकल जाती। तो धनकी आशा छोड़कर पुण्यका अर्जन करना यह तो आगे सुखी होनेका मार्ग है, पर आशासे प्रयत्न करते रहना यह सुखी होनेका मार्ग नहीं है। और सही मार्ग तो पुण्य पाप दोनोंसे विलग होकर आत्मधर्मकी दृष्टि अनुभूति करना सच्चा मार्ग है।

वर्धस्व जीव जय नंद विभो चिरं त्वमित्यादिचाटुवचनानि विभाषमाणः।
दीनाननो मलिननिंदितरूपधारी लोभाकुलो वितनुते सधनस्य सेवां ॥६६॥

लोभीका तृष्णावश चाटुकारिताका व्यवहार—तृष्णाके वश होकर जीव क्या-क्या करता है, उन सब घटनाओंका दिग्दर्शन कुछ छंदोंमें चलेगा। इस छंदमें बतला रहे हैं कि यह जीव धनकी आशासे धनीके पास जाता है और दीन दुःखी होकर उनके मनको प्रसन्न करने वाले चाटुवचन बोलता हैं—जीवो, बढ़ो, जयवंत हो, आनन्दित हो। और भी अपनी-अपनी भाषामें जैसे कहा जाता—दूधन नहावो, पूतन फलो आदिक नाना चापलूसीके वचन कहकर उनकी सेवा सुश्रुषा करते हैं। तृष्णाके परिणामकी चेष्टा बनायी जा रही है। जीव स्वयं ज्ञानानन्द सम्पन्न है, उसको तो सुध नहीं लेता और बाहरी उपयोग करके बाह्य पदार्थों से मुझे सुख शान्ति मिलती है, ऐसी बुद्धि करता हुआ परके आधीन बना रहता है। लोभ कषाय—यह बहुत मुश्किलसे छूटने वाली कषाय है, तभी बताया है आगममें कि इसके क्रोध, मान, माया पहले छूटते हैं और लोभकषाय अंतमें नष्ट होती है। सूक्ष्म रूपसे संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये ९वें गुणस्थानमें नष्ट हो जाते हैं। यह सूक्ष्म लोभ १०वें गुणस्थानमें चलता है, उनका अंतमें नष्ट हो पाता है। लोभका रंग निरंतर चित्तमें बना रहता है। सोया हुआ, जगता हुआ कैसी भी स्थितिमें हो, जिसके लोभकषाय है उसकी ओर दृष्टि वासना भीतर निरन्तर रहा करती है। सो यह जीव लोभके वश होकर दीन दुःखी होकर अनेक प्रकारके चाटु वचन बोलते हैं।

चक्षुःक्षयं प्रचुररोगशरीरबाधाश्चेतोभिघातगतिभंगममन्यमानः ।
संस्कृत्य पत्रनिचयं च मषीं विमर्द्य तृष्णातुरो लिखति लेखकतामुपेतः ॥६७॥

लोभीका मषिकार्य करके दुःखभाजनपना—अब मुनीमीका भी एक व्यवसाय है वह भी लोभवश किया जाता है । पहले तो स्वयं ही मुनीम लोग काली स्याही भी बनाते थे घोट घोटकर और उसे १२ महीनेके लिए रखते थे, उससे रोकड़खाता लिखते थे । उस लेखनकार्य से नेत्रोंकी ज्योति मंद हो, शरीरमें अनेक प्रकारके रोग पैदा हों गद्दीमें बहुत समय तक बैठे रहनेसे, तो ये जो मसीके कार्य किए जाते हैं वे सब लोभवश ही तो किये जाते हैं । यहाँ क्या कार्य किए जाते हैं उन सभी कार्योंका वर्णन है । आजीविकाके जितने साधन हैं वे ६ प्रकार के बताये गए । असि—तलवार आदिकसे रक्षा करनेकी नौकरी करना, मसि—स्याहीसे लिखना याने मुनीमी करना, शिल्पी—कारीगरीके काम करना और सेवा करना, जैसा कि नाई, धोबी वगैरा करते हैं । तो आजीविकाके जितने भी कार्य हैं ये सब लोभवश ही तो करने पड़ते हैं । यद्यपि कुछ लोग संतोषी हैं और केवल अपने गुजारे मात्रका ध्यान रखते हैं, पर वह भी आखिर है तो लोभ ही । फिर अनेक लोग तो आवश्यकतासे कुछ सम्बंध नहीं रखते और चाहते हैं कि मैं सबसे अधिक धनिक बन जाऊँ ऐसी भावनासे कार्य करते हैं, ये सब कार्य लोभवश ही तो किए जाते हैं ।

विश्वंभरां विविधजंतुगणेन पूर्णां स्त्रीं गर्भिणीमिव कृपामपहाय मर्त्यः ।
नानाविधोपकरणेन हलेन दीनो लोभादितः कृषति पापमलोकमानः ॥६८॥

लोभवशीका विविधजन्तुपूर्ण पृथ्वीका कर्षण—यह पृथ्वी विश्वम्भरा कहलाती है । नाना प्रकारके जीव-जंतु प्राणियोंसे यह भरी हुई है, सो नाना प्रकारके उपकरणोंसे, हलोंसे यह पुरुष दीन होकर, लोभसे पीड़ित होकर पापको न गिनता हुआ इस जमीनको जोतता है, खोदता है । यद्यपि कुछ न कुछ कार्य आजीविकाके लिए करना तो पड़ता ही है सो जैसा जो करना पड़ता, करे, मगर है तो पापका ही घर । यह खेती विषयक बात कही जा रही है कि कितने जंतु इस पृथ्वीमें होते हैं, फिर भी इस पृथ्वीको यह मनुष्य जोतता है, खोदता है, उसमें कितने ही जीव मर जाते हैं, ऐसा कार्य लोग लोभके वश होकर ही तो करते हैं । गर्भिणी स्त्रीके उदरमें बच्चा रहता हैं तो उस पर कृपा न करके कामवश होकर यह उसको गिरानेमें पाप नहीं समझता । कितने ही पुरुष हैं ऐसे और आजकल तो सुना है कि कुछ उस कामके लिए दफ्तर भी बने हैं जैसे कि चिकित्सालय । तो चाहे वे सरकारसे मंजूरी लेकर खुलकर बने हों या बगैर मंजूरीके मगर अनेक जगह बने हैं जहाँ कि गर्भिणी स्त्रियोंके बच्चे गिरानेका कार्य होता है । तो जैसे उन कामी जनोंका हृदय है, पाप नहीं तकते, ऐसे ही लोभी

जनोंका भी हृदय है कि जीव जंतुवोंसे भरी हुई इस पृथ्वीको जोतनेमें पाप नहीं समझते, और ऐसा करना पड़ता है। यहाँ सभी प्रकारके व्यवसायोंके सम्बंधमें संकेत दिया है कि लोभ ही एक ऐसा कारण है कि जिससे ये सब कार्य करने पड़ते हैं।

भोगोपभोगसुखतो विमुखो मनुष्यो रात्रिंदिवं पठनचिंतनशक्तचित्तः।
शास्त्राण्यधीत्य विविधानि करोति लोभादध्यापनं शिशुगणस्य विवेकशून्यः ॥६६॥

लोभवशीका रात-दिनका अध्ययन अध्यापन——यह मनुष्य भोग और उपभोगको भी तिलाञ्जलि देकर मानो अपने आरामको खोकर रात-दिन पढ़नेको ही अपना ध्येय समझता है। स्कूलों कालेजोंमें जो पठन-पाठन किया जाता है वह कोई धर्मपालनके उद्देश्यसे नहीं किया जाता, किन्तु अपनी आजीविकाका काम बनानेके लिए किया जाता है। तो रात-दिन पठन-पाठनमें अपना उपयोग लगाते और अपना सारा आराम खो देते हैं कभी नाना प्रकार के शास्त्र पढ़कर कुछ ज्ञान हासिल कर लिया, पर लोभके फंदेमें फंसकर उस विद्याको पढ़ाने की नौकरी कर लेते हैं। देखिये——पहले जमानेमें पढ़ाने लिखानेकी नौकरी नहीं हुआ करती थी। वह एक गुरु और शिष्यका सम्बंध चलता था और भावोंके कारण चलता था, पर जैसे-जैसे समय बीता, जरूरत बनी तो स्कूल कालेजोंमें पढ़ने पढ़ानेकी पद्धति चली, उसमें बुरे अच्छेकी बात नहीं कह रहे, किन्तु ये कार्य भी लोभके वश होकर ही तो करने पड़ते हैं। बड़े बड़े शास्त्र पढ़ लिए, परीक्षायें पास कर लो और चूंकि कमानेकी चिन्ता रहती है, अन्य कोई उपाय सूझता नहीं, तो द्रव्य लेकर पढ़ाना प्रारम्भ कर देते है और लोभ एक ही किस्मका नहीं होता। इज्जत बचानेका भी एक लोभ होता है। सो कितने ही पंडित लोग वृद्ध होकर भी रातोंरात जगकर बहुत-बहुत अध्ययन करते हैं। बनारसकी एक घटना है। वहाँ कोई शास्त्रीजी थे। वे बहुत वृद्ध हो चुके थे। उनका नाम विद्वतामें बड़ा प्रसिद्ध था। उनके अनेक विद्वान शिष्य भी तैयार हो गए थे। यह सब कुछ होते हुए भी वे रात-दिन बहुत-बहुत अध्ययन किया करते थे। एक दिन उनसे कोई पूछ बैठा कि आप इतने विद्वान होकर भी इस अवस्थामें रात-दिन पढ़ते रहनेका श्रम क्यों किया करते हैं? तो उनका जवाब मिला कि हमारी इज्जत लोगोंके बीचमे अच्छी बनी हुई है। अब मान लो कोई दूसरा व्यक्ति या कोई हमारा ही शिष्य यदि हमसे शास्त्रार्थ कर बैठे और हम उससे शास्त्रार्थमें हार जायें तब तो हमें सिवाय कुवेंमें गिरकर मरनेके और कोई चारा न रहेगा। सो हुआ भी वैसा ही। कोई उनका ही युवक शिष्य उनसे एक दिन बोल उठा कि हम तो आपसे ही शास्त्रार्थ करना चाहते हैं। आखिर हुआ शास्त्रार्थ। अब कोई कारण था या वृद्धावस्थामें कुछ स्मृति भी कम हो जाती। आखिर वह सब पंडितोंका गुरु उस विवादमें हार गया जिसके कारण वह वृद्ध

पंडित कुवेंमें गिरकर मर गया। तो लोभ धनका भी होता, इज्जतका भी होता, सांसारिक सुखोंका भी होता। यह जीव लोभवश अनेक चेष्टायें करता है।

वस्त्राणि सीव्यति तनोति विचित्रचित्रं मृत्काष्ठलोहकनकादिविधं चिनोति।
नृत्यं करोति रजकत्वमुपैति मर्त्यः किं किं न लोभवशवर्तितया विधत्ते ॥७०॥

लोभवश सीना, कढ़ाई, चित्र, नृत्य, धुलाई आदि कर्मोंका करना—यह मनुष्य लोभ के वश होकर कपड़े सीता है याने दर्जीका काम करता है। अब करना चाहिये या न करना चाहिये इसकी चर्चा यहां नहीं कर रहे, किन्तु यह कह रहे कि लोभवश होकर यह मनुष्य न जाने क्या-क्या चेष्टायें करता है। लोभके वश होकर नाना प्रकारके चित्र खींचनेका काम (फोटोग्राफरका काम) करता है, बर्तन वगैरा बनाता है। फर्नीचर कारखाने आदिक बनाता है, आभूषण तैयार करता है, लोहेके शस्त्र, बर्तन, कल-पुर्जे वगैरा तैयार करता है। देखिये—ये सब कार्य एक लोभके वश होकर ही तो किये जाते हैं। बड़ी-बड़ी सभा सोसायटियोंमें नृत्य गायन करना, अपवित्रसे अपवित्र कपड़े धोना, अब क्या-क्या काम गिनायें, सभी कामों के करनेका कारण मिलेगा एक लोभकषाय। देखिये—आजकल कपड़े धोनेका काम सिर्फ धोबियोंके हाथ नहीं रहा। जगह-जगह ड्राईक्लीनर्स खुल गए जिनमें अच्छे-अच्छे लोग भी ये काम कर रहे, तो एक लोभके कारण ही तो कर रहे ना? ऐसे कौन करेगा? तो लोभके कारण कोई योग्य अयोग्य कार्य भी नहीं गिनता। इस लोभकषायका कितना बड़ा साम्राज्य छाया है इस जगतमें यह बात इन कुछ छंदोंमें बताई जा रही है।

लोकस्य मुग्धधिषणस्य विवंचनानि कुर्वन्नरो विविधमानविशेषकृत्या।
संसारसागरमपारमवीक्षमाणो वाणिज्यमत्र विदधाति विवृद्धलोभः ॥७१॥

लोभी पुरुषके वञ्चनापूर्ण वाणिज्यका परिश्रम—इस छंदमें वाणिज्य (व्यापार) की बात कही गई है। लोभवश सब कुछ करना पड़ता है। जिन-जिन चेष्टावोंको यह मनुष्य करता है उनका वर्णन यहां चल रहा है। लोभके वश होकर यह मनुष्य देश-विदेश पहुंच-कर, बड़े-बड़े कष्ट उठाकर, बड़े मिष्ट वचन बोलकर, नाना प्रकारके हाव-भाव दिखाकर द्रव्य कमानेका प्रयत्न करता है। यह वाणिज्य ऐसा ही होता जिसमें अनेक प्रकारके विकल्प किए जाते हैं। तभी तो इसका नाम रखा है दुकान। दुकानके दो अर्थ यहां समझिये—एक तो दुकानका अर्थ है—दो कान वाला काम याने एक तो ग्राहकका कान और एक बेचने वालेका काम। इन दो के व्यापारको दुकान कहते हैं, दूसरा अर्थ है दुका न, याने अपने मालको छिपाकर (दुकाकर) रख न, तभी तो दुकानदार लोग अपने बेचे जाने वाले मालको ग्राहकोंके सामने खोलकर बड़ी अच्छी हालतसे रखते। यदि मालको कोई दुकानदार छिपाकर रखे तो

उससे कौन माल खरीदे ? तो दुकानका मतलब हुआ कि दो कानोंसे जहाँ मतलब चले, ग्राहक और बेचने वाला उसका नाम है दुकान । अब मनुष्योंका सम्बंध हुए बिना वाणिज्य तो नहीं किया जा सकता । सो उस वाणिज्यमें भले मीठे वचन बोलकर उसका आकर्षण करना और फिर उससे लाभ लेना यह वाणिज्यमें होता है । तो यह जीव लोभवश होकर वाणिज्यका कार्य करता है ।

अध्येति नृत्यति लुनाति मिनोति नौति क्रीणाति हंति वपते चिनुते विभेति ।
मुष्णाति गायति धिनोति विभर्ति भित्ते लोभेन सीव्यति पणायति याचते च ॥७२॥

लोभसे नाना चेष्टावोंका श्रम—यह मनुष्य लोभसे द्रव्य कमानेकी इच्छाको बढ़ाता है । कितने ही लोग आजकल जो कालेजोंमें बायलोजी (जीवविज्ञान) पढ़ते हैं, जिसमें मेढक वगैरा कितने ही जीव चीरे जाते हैं, वे बताते हैं कि हम लोग इस जीवविज्ञानको पढ़कर, परोपकार करेंगे, कितने ही प्राणियोंका उपकार करेंगे, पर उनकी यह बात सही नहीं है । उपकारकी भावना वहाँ नहीं है, वहाँ भावना होती है धन कमानेकी । यदि परोपकारकी भावना होती तो सीखते हुएमें जो कितने ही जीव मारे जाते, वह काम न करते । तो वह तो उनकी संकल्पी हिंसा है, उसे हिंसासे दूर नहीं किया जा सकता । हाँ लोग एक धर्मकी आड़ लेकर इस तरहसे बात करते हैं कि हम परोपकार करेंगे । सो उनकी वह बात मिथ्या है । तो लोभके वश होकर ही तो लोग इस प्रकारकी विद्यायें पढ़नेका कार्य करते हैं । देखिये एक निर्लज्जसा होकर जो नृत्य करनेका काम बहुतसे लोग करते हैं, बड़े हाव-भाव दिखाकर लोगोंमें आकर्षण पैदा करते हैं, वह कार्य भी लोभकषायके बिना कोई नहीं करता । यह मनुष्य लोभके वश होकर घास लकड़ी आदि अनेक चीजोंको काटता है, उनको काटकर वाणिज्यका व्यवसाय करता है । राजा महाराजावोंकी स्तुति करनेका काम भी तो लोभवश ही किया जाता । पहले जमानेमें राजाके पास भाट लोग जाकर राजाकी स्तुति किया करते थे, उस स्तुतिमें उस राजाके अनेक पीढ़ीके लोगोंका नाम ले लेकर वे भाट लोग उस राजाका गुणानुवाद किया करते थे । तो इस प्रकारके कार्योंको लोभके कारण ही तो किया जाता है । लोभके वश होकर ही मालका क्रय-विक्रय करनेकी चेष्टायें की जाती हैं । लोभके वश होकर ही यह मनुष्य कितने ही जीवोंकी हत्या कर देता है । लोभके वश ही यह मनुष्य बीज बोता है, फूल चुनता है ।

नाना विचित्र चेष्टावोंके बीज लोभकषायकी विडम्बनाका प्रदर्शन—देखिये—ये सब कार्य तो बताये गए हैं । इनको सुनकर अगर कोई कह बैठे कि ये सब कार्य न करने चाहिये क्या ? तो यहाँ करने न करनेकी बात नहीं कही जा रही, करना चाहिये या नहीं, इसका

प्रसंग अलग है, वह विषय ही दूसरा है । यहाँ तो यह बताया जा रहा कि इन सब प्रकारकी चेष्टावोंमें एक लोभ कषाय ही कारण है । यह जीव लोभसे ही भय खाता है और जोड़ता है, गाना गाता है । देखिये—आजकल पंडितोंको बुलाया जाय दसलक्षणके दिनोंमें तो कहो कम खर्चमें निपट जाय और किसी गायकको, संगीतज्ञको बुलाया जाय तो उसका बहुत बड़ा खर्च बैठता है । राग रागनीकी चीज लोगोंको अधिक सुहाती है । एक उत्सवमें कोई विद्वान् पंडित बुलवाया गया और साथ ही एक नर्तकी भी । सिर्फ एक दो दिनका ही कुल प्रोग्राम था । उस विद्वान् पंडितका नाम था मनीराम और उस नर्तकीका नाम था कंचनिया । खैर उत्सव में दोनोंके प्रोग्राम हुए, जब उनकी विदाई की जाने लगी तो दोनोंको एक ही साथ विदाई दी गई । उस विदाईमें नर्तकीको तो ३०० रु० दिए गए और उस विद्वान् पंडितको ३० रु० दिए गए । तो उस समय उस विद्वान् पंडितने आशीर्वाद देते समय लोगोंसे कहा एक दोहा पढ़कर—"फूटी आँख विवेककी, काहे करे जगदीश । कंचनियाको तीन सौ, मनीरामको तीस ॥" तो गायन और धार्मिक भजन गाकर द्रव्य कमाना, यह भी लोभवश होता है, और इसी लोभके कारण कर्ज लेना, दूसरोंका भरण-पोषण करना, जुवा खेलना, भीख मांगना आदि सारे कार्य किए जाते हैं । कई घटनायें ऐसी घटीं कि किसी भिखारीके मरनेके बाद उसकी झोंपड़ीमें रखे कथरी गूदड़ीमें भरे, सिले सिलाये सैंकड़ों मोहरें निकलीं । हजारोंका धन निकला, उसका वे कुछ उपयोग न कर सके । जिन्दगीभर भीख मांगी और अपने लिए भी कुछ खर्च न कर सके और अंतमें यों ही छोड़कर चले गए । तो यह सब लोभवश ही तो हुआ । इटावाकी एक घटना है कि वहाँ कोई एक ब्रह्मचारी था । वह कोई पढ़ा लिखा तो था नहीं, अकेला था, अपने ही हाथसे खाना बनाता, खाता था । वह कहींसे कुछ माँग लावे, कहींसे कुछ । लोगोंके देखनेमें वह बडी गरीबीमें अपना गुजारा करता था । एक दिन वह अचानक ही गुजर गया । तो उस समय देखा गया कि वह जो बंडी पहने था उसमें १०-१२ हजार रुपयोंके नोट निकाले । अब देखिये वह उन रुपयोंका अपने जीवनमें भी कुछ उपयोग न कर सका । लोगोंसे भीख जैसे माँगकर अपना गुजारा करता था । आखिर यों ही अन्तमें छोड़कर चला गया । तो इसमें लोभ कषाय ही तो कारण था । यद्यपि उसके उन रुपयोंसे धर्मशाला वालोंने दो कमरे बनवा दिए, पर उसके लिए तो कुछ काम न आये । तो लोभवश यह प्राणी न जाने क्या क्या काम नहीं करता । यहाँ तक कि यह भिक्षा तक भी माँगता है । तो ये सब लोभकषायके ही परिणाम हैं । अब जब गृहस्थ हैं तो आवश्यकता है, करना सब पड़ता है, मगर यह सोचना चाहिए कि ऐसा करते रहना ही तो हमारा ध्येय न होवे । इस जीवनमें यह ही करूँ, भव-भवमें वही करूँ, यह तो कोई कर्तव्य नहीं है । मैं तो कषायरहित

विकाररहित ज्ञाताद्दष्टा रहने वाला चैतन्यस्वरूप मात्र तत्त्व हूं। निज दृष्टिके प्रतापसे मुक्त होऊँ तो न संसार रहेगा और न यह सब झंझट रहेगा, ऐसी दृष्टि और प्रतीति चित्तमें रहनी चाहिए।

कुंतासिशक्तिभरतोमरतद्वलादिनानाविधायुधभयंकरमुग्रयोधं।
संग्राममध्यमधितिष्ठति लोभयुक्तः स्वं जीवितं तृणसमं विगणस्य जीवः ॥७३॥

लोभवश मरणको तृणसम गिनकर भयंकर संग्राममें पतन—लोभके कारण यह मनुष्य न जाने क्या-क्या कार्य करता है, यह विवरण चल रहा है। लोग सेनामें भर्ती होते हैं, क्यों काम करनेके लिए कि कहीं युद्ध करना हो तो भयंकर युद्धमें भी वह जाकर युद्ध करे। कहीं हथियारोंसे दूसरोंसे लड़ना शौककी बात तो है नहीं, जो अपनी इच्छासे संग्राम करता हो। जो इच्छासे संग्राम करते हैं वे मालिक लोग होते सो प्रायः युद्ध करते नहीं, किंतु कराते हैं तो जो योद्धा हैं वे किसी लोभवश ही तो संग्राम करने जाते हैं। जहाँ नाना प्रकार के हथियार पुराने हथियार जैसे भाला, तलवार, बाण आदिक नये हथियार जैसे बम पटकना, पैटन टैंकमें बैठना, गोली चलाना आदि नये प्रकारकी बातें हैं। इन सबके बीच जो युद्ध करने जाता है तो हाथपर प्राण धरकर ही तो जाता है। जो युद्धमें जाता वह पहले विचार लेता कि प्राणों का अब क्या सोचना? तो अपने प्राणोंको जीवनको तृणके समान जानकर वैराग्यसे नहीं जानता तृण समान, किन्तु उस लोभके सामने अपने जीवनको भी तृणकी तरह कर लेता है और बड़े संग्रामोंमें वह युद्ध करता है। हर एक मनुष्य करता है कुछ न कुछ, इस बात पर विचार नहीं किया जा रहा, किन्तु यह सब हो रहा लोभकषायवश जो आत्माका स्वरूप नहीं, अपने स्वभावके विरुद्ध चल रहा है।

अत्यंतभीमवनजीवगणेन पूर्णं दुर्गं वनं भवभृतां मनसाप्यगम्यं।
चौराकुलं विशति लोभवशेन मर्त्यो नो धर्मकर्म विदधाति कदाचिदज्ञः ॥७४॥

लोभवश भयंकर वनोंमें प्रवेश व आवास—यह लोभी पुरुष भयानक जंगलमें भी रहा, मगर चोर डाकू तो प्रायः ऐसे वनोंका ही आश्रय लेते हैं। तो वनमें रहना मोही रागी रहकर यह तो एक कठिन कष्टकी बात है, मगर लोभके वश होकर मनुष्य भयानक जीव जंतुवों द्वारा व्याप्त बन जंगलमें रहता है। ऐसे दुर्गम स्थानमें चला जाता है, यह तृष्णावान जहाँ अपने प्राणोंको भी हथेलीपर रखकर व्यवहार करता है, वह धर्म करता हुआ सभीको भूल जाता है। अपने गुजारेके लिए पुण्योदयके अनुसार थोड़ेसे प्रयत्नसे सहज जो हो उस ही में अपनी व्यवस्था बनाकर जीवनका गुजारा चलाना और धर्मपालनमें अपना समय लगाना यह तो व्यवहारधर्ममें शामिल हो जाता है, यह भी कर्तव्य है। जब गृहस्थ है तो उसे उपदेश किया है कि वह न्यायसे धन कमाये और उस ही में अपनी व्यवस्था बनाये और धर्मपालन

करे, पर जो तृष्णा अपने चित्तमें लगाये हुए है कि मुझे इतना धन इकट्ठा क्यों न हुआ, इतना वैभव कर लूं, इस प्रकारका लोभ जिनके जगा है उनकी बात कही जा रही कि अपने लोभ की पूर्तिके लिये ये मनुष्य न जाने कहाँ-कहाँ श्रम करते हैं।

जीवान्निहंति विविधं वितथं ब्रवीति स्तेयं तनोति भजते वनितां परस्य।
गृह्णाति दुःखजननं धनमुग्रदोषं लोभग्रहस्य वशवर्तितया मनुष्यः ॥७५॥

लोभवश नाना जीवोंका हनन—जो लोभरूपी पिशाचके वशमें हैं वे मनुष्य इस लोभ के कारण नाना जीवोंकी हिंसा करते हैं। कसाईखाने खोलना, मछलियाँ मारना, मेढक चीर कर विद्या सीखना आदिक सभी बातें लोभके वश होकर की जाती हैं। सो ये मनुष्य लोभ-पिशाचके वश होकर नाना विधियोंसे जीवोंकी हिंसा करते हैं। ऐसे कारखाने बनाते कि जिनमें बहुतसे जीवोंकी हिंसा हो। जैसे ईंटोंका भट्टा लगानेका काम है, इसमें कितने ही जीवों की हिंसा होती है। कितने ही जीव उसकी आगमें भस्म हो जाते हैं। जैनशासनके अनुसार जितने रोजिगारकी आज्ञा है उसे अगर देखा जाय तो आज तो बड़ा कठिन मामला पड़ेगा क्या करें, फिर भी उनमें भी छंटनी की जा सकती है। एक बहुत बड़े दोषके व्यापार एक कम दोषके व्यापार, उनमें भी छाँटें अगर तो महान दोषके व्यापार। जयपुरमें कोई २५ वर्ष पहले हमारा एक चातुर्मास हुआ, तो वहाँ एक ऐसा व्यक्ति देखा कि जो बड़ा समझदार दिखता था, स्वाध्याय भी विशेष करता था, रईस घरका था, पर वह मिलिटरीको मांस सप्लाई करनेका ठेका लिए हुए था। अब उसके प्रति उस प्रकारकी बात सुनकर हम दंग रह गए। यद्यपि वह कहता था कि हम खुद मांस छूते नहीं हैं, उसे देखते भी नहीं हैं, सब बाहर ही बाहर काम चलता है, मगर है तो वह आखिर घोर हिंसाका ही व्यापार।

लोभवश हिंसायुक्त व्यापारोंका कलन—आजकल तो ऐसे लोग बहुत हो गए जो हिंसात्मक व्यापार करनेमें रंच भी नहीं संकोच करते। जूते बनानेकी कम्पनियाँ बेचनेकी कम्पनियाँ तो अच्छे-अच्छे लोग खोलने लगे। बहुत सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो सर्राफेके काममें भी बड़ा मेल मिलावट किया जा रहा, उसमें क्या कम पाप किया जा रहा। सरकारी नियम कानून भी ऐसे विचित्र-विचित्र बनते कि जिससे सारी जनता परेशानी अनुभव करती, आखिर किस तरहसे उस परेशानीसे बचाव किया जाय, कैसे परिवारका पालन-पोषण किया जाय, इस कारण भी बड़े-बड़े अन्यायके काम किये जा रहे। जो कुछ भी किया जा रहा है वह सब तृष्णावश ही तो किया जा रहा है।

केवल अगर गुजारेका ही सवाल हो तब तो सारी समस्या झट हल हो जाय। लोग सोचते हैं कि हमारा गुजारा नहीं चल रहा। आमदनी कितनी ? हजार रुपये महीनेकी।

अरे तो देख लो १००–१५० रुपये मासिक आय वालोंका भी गुजारा चल रहा कि नहीं ? ऐसे लोग हैं नहीं क्या ? जो भी परिस्थिति आये उस ही में गुजारा करनेकी कला इस जीवमें पड़ी हुई है, और यदि धर्मबुद्धि नहीं है, तृष्णामें बुद्धि है तो जिसके १० हजार रुपया महीने की आमदनी है वह भी यही महसूस करता कि मेरा तो गुजारा ही नहीं चल रहा । अभी तो बहुत कम आमदनी है । तो विधि यह है कि पुण्योदयसे अगर आता है तो आने दो खूब, आखिर चक्रवर्तीके पास भी तो खूब धन आता है, मगर तृष्णा अग्नि भीतरमें ऐसी जल रही है कि जिससे यह जीव सुखी शान्त नहीं हो पाता । तो लोभवश ही तो लोग जीवहिंसा करते हैं । बहुतसे लोग रेशमके कपड़ेका व्यापार करते हैं सो देख लो वह कितना हिंसात्मक कार्य है । रेशमके कीड़ोंको मारकर उनके अन्दरका रेशा निकालकर उससे कपड़े बनते हैं । अब कोई कहे कि हम तो बस बेचते भर हैं, बनाते तो नहीं । तो भाई बेचनेमें बनाने और उनका उपयोग करनेकी अनुमोदना तो हो ही गई । और फिर कोई यह कहे कि हम न बेचेंगे तो कोई दूसरे लोग बेचेंगे, आखिर बिकेंगे तो हैं ही, तो भाई जो बेचेगा उसे उसके सम्बंधका पाप लगेगा, तुम तो उस पापसे बच जावोगे । तो लोभके वश होकर न जाने कैसे-कैसे व्यवसाय किए जा रहे ।

लोभवश मिथ्यावाद—लोभपिशाचके वश होकर ही तो यह मनुष्य झूठ बोलता है । झूठ बोलना तो लोगोंके लिए बिल्कुल आसान बन गया है । उसमें कुछ कष्ट तो उठाना नहीं पड़ता । अपने मुखमें अपनी जीभ है जैसा चाहे लटका दी, बल्कि झूठ बोलनेमें अपनी एक चतुराई समझते, उसे एक कला मानते, मगर झूठ बोलनेका जो परिणाम किया वह हिंसाका ही तो परिणाम है । देखिये—यद्यपि पाप ५ प्रकारके कहे गए, पर मूलमें एक ही प्रकार का है । वे सब पाप हिंसाके समर्थनकी ही बात कहते हैं । झूठ बोलना भी हिंसा, चोरी करना भी हिंसा कुशील सेवन करना भी हिंसा और परिग्रह संचय करना भी हिंसा, और हिंसा तो हिंसा है ही । तो इन पाँचों प्रकारके पापोंमें हिंसा बसी हुई है और हिंसा होनेके कारण ही ये पाप कहलाते हैं । स्वहिंसा और परहिंसा । यदि खोटे भाव बने तो स्वहिंसा तो हो ही गई, इसलिए पाप है । तो यह जीव लोभकषायके वश होकर झूठ भी बोलता है । पुराणोंमें बताया गया है कि पाँडवोंमें उनका ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर धर्मराज युधिष्ठिरके नामसे प्रसिद्ध हुआ । सत्य बोलनेमें उसकी बड़ी प्रसिद्धि थी । एक बार क्या घटना घटी कि कौरव पाण्डवोंके युद्धमें कोई अश्वत्थामा नामका हाथी मर गया, और अश्वत्थामा नाम किसी एक सेनापतिका भी था । उस समय एक ऐसी स्थिति थी कि लोगोंमें बड़ी व्याकुलता थी कि पता नहीं अब इस युद्धका क्या परिणाम होगा । तो कुछ लोग युधिष्ठिरसे यह कहलवानेके लिए

गये कि तुम अपने मुखसे एक बार बोल दो कि सेनापति अश्वत्थामा मर गया। तुम्हारे इतना बोल देनेसे सारी सेनाका बल घट जायगा, लोग कायर बनकर भाग जायें, हमारी विजय हो जायगी। तो उस समय युधिष्ठिरने सोचा कि इस झूठ बातको मैं अपने मुखसे कैसे बोल सकता, पर वहां कुछ परिस्थिति ऐसी बनी कि बोलना ही पड़ा। तो उन शब्दोंमें न बोलकर इस तरह बोले—अश्वत्थामा हता···अर्थात् यह नहीं जानता कि हाथी है या सेनापति, पर अश्वत्थामा मर गया। देखिये—इतनीसी बात बोल देनेके कारण आज भी इतिहासमें झूठ बोलनेका कलंक चला आ रहा है। तो यह जीव लोभके वश होकर असत्य भी बोलता। चोरी करनेका नाम तो साक्षात् लोभकी बात है ही। किसीका धन हर लिया अथवा कोई वचनचातुर्यसे दूसरेका माल हड़प लिया, यह सब लोभकषायके वश होकर ही तो किया जा रहा।

लोभवश चौर्यवृत्ति—चोरी करने वाले लोगोंको देखा ही होगा वे कितना दुःखी रहते। मारे पीटे जाते, कितना ही उनको चिन्तित रहना पड़ता। एक घटना है कि एक बार तीन चार चोर चोरी करने जा रहे थे, उन्हें रास्तेमें एक नया व्यक्ति मिल गया। उससे कहा कि भाई हम लोग चोर हैं, तुम भी हमारे साथ हो लो। तो वह बोला—भाई हम चोरी करना नहीं जानते।····अच्छा तो कुछ बात नहीं, हम जैसा कहें वैसा करते रहना, साथ बने रहना। ····ठीक है। चल दिया चोरी करने। एक घरमें घुस गए। बहुतसा माल इकट्ठा किया इतने में घरका मालिक जग गया तो जो चतुर चोर थे वे तो घरके मालिकके जगनेपर तुरन्त भाग गए, उन्होंने पहलेसे ही देख लिया था कि मौका पड़नेपर किधरसे भाग सकेंगे। अब जो नया चोर था वह कहीं न भाग सका। घरके अन्दर ही रह गया, इतनेमें चारों तरफसे लोगोंने घरको घेर लिया। अब जल्दी-जल्दीमें उस नये चोरने क्या किया कि एक कोठरीमें जो लकड़ी की कड़ी ऊपर छतमें लगी होती हैं उनमें चढ़कर छिप गया। आखिर लोग घरके अन्दर घुस आये। उस कमरेमें भी घुसे जिसमें ऊपर वह नया चोर छिपा था। अब सभी लोग घरके मालिकसे अनेक बातें पूछ रहे थे—किधरसे आये, क्या-क्या ले गए, कितने थे, कैसे थे किधर से भागे, यों बीसों लोगोंने बीसों तरहकी बात पूछा—तो वह घरका मालिक हैरान होकर बोला—भाई हम कुछ नहीं जानते, ऊपर वाला जाने। यहाँ ऊपर वालेका मतलब भगवानसे था, मगर ऊपर छिपे हुए चोरने स्वयं कल्पनायें बनाकर समझा कि हमें कह रहा, सो वह बोल उठा—अरे ऊपर वाला ही क्यों जाने ? वे जो चार चोर और भाग गए वे क्या कुछ न जानें ? लो इसकी आवाज सुनकर लोगोंने उसे पकड़ लिया, मारा पीटा गया। तो चोरों की यही हालत होती है। इस चोरीके काममें तो कितने ही लोगोंके प्राण तक हर लिए जाते

हैं। वे चोरीके कार्य लोभवश ही तो किए जाते हैं।

लोभवश कुशील एवं परिग्रह पापका योजन—कुशील सम्बन्धी पाप भी लोभवश ही किए जाते। उनमें और किस्मका लोभ है, विषय भोगका लोभ समझ लो। परिग्रह संचय करना भी लोभकषायके वश ही तो किया जाता। चारुदत्तकी कथामें बताया है कि चारुदत्त पहले बड़ा सदाचारी था। एक बार उसके चाचा रुद्रदत्तने उसे विषयभोग सम्बंधी कथा सुनायी और एक उपायसे उस एक वेश्याके घर पहुंचा दिया। उपाय क्या किया कि एक वेश्याओंकी गलीमें हाथी छुड़वा दिया और उसी गलीसे चारुदत्तको ले गया, हाथीके भयसे चारुदत्त एक वेश्याके घरमें घुस गया। वहाँ रुद्रदत्तने वेश्याकी लड़कीके साथ चारुदत्तको चौपड़ खेलनेमें लगवा दिया। चारुदत्तने उस चौपड़ खेलनेमें अपना बड़ा धन लुटा दिया। देखिये—यह एक बहुत बड़ी कथा है। यहाँ संक्षेपमें सुनो—आखिर चारुदत्त अत्यन्त निर्धन हो गया, फिर उसे धन कमानेके लिए समुद्र पार विदेश जाना पड़ा। वहाँ धनके लोभके कारण न जाने क्या क्या कष्ट उठाने पड़े। वह विषय एक अलग है। उसे यहाँ नहीं सुनाना है, यहाँ मूल बात यह लेना है कि एक इस धनके लोभमें आकर इस जीवको बड़े-बड़े कष्ट उठाना पड़ता है। और फिर न जाने क्या-क्या पापकार्य इस धनके लोभमें आकर कर डालता है। वहाँ न्याय अन्यायका कुछ विवेक नहीं रहता। विवेक सब खत्म हो जाता है।

उद्यन्महानिलवशोत्थविचित्रवीचिविक्षिप्तचक्रमकरादिनितांतभीतिं।
अंभोधिमध्यमुपयाति विवृद्धवेलं लोभाकुलो मरणदोषमन्यमानः ॥७६॥

लोभाकुल पुरुषोंका समुद्रमें अवगाहन—लोभसे आकुल प्राणी अपने मरणके दोषको भी न मानता हुआ विकट भयानक समुद्रमें प्रवेश करता है। समुद्रको रत्नाकर कहा गया है। उसमें बहुत रत्न पाये जाते हैं। तो रत्न पानेके लिए उसमें डुबकी लगाते है। वह है एक मरण जैसी स्थिति। न जाने कब कैसी भंवर आ जाय, लहर आ जाय कि कहीं ऊपर ही न उठ सके। अभी समुद्रमें उठे तूफानमें देख लो कितना क्षेत्र ध्वस्त हो गया। शायद आधा प्रान्त ही ध्वस्त हो गया। तो ऐसे विकट भयानक समुद्रमें यह प्राणी लोभवश प्रवेश करता है। कैसा है वह समुद्र कि प्रचण्ड पवनके आघातसे जिसमें बड़ी तरंगें उठ रही हैं। तरंगें २५-३० फिट तककी ऊँची या इससे भी अधिक ऊँची समुद्रमें उठती हैं, अब इतनी ऊंची लहरोंके चपेटमें अगर कोई आ जाय बस वह तो उस लहरके साथ ही बह जायगा। बच नहीं सकता। तो ऐसी भयानक तरंगोंसे व्याप्त है वह समुद्र, जिसमें बड़े-बड़े मगरमच्छ आदिक जंतु भरे पड़े हैं। जो मनुष्योंको यों ही खड़ा लील जाते हैं। मगरका मुख, कंठ व सारा शरीर कुछ ऐसे ही ढंगका बना होता है कि वह यों ही सीधा मनुष्योंको निगल जाता

है। तो ऐसे बड़े मगरगच्छ विकराल जंतुवोंसे भरा हुआ है यह समुद्र फिर भी लोभसे आकुल होकर ये मनुष्य उसमें प्रवेश करते हैं। ऐसे समुद्रोंमें प्रवेश करते समय वे अपने प्रिय प्राणों तकके भी नष्ट हो जानेका भय नहीं मानते।

असार भिन्न पृथ्वी समुद्रोंमें लोभीका साकुल भ्रमण—आजकल लोग इस पृथ्वीको नारंगीकी तरह गोल बताते हैं। जब उनके सामने यह प्रश्न आता है कि जब गोल है तो पानीका क्षेत्र अधिक है, तो जो नीचे पानी है वह थमेगा कैसे ? वह तो गिर जायगा। तो एक अक्ल लड़ाकर उनका उत्तर होता है कि इस पृथ्वीमें आकर्षण शक्ति है जिससे गोल पृथ्वीके नीचे भी बस्ती है और आकर्षण शक्तिके कारण वे सब चिपके रहते हैं। अब देखिये—वह आकर्षणशक्ति है या पतनशक्ति है, याने जो वजनदार चीज है उसका नीचे जाने का स्वभाव है। पृथ्वी यद्यपि इस आर्यखण्डमें मलमा उठ जानेके कारण वह गोल जैसे शक्ल की बन गई जरासे हिस्सेमें मगर पूरा गोल नहीं है और बड़े विस्तारको जमीन है। तो छोटे गोलमें और बड़े विस्तार वाले गोलमें बहुत अन्तर होता है। तो जो अत्यन्त नीचेका हिस्सा है वह तो शून्य है, बाकी अगल-बगल ये सब हिस्से समतल जैसे लगते हैं। यहाँ भी जलका हिस्सा अधिक मालूम देता है वह आजके भूगोलमें मानी हुई पृथ्वीमें और वैसे भी देखो तो जितना बड़ा आखिरी समुद्र है स्वयंभूरमण समुद्र उतनी जगहमें असंख्याते द्वीप समुद्र उसके बराबर भी नहीं है, कुछ कम ही हैं। तो जलका समूह तो अधिक है ही, पर वह सब समान भूमिपर है और उसको बोलते हैं रत्नाकर, रत्नोंका आकर। समुद्रमें रत्न पाये जाते। उसमें ऐसी सीपें होती हैं कि किसी एक खास स्वाति नक्षत्रके समयमें बूंदें गिर जायें मेघकी तो वह बूंद मोतीका रूप धारण कर लेती हैं। तो ऐसे उसमें बहुतसे रत्न पाये जाते। उनके लोभसे यह जीव ऐसे भयंकर समुद्रमें प्रवेश करता और अपने प्राणों तकके भी खो जानेका भय नहीं करता, और लोभकषायसे मिलता क्या है ? अन्तमें सब छूटेगा, और जो सारे जीवन लीलायें की हैं उसका संस्कार बँधा, पाप बँधा, उसका फल आगे आयगा, इसलिए सब पुण्योदय पर छोड़े, जो आना है सो आयगा। कर्तव्य है थोड़ा पुरुषार्थका, मगर तृष्णावश न करना। जो हो उसीमें ही उसका गुजारा सम्भव है, ऐसी अपनी दृष्टि रखनी चाहिये।

निःशेषलोकवनदाहविधौ समर्थं लोभानलं निखिलतापकरं ज्वलंतं।
ज्ञानांबुवाहजनितेन विवेकिजीवाः संतोषदिव्यसलिलेन शमं नयंति ॥७७॥

लोभदावानलकी ज्ञानमेघसे निःसृत शान्ति सन्तोष सलिलसे ही शमनकी शक्यता—यह लोभरूपी अग्नि समस्त संसाररूपी वनको जला देनेमें समर्थ है। बाह्यपदार्थोंमे दृष्टि गई उसमें अपनेपनका अनुभव किया तो यह आत्मा जला ही हुआ है, क्योंकि शान्ति संतोष वहाँ

है ही नहीं। तो यह लोभरूपी अग्नि समस्त संसाररूपी वनको जला देनेमें समर्थ है और विकट संतापको देने वाला है। लोभ केवल धनका ही नहीं होता। इज्जतका लोभ, भोगोपभोगके सुखोंका लोभ, नामवरीका लोभ, दुनियामें मेरी महिमा बढ़े आदिक सारे लोभ हैं, जिसके कारण यह जीव संतप्त रहता है, तो जीवके संतापके कारणोंके मुख्य कारण है लोभाग्नि। बस जाज्वल्यमान लोभाग्निको कैसे बुझाया जा सकता है उसका कोई उपाय है क्या? ऐसी जिज्ञासा विवेकी पुरुषके हृदयमें होती है। अनादिकालसे इस ही परदृष्टिमें उलझे, इस ही परपदार्थके उपयोगमें यह सना रहा और दुःख पाता रहा। बात दो टूक है, सर्व पदार्थ स्वतंत्र सत् हैं, अपनेमें अपना ही परिणमन कर रहे हैं। दूसरेका हममें कोई स्वामित्व नहीं, पर इस बातको जब भूल गए तब इस निमित्तनैमित्तिककी चक्कीमें कसे जा रहे हैं और यही अनादिसे होता चला आया है। तो जिसको विवेक जगा, उसकी अब यह चाह है कि मैं इस लोभरूपी अग्निको शान्त करूँ। उसका उपयोग क्या है? ज्ञानरूपी मेघसे शान्ति और संतोष का जल बरसा दे तो लोभरूपी अग्नि शान्त हो जायगी। जैसे बड़े भारी वनमें तीव्र अग्नि लगी है तो उसको बुझानेमें समर्थ न तो नगर फायर गाड़ियाँ (दमकले) हैं, न चारों तरफके देहाती जन पानी ला-लाकर उसको बुझानेमें समर्थ हैं। उसका उपाय है कि खूब तेज मेघ बरस जायें तो वह वनकी अग्नि शान्त हो सकती है। तो लोभाग्नि जो इतना संताप कर रही है, गुणोंको भस्म कर रही है उसको बुझानेमें समर्थ तत्त्वज्ञान रूपी मेघसे शान्ति और संतोषका जल बरस जाय।

द्रव्याणि पुण्यरहितस्य न संति लोभात्संत्यस्य चेन्न तु भवंत्यचलानि तानि।
संति स्थिराणि यदि तस्य न सौख्यदानि ध्यात्वेति शुद्धधिषणो न तनोति लोभं।७८।

पुण्यहीनको लोभसे भी द्रव्यप्राप्तिका अभाव—कितना ही लोभ किया जाय तो भी पुण्यरहित है तो उसके द्रव्य थोड़े ही आ जायगा। और यदि किसी छल-कपट आदिकसे आ भी जाय तो वह स्थिर नहीं रहता। प्रायः करके यह देखा गया कि कोई लड़के वाला दहेज में अधिक धन ठहराकर ले ले तो उसके पास वह धन अधिक दिन ठहर नहीं पाता। इस बातका अनुभव तो आप सब भी खूब कर रहे होंगे। वह क्यों नहीं रहता कि बिना कमाये, बिना श्रम किए, बिना न्याय नीतिके लूटमार जैसा करके मिल गया है सो वह ठहर नहीं पाता। तो इसी तरह आजीविका आदिकमें या किसी ढंगमें इस तरहका धन आ भी जाय तो वह स्थिर नहीं रह पाता। कुछ दिन स्थिर रह जाय तो भी सुखदायी नहीं होता, ऐसा विवेकी जन समझते हैं, इस कारण वे लोभ नहीं करते।

लोभकी विडम्बना—एक पुरुषको नारियलकी जरूरत थी सो वह पासके बाजारमें

गया, पूछा—नारियल कितनेमें दोगे ?···८ आनेमें ।····४ आनेका नहीं दोगे ?···नहीं । यदि चार आनेका लेना हो मद्रास चले जावो । वहाँ जाकर पूछा—नारियल कितनेमें दोगे ? ····४ आनेका ।····दो आनेका नहीं दोगे ।···· नहीं ।···दो आनेका लेना हो तो बम्बई चले जावो । बम्बई जाकर पूछा—नारियल कितनेमें दोगे ?····दो आनेका ।····एक आनेका नहीं दोगे ?····अरे एक आना भी क्यों खर्च करते ? वे देखो पासके जंगलमें नारियलके पेड़ खड़े हैं जितने चाहे तोड़ लावो । अब वह जंगल जाकर एक नारियलके पेड़पर चढ़ गया । चढ़ने को तो चढ़ गया, पर ज्यों ही डाल पकड़कर नारियल तोड़ना चाहा त्यों ही उसके पैर फिसल गए और वह उसी पेड़पर लटक गया । बहुत घबड़ाया कि अब न जाने कैसे प्राण बचेंगे ? इतनेमें वहाँसे निकला एक हाथी वाला । उससे कहा—भाई हमें उतार लो, हम तुम्हें ५००) देंगे । सो उसने जब हाथीपर खड़ा होकर उसे पकड़ना चाहा उतारनेके लिए तो वह था उससे एक हाथ दूर, सो उचककर उसे पकड़ लिया, इतनेमें हाथी वहाँसे खिसक गया । अब दोनों लटक गए । नीचे वाला ऊपर वालेसे कहे—भैया, डाली छोड़ नहीं देना, हम तुम्हें ५००) देंगे । इतनेमें वहाँसे निकला एक ऊँट वाला, उससे वे दोनों बोले—भैया, हम दोनोंको उतार लो, दोनों ही तुम्हें ५००-५०० रु० देंगे । सो ऊंट वाला जब ऊँट पर खड़ा होकर उसे पकड़ना चाहा तो वह भी कोई एक हाथ अधिक ऊँचा था सो उचककर पकड़ लिया, इतनेमें ऊँट भी खिसक गया । अब तीन व्यक्ति लटक गए, वे तीनों बहुत घबड़ा रहे थे । इतनेमें निकला एक घोड़े वाला, उससे वे तीनों बोले—भाई हम तीनोंको उतार लो, हम लोग तुम्हें ५००-५०० रु० देंगे । सो वह जब उतारनेके लिए खड़ा हुआ और उचका तो वह भी लटक गया । अब चारों ही एक दूसरेसे कह रहे थे—भैया ऊपरसे छोड़ नहीं देना, नहीं तो हम गिरकर मर जायेंगे, हम तुम्हें ५००) देंगे । अब क्या हुआ सो नहीं कह रहे, उतर ही आये होंगे, कुछ चोट भी लगी होगी । यहाँ बात यह समझना कि लोभ करनेका यही परिणाम होता है । थोड़ेका लोभ करके बड़ा नुकसान तक सहना पड़ जाता है । तो ऐसा लोभ कहीं धन कमानेका उपाय नहीं है । जो न्यायसे प्राप्त धन है उसीमें संतोष मानें, आनन्दसे रहें और आत्माके धर्मका पालन करें, यही एक गृहस्थीमें कल्याण पद्धति है ।

विपुल स्पष्ट तत्त्वज्ञानके बलसे ही संसारविपत्तिसे हटनेकी संभवता—यह संसार एक बहुत बड़े जुवेके फड़के समान है । कहाँ तक कौन अपनेको सम्हाले ? दूसरोंको जब लौकिक बातोंमें बढ़ता हुआ देखता है धनमें, इज्जतमें, तो यह भी आखिर लौकिक बातोंको चाहने लगता है । सो जैसे जुवेका फड़ हो और वहाँ जितने आदमी उस फड़पर खेलमें शामिल हों तो उनको वहाँसे हटना बड़ा कठिन पड़ता है । हार गए तो भी नहीं हट पाते, जीत

गए तो भी नहीं हट पाते। जीत जाने पर यदि कोई उठना चाहे तो बाकी लोग यही कह बैठते कि देखो कितना मतलबी निकला, जीत गया तो चल दिया, यों उसका उठना मुश्किल हो जाता और यदि हार गया, कुछ पैसे बाकी बच गए, सोचा कि चलो जो बचे सो ही ठीक है अब चलना चाहिए, तो वहाँ बैठे हुए लोग यही कह बैठते बस हो गए, इतनी ही दम थी ....सो उसको वहाँसे उठना नहीं हो पाता। तो जैसे जुवाके फड़में बैठकर उठना कठिन हो जाता ऐसे ही इस समाजके बीच, घर गृहस्थीके बीच फंसकर इससे निकलना कठिन हो जाता। इससे निकलनेके लिए बहुत बड़े ज्ञानबलकी जरूरत है। जिसको भीतरमें ज्ञानप्रकाश एकदम स्पष्ट है कि प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न अपने अपने स्वरूपमें स्थित हैं, उनसे मेरेमें कुछ नहीं आता। इस प्रकारका ज्ञानप्रकाश हो तब गृहस्थीसे निकलना हो सकता। मान लो न भी निकलना हो पाये तो भी निर्मोह होकर तो रह सकता। तो बुद्धिमान पुरुष न्याय प्राप्त धनमें ही संतुष्ट रहा करता है।

अलौकिक आत्मीय आनन्दसे ही सम्यक्त्वपरिचय कर्मनिर्जरण व सांसारिक सुख-विरक्ति—ज्ञानी पुरुषने यह जाना ना कि आत्मस्वभावमें दृष्टि करूँ, साधना करूँ तो यह सबसे बड़ा काम है, यही सच्ची कमाई है, अन्य कुछ नहीं है यह उसके चित्तमें आया है जिसके बलसे संसारसे उपेक्षा करता है। जो सुख मिल रहा है उससे उत्तम आनन्द अगर मिले तब तो इस सुखको छोड़ा जा सकता। वैसे कहनेसे नहीं छूटता, पर इससे अधिक आनंद का अनुभव मिले किसी बातमें तो फिर उसके छोड़नेमें देर नहीं लगती। यदि खानेको कोई बढ़िया चीज मिल जाय इच्छुकको तो घटिया चीजको छोड़नेमें उसे इन्कार नहीं रहता। तो संसारके जो ये पंचेन्द्रियके विषयोंके सुख हैं इनसे विलक्षण, इनसे उत्तम आनन्द मिलता है आत्मस्वभावको अपनानेसे, उसीमें ही अभेदबुद्धि रखनेसे। इस आत्मस्वभावको अपनानेसे जो अलौकिक आनन्द जगता है वह संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्ति लाता है। कर्म भी आनन्दसे कटते हैं, कष्टसे नहीं कटते! वह कौनसा आनन्द है? वह आत्मीय अनुभवका आनन्द है। और जो तपश्चरण वगैरा किए जाते हैं वे सब साधन हैं। उन कठिन तपश्चरणोंमें भी मुनि आनन्द पा रहा है भीतरमें तो उसके कर्म कट रहे हैं, और यदि वह भीतरमें आनन्द नहीं पा रहा है तो कितना ही कठिन तपश्चरण कर ले तो भी उससे कर्म नहीं कटते। तो विवेकी पुरुष जब तक गृहस्थीमें रह रहा तब तक न्यायप्राप्त धनमें संतोष मानकर आनन्दमें रहता है और धर्मपालनमें जागरूक रहता है।

चक्रेशकेशवहलायुधभूतितोऽपि संतोषमुक्तमनुजस्य न तृप्तिरस्ति।
तृप्तिं बिना न सुखमित्यवगम्य सम्यग्लोभग्रहस्य वशिनो न भवंति धाराः ॥७९॥

असंतोषमें बड़ी विभूतिसे भी तृप्तिकी असंभवता—जिन पुरुषोंको संतोष नहीं है उन पुरुषोंके चक्रवर्ती, नारायण, बलदेव जैसी बड़ी विभूतियोंसे भी तृप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि किसी असंतोषीसे पूछा जाय कि तुमको कितना वैभव मिल जाय तो तुम शान्त हो जावोगे, खूब सोच लो और सोचकर बताओ, जो चाहोगे सो तुम्हें मिल जायगा। तब तो वह बता ही न पायगा, जितना सोचेगा उससे आगेकी फिर चाह करेगा। कोई हद नहीं होती। अच्छा तो उसे तीन लोकका वैभव मिल जाय तो भी वह संतुष्ट हो जायगा क्या ? अरे वहाँ भी यह सोचेगा कि तीन लोकसे भी अधिक वैभव हो तो वह भी हमें चाहिए। असंतोषी के कोई सीमा नहीं होती। एक बार एक गरीब विप्र (ब्राह्मण) राजाके पास पहुंचा और बोला—राजन्, मेरी कन्या सयानी हो चुकी है, उसका विवाह करने हेतु मुझे कुछ धन चाहिए, मैं निर्धन हूँ। तो राजाने कहा—अच्छा कल सुबह माँगना, जो माँगोगे सो मिल जायगा। अब वह ब्राह्मण खुश होकर घर आया। जब घरमें वह रातके समय खाटपर लेटा तो उसके विकल्पोंका ताँता बनना शुरू हो गया—मैं क्या माँगूं राजासे, कितना माँगूँ, कितने से मेरा काम चल जायगा। अच्छा १००) माँग लूँगा, १००) में लड़कीका विवाह हो जायगा, (उन दिनों १०० रु० में विवाह हो जाया करते थे)। मगर १००) ही क्यों माँगूँ, जब राजाने देना ही स्वीकार कर लिया है तो हजार रुपये माँग लूँगा, जिससे फिर हमें कोई कष्ट न रहे। पर हजार रुपये तो हमारे पड़ोसी सेठके पास हैं उसको भी तो कोई खास सुख नहीं है, मैं तो लाख रुपये माँगूँगा, पर लाख रुपयेसे भी क्या होगा, मैं तो आधा राज्य ही माँग लूँगा ताकि जिन्दगीमें फिर कभी कोई कष्ट न रहे। तो इसी विकल्पजालमें पड़कर वह विप्र सारी रात सोया नहीं, उसे नींद ही नहीं आयी विकल्पजालके आगे, आखिर वह यही निर्णय न कर पाया कि मैं क्या माँगूं राजासे ? जब सवेरा हुआ और राजाने पूछा—बोलो विप्र तुम्हें क्या चाहिए और कितना चाहिए ? तो वह विप्र बोला—महाराज जब मैंने आपसे कुछ लिया नहीं, सिर्फ लेना चाहा तब तो सारी रात नींद नहीं आयी और यदि आपसे कुछ ले लिया तो न जाने क्या होगा, इसलिए मुझे कुछ न चाहिए। तो असंतोषीकी कोई सीमा नहीं होती कि कितना क्या चाहिए ?

तृष्णामें दुर्दशा—एक कथानक है कि किसी सेठका पड़ोसी एक बढ़ई था। सो बढ़ई तो था बिल्कुल गरीब, कोई दो-चार रुपये रोज कमा पाता था और उसीको खर्च कर लिया करता था, पर रोज-रोज खाता था अच्छा-अच्छा ही खाना, क्योंकि जोड़नेकी कुछ फिक्र न थी। और उधर सेठ था बड़ा धनिक, पर जोड़नेकी फिक्र होनेसे रोज-रोज सीधा सादा भोजन करता था। एक दिन सेठानीने सेठसे कहा—सेठ जी देखो अपन लोगोंसे अच्छा तो बढ़ई है,

क्योंकि अपने लोगोंकी अपेक्षा उसके घर रोज-रोज खूब अच्छा-अच्छा खाना-पीना चलता है। तो सेठ बोला--अरे तुम नहीं जानती, वह बढ़ई अभी ९९ के चक्करमें पड़ा नहीं, इसलिए गुलछर्रे मार रहा है। अब सेठानी रोज-रोज यही बात कहे तो एक दिन सेठके मनमें आया कि चलो ९९ रु० न सही, एक बार ९९ रु० फेंक देनेसे जिन्दगीभरकी सेठानीके साथकी लड़ाई तो मिटेगी, यह सोचकर एक रात सेठने उस बढ़ईके घरके आँगनमें ९९ रु० की थैली फेंक दी। जब सवेरा हुआ और बढ़ईने वह थैली पायी तो बड़ा खुश हुआ, सोचा कि भगवान ने खुश होकर हमारे घर धन भेजा, पर जब गिनने बैठा तो जहाँ १०-२०-५० गिनता हुआ ९९ तक पहुंचा तो उसकी जीभ रुक गई और सोचने लगा--अरे भगवानने हमारे ऊपर कृपा तो बहुत की, पर एक रुपया काट दिया। यदि एक रुपया और होता तो मैं पूरा पूरा शतपति (१०० रु० वाला) कहलाता। (कुछ सोचकर) खैर कुछ बात नहीं, आजके दिन कमाईमें से सब न खर्च करके एक रुपया बचा लूंगा तब १००) पूरे हो जायेंगे। (देखिये उसी समयसे लग गया ९९ का चक्कर) पहले ही दिन प्रति दिनकी अपेक्षा १) कमकी भोजन-सामग्री बनी। दूसरी रात उस बढ़ईके विकल्प बढ़ गए, वह खाटपर पड़ा हुआ विचार रहा था कि अरे इन १००) से क्या होगा, इतनेमें क्या सुख है? हजार रुपये होने चाहियें तब सुख मिलेगा, पर हजार तो हमारे पड़ोसी सेठके पास भी हैं वह भी तो सुखी नहीं दिखता, लाख होने चाहिएँ। खैर, वह तो अब पड़ गया पूरा पूरा ९९के चक्करमें प्रतिदिन रूखा सूखा खाये, खाली रोटियाँ बन जातीं और पड़ोसियोंके यहांसे मट्ठा माँग लाता और मट्ठा रोटी खाकर काम चलाता और धन जोड़नेका काम प्रतिदिन चलता रहता था। कुछ दिन बाद सेठने सेठानीसे कहा--अब देख लो बढ़ईकी हालत। सो जब सेठानीने बढ़ईके घर जाकर देखा तो वह हालत देखकर बड़े आश्चर्यमें पड़ गई और सेठसे पूछा--तुमने कौनसा जादू कर दिया जिससे बढ़ईकी यह हालत हो गई? तो सेठ बोला--इसको मैंने ९९ के चक्करमें डाल दिया है। तो बात यहाँ यह कह रहे कि जब तक संतोष नहीं होता तब तक कितना ही कुछ मिल जाय, पर शान्ति नहीं मिलती। इससे इस लोभ कषायको छोड़कर संतोष वृत्तिसे रहें। विवेकी पुरुष कभी भी लोभके फंदेमें नहीं आते।

दुःखानि यानि नरकेष्वतिदुःसहानि तिर्यक्षु यानि मनुजेष्वमरेषु यानि।
सर्वाणि तानि मनुजस्य भवंति लोभादित्याकलय्य विनिहंति तमत्र धन्यः ॥८०॥

लोभवश नरकादि गतियोंमें दुर्दशा--नरकोंमें जितने भी अति दुःसह दुःख होते हैं वे सब लोभके कारण होते हैं। लोभवश अनेक अनर्थ पहले कुटुम्बी जनोंके पीछे किये, पर वे ही कुटुम्बी जन नरकोंमें पहुंचनेपर उसका साथ नहीं देते। (देखिये पार्श्वपुराणमें इसका बहुत

चित्रण किया है। जब वह नारकी नरकमें पहुंचता तो क्या सोचता है—हाय मेरा अब कोई सहाय नहीं हो रहा है। योगवश यदि वे ही कुटुम्बी जन नरकमें एक दूसरेके आमने-सामने पड़ जाये तो भी सहायता करना तो दूर रहा, परस्परमें एक दूसरेपर हमला करके उसके तिल-तिल बराबर खण्ड कर डालते हैं हैं। हाँ तो बात यह चल रही कि जितने भी नरकोंके असह्य दुःख यह जीव भोगता है वह एक लोभके ही कारण तो भोगता है। तिर्यंचोंमें, मनुष्यों में, देवोंमें जितने भी कष्ट हैं वे सब लोभसे ही तो होते हैं। ऐसा विचार करके भव्य पुरुष लोभको नष्ट करते हैं। और जो लोभको नष्ट कर सके वे ही पुरुष धन्य हैं। बड़ी मुसीबत है मोही जीवोंकी। छोड़ते बनता नहीं, भोगते बनता नहीं। बहुत-बहुत कमाकर रख लिया, अब मरण कालमें जायगा साथ धेला नहीं। वह जान रहा कि सबका सब यहीं पड़ा रह जायगा, पर मोहवश उसको दिलसे छोड़ नहीं पाता। तो जिसको मोह है, अज्ञान है, जिसने बाह्यसम्पत्तिको ही अपना सब कुछ समझा है उसको मरण कालमें बड़ा संक्लेश होता है जिसके फलमें वह आगे भी बड़ी दुर्दशा प्राप्त करता है।

लोभी जगत द्वारा सर्व स्थितियोंमें विडम्बना जानकर लोभपरिहार करनेका कर्तव्य—एक सेठजी थे, कोई ५ लाखके धनिक थे। चार उनके लड़के थे, उन चारोंको एक-लाखका धन बाँट दिया और एक लाखका धन अपने लिए रख लिया था। सो उसने क्या किया था कि जिस कमरेमें वह रहता था उसी कमरेकी आलमारियोंमें, आलोंमें उस एक लाख रुपयेके धनको रखकर बंद करके उसको सुरक्षित कर दिया था इस बातको उसके लड़के लोग भी जानते थे। अचानक ही वह सेठ बीमार हो गया और ऐसा बीमार हुआ कि उसका प्राणान्तसा होने लगा, बोल भी बंद हो गया, ऐसी स्थिति देखकर पंच लोग उस सेठके पास पहुंचे और बोले—सेठ जी अब आप अन्तिम समयमें धर्मार्थ जो करना चाहो सो कर लो मायने जो कुछ दान पुण्य करना हो सो कर जावो, तो उस समय सेठके यही भाव हुए कि मैंने जो इस भींतमें लाख रुपयेका धन गाड़ रखा है वह धर्मार्थ दान कर दूं, सो बोल तो सकता नहीं था, क्योंकि बोल बंद हो चुका था, पर उस भींतकी ओर बार-बार इशारा कर रहा था। उसका अभिप्राय तो यह था कि इस भींतमें जो धन गड़ा है वह सब धर्मार्थ दान है, पर पंच लोग उसका कुछ अर्थ नहीं समझ पा रहे थे और उसके लड़के लोग सब बात समझ रहे थे कि पिताजी क्या कह रहे हैं। आखिर पंच लोग सेठके लड़कोंसे पूछ बैठे कि सेठजी इशारेसे क्या कह रहे ? तो लड़के लोग बोले—पिताजी यह कह रहे हैं कि मेरे पास जितना जो कुछ धन था वह इन भींतोंकी चिनाईमें खर्च कर दिया, अब मेरे पास दान-पुण्य करनेको कुछ धन रहा नहीं। अब देखिये—लड़कोंकी ऐसी बात सुनकर सेठके दिलमें कितनी

बड़ी चोट पहुंच रही होगी, पर क्या करे, बोल सकनेसे लाचार था। सो ऐसी कठिन स्थिति होती है लोभ दशामें। धर्मार्थ धन खर्च करनेके परिणाम कदाचित् हो भी जायें तो भी नहीं लगा पाता। ये सब बातें लोभवश होती हैं ऐसा विवेकी जन समझते हैं, इसलिए वे लोभकषायका परिहार करते हैं। जितने भी पाप होते हैं उन सबका जनक है लोभकषाय। आज छोटेसे लेकर बड़े-बड़े राज्याधिकारियों तक जितने लोग दुःखी नजर आ रहे उन सबका कारण है लोभ कषाय। इस लोभकषायसे निवृत्त होनेमें ही अपनी भलाई है। इस ३४३ घनराजू प्रमाण लोकके न कुछ बराबर जरासे हिस्सेमें कुछ लोगोंके बीच अपनी इज्जतकी चाह करके क्यों व्यर्थमें फिजूलकी बातोंमें लोभ किया जा रहा है और अपने आपको इस संसारमें जन्म मरण करते रहनेका पात्र बनाया जा रहा है। इन बाहरी व्यर्थकी बातोंसे अपने चित्तको हटावें, एक अपनेको अपनेमें देखें और एक इस ही की धुन बन जाय कि मुझे तो अपने आपको विशुद्ध करना है, संसारको क्या निरखना? ऐसा महान् कार्य कर जाने वाला पुरुष धन्य है।

लोभं विधाय विधिना बहुधापि पुंसः संचिन्वतः क्षयमनित्यतया प्रयाति।
द्रव्याण्यवश्यमिति चेतसि संनिरूप्य लोभं त्यजंति सुधियो धुतमोहनीयाः ॥८१॥

लोभवश संचित किये हुए द्रव्यका भी अनित्यपना होनेसे अवश्यंभावी नाश—यह मनुष्य लोभके वश होकर नाना उपायोंसे धनका उपार्जन करता है, फिर भी द्रव्य तो अनित्य है ही, इस कारण अवश्य ही एक न एक दिन नष्ट हो जाता है। इस कारण मोहके फंदेसे बचनेकी इच्छा रखने वाले लोग सदा लोभसे दूर ही रहनेका प्रयत्न करते हैं। अपने जीवनमें देखो क्या-क्या बातें गुजरीं, कैसी-कैसी स्थितियोंके प्रति लोभ किया? बच्चे थे तो इन बच्चों को ही देख लो किस-किस जगहमें किस-किस बातमें लोभ बना रहता है। यही बात हम आप सबकी थी। बड़े हुए, जवान हुए तो लोभकी, तृष्णाकी, मोहकी पद्धति दूसरी बन गई। बड़े हुए, धन कमाया, पद्धतियां बदल गईं। लोभके विषय बदलते जाते हैं, बूढ़े हो जाते तब और कुछ दिखने लगता। तो सारा जीवन विकारके आश्रयमें हो गया, स्वभावका आश्रय इस जीवने कब किया, कितना किया, यह परीक्षा करनी चाहिये। यह सारा जगत् मायास्वरूप है। इस मायामय जगत्को ग्रहण करनेका, पकड़नेका कोई भला फल नहीं प्राप्त होता, उल्टा पाप बंध है। संसारमें भ्रमण है, अपने आपके स्वरूपको देखिये तो केवल एक चैतन्यमात्र अमूर्त सबसे निराला, इसका क्या मतलब है अन्य पदार्थोंसे? वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि किसीको किसीसे कुछ मिलता नहीं है, सब अपने स्वरूपमें परिणमते हैं, तो एकका दूसरा कुछ लगा क्या? अपने आपके बारेमें विचारें, जिस भवमें उस भवके पड़ौसी, कुटुम्बी जन,

भिन्न जन उनमें प्रीति की, पर आज उससे कुछ फायदा मालूम पड़ रहा है क्या ? तो इस भवमें भी कुछ वर्षोंकी बात है, अनुराग चल रहा है, मगर मरण करनेपर इसकी भी कोई प्रीति अगले भवमें पहुंचेगी क्या ? कुछ नहीं।

अति निकट देहका भी विनाश देखकर सर्व नश्वर भिन्न पदार्थोंसे ममता हटाकर सहज पवित्र ध्रुव चैतन्य महाप्रभुका शरण लेनेका अनुरोध—देह भी इसका कुछ नहीं है, देह जड़ पौद्गलिक और कहाँ अमूर्त आत्मतत्त्व। इसका कुछ भी बाहर नहीं, लेकिन अज्ञान ऐसा छाया है कि इन मायामय मनुष्योंको निरखकर ऐसी बात बन गई कि इसको उस माया की प्रीति नहीं छूटती। भीतर प्रकाश तो हो सही कि मैं सबसे निराला अत्यन्त भिन्न सत् हूँ। इस दृष्टिका अभ्यास हो तो यह फर्क सामने आयगा कि कोई कुछ कहे, उसका अपनेपर बुरा प्रभाव न होगा। इस मायामय बढ़े हुए भौतिक जनोंको, प्रतिष्ठित जनोंको देखकर धन की या प्रतिष्ठाकी इनकी आकांक्षा न बनेगी। केवल एक ही धुन रहेगी कि मैं अपने स्वरूप को जानूं और स्वरूपमें मग्न रहकर अपने क्षण सफल करूँ। जिसको लोभरहित चैतन्यमात्र आत्मस्वरूपका परिचय नहीं है वह अपनी ओरसे अंधा रहता है और बाहर ही बाहर उसका सब कुछ निर्णय बना रहता है इससे मेरा महत्त्व है, इससे मेरी प्रतिष्ठा है। तो लोभवश यह जीव भव-भवमें दुःख प्राप्त करता है। समस्त दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये सहज पवित्र ध्रुव चैतन्यमहाप्रभुकी उपासना रूप शरण ग्रहण करें।

पिबंतु बाह्यधनधान्यपुरः सरार्थाः संवर्धिताः प्रचुरलोभवशेन पुंसा।
कायोऽपि नश्यति निजोयमिति प्रचिंत्य लोभारिमुग्रमुपहंति विरुद्धतत्त्वं ॥८२॥

कायकी नश्वरता भिन्नता जानकर धन धान्यादि बाह्य पदार्थोंकी विनश्वरताका स्पष्ट निश्चय कर लोभपरिहार करनेका कर्तव्य—बाह्य धन-धान्यादिक जितने पदार्थ हैं ये कितना ही लोभसे बढ़ाये गए हों, लेकिन हैं तो पृथक् ही और नष्ट हो जाने वाले। इनके नष्ट हो जानेका आश्चर्य क्या ? जब एकमेकसा लगने वाला यह शरीर भी नष्ट हो जाता है तब अन्य बातोंके नष्ट होनेमें क्या आश्चर्य करना ? देह क्या है ? आहारवर्गणा जातिके पुद्गल पिण्डोंका समूह है, पर यह समूह इस तरह नहीं बन गया। जीवका सम्पर्क है, उस निमित्त योगमें इस प्रकार शरीरकी रचना हुई। कभी यह काय था, कभी देह बना, अब यह शरीर कहलाता। वृद्ध लोगोंके देहका नाम है शरीर, जवान लोगोंके देहका नाम है देह और बच्चों के देहका नाम है काय। यद्यपि ये सभी शरीरके नाम हैं, लेकिन काय उसे कहते हैं जहाँ परमाणुवोंका संचय हो, देह उसे कहते जहाँ संचित परमाणु बहुलतया एकत्रित ठहरे रहें और शरीर उसे कहते हैं जो जीर्ण-शीर्ण हो जाय। तो शरीर क्या है ? परमाणुओंका आना

और जाना। यह जहाँ हो रहा है वही तो यह शरीर है, और स्पष्ट विचार कर लें। जैसे दूसरा जीव जब शरीर छोड़कर चला गया तो उस शरीरसे ममतारहित होकर उसे मरघटमें ले जाकर जला देते हैं। तो शरीर और चेतन जब भिन्न हैं तब ही तो यह बात बनी। जिस शरीरसे प्रीति कर रहे उस शरीरका कुछ नक्शा आगे तो खींच लें कि यह शरीर ऐसा पड़ा रहेगा। सभी लोग अपने-अपने शरीरका नक्शा खींच लीजिए। जब मैं इस शरीरसे विदा होऊँगा तो पड़ोसके लोग मिल-जुलकर इस शरीरको उठाकर मरघटमें ले जाकर आग लगाकर भस्म कर देंगे। तो इस भस्म किए जाने वाले शरीरसे ममता क्या करना? हाँ गुजारा कर रहे हैं जीवनका, पर यह शरीर अपना तो नहीं है। तो जहाँ शरीर भी अपना नहीं यह भी स्थिर नहीं रहता। तो बाहरी धन धान्यादिक पदार्थोंकी तो बात ही क्या कहना? नष्ट होते हैं, भिन्न हैं, कभी स्थिर रह नहीं सकते। तो इन समागमोंको विनश्वरता जानकर भीतर में लोभका परित्याग करना चाहिए।

अविनश्वर अभिन्न अन्तस्तत्त्वसे विनश्वर भिन्न पदार्थोंके सही निर्णयमें ही लाभ—लोभीको लोग कब समझ पाते कि इसके पास भी धन है। जब कि उसका धन लुट जाय या फिर उसके मरनेके बाद लोग समझ पाते कि देखो इसके पास इतना धन था, पर यह उसका कुछ सदुपयोग न कर सका। न खुदके काम वह धन आया न दूसरोंके उपकारमें लग सका। लोभी पुरुषके बारेमें एक कविने अलंकार रूपमें कहा है कि 'कृपणेन समो दाता न भूतो न भविष्यति' कंजूसके बराबर न कोई दानी हुआ, न है और न होगा। कैसे? सो सुनो—न तो वह उस धनका कुछ भी हिस्सा अपने लिए खर्च करता, बड़ी कंजूसी करके खूब धन जोड़ता रहता, उसमें से कुछ भी हिस्सा दूसरोंके लिए भी नहीं खर्च करता, अन्तमें सब कुछ इकट्ठा दूसरोंके लिए छोड़कर मरण करके चला जाता। (देखिये इसमें कृपण व्यक्तिका उपहास है न कि प्रशंसा) तो अपने बारेमें यह विचारें कि चित्तमें यह बात आयी अथवा नहीं कि ये सब पदार्थ मेरे स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न हैं। अगर यह बात चित्तमें नहीं आयी तब तो व्यामोह कहलाया। उसे तो कोई मार्ग नहीं मिल सकता। वह तो जीवनभर दुःखी रहता और मरणके समय दुःखी रहता। तो द्रव्य, गुण, पर्यायके यथार्थ स्वरूपको समझ करके यह निर्णय तो करना ही चाहिए कि मैं अमूर्त आत्मा हूं। मेरी शक्तियां सब अमूर्त हैं, उसकी जो परिणतियां हैं वे ज्ञान दर्शन आदिक रूप हैं। इनसे बाहर मेरा कुछ नहीं है। वास्तविक स्वरूप मेरा यह है। भले ही कर्मविपाकवश कल्पनायें जग रही हैं और कुछ परिस्थिति खराब चल रही है, फिर भी मेरा वास्तविक स्वरूप तो यह है। मैं अपने वास्तविक स्वरूपको देखूं, बाहरमें जिसका जो होता हो सो हो, ऐसा भीतरमें प्रकाश आये बिना जिंदगी निकल जायगी,

वृद्धावस्था आ जायगी, मरण काल आ जायगा, अगर वह कभी शान्ति और संतोषका अनुभव नहीं कर सकता। तो लोभ कषायका त्याग करके संतोष धारण करना यह मनुष्यका कर्तव्य है। अब इन्द्रिय वशीकरण नामका अधिकार कहते हैं।

स्वेच्छाविहारसुखतो निवसन्नगानां भक्षद्वने किशलयानि मनोहराणि।
आरोहणाकुंशविनोदनबंधनादि दंतीत्वगिंद्रियवशः समुपैति दुःखं ॥८३॥

अज्ञानमें जीवोंका इन्द्रियसुखोंकी ओर आकर्षण—इस संसारी जीवको इस शरीर रूपी हालमें प्रकट ५ खिड़कियाँ मिल गई, जिनके द्वारसे यह कुछ जान पाता है। जैसे कोई होल हो, उसके बीच पुरुष हो और उसमें ५ खिड़कियाँ हैं तो उन खिड़कियोंसे ही बाहरकी बात वह जान पायगा कि क्या है तो ऐसे ही इस देह गृहमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये ५ खिड़कियाँ मिली हैं। इनके द्वारा यह जीव कुछ जान पाता है सो यह कलंक है, यदि यह घर मिट जाये, ये खिड़कियाँ नष्ट हो जायें, केवल आत्माराम रहे तो यह तो सर्व प्रदेशोंसे इस समस्त लोकालोककी तीनों कालकी बातोंको जानेगा। सो लोग इस कलंकपर ही गर्व करते हैं। मेरा शरीर बढ़िया है, मेरी इन्द्रियाँ ठीक हैं, मैं इतना जानता हूं। यों अपनी चतुराई पर गर्व करते हैं। और है यह सब कलंक। आत्मा तो सिद्ध भगवानके समान अमूर्त चैतन्यस्वरूप है। और स्वभाव देखिये—स्वभावमें ही समानता है सिद्धकी। पर्यायमें समानता नहीं है सिद्धकी। स्वभाव जैसा सिद्धप्रभुका है वैसा ही मेरा है। कोई अन्तर नहीं। जिस उपायसे प्रभुने आत्मदृष्टि करके कर्मबंधनोंसे अतीत दशा पायी है उसी उपायसे हम आप भी कर्मबंधनसे छुटकारा पाकर परमात्म अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। इस जगत्का कोई अणु भी रमणीक नहीं है कि जिसमें मन बहलाया जाय, जिसमें रमण किया जाय ऐसा जगतमें कुछ भी नहीं है। लोग कर्मबन्धनबद्ध हैं। आत्मस्वरूपका बोध है नहीं तो ये स्पर्शन आदिक इन्द्रियोंका सुख चाहते हैं। कैसी प्रकृति है कि ये इन्द्रिय सुखोंसे विराम नहीं लेना चाहते।

स्पर्शन इन्द्रियके विषयके मोहमें स्वतंत्र विहारी मौजी वनहस्तीकी विडम्बना—इन इन्द्रियोंमें सबसे अधिक कठिन प्रबल स्पर्शन इन्द्रिय है। जो इस जिह्वाकी बड़ी शिकायत चलती कि यह जिह्वा इस जीवको बहुत परेशान करती है, इसको भिन्न-भिन्न प्रकारके व्यञ्जन खिलाये जायें, फिर भी कभी तृप्त नहीं होती, और बहुतसा समय खराब हो जाता उन विभिन्न प्रकारके व्यञ्जनोंके बनानेमें····पर उससे भी अधिक समय बरबाद होता स्पर्शनइन्द्रियसे सम्बंधित गपोड़ोंमें। और यह स्पर्शनइन्द्रिय संसारके सभी प्राणियोंमें पायी जाती है, बाकी अन्य इन्द्रियाँ सभी जीवोंके नहीं पायी जाती। तो स्पर्शन इन्द्रियके विषय हैं—बाहरमें तो है ठंड गर्मी आदिकका सुहाना, पर आन्तरिक विषय है विषयप्रसंग, काम सेवन, मैथुन, इनके

वश होकर एक हाथीका दृष्टान्त है कि वह हाथी जो जंगलमें मनमाना मन बहलाता हुआ घूमता है और कमलके कोमल पत्तोंको तोड़-तोड़कर खाता है, बड़ी मौजसे रहता है, अब उसको पकड़ने वाले शिकारी लोग क्या करते हैं कि कोई १५-२० फिटका लम्बा चौड़ा व ८-१० फुटका गहरा गड्ढा खोदते हैं, उसपर बांसकी पतली पंचें बिछाकर पृथ्वी जैसे रंग वाले कागज उसपर डालकर पाट देते हैं। और उस बांसकी पंचोंकी झूठी हथिनी बनाते हैं। उस हथिनीसे करीब ५० हाथ दूरीपर उस हथिनीकी ओर दौड़कर आता हुआ दूसरा हाथी बनाते हैं, बस इतना भर काम शिकारी लोग करते हैं। अब उस जंगलका हाथी उस हथिनी को देखकर उसके प्रति राग करता है, स्पर्शन इन्द्रियके लोभमें आकर उसके प्रति आकर्षित होता है, साथ ही उस दूसरे हाथीको देखकर उसके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न हो जाता है, सो मैं पहले उस हथिनीके पास पहुंचूं इस भावनासे वह बड़ी तेजीसे उस हथिनीके पास पहुंचता है, परिणाम क्या होता है कि इस हथिनीके पास पहुंचते ही उस गड्ढेमें गिर जाता है। बादमें कई दिन उसे भूखा-प्यासा रखकर जब कि वह एकदम शिथिल हो जाता है तब एक मार्ग बनाकर, अंकुश लेकर उस हाथीको वे शिकारी लोग अपने वशमें कर लेते हैं। फिर उस हाथीपर सवारी करते हैं, बोझा ढोते हैं, उसपर अंकुशके कितने ही प्रहार करते रहते हैं। तो देखिये वनमें स्वतंत्र विहार करने वाला वह हाथी एक स्पर्शनइन्द्रियके वशीभूत होकर कितने ही दुःख पाता है। ऐसा ही दुःख अन्य पशु पक्षी मनुष्य आदिक सभी पाते हैं। तो अब इस स्पर्शनइन्द्रियजन्य सुखसे विराम लेना चाहिए। इन इन्द्रिय सुखोंकी असारता अपनी दृष्टिमें रखें और वास्तविक बात समझें ताकि उन इन्द्रियसुखोंमें आसक्त न हो और अपने सहज आत्मस्वरूप उस सहज ज्ञानानन्दमय अंतस्तत्त्वका अनुभव बनाये जिसमें अलौकिक आनन्द प्रकट होता है।

तिष्ठञ्जलेऽतिविमले विपुलं यथेच्छं सौख्येन भीतिरहितो रममाणचित्तः।
गृद्धो रसेषु रसनेन्द्रियतोऽतिकष्टं निष्कारणं मरणमेति षडीक्षणोऽत्र ॥८४॥

रसनेन्द्रियविषयके व्यामोहमें मछलीका प्राणघात—रसनाइन्द्रियके वश होकर मछली ढीमरके द्वारा जलमें डाली हुई उस बंशीमें कंठ फंसाकर अपने प्राण गंवा देती है। मछली तालाबके साफ स्वच्छ जलमें मनमाने किलोल किया करती थी, जैसा चाहे उलटती-पलटती थी, खूब आनन्दसे जलमें रहती थी, उसे कोई भय ही नहीं। उसका चित्त उस जल में खूब रम रहा था, ऐसी वह मछली जब रसनाइन्द्रियके वशमें हुई और मांसपिण्डके लोभसे लोहेके फंदेमें अपना कंठ फंसा लेती है तो बस वह तड़प-तड़पकर मरणको प्राप्त हो जाती है और मांसलोलुपी लोगोंके भोजनकी सामग्री बन जाती है। वैसे मछलीको लोगोंने सगुन माना

है। कहीं-कहीं तो अक्षय तृतीयाके दिन ढीमर लोग कुछ जलमें मछली रखकर घर घर दिखाने जाते और लोग उन्हें कुछ उस दिखानेके एवजमें द्रव्य देते। और आपके सोलह स्वप्नों में भी मछली दिखनेकी बात आयी है। मछली एक दयापात्र प्राणी है वह किसीका कुछ बिगाड़ नहीं करती। मगर शिकारी लोग थोड़ेसे मांस पिण्डका लोभ दिखाकर बड़ी निर्दयता से उस मछलीके प्राण हर लेते हैं।

रसनेन्द्रियविषयव्यामोहमें आबाल वृद्ध सबकी विडम्बना—भैया! यह तो मछली की बात है। सभी प्राणियोंमें यही बात देख लो। आप सब भी अब तो बड़े हो गए, पर जब बच्चे थे तो क्या करते थे? अगर आपके हाथसे मौन लो कोई जलेबी छुड़ा लेता था तो आप जमीनमें लोट लोटकर खूब रो रोकर घर भर देते थे। तो छोटे छोटे बच्चोंको भी यह रसनाइन्द्रिय सताती है। फिर बड़े बूढ़े लोगोंका तो कहना ही क्या? एक इस रसनाइन्द्रिय के लोभके कारण नाना प्रकारके व्यञ्जन बनाये जाते हैं। हमें तो ऐसा लगता कि अन्य देशों से भी अधिक व्यञ्जन सामग्रियां आपके इस भारत देशमें बनती हैं। एक एक चीजकी सैंकड़ों किस्मकी चीज ले लो, ऐसे ही सभी चीजोंकी सैंकड़ों तरहकी चीजें इस भारत देशमें बनती हैं। तो ये सब एक इस रसनाइन्द्रियके वशीभूत होनेके कारण ही तो बनती हैं। इन मनुष्यों का कितना ही समय व्यर्थ जाता है एक इस रसनाइन्द्रिय सम्बंधी व्यर्थकी बातोंमें। इसके अतिरिक्त अन्य बातोंसे भी व्यर्थ समय जाता। अगर इन मनुष्योंको अन्य कोई बड़ा काम न करनेको पड़ा हो दूकान धंधा आदिकका तो यों ही बैठे बैठे उनका चित्त कितने ही तरहके भोजन बनाने खानेमें लगा रहेगा।

रसनेन्द्रियविषयव्यामोहमूलक हठकी विडम्बनाका एक दृष्टान्त—कोई एक मास्टर मास्टरनी थे। एक दिन इतवार पड़ गया, छुट्टीका दिन था ही सो दोनोंमें सलाह हुई कि आज तो कोई नई चीज बनाकर खानी चाहिये, क्योंकि रोज रोज वही वही खाना कम अच्छा लगता। अन्य दिनोंमें कोई नई चीज बनानेका मौका भी नहीं मिलता। आखिर कौनसी नई चीज बनाई जाय, सो सलाह हुई कि आज तो मंगौड़ी बननी चाहिए। ठीक है अब मास्टर ने मंगौड़ीसे सम्बंधित सारी सामग्री बाजारसे खरीदकर घर पहुंचा दिया और मास्टरनीने बड़ी विधिसे मंगौड़ी बनायी। वे कुल मंगौड़ी बनी गिनतीमें २१ (इक्कीस)। दोनों जब खाने बैठे तो मास्टरको १० मंगौड़ी परोस दिया और अपने लिए ११ रख ली। तो मास्टर बोले—११ तो हम खायेंगे, क्योंकि हमारा परिश्रम अधिक रहा, मास्टरनीने कहा—नहीं नहीं, परिश्रम हमारा अधिक रहा, हम ११ खायेंगी। तो दोनोंमें यह तय हुआ कि अच्छा दोनों ही मौन लेकर बैठ जायें, जो पहले बोल देगा उसे १० ही खानी पड़ेंगी।....ठीक है। अब वे

दोनों घरमें अन्दरकी सांकल लगाकर मौन बैठ गए। दोनों ही इस हठमें थे कि ११ तो हम खायेंगे। इस हठमें दिन-रात दोनों ही व्यतीत हो गए। आखिर दोनों भूखे तो थे ही, पर हठ दोनोंकी तेज थी। जब तेज भूख बढ़ी तो दोनों ही लेट गए। यहाँ तक कि दो तीन दिन व्यतीत हो गए, पर दोनोंने अपनी हठ न छोड़ी। उधर जब विद्यार्थियोंने देखा कि मास्टर मास्टरनी दोनों ही दो-तीन दिनसे स्कूल नहीं आ रहे तो उसकी चर्चा फैली। लोग उनके द्वार पर गए, किवाड़ फाड़कर घरके अन्दर घुसे तो क्या देखा कि दोनों मरे जैसे पड़े थे। लोगोंने यही समझा कि ये दोनों मर गए, अब इन्हें श्मशान पहुंचायें। पर दो अर्थी बनानेकी क्या जरूरत ? एक ही अर्थीमें दोनोंको रखकर पहुंचा दिया जाय। आखिर दोनोंको ही अर्थी में रखकर बांधकर श्मशानमें पहुंचा दिया। वहाँ उनको जलानेके लिए चिता बनी, उस अर्थी को खोलकर दोनोंको एक ही चितामें एक साथ लिटा दिया और चितामें आग लगाने ही वाले थे कि इतनेमें उस मास्टरनीको दया आयी कि देखो व्यर्थ ही एक इस हठके कारण हम दोनों के प्राण जा रहे, स्त्रियोंका हृदय तो कोमल होता ही है सो वह अपनी हठ छोड़कर बोल उठी—अच्छा तुम ११ खा लेना, हम १० ही खा लेंगी। अब उस दिन जलाने वाले लोग भी कुल २१ (इक्कीस) ही गए थे, सो उस मास्टरनीकी आवाज सुनकर सभी गिनने लगे कि अपन सब कितने हैं ? तो देखा कि २१ हैं। सो यह समझे कि यह चुड़ैल (भूतनी) तो हम लोगोंमें से १० को खानेको बोल रही और इस भूतको ११ खानेको कह रही, सो वे सभी के सभी डरकर वहाँसे भग गए। बादमें वे मास्टर मास्टरनी भी घर गए। तो बात यहाँ यह समझना कि एक इस रसनाइन्द्रियके लोभमें आकर ये प्राणी न जाने कितने-कितने कष्ट सह लेते हैं। यदि इन कष्टोंसे बचना है तो इन विषयोंसे प्रीति न करें और अपने वास्तविक स्वरूपको निरखकर अलौकिक आनन्द प्राप्त करें।

नानातरुप्रसवसौरभवासितांगो घ्राणेंद्रियेण मधुपो यमराजधिष्ण्यं।
गच्छत्यशुद्धमतिरत्र गतो विशक्ति गंधेषु पद्मसदनं समवाप्य दीनः ॥८५॥

घ्राणेन्द्रियविषयवशीभूत भ्रमरका प्राणघात—संसारके प्राणी इन्द्रियके विषयोंके वश होकर अपना प्राणघात तक कर डालते हैं, यह बात इस प्रकरणमें कही जा रही है। जीवका स्वरूप तो केवल जाताद्दष्टा रहनेका है। केवल जाने, देखे। आत्मस्वभावसे केवल प्रतिभासमात्र है। यह मैं अकेला स्वयं आनन्दस्वरूप हूं। इसमें न विषयकी वेदना है, न सांसारिक कोई कष्ट है। इसका स्वरूप कष्टरहित है, किन्तु जिसको अपने स्वरूपकी सुध नहीं, किसी कारण अपना अलौकिक आनन्द पा सकता नहीं तो वह विषयसुखोंकी ओर ही आकर्षित होगा। घ्राणेन्द्रियके वश होकर बहुत प्रसिद्ध बात है कि भ्रमर कमलके पत्तोंके भीतर

दबा दबा अपने प्राण खो देता है। भ्रमर अनेक पुष्पोंके पराग लेकर जीता है। जिसके सारे अंग सुगंधित रहते हैं वह भ्रमर शामके समय किसी फूले हुए कमलके जीव बैठ जाता है और कमलकी सुगंधमें मस्त हो जाता है। कमलका ऐसा ही स्वरूप है कि रात्रिमें कमल बंद हो जाता है, कमल बंद हो गया भंवरा उसीमें ही बंद पड़ा है उस भंवरेमें इतनी शक्ति है कि किसी काठमें लग जाय, तो उसे भी छेदकर निकल जाता है, मगर विषयोंके लोभमें वह कमलके पत्तोंको नहीं छेद रहा और उसी कमलमें उसकी घुटन हो जाती है। श्वांस खत्म हो जाती और मरा हुआ पाया जाता अथवा कोई रात्रिको हाथी आये और यों ही फूलके साथ उसे चबा जाये। तो देखिये घ्राणेन्द्रियके वश होकर ये भ्रमर अपने प्राण खो देते हैं। यहाँ मनुष्योंमें भी देखिये—घ्राणेन्द्रियके लिए इत्र लेना, फूल लेना, ये कोई खास जरूरी है क्या ? स्वच्छ पवन है, उससे ही जीवन चलता है, मगर विषयोंका लोभ ऐसा लगा है कि कोटपर इत्र लगायेंगे, कानमें इत्र खोसेंगे, नाकमें लगायेंगे, फूलोंके सुगंधित गजरा माला पहनेंगे, क्योंकि फालतूके विषयोंका व्यामोह होता है। फल यह होता है कि उसकी बाह्यमें ही दृष्टि रहती है। आत्माका जो सहज स्वरूप है केवल चैतन्यमात्र उस रूप अपनेको बना सके यह उसके बुद्धि नहीं बनती। यह बहुत बड़ी विपत्ति है जो मैं अपने आपके स्वरूपको न जान पाऊँ और बाहरी-बाहरी पदार्थोंमें ही रमण करूँ।

सज्जातिपुष्पकलिकेयगितीव मत्वा दीपार्चिषं हतमतिः शलभः पतित्वा।
रूपावलोकनमना रमणीयरूपे मुग्धोऽवलोकनवशेन यमास्यमेति ॥८६॥

चक्षुरिन्द्रियविषयवशीभूत पतंगेका प्राणघात—चक्षुइन्द्रियके वशमें होकर यह प्राणी न जाने कितनी ही विडंबनायें पाता है। मनुष्योंमें ही देख लो, ऐसे-ऐसे गरीब लोग जो रिक्शा चलाकर उदरपूर्ति करते हैं उनको भी सिनेमा देखे बिना चैन नहीं पड़ती। घरमें चाहे कैसा ही गुजारा करना पड़े, मगर चक्षुइन्द्रियके विषयोंके तीव्र लोभी हैं। जो स्त्री पुरुष परस्परमें एक दूसरेके रूपको निरखनेमें व्याकुल रहते हैं उनका वह फोकटका काम है। उससे उन्हें लाभ कुछ नहीं मिलता, केवल समय ही बरबाद होता है। चक्षुइन्द्रियके वश होकर पतिंगे दीपकके लौ पर गिर जाते है और अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं। बताओ विषय व्यामोहका इससे बड़ा क्या उदाहरण होगा ? पतिंगा दीपकमें पड़ेगा तो मरेगा, मगर दीपकके प्रकाशका रूप उसे इतना सुहाता है कि वह दीपकपर गिर जाता है। जो अपने प्राणोंके विनाशका कारण है उसके तो निकट ही न जाना चाहिए और प्रायः करके सभी कीड़े और वे ही पतिंगे अन्य कोई कारण ऐसा आये कि जिसमें प्राणघातकी सम्भावना है, तो वहाँ कभी न जायेंगे, मगर दीपकका राग ऐसा लगा है कि जहाँ जलता दीपक दिखा वहाँ अपना सर्वस्व

समर्पित कर देते हैं। उनके अज्ञान है, वे दीपककी शिखाको मानो बड़ी ऊँची जातिके पुष्प की कली समझते हैं। भ्रम भी है उनके, क्योंकि पतिंगे पुष्पोंपर मंडराया करते हैं। दीपककी लौ को भी कोई पुष्पकली समझ रखा, उसको रमणीक रूप समझ रखा तो मानो उसको देखनेकी इच्छासे वे उसमें बैठते हैं और बैठते ही भस्म हो जाते हैं, अपने प्राण खो देते हैं। इतिहासमें मनुष्योंको भी बहुतसी विडम्बनायें पढ़नेको मिलती हैं पुराणोंमें। कोई राजपुत्र किसी कन्यापर या किसी सेठवधूके रूपपर मोहित हो गया, भोजनपान छोड़ दिया, लोग मनाने लगे, न जाने क्या-क्या विडम्बनायें हुईं···, तो चक्षुइन्द्रियका विषय जिनके लगा है और आत्माके स्वरूपको सुध नहीं है उन जीवोंको बहुत बड़ी विपत्ति है वे अपने उपयोगको सर्वत्र लगाकर निरन्तर दुःखी रहा करते हैं।

दूर्वांकुराशनसमृद्धवपुः कुरंगः क्रीडन् ये वनेषु हरिणीभिरसौ विलासैः।
अत्यंतगेयरवदत्तमनाः वराकः श्रोत्रेंद्रियेण समवर्तिमुखं प्रयाति ॥८७॥

कर्णेन्द्रियविषयवशीभूत मृग एवं सर्पोंका वशीकरण—कर्णेन्द्रियके विषयोंके लोभमें हिरण, हिरणी, सर्प आदिक शिकारियोंके चंगुलमें फंस जाते हैं। शिकारी लोग क्या करते हैं कि कोई बीन आदिक बाजोंका मधुर संगीत बजाते हैं और उस संगीतको सुननेके लिए हिरण हिरणी, सर्प आदिक पास आ जाते हैं, विषयोंका आकर्षण ऐसा है कि वे अगल-बगलका भय कुछ नहीं देखते और उस विषयपर ही अपने आपको सौंप देते हैं। तो अच्छे संगीतको ध्वनि सुनकर हिरण, हिरणी, सर्प आदिक पास आये तो वे इतना मस्त हो जाते कि सब कुछ भूल जाते और शिकारियोंके द्वारा पकड़ लिए जाते हैं, शिकारियोंके वशमें हो जाते हैं। मनुष्यों को भी देख लो, जिनको राग रागनीका शौक लगा है वे अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ खोकर, समय भी खोकर उन्हीं विषयोंमें लग जाते हैं। फल क्या मिलता ? समय व्यर्थ गया, उपयोग खराब हुआ और आत्माकी सुधसे दूर हो गए। तो कर्णेन्द्रियके विषयोंके वश होकर ये संसारी प्राणी अपने प्राण तक गंवा देते हैं और अपने जीवनको बरबाद कर देते हैं।

एकैकमक्षविषयं भजतामभीषां संपद्यते यदि कृतांतगृहातिथित्वं।
पंचाक्षगोचररतस्य किमस्ति वाच्यमक्षार्थमित्यमलधीरवियस्त्यजंति ॥८८॥

पंचेन्द्रियविषयवशीभूत मनुष्योंकी दुर्दशा—अभी उक्त छंदोंमें एक-एक इन्द्रियोंके वश हुए संसारी प्राणियोंकी दुर्दशा बतायी है, वे अपने प्राण तक खो बैठे। अब जो पंचेन्द्रियके विषयोंमें लीन हैं ऐसे मनुष्योंकी स्थिति देखिये—ये किस विषयसे विरक्त हैं, स्पर्शनइन्द्रियके विषयोंमें अत्यन्त व्यामुग्ध हैं, रसका भी लोभ है। फाल्तू होनेपर यह घ्राणेन्द्रियके विषयोंमें भी लगता, चक्षुइन्द्रियका भी लोभ, कर्णेन्द्रियमें भी व्यामुग्ध और मनके विषयका तो अतीव

व्यामुग्ध है । जो सम्पर्क मिला है इनके बीच हमारी बड़ाई होनी चाहिए, इनमें हमारा नाम प्रधान रहना चाहिये या मेरा सम्मान रहे, अन्य लोग मेरे विनयमें रहें, यों न जाने किस-किस प्रकारकी मनकी विडम्बनायें चलती हैं जो कि एक मूढ़ता भरी हैं । यह मनका विषय है । तो यह मनुष्य पञ्चेन्द्रियके विषयोंका लोभी और मनके विषयोंका लोभी है, तो ये अवश्य ही नष्ट भ्रष्ट हो रहे हैं, सारा जीवन किरकिरा हो रहा है । बड़ों-बड़ोंपर दृष्टि डाल लो जो ऊँचे कहलाते । धनमें कहो, इज्जतमें कहो, राज्याधिकारमें कहो, वे अब भी निरन्तर अशान्त और कदाचित् उनका पतन हो जाय, पद छूट जाय तो वहाँ और भी अशान्ति । सर्वत्र अशान्त हो रहे ये मनुष्य, उसका कारण यह है कि अपना असली सहज एकत्व विभक्त जो चैतन्य प्रतिभास मात्र स्वरूप है उसमें अनुभव नहीं बनाया कि मैं यह हूं । यह जगत माया है, ऐसा उनके निर्णय नहीं हो पाया, इस कारण दुःखी होते हैं । यदि इस दृश्यमान सर्व जगतको, अपने शरीरको, अपने वर्तमान परिणामोंको, इन सभीको मायारूप जानने लगें और यह जानें कि इस मायाका स्रोत तो एक अद्वैत ब्रह्मस्वरूप सहज परमात्मतत्त्व है, वहींसे तो यह सब प्रकट होता है । इसी बातको दृष्टिमें रखकर तो सृष्टिकर्ताकी बुद्धि हो गई, अपनी सारी सृष्टियों का स्रोत तो यह चैतन्यस्वरूप है । उस स्रोतकी सुध नहीं है और मायामें लग रहे हैं तो उनको सर्वत्र अशान्ति रहती है, जिसे जीवनमें शान्ति चाहिए उसे विषयोंसे विरक्त रहना कर्तव्य है ।

दंतींद्रदंतदलनैकविधौ समर्थाः संत्यत्र रौद्रमृगराजवधे प्रवीणाः ।
आशीविषौरगवशीकरणेपि दक्षाः पंचाक्षनिर्जयपरास्तु न संति मर्त्याः ॥८९॥

हस्तिराज एवं सिंहोंके वधमें शूर बीर पुरुषोंकी भी विषयविजयमें असमर्थता— ऐसे मनुष्य बहुत मिलेंगे वीर जो बड़े-बड़े हस्तियोंके दंतको तोड़ देनेमें समर्थ हैं, मगर वे मनुष्य पंचेन्द्रियके विषयोंपर विजय प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हैं । इतना बल पाया कि हस्तियों की अक्लको ठिकाने लगा दें, पर अपने आपके अक्लको ठिकाने नहीं लगा सकते । ये इन्द्रिय-विषय, इनकी धुन, इनका राग जिन पुरुषोंके लगा है वे कायर हैं और कभी भी वे शान्तिका अनुभव नहीं कर सकते । ऐसे-ऐसे भी वीर पुरुष मिलेंगे जो क्रूर सिंहके वध करनेमें भी प्रवीण हैं, सिंहसे कुश्ती भी लड़ेंगे, उसका मुख चीर दें, उसकी भुजाओंको चीर दें, इतनी भी शक्ति रखने वाले वीर पुरुष हैं, मगर वे पञ्चेन्द्रियके विषयोंपर विजय प्राप्त कर लें यह उनसे नहीं बन पाता । अब इससे जानें कि इन्द्रियके विषयोंका जीत लेना कितनी बड़ी वीरताका कार्य है । हम आप सबको मोक्षमार्गमें प्रगतिके लिए बहुतसी अभी अधूरी बातें हैं जिनको पार करना है । उन सबके पूर्ण होनेका उपाय तो एक ही है—निर्विषय, निर्विकार, निज सहज

चैतन्यस्वभावमें मैं यह हूँ ऐसा अनुभव रखना यह एक ऐसी औषधि है कि इसके बलपर यह सर्व संकटोंसे दूर हो सकता है। तो अपने लिए कितना कार्य पड़ा है धर्मपालनके लिए अभी हम कितनी दूर हैं यहां भी जानें, उस दूरीको हटायें और अपने आपके भगवानके निकट आवें। जिन्होंने पञ्चेन्द्रियके विषयोंपर विजय किया उनसे स्वानुभूतिका आनन्द मिल जाता है।

विषैले सर्पराजोंको बन्धनमें करने वाले पुरुषोंके भी विषयविजयकी अक्षमता—ऐसे बड़े-बड़े वीर पुरुष हो गए जो बड़े कठिन विषैले सर्पोंको भी वशमें करनेमें दक्ष हैं। जो सर्प एक बार भी डस ले तो मृत्यु हो जाय, ऐसे भयंकर हैं, उन सर्पोंको वश करनेकी सामर्थ्य है मनुष्योंमें और करते हैं, किन्तु पंचेन्द्रियके विषयोंपर विजय पानेमें समर्थ नहीं हो रहे। देखिये धर्मपालनके लिए मूल प्रेरणा अपने आपके अन्दरसे होनी चाहिये। बैठे हैं, पड़े हैं, रोगमें भी हैं, पर ऐसा अपने आपके स्वरूपका विचार करना चाहें तो किया जा सकता है। मैं क्या हूं? यह बाह्य जगत् सब माया है। इस मायासे मुझे कुछ लाभ न मिलेगा। इसमें जितना ही उपयोगको फंसाया जायगा उतनी ही अड़चनें बढ़ती जायेंगी। प्रायः सभीने अनुभव किया। कोई २० साल पहले सोचता होगा कि इतना कार्य हो जाय, फिर मेरेको कोई उलझन न रहेगी और धर्मदृष्टिमें ही फिर सारा समय लगाऊँगा, पर होता क्या कि जब उतना कार्य पूर्ण हो जाता तो उलझन और भी बढ़ जाती है, छुटकारा नहीं मिल पाता। तो यह माया ऐसी चीज है कि जिसमें फंसनेपर विवेक सब दूर हो जाता है, तिसपर भी उपाय तो एक ही है। जैसे कोई चींटी भींतपर चढ़ती है तो वह कुछ दूर चढ़ने पर गिर जाती है, फिर चढ़ती है, फिर गिर जाती है, यों कितने ही बार चढ़ती और गिरती है, फिर भी चढ़ना नहीं छोड़ती। आखिर एक समय वह आता है कि वह चींटी ऊपर चढ़ ही जाती है, ऐसे ही हम आप बार-बार चिगते हैं इन विषयसाधनोंमें उपयोग देकर तिसपर भी कर्तव्य क्या है? क्या यह जानकर कि जब चिग जाते हैं तो अब प्रभुका क्या सहारा करें? ऐसा हो ही जाता है, ऐसा कोई विचार करे तो वह तो गया अपने कामसे।

सर्व धार्मिक कर्तव्योंका प्रयोजन स्वभावदृष्टि—कितनी भी स्थितियां बुरी आयें, पर कर्तव्य एक ही है कि अपने अधिकार चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि करना कि मैं तो यह हूं वास्तवमें, और हूं वास्तवमें निमित्तनैमित्तिकके परिचयकी बड़ी कृपा है, जिसके बलसे स्पष्ट जंचता है कि मैं तो इस स्वभाव वाला हूं, विकारको वे निमित्तके खातेमें बोल देते हैं। ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, ये निमित्त पाकर हुए हैं। तो ऐसा योग है, हो जाता है, मगर मेरे स्वरूपकी चीज तो नहीं। मैं स्वरूपसे अविकार हूं, ऐसा दृढ़ निर्णीत हो जाता है। तो कर्तव्य यह है कि

स्वाध्यायसे, सत्संगसे, तत्त्वचर्चासे, ध्यानसे, एकान्तसे, मननसे अपने आपको अपने स्वरूपमें निहारनेका अभ्यास बढ़ाना चाहिये। यह ही अन्तः प्रकाश हमको मददगार बनेगा कि इन विषयोंके त्यागसे सुगमता होगी और आसानीसे त्याग सकेंगे। तो इस दुर्लभ मानवजीवनको पाकर विलक्षण काम करनेकी ठानिये। जो कार्य पशु-पक्षी भी करते हैं उन कामोंको दोहराने की उमंग न रखें। बाल-बच्चोंसे मोह तो ये पशु-पक्षी भी करते हैं। कोई उनका बच्चा गुजर जाय तो वे भी रोते हैं; कई-कई दिनको खाना-पीना भी छोड़ देते हैं। यहाँ अगर मनुष्य होकर वही काम किया तो उनमें और मनुष्योंमें फिर फर्क क्या रहा? पेट पशु-पक्षी भी भरते और रात-दिन उसीकी धुन रखते। अगर वैसा ही काम मनुष्योंने किया तो फिर पशु पक्षियों में और मनुष्योंमें अन्तर क्या रहा? तो पशु पक्षियोंकी भाँति निरन्तर खाने-पीनेका ही प्रोग्राम रखनेकी धुन न होनी चाहिए: सभी विषयोंमें यह ही बात है। इन विषयोंसे विरक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूपकी ओर दृष्टि रखनी चाहिए कि मैं तो यह हूं, मेरा बाहरमें कुछ भी नहीं है। न कोई चेतन पदार्थ मेरा है न अचेतन, देह भी मेरा नहीं। तो ऐसे अन्तरंग निर्णयके साथ इन विषयोंका परिहार करना योग्य है।

संसारसागरनिरूपणदत्तचित्ताः संतो वदंति मधुरां विषयोपसेवां।
आदौ विपाकसमये कटुकां तितांतं किंपाकपाकफलभुक्तिमिवांगिनां ॥९०॥

विषयोपभोगका परिणाम अति कटु—जो पुरुष संसारकी वास्तविक अवस्थाका निरूपण करने वाले हैं वे खूब बतलाते हैं कि ये विषयभोग इन्द्रायन फलके समान देखनेमें बड़े सुन्दर और खानेमें बड़े मीठे (मधुर) विदित होते हैं, परन्तु अन्तमें महान् कटुक फल देने वाले हैं। जिस पुरुषको जितना समागम मिला, जितनी सुविधा मिली उसके अनुसार वे भोग भोगनेको बड़ा सस्ता समझते हैं। कुछ भी दुर्विचार बनाना उनके लिए बहुत सस्ता लगता है, मगर ये भोग जो सुविधा पानेपर सड़े सस्ते लग रहे इनमें उलझनेका परिणाम बड़ा कटुक फल देगा। संसारमें जो जीव दिख रहे हैं यह किस बातका फल है? बस विषयोंमें आसक्त होनेका फल है। विषयोंमें वे आसक्त क्यों रहे कि उनको अपने आत्माकी सुध न थी। कुछ न कुछ जानना और सुख मानना यह जीवकी प्रकृतिमें पड़ा हुआ है। अब सही ज्ञान नहीं जगता तो विपरीत ज्ञानमें ही लग रहे हैं और उनको आत्मीय आनन्द नहीं मिलता है तो वे विषयोंके आनन्दमें रहते हैं, किन्तु सुख और ज्ञान यह जीवकी प्रकृति है। तो जब खुदके स्वरूपका परिचय नहीं, जो आनन्दका अनुभव नहीं कर पाता वह बाह्यमें लगेगा ही। तो ये विषयसुख बड़े अनर्थकारी हैं। जिस कालमें ये विषयसुख भोगे जाते हैं उस कालमें आत्माकी कोई सुध रहती है क्या? एक खानेपर ही चटा लो। बड़ी धर्मकी बातें करें, बड़ी चर्चामें

रहें, और जब खानेका समय होता है और खाते हैं तो कुछ भी खावें, मगर खाते समय किसीको आत्माकी सुध भी रहती है क्या ? आत्माका नाम भी वह चित्तमें ले पाता है क्या ? तो खाना तो एक जरूरी काम है । उसमें जब यह विडम्बना है तो जो जरूरी विषय नहीं है उन विषयोंके भोगकी प्रीतिमें तो बड़ी विडम्बनायें भरी हैं । सो वास्तविकता यही है कि ये भोग भले ही देखनेमें, सुननेमें, भोगनेमें प्रिय लगें, लेकिन इनमें चूंकि उपयोग फँसा तो उसका फल अन्तमें बहुत कटुक मिलता है । सारा जीवन विषयोंमें गया और सहज परमात्म तत्त्वकी दृष्टिका अभ्यास न बन सके तो उसका फल क्या होगा ? अगला भव भी ऐसा ही मिलेगा जहाँ शान्तिका प्रसंग नहीं है । दो बातें सामने हैं—एक विषयसुखोंके भोगनेका झूठा मौज और एक आत्माको निरन्तर ज्ञानमात्र चिन्तन करनेपर यही उपयोग जब लगा रहता है उस समय आया हुआ अलौकिक आनन्द । इन दो में श्रेष्ठ आत्मीय आनन्द है । इसे पानेके लिए विषय सुखके साधनोंका परिहार करें और स्वाध्याय आदिक द्वारा अपने आपके स्वरूपमें अपने को निरखनेका अभ्यास बनायें ।

तावन्नरो भवति तत्त्वविदस्तदोषो मानी मनोरमगुणो मननीयवाक्यः ।
शूरः समस्तजनतायहितः कुलीनो यावद्धर्षीक विषयेषु न सक्तिमेति ॥९१॥

विषयोंमें आसक्ति न होने तक ही तत्त्वज्ञता—उपदेशमें जो कुछ सुनना चाहिए वह इस विधिसे सुनना चाहिये कि यह बात मेरी है, मेरे लिए कही जा रही है और मुझपर ये सब बातें बीतती हैं, ऐसी बात ध्यानमें रखकर सुनना चाहिये । देखिये—हम आप सब जीव हैं, जिसका स्वरूप है ज्ञान और आनन्द, यह स्वभाव है । जैसे दिखने वाले ये पुद्गल पदार्थ हैं तो उनका रूप, रस आदिक स्वभाव है, ऐसे ही आत्माका क्या स्वभाव है ? ज्ञान और आनन्दस्वभावसे यह अलौकिक अद्भुत परम आनन्दका अनुभव करता है, ऐसा हमारा आपका स्वभाव है, पर आज क्या हालत हो रही है ? जिस ज्ञानकी चर्चा कर रहे हैं कि इसका स्वभाव है तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको जानना, मगर जान कितना रहा है ? आनंद स्वभाव ऐसा है कि जिसमें रंच भी आकुलता न आये, क्षोभ न हो, लहर न हो और एकदम एक रससे लगातार कोई ढंगका अलौकिक आह्लाद बने, पर यह बात कहाँ मिल रही है ? तो वह ज्ञान अलौकिक निधि जो नहीं मिल रही है इसका कारण है मोह । मोह होनेसे अज्ञान बसा है । अपने आत्माके स्वरूपकी सुध नहीं रहती है, और चूंकि जानना और आनंद अनुभव करना यह है इसकी प्रकृतिमें बात, सो इस समय हम इन इन्द्रियोंके द्वारा ही तो जानते हैं और इन्द्रियोंके द्वारा ही सुख भोगते हैं । बस इतनासा प्रलोभन कर्मोंने दे रखा है । अब जो इस प्रलोभनमें आते हैं उनपर कर्म हावी रहते हैं, और जो इस प्रलोभनमें नहीं आते

वे कर्मोंका क्षय करके परमात्मपद प्राप्त करते हैं।

व्यक्त एकत्वविभक्त होनेके लक्ष्यकी प्रथमावश्यकता—भैया! भले प्रकार विचारें कि आपको आगे किस तरह रहना है और आपको क्या होना है? ऐसी अपने बारेमें कुछ बात तो सोचिये। क्या पशु-पक्षी, लट, केंचुवा, कीड़ा-मकोड़ा आदि बनकर रहना है? इसके लिए तो आप झट मना कर देंगे कि ऐसा नहीं रहना है तो क्या बनकर रहना है? क्या कहींका राजा या कोई ऊँचा पदाधिकारी बनकर रहना है? उसमें भी कहाँ आनन्द बसा है? राजावोंको तो प्रजाके साधारण लोगोंसे भी अधिक क्लेश है। लोगोंको दिखता है ऐसा कि ये बड़े मौजमें होंगे, किन्तु उनको तो बड़ी आकुलता है, और आजके राज्याधिकारियोंको ही देख लो, जब अधिकार है तब आकुलता है जब चुनावमें हार गए तब आकुलता। तो दो दिनकी चाँदनी फेर अंधेरी रात, यह दशा है जीवोंकी। अब एक निर्णय करके तो बताओ कि भविष्यमें क्या बनना चाहते हो। देव बनना चाहते क्या? अरे उन ठलुवा देवोंको बड़ा कष्ट है, मनुष्योंसे अधिक कष्ट है, क्योंकि उन्हें न कमानेकी फिक्र, न भूख प्यास मिटानेकी फिक्र, कभी हजारों वर्षोंमें कुछ भूख लगी तो उनके ही कंठसे अमृत झड़ जाता है जैसे कि हम आपका थूक झड़ जाता, बस तृप्त हो जाते। तो उन देवोंको सागरों पर्यन्त ठलुवा रहना पड़ता है। अब जो ठलुवा रहे, कुछ काम-धंधा न रहे उसको कितने ही विकल्प उठते हैं सो तो आप सब लोग जानते ही हो। सो वे ठलुवा रहनेके कारण एक दूसरेके वैभवको व प्रतिष्ठा को अपनेसे अधिक देखकर मन ही मन कुढ़ते रहते हैं। तो देवगतिमें भी बड़े दुःख हैं। सभी गतियोंमें ही कष्ट ही कष्ट हैं। अब अपने आपके बारेमें सोचिये कि हमें क्या बनना है जिससे कि ये कष्ट दूर हों? हाँ तो उत्तर आयगा कि हमको सिद्ध भगवान बनना है, जिसके बाद न जन्म लेना पड़े, न जीवनके कष्ट भोगने पड़ें।

व्यक्त एकत्वविभक्त होनेके लिये एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्वकी भावना व तदनुरूप आचरणके पौरुषका आवश्यक कर्तव्य—भैया, यह तो सोचिये सिद्ध बनने लायक आज कुछ करामात कर रहे क्या, यह भी तो ध्यानमें लाइये। क्या यों सोचनेसे मिल जायगी सिद्ध अवस्था? सिद्धके मायने क्या हैं? जहाँ शरीर नहीं, कर्म नहीं, विकार नहीं, केवल आत्मा ही आत्मा रह गया उसे कहते हैं सिद्ध। तो केवल आत्मा ही अत्मा रह जाय, यह तो चाहते हैं, मगर करामात मोहकी बना रखी कि यह भी मेरा वह भी मेरा। ये बच्चे मेरे, यह धन वैभव मेरा, यह मकान मेरा, यह प्रतिष्ठा मेरी। तो इन मायामय चीजोंको इसने मान लिया कि ये मेरी हैं। क्या इस करामातसे सिद्ध भगवान बननेकी बात बन सकती है? जब तक सत्य ज्ञान न जगे चित्तमें तब तक कल्याणका उपाय बन नहीं सकता। मैं आत्मा हूँ, अपने

स्वरूपसे हूँ, ज्ञानानन्दमय हूं, निरन्तर परिणमता रहता हूँ। मेरा सब कुछ मुझमें है, मेरा बाहर कहीं कुछ नहीं है, बाहरका कुछ भी मेरा नहीं है। यह बात जिसे बिल्कुल साफ विदित हो तो वह पुरुष इस व्यामोहको छोड़ सकेगा। इस जीवको मोह करना बड़ा सस्ता लग रहा। झट दृष्टि दी कि मोह करने लगा। आँखसे देखा तो हृदय मौजसे भर गया। यह जिन्दगी जो बितायी जा रही है सो मालूम है कि एक क्षणके मोहमें ७० कोड़ाकोड़ी सागर तकके मोहनीयकर्म बँध जाते हैं। जरासी देरको कल्पित मौज माना और अनगिनते वर्षों तकके लिए इस संसारके बंधनमें बंध गए। तो कुछ अपने आपपर करुणा करके अपने हितके लिए थोड़ा सोचिये—जैसी करतूत कर रहे हैं भीतरकी, बाहरकी बात नहीं कह रहे, जब तक घरमें रहते हैं तब तक अच्छा बोलना पड़ेगा, प्रेमसे रहना पड़ेगा, नहीं तो न घरमें ठीक ठीक रह पायेंगे, न गुजारा चलेगा, पर वास्तविक बात सोचें, वह तो आपके हाथकी बात है। उसे तो कोई छीनता नहीं। आपका आत्मा है। आप अपने मनके राजा है। आप अपने में सब कुछ सोच सकते, उसमें कोई बाधा डालने वाला नहीं है। तो इस बातको सोचिये और भीतरके सारे व्यामोहको छोड़ दीजिये, और नहीं छोड़ते तो छूट तो जायगा। सब कोई यह बात जान रहे। तो ऐसा छूटनेसे क्या लाभ मिलेगा? संक्लेश होगा, भविष्यमें दुर्गति होगी। तो तत्त्वज्ञान करके इस रही सही जिन्दगीमें व्यामोह न बढ़ायें और अपनी इन्द्रियका भी व्यामोह न हो।

इन्द्रियज ज्ञान और सुखमें आसक्त होने वालोंकी दुर्दशा—इन इन्द्रियों द्वारा जो जाना जाता है इस मन द्वारा उसपर चतुराईका घमंड न करें। मैं ऐसा जानता हूं, मैं ऐसा फंसाता हूं लोगोंको, मैं सब तरहकी बात समझता हूँ, इस प्रकारसे अपनी चतुराईपर गर्व न करें। वह तो विडम्बना है। कहाँ तो आत्माका अनन्त ज्ञानस्वभाव और कहाँ इन्द्रिय द्वारा थोड़ा जो ज्ञान हो रहा, पराधीन ज्ञान हो रहा, परोक्ष ज्ञान हो रहा, साधारण ज्ञान है और वह भी पूरा स्पष्ट नहीं, उस ज्ञानपर गर्व किया जा रहा है। उस चतुराईपर गर्व करनेका फल भयंकर है। उसे दोष मानें और इन्द्रिय और मनसे परे जो ज्ञान है अपने आप उस अपने आत्मस्वरूपको देखे, बस उस ही में तृप्त रहे, अन्य कुछ मुझे न चाहिए। ऐसे ही इन्द्रिय द्वारा जो सुख प्राप्त होता है वह कल्पित है, दुःखसे भरा है। उसका फल भी कष्ट है। अतः इन्द्रिय विषयोंके सुखमें मुग्ध न हों, यह लालसा न रखें कि मुझे ऐसा ही विषय चाहिए, ऐसा ही खाना चाहिए, मुझे ऐसे ही मौजके साधन चाहिएँ। तो यह मनुष्य तब तक तत्त्वज्ञानी रहता है जब तक इन्द्रियके विषयोंमें आसक्त नहीं होता, और जब तक यह निरपेक्ष रहता है तब तक ही संतुष्ट रहता है। जब तक इन्द्रिय और मनके विषयोंमें यह आसक्त नहीं

होता। जो मनुष्य इन्द्रिय विषयोंमें आसक्त हैं वे निष्पाप हो नहीं सकते, विवेकी भी नहीं रह सकते। यह घमंड तब तक ही बगरा सकता जब तक इन्द्रियविषयोंमें आसक्त न हो। यद्यपि घमंड बुरी चीज है, मगर घमंड जैसा गौरव भी तब ही कर सकता है जब विषयोंमें आसक्त न हो। यह मनुष्य इतना विचारशील तब तक ही रह सकता है जब तक कि इन्द्रिय विषयोंमें आसक्त नहीं है। इन्द्रियके विषय ५ हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। स्पर्श, स्वाद, गंध लेना, रूप देखना, शब्द सुनना और नाम चाहना, ये सारे विषय हैं। ये विषय जिसको न रुचें वही पुरुष वास्तविक गुणी रह सकता है, नहीं तो कायर हो जाय। तो हम आपको विवेकसहित इतना तो करना ही चाहिये कि इन्द्रियविषयोंमें आसक्ति न रखें। हो रहा है, ज्ञाता दृष्टा रहें, यह बात भी तब बन पायगी जब आपके चित्तमें यह बात बस जाय कि संसारकी कोईसी भी दशा भली नहीं है। यह पुरुष सम्मानके योग्य और बड़े कुलके व्यापक बर्ताव रखने वाला, न्यायपर अडिग तब तक ही रहता है जब तक कि विषयों का लोभ नहीं होता।

मर्त्यं हृषीकविषया यदमी त्यजंति नाश्चर्यमेतदिह किंचिदनित्यतातः।
एतत्तु चित्रमनिशं यदमीषु मूढो मुक्तोपि मुंचति मतिं न विवेकशून्यः ॥९२॥

खुद ही पुरुषको छोड़ जाने वाले विषयोंको न छोड़नेके आग्रहकी मूर्खता—ये इंद्रिय के विषय, ये बाहरी सभी पदार्थ इस मनुष्यको छोड़कर चले जायेंगे, छोड़ देंगे, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। पदार्थका स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ विनाशीक है अर्थात् किसी एक ही पर्यायमें कोई पदार्थ हमेशा नहीं रह पाता। स्थितियाँ बदलती रहती है। तो ये सभी पदार्थ इस मनुष्यको छोड़ देंगे। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं, कोई नई बात नहीं, हाँ आश्चर्यकी बात यह है कि यह मनुष्य जीते जी इन्हें छोड़ना नहीं चाहता। बल्कि विषयोंके द्वारा छोड़ा गया यह मनुष्य तिरस्कृत होकर, विवेकरहित होकर बार-बार उनका ही सेवन करता है और यह इस नियमको भूल जाता है। ये विषयभूत पदार्थ अनित्य हैं। ये मेरेको हितकारी नहीं हैं। अपने भीतर रहने वाला परमात्मस्वरूप इसकी नजरमें रहे तो समझो कि इसने इस दुर्लभ मनुष्यभवको पाकर कोई ऊँचा काम किया और यदि एक यह काम न कर सके तो फिर आप कुछ भी कर जायें, उसका कोई महत्त्व नहीं। यदि तत्त्वज्ञान न बने, ज्ञानसंस्कार न मिले तो कुछ भी चीज आगे साथ जाने वाली नहीं है। इस कारण तत्त्वज्ञानके प्रति रुचि रखनी चाहिए। जिन लोगोंको ज्ञान नहीं जग पा रहा, जिसे कहते हैं कि निपट मूर्खता छायी है, जिनको कुछ समझ नहीं बन पा रही है उन्होंने क्या किया था पूर्व भवोंमें? उन्होंने अपने ज्ञानके साधनोंको बिगाड़ा था, उसका फल है कि अगले भवमें

अज्ञानी बनना पड़ा। ज्ञानके साधनोंमें उमंग रखिये तत्त्वज्ञानके प्रसारकी रुचि रखिये, धर्मके लिए जितना जो कुछ किया जा रहा है यदि उसके फलमें तत्त्वज्ञानकी बात नहीं सकते तो इसे यों समझिये—जैसे कोई बनियेका लड़का यों ही बैठा हुआ बाटोंको तराजूमें धर-धरकर उन्हें ही आपसमें तौलता, पर फायदा उससे कुछ नहीं, व्यर्थ श्रम किया और सारा समय व्यर्थ खोया। तो ऐसे ही समझो कि जिसे अपने आत्मासे सहज स्वरूपका बोध नहीं हुआ और वह कर रहा है अनेक धार्मिक क्रियाकाण्ड, फिर भी उसके लिए वे क्रियाकाण्ड कार्यकारी नहीं हैं। बल्कि उनमें पड़कर अपना समय व श्रम खोता है। अपनी रुचि होनी चाहिए तत्त्वज्ञान करनेके लिए। इसके लिए सत्संग और स्वाध्याय इन दो बातोंका मुख्य ध्यान रखें।

इन्द्रियविषयोंके परिहारकी वृत्तिके परीक्षणका कर्तव्य—अब आप लोग ही बताओ आपका रात-दिनके २४ घंटेमें कितना समय जाता है तत्त्वज्ञानके काममें और कितना समय जाता है व्यर्थके कामोंमें ? इसका निर्णय तो आप स्वयं दे सकते। अरे रात-दिनके २४ घंटे में अधिक नहीं तो कमसे कम १ घंटेका समय तो तत्त्वज्ञानके लिए देना ही चाहिए। २४ घंटेमें एक बार या दो बार अधिकसे अधिक जितना समय लगा सकें उतना तत्त्वज्ञानके काम में लगायें, तत्त्वज्ञानवर्द्धक शास्त्रोंका अध्ययन करें। उससे एक तो तत्काल ही शांति मिलेगी, चित्तमें व्यग्रता न रहेगी। आजकल प्रायः करके घरमें, समाजके देशमें जो परस्परमें विवाद होता है उसका मूल कारण है अयोग्य वचनव्यवहार (मिथ्यावाणी) तो तत्त्वज्ञान पर हम आपकी दृष्टि रहे जिससे सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव करते रहें, ऐसी धुन यदि बन सकती तो वहाँ अपना वचनव्यवहार भी बड़ा उत्तम बनेगा। उससे खुदका भी भला है और दूसरोंका भी। एक यह ही बात अपने चित्तमें रहे कि मुझे तो अपने आत्माके सही स्वरूपको निरखना है। मान लो कोई दुनिया भरके सब काम करता फिरे और एक खुदके स्वरूपका परिचय भर न पाया तो समझो कि उसके वे सब बाहरी काम व्यर्थ गए। देखिये—अपने आत्माका ज्ञान पानेमें कुछ कष्ट नहीं है, क्योंकि ज्ञानस्वरूप तो यह आत्मा है ही। जैसे आकाश है ना, एक प्रदेशी है ना, ठीक इसी प्रकार आकाशकी तरह यह आत्मा भी है। पर आकाश एक है और विस्तृत है। यहाँ आत्मा अनेक है और एक-एक आत्माका अपने आपमें अनुभव चलता है। जिन संयोगोंमें हम आप रह रहे हैं बताओ ये पूर्वभवमें कोई साथ देंगे क्या ? अरे ये कोई साथ न देंगे, फिर इनमें मोह किस बातका ? नहीं रहते साथ, पर हाँ घरमें रहते हैं सो राग करना आवश्यक हो गया, पर सही ज्ञान रखते हुए यदि घरमें रहे तब तो लाभ है अन्यथा अपनी बरबादी ही है।

इन्द्रियविषयविडम्बनाका मनुष्योंमें आधिक्य—ये इन्द्रियके विषय इस मनुष्यको

छोड़कर नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह तो स्वभाव ही है सब पदार्थों का। हाँ आश्चर्य तो इस बातपर है कि ज्ञानानन्दस्वरूप होकर भी यह जीव इन विषयोंको छोड़नेकी चाह नहीं करता। और कभी कर्मोदयवश आये और जबरदस्ती छूट गए तो फिर उन्हींका उद्यम करते हैं। जो इसका बड़ा तिरस्कार करते, फिर भी विषयोंको छोड़ नहीं पाता यह मोही। यह बात आप सबने खूब सुन ही रखा होगा कि एक-एक इन्द्रियके वश होकर ये प्राणी अपने प्राण गंवा देते हैं। हाथी, मछली, भंवरा, पतिंगे, सर्प, हिरण आदिक के दृष्टान्त बड़े प्रसिद्ध हैं। अब यहाँ मनुष्योंमें देख लो ये कौनसे विषयमें कम रहना चाहते ? सभी विषयोंको ये मनुष्य बड़ी आसक्तिसे, बड़ी कलावोंसे भोगना चाहते हैं। एक खाने पीनेका ही विषय ले लो—न जाने कितने-कितने प्रकारके व्यञ्जन बनाकर कितनी ही कलावोंसे यह मनुष्य खाता है। बड़ी एक शौक शानसे इस रसनाइन्द्रियसे सम्बंधित भोग भोगते हैं। अरे खाना क्या है ? एक जीनेके लिए पेट भरना है ? दो रोटी और दो वस्त्र, इनके सिवाय और कुछ काम आता है क्या आपके ? अर्थात् पेट भर लिया, कपड़े पहिन लिये इसके अतिरिक्त और क्या करता है मनुष्य। व्यर्थ ही इस मायामय संसारमें मायामयी पुरुषोंको अपना मायामयी नाम जतानेका भाव रखकर इतना परेशानीमें पड़ रहा है यह मनुष्य।

—दुर्लभ समागमके सदुपयोगका अनुरोध—जैनशासनके अनुसार बिलकुल सीधी रीति है। यह कर्तव्य है कि प्रतिदिन ५-६ घंटे आजीविकाके कार्योंमें लगायें उतने समयमें कुछ न कुछ तो आय होगी ही। उदयानुसार जो आय हुई उस ही में गुजारा करनेकी कला बन जाय बाकी सारा समय भगवद्भक्तिमें, निज सहज परमात्मतत्त्वकी चर्चामें, उपासनामें, तत्त्व ज्ञानमें लगायें। जैनशासनके अनुसार बताये हुए मार्गपर चलें तो कहीं कोई झंझट नहीं। मगर जो तृष्णा बढ़ा रखी है उससे ये मनुष्य जलते-भुनते रहते हैं और विषयसाधनोंको जोड़ते हैं, अपनी तृष्णायें बढ़ाते रहते हैं, किन्तु जितना जीवन शेष है उतनेमें अब अपना मुख इन व्यर्थकी बातोंसे मोड़ लें। भाग्यके अनुसार जो होता हो सो हो, सबका भाग्य सबके साथ है। किसकी क्या विशेष चिन्ता करना ? किसके लिए सारी जिन्दगीभर अपनेको उलझन में डाला जा रहा है। हां अपने कर्तव्यके अनुसार जो कुछ बन सकता सो करें। सुगमतासे जो बात बन सके उसमें गुजारा करके संतुष्ट रहें। अपना जो खाली समय है उसको व्यर्थ न गंवायें। मंदिरमें आकर बैठना, शास्त्रस्वाध्याय करना, सत्संगमें अधिकाधिक रहना, इन बातों का विशेष ध्यान रखें। यदि अपना खाली समय व्यर्थकी गप्प-सप्पमें बिताया तो उससे लाभ क्या ? वह तो अपने जीवनके अमूल्य क्षण व्यर्थ खोना है। तो अब अपने जीवनका एक नया मोड़ लेना चाहिए। आजीविकासे सम्बंधित ४-६ घंटे जब तक काम करें तब तक तो वह

काम करें बाकी रात-दिनके सारे समयको व्यर्थकी बातोंमें गप्प-सप्पमें पड़कर न खोयें। अपने खाली समयका सदुपयोग करें। खाली समयका सदुपयोग यही है कि स्वाध्याय करें, सत्संग मे बैठें जिससे संसार, शरीर भोगोंसे विरक्त रहनेकी प्रेरणा मिले, और अपने आत्माके ज्ञानानंदस्वरूपके अनुभव करनेका लाभ मिले, यह काम करना इस दुर्लभ मानव-जीवनमें अपना प्रमुख कर्तव्य है।

आदित्यचंद्रहरिशंकरवासवाद्या। शक्ता न जेतुमतिदुःखकराणि यानि।
तानींद्रियाणि बलवंति सुदुर्जयानि ये निर्जयंति भुवने बलिनस्त एव ॥९३॥

चन्द्र सूर्य इन्द्र प्रतीन्द्रसे भी इन्द्रियविषयविजयकी अशक्यता—इस संसारमें बलिष्टसे भी बलिष्ट प्राणी इन दुःखकारी विषयोंको नहीं जीत सकते। जैसे सूर्य तो वास्तवमें क्या है? जो दिखता है गोल गोल यह तो है सूर्यका विमान और इस सूर्य विमानका जो अधिपति है वह है सूर्य नामका देवता। यह गोल गोल दिखने वाला सूर्य देवता नहीं है यह तो पृथ्वी है और प्रकाशमय पृथ्वी है, उस पृथ्वीपर उसकी रचना है, महल हैं, चैत्यालय भी हैं। उसका जो अधिपति है वह कहलाता है सूर्यदेवता। सो सूर्यदेवताने भी इन्द्रियविषयोंको नहीं जीत पाया याने उसके भी देवांगनायें और रानियां होती हैं। ज्योतिषी देव कहलाता है वह, और वह अपनी देवियों और अग्र देवियोंमें आसक्त रहता है। यह तो है एक सैद्धान्तिक बात, मगर लोकरूढ़िमें यह बात प्रसिद्ध कर रखी है कि पांडवोंकी माता कुन्तीके कुमार अवस्थामें सूर्यके संसर्गसे गर्भ रह गया और उससे कर्ण नामका पुत्र हुआ, यह एक लौकिक रूढ़िमें किंवदंती है। ऐसा होता नहीं है, पर जिन्होंने माना है वे इसके जिम्मेदार हैं, वे ही बता सकते कि ऐसा क्यों कहा, पर सूर्य देवता प्रतीन्द्र कहलाता है, वह अपनी अग्र देवियोंमें और अनेक हजारों देवियोंमें वह रमण करता है वह भी इन्द्रियविषयोंको जीतनेमें असमर्थ रहता है। चन्द्रमाकी बात यह है कि जो आकाशमें दिखता है गोल गोल वह चन्द्र देवता नहीं है। वह तो चन्द्रविमान है। पृथ्वीकायिक है, प्रकाशमय है उसका जो अधिपति है वह चंद्र देवता है। वह ज्योतिषियोंका इन्द्र कहलाता है। इसकी भी कितनी ही अग्र देवियां और हजारों देवियां हैं जिनमें यह भी अपने विषयोंमें रमण करता रहा है। अब किम्बदन्तीमें लोग न जाने क्या कहते हैं, पर सैद्धान्तिक बात यह है कि वह चन्द्र इन्द्र भी अपनी देवियोंमें रमण करता है और वह विषयभोगों पर विजय नहीं प्राप्त कर सका।

चन्द्र सूर्य इन्द्र प्रतीन्द्रकी महिमा बढ़नेका कारण—देखो ये सूर्य चन्द्र दोनों कोई भगवान नहीं हैं, ये तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी ये जो तीन भवनत्रिक देव बताये गए हैं उनमें से ज्योतिषी देवोंके इन्द्र हैं, पर इनकी मान्यता जगत्में क्यों बढ़ी, उसका कारण

यह है कि यह जो पृथ्वीकायिक विमान है इसके होनेसे मनुष्योंका, जीवोंका उपकार बहुत हो रहा है। अभी लगातार १०-५ दिन बदरिया छा जाय, और एक दो दिन सूर्य बिल्कुल न दिखाई दे तो फिर देख लो क्या हालत हो जाती है। और लोगोंकी ही क्या, जानवरोंकी, पेड़ोंकी, वनस्पतियोंकी क्या हालत हो जाती है ? तो इससे उपकार बहुत है, खेती भी अच्छी बने, सूर्यकी किरणें न निकलें तो अंकुर नहीं हरियाते। इससे बीज भी अच्छे पुष्ट बनते, लोगोंके शरीर भी स्वस्थ रहते, तो चूंकि इनसे उपकार बहुत है, तो कोई जमाना ऐसा था कि जिससे अपना उपकार मालूम हुआ, उसीको ही लोग भगवान मान लेते थे। और चन्द्र, सूर्य तो ज्योतिषियोंके इन्द्र हैं, उनके ऋद्धियाँ हैं, वैभव हैं, पर आप बतलावो बड़, पीपल आदिके पेड़ोंको भी देवता मान लिया गया सो क्यों ? तो सुनो—बड़का पेड़ तो इतना बड़ा होता है कि कहो बड़ी भारी बारात या छोटी मोटी सेना ठहर जाय, साथ ही उसकी छाया अत्यन्त शीतल होती है, और पीपलके पेड़के पत्तोंका स्पर्श करके बहने वाली हवामें एक ऐसा गुण बताते हैं कि वह निरोगता लाती है, अनेक रोगोंको दूर करती है। तो इस प्रकारके उपकारी होनेके कारण इन बड़, पीपल आदिके पेड़ोंको भी लोगोंने भगवान मान डाला, पर बताओ, ये कोई भगवान हैं क्या ? अरे भगवान तो वह होता जो सर्वज्ञ हो और वीतराग हो, पर उपकारी होनेसे लोगोंने बड़, पीपल आदिके पेड़ोंको भी भगवान मान डाला। अग्नि, जल, वायु आदिक उपकारी चीजोंको भी भगवान माना जाने लगा था किसी समय, पर परोपकारी होने मात्रसे कोई भगवान नहीं बन जाता। एक तो इन पेड़ोंने या अग्नि, वायु आदिकने जान-बूझकर पवित्र आशयसे उपकार किया हो, ऐसी बात नहीं है, पर उसका फायदा उठा लेते हैं लोग।

बड़े बलशाली पुरुषोंसे भी इन्द्रियविषयविजयकी अशक्यता—तो यहाँ प्रसंग यह है कि जो बहुत बड़े-बड़े कहलाते हैं वे भी अतीव दुःखकारी इन इन्द्रियोंको जीतनेमें समर्थ न हो सके। हरि, विष्णु आदि जिनके चरित्रमें यह बात लिखी होती हो कि वह अमुक स्त्रीमें आसक्त रहा, वह उनमें खोलता रहा तो इसके मायने क्या है कि वह इन्द्रियविषयोंको न जीत सका। शंकर, महादेव बहुत बड़े तपस्वी मुनि थे, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि थे, जिनके तपश्चरणके प्रभावसे ११ अंग और ९ पूर्वकी तो पूरी सिद्धि हो गई, इतने बड़े ज्ञाता हो गये जिनको कोई परवाह नहीं, कैलाशपर्वत पर निवास करते थे। भोजन-पानका कुछ विकल्प न करते थे, निरन्तर ध्यानमें लीन रहते थे। जिनके अनेक ऋद्धियाँ भी सिद्ध हुईं और विद्या भी सिद्ध हुई। जब १०वाँ पूर्व उन्हें सिद्ध होने लगा तो सैंकड़ो विद्या देवियाँ हाथ जोड़कर नाचने लगी और बोली कि हे स्वामिन् मुझे आज्ञा दीजिए, जो आप कहेंगे उसे हम कर

डालेंगो । उस समय इस नग्न दिगम्बर मुनिका चित्त कुछ चलित हो गया, बस वहाँसे चलित पनेका चरित्र प्रारम्भ हो गया । तो ये भी इन्द्रियविषयोंको न जीत सके और अन्तमें पर्वत राजाकी पुत्री पार्वतीके साथ उनका पाणिग्रहण हुआ । तो कहनेका तात्पर्य यह है कि बड़े-बड़े तपस्वी प्राणी, ऊँचे लोग इन इन्द्रियविषयोंसे हार जाते हैं । इन्द्र जो अपनी विक्रियासे आश्चर्य भरे काम कर डाले, ऐसे बलिष्टसे बलिष्ट लोग भी इन दुःखकारी इन्द्रियोंको न जीत सके ।

इन्द्रियविजयीकी जिन व जिनेन्द्र संज्ञा—जिनेन्द्रदेवने इस सारे जगतको जीत रखा । एक बार रति और कामदेव ये दोनों जंगलमें घूमने जा रहे थे—रति मायने कामदेव और काम मायने भी कामदेव । एकको पुरुषका रूप दिया और एकको स्त्रीका रूप दिया । और अलंकारमें इन्हें देवता मान लिया । तो रति और कामदेव जंगलमें जा रहे थे तो एक जगह एक योगी आत्मध्यान कर रहा था और आत्मानुभवके आनन्दसे प्राकृतिक मुस्कान भी चल रही थी । उसे निरखकर रति कहती है—कोयं नाथ याने हे नाथ ये कौन बैठे हैं ? तो वहाँ कामदेव कहता है कि जिने याने ये जिनेन्द्रदेव हैं । वे पार्श्वनाथ जिनेन्द्र थे । तो रति कहती है—भवेत्तववशी ? याने क्या ये तेरे वशमें हैं ? तो कामदेव बोला—ऊँ हूं, नहीं ये मेरे वशमें नहीं हैं ।····क्यों वशमें नहीं है ?····प्रिये, ये बड़े प्रतापी पुरुष हैं, ये मेरे वशमें नहीं हैं । तो रति कहती है कि यदि ये तेरे वशमें नहीं हैं तो आजसे तू अपनी शूरताकी डींग मारना छोड़ दे । तू तो कहता था कि मेरे वशमें सारा जगत है, पर यदि ये तेरे वशमें नहीं हैं तो अब तू कायर हो गया । अब मेरे सम्मुख अपनी शूरताकी डींग न मारना । तो कामदेव कहता है—'मोहोऽनेन विनिर्जितः प्रभुरसौ तत्किकराः के वयं' इन्होंने मोहको जीत डाला है, हम तो मोहके दास हैं । जहाँ मोह हो वहाँ ही हमारी खूब बनती है । जहाँ मोह नहीं रहा वहाँ हमारी दाल नहीं गलती । जब इन्होंने मोहको जीत डाला तब फिर हम किंकर इनका क्या कर सकते हैं ? सो कविका यह कथन है कि ऐसी बात जिनके विषयमें रति और कामदेव भी कह उठते हैं वे पार्श्व जिनेन्द्र हम सबकी रक्षा करें । यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—कोऽयं नाथ जिने भवेत्तव वशी, ऊँ हूं प्रतापी प्रिये । ऊँ हूं तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेपक्रियां । मोहोऽनेन विनिर्जितः प्रभुरसौ तत्किकराः के वयम् । इत्येवं रतिकामजल्पविषयः पार्श्वो जिनः पातु वः ॥ तो जिन्होंने इन्द्रियसुखोंको जीता, रागद्वेषादि विकारोंको जीता उन्हीं को कहते हैं जिन अथवा जिनेन्द्र । ऐसे जिन भगवानके द्वारा जो धर्म बताया गया उसे कहते हैं जैनधर्म । यह जैनधर्म कबसे है ? तो उत्तर यह है कि जबसे पदार्थ हैं तबसे जैनधर्म है । अब पदार्थ कबसे हैं ? तो जो जवाब जो दे सो ठीक है । अनादिनिधन है । अनादिकालसे है.

क्योंकि जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। जो सत् नहीं है उसका कभी उत्पाद नहीं होता, यह तो भगवद्गीतामें भी बताया है--"नासतोविद्यतेऽभावःनाऽभावःविद्यतेसते" तो जब यह है तो अनादिसे और जैनधर्म इस पदार्थका स्वरूप बताता है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है जैनधर्म। यह कोई अलगसे बनी हुई चीज नहीं है, किन्तु जो पदार्थ है, उसमें जो बात है वैसी बात कही जाय, उसका नाम है जैनधर्म। तो ऐसे जिनेन्द्रके द्वारा ही ये इन्द्रिय सुख जीते गए। तो वास्तवमें बलशाली पराक्रमी वह ही कहलानेके योग्य है जो इन इन्द्रिय-सुखोंको जीत लेता है, इन्द्रियोंको जीत लेता है।

सौख्यं यदत्र विजितेंद्रियशत्रुदर्पः प्राप्नोति पापरहितं विगतांतरायं।
स्वस्थं तदात्मकमनात्मविया विलभ्यं किं तद् दुरंतविषयानलतप्तचित्तः ॥९४॥

इन्द्रियविजयी आत्मध्यानी पुरुषोंके आनन्दकी विषयव्यामोही द्वारा अलभ्यता—इस संसारमें इन्द्रियके घमंडको भी चूर कर देने वाले पुरुष होते हैं कभी और पापरहित अविनाशी इस आत्मीय आनन्दको भोगते हैं ऐसे भी होते हैं पुरुष। तो जिन्होंने इन्द्रियके व्यापारको चूर कर दिया और आत्मीय आनन्दका अनुभव किया उसमें जो आनन्द मिलता उसे क्या ये रात-दिन विषय अग्निसे संतप्त रहने वाले पुरुष पा सकते हैं? कभी नहीं पा सकते। जैसे अग्निको जब तक बुझा न दिया जाय तब तक अग्निकी गर्मी शान्त नहीं हो सकती ऐसे ही विषयोंकी गर्मी जिस अविवेकीमें आ गई वह पुरुष भी कभी शान्ति नहीं पा सकता। कभी-कभी लोगोंको ऐसा लगता है कि हमारे विषयोंकी अग्नि कम हो गई, जब तक सामने कोई घटना नहीं आती तब तक सभी अपनेको बहुत चतुर, धर्मात्मा सज्जन, ऊँचे मान लेते हैं। जैसे जब तक पर्वत निकट नहीं आता तब तक ऊँटको ऐसा ही लगता कि क्या है, यह पर्वत तो अभी जरासे कदमोंमें ही पार कर लेंगे, पर जब उसके निकट आता है तब उसे पता पड़ता है कि अरे यह तो बड़ा ऊँचा है, इसे आसानीसे कैसे पार किया जा सकता? तो ऐसे ही कभी जीवोंको ऐसा मालूम होता है कि मेरे विषयभाव कम है, पर कम समझना यों भूल है कि जैसे कभी अग्निके कुण्डमें जिसके चारों तरफ बैठकर तापते हैं ना, तो उसमें कभी अग्नि कम हो जाय, बुझनेसी लगे और उसपर अगर घास-फूस, लकडी, कंडा आदिक धर दिए जायें तो उसे अब बुझी हुई न समझिये। अब भी उसमें वह दाहशक्ति है कि ईंधन मिल जाय तो फिरसे बढ़ जाय, ऐसे ही कभी विषयोंके भाव कुछ कमसे हुए हों, विरक्ति सी लग रही हो तो भी उसका कुछ विश्वास नहीं है। घटना घटनेपर वह भाव उमड़ सकता है और फंदेमें भी पड़ सकता है। जिसने मोहको अन्दरसे बिलकुल खतम कर दिया और आत्माका सहज स्वरूप स्पष्ट दृष्टिमें रहता है वह तो है विजीय पुरुष, वह तो इन्द्रिय विषयोंके

चक्करमें न आ पायगा और अगर मंद राग हो जाय तो उस तकका भी विश्वास नहीं। ये विषयसुख जीवको इतना परेशान करने वाले होते हैं।

नानाविधव्यसनधूलिविभूतिवातं, तत्त्वं विविक्तमवगम्य जिनेशिनोक्तं।
यः सेवते विषयसौख्यमसौ विमुच्य, हस्तेऽमृतं पिबति रौद्रविषं निहीनः ॥९५॥

व्यसनत्यागियोंका भी कर्मविपाकवश इन्द्रियज सुखोंमें ललचा जाना—जो लोग व्यसनकी धूलीको पवनके समान उड़ा देते हैं, जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तत्त्वोंका अध्ययन करते हैं वे पुरुष भी इन्द्रियसुखोंमें फंस जाते हैं और वे विषयभोगोंमें ही रहते हैं। उनकी करनी यों समझिये कि वे उस प्रकारके मूर्ख हैं जो हाथमें आये हुए अमृतके प्यालेको छोड़कर प्राण-नाशक विषके भरे प्यालेको पी लेते हैं। पाया था तत्त्वज्ञान, विरक्तिका दशा पायी फिर भी सन्मार्गको छोड़ा और इन्द्रियविषयोंमें रति की तो उनका किया कराया सब खराब हुआ और जैसे अनादिसे मलिन थे उस मार्गपर अब यह आ गया। अब अपनी-अपनी बात देखें। विषय भोगोंमें कौन कितना चित्त रखता है? अगर रखता है तो वह अपनी गल्ती समझे और फिर उन गल्तियोंको दूर करे। रात-दिन खाने-पीनेकी धुनमें कौन रहता है? होते हैं ऐसे मनुष्य कि वे सोते हुएमें नहीं खा पाते और बाकी जब तक जगते रहते तब तक उनके मुखमें कुछ न कुछ चलता रहता है और उनसे कुछ त्याग सम्बंधी बातें कही जायें तो वे डटकर कहते कि हमारा तो सोते समय तकके लिए त्याग है। कितनी चीजें हैं। अब क्या खाया, अब क्या पिया? अब किसी मनसे किस चीजको खा रहे, कभी पान, कभी बीड़ी, कभी चाय, कभी चाट पकौड़ी, कभी कोई मिठाई, कभी कोई फल, यों किसी न किसी चीजके खानेका मन चलता रहता है, ऐसे भी मनुष्य होते हैं, पर ऐसे मनुष्य क्या धर्मके पात्र हैं?

विषयासक्ति छोड़कर धर्माचरणमें आनेका अनुरोध—अपनी-अपनी सोचिये—जब चाहे खा लेना, चलते फिरते खाना, ये तो मूर्खताके चिन्ह हैं। कवि लोग कहते हैं कि जो हँसता हुआ बात करे, खाता-पीता हुआ चले और दो के बीच होने वाली बातको खड़ा होकर सुनने लगे, तो वह तो मूर्खोंकी गिनतीमें कहलाता। तो विषयोंकी धुन रहना, यह इस जीवके लिए बड़ा घातक काम है। अब कोई कहे कि हमको फुरसत ही नहीं मिल पाती कि दो तीन बार या अनेक बार खा पी सकें, इतना हमारे सामने काम रहता है। सुबह चाय नाश्ता लेकर जल्दी ही कामपर निकल गए और करीब ३-४ बजे जब कामसे छूटे तब खाना खाया, हमारा संयम क्या किसी त्यागीसे कम है, ऐसा कोई सोच सकता, पर बताओ उसने संयम धारण कर लिया है क्या? अरे उसके विषयमें अनेक प्रकारके अन्य विषय बढ़ गए। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों कषाय इस जीवको दुःखकारी हैं। अगर किसी समय तृष्णा चित्त

में है तो उस कालमें धर्मकी बात नहीं समा पाती। सो धर्मके कार्य करते हैं अनेक लोग, पर गृहस्थ दशामें बताया है कि हस्तिस्नानकी तरह है। जैसे हाथीने स्नान किया और तालाबसे बाहर जाकर सूँडमें धूल भर-भरकर अपने शरीरको फिर धूलसे खराब कर देता है ऐसे ही यहाँ लोग थोड़ासा धर्मसभामें या मंदिरमें धर्म करनेके बहाने आ-आकर बैठते, इतने समय तो परिणामोंमें बहुत कुछ फर्क हो जाता है, पर ज्यों ही वहाँसे बाहर निकले तो परिणाम फिर ज्योंके त्यों मलिन बन जाते हैं। अरे धर्मस्थान, मंदिर धर्मसभा आदि इन्हें तो धर्म सीखनेकी पाठशाला समझिये, वह तो धर्म सीखनेकी जगह है, प्रयोग करनेकी जगह तो बाकी सब जगह हैं। चाहे दुकानमें बैठे हों, चाहे किसीसे कुछ वार्ता कर रहे हों, चाहे सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक किसी क्षेत्रमें काम कर रहे हों वहाँ उस सीखी हुई धर्मक्रियाका प्रयोग करना है। तो धर्मस्थानमें पहुंचकर जो तत्त्वज्ञान सीखा है वह दृष्टि बनाइये, जिसको सदैव अपने सत्यस्वरूपकी प्रतीति रहती है, मैं तो देहसे भी निराला केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हूं, अन्य कुछ नहीं। इस मेरेका जगतमें परमाणुमात्र भी नहीं, ऐसी प्रतीति रखने वाला पुरुष मौलिक धर्मात्मा कहलाता है।

विषयव्यामोहियोंका दुराग्रह—देखिये—गल्तीकी बात रोज-रोज कही जाती है उपदेशमें, जो भी व्याख्याता आयगा सो यही कहेगा कि मोह छोड़ो, मोह करना बुरा है····यह ही बात कहेगा और कहना भी चाहिए, पर आप सोच सकते कि जो भी यहां आता वह मोह छोड़नेकी ही बात कहता, पर कैसे मोह छोड़ा जा सकता ? ये तो सब कहने भरकी बातें हैं, ठीक है, ये जो कुछ कहते सो सुन लें, बादमें एक कानसे सुना और दूसरे कानसे निकाल दिया, क्या फर्क पड़ता, तो ऐसे भी लोग होते जो धर्मकी बातें सुननेके आदी बन जाते, बीसों वर्ष धर्मकी बातें सुनते, यहाँ तक कि सारी उम्र धर्मकी बातें सुनते, पर अपने चित्तमें धमधारण नहीं कर पाते। इस प्रसंगमें एक दृष्टान्त है कि कहीं कोई धर्मसभा लगी हुई थी, रोजरोज वहांपर एक पंडितजी व्याख्यान दिया करते थे। तो उस धर्मसभामें अनेक लोग पहुंच रहे थे। उधरसे निकला कोई घुड़सवार। उसने लोगोंसे पूछा—आप लोग कहाँ जा रहे ? तो बताया कि धर्मसभामें व्याख्यान सुनने जा रहे। अब घुड़सवारने भी वहीं पासमें घोड़ा बांध दिया और व्याख्यान सुनने चला गया। वहाँ कोई वैराग्योत्पादक प्रकरण उस समय चल रहा था, तो उस प्रवचनको सुनते ही उस घुड़सवारको वैराग्य जगा और सब कुछ छोड़ छाड़कर जंगल चला गया, मुनि हो गया। खैर उसको मुनि हुए धीरे-धीरे कुछ वर्ष बीत गए और उधर वह धर्मसभा ज्योंकी त्यों प्रतिदिन चलती रही। एक बार वह मुनि उसी मार्गसे फिर निकला जहाँ कि वह धर्मसभा होती थी। देखा कि अनेक लोग उस धर्मसभामें पहुंच रहे

हैं, तो उनसे पूछ बैठा वह मुनि कि भाई आप लोग कहाँ जा रहे हो ? तो बताया कि हम लोग धर्मसभामें व्याख्यान सुनने जा रहे। फिर मुनिने पूछा कि तुम लोग कितने दिनोंसे धर्मके व्याख्यान सुनने जा रहे ? तो किसीने बताया १० वर्षसे, किसीने बताया २० वर्षसे, किसीने बताया ४० वर्षसे। तो वह आश्चर्यमें आकर बोला—धन्य है आप लोगोंको। आप लोग बहुत मजबूत हो।····कैसे ?···अरे मैं तो सिर्फ एक ही दिन कुछ देरके लिए इस धर्म-सभामें व्याख्यान सुनने बैठा था तो पंडितजी की चपेटको न सह सका और सब कुछ छोड़ छाड़कर मुनि बन गया था, पर आप लोगोंको धन्य है जो बहुत वर्षोंसे पंडितजी की चपेटें सहते आ रहे, पर ज्योंके त्यों बने हैं। तो धन्य तो आप लोग हैं। देखिये—अब अपनी गल्तियोंका शोधन करें, यह बात दृष्टिमें रहनी चाहिये, चाहे इसमें कुछ समय लगे तो लगे, पर जगत्में मुझे कुछ न चाहिए मैं तो अपने आत्मस्वरूपमें मग्न हो सकूँ, उस ही का निरन्तर अभ्यास बनाना चाहिये।

दासत्वमेति वितनोति विहीनसेवां, धर्मं धुनाति विदधाति विनिंद्यकर्म।
रेफश्चिनोति कुरुतेऽतिविरूपवेषं, किं वा हृषीकवशतस्तनुते न मर्त्यः ॥९६॥

विषयासक्तिवश प्राणियों द्वारा हीनसेवा व धर्मविध्वंस—यह मनुष्य इन्द्रियोंके वश होकर न जाने क्या क्या विरूप कार्य नहीं कर डालता। इन्द्रियवश होकर ही हीन कुल वालों का दासपना स्वीकार करता है और उनकी सेवा करता है। जिसको अपने चिदानन्दघन सहज आत्मस्वरूप की सुध नहीं है, ज्ञान और सुखकी प्रकृतिके कारण कहीं न कहीं तो ज्ञान और सुख ढूंढ़ेगा, क्योंकि यह जीवकी प्रकृति है। न ज्ञान बिना रह सके न सुख बिना रह सके। यह चाहता है सुख तब अपने आपमें विशुद्ध ज्ञानप्रकाश न मिल सकेगा। और अलौकिक आनन्दकी दिशा न मिल सकेगी तब यह बाहरी विषयोंका ज्ञान और विषयोंके सुखोंमें मग्न होने लगता है। जीव पर यह बहुत बड़ी विपदा है। मोही जीव इस विपदाको नहीं देखता। कभी धर्म भी करेगा तो कुल रूढ़िवश कर लेगा। पाठ भी करेगा, धार्मिक समारोह भी करेगा, धर्मके नामपर सब काम कर लेगा, पर यह बात न तकेंगे कि मेरा अन्य पदार्थोंमें मोह कुछ कम हुआ कि नहीं। यथार्थ ज्ञान प्रकाश मेरेको मिला कि नहीं। यह तो न निरीक्षण करेंगे और बाहरी क्रियाकाण्ड ये सब करते रहेंगे। वे भी करें, मगर अपने आपकी निगरानी न हो, अपने आपमें यदि न निरखा जाय कि मेरेमें कितना मोह कम हुआ, कितनी कषायें कम हुईं तो फिर समझिये कि अभी तक हमने कुछ धर्म नहीं किया, किन्तु धर्मके नामपर अन्य अन्य कुछ किया, इतना तो निर्णय बनेगा। दिशा तो सही मिलेगी। सो यह जीवइन्द्रिय विषयोंके वश है, इस कारण वास्तविक जो धर्म है उसको दूर कर देते हैं।

विषयसेवन व धर्मपालनमें परस्पर विरोध—विषयसेवन और धर्मपालन ये दो तो बिल्कुल प्रतिपक्षी काम हैं परस्परमें। जो विषयोंकी सेवामें लगा है उसको धर्मपालन कहाँ है ? धर्मपालन है अपना सहज आत्मस्वरूप अपने ही सत्त्वके कारण अपने ही स्वरूपमें दृष्टि होना। जिसमें धर्मपालन है उसके विषयसेवन नहीं। तो इन्द्रियके विषयोंके वश हुआ यह जीव नाना निंद्य कार्योंको यदि करता है, कोई उपाय बनाना, विषयभोग चाहना, स्वाद चाहना, अच्छे रूपके निरखनेका निरन्तर बर्ताव चाहना, रागरागनी चाहना। दुनियामें नाम बढ़े, ये सब बातें जिसको चाहिये हैं वह इनकी पूर्तिके लिए न जाने क्या-क्या निंद्य कार्य नहीं कर डालता। यह इन्द्रियवशी जीव नाना विरूप भावोंको धारण कर-करके अपना जीवन व्यर्थ खोता रहता है, अपने स्वरूपकी सुध होती तो यह भगवानसे भी वार्ता कर डालता। ज्ञानी पुरुषके जब कभी अपने आपकी वर्तमान स्थितिपर घृणा होती है तो वह प्रभुसे वचनालाप कर बैठता है। प्रभु हमें भी वहीं ले लो। मैं अब इस संसारमें नहीं रहना चाहता। यहाँ कौनसी वस्तु है जिसे ग्रहण किया जाय ? कौनसा क्षेत्र है जहां इसका ठिकाना ठीक हो ? सब मायारूप हैं। भिन्न हैं, पर हैं, ठिकानेका तो कुछ साधन है ही नहीं यहाँ। एकत्वविभक्त अर्थात् ज्ञानमात्र परभावशून्य, ऐसी अपने अंतस्तत्त्वकी दृष्टि बने तो वह तो काम देगा और उसे छोड़कर जितनी भी बातें की जा रही हैं ये सब उल्टे काम करेंगी। कहाँ भूले, कहाँ भटक गए। अपने आपके धर्मकी ओर आना चाहिए। यदि यह बात बन गई तो समझो कि महान् है वह पुरुष, और यदि यह दृष्टि नहीं जगती तो फिर दुनियाका महान् बननेसे क्या लाभ मिलेगा ?

अब्धिर्न तृप्यति यथा सरितां सहस्रैर्नो चेंधनैरिव शिखीबहुधोपनीतैः।
जीवः समस्तविषयैरपि तद्वदेव, संचित्य चारुविषणस्त्वजतीन्द्रियार्थान् ॥९७॥

विषयभोगोंसे तृप्तिकी असंभवता—इन्द्रियके भोग भोगनेसे, विषयसाधनोंके उपभोग से यह जीव कभी तृप्त हुआ क्या ? जब उपयोग परपदार्थोंकी ओर बना हुआ है और उस ही में अपना हित समझ रहे हैं तो वहाँ तृप्ति पानेका अवसर हो कहाँ है ? जैसे कभी समुद्र नदियोंके द्वारा तृप्त नहीं होता, कितनी ही नदियाँ आ-आकर समुद्रमें गिर जायें, फिर भी समुद्र कभी तृप्त नहीं होता। ऐसे ही नाना विषयसाधनोंके जुटानेपर यह जीव कभी तृप्त नहीं होता। एक मोटीसी बात समझ लो—जो समागम आज मिले हैं बताओ ये छूटेंगे कि नहीं ? अरे अवश्य छूटेंगे, और देख लो औरोंके भी छूट रहे हैं या नहीं ? अपने ही देख लो, पूर्वभवमें जो समागम पाये थे वह सब छूट गए कि नहीं। पहले भवका कुछ आज यहाँ थोड़ा बहुत सुख मिल रहा क्या ? कुछ भी नहीं मिल रहा, और उनकी कुछ आज खबर भी नहीं।

अब यह बताओ कि आजके प्राप्त समागममें आगे भी कुछ सुख मिलेगा क्या ? अरे रंच भी सुख इनसे न मिलेगा। तो थोड़ी देरको मिले हुए इन भोग साधनोंसे जो अपनेको जुदा नहीं रख पाते उनको भव-भवमें जन्म मरण करना पड़ता है। सो अपना महत्त्व आंकिये और अपने आपके अन्दर सोचिये कि मुझ आत्माका वास्तविक स्वरूप क्या है, करना क्या है और कर क्या रहा हूं, पर किसीके कुछ थोड़ी समझ भी आये, पर संस्कार ऐसे लगे हैं कि छोड़ ही नहीं पाते। तो यह भी उनपर बड़ी विपत्ति है अथवा आग्रह है, हठ है खोटी बातोंका। अपराधी है यह जीव। एक बार किसानोंकी पंचायतमें कोई सवाल आया, साधारणसी कोई बात थी कि ३० + ३० कितने होते हैं ? तो उन सबका मुखिया बोला कि ३० + ३० = ८० होते हैं। सभीने कहा कि आप गलत हिसाब लगा रहे हैं। ३० और ३० मिलकर तो ६० होते हैं। तो फिर मुखिया बोला—नहीं नहीं, ६० नहीं होते, ८० ही होते हैं, और यदि मेरी बात गलत निकल जाय तो मैं पंचोंको अपनी सातों भैंसें दे दूंगा। अब यह बात सुन ली मुखियाकी स्त्रीने कि मुखिया साहबने इस तरहसे पंचोंके बीच बोल दिया है सो यह सोच-कर बड़ी दुःखी हुई कि अब तो हमारी सातों भैंसें पंचोंको देनी पड़ेंगी। सो जब मुखिया घर पहुंचा और अपनी स्त्रीसे उदासीका कारण पूछा तो स्त्री बोली—आपने पंचोंके बीच बोल दिया है कि ३० और ३० मिलकर ८० होते हैं, ६० नहीं; और यदि ८० न हों तो हम सातों भैंसें पंचोंको दे देंगे, सो अब इस बातका हमें दुःख है कि हमारी सातों भैंसें पंच लोग पा जायेंगे। अब हम लोग न जाने किस तरहसे अपना गुजारा करेंगे। इस बातका दुःख है। तो वह मुखिया बोला—अरी तू तो बड़ी बावली है। यदि मैं अपने मुखसे कह दूं कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं तभी तो पंच लोग भैंसें ले पायेंगे, पर मैं तो यह बात कभी बोल ही नहीं सकता। मैं तो हमेशा यही कहूंगा कि ३० और ३० मिलकर ८० होते हैं। अब देखिये—इस बातको सुनकर मुखियाकी मूर्खता पर आप सब हंस पड़े, पर अपनी मूर्खतापर कुछ ध्यान नहीं दे रहे। आप लोग भी तो बाह्य पदार्थोंके प्रति झूठी हठ बनाये हैं कि ये तो मेरे ही हैं और मैं इनका ही हूं। सम्बंध है रंच भी नहीं, फिर भी हठ यही बनाये हैं कि ये तो मेरे ही हैं। ज्ञानी जन समझायें तो भी नहीं मानते और यही हठ बनाये रहते कि ये तो मेरे ही हैं।

मोहका हटना व कषायोंका मंद होना धर्मधारणकी पहिचान—धर्मके नामपर कितने ही काम करते, पर इस बातपर कभी विचार नहीं करते कि मेरे मोह और विषय कषायोंमें कुछ फर्क पड़ा कि नहीं। मोह तो ज्योंका त्यों बनाये हैं विषय कषायोंके प्रसंग ज्योंके त्यों चल रहे, धर्म भी करते जा रहे, पर यह विचार कभी नहीं करते कि मेरे रागद्वेष मोहादिक

विकारोंमें कुछ कमी आयी कि नहीं। हठ ज्योंकी त्यों बनी है कि ये दिखने वाले प्राप्त समागम ये सब मेरे ही हैं। तो बताओ यह मूर्खता भरी बात है कि नहीं? सम्बंध कुछ नहीं, फिर भी अपना मान रहे। तो इस हठका परिणाम कौन भोगने आयगा सो तो विचारो। यहाँ तो धनके हानि-लाभका लेखा-जोखा रखते कि सालमें इतना नफा हुआ और इतना नुक्सान हुआ, पर अपनी रोज-रोजकी करनीका कुछ लेखा-जोखा नहीं रखते कि मैं कितना तो पुण्य कार्य करता हूं और कितने पापकार्य करता हूं। देखिये—अपनी प्रतिदिनकी करनी का लेखा-जोखा रखना बहुत आवश्यक है। इन विषयभोगके प्रसंगोंमें ये सब संसारी प्राणी रम रहे और अपने जीवनके अमूल्य क्षण व्यर्थ खो रहे, पर एक बात ध्यानमें रहे कि इन विषयभोगके प्रसंगोंमें रहकर कभी तृप्त न हो सकेंगे। सारा जीवन इन विषयभोगके प्रसंगोंमें रह-रहकर बीत जायगा, पर उनसे तृप्त कभी न हो सकंगे। यहाँ तक वृद्धावस्था आनेपर सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी, यह भोग न भोग सकेगा, फिर भी मन ही मन कुढ़ता रहेगा। जैसे कोई रोगी किसी असाध्य रोग हो जानेसे वह कुछ खा पी भी नहीं सकता, डाक्टरोंने खाने पीनेकी मनाही कर दी है और वह देख रहा कि घरके सभी लोग अनेक बार खूब अच्छा अच्छा खाते-पीते हैं तो वह रोगी उन्हें खाता-पीता देख-देखकर मन ही मन कुढ़ता रहता है—हाय मैं क्यों न कुछ खा पी सकता, ठीक ऐसी ही दशा वृद्धावस्थामें होती। इन्द्रियाँ सब शिथिल हो जातीं, भोग भोग नहीं सकते, फिर भी मन ही मन कुढ़ते रहते कि हाय मैं क्यों ये भोग न भोग सका? तो इन इन्द्रिय विषयोंकी लालसा बनाये रहनेसे उनके पीछे निरन्तर हैरान होते रहनेसे तृप्ति कभी न मिलेगी, इसलिए इन इन्द्रिय विषयोंका तो परित्याग कर ही देना चाहिये। विवेकी जन तो इन इन्द्रियविषयोंको इस प्रकारसे असार जानकर त्याग देते हैं जैसे कि यहाँ प्रायः सभी लोग नाक छिड़ककर दूर फेंक देते हैं। नाक छिड़ककर फेंकनेके बाद जैसे उसे कोई दुबारा देखता नहीं, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष इन इन्द्रियविषयोंको त्यागकर फिर उन्हें दुबारा नहीं देखते। तो इन सब बातोंके लिए चाहिए अपने सहज ज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपको निरंतर उपासना करना। बाहरमें कहीं कोई शरण नहीं। शरण है तो अपने आत्मदेवकी आराधना। इसमें विकारका काम नहीं। कष्ट और विकार आते हैं तो यह सब कर्मकी छाया है। जैसे दर्पण स्वच्छ है अपने स्वभावसे, पर उस पर बाह्य पदार्थका निमित्त पाकर छायारूप परिणमन हो जाता है, वह छाया दर्पणकी निजी चीज नहीं है, ऐसे ही ये बिकार मेरे स्वभावकी चीज नहीं, यह सब कर्मकी छाया है, माया है। यदि यह बात ज्ञानमें रहेगी तो फिर इन बाहरी चीजोंके प्रति आसक्ति न रहेगी और यदि परभावोंको निजभाव मान लेंगे तो आसक्ति बनी रहेगी।

आपातमात्ररमणीयमतृप्तिहेतुं, किंपाकपाकफलतुल्यमथो विपाके ।
नो शाश्वतं प्रचुरदोषकरं विदित्वा, पंचेन्द्रियार्थसुखमर्थविदस्त्यजंति ॥९८॥

विषभोगोंकी वर्तमानमात्र रमणीयता एवं भविष्यमें कटुकष्टप्रदता—ये विषय वर्तमानमें बड़े रमणीक लग रहे हैं, पर ये अतृप्तिके कारण हैं और इनका भावी परिणाम बहुत विपत्तियोंसे भरा मिलेगा । जब जीवका स्वभाव ही नहीं है, स्वरूप ही नहीं है परपदार्थोंकी आशा, तृष्णा, आसक्ति आदिक करनेका फिर भी कोई अपने स्वरूपके प्रतिकूल चले तो उसे तो दुःखी होना पड़ेगा ही । वहाँ दुःखी होने कोई दूसरा न आयगा । अपने धामको छोड़कर परधाममें अधिकार समझने वाला दुःखी तो रहेगा ही । मेरा धाम मेरे प्रदेशों में है । मेरा सर्वस्व मुझ आत्मामें है । जो मेरा है वह कभी मेरेसे छूट नहीं सकता, और जो छूट जाता है वह मेरा था ही नहीं । जैसा हो वैसा ही अपने आपको निरखने वाले संत अपने आपमें तृप्ति पाते हैं अलौकिक आनन्द पाते हैं । जब ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो की स्थिति बनती है तो नियमसे अलौकिक परम आल्हादका अनुभव चलता है । उस आनन्दको चाहनेकी इच्छासे ज्ञानीने आत्मध्यान नहीं बनाया, किन्तु स्वभाव ही है ऐसा कि जैसा है वैसा अपनेको माने तो उसमें यह आल्हाद आयगा अपने आप । तो यह अलौकिक आत्मीय आनन्द जिसे नहीं मिला, वह केवल वर्तमानके रमणीक विषयोंकी ही प्रीति रखता है ।

ज्ञानसाधनोंमें सहयोग व समर्थनका उज्ज्वल परिणाम—एक बात यह समझ लीजिए कि ज्ञान जगता है ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे । नहीं क्षयोपशम मिला है तो बस ज्ञान कुन्द है, आवृत है, पर ज्ञानावरणका क्षयोपशम कौन करने आयगा ? उपादान दृष्टिकी बात तो ठीक है, कर्मोंमें कर्मकी दशा कर्मकी परिणतिसे होगी, मगर उसमें निमित्त है अपना सद्भाव । ज्ञानवंतोंको देखकर रुचि होना, हर्ष होना यह ज्ञानावरणके क्षयोपशमका कारण है । ज्ञानके साधनोंमें उमंग होना, ज्ञानके प्रसारमें, ज्ञानके विकासमें अपना सर्वस्व भी लगे, ऐसा जिसका भाव रहता है वहाँ ज्ञानावरणका क्षयोपशम होना पड़ता है । यह सब निमित्तनैमित्तिक भाव व्यवस्था है । तो जिसे इच्छा है कि मुझे केवलज्ञान प्राप्त हो, अरहंतसिद्ध अवस्था प्राप्त हो तो वह ज्ञानका बीज है । मूल बीज, प्रारम्भिक उपाय यह है कि ज्ञानके साधनोंमें रुचि बनाइये और उसे सर्वोपरि मानिये धर्मके कार्योंमें । यदि ऐसी दृष्टि बनेगी तो क्षयोपशम मिलेगा और न ऐसी दृष्टि बनेगी तो जैसे हैं वैसे रहे जाइये । प्रगति न हो पायगी । तत्त्वज्ञान होगा तो इन इन्द्रियविषयोंपर विजय प्राप्त होगी, जबरदस्ती करके विजय न प्राप्त होगी । आज व्रत किया है, इन इन्द्रियोंके विषयोंका परिहार किया है । अरे विषयरहित ज्ञाता मात्र अंतस्तत्त्वकी तो दृष्टि नहीं है, अब विषयपरिहार कैसे कहलायेगा ? विषयोंके साधन छोड़ें,

इस प्रकारका जो विकल्प है और इस प्रकारकी जो परिस्थिति और व्यवहार है उसमें वह विषय बन गया। अपने मूल स्वरूपकी सुध हुए बिना धर्मका प्रारम्भ भी नहीं होता।

ज्ञानमात्र निजके अनुभवका आनन्द पानेके लिये परभावव्यामोहके परिहारकी अनिवार्यता—गजबकी बात तो यह है कि है तो ज्ञानस्वरूप और इस ही का ज्ञान नहीं हो पाता। जैसे तालाबमें ही तो मच्छ रह रहा और वह प्यासा बना है तो यह तो एक गजबकी बात ऐसे ही ज्ञानस्वरूप होकर भी यह जीव ज्ञान न कर सके यह भी गजबकी बात है। यहाँ तो सब घट रही हैं बातें ज्ञानस्वरूप होकर भी अपने ज्ञानस्वरूपका ज्ञान नहीं चल रहा। और जिनका चल रहा है उनको आवश्यक है कि ऐसी दृष्टि निरन्तर रहे। तो इन सबसे दृष्टि हटा लेने वाला तो यह वातावरण है विषयभोगोंका। ये वर्तमानमें तो रमणीक लग रहे हैं, मगर इन्द्रायण फलके समान इनका विपाक बुरा है। कोई इन्द्रायण फल होता है जो कि देखनेमें बड़ा सुन्दर चिकना होता और खानेमें भी मधुर होता, पर वह है विषफल। उसको खानेके बाद प्राण नष्ट हो जाते हैं, ऐसे ही यह पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी प्रवृत्ति वर्तमान कालमें तो बड़ी सुहावनी लग रही है, मगर इसका परिणाम केवल कष्टकारी है। किसी भी दूसरे पदार्थ का संयोग इस जीवके लिए अहित है। अकेला ही रहे अकेलेमें ही मग्न रहे, अकेलेका ही उपयोग रहे, बस वही एक पवित्रताकी स्थिति है। शुद्ध होनेके मायने है अकेला रह जाना। न शरीर रहे, न कर्म रहे, न विकार रहें। तो ऐसा अकेला रह जानेकी स्थिति तो सभी चाह रहे हैं वचनोंसे और अन्दरसे अपनेको अकेला निरखनेका उपाय नहीं किया जा रहा। यहाँ जो संयोग देखा जा रहा है उस ही में सुख माना जा रहा है कभी भी यह सिद्ध अवस्था (शुद्ध दशा) न प्राप्त कर सका। अकेला रह जानेके इच्छुक लोग वर्तमानमें अपने सत्त्व मात्र अपने आपको अकेला निहारें। यदि यहाँ अपने आपको अकेला निहार सके तो बस इस ही अकेले ज्ञानमात्र परभावशून्य ज्ञानघन अंतस्तत्त्वकी उपासनाके प्रसादसे वे निकट कालमें ही सिद्ध अवस्था पा लेंगे। इसके लिए इस वर्तमान संयोगसे दृष्टि हटाकर अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपमें अपने आपको अनुभवना होगा। ज्ञानी जन यही काम करते हैं। संसारके इन दृश्यमान विनाशीक विषयभोगके समागमोंको अहितकारी जानकर उनका त्याग कर देते हैं।

विद्या दया द्युतिरतुद्धतता तितिक्षा, सत्यं तपो नियमनं विनयो विवेकः।
सर्वे भवंति विषयेषु रतस्य मोघा, मत्वेति चारुमतिरेतिन तद्वशित्वं ॥९९॥

विषय वशंगत मनुष्योंके विद्या दया द्युति विनय धैर्य सत्यकी व्यर्थता व अनुद्भूति—जो इन्द्रियके विषयोंके वशमें है उसके कोई गुण नहीं रह पाते। विषयोंकी प्रीतिमें है पराकर्षण। जिसका आकर्षण परकी ओर लगा है उसके खुदमें गुण नहीं रह पाते। जैसे

विद्या—जो विषय लम्पटी है उसके विद्या नहीं ठहरती। विद्याका अर्जन नहीं हो पाता। पायी हुई विद्याका भी विस्मरण हो जाता। इन्द्रियके वश होनेपर कितना नुकसान होता है कि उसमें ज्ञान बुद्धि विवेक नहीं ठहरता। इन्द्रियविषय लम्पटीके दया कहाँ रहेगी, क्योंकि उसे विषयोंका अनुराग है, उस ओर ही दृष्टि है और उस धुनमें जीवहिंसा बचनेका उपयोग नहीं रहता और तत्काल भी जीवहिंसा होती रहती है। तो जो इन्द्रियके विषयोंका भोगी है, आसक्त है उसके दया भी नहीं ठहरती। कान्ति और विनय तेज और सहनशीलता ये भी उसके पास नहीं रहते। जिसके जितना आत्मबल है, आत्मस्वभावकी दृष्टिकी प्रखरता है उसके अन्दर तेज रहता है। शरीरसे चाहे दुर्बल भी हो, रोगी भी हो, पर आत्मतेज रहता है उसके जो विषयोंसे विरक्त पुरुष है। सहनशीलता भी उसके होती है। लोग तो जरा जरासी बातों में धैर्य खो देते हैं। उनके ५ इन्द्रिय और मन, इन दो विषयोंमें से किसी विषयमें आसक्ति है जिसके कारण धैर्य खो देते हैं। फिर वहाँ सहनशीलता नहीं रहती। कोई मनके विरुद्ध घटना घट जाय तो वे सहन नहीं कर पाते। चाहे उससे भी कठिन घटना अपनी किसी वस्तु के अनुरागके कारण आती जाय, उन घटनावोंको तो सहन कर लेते हैं, पर मनके विरुद्ध कोई बात चले तो इस घटनाको सहन नहीं करते। चाहे अन्य घटनासे छोटी घटना है, न कुछ जैसी घटना है, पर सहनशील नहीं रह पाते, क्योंकि वे विषयोंके आधीन हैं। मनका विषय तो इन्द्रियविषयोंसे भी कठिन है। विषय—लम्पटी पुरुषके सत्यताका भी निवास नहीं रहता। विषयानुराग है ना और मेरे विषय न मिटें इस लोभसे वह कुछसे भी कुछ कह सकता है और असत्य वचन भी निकल सकते हैं।

विषयवशंगत मनुष्योंकी संकटपात्रता—विषयोंके जो वश हैं वे जगतमें रुलने वाले जीवोंकी गिनतीमें है। एक भजनमें बोलते है ना—हम तो हैं उन चरणोंके दास जिन्होंने मन मार लिया। जिन्होंने मन मारा उन्होंने सभी इन्द्रियविषयोंको ठोकर दी। उनके भक्त होते हैं विवेकी लोग। तो जो विषयोंके वश हैं उनके सत्य नहीं रहता, तपश्चरण भी नहीं रहता। पुराणोंमें, अन्य दर्शनके पुराणोंमें प्रायः ऐसी घटनायें पायी जाती हैं कि कोई तपस्वी पुरुष है, महंत है, लोक पूजित है और कभी विषयोंका अनुरागी बन गया और उसके कोई कुचेष्टा होने लगी, ऐसी घटनायें मिलती हैं, पर अन्य श्रद्धालु उन घटनाओंको भी प्रशंसाके रूपमें उपस्थित करने लगते हैं। करें उपस्थित महत्ताके रूपमे यह तो उनकी कल्पना है, पर वास्तवमें तो वे स्वरूपसे डिग गए। जो इन्द्रियके विषयोंके वशमें हैं वे तपश्चरणसे भी गिर जाते। नियम और विनय ये दो बातें उसके चित्तमें नहीं ठहर सकतीं। गुरुजन हों, बड़े पुरुष हों, सामने हों तो भी जो विषयोंके वश हैं उनके चित्तमें उनके प्रति आदर विनयका भाव नहीं रह पाता,

क्योंकि ...का चित्त ही ठिकाने नहीं है, विषयवृद्धि वाले पुरुषोंके विवेक नहीं ठहरता। विवेक कहते हैं हित करना और अहितसे दूर होना। ज्ञानीजन जानते हैं कि इन्द्रिय विषयोंके अनुरागके कितने दुर्गुण हैं और इसी कारण ज्ञानी पुरुष विषयोंके वश नहीं होते। जो विषयोंके वशीभूत हैं उनको अच्छी बात नहीं रुचती। विषयप्रसंगकी ही बात धुनमें रहती और उसीमें ही अपनी महिमा समझते।

विषयासक्त पुरुषोंकी वैराग्य ज्ञानसुगन्धको छोड़कर विषयदुर्गन्धमें रुचि—कोई दो सहेलियाँ थीं—एक थी ढीमरकी लड़की और एक थी मालिनकी लड़की। दोनोंका अलग-अलग जगह विवाह हो गया। मालिनकी लड़की तो एक शहरमें ब्याही गई और ढीमरकी लड़की एक गाँवमें ब्याही गई। ढीमरकी लड़की तो मछली बेचनेका काम करे और मालीकी लड़की फूल तोड़ने, माला बनाने, सेज सजाने आदिके काम करे। एक बार ढीमरकी लड़की उस नगरमें मछलियाँ बेचने पहुंच गई जहाँ उसकी वह सहेली रहती थी। सारी मछलियाँ बेच चुकनेके बाद शाम हो गई, सो इस विचारसे वह ढीमरकी लड़की अपनी सहेलीके यहाँ पहुंची कि रात्रिको उसके यहाँ रहकर सवेरा होते ही अपने गाँव चली जायेगी। मालीकी लड़की अपनी पुरानी सहेलीको पाकर अत्यन्त हर्षित हुई, उसका बड़ा सत्कार किया, खूब खिलाया-पिलाया और सेज बहुत बढ़िया बिछाया सोनेके लिए। बहुत दिनोंमें मिली थी ना सहेली, सो अच्छा गद्देदार पलंग बिछाया और उसपर गुलाब, चमेली आदिक फूलोंकी पंखुड़ियाँ बिछा दीं। अब उसे सुला दिया, पर उस ढीमरकी लड़कीको नींद न आये। मालिनकी लड़कीने पूछा—तुम्हें नींद क्यों नहीं आती? तो ढीमरकी लड़की बोली—अरे तुमने यह क्या कर दिया, यहाँ फूलोंकी दुर्गन्ध ऐसी फैल गई कि उसकी वजहसे नींद नहीं आती। ....अरे दुर्गन्ध कैसे? फूल तो राजा महाराजावोंकी शय्यापर बिछा करते हैं।....बिछा करते होंगे, हमें तो उनकी बदबूके मारे नींद नहीं आती।...अच्छा तो ये सब फूल उठाकर अलग किए देती हूं। कर दिये सब फूल अलग, फिर भी नींद न आये, सो पूछा—अब क्यों नींद नहीं आती?...अरे फूलोंकी दुर्गन्ध तो इन गद्दों बिछौनों तकमें सब जगह भर गई है उन्हें हटा दो। हटा दिये मालीकी लड़कीने गद्दे बिछौने वगैरा फिर भी नींद न आये। तो फिर पूछा—कहो सहेली, अब क्यों नींद नहीं आती? क्या उपाय करें जिससे तुम्हें नींद आ जाय? तो ढीमरकी लड़की बोली—देखो जो हमारा मछलीका टोकना रखा है इस पर पानी के कुछ छींटे मार दो और उसे उठाकर हमारे सिरहाने रख दो तब नींद आयगी। आखिर वैसा ही किया तब उसे नींद आयी। तो ऐसे ही समझ लो कि जो विषयोंके वश होते हैं उनको विषयसाधन मिलें तो वे तत्काल कुछ मौजसा अनुभव करते हैं और प्रसंग मिल जाय

कोई ज्ञानका, ध्यानका, गुणानुवादका, ज्ञानचर्चाका तो उन्हें वह न सुहायेगा। और सुन लेवें कि प्रोग्राम है कुछ ज्ञानचर्चाका तो दूरसे ही उठ जायेंगे। यह इन्द्रियविषयोंके वशमें हुए पुरुषोंकी हालत है, क्योंकि उनका दिमाग पलट गया। खाने-पीनेके प्रसंग, स्त्रीप्रसंग, सिनेमा आदिक देखना, रंग रंगीली बातें सुनना, इनमें ही मन बहलता है इन मनुष्योंका। तो जो इन्द्रियविषयोंके वश हैं उनमें कोई गुण नहीं ठहरते।

विषयवशित्व अवगुण मिटानेका उपाय--अब यह निरखें कि है तो यह बड़ा अवगुण विषयोंके वश होना, पर यह अवगुण मिटे कैसे ? उसका उपाय तो होगा कुछ। तो उपाय हैं दो तरहके—एक तो दवा जैसा और एक औषधि जैसा। दवा वह कहलाती है जो रोगको दबा दे और औषधि वह कहलाती जो रोगको जड़से मिटा दे। तो ऐसे ही समझो जब किन्हीं धार्मिक कार्योंमें लग गए, कुछ भले काम करने लगे, धर्मसभामें बैठ गए या मंदिर में ही जाप करने बैठ गए तो यह तो है दवा। विषय वहाँ दब गया, मगर दवा कर-करके हैरान हो जाते हैं, वह विषय भावना फिर उछल जाती। और यदि औषधि हो जाय तो वह विषय भावना फिर न उठे। तो औषधि क्या है कि विषय विकार मलिनता आदिक कहाँ हैं मेरे स्वभावमें ? उस स्वभावका परिचय करे कोई और ऐसे स्वभावरूप मेरी सत्ता है, मैं तो यह हूं, और जो हो रहा है यह तो नैमित्तिक है, औपाधिक है, कर्मछाया परभाव है। तो जैसा अपना सहज स्वरूप है उस रूपमें अपनी स्वीकारता रहे और ऐसी ही दृष्टि बनाये रहने का प्रसंग बने तो यह है विषयोंके विजयकी औषधि। कोई इस ही स्वभावका निराकरण करके माने कि मैं तो ऐसा ही हूँ, शुद्ध हूं, अविकारी हूं, वह तो इसमें धोखा खायगा, मगर जो जानता है कि मेरे स्वरूपमें विकार नहीं, मेरी भूमिमें विकार है, सो वह विकार मेरे स्वभावसे आया हुआ नहीं, किन्तु निमित्त पाकर आया है।

निमित्तनैमित्तिक भावके सुपरिचयका फल अहंकारका अभाव, कायरताका अभाव व सुगमतया स्वभावदृष्टि--भैया, एक बात खास समझनेकी है कि जीवमें जो विकार जगते हैं उन विकारोंका निमित्त कारण सिर्फ कर्मविपाक है। जगत्के ये सारे पदार्थ जो दिख रहे हैं ये विकारके निमित्तभूत नहीं हैं. ये आश्रयभूत हैं। जिनको यह भेद नहीं ज्ञात है और इस स्वभावको भी निमित्त मानते हैं या मनाते हैं या कहते हैं वे इस खण्डनमें लगते कि निमित्त कुछ चीज नहीं। सामने पदार्थ दिखा और विकार न हुआ तो निमित्त तो न रहा। कोई वेश्या गुजरी तो उसको देखकर साधुके भाव वैराग्यके हुए और कामी पुरुषके भाव विषय वासनाके हुए, शृगाल, कुत्ते आदिकके भाव उसके भक्षण करनेके हुए, तो दृष्टान्त देते हैं कि देखो निमित्त तो वही है, पर काम एकसा कहाँ हुआ ? उनकी भूल है। निमित्त तो कामी

पुरुषके मोहनीय वेदका उदय चल रहा है सो उस अनुरूप उसके भाव हो रहे और उस भाव को व्यक्त करनेमें वह वेश्या आश्रयभूत हो रही और मुनि महाराजके कषायोंका उपशम है, क्षयोपशम है सो उसके अनुरूप वैराग्यके भाव हो रहे और उस वैराग्यके व्यक्त होनेमें वह मृतक वेश्या आश्रयभूत हो रही। निमित्तनैमित्तिक भावका सही परिचय करनेमें कायरता और अहंकार ये दोनों दोष दूर हो जाते हैं। जिसे यह परिचय नहीं ज्ञात है वह ऐसा सोचता है कि मैंने दूसरेको यों कर दिया, यह ही बात कर्तृकर्मभाव दोनों ओरसे चलती है। मैंने दूसरेको सुख दिया, बड़ा किया, ऐसा भाव यदि रहेगा तो अहंकार जगेगा और दूसरेने मुझे दुःखी किया या दूसरेके हाथमें मेरा सब कुछ परिणमन है ऐसा जानेंगे तो कायर बनेंगे, पर निमित्तनैमित्तिकका परिचय होनेपर न कायर रहेगा, न अभिमानी रहेगा। वह जानेगा कि बच्चोंके पुण्यका उदय है, उसकी वजहसे बच्चोंको सुखी होना है, उसमें मैं नौकर रूपसे सेवक बन गया। चित्तमें यों सोचेगा तो अहंकार न बनेगा या मुझको मेरी स्त्री पुत्रादिक दुःख देते इस प्रकारकी कायरता अपनेमें न लायगा। जहाँ सत्य जाना कि मैंने ही पूर्वभवमें जो परिणाम किया था उसका उदय है यह, और उस उदयमें मेरी ऐसी स्थिति हो रही है। उसके व्यक्त होनेमें ये दूसरे लोग आश्रयभूत मात्र हुए हैं। तो इन विषयसाधनोंके प्रति भी ज्ञानीका यों चिन्तन रहता है कि ये स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ये मुझको रागी द्वेषी नहीं बनाते, मुझे कायर नहीं बनाते ये तो जड़ अपने स्वरूपमें अपने परिणमनसे रहते हैं। मैं ही खुद कर्मोदयका निमित्त पाकर तदनुरूप अपनेमें विकार कर रहा हूं। इस आश्रयभूतमें दृष्टि दूंगा तो वे विकार बुद्धिपूर्वक बनते जायेंगे, व्यक्त हो जायेंगे और इस आश्रयभूतको त्याग दूं तो विकार व्यक्त न होंगे। अव्यक्त होकर निकलेंगे। चरणानुयोगकी समस्त प्रक्रिया इसी आधारपर आधारित है। आश्रयभूत वस्तुवोंका परित्याग करिये, यह है चरणानुयोगकी जान। जिन जीवोंको यथार्थ बोधका परिचय नहीं है वे विषयोंके वशीभूत होते हैं और विषयवश होकर अपने समस्त गुणोंको भस्म कर डालते हैं।

लोकार्चितोऽपि कुलजोऽपि बहुश्रुतोऽपि, धर्मस्थितोऽपि विरतोऽपि शमान्वितोऽपि।
अक्षार्थपन्नगविषाकुलितो मनुष्यस्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निंद्यं ॥१००॥

लोकार्चित पुरुषोंकी भी विषयवशतामें विडम्बना—कोई पुरुष लोगोंके द्वारा पूज्य है, मान्य है, फिर भी वह इन्द्रियविषयरूपी सर्पके विषसे डसा हुआ है, आकुलित है तो वह मनुष्य कौनसा निंद्य कार्य नहीं कर सकता। लोगोंकी दृष्टि तो महत्ताकी है, पूज्यताकी है, बड़प्पन समझ रहे हैं, मगर वे चित्तमें इन्द्रियविषयोंके वश बने हुए हैं तो वे अपनी व्यक्त स्थितिके विरुद्ध कुछ काम कर डालते हैं। कोई पुरुष कुलीन है, अच्छे कुलमें पैदा हुआ है

राजकुलमें, मंत्रीकुलमें, पर वह इन्द्रियविषयोंका अनुरागी बने तो वह भी क्यासे क्या काम नहीं कर डालता। पुराणोंमें जो कहीं-कहीं यह सुननेमें आता कि अमुक राजपुत्र, अमुक जगह अमुक कन्यापर विमोहित हो गया तो उसके पीछे खाना-पीना छोड़ दिया, उसका दिल दब गया, बावलासा बन बया, अब चूंकि घरका लाड़ला था सो घरके तथा बाहरके लोग उसे बहुत-बहुत मनायें—कहो बेटा क्या चाहिए ? तुम जो कहो वह सब हम करनेको तैयार हैं। आखिर उसके मनमाफिक किया उसके माता-पिताने। अब चूंकि घरके लाड़ले थे सो किया वैसा नहीं तो दो लट्ठ लगाते तो अक्ल ठिकाने हो जाती। यह है विषय व्यामोहकी घटना। उत्तम कुलमें पैदा हुए तो भी यह स्थिति।

उत्तम कुलज पुरुषोंकी भी विषयवशतामें विडम्बना—जब राम और सीताके विवाह की चर्चा चलने लगी या ज्ञानसे जान लिया नारदने। तो वह अनेक बार सीताको देखने गया। देखिये—नारद बड़े ब्रह्मचर्यमें परिपूर्ण होते हैं। रानियोंके महलमें वे कहीं चले जायें, पर राजा सब जानता है कि यह ब्रह्मचर्यके बड़े परिपूर्ण हैं, बालस्वभाव वाले हैं, सो गया वह नारद इस भावसे कि देखें तो सही कि कैसी है श्रीरामको चाहने वाली कन्या। जब नारद पहुंचे सीताके निकट तो उस समय सीता आईनेमें मुख देखकर अपने केश संवार रही थी। उस आईनेमें जब नारदका प्रतिबिम्ब पड़ा तो डरावना चेहरा होनेसे वह डर गई और डरकर दूर भाग गई। उधर नारदके मनमें यह आया कि मैं इस कन्याको इष्ट नहीं लगा, इस कारण यह मेरेसे दूर भागी, सो तुरन्त उसपर क्रोध कर बैठे और मनमें आ गया कि मैं भी इसे छका कर रहूंगा। सो क्या किया किया कि सीताका एक चित्रपट लिया और वह चित्रपट विद्याधरोंकी नगरीमें ले गया जहाँ कि उस सीताका भाई भामण्डल भी था। सो उस भामण्डलने जब सीताका चित्रपट देखा तो उसपर मुग्ध हो गया और उसे पानेके लिए सेनासहित वहांसे चल पड़ा। रास्तेमें जहाँ एक वन मिला तो पूर्व घटनावश उसे स्मरण हो आया कि जिसके विषयमें हम इतना खोटा विचार कर रहे थे वह तो मेरी सगी बहिन है। उसे अपने पर घृणा आयी। मगर देखो तो विडम्बना कि जो चाहे जैसा चाहे करने लगता। देखिये—पुरुषोंका ऊधम आज ही नहीं है, पहलेसे ही चला आ रहा है। तो यह सब इन्द्रियवश हुए प्राणियोंकी विडम्बना है।

बहुश्रुत आदिकी भी विषयवशतामें विडम्बना—बहुत शास्त्रोंका ज्ञाता है कोई तिस पर भी यदि इन्द्रियविषयोंसे व्यामुग्ध है तो वह भी आचरणसे गिर जायगा। कोई विरक्त है, क्षमाशील है मायने त्याग किया है तिसपर भी इन्द्रियविषयोंका अनुरागी पुरुष ऐसा कौनसा निंद्य कार्य है जिसे वह न करे। इस जीवको परेशानी क्या है ? बस मोह और विषयानु

राग । एक द्वेषकी भी परेशानी है, मगर द्वेष नहीं आता । मोहमें बाधा आये जिसके द्वारा उस पर द्वेष उमड़ता है । तो द्वेषको जीत लेना सरल है, मगर रागको विषयको जीत लेना सरल नहीं है । तब ही तो करणानुयोगमें द्वेषका क्षय ९वें गुणस्थानमें बताया और रागका क्षय १०वें गुणस्थानके अन्तमें बताया । संसारमें यह जीव अकेला अपने आपमें सुख दुःख जन्म मरण आधिव्याधियोंको भोगता आया है । क्यों भोगता आया कि अपने अविकार स्वरूप की सुध नहीं है । जो औपाधिक विकार जगा उसे स्व मान लिया, यह मैं हूं, भूल कितनीसी की, पर उससे विडम्बना कितनी बन गई । एक वृक्षको ही ले लो तो वृक्षके अनेक बड़ी शाखायें, अनेक उपशाखायें, अनेक टहनियां, भिन्न-भिन्न प्रकारके पत्ते, भिन्न भिन्न प्रकारके फूल, भिन्न भिन्न तरहके फल, भिन्न भिन्न प्रकारके आकार ये सब पाये जाते हैं । तो यह किसका फल है ? विकारमें आत्मत्व अनुभव किया उसका फल है संसार विडम्बना, और स्वभावमें आत्मत्व अनुभव करें तो उससे मिलेगा संकटोंसे छुटकारा । तो यह बहुत आवश्यक है कि इस स्वभावकी पहिचान करें और उस रूप अपनेको मानें और उसकी दृढ़ताके बलसे समस्त विषयकषायोंसे दूर होनेका पौरुष करें ।

लोकार्चितं गुरुजनं पितरं सवित्रीं, बंधु सनाभिमबलां सुहृदं स्वसारं ।
भृत्यं प्रभुं तनयमन्यजनं च मर्त्यो, नो मन्यते विषयवैरिवशः कदाचित् ॥१०१॥

निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयकी विषयोंकी उलझन मिटानेमें समर्थता—जो पुरुष विषय बैरियोंके वशमें रहता है वह किसीको भी बड़ेको भी कुछ नहीं समझता । आत्माका अहित करने वाले विषय और कषाय हैं । सो विषयोंपर दृष्टि क्यों जाती है जीवोंकी और विषयोंको ओर क्यों उलझे रहते हैं उसका कारण है यह कि इन जीवोंको अपने सहज स्वरूपका परिचय नहीं है । विषयभाव ये कहीं अन्य पदार्थके नहीं हैं । हो रहे हैं जीवोंमें, फिर भी ये जीवके नहीं हैं । यह बात न समझ सकें तो विषयोंमें प्रीति दिखती है । इच्छा आशा प्रतीक्षा रागद्वेष इष्टभाव अनिष्ट भाव सुख दुःख जितने भी विकारभाव हैं ये विकारभाव, यह विकारपरिणति जीवके स्वभावसे उठे नहीं, कर्मकी परिणतिसे आये नहीं, किन्तु क्या स्थिति है कि कर्मविपाकका निमित्त पाकर यह छाया माया हुई, इस कारण यह औपाधिक है और परभाव है । दो बातें होती हैं—(१) कर्तृकर्मभाव और (२) निमित्तनैमित्तिक भाव । कर्तृ-कर्मभाव वस्तुतः एक ही पदार्थमें होता है और निमित्तनैमित्तिक भाव गलत नहीं है । सारा विज्ञान, सारा व्यवहार सब कुछ देख रहे है, रसोई बनाते हैं तो अग्नि जलाते । जानते हैं ना कि रोटी पकानेका निमित्त अग्नि हो सकती, जीव नहीं हो सकता, यह खूब परिचय है, पर अग्नि जलानेपर सिकी रोटी या अग्नि सिकी । वस्तुस्वरूप और निमित्तनैमित्तिक भाव

सर्वत्र एक साथ चल रहे। अब जिनको निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयका माहात्म्य नहीं मालूम और वास्तवमें निमित्त क्या होता है जीवके विकारमें, यह भी नहीं मालूम, उनकी दृष्टि यह बन जाती है कि दुनिया भरके जो पदार्थ हैं बाह्यमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द जो कुछ ये दिख रहे हैं उन्हें लोग निमित्त कहते चले आये। सो जब कभी अन्य प्रकार बात देखते हैं तो बात क्या है कि तीन बातें होती हैं जीवके विकार प्रकट होनेमें—(१) उपादान, (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत। आश्रयभूतकी बात लोगोंने नहीं समझ रखी, कोई-कोई तो आश्रयभूतका नाम तक नहीं जानते। जब तक ये तीन बातें समझमें न आये तब तक निमित्तनैमित्तिक भावका मर्म न समझमें आयगा। निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय स्वभाव दृष्टि करानेके लिए हुआ करता है। कर्तृकर्मभाव बनानेके लिए नहीं हुआ करता।

नैमित्तिक भावकी निमित्तानुरूपता—एक उदाहरण लें—मान लो कोई स्त्री मर गई, अब उसको उसके पतिने भी देखा और साधु महाराजने भी देखा, तो उसे देखकर उसके पतिको तो उसके प्रति रागभाव हुआ और साधु महाराजको वैराग्यभाव हुआ या दयाभाव हुआ, करुणा उपजी। अब ऐसी घटना देखकर जिसे बोध न हो या कुछ बोध हुआ भी हो वह झट कह बैठता कि देखो दोनोंका निमित्त एक है, पर एक जैसा भाव दोनोंका नहीं हुआ, इसलिए निमित्त फिमित्त कुछ नहीं, कुछ कार्यकारी नहीं···पर उनको यह पता नहीं कि साधु महाराजके जो वैराग्यभाव हुआ उसका निमित्त वह मृतक वेश्या नहीं है, उसका निमित्त है अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण जो कषाय है, कर्मप्रकृति है उसका क्षयोपशम। तो जैसा क्षयोपशम है उसके अनुसार साधु महाराजके भाव बने और उसमें आश्रयभूत वह मृतक स्त्री हो गई। और उस पतिके रागभाव होनेमें निमित्त उसको वह स्त्री नहीं है, किन्तु मोहनीयकर्मका उदय है, वेदप्रकृतिका उदय है, सो उसके अनुसार उसके रागभाव जग रहा है और उसमें आश्रयभूत बनी उसकी स्त्री। तो तीन बातोंका भले प्रकार परिचय करें। मेरे जितने भी विकार होते हैं उनका निमित्त है कर्मोदय। कर्मोदय होनेपर ही विकार होता, कर्मोदय न होनेपर विकार नहीं होते। कर्मका उदय कर्ममें चल रहा, पर ऐसा ही योग है कि जिस अनुभाग वाले कर्मका उदय विपाकमें है तो उसकी छाया, माया, प्रतिबिम्ब यह अनिवार्य रूपसे होगा। अब ये बाहरी पदार्थ हैं, ये निमित्त नहीं हैं, ये आश्रयभूत हैं। रागप्रकृति का उदय हुआ। हमारे रागभावमें कर्मोदय निमित्त है और उसके व्यक्त होनेमें ये बाहरी विषयभूत पदार्थ आश्रयभूत हैं।

निमित्त शब्दके बोलनेपर उसके वाच्य आश्रयभूत या वास्तविक निमित्तकी छांट करनेके विवेककी आवश्यकता—आश्रयभूतको भी निमित्त शब्दसे कहते हैं लोग और वास्त-

विक निमित्तको भी निमित्त कहते हैं। तो निमित्त नाम दोनोंका पड़ जानेसे विवेक नहीं करते और दोनोंको निमित्त मानकर चूंकि आश्रयभूतके साथ विकारका नियम नहीं है कि अमुक पदार्थ होनेपर विकार हो ही हो, पर कर्मोदयके साथ इनका सम्बंध है कि राग प्रकृति का उदय होनेपर जीवमें राग होगा। अब स्वभावदृष्टि कैसे बनती ? जैसे दर्पणके आगे हाथ किया तो हाथका प्रतिबिम्ब दर्पणमें है। अब वहाँ सब कोई जान रहा है कि यह प्रतिबिम्ब दर्पणके स्वभावसे नहीं उठा। उठा दर्पणमें, मगर समक्ष निमित्त पाकर उठा, और जब ही हाथ सामने किया तो प्रतिबिम्ब आया और हाथको हटाया तो प्रतिबिम्ब हट गया। तो निमित्तनैमित्तिक योग स्पष्ट है। उसके परिचय बिना ये विसम रचनायें हो ही नहीं सकतीं। पर यहाँ समझना क्या है कि जितनी विसम रचना है, जितनी विकार सृष्टि है वह नैमित्तिक है, वह मेरे स्वरूपकी चीज नहीं है। मेरा स्वभाव तो केवल प्रतिभास मात्र है।

स्वभाव और पर्यायका विश्लेषण—देखो एक ही पदार्थमें परिस्थिति बताना और बात है और स्वभाव कहना और बात है। जैसे एक दृष्टान्त लो—पानी गर्म हो गया, चूल्हेपर बटलोहीमें पानी गर्म कर दिया, तेज गर्म हो गया, ऐसे गर्म पानीके प्रति पूछा जाय कि बताओ पानीका स्वभाव कैसा है ? तो हर एक कोई यही कह देगा कि पानीका स्वभाव ठंडा है, मगर सर्वथा ठंडा स्वभाव समझकर अगर उस तेज गर्म पानीको कोई पी ले तब तो उसका मुख जले बिना न रहेगा। उस तेज खौलते हुए गर्म पानीको वह पी तो नहीं सकता। तो उसकी परिस्थिति विकारमें है, पर स्वभाव जब सुहा जायगा तो प्रकट न होते हुए भी वह कहा जायगा जो अपनी ही सत्ताके कारण अपने आपमें पाया जाता हो। जब स्वरूपकी उपासना की जाती है तो उसका अर्थ लगाइये—शक्तिकी उपासना की जा रही है। स्वभाव की उपासना है वह। और परिणमन तो यहाँ अशुद्ध चल रहा है। अशुद्ध परिणमन होते हुए भी अपने स्वभावको निरखना है। यही एक उपाय है कि अशुद्ध परिणमनको मिटाया जा सकता है। तो यह अशुद्ध परिणमन निमित्त पाकर नहीं होता और यों ही कह दिया जाय कि जब अशुद्ध परिणमन होता है तो जो सामने आ जाय उसे निमित्त कह देते हैं। तो इसका अर्थ यह होगा कि अशुद्ध परिणमन जीवमें अपने स्वभावसे हो रहा है। अब नाम कहांसे लगा दें कि यह निमित्त है। तो जब अपने स्वभावसे हो रहा है अशुद्ध परिणमन तो उसके मिटनेका कोई उपाय नहीं हो सकता।

विकारोद्भवमें परसंगकी निमित्तताके परिचयोके स्वभावदृष्टिका अवसर—मेरे स्वभावसे विकार नहीं हुआ करते। विकार होनेमें परपदार्थका संग ही निमित्त है। बंधाधिकार में समयसारके अन्तमें निचोड़ रूपमें कहा है—"तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽय

मुदेति तावत्" अगर रागादिक भाव हो रहे हैं। संसारमें हो रहे तो उसमें निमित्त परपदार्थ का संग ही है और यह वस्तुस्वभाव है अर्थात् उपादान अनुकूल निमित्त पाकर ही विकाररूप परिणमता है। निमित्तके अभावमें विकाररूप नहीं परिणमता। तो इस चर्चासे स्वभावको निरखनेकी प्रेरणा मिलती है। ये विकार मेरे स्वभावसे नहीं उठते, ये विकार मेरे भाव नहीं हैं, ये परभाव हैं। परका निमित्त पाकर हुए हैं। तो प्रयोजन तो अपने विशुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करना है। सो जितना यह हमपर विषय कषायका बीझ चलरहा है तो यह सब नैमित्तिक है। जो नैमित्तिक हो वह मिटाया जा सकता है। जो स्वाभाविक हो वह नहीं मिटाया जा सकता।

परभावकी उत्पत्ति व ज्ञप्तिके साध्य साधनकी भिन्नता—अब इस आश्रयभूत पदार्थ को जो अज्ञानवश निमित्त मान लेते हैं तो क्या दृष्टि बन जाती कि जब विकार हो तब ये निमित्त कहलाते हैं, पर थोड़ा ध्यानमें लाना, दार्शनिक विषय है थोड़ासा। उत्पत्ति और ज्ञप्ति। जैसे जब जानकारीकी बात कहते हैं कि धुवाँ देखकर अग्नि जान ली गई तो यह जानकारीका साध्य साधन है। इसका नाम है अनुमान प्रमाण। वहाँ यह बात समझमें आयी कि धुवाँ देखकर अग्निका ज्ञान हुआ। जब धुवाँ हुआ तब जाना गया कि अग्नि है यहाँ। अब यह बतलावो कि धुवाँ और अग्निमें निमित्तनैमित्तिक क्या है? धुवाँ नैमित्तिक है और अग्नि निमित्त है, सो वहाँ नैमित्तिकका ज्ञान होनेपर निमित्तका बोध हुआ, यह ज्ञप्तिके बारेमें बात है। अब उत्पत्तिके विषयमें समझ बनाइये, धुवेंसे आग उत्पन्न हुई है या आगसे धुवाँ उत्पन्न हुआ? उत्पत्तिमें यह ही कहा जायगा कि आग निमित्त है और धुवाँ नैमित्तिक है, और चाहे धुवेंका आप बोध करें या न करें, पर जहाँ अग्नि है सो ही है। जहाँ कारण-कलाप है वहाँ छुपा हुआ है। तो यहाँ निरखिये कर्मका उदय निमित्त है, विकार नैमित्तिक है, ऐसा कहना कि जब विकार हुआ हैं तब निमित्तका ज्ञान हुआ कि उस समय यह निमित्त था। सो ज्ञानके बारेमें तो यह बात ठीक है, क्योंकि कर्म सूक्ष्म हैं। उन्हें कोई जानता नहीं, पर नैमित्तिक घटना जानकर निमित्तका बोध हुआ, पर ऐसा नहीं है कि जब विकार हो तब निमित्त हाजिर हो। निमित्त अपने समयपर आया, उपादानमें वहाँ योग्यता है और उसका निमित्त पाकर विकार जग गया। एक और दृष्टान्त लो—जैसे कोई नदी बह रही है तो जहाँ से बह रही उस ऊपरके हिस्सेमें तेज वर्षा हुई और नदीमें पूर बढ़ गया तो ज्ञप्तिमें तो आप यह कहेंगे कि पूर बढ़ा दिखे तो आपको ज्ञान हुआ कि ऊपर वर्षा हुई। ज्ञानमें यह बात आयी। पूर देखकर, पानीका तेज बहाव देखकर आपको ज्ञान हुआ कि वर्षा हुई। नैमित्तिक देखकर आपको निमित्तका ज्ञान हुआ, यह ज्ञानमें तो बात ठीक बैठी, पर उत्पत्तिमें क्या ऐसा

है कि जब पूर हुआ तब वर्षा हुई ? जब नदीमें जलका प्रवाह बढ़ा तब वर्षा हुई, क्या ऐसा होता ? नहीं । वर्षा हुई तब यह पूर निकला । तो उत्पत्तिमें और ढंगसे निरखा जायगा और जानकारीमें और ढंगसे निरखा जायगा । अब जानकारीका तो ढंग बोले और उत्पत्तिकी बात कहे तो बस वह गलत हो जाता है ।

विषम कार्योत्पादमें निमित्तकी अनारोपितहेतुता—आपको कर्मोदय ज्ञात हो या न हो, जब कर्मोदय होता है तो विकार होता है । आपने पीछे पैर रखा और वहाँ अग्नि थी । आपको अग्निका ज्ञान हो या न हो, पैर पड़ेगा तो वह जलेगा । निमित्तनैमित्तिक भाव किसी की जानकारीके आधार पर नहीं चलता । वह तो सान्निध्यपर चलता है । तो निमित्तनैमित्तिक भाव सर्व घटनावोंमें पाया जा रहा है, पर यहाँ यह परिचय बनाना कि जितना नैमित्तिक भाव पाया जा रहा है वह उस वस्तुका स्वभाव नहीं है । वह निमित्त पाकर हुआ । आप जानते हैं ना कि पानी गर्म हुआ है तो पानीका स्वभाव नहीं है गर्म होना, वह तो निमित्त पाकर गर्म हुआ है । तभी तो जब आप अग्निको हटा लेते हैं तो थोड़ी देरके बाद वह गर्म पानी ठंडा हो जाता है । तो यह उपकारकी दृष्टिसे देखें तो जब निमित्तनैमित्तिकका ज्ञान होता है तो अपने स्वभावको निर्दोष देख रहा है वह । मेरे स्वभावमें राग नहीं, यह नैमित्तिक है । मेरा स्वरूप बिगड़ा नहीं, यह बिगड़ा औपाधिक है, यदि मैं स्वभावको ही बिगाड़ दूं तब तो फिर सिद्धको भी बिगड़ जाना चाहिए, क्योंकि अब तो निमित्त पाये बिना भी बिगाड़ होना तुमने मान लिया । तो सिद्धभगवान हो गए, फिर विकार आ जाना चाहिए, पर आता तो नहीं, क्योंकि उनके निमित्तका सदाके लिए वियोग हो गया । कर्मोंका उनके क्षय हो चुका । अब उनके विकार बिगाड़की सम्भावना नहीं । यहाँ विकार और बिगाड़ चल रहे हैं, मगर जिसे बोध है कि ये विकार मेरे स्वभाव नहीं, ये औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, इनमें कोई दम नहीं है, ये विनश्वर हैं, ये टिक नहीं सकते और मैं ध्रुव हूँ, स्वभावमात्र हूं, सहज आनन्दरूप हूं । मैं अपने स्वरूपको ही देखूँगा ।

आश्रयभूत पदार्थोंके आश्रय व अनाश्रयमें अशुद्ध जीवके विकारोंकी व्यक्तता व अव्यक्तता--मैं यह हूं और विकल्पके आश्रयभूत पदार्थका मैं आश्रय न करूँगा तो ये विकार प्रकट न होंगे, पर अप्रकट तो जरूर रहेंगे । जैसे किसी काँचके पीछे लाल मसाला लगा दिया जाय तो उसमें प्रतिबिम्ब साफ दिखाई देता है और जिस काँचके पीछे मसाला नहीं लगा है, कोई प्रकारका मैल तक नहीं लगा है, बिल्कुल साफ है उस काँचमें तो प्रतिबिम्ब नहीं प्रकट होता, मगर प्रतिबिम्ब उसपर भी आता जरूर है । और दर्पणकी तरह प्रतिबिम्ब नहीं होता । ऐसे ही जब आश्रयभूत पदार्थोंका हम आश्रय लें तो ये विकार प्रकट नहीं हो पाते, लेकिन ये

अप्रकट रूपसे होते हैं। सो इसी स्वभावदृष्टिके अभ्यासमें जैसे व्यक्त विकारको दूर किया ऐसे ही कर्मोंमें क्षय आदिक होकर ये विकार भी अव्यक्त दूर हो जायेंगे। तो कर्तव्य है अपने सहज स्वरूपमें अपना सत्त्व निरखना, इसीको कहते हैं अपनेको शुद्ध निरखना। पर्यायरूपसे शुद्ध न निरखना, वह तो गलत है, पर्याय कहाँ शुद्ध है? और जो पर्यायरूपसे अपनेको इस समय शुद्ध निरखने लगे तो वह प्रगति कर ही नहीं सकता। अहंकारमें रहेगा कि मैं तो शुद्ध हूं। उसको कोई अवसर ही न रहेगा अपने आपको शुद्ध करनेका, और जो स्वभावदृष्टिको शुद्ध न निरखेगा, यही निरखे कि मैं तो सर्वथा अशुद्ध हूं तो वह भी शुद्ध होनेका पौरुष न कर सकेगा। स्वभाव मेरा सबसे निराला है, एकत्वगत् है, परिस्थितियाँ ये सब औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं। मैं इन परभावोंसे निराला हूं और अपने ज्ञानस्वभाव मात्र हूं।

उपादान, निमित्त व आश्रयभूतके परिणामोंसे तथ्यकी स्पष्टता—देखो तीन बातें स्पष्ट कर लेना। मेरे विकार आदिक होनेमें सिर्फ कर्मदशा ही निमित्त है, अन्य पदार्थ निमित्त नहीं होते। फिर उनके खण्डनके लिए क्यों दिमाग पच्ची किया जाय। निमित्त है ही नहीं, निमित्त तो कर्मदशा है, सो कर्मोदयका और विकारके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बंध है अर्थात् कर्मोदय होनेपर ही विकार होवे, कर्मोदय न होनेपर विकार कभी होवे ही नहीं, ऐसा अन्वय व्यतिरेक सम्बंध है, पर आश्रयभूत पदार्थके साथ मेरे विकारका अन्वयव्यतिरेक सम्बंध नहीं है। सो जैसे दूध नाम गाय, भैंस, बकरी आदिकके दूधका भी है और दूध नाम आकके दूध का भी है, पर आकका दूध कोई छटांक भर पी ले तो उससे प्राणघात हो जाता है। अब आकके दूधको प्राणघातक जानकर कोई यह ढिंढोरा पीटता फिरे कि दूध तो प्राणघातक होता है, दूध न पीना चाहिए, तो उसका यह कथन भला है क्या? अरे वहाँ तो यह विवेक रखना चाहिये कि आकका दूध तो प्राणघातक होता है, पर गाय, भैंस, बकरी आदिकका दूध प्राणपोषक होता है। जैसा कि व्यवहारमें निरखा जाता है। तो निमित्त नाम इनका भी रख दिया जो बाहरी पदार्थ हैं, पर निमित्त नाम वास्तवमें कर्मदशाका ही है। अब इन निमित्तोंके साथ जो कि निमित्त नहीं है वास्तविक नहीं, आरोपित हैं, ख्याल करें तो निमित्त कहलाते, यह बात आश्रयभूतमें है, वास्तविक निमित्तमें नहीं। वैज्ञानिक लोग प्रयोग करते रहते हैं कि अमुक चीज मिला दी जाय अमुक वस्तुके साथ तो यह असर होता है और इसी आधार पर सारी रचना चल रही है। हम आप आज मनुष्य हैं, कोई पशु हैं, पक्षी हैं, तिर्यञ्च हैं, ऐसी गड़बड विडम्बनाकी बात निमित्तनैमित्तिक भाव बिना चल सकती है क्या? पर वहाँ खोज यह करनी है कि मेरा वास्तविक स्वरूप तो दर्शन ज्ञान है, आनन्दरूप है, सर्व परभावोंसे निराला है। मैं अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण अविकार हूं।

स्वभावपरिचय बिना निमित्तनैमित्तिक भावके सुपरिचयकी असंभवता व निमित्त-नैमित्तिक भावके सुपरिचय बिना स्वभावपरिचयकी अशक्यता—भैया सहज स्वरूपको निरखना है निमित्तनैमित्तिक भावकी जानकारीसे, और यह बहुत ही सुगम तरीका है कि हम परभावोंसे छूटें और अपने स्वभावमें आयें। उसमें यह तरीका सुगम है कि ये विकार नैमित्तिक हैं। मैं इनमें न लगूंगा। ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। जो नैमित्तिक समझता है उसे स्वभाव का ज्ञान है। दर्पणमें फोटो आ गया, अब जो उस फोटोको नैमित्तिक समझता है उसको है ज्ञान कि यह दर्पण भीतरमें बहुत स्वच्छ है। और जो उस फोटोको दर्पणका स्वभाव मानता है वह दर्पणकी स्वच्छताकी परख कैसे करेगा? जो विकार समझता है उसने स्वभाव भी समझा है और जो विकारको विकार न समझकर अंग समझ लेता है उसको स्वभावका भी परिचय नहीं। तो मूल प्रयोजन है स्वभावदृष्टिका। उस ही में धर्मका पालन है। सो यह आगममें जितना भी वर्णन है सबका इस ढंगसे अपनेको सम्बोधिये कि मैं परभावोंसे हटकर अपने स्वभावमें आऊँ। तो विषय बैरियोंके वश हुआ पुरुष लोक द्वारा पूज्य गुरु जनोंको भी यह कुछ नहीं समझता। माता-पिता, बहिन-भाई, सेवक इनको कुछ नहीं समझता, इनकी कुछ चिन्ता नहीं करता विषयोंमें आसक्त हुआ पुरुष। उसे तो ये विषय ही प्रिय हैं। तो इन विषयभावोंसे हटना है और अपने स्वभावमें अपनेको आना है, यह पौरुष करना है।

येनेंद्रियाणि विजितान्यतिदुर्धराणि, तस्याविभूतिरिह नास्ति कुतोपि लोके।
श्लाघ्यं च जीवितमनर्थविमुक्तमुक्तं, पुंसो विविक्तमतिपूजिततत्त्वबोधैः ॥१०२॥

इन्द्रियविजयीके ज्ञान और आनन्दकी विभूतिकी अनुपमता—जिस पुरुषने अत्यन्त दुर्धर इन्द्रियोंको जीत लिया है उसकी इस विभूतिके समान दुनियामें अन्य कहीं भी विभूति नहीं है। आत्माकी विभूति ज्ञान और आनन्द है। जो मुख्य प्रकटतया समझमें आता है, यही आत्माका अतिशय है ज्ञान और आनन्दका सही प्रकट होना, सो जब तक इन्द्रियाँ नहीं जीत ली गईं तब तक सही ज्ञान और आनन्द प्रकट नहीं हो पाता। आत्माका स्वरूप जानना है, पर इंद्रियके द्वारा जानना यह आत्माका स्वरूप नहीं, किन्तु एक परिस्थिति है, आत्माका स्वरूप आनंद है, किन्तु विषयमें उपयोग लगाकर इस तरहका सुख पाना यह आत्माका स्वभाव नहीं है, किन्तु एक परिस्थिति है। जैसे कोई मनुष्य किसी कमरेमें बंद पड़ा है तो वह खिड़कियोंके द्वारा ही बाहरकी बात जान सकता है। तो खिड़कियों द्वारा जाने यह मनुष्यका स्वरूप नहीं है, किन्तु परिस्थिति है वह ऐसी जो खिड़कियोंसे ही जान पाता है। तो ऐसे ही यह आत्मा इस देहरूपी मकानमें बंद है सो इस समय हम आप इन्द्रिय और मन इन ६ द्वारों

से ही जान पाते हैं। तो यह एक बंधनकी परिस्थिति है, पर स्वभाव इसका जाननेका है। ज्ञान द्वारा जानता है। तब यह बंधन न रहेगा कर्मका और इस देहका तो यह चारों ओरसे ही जानेगा फिर इसके लिए सब जगतके पदार्थ साक्षात् हैं। जैसे हम अभी आँखोंके सामनेकी बात जान पाते हैं, पर बंधन मुक्त होनेपर आत्माके लिए कौनसा सामना है? जब तक इन्द्रिय है तब तक सामना कहलाता है यह आँखका सामना। जब इन्द्रियका बंधन नहीं है तब सामना तो सब हो गया। जो भी सत्ता है वह इसके सामने है।

यथार्थ ज्ञान और आनन्द प्रकट न होनेका कारण इन्द्रियव्यामोह—ऐसा अलौकिक ज्ञान और निराकुल अलौकिक आनन्द जो नहीं हो पा रहा, उसका कारण यह है कि विषयों के ज्ञानमें और सुखमें यह जीव लगा हुआ है। सो जो इन इन्द्रियविषयों पर विजय प्राप्त कर लेता वही पुरुष सच्चा ज्ञान और आनन्द प्राप्त करता है। हम आप सब दो ही बातें तो चाहते हैं कि हमारा खूब ज्ञान बढ़े और खूब आनन्द मिले। और इन दो बातोंमें भी अधिकतर यह बात चाहते हैं कि हमको आनन्द मिले। ज्ञान पर भी हमारी अधिक दृष्टि नहीं रहती। तो मुख्य ध्येय है जीवका कि आनन्द प्राप्त हो। मगर वह आनन्द ज्ञानके साथ ही है, इसलिए ज्ञान और आनन्द दोनोंके लाभकी वांछा जीवके रहती है। और इसीलिए सर्वत्र यत्न भी करते, किन्तु आनन्द कहीं नहीं मिलता, उसका कारण यह है कि जो भी प्रयत्न करते हैं वह कषायवश करते हैं। पौरुष ही कषायका है। कभी धर्ममार्गमें भी चले तो वहाँ पर भी कषायके आधीन रहते हैं। जिसमें जो कल्पना की, जो मान लिया उसका पक्ष हो जाता। कहनेको तो यह है कि ज्ञानकी बात कही जा रही, पर प्रयोगमें यह है कि जो रुचा जो कषाय जगी बस उस ही का पक्ष है। तो धर्ममार्गमें भी ये निष्पक्षका व्यवहार नहीं कर पाते। लौकिक मार्गमें भी निष्पक्षताका आदर नहीं कर पाते। सो इष्ट विषयोंमें राग बना हुआ है तो वास्तविक आनन्द इन्हें प्राप्त नहीं है।

यथार्थ आनन्द पानेके इच्छुकोंको अपने यथार्थ स्वरूपके व यथार्थ आनन्दके स्वरूपके परिचयकी प्रथमावश्यकता—जिसे सत्य आनन्द चाहिये उसको दो बातोंका पुष्ट निर्णय करना होगा, एक तो यह कि मैं वास्तवमें क्या हूं और एक यह कि आनन्द वास्तवमें कहलाता क्या है? चाहने वाला और चाहे जाने वाली बात ये दो बातें यदि उपयोगमें सही हों तब तो मोड़ बनेगा, तो मैं वास्तवमें क्या हूँ, स्वयं अपने आप सहज अपनी सत्तासे। मैं हूँ एक प्रतिभास स्वरूप पदार्थ। तो इसका नाम धरा जा सकता क्या? और यदि नाम धरा जा सकता है तो वह सभीका एक ही नाम रहेगा। प्रतिभास स्वरूप आत्मपदार्थका कोई नाम धरेगा चेतन, आत्मा, जीव कुछ भी नाम धरेगा तो वह सबका नाम है। सबका न होकर मेरा ही नाम हो

ऐसा कोई नाम नहीं है जो मुझ चैतन्यस्वरूपका कहा जाय। जिसको नाम दिया गया है वह मैं नहीं हूँ, वह मैं परमार्थ नहीं हूँ। निरपेक्ष सहज तत्त्व नहीं हूं। जिसमें लोग नाम देते हैं वह अनेक वस्तुवोंका पिण्डोला है। तो एक जीवद्रव्य और इसके साथ लगे अनन्त शरीर परमाणु और इसीके साथ लगे हैं अनन्त कर्मपरमाणु और साथ ही लगा है शरीर और कर्मके उम्मीदवार परमाणु। कर्मका उदय चल रहा है। इस भूमिपर छाया प्रतिबिम्ब हो रहा, निमित्तनैमित्तिक भाववश अनेक घटनायें चल रही हैं, इन सबका पिण्डोला है यह जिसका कि दुनियामें नाम धरा जाता है। तो जिसका नाम धरा जाय वह मैं नहीं, जो वास्तवमें मैं हूं उसका नाम ही नहीं धरा जा सकता। और धरा जायगा तो वही सबका नाम है। मैं वास्तवमें यह हूँ ऐसा जब निर्णयमें आता है तो सारी बातोंका निर्णय बन गया कि परपदार्थ का मेरे साथ सम्बंध क्या है? कोई भी परपदार्थ मेरा नहीं है जहाँ यह आकिञ्चन्य भाव आये कि मेरा जगत्में कुछ नहीं है, मैं मात्र मैं ही हूं। तो वहाँ आनन्द पानेकी दिशा मिल जाती है।

मोहमें स्वयंपर गजब सितमका ढाना—मोहमें कैसा गजब हो रहा है कि खुद हो तो मैं ज्ञानस्वरूप पदार्थ हूं और खुद ही का ज्ञान नहीं हो पा रहा। कोई दीपक खुदका ही प्रकाश न करे और दूसरे पदार्थोंका ही प्रकाशक रहे ऐसा कोई दीपक अब तक नहीं देखा गया, मगर यह मोही आत्मा खुद ज्ञानमय होकर भी खुदका ज्ञान नहीं कर पा रहा है। यह गजबकी बात बन रही है। वेदान्तकी टीकामें एक उदाहरण दिया गया कि एक पुरुष किसी संन्यासीके पास पहुंचा और बोला—महाराज हमें ज्ञान नहीं है हमको ज्ञान दीजिए, तो संन्यासी बोला—भाई अमुक तालाबके अमुक घाट पर एक मगरमच्छ रहता है उसके पास जावो वह तुम्हें ज्ञान देगा। पहुंचा वह पुरुष मगरके पास और बोला—मगरराज मुझे आत्मा का ज्ञान दे दो। तो मगरराज बोला—भाई, मुझे बहुत जोरकी प्यास लग रही है। तुम्हारे हाथमें लोटा डोर है सो पासके उस कुवेंसे एक लोटा पानी भरकर पिला दो, अपनी प्यास बुझा लें तब फिर तुम्हें आत्माका ज्ञान दें। तो वह पुरुष बोला—मगरराज, हमें तो एक संन्यासीने आपको ज्ञानी समझकर आपके पास भेजा, पर आप तो पूरे मूर्ख दिखाई देते हो। ...कैसे ?....अरे आप स्वयं चारों ओर जलसे घिरे हुए हैं फिर भी कह रहे कि एक लोटा जल कुवेंसे भरकर दे दो, प्यासे हैं। तो मगर बोला—बस यही उत्तर तो तेरे लिए है। तू भी तो ज्ञानसे लबालब भरा हुआ है, ज्ञानघन है, ज्ञानसिवाय तेरा और कुछ स्वरूप नहीं है। ज्ञानमय पदार्थ है, फिर भी कह रहा कि मेरेको ज्ञान नहीं है, ज्ञान दे दो। सो जब अपने आपकी ओर दृष्टि हो, इन बाह्य पदार्थोंकी वाञ्छासे छुट्टी मिले तो निश्चित ही यह प्रयोग

रूपसे निज ज्ञानात्मक अंतस्तत्त्वको जान लेता है। जगतमें कष्ट है कहाँ ? अपने स्वरूपके उपयोगमें न रहें और बाहरी पदार्थोंसे सुखकी आशा करने लगे तो वहाँ कष्ट हो गया। अपने स्वरूपको देखें और सत्य निर्णय रखें कि मेरेको आनन्द किसी बाहरी पदार्थसे मिलता ही नहीं है। मिल ही नहीं सकता और मिलनेकी जरूरत भी क्या है ? मैं तो स्वयं आनन्दमय हूं, अपने आपके एकत्वमें आयें तो मेरे सारे संकट समाप्त हो जाते हैं।

मोक्षप्राप्तिका उपाय उपयोगमें निज सहज स्वरूपकी सम्हाल—जिन्होंने मोक्ष पाया उन्होंने और किया ही क्या है ? अपने आत्माकी सम्हाल की है, अपनेको ज्ञानानन्द स्वरूप देखा है। उनके ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही समाया है। किसी भी परपदार्थसे आनन्द पानेकी उनके भावना नहीं रही, सो स्वमें स्वकी सम्हाल की है। यही काम किया है जिससे कि मुक्ति प्राप्त हुई है। अब इन कामोंको जो करेगा, जो अपने आत्माकी सम्हाल बनायेगा उसको अनेक बाधायें नियमसे होंगी, क्योंकि अनन्त भवोंसे विषयोंका संस्कार इन जीवोंपर लदा आया है, सो एक बार सही ज्ञान हो जानेपर भी वे विषयसंस्कार, वे दुर्भावनायें, वे सब संस्कार उखड़ते है, सामने आते हैं तो उनसे सुरक्षित होनेके लिए दिन-रातकी चर्यामें यह ज्ञानी अपनेको पवित्र रखता है जिससे कि व्यसन और पापका संस्कार मुझको हैरान न कर दे। उस संस्कार पर विजय पानेके लिए गृहस्थ गृहस्थधर्म जैसा आचरण करता है, मुनि मुनिधर्म जैसा आचरण करता है। धर्म यद्यपि दोनोंका एक है, स्वभावदृष्टि करना और स्वभावरूप ही अपने आपको जानते रहना, यह प्रयोग करके तो कोई बताये कि सीधा यही काम खूब बन जाय, नहीं बन पाता। अनेक काम करने पड़ते हैं घर गृहस्थीमें अनेक बातें हैं और यह चित्त पूर्व संस्कारवश डगमग रहता है। तो इस अस्थिरताको दूर करनेके लिए व्रत, नियम, संयम रूप से अपना जीवन बिताता है और ऐसे पवित्र जीवनमें पवित्र आत्मतत्त्वकी उपासना करता है। सो अभी गृहस्थको पूरा मौका नहीं मिल रहा, क्योंकि घरके आरम्भ, घरके सम्बंध, घर के अनुराग, घरका बंधन इसका चित्त डगमगाता रहता है। तो जिसमें वैराग्य विशेष बढ़ा वह सबका त्याग करके निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो जाता है, पर किसलिए हुआ वह निर्ग्रन्थ दिगम्बर ? एक इस स्वभावदृष्टिकी दृढ़ता बनाये रखनेके लिए धर्म प्रारम्भसे अन्त तक वास्तवमें एक ही रूप है। अपने आपको सहज दर्शन ज्ञानस्वरूप आनन्दमय निरखना। मैं यह हूँ। जैसा मैं हूं परमार्थसे वैसा ही मैं दृष्टिमें रहूं, इसके लिए ही सर्व व्यवहारधर्म पालन किए जा रहे हैं।

सुलक्ष्यविहीनतामें संसारविडम्बना—कोई व्यवहारधर्मका पालन तो करता रहे, सारी क्रियावोंको तो निभाता रहे, पर मैं किसलिए कर रहा हूं, इसका जिसको पता नहीं है

उसकी प्रगति कैसे बनेगी मोक्षमार्गमें ? जैसे कोई नाव पर बैठकर खुद ही नावको खूब खेता रहे और उसका कोई लक्ष्य नहीं बना है कि हमको कहाँ पहुंचना है ? तो वह कभी इधर नाव खेया, कभी उधर नाव खेया, यों ही भटकता फिरेगा । उसने चारों तरफ नावके खेनेका परिश्रम तो किया, मगर फायदा कुछ नहीं होता, क्योंकि हमें कहां पहुंचना है यह उसके मन में था ही नहीं । ऐसे ही हम कार्य तो सारे करें व्यवहार धर्मके, और उद्देश्यका पता न हो कि ये सब मैं किसलिए कर रहा हूं तो उससे मोक्षमार्गका लाभ नहीं मिल पाता । मेरेको कार्य केवल एक यही करना है अन्तरंगमें कि मैं सहज ज्ञानानन्दस्वभाव मात्र हूँ । मैं अपनी सत्तासे केवल अपने स्वरूप मात्र हूँ । मेरेमें मेरे स्वरूपमें अन्य पदार्थका प्रसंग नहीं । मेरे स्वरूपमें विकारभाव नहीं, विकार नहीं है, बपाधिकी छाया है, परभाव है, मेरा स्वरूप नहीं । मैं केवल प्रतिभास स्वरूप हूं । सो यही मैं अपनी निगाहमें बना रहूं, बस यही एक काम करनेको पड़ा है । अब काम तो एक ही है धर्मपालनके लिए, मगर कोई भी करके दिखा तो दे, क्योंकि ऐसा अशुद्ध जीव है भव-भवके बाँधे हुए कर्मोंका विपाक है, अपने आपके विकार का चलन है कि जिसकी वजहसे ऐसा अनुभवन बनता नहीं है । जो उल्टा हम चल रहे हैं उसको दूर करनेका भी तो पौरुष होना चाहिए । बस वह पौरुष है साक्षात् व्यवहारधर्म ।

यथाशक्ति चारित्रपालन—चरणानुयोगके अनुसार यथाशक्ति बताये गए व्यवहारधर्म का पालन करते हुए जो स्वभावदृष्टिका भीतरमें प्रयोग बनानेका पौरुष करता है वह सफल होता है, और जो यथा तथा जैसा चाहे स्वच्छंद व्यवहारसे जीवन गुजारता है उसको स्वभाव दृष्टिका अवसर नहीं आ पाता । प्रभुभक्ति इसीके मायने है कि जिस मार्गसे प्रभु चले उस मार्गके प्रयोगसे हमें चलना चाहिए । यदि यह देहका वासनाका बंधन न होता तब तो कुछ करनेकी जरूरत भी न थी । यह तो स्वयं आराममें था, पर इतने बंधनोंमें रहते हुए इतने विचार विपरीत विपरीत उठते हैं तो उन विपरीत विचारोंको तो दूर करना है, और उसका साक्षात् उपाय है व्यवहारधर्म । यम, नियम, संयम, तप आदिक, प्रभुभक्ति, स्वाध्याय, सत्संग और इन सबको करते हुए लक्ष्य रहता है ज्ञानीका स्वभावदृष्टि । तो चरणानुयोगके अनुसार अपना जीवन बनाकर जैसा कि सबके लिए बताया, कम विरक्त है उस गृहस्थको बताया, कुछ अधिक विरक्त है उसको बताया, पूर्ण विरक्त है उसको बताया । उसके अनुसार अपना जीवन चलाते हुए स्वभावदृष्टि करना यह है धर्मपालन ।

साधनारम्भमें ज्ञानीकी अन्तर्वृत्ति—ऐसी कल्पना करना कि मैं जो कर रहा हूं सो ठीक कर रहा हूँ और दूसरे साधक लोग जो कर रहे हैं वे गलत कर रहे हैं, ऐसी भावना ज्ञानीमें नहीं होती । ज्ञानी पुरुष तो अपने आपके अन्दर कमी देखनेकी आदत रखता है,

मुझमें क्या दोष रह गए, क्या कमी रह गई, यह निरखनेकी आदत ज्ञानीके होती है। मैंने कितने गुण पा लिये, यह निरखनेकी आदत ज्ञानीमें नहीं होती, क्योंकि अपने अन्दर कमी (दोष) निरखनेकी बात रहेगी तो उन दोषोंको टालनेका यत्न करेगा और जो गुणविकास हुआ उस ही को देखनेकी लत रहेगी तो उसके अहंकार जगेगा और जो गुण पाया है उसे भी खत्म कर डालेगा। इसीलिए स्पष्ट बताया है कि ज्ञानी अपनी निन्दा, अपनी गर्हा करता है, दूसरेकी निन्दा नहीं किया करता, स्पष्ट लक्षण है। जैसे किसी संन्यासीका हृदय पहचाननेके लिए बाह्य लक्षण, मोटा लक्षण यह है कि वह अपने पैरोंमें जूते डालकर न चलेगा, क्योंकि जूते पहिनकर चलने वाले संन्यासीके जीवदयाका भाव नहीं, नम्रताका भाव नहीं, कुछ गर्व भी रहेगा, वे सब बातें उसमें आती जातीं। कहनेको एक बाहरी बात है। तो ऐसे ही समझिये मोटा लक्षण कि जो परनिन्दा करे, दूसरेके दोष निहारता रहे और दोषोंको बताते रहने से ही अपनेको धर्मपात्मन माने और उसीमें ही जीवन गुजारे, वह ज्ञानीका चिन्ह नहीं है। जो सर्व जीवोंमें अपने समान स्वरूपको निरखता है वह तो विरोधीपर भी यह दृष्टि रखता है कि यह मेरा कुछ विरोध नहीं कर रहा। ये सब कर्मोंके उदय हैं और वहाँ ऐसा ही बर्त रहा है, यह जीव तो निरपराध है। तो सर्व जीवोंमें एक सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन होना यह ज्ञानी की आदत है। दूसरेके दोष निरखना यह ज्ञानीकी आदत नहीं है। सो ऐसे आत्मज्ञान द्वारा जिसने दुर्धर इन्द्रियको जीत लिया उसका ही जीवन प्रशंसनीय है और वह सब अनर्थोंसे छूट गया है और वही वास्तविक आनन्दका पात्र है।

६—स्त्रीगुणदोषविचार

उद्यद्गंधप्रबंधां परमसुखरसां कोकिलालापजल्पां
पुण्यंस्रक्सौकुमार्यां कुसुमशरबधूं रूपतो निर्जयंतीं।
सौख्यं सर्वेंद्रियाणामभिमतममितः कुर्वतीं मानसेष्टं
सत्सौभाग्या लभंते कृतसुकृतवशाः कामिनीं मर्त्यमुख्याः ॥१०३॥

पुण्यका लौकिक फल—इस प्रकरणमें स्त्री सम्बंधी गुण और दोषोंका विचार किया गया है। इस छंदमें यह बतला रहे हैं कि उत्तम स्त्री किसी पुण्यवान पुरुषको ही प्राप्त होती है। जिसका शरीर सर्वदा सुगंधित रहा करता है। जो परम सुख रसका अनुभव कराती है। कोयल जैसे मीठे मीठे वचनोंको जो बोलती है। समस्त इन्द्रियोंको सुख प्रदान करने वाली और मनके अभीष्टको सिद्ध करने वाली, जिसका फूलकी मालाके समान कोमल शरीर है, ऐसी स्त्री किसी मुख्य मनुष्यको ही प्राप्त होती है। स्त्रियोंमें जहाँ शारीरिक दोष हैं वहाँ किसी

पुण्यवानमें शारीरिक उतने दोष नहीं होते। जैसे कई स्त्रियाँ दुर्गन्धित शरीर वाली होती हैं, पर अनेक स्त्रियोंके दुर्गन्ध नहीं होती, प्रत्युत लुभाने वाली गंध भी मिलती है। राग स्वर अच्छा होना यह स्त्रियोंमें प्रधानतया गुण पाया जाता है। तो ऐसी स्त्री उन पुरुषोंको प्राप्त होती है जिन लोगोंने पूर्व जन्ममें पुण्य किया है। जिसके सौभाग्यका सितारा देदीप्यमान है, स्त्रियोंके इतनी सुन्दरता होती है जो रूपसे कामदेवकी स्त्री रतिको भी जीत ले। बस्तुतः जिन पुरुषोंके वैराग्य है उनको तो सुन्दरता जंचती है। सो लौकिक दृष्टिमें जो विशेष सुन्दरता मानी गई है वह भी पुण्यके उदयसे प्राप्त होती है। तो ऐसी स्त्री जो सुन्दरतामें कामदेवकी स्त्री रतिको भी जीत ले वह उन्हीं पुरुषोंको मिलती है जिन्होंने पूर्वभवमें कुछ ठीक भाव किया, जिससे ऐसे पुण्यका बंध किया। इस छंदमें यह गुण प्रधानदृष्टिसे कहा जा रहा है कि आज्ञाकारिणी सुन्दरी मधुर वचन बोलने वाली स्त्री भाग्यवान पुरुषोंको प्राप्त होती है।

अक्ष्णोर्युग्मं विलोकान्मृदुतनुगुणतस्तर्पयतीं शरीरं,
दिव्यामोदेन वक्त्रादपगतमरुता नासिकां चारुवाचा।
श्रोत्रद्वंद्वं मनोज्ञाद्रसनमपि रसादर्पयंती मुखाब्जं
यद्वत्संचाक्षसौख्यं वितरति युवतिः कामिनां नान्यदेवं ॥१०४॥

लोकमें युवतियोंकी तृप्तिकारिता—इस छंदमें स्त्रियोंकी महत्ता बतायी गई है। देखनेसे जो नेत्रोंको तृप्त करती है याने इतनी शान्ति सुन्दरता जिन स्त्रियोंमें है कि उन्हें देखने से देखने वालेके नेत्र तृप्त हो जाते हैं। जिसके कोमल शरीरके स्पर्शसे शरीर तृप्त होता है, जिसके सुगंधित मुखकी गंधसे नासिका तृप्त होती है। मीठी-मीठी वाणीके सुननेसे कर्ण तृप्त होते हैं, मुखकमलके अर्पण किए जानेसे जिह्वा तृप्त होती है अर्थात् कामियोंको पञ्चेन्द्रियके सुख देने वाली जो स्त्री है वह इस लोकमें लौकिक जनों द्वारा ऐसी उत्तम मानी जाती है कि जैसा मानो अन्य कुछ न हो, इस छंदमें स्त्रियोंकी प्रशंसा की है। ये सब प्रशंसायें की जा चुकेंगी, उसके बाद जब वैराग्यका प्रकरण होगा और ऐसी स्त्रियाँ भी परिहार्य हैं, उनके दोष की बात आयगी तब उनका परिहार करनेमें सुगमता मिले, यह बात सुगमतया समझमें आयगी।

या कूर्मोच्चांघ्रिपृष्ठारुणचरणतला वृत्तजंघा वरोरूः।
स्थूल श्रोणीनितंबा प्रविपुलजघना दक्षिणावर्तनाभिः।
इन्द्रास्त्रक्षाममध्या कनकघटकुचा वारिजावर्त्तकंठा
पुष्पस्रग्बाहुयुग्मा शशधरवदना पक्वबिंबाधरोष्ठी ॥१०५॥

संशुम्भत्पाण्डुगंडा, प्रचकितहरिणीलोचना, कीरनासा,
सज्येष्वासानतभ्रू:, सुरभिकचचया, त्यक्तपद्मेव पद्मा ।
अंगैरंगं भजंती धृतेमदनमदैः प्रेमतो वीक्ष्यमाणा
ने हृग्यस्यास्ति पोषा स किमु वरतपो भक्तितो नो विधत्ते ॥१०६॥

सुमहिलावोंकी महत्ता—इन दो छंदोंमें यह बताया है कि ऐसी स्त्री जिस पुरुषके पास नहीं है वह पुरुष इस संसारमें भाग्यहीन है । यह सब लौकिक दृष्टिसे वर्णन किया जा रहा है ताकि ऐसी स्त्रियोंको छोड़ देने वाले यतिराजोंके प्रति भक्ति विशेष उमड़े । जो सुन्दर और दुनियामें शोभायोग्य चीज है उसे भी जो छोड़ सके वह बड़ा विजयी पुरुष कहलाता है । जिस स्त्रीके चरणोंका पृष्ठ भाग कछुवेके समान ऊँचा है अर्थात् पैरका ऊपरी भाग ऊँचा होता है तो वह भाग्यवान समझा जाता है । जिसके चरणोंके तल भाग लाल हैं, जंघायें गोल हैं और जंघावोंके नीचे, घुटनेके नीचे जो ऊरू भाग है वह भी सुन्दर है, जिसमें श्रोणी और नितम्ब स्थूल हैं, जघन भाग विपुल है, नाभि भ्रमरके समान दक्षिणवर्त है अर्थात् दक्षिणकी ओर मुड़ेर लिए हुए है । कमर वज्रके समान पतली है । कुचा स्वर्णकलशके समान स्थूल है, ग्रीवा अर्थात् गला शंखके समान है, ऊँचा-नीचा है । भुजायें पुष्पमालाके समान गोल हैं, मुख चंद्र सरीखे हैं, ओंठ पके हुए बिम्ब फल जैसा लाल है, ऐसा पुण्य जिसपर झलक रहा है । सुन्दर शरीर वाली स्त्री किसी भाग्यवानको प्राप्त होती है । इन कथनोंसे दृष्टि कहाँ ले जानी चाहिये कि ऐसी सुन्दर योग्य हजारों स्त्रियोंको भी त्यागकर मुनि बने हैं बड़े-बड़े चक्री तो उनका मन कितना ऊँचा है, कितना उनको तत्त्वज्ञान है । तो वे ही पुरुष मोक्षमार्गके वास्तविक पात्र हैं । जिन स्त्रियोंके कपोल पीले हैं, नेत्र भयभीत हिरणीके समान चंचल हैं, नाक तोतेकी नाककी तरह पतली और लम्बी है । जिनकी भौंहें चढ़े हुए बाणसे युक्त धनुषके समान हैं, जिनके केश कोमल सुरभि गायकी तरह लम्बे हैं जो कमलको छोड़कर स्थल पर रहने वाली मानो साक्षात् लक्ष्मी ही है । प्रेमसे देखे जानेपर शरीरके अवयवोंको कामचेष्टासे युक्त अपने शरीरके अवयवोंके साथ मिलान कर आनन्द प्रदान करती है, ऐसी स्त्री जिसके नहीं है वह भक्तिसे उत्कृष्ट तप क्यों नहीं करता अर्थात् इस छंदमें यह बताया है कि बड़े पुण्यके प्रसादसे ऐसी स्त्री प्राप्त होती है ।

संत्यक्तव्यक्तबोधस्तरुरपि वकुलो मद्यगंडूषसिक्तः
पिंडीवृक्षश्च मुंचुंश्चरणतलहतः पुष्परोमांचमच्यैं ।
सौख्यं जानाति यस्या जितमदनपतेर्हावभावास्पदाया-
स्तां नारी वर्जयंतो विदधति तातोप्यूनमात्मानमज्ञा॰ ॥१०७॥

नारीकी विशेषता—इस छंदमें भी स्त्री जनोंकी प्रशंसा बतायी है कि भाग्यवान स्त्रियोंको जो मनुष्य छोड़ देते हैं उनको वृक्षसे भी न्यून गिना जाता है। युवती स्त्रियोंके कुल्लोंसे बकुलवृक्षकी कलियाँ खिल जाती हैं, जिनके पैरोंकी ताड़नासे अशोकवृक्ष फूल उठता है, ऐसा कविजन अपने काव्योंको बताते हैं। उसके अनुसार इस छंदमें बताया है कि जिन स्त्रियोंके स्पर्श मात्रसे एकेन्द्रिय अल्प ज्ञानी अज्ञानी वृक्ष तक भी प्रसन्न हो जाते, उन्हें भी जो लोग रुष्ट होकर छोड़ देते हैं वे मानो वृक्षसे भी अल्प ज्ञान वाले हैं।

गौरीं देहार्धमीशो हरिरपि कमलां नीतवानत्र वक्षो
यत्संगात्सौख्यमिच्छुः सरसिजनिलयोष्टार्धवक्त्रो बभूव।
गीर्वाणानामधीशो दशशतभगतामाप्तवानस्तधैर्यः
सा देवानामपीष्टा मनसि सुवदना वर्तते नुर्न कस्य ॥१०८॥

नारीकी लोकाभिलषितता—जिस स्त्रीके फंदेमें पड़कर बड़े-बड़े देवता लोग भी अपनी शक्तिको खो बैठे हैं और उनके सेवक बन गए हैं, भला वे उत्तम बदन वाली स्त्रियाँ किस मनुष्यको जितेन्द्रियताको वश न करेंगी अर्थात् बड़ेसे बड़े जितेन्द्रिय भी स्त्रियों द्वारा चलित हो गए। देखो महादेवने गौरीको अपने आधे अंगमें रखकर सदाके लिए अर्द्धांगिनी बना डाला। कृष्ण जी लक्ष्मीके मोहमें इतना फंसे कि वे उसे रात-दिन अपने वक्षस्थल पर ही रखे रहा करते थे। ब्रह्माने स्त्रीविषयसुखकी इच्छासे चार मुख कर लिए। और इन्द्रने तो इतनी बेसब्री की कि अपने हजार नेत्र बना डाले। इस छंदमें यह बताया है कि बड़े-बड़े पुरुष और कोई-कोई तपस्वी भी स्त्रीसुखकी लम्पटतासे विडम्बनाको प्राप्त हुए। यह वर्णन सुनकर इस ओर ध्यान देना चाहिए कि जो विरक्त पुरुष ऐसी स्त्रियोंका भी परित्योग कर देते हैं उन्होंने कितना ऊँचा आत्मीय आनन्दका अनुभव किया होगा जिसके कारण दुनियासे न त्यागने योग्य स्त्रियोंको भी त्याग देते हैं।

यत्कामार्ति धुनीते सुखमुपचिनुते प्रीतिमाविष्करोति
सत्पात्राहारदानप्रभववरवृषस्यास्तदोषस्य हेतुः।
बंधाभ्युद्धारकर्तुर्भवति तनुभृतः कारणं कांतकीर्ति-
स्तत्सर्वाभीष्टदात्री प्रवदत न कथं प्रार्थ्यते स्त्रीसुरत्नं ॥१०९॥

स्त्री जनोंकी लोकाभ्यर्थितता—इस छंदमें बताया है कि ऐसी स्त्रीको चाह कौनसा मनुष्य नहीं करता? किसकी प्रार्थनाके योग्य नहीं होती जो स्त्री कामपीड़ाको दूर करती है और सुख प्रदान करती है। बात बातमें प्रेम प्रकट करती है। जो निर्दोष पुण्यमें सहायता करती है अर्थात् गृहस्थका कर्तव्य है कि सत्पात्रको दान दे तो सत्पात्रके योग्य आहार बनाये

तब ही तो दान दिया जा सकता । तो यह कार्य स्त्रियोंकी व्यवस्थामें होता है । तो सत्पात्रके दिए गए आहार दानसे उत्पन्न जो निर्दोष पुण्य है उस पुण्यके लाभमें मदद करती है । जो वंशका उद्धार करने वाले पुत्रको जन्म देती है । ऐसी सभी मनोकामनायें पूर्ण करने वाली स्त्री श्रेष्ठ रत्नके समान है । और रत्न बताये ही गए हैं १४ । उन रत्नोंमें एक स्त्रीरत्न भी कहा है । कन्यारत्न भी कहा है । तो ऐसी योग्य स्त्री किसके द्वारा प्रार्थना किये जाने योग्य नहीं होती ।

कृष्णत्वं केशपाशे, वपुषि च कृशतां, नीचतां नोभिबिंबे,
वक्रत्वं भ्रूलतायामलककुटिलतां, मंदिमानं प्रयाणे ।
चापल्यं नेत्रमुग्मे, कुचकलशयुगे कर्कशत्वं दधाना,
चित्रं दोषानपि स्त्री लसति मुखरुचा ध्वस्तदोषाकरश्रीः ॥११०॥

स्त्रीसंगसे दोषोंकी लोकमें गुणरूपता—जो बातें दूसरी जगह दोषमें शामिल की जाती हैं वे ही बातें देखिये स्त्रियोंमें गुण समझी जा रही हैं । जैसे कालापन यह दोषमें गिना गया है, मगर स्त्रियोंके केशपाशमें अत्यन्त अधिक कालापन है और वह शोभा और गुणमें शामिल है । नीचता यह दोष माना गया है, सो नाभिमें नीचता होना अर्थात् गहराई होना यह गुण कहा गया है । वक्रता याने टेढ़ापना होना जगतमें निंद्य माना गया है, किन्तु नेत्रके ऊपर होने वाली भौंहोंमें वक्रता होना, यह शोभामें शामिल है और उससे भाग्यवान स्त्रीका बोध होता है । कृषता याने क्षीण होना यह दोष माना गया है, किन्तु स्त्रीके शरीरमें क्षीणता हो अर्थात् मोटापा न हो तो वह गुण माना गया है । कुटिलता, अत्यन्त टेढ़ापन या कई जगह टेढ़ापन होना यह दोष माना गया है, किन्तु स्त्रीके केश यदि अनेक जगह टेढ़े हो-होकर लहरायें तो वह शोभामें शामिल किया गया है । मंदपना यह दोष माना गया है, किन्तु स्त्रियों की गतिमें जो मंदपना है वह गुण समझा गया है । चपलता दोष है, किन्तु स्त्रीजनोंके नेत्र चंचल होते हैं । छिनमें कहीं देखना छिनमें कहीं देखना और नेत्रका चलना यह उनमें शोभा मानी गई है । कठोरता याने कड़ापन होना यह दोष माना गया है, पर स्त्रियोंके कुचोंमें कठोरता होना दुनियामें शोभाकी बात मानी गई है अर्थात् काव्योंमें कविजन इस प्रकार शोभाका वर्णन करते हैं । इस छंदमें यह बताया गया है कि स्त्री एक ऐसा विचित्र पदार्थ है कि जिसमें दोष आकर भी गुण बन जाया करते हैं । सो ये सब बातें, कामीजनोंके भावोंकी बातोंके अनुसार हैं । वस्तुतः जो ऐसी स्त्रियोंको भी त्याग देते हैं, प्रशंसनीय पात्र तो वे कहलाते हैं ।

बाहुद्वंदेन माला, मलविकलतया पद्धतोंस्वर्भवानां,
हंसीं गत्यान्यपुष्टां मधुरवचनतो, नेत्रतो मार्गभार्यां ।
सीतां शीलेन, कांत्या शिशिरकरतनुं, क्षांतितो भूतधात्रीं
सौभाग्याद्या विजिग्ये गिरिपतितनयां, रूपतः कामपत्नीं ॥१११॥
बक्षोजौ कठिनौ, न वाग्विरचना, मंदा गतिर्नोमति,
वंक्रं भ्रूयुगलं मनो न जठरं, क्षामं नितंबो न च ।
युग्मं लोचनयोश्चलं, न चरितं, कृष्णा कचा, नो गुणा,
नीचं नाभिसरोवरं, न रमणं, यस्या मनोज्ञाकृतेः ॥११२॥
स्त्रीतः सर्वज्ञनाथः सुरनतचरणो जायतेऽबाधबोध-
स्तस्मात्तीर्थं श्रुताख्यं जनहितकथकं मोक्षमार्गावबोधः ।
तस्मात्तस्माद्विनाशो भवदुरिततते: सौख्यमस्माद्विबाधं
बुध्वैनं स्त्रीं पवित्रां शिवसुखकारिणीं सज्जनः स्वीकरोति ॥११३॥

महापुरुषोंकी जननी—वंदनीय जो सर्वज्ञ देव हुए हैं वे भी आखिर स्त्रियोंसे ही तो उत्पन्न हुए । जो सर्वज्ञदेव सच्चे शास्त्रोंका उपदेश देते हैं, जिन सच्चे शास्त्रोंसे मोक्षमार्गका ज्ञान होता है, मोक्षमार्गके ज्ञानसे संसारका नाश होता है अर्थात् संसारसे छुटकारा होता है । संसारसे छुटकारा मिलनेपर बाधारहित नित्य आत्मीय अनन्त मोक्षका आनन्द मिलता है । तो ऐसे सर्वोपकारी सर्वज्ञदेव भी स्त्री जनोंसे उत्पन्न हुए हैं वे स्त्री जन भाग्यवान हैं । जिस स्त्रीकी बाहें पुष्पमालासे भी अधिक कोमल हैं, जो निर्मलतामें आकाशको भी मात करती है, जिसका गमन हंसके गमनसे भी मंद मंद होता, जिसके वचनमाधुर्यमें कोकिलसे भी मीठे हैं । जो नेत्रोंकी चंचलतासे हिरणीको भी जीत लेती है, जो शील द्वारा सीताको होड़ करती है, जिसकी कांतिसे चंद्रमाकी भी कांति फीकी पड़ जाती है, जिसमें क्षमा पृथ्वीसे भी अधिक होती है, ऐसी स्त्रीको लोग परम्परासे मोक्षका कारण जानकर, पवित्र जानकर हर्षके साथ स्वीकार करते हैं यहाँ जो परम्परासे मोक्षका कारण यह शब्द कहा है, उसका भाव यह है कि ऐसी स्त्रियाँ आहारदान आदिकमें सहयोग देती हैं । गृहस्थधर्मके पालनेमें उन्हें उत्साह होता है । इस कारणसे उनके संगसे भावोंमें शुभ अशुभकी बात विशेष बनती है, इस कारण कहा है । जिन स्त्रियोंका सौभाग्य पार्वतीके सौभाग्यसे भी बढ़ा-चढ़ा है । जो रूप द्वारा रतिके रूपको जीतती है, जिसके सिर्फ कुच ही कठिन हैं, वचन कठिन नहीं हैं, जिनकी गति ही मंद है, बुद्धि मंद नहीं है, भौंहें ही टेढ़ी हैं, मन टेढ़ा नहीं है । उदर ही कृष है, विचार कृष नहीं हैं । नेत्र ही चंचल हैं, चरित्र चंचल नहीं है । केश ही काले हैं, गुण काले

नहीं हैं अर्थात् दोषवान नहीं है। नाभि ही निम्न है, पर जिसके कार्य निम्न नहीं, ऊँचे हैं, स्त्री स्त्रीको पवित्र जन, सज्जन पुरुष हर्षके साथ स्वीकार करते हैं। यहाँ यह प्रशंसा करके यह बात दिखाई जायगी कि ऐसे स्त्री जनोंको भी जो त्याग देते हैं वे पुरुष बड़े विजयी पुरुष हैं।

भृत्यो मंत्री विपत्तौ भवति रतिविधौ याऽत्र वेश्या विदग्धा,
लज्जा लुर्या विगीता गुरुजनविनता गेहिनी गेहकृत्ये।
भक्त्या पत्यौ सखी या स्वजनपरिजने धर्मकर्मैकदक्षा
साल्पक्रोधाल्पपुण्यैः सकलगुणनिधिः प्राप्यते स्त्री न मर्त्यैः ॥११४॥

नारीका चातुर्य—जो स्त्री विपत्तिमें चतुर स्त्रीका काम करती है याने विपत्तिके समय सही मंत्रणा देकर विपत्तियोंसे बचानेका प्रयत्न कराती है। जो स्त्री रतिके समय वेश्या से भी अधिक चतुराई दिखाती है। जो स्त्री पति द्वारा निन्दित होकर लज्जासे नीचा मुख कर लेती है, जो स्त्री गुरुजनोंके प्रति विनय करती है, ज्येष्ठ सास ससुर आदिक बड़े पुरुषोंका विनय रखती है, घरके काम-काज करनेमें चतुर होती है, जो स्त्री भक्तिसे मित्रके समान पति का काम करती है, जो धर्मकर्म करनेमें चतुर है, अतएव किसी-किसी प्रसंगमें कार्यसिद्धिके लिए स्वजन और परिजनोंमें अल्प क्रोध दिखाती है वह स्त्री समस्त गुणोंकी खान है। वह अल्प पुण्य वाले मनुष्योंके भाग्यमें नहीं होती। दुनियामें देखा जा रहा है कि सभी पुरुषोंके स्त्री है, पर अक्सर किसीकी स्त्री कटुस्वभाव वाली है, जिससे मन न मिले, जिद्दी टाइपकी है, अनेक प्रकारकी बातें हैं, पर कोई स्त्री हर प्रकारसे घरके कामोंमें मददगार सबको संतुष्ट रखने वाली नाना गुणोंकी खान होती। वे स्त्रियाँ अल्प पुण्य वाले मनुष्योंके भाग्यमें नहीं हैं, जिन्होंने पूर्व जन्ममें महान् पुण्य किया, उनको ही ऐसी स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं। यहाँ यह विशेष जानना कि महापुरुष ऐसी विशिष्ट स्त्रियोंको भी त्यागकर केवल अपने आत्मामें रमण करते हैं। उन पुरुषोंका कितना ऊँचा ज्ञान और वैराग्य होता है।

कृत्याकृत्ये न वेत्ति त्यजति गुरुवचो नीचवाक्यं करोति,
लज्जालुत्वं जहाति व्यसनमतिमहद्गाहते निन्दनीयं।
यस्यां शक्तो मनुष्यो निखिलगुणरिपुर्मानहीनोऽपि लोके,
सानर्थानां निधानं वितरतु युवतिः किं सुखं देहभाजाम् ॥११५॥

स्त्रीसंगसे पुरुषोंके विवेकका ह्रास—ऊपरके कुछ श्लोकोंमें स्त्रियोंके गुण बताये गए, अब जो मनुष्य स्त्रीजनोंमें आसक्त रहते हैं वे करने योग्य और न करने योग्य अर्थात् अच्छे और बुरे कामको नहीं विचारते। वे मनुष्य गुरुवचनोंका पालन नहीं करते, उनकी उपेक्षा

करते हैं, वे पुरुष नीच पुरुषोंके बहकायेके अनुसार चलते हैं। कामासक्त पुरुष लज्जा गुणको छोड़ देते हैं अर्थात् बेशर्म होकर अटपट प्रवृत्ति करने लगते हैं। कामासक्त पुरुष निन्दनीय व्यसनोंमें फंस जाते हैं। चाहे वे कितना भी मान्य हों, पर उनके समस्त गुण भस्म हो जाते हैं। तो यों यह स्त्री कितने ही गुणोंकी खान हो तो भी पुरुष आत्माके लिए किसी भी प्रकार हितकारी नहीं है। ऐसे महान् अनर्थकी खान स्त्री संसारमें अच्छे मनुष्योंको कैसे सुख दे सकती है ? तब विचारशील पुरुषोंका कर्तव्य यही है कि वे कामविषयक भावोंको मूलसे नष्ट करके स्त्री संसर्गको तज दें, और स्त्रीविषयक मनमें रंच भी भावना, आशा, प्रतीक्षा मत रखें। आत्मानुभवके लिए ही अपना जीवन समझें।

शश्वन्मायां करोति स्थिरयति न मनो मन्यते नोपकारं,
या वाक्यं वक्त्यसत्यं मलिनयति कुलं, कीर्तिवल्लीं लुनाति।
सर्वारम्भैकहेतुर्विरतिसुखरतिध्वंसिनी निंदनीया,
तां धर्मारामभंक्त्रीं भजति न मनुजो मानिनीं मान्यबुद्धिः ॥११६॥

स्त्रियोंकी प्रकृतिका वर्णन—स्त्रियां प्रकृत्या ही सदा माया करती हैं। वह भव ही ऐसा है कि जो मायाचारके फलमें प्राप्त हुआ है। स्त्रियोंका मन कभी स्थिर नहीं होता, चंचलता उनकी प्रकृतिकी देन है। स्त्रीजन उपकारियोंका भी उपकार नहीं मानतीं अर्थात् अपना दाव पड़नेपर सबका ही अपकार कर बैठती हैं, स्त्रीजन झूठ बोलनेमें बड़ी चतुर होती हैं। कितनी जल्दी किस बातको बदल दें, किस तरहसे पेश कर दे, यह उनकी प्राकृतिक देन है। स्त्री जन अपने चारित्रसे कुलमें भी धब्बा लगा बैठती है। स्त्रीजन कीर्तिरूपी लताको काट डालती हैं अर्थात् अपनी कीर्ति कायम बनाये रखें, ऐसी उनकी आदत नहीं होती। कीर्ति रहे या कुलमें धब्बा रहे जो उनके मनमें आता है उस कषायके अनुसार अपनी चेष्टा करती हैं। ऐसी इन स्त्रियोंके कारण मनुष्योंको बड़े आरम्भ और परिग्रहोंमें फंसना पड़ता है। आत्मार्थीका तो कर्तव्य यह है कि अपने एकत्वगत आत्मस्वरूपका ध्यान रखें, उसकी ही उपासनामें रहे, अन्य समागम न चाहें, फिर स्त्री समागम तो एक विडम्बनाका कारण होता है। स्त्रीकी संगति रखने वाले पुरुष वैराग्यजन्य सुखसे हाथ धो बैठते हैं। अतएव जो विचारशील पुरुष हैं वे धर्मके मूलको काटने वाली स्त्री जनोंका सेवन नहीं करते और उनसे दूर ही रहा करते हैं।

या विश्वासं नराणां जनयति शतधालीकजल्पप्रपञ्चै-
र्न प्रत्येति स्वयं तु व्यपहरति गुणानेकदोषेण सर्वान्।

कृत्वा दोषं विचित्रं रचयति निकृतिं यात्मकृत्यैकनिष्ठा,
तां दोषाणां धरित्रीं रमयति रमणीं मानवो नो वरिष्ठः ॥११७॥

स्त्रियोंका अन्तःकरण—जो स्त्रियाँ मनुष्योंसे सैंकड़ों बातें कहकर अपना विश्वास उत्पन्न करा देती हैं, पर स्वयं किसीका विश्वास नहीं करतीं। जो जीव स्वयं अविश्वसनीय हैं, विश्वासघात किया करते हैं उनको दूसरोंपर विश्वास नहीं हो पाता। स्त्रीजनोंमें ऐसी कला है कि कई प्रकारके वचनालाप द्वारा दूसरोंका विश्वास करा दें, पर स्वयं दूसरोंका वश्वास नहीं करतीं। ये स्त्रीजन एक दोषसे ही दूसरे समस्त गुणोंपर पानी फेर देती हैं अर्थात् एक दोष ही कोई व्यक्त कर दें तो बाकी गुणोंपर फिर कोई प्रकाश नहीं रहता। स्त्री जन नाना प्रकारके विचित्र ढोंग रचकर लोगोंकी दृष्टिमें निर्दोष बनी रहती है। चाहे हों स्वयं सदोष और कितने ही भीतर दोष बसे हों, उनको वे ही जानें, लेकिन अपनी वचनकलासे, अन्य कलावोंसे ढोंग रचकर लोगोंकी दृष्टिमें अपनेको ऐसा सिद्ध कर देती है कि मानो वे अत्यन्त निष्कलंक हैं। जो स्त्रीजन अपना ही अपना स्वार्थ साधती रहती हैं सो ऐसे स्त्री जनोंको श्रेष्ठ पुरुष, विवेकी जन कभी स्वीकार नहीं करते।

उद्यज्ज्वालावलीभिर्भवरमिह भुवनप्लोषके हव्यवाहे,
रंगद्वीचौ प्रविष्टं 'जलनिधिपयसि ग्राहन क्राकुले वा।
संग्रामे वारिरौद्रे विविध शरयुतानेकयोधप्रधाने
नो नारीसौख्यमध्ये भवशतजनितानंतदुःखप्रवीणे ॥११८॥

स्त्रीसुखकी कष्टकारिता—इस छंदमें बतला रहे हैं कि स्त्रियोंके सुखमें पड़कर जीवों को सैंकड़ों और हजारों भवोंमें दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है। चाहे तीनों लोकको जला देनेमें समर्थ अग्निकी तेज ज्वालामें जल-भुनकर खाक हो जाय तो भी स्त्रीसुखमें पड़नेकी अपेक्षा अच्छा है। पर स्त्रीसुखमें पड़कर बेसुध हो जाना यह भला नहीं है, क्योंकि इससे सैंकड़ों और हजारों भवोंमें दुःख उठाना पड़ता है। अग्निमें जलकर तो एक बार ही खाक हुआ, पर स्त्रीसुखमें आसक्त होकर यह भव-भवमें दुःखी रहेगा। चाहे कोई लहर और मगर-मच्छोंसे व्याप्त समुद्रके जलमें गिर जाय तो वह अच्छा है, स्त्रीसुखमें पड़नेकी अपेक्षा अच्छा है, पर स्त्रीसुखमें पड़कर तो यह हजारों भवोंमें दुःख भोगेगा। किसी जल जंतु व्याप्त लहरों से परिपूर्ण समुद्रमें गिरनेसे एक ही भवमें मरता है, पर स्त्रीप्रसंगसे भव-भवमें जन्म मरण करना पड़ता है। कोई पुरुष नाना शस्त्रोंके धारक योद्धावोंके युद्धमें उन बैरियोंके बाणोंसे प्राण दे दे तो भी उसका परस्त्रीके सुखमें पड़कर बेसुध करना और भव-भवमें दुःख पाना भला नहीं है, सांसारिक अनेक दुःखोंका घर है यह स्त्रीसुखमें पड़ना, इससे आत्मा अपने स्व-

रूपकी सुध खो बैठता है और भव-भवमें जन्म मरण आदिकके दुःख भोगता है।

विद्युद्द्योतेन रूपं रजनिषु तिमिरे वीक्षितुं शक्यते यैः,
पारं गंतुं भुजाभ्यां विविधजलचरक्षोभिणां वारिधीनां।
ज्ञातुं पारोऽमितनां विदति विचरतां ज्योतिषां मंडलएव,
नो चित्तं कामिनीनामिति कृतमतयो दूरतस्तास्त्यजंति ॥११९॥

स्त्रियोंके चंचल मनके पारकी अशक्यता——लोग बड़ी विकट अंधेरी रातमें बिजलीके सहारे रूप देख सकते हैं। लोग नाना प्रकारके जलचरोंसे व्याप्त समुद्रको भुजाओंसे तैरकर पार कर सकते हैं और अनेक लोग अनगिनत आकाशके तारोंको भी किसी न किसी प्रकार गिन सकते हैं, परन्तु स्त्रीके चंचल मनकी बातका पार ये कोई पुरुष पा नहीं सकते। जिसके मनका कुछ पता ही न पड़े उसकी संगति इस जीवको बहुत कष्टप्रद है। सो बुद्धिमान् पुरुष स्त्रीसंगतिसे दूर ही रहा करते हैं। इस छंदमें यह बताया गया है कि जो अन्यसे असम्भव बात हो वह चाहे सम्भव हो जाय, परन्तु स्त्रीके मनमें क्या बात है इसका पता पाड़नेमें कोई समर्थ नहीं हो सकता। फिर यह संसार है। यहाँ सब जीव अकेले-अकेले ही जन्म मरण किया करते हैं। कोई किसीका साथी नहीं है। किसी अन्यके संगसे इस जीवका क्या लाभ है और फिर मायारूप मन वाली स्त्रीकी संगतिसे तो लाभ कुछ है ही नहीं।

काऽत्र श्रीः श्रोणिबिम्बे स्रवदुदरपुरे वाऽस्ति खद्वार वाच्ये,
लक्ष्मीः का कामिनीनां कुचकलशयुगे मांसपिण्डस्वरूपे।
का कान्तिर्नेत्रयुग्मे कलुषजलजुषि श्लेष्मरक्तादिपूर्णे,
का शोभा वक्त्रगर्ते निगत यदहो मोहिनस्ता। स्तुवन्ति ॥१२०॥

कामिनीकामनाप्रेमी कवियोंकी कलम——अहो संसारमें अज्ञानकी बड़ी अधिक प्रबलता है, लोग अज्ञानके वश होकर स्त्रियोंके शोभाविहीन श्रोणिबिम्ब कुचयुगल, नेत्रयुगल और मुख कमलकी कितनी बड़ी-बड़ी प्रशंसायें कर डालते हैं जिससे बड़ी-बड़ी पुस्तकें कवियोंने भर डाली है, पर वास्तवमें देखा जाय तो वे कविजन, वे प्रशंसक पुरुष बिल्कुल घृणाके पात्र हैं। अब सारा लोक ही इस कामवासनाकी व्यथासे पीड़ित है सो स्त्रियोंके अङ्गोंकी प्रशंसा करने वाले कवि जनोंकी वे कदर करते हैं। बड़े-बड़े कविसम्मेलन कराकर बड़ा खर्च करते हैं, खूब राग रागनीके शब्द सुनते हैं, पर वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो स्त्रियोंके अङ्गोंकी प्रशंसा करने वाले कविजन जनताके मित्र नहीं हैं, बल्कि शत्रु हैं। जनताको अहितके मार्गमें लगाने वाले हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि कहाँ तो वह श्रोणि (योनि स्थान) रज और मूत्र को बहाने वाला एक बाहरी इन्द्रियद्वार है और कहाँ ये कुच जिनको उपमा कविजन कलशसे

देते हैं वे मांसके लोदे हैं। नेत्र भी मलिन जलसे भरे हैं और मुख कफ, रक्त आदिक अपवित्र पदार्थोंका घर है। देखिये—कुछ समझदार कवि नाम धरा लेने वाले पुरुष भी इस अज्ञान और मोहके विकट चक्करमें आ जाते हैं।

वक्त्रं लालाद्यवद्यं सकलशशिभृता स्वर्णकुम्भद्वयेन,
मांसग्रन्थी स्तनौ च प्रगलदुरुमला स्यंदनांगेन योनिः।
निर्गच्छद्दूषिगस्त्रं यदुपमितमहो पद्मपत्रेण नेत्रं,
तच्चित्रं नात्र किंचिद्यदपगतमतिर्जायते कामिलोकः ॥१२१॥

कामी पुरुषोंके विडम्बित वचन—संसारमें कामी पुरुषोंकी भी बड़ी विचित्र विडम्बनायें हैं। उनकी महिमा अपरम्पार है, देखिये उन्होंने जो स्त्रीमुख लार, थूक आदिक अपवित्र वस्तुवोंका घर है उस मुखको पूर्णमासीके चन्द्रमासे उपमा दी जाती है। तो देखिये उन कामी पुरुषोंका कैसा चित्त लुट गया है कि वे भी निर्धन होकर यथा तथा बकवाद करते हैं। इन कवि जनोंने मांसके पिण्ड स्तनोंको बहुमूल्य स्वर्णकलशके समान माना है यह उन कामी कवियोंकी बुद्धिकी कैसी विडम्बना है? जो सदा रक्तादिक मलोंको चुवाती रहती है ऐसी योनि को चक्र तुल्य बताया है। कैसा बेतुका मेलकी बात ये कामी कविजन करते हैं, इनकी भी विडम्बना वचनोंके अगोचर है। ये नेत्र जो कीचड़ आदिक दुर्गन्धित पदार्थोंको बहाने वाले हैं उन नेत्रोंको कमलसे भी अधिक सुन्दर बना दिया गया है। तो संसारमें कामी लोग भी अति अधिक विडम्बनामें फंसे हुए हैं।

यत्त्वग्मांसास्थिमज्जाक्षतजरसवसाशुक्रधातुप्रवृद्धे,
विष्ठामूत्रासृगश्रुप्रभृतिमलनवस्रोतमत्र त्रिदोषे।
वर्चः सद्मोपमाने कृमिकुलनिलयेऽत्यंतबीभत्सरूपे,
रज्यन्नंगे वधूनां व्रजति गतमतिः श्वभ्रगर्भे कृमित्वं ॥१२२॥

स्त्रीमें आसक्तिका दुष्परिणाम—स्त्रियोंमें रमण करनेका अंग कितना अपवित्र वस्तुवोंसे भरा हुआ है यह बात लोकप्रसिद्ध है। चमड़ी, मांस, हड्डी, मज्जा, रक्त, सवसा और शुक्र इन ७ धातुवोंका बना है और इतना ही नहीं, विष्टा, मूत्र, रक्त, अश्रु आदिक ९ मलोंके बहाने वाला नाला है, और इतना ही नहीं, किन्तु वात्त, पित्त, कफ आदिक तीन दोषोंसे सहित है तथा विष्टा और कीड़ोंका घर है। ऐसे अपवित्र देहमें यह मूढ़ मनुष्य क्रीड़ा करता है। कैसा महान् वीभत्स अंगोंमें यह अज्ञानी, कामी पुरुष रमण करते हुए व रमणके बाद अपनेको धन्य समझते हैं। तो ऐसे पुरुष जो स्त्रीदेहमें आसक्त हैं और उस ही में रमण कर अपनेको धन्य समझते हैं वे नरकमें पड़े हुए कीड़ेके समान गिने जाते हैं अथवा सुनिश्चित ही

है कि ऐसे अज्ञानी लोग जो स्त्रियोंके अंगोंमें आसक्त हैं वे पुरुष नरकोंमें ही जायेंगे और वहाँ कीड़ोंकी तरह नाना प्रकारके दुःख भोगेंगे। जो विवेकी पुरुष हैं वे स्त्रीसंसर्गसे दूर रहकर अपने स्वरूपकी आराधना करके इस दुर्लभ जीवन और शासन समागमको सफल किया करते हैं।

छायावद्या न त्याज्याचिररुचिचपला खड्गधारेव तीक्ष्णा,
बुद्धिर्वा लुब्धकस्य प्रतिहतकरुणा व्याधिवन्नित्यदुःखा।
वक्रा व सर्परीतिः कुनृपगतिरिवावद्यकृत्यप्रचाराः,
चित्रा वा शक्रचापं भवयकिचबुधैः सेव्यते स्त्री कथं सा ॥१२३॥

स्त्रियोंकी असेव्यता—जो स्त्री छायाके समान पीछे-पीछे चलती है, जो बिजलीके समान चंचल होती है, तलवारकी धारके समान तीक्ष्ण होती है और कसाईकी बुद्धिके समान निर्दयी रहती है, वह रोगकी नाईं सर्वदा दुःख ही दुःख देती है, साँपकी गतिके समान टेढ़ी रहती है, खोटे राजाकी तरह सदा पापका ही प्रचार करती है एवं इन्द्रधनुषकी तरह विचित्र रहती है। ऐसी स्त्रीको संसारसे भीत ज्ञानी पुरुष कैसे सेवन कर सकते हैं? जो संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त है उन पुरुषोंका कर्तव्य है कि चंचल चित्त वाली स्त्रीका सेवन न करें अथवा स्त्रीविषयक कामभावके कारण संसारका बंधन ही बढ़ता है, आत्माका उसमें कोई हित नहीं है। स्त्रीसम्बंध परदयारहित हो जाता है। दूसरेकी हिंसा कराने तकमें कसर नहीं छोड़ता। उसका प्रसंग ही यदि वह खुश है तो दुःखमें समय व्यतीत होता है और यदि वह रुष्ट है तो भी दुःखमें व्यतीत होता है। जिसका मन कुटिल है, जिसका कोई पार नहीं पा सकता, ऐसा पापका प्रचार करने वाली स्त्रीको कोई भी बुद्धिमान सेवन नहीं कर सकता। जिसको आत्मकल्याणकी भावना है वह स्त्री संसर्गसे दूर रहकर आत्मस्वभावकी आराधना करे।

संज्ञातोऽपीद्रजालं यदुत युवतयो मोहयित्वा मनुष्या-
न्नानाशास्त्रेषु दक्षानपि गुणकलितं दर्शयंत्यात्मरूपं।
शुक्रासृग्यातनाक्तं ततकुथितमलैः प्रक्षरत्स्रोतगर्तैः,
सर्वैरुच्चारपुंजं कुथित भृतपटं छिद्रितं यद्वदश्च ॥१२४॥

स्त्रियोंकी इन्द्रजालोपमता—स्त्रियाँ मनुष्योंका मन लुभानेमें इन्द्रजालसे भी बढ़कर काम किया करती हैं। इन्द्रजाल तो सामान्य बड़े लाखों लोगोंमें ही अथवा मूर्ख जनोंमें ही मोहबुद्धिको बना देता है, परन्तु ये स्त्रियाँ तो बड़े-बड़े शास्त्रोंके जानकार मनुष्योंको भी बातों में ही अपने मोहमें फंसा लेती हैं और इतना तक फंसा लेती हैं कि अत्यन्त निन्दनीय अपने

शरीरको गुणोंसे भरपूर दिखा दिया करती हैं।

या सर्वोच्छिष्टवक्त्रा हितजनभुषणासद्गुणास्पर्शनीया,
पूर्वाधर्मात्प्रजाता सततमलभृता निंद्यकृत्यप्रवृत्ता ।
दानस्नेहा शुनीव भ्रमणकृतरतिश्चाटुकर्मप्रवीणा,
योषा सा साधुलोकैरवगतजननैर्दूरतो वर्जनीया ॥१२५॥

साधुवों द्वारा स्त्रियोंकी त्याज्यता—जिसका मुख सर्व लोकके उच्छिष्टसे जूठा रहता है, जो हितू जनोंसे बैर किया करती है, जो दुर्गन्धसे परिपूर्ण होनेके कारण स्पर्श करने योग्य नहीं है, जो पूर्वजन्ममें किए गए पापके उदयमें ही उत्पन्न होती है, रक्तादिक मलोंसे मलिन होती हैं, सदैव निन्द्य कार्य करती है, कुत्तीके समान जिसका दान देने वालेमें ही स्नेह रहा करता है, सदा इधर-उधर डोलनेकी आदत हुआ करती है। मिन्नत खुशामद करनेमें जो बड़ी कुशल होती है ऐसी स्त्रियाँ साधु लोगों द्वारा दूरसे ही त्याग देने योग्य है। इन स्त्रियों का हितूजनोंसे स्नेह नहीं रहता, बल्कि जो शिक्षा दें उनसे बैर बढ़ जाता है। तो विद्वान् पुरुषोंको चाहिये कि वे स्त्रीसंसर्ग तजकर अपने आत्मानुभवमें ही रमण करनेका पौरुष करें।

दुःखानां या निधानं भवनमविनयस्यार्गला स्वर्गपुर्याः,
श्वभ्रावासस्य वर्त्म प्रकृतिरयशसः साहसानां निवासः ।
धर्मारामस्य शस्त्री गुणकमलहिमं मूलमेनोद्रुमस्य,
मायावल्लीधरित्री कथमिह वनिता सेव्यते सा विदग्धैः ॥१२६॥

प्रज्ञों द्वारा स्त्रियोंके सेवनपर आश्चर्य—जो स्त्रियाँ दुःखकी खान हैं, जिनका संग करनेसे पुरुष दुःख ही प्राप्त किया करते हैं। जो स्त्रियाँ अविनयका घर हैं, किसी भी वचनों द्वारा दूसरोंका अपमान करनेमें कुशल हैं। जो स्वर्गपुरी जानेमें भी बाधक होती हैं, जो नरक के सीधे रास्तारूप हैं, जो अपयशकी जड़ हैं, ऐसी स्त्रियोंका सहवास करनेसे उल्टा लोकमें अपवाद फैलता है, चाहे कोई किसी भी बर्तावसे रहे। तो जो बदनामीकी जड़ है, जो साहसों का अड्डा है, स्त्री जन साहस करनेमें बड़ी समर्थ होती हैं, उनका साहस होता है खोटे कामों की ओर। धर्मरूपी बगीचेके लिए जो बुरी है अर्थात् धर्मका मूल काट देने वाली है। गुणरूपी कमलोंके लिए बर्फकी तरह है। जैसे बर्फके गिरनेसे कमलोंका वन जल जाता है, इसी तरह सर्व गुण इस स्त्रीसंसर्गसे जल जाते हैं, जो पापरूपी वृक्षकी जड़ है, मायाकी बेल है, ऐसी स्त्रियोंका विद्वान् पुरुष कैसे सेवन कर सकते हैं? यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है।

श्रोणीसद्मप्रपन्नैः कृमिभिरतिशयार्रुतुदैस्तुद्यमाना,
यत्पीडातोऽतिदीना विदधति चलनं लोचनानां रमण्यः ।

तन्मन्यंतेऽतिमोहादुपहतमनसः सद्विलासं मनुष्या,
इत्येतत्तथ्यमुच्चैरमितगतियतिप्रोक्तमाराधनातः ॥१२७॥

स्त्रियोंकी अन्तर्वेदनाकी प्रतिक्रियायें कामियों द्वारा सौन्दर्यका दर्शन—इस ग्रन्थके करने वाले आचार्य अमितगति यहाँ अपना सिद्धान्त जाहिर करते हैं अर्थात् अपना मत बताते हैं कि स्त्रियोंकी योनियोंमें जो विषैले कीड़े होते हैं उनके काटनेसे स्त्रियोंको एक विलक्षण रतिकी पीड़ा होती है जिसके कारण उस पीड़ाको न सह सकनेसे स्त्रियाँ अपने नेत्रोंको घुमाती हैं, मीचती हैं या इधर-उधर चढ़ाती हैं, पर मोहके फंदेमें पड़ा हुआ यह मनुष्य ऐसा मूढ़ है कि वह स्त्रियोंका इसमें विलास और कटाक्ष समझता है। इस छंदमें यह बताया गया है कि उनकी जो चेष्टा है सो उनकी वेदनासे होती है। योनिमें रहने वाले विषैले कीड़ोंकी रतिसे पीड़ा बनती है। उस पीड़ाको न सह सकनेसे उनके नेत्र चंचल हुआ करते हैं, पर मोही लोग क्या समझते हैं कि यह कोई शोभाकी बात है अथवा यह कटाक्ष है, इस प्रकार इस नामसे पुकारते हैं। सो स्त्रियोंके शरीरको अशुचि निरखकर, स्त्रियोंके शरीरकी चेष्टावोंको वेदना-जन्य निरखकर उनमें मोहित न होना चाहिये।

॥ इति सुभाषित रत्नसंदोह प्रवचन प्रथम भाग समाप्त ॥

सुभाषित रत्नसंदोह प्रवचन

द्वितीय भाग

७—सदसत्स्वरूपनिरूपण

दुरंतमिथ्यात्वतमोदिवाकरा विलोकिताशेषपदार्थविस्तराः ।
उशंति मिथ्यात्वतमो जिनेश्वरा यथार्थतत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणं ॥१२८॥

मिथ्यात्वमें अलक्षित तत्त्वका मौलिक रूप—यहाँ अमितगति आचार्य कहते हैं कि यह जीव जिस भावके वश संसारमें अब तक जन्म मरण करता चला आया है वह मिथ्या-स्वभाव क्या है ? तत्त्वोंकी वास्तविक प्रतीति न होना मिथ्यात्व है । धातुकी ओरसे मिथ्याका अर्थ उल्टा या विपरीत नही है, खोटा भी नहीं है, किन्तु उसका अर्थ है मिलावट होना । 'मिथ्संश्लेषणे' इस धातुसे मैथुन शब्द बना, जिसका अर्थ है मिलकर एक मानना, मिला देना, मिलावट । जैसे देहको आत्मा माना तो देहको लक्ष्य किया और आतमारूपसे इसका भान किया, यह मिलना हुआ । जो तत्त्व जिस प्रकार है उस प्रकारसे न मानकर अन्यके मेलरूपसे मानना यह मिथ्या शब्दका शब्दार्थ है और फलितार्थ यही है—विपरीत, उल्टा और खोटा, तत्त्व किस प्रकारसे है इसका निर्णय स्वभावदृष्टिसे चलेगा । कोई पदार्थ स्वयं किस रूप है उसे कहते हैं भूतार्थ । भूतार्थका अर्थ है—स्वयं सहज जिस रूप हो उसे कहते हैं भूतार्थ । भू धातुका अर्थ लोग होना कहते हैं । वह होता है, सः भवति, किन्तु भू धातुका वास्तविक अर्थ क्या है ? भू सत्तायां, सही अर्थ लगाया, तो सः भवति का अर्थ हुआ, वह है, और लोग अस्तिका अर्थ क्या कहते हैं ? सः अस्ति, वह है और अस्ति शब्द बना है अस् धातुसे । और अस् धातुका अर्थ है अस्भुवि, होना अर्थ है । तो कैसा इन धातुवोंका आदान-प्रदान है, भू सत्तायां और अस्भुवि जिसका अर्थ यहीं यह निकल आता व्याकरण विधिमें कि होना है बिना नहीं और है होना बिना नहीं, भू धातुने अस्के हृदयको मंजूर किया और अस् धातुने भू हृदयको मंजूर किया । होना किसे कहते हैं ? है को कहते हैं । और है किसे कहते ? होने को कहते हैं । तो है और होनाका कैसा अविनाभावी सम्बंध है । यह एक व्याकरणकी मुद्रा ही बताती है, जिसका विस्तार करके चलें तो उत्पाद व्यय देख रहा है ध्रौव्यको, ध्रौव्य देख

रहा है उत्पादव्ययको। उत्पादव्यय होते रहनेके बिना ध्रौव्य नहीं, ध्रौव्य रहे बिना उत्पाद व्यय नहीं।

आत्माके भूतार्थ तथ्यकी महिमा—पदार्थ स्वयं अपने आपमें किस स्वरूप है ? सो तो है अनिर्वचनीय। कई बातें ऐसी होती हैं कि देखने समझनेमें आ जायें, पर बोलनेमें न आ सकें। आप जब जा रहे हैं, यात्रा कर रहे हैं, कोई रेतीली नदी निकलती है तो आप देख डालते हैं सब रेतोंको, आपने सब दाने देख लिये, क्या है कितने दाने है, आप क्या बता सकते ? हाँ तो वस्तुका स्वयं सहज जो अस्तित्व है वह कहलाता है भूतार्थ। और जो स्वयं सहज अस्तित्वमें नहीं है वह कहलाता है अभूतार्थ। यहाँ अभूतार्थके मायने झूठा नहीं है। कोई अभूतार्थ झूठे भी होते, कोई अभूतार्थ सच भी होते। अभूतार्थका अर्थ झूठा नहीं, किन्तु स्वयं सहज जो न हो वह अभूतार्थ। जो स्वयं सहज है वह भूतार्थ। तो यह भूतार्थ शुद्धनय का विषय है, जिसका आश्रय लेनेसे सम्यक्त्व होता है। सम्यग्दर्शनका निमित्त क्या है ? ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षय और क्षयोपशम। तो क्या जो यह बताया गया है और कर्तव्यमार्ग के लिए उपदेश किया गया है जिनबिम्बदर्शन, समवशरणमें जाना आदिक, क्या ये सम्यक्त्व के निमित्त नहीं हैं ? हाँ सम्यक्त्वके निमित्त नहीं हैं। फिर इनका उपदेश क्यों किया गया गया है ? क्या ये कर्तव्य नहीं हैं ? हाँ कर्तव्य हैं। सम्यग्दर्शनसे पहले जो शुभोपयोग होता है उस शुभोपयोगके ये आश्रयभूत हैं। शुभोपयोगके निमित्त भी नहीं हैं, शुभोपयोगके निमित्त जो कर्मरूप हो वह है, कुछ क्षयोपशम कुछ उदय। जीवके भावोंके होनेमें कर्मदशाको छोड़कर अन्य कोई निमित्त नहीं हुआ करता। अन्य सब आश्रयभूत हैं। तो चूंकि शुभोपयोग हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं हुआ करता, अशुभोपयोगके बाद सम्यक्त्व नहीं होता। तो सम्यक्त्वसे पहले जो शुभोपयोग हुआ करते हैं उन शुभोपयोगके ये आश्रयभूत हैं, सो ये चलेंगे, पर सम्यक्त्व होता है तो एक भूतार्थके आश्रयसे ही, आत्माके सहज स्वभावके आश्रयसे ही और वहाँ निमित्त कारण होता है सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षय, क्षयोपशम।

निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे स्वभावदर्शनकी शिक्षा—निमित्तनैमित्तिक भाव के परिचयसे स्वभावदर्शनकी शिक्षा मिला करती है। पर जब लोग आश्रयभूतको निमित्त कहने लगे तब उनको समझानेके लिए निमित्तके थोड़े खंडनकी जरूरत पड़ गई। यदि इसको आश्रयभूत कहकर ही समझाया जाय तो वहाँ भी व्यवस्था सही रही और यहाँ भी व्यवस्था सही रही। तो ७ तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति न रहना मिथ्यात्व है, यह तो एक कार्य है, उसका उपादान यह आत्मा स्वयं है और निमित्त कारण मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय है और यहाँ

आश्रयभूत धन, घर, वैभव जिन जिनका आश्रय लेनेसे ये मिथ्यात्व व्यक्त होते हैं—कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु ये सब मिथ्यात्वके आश्रयभूत हैं। आत्माका परमार्थरूप क्या है ? जो निरपेक्ष हो, अपने आपके अस्तित्वसे ही हो वह स्वरूप चेतना चैतन्य। अब उस भूमिमें अन्य वैभव प्रतिबिम्बित हुए हैं जो मलिन बने हैं और भेदविज्ञान न होनेसे अज्ञानी बने हैं तो ये सब विकार हैं और विकारमें परसंग ही निमित्त होता है, स्वयं अपने आप निमित्त नहीं होता। यदि विकारका आत्मा स्वयं निमित्त रहे तब तो फिर विकार कभी मिट ही न सकेंगे। विकार को परभाव क्यों कहते ? परका निमित्त पाकर होने वाले विभाव परभाव कहलाते हैं। परभावका यों अर्थ करना कि परपदार्थमें उपयोग लगानेसे जो भाव बनता है उसे परभाव कहते हैं, यह अर्थ अव्यभिचारी नहीं है। सर्व विकारोंमे न घटेगा। आश्रयभूत पदार्थोंमें ही यह जीव उपयोग दे पाता है। कर्मदशारूप निमित्तमें कौन उपयोग देता है ? एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक जीव ये कर्मकी बात न सुनें, न जानें। कुछ ही मनुष्य आगमके सहारे, युक्तिके सहारे उसका निर्णय करते हैं। पर कर्ममें उपयोग दें तब विभाव बनें यह बात नहीं बनती, किन्तु वहाँ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि कर्मविपाक हुआ और अनिवारित प्रतिफलन हुआ, केवल एक छाया मायाकी मलिनता हुई। यदि आश्रयभूतमें उपयोग लगाया तो वह एकदम प्रकट हो गया, व्यवहारमें बन गया और यदि आश्रयभूतका उपयोग नहीं है, मंदिरमें, स्वानुभूतिमें, शास्त्रमें इनमें उपयोग है तो क्रोधादिक कषायोंके उदय तो निरन्तर चल रहे हैं, पर वे व्यक्त नहीं होते, वे अव्यक्त होकर ही निकलते हैं। तो मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर जीवमें होने वाले जो यथार्थकी अप्रतीतिरूप भाव है उसका नाम मिथ्यात्व है ऐसा जिनेन्द्रदेवने बताया।

हीनानुभागीय उदयमें प्रगतिका प्रारम्भ—जिन्होंने समस्त पदार्थोंको स्पष्ट रूपसे जाना उन्होंने भी किस प्रकार प्रगति की कि परमात्मपदको पाया ? जो भी सिद्ध हुए, अरहंत हुए वे जीव भी कभी निगोदमें ही थे, एकेन्द्रिय थे। साधारण वनस्पति थे। बडा कठिन है वहाँसे निकलना। इतना तो हम आप अपने लिए भला समझें कि निगोदसे निकल आये, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय आदिकसे निकल आये, संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य हुए हैं और हम नीचेकी गड़बड़ियोंके बारेमें चर्चामें ऐसी छान-बीन करें कि जिससे द्वेष भी बने तो उसकी क्या आवश्यकता है आज, और हम जिस स्थितिमें हैं उससे आगे किस तरह बढ़ें और अपना उद्धार करें, यह एक जानने भरकी बात है।

यदि मनमें शंका हो कि वे निगोद जीव कौनसे पुरुषार्थसे वहाँसे निकले हैं और

बन जाते सीधा निगोदसे निकलकर। वहाँ भी क्या काम बन जाता ? सो भाई व्यवस्था यों है कि आज जो कर्म उदयमें आ रहे हैं सो वे एक समयके बंधे हुये कर्म नहीं हैं। आजसे करोड़ों पहलेके भवोंके बाँधे हुए कर्म हैं और तबसे लेकर प्रतिसमयके बांधे कर्म हैं जो आज उदयमें हैं कर्म कहीं वह एक वक्तका बँधा हुआ नहीं है। वह अबसे पहलेके समस्त समयोंमें बँधे हुए कर्म उदयमें आये हैं। तो जब कर्मबन्ध होता है तो षड्गुण हानि वृद्धिके अनुसार नाना गुण हानिके अनुसार जितने समयके लिए कर्म बँधा है, आबाधाको छोड़कर सारे समयों में उदयमें आनेके लिए बँट जाते हैं। जैसे अबसे हजार वर्ष पहले कर्म बँधा और मानो १० हजार वर्षकी स्थितिके लिए बँधा तो तबसे थोड़े समय बादकी सारी स्थितियोंमें वे कर्म परमाणु बँट जाते हैं। जैसे एक खरब कर्म परमाणु एक समयमें बँधे तो उनके प्रत्येक समयमें विभाग हो जाते कि पहले समयमें हजार परमाणु उदयमें आयेंगे, उस एक समयके बँधेमें से दूसरे समयमें ९५०, तीसरे समयमें ९००, यों क्रमसे घट-घटकर १० हजार वर्षके अन्तमें मानो १० परमाणु उदयमें आये। यों कम-कम परमाणु उदयमें आते, मगर शक्ति कई-कई गुनी उनमें मिलती है, जहाँ हजार परमाणु उदयमें आये वहाँ शक्ति बहुत कम है। जहाँ १० परमाणु उदयमें आयेंगे उनमें अनुभाग बहुत तेज है। यह सब दृष्टान्त मात्र है, परमाणु तो अनन्त बँधते, विभक्त होते। हाँ तो जैसे कि एटममें बड़ी शक्ति है और मोटी चीजमें कम शक्ति है, तो प्रति समयके बँधे हैं और आज उदयमें हैं तो उनकी शक्तिका क्या अनुपात है ? बस वह अनुपात जब हीन आ जाता है तब उसे कहते हैं एक मौका। जैसे नदीका वेग कम हो गया सो चाहें तो वहाँसे पार हो जायें।

वर्तमान सत्समागमसे ऊँचा लाभ उठानेके लिये कर्तव्यकी दिशा — भैया, एक प्रकार से क्षयोपशम लब्धिमें एक वेग कम हुआ और वहाँ संक्लेश कम रहा, आयुबंधका सम्बन्ध हुआ, बात बन गई, मगर इन बातोंकी चर्चामें अपना क्यों समय खोना ? हम आप तो संज्ञी हैं, पंचेन्द्रिय हैं और ऊँची स्थितिमें हैं। यहाँ तो यह बात करनी चाहिये कि हम क्या पौरुष करें कि हम अपने शान्तिमार्गमें सतत प्रगतिशील रह सकें। तो हम आप लोगोंका मुख्य कर्तव्य तो एक लक्ष्यभूत यही है कि जो सहज आत्मस्वरूप है सहज ज्ञानदर्शन स्वभाव चेतना मात्र, प्रतिभासमात्र जिसमें इष्ट अनिष्ट भाव नहीं, रागद्वेष विकल्प नहीं। यद्यपि विकार हैं, पर समझ लेंगे कि वे नैमित्तिक हैं, वह छाया माया है कर्म अनुभागकी। उससे अछूता अपने को चैतन्यमात्र निरखे, यह दृष्टि बन सके और इस दृष्टिमें कुछ ठहरकर किसी समय सर्व विकल्प छूटकर ज्ञानज्योति मात्र ही ज्ञानमें रहे और वहाँ अलौकिक आनन्दका अनुभव हो तो वह स्थिति है हम आपके लिए प्रगतिकी। लेकिन ऐसी बात करते-करते भी नहीं बन पाती।

एक बार बनी हो तो मानो न जाने कहाँ वह सब भाग जाती हैं कि प्रयत्न करके भी नहीं बन पाती। तो सारा जीवन दिन-रात पड़े हैं और मन, वचन, काय ये ऊधम किए बिना रहते नहीं हैं, तो उस समय अपना क्या कर्तव्य है ? इसीका ही तो उत्तर है चरणानुयोग। उस विधिसे अपना जीवन रखें तो कुछ पात्र रहे आयेंगे कि हम आत्मस्वभावकी दृष्टिको प्राप्त कर लें। अन्यथा यह विनोदकी स्थिति बन जाती है, एक शौक हो जाता है, व्यसन हो जाता है अध्यात्मकी बातको एक अलौकिक शब्दोंमें कहनेका व्यसन पड़ जाता है, तब उसका असर नहीं रहता। जैसे किसी बर्तन बनानेके कारखानेमें टनटनकी खूब आवाज निरन्तर आती है, फिर भी उसके अन्दर खूंटी या किसी आलेमें रहने वाला कबूतर उड़कर भागता नहीं है, वहीं बैठा रहता है। अब कोई मानो उस कबूतरसे ही पूछे कि रे कबूतर तू इतनी तेज ठन-ठनमें भी उड़कर क्यों नहीं भाग जाता, तू तो जरासी आवाजमें उड़ने वाला पक्षी है। तो उसका यही उत्तर है कि क्या करें, ऐसी ठन-ठन तो रोज-रोज होती है और इसको सुननेकी मुझे खूब आदत बन गई है, इसलिए कोई भय नहीं होता।

ज्ञानमय पौरुषका निमित्त पाकर कर्मोंमें क्षीणता होना—अपने दिन-रातका जीवन यदि जिनेन्द्रदेवके द्वारा बताये गए एक आत्मनियंत्रणमें है, सदाचारमें है, प्रभुकी श्रद्धासहित प्रभुके बताये गए नियममें रहते हैं तो वहाँ यह एक पात्रता रहती है कि हम उस आत्मस्वभावको पुनः दर्शनमें ले सकें, और यदि चारित्र अपना सही न रखें और मन, वचन, काय को स्वच्छंद प्रवर्तते रहें और यही यही कषायकी बात गाते रहें तो वह निष्प्रभाव बन जाता है। इससे शेष समय किस रूपमें बिताना इसके लिए चरणानुयोगका हुक्म लीजिए और मूल लक्ष्य हमें क्या रखना इसके लिए द्रव्यानुयोगका हुक्म लीजिये और हम ठीक विधिसे चलते रहे, हमारा काम सही चलता रहे, ठीक रास्तेसे गाड़ी जा रही, इसकी परीक्षाके लिए करणानुयोगका बल लीजिए। कभी अपना उत्साह घटे तो प्रथमानुयोगकी कथाओंमें बड़े पुरुषों के कथानक सुनकर अपने दिलमें उमंग बढ़ाइये। तो यों जिस किसी भी प्रकार हो, चाहिये यह कि हम अपने आत्मस्वभावकी दृष्टिको बराबर बनाये रहें और इसके लिए आज इस स्थितिमें हैं हम आप कि एक बातसे बात न बनेगी। हमको सर्व प्रकारसे पौरुष करना होगा। तो जो प्रभु बने हैं उन्होंने क्या किया ? ऐसा चल-चलकर क्षयोपशम पा-पाकर विशुद्ध लब्धिमें आये, सत्संगमें आये, देशना पायी, तत्त्वचिन्तन किया। तो जैसे कहते हैं ना कि कर्मोदयका निमित्त होनेपर जीवमें रागद्वेषादिक विकार जगते हैं। तो यह भी बात है कि स्वाध्याय, सत्संग, तत्त्वचिन्तन, तत्त्वचर्चा, आत्माभिमुखताका प्रयास इन बातोंके होनेका निमित्त पाकर बँधे हुए कर्मोंमें शिथिलता आती है, निर्जरण होता है। जैसे—मिथ्यात्व गुण-

स्थानमें ही बताया गया है कि कैसे मिथ्यात्वप्रकृति अनन्तानुबंधी प्रकृति निर्बल होती, कैसे संक्रान्त होती है, कैसे क्षीण होती है फिर कभी उनका उपशम आदि होता है, तो सम्यग्दर्शन हो जाता है। तो निमित्तनैमित्तिककी बात दोनों ओरसे है।

सहजात्मस्वभावकी दृष्टि करना जीवनमें एक मात्र कर्तव्य—भैया, जब हम आपको एक विशेष प्रतिभा मिली है, चिन्तनशक्ति मिली है, स्वभावदृष्टि करनेका हम पौरुष कर पाते हैं, समझ बनाते हैं तो हमारे इन पौरुषोंका निमित्त पाकर उन सत् कर्मोंमें हानि होने लगती है। तो केवल एक ही काम अपनेको अपने स्वभावरूप प्रतीति रखनेका हमारा उद्यम रहे, बाकी जो व्यवहारधर्म हैं ये उपलक्ष्य हैं और आत्मस्वभाव दृष्टि यह लक्ष्य है। जैसे आपको कोई एक भवन बनवाना है तो यह तो आपका लक्ष्य हुआ, पर रोज-रोज अनेक उपलक्ष्य भी चलते—जैसे कहीं लोहा ला रहे, कहीं सीमेन्ट ला रहे, कहीं परमिट ला रहे, कहीं कारीगरों के पास जा रहे, कहीं मजदूरोंसे मिल रहे या कहीं मकानका नक्शा बनवाने जा रहे, कहीं रोड़ी वालेसे बात कर रहे, कहीं भट्टे वालेसे बात कर रहे, तो ये सब उपलक्ष्य कहलाये और लक्ष्य कहलाया सिर्फ एक—भवन बनवानेका। तो ऐसे ही व्यवहारधर्ममें किए जाने वाले सारे काम व्यवहार करनेके लिए नहीं हैं, आतमस्वभावकी दृष्टिके लिए हैं, पर उनके किए बिना भी काम न चलेगा। ये रोज-रोजके उपलक्ष्य भी रहेंगे और जिसके लिए किए गए हैं उसकी दृष्टि बिना वे सब जानरहित रहेंगे। सो जीवन बनायें अपना चारित्रपूर्ण गतिके साथ। जिसका जितनेमें सम्भव हो उस प्रकारके आचरणके साथ और दृष्टि रखें हम आत्मस्वभावकी, यह ही मात्र एक कर्तव्य है, दूसरा और कुछ काम है ही नहीं। जैसा हूं वैसा अपनेको मानकर अपनेमें मग्न होऊँ, आऊँ, उतरूँ, रम लूं निजमें। बाहरी भोगोंसे उपयोग हटाकर उपयोगको अपने आपमें लगाना है। अपने स्वरूपको निहारना है, उस ही में उतरना है और उस ही को निहारते रहना है, बस यही एक कार्य है जो अभी तक नहीं किया, जिससे संसार में रुलते आये।

विमूढतैकांतविनीतसंशयप्रतीपताग्राहनिसर्गभेदतः।
जिनैश्च मिथ्यात्वमनेकधोदितं भवार्णवभ्रांतिकरं शरीरिणां ॥१२९॥

पंच मिथ्यात्वोंमें अज्ञान व एकान्त मिथ्यात्वका निर्देश—जिस मिथ्यात्वके वश होकर यह जीव चतुर्गतिमें डोल रहा है वह मिथ्यात्व अनेक प्रकारका बताया गया। ५ भेदरूपमें मिथ्यात्व कहे गए हैं—(१) अज्ञानमिथ्यात्व, (२) एकान्तमिथ्यात्व, (३) विनयमिथ्यात्व, (४) संशयमिथ्यात्व और (५) विपरीतमिथ्यात्व। अज्ञान मिथ्यात्वमें कोई बोध नहीं। सभी अनन्तानन्त जीव अज्ञान मिथ्यात्वमें पड़े हैं। एकेन्द्रिय आदिक इन सभीके अज्ञानमिथ्यात्व

पाया जा रहा है। यद्यपि एकान्त विनय संशय वाला मिथ्यात्वप्रवृत्ति रूपसे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के ही हो सकेगा, ऐसा विदित होता है। तथापि उनकी योग्यता उनके आधारकी दृष्टिसे सभी मिथ्यादृष्टियोंमें ये पाये जाते हैं। अज्ञानमिथ्यात्व—हित अहितका ज्ञान न होना, आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, इन चार संज्ञावोंसे पीड़ित होकर अपने विषयोंकी ही वासनामें रहना, यह फल अज्ञानमिथ्यात्वमें चलता है। एकान्त मिथ्यात्व—एक ही धर्मका एकान्त कर लेना, ऐसी ही श्रद्धा बनाना एकान्तमिथ्यात्व है। द्वादशांगवाणीमें सबका वर्णन किया है। जितना भी एकान्तवाद है सब एकान्तवाद दृष्टिवाद अंगमें वर्णित है। जो यहाँ द्वादशांगमें न बताया हो वह किसीके भी आयगा कहाँसे ? पापको पाप बताया और पाप बताया द्वादशाङ्गमें, उसका अर्थ यह नहीं कि पाप कर्तव्य है। एकान्तवाद बताया द्वादशाङ्ग में उसका अर्थ यह नहीं कि यह श्रद्धातव्य है। वर्णन सबका पाया जायगा। अनन्त धर्मात्मक वस्तुमें किसी एक धर्मका आग्रह करना और अन्य धर्मोंका प्रतिषेध करना यह ही एकान्त मिथ्यात्व है।

स्याद्वाद और एकान्तवादका विश्लेषण—अनेकान्तका आधार है वस्तुका द्रव्यपर्यायात्मक होना। चूंकि प्रत्येक सत् द्रव्य पर्यायात्मक है, इस कारण अनेकान्त विधिसे, स्याद्वाद विधिसे वस्तुका परिचय बनेगा। केवल द्रव्यका ही वर्णन हो तो वस्तुका परिचय पूर्ण नहीं है, केवल पर्यायका ही वर्णन हो तो वह वस्तुका पूर्ण परिचय नहीं हैं। द्रव्य बिना पर्याय नहीं, पर्याय बिना द्रव्य नहीं। यहाँ द्रव्यका अर्थ गुणपर्ययवत् द्रव्य न लेना, किन्तु जो अन्वयी है उस अंशको द्रव्य कहते हैं। तो जब जीवके बारेमें वर्णन किया जाय तो कहना होगा कि जीव नित्य है द्रव्यदृष्टिसे और जीव नित्य नहीं है पर्यायदृष्टिसे। एक ही धर्मका विधि और निषेध बनाकर उनका वर्णन करना अनेकान्त नहीं है। जैसे जीव नित्य है अनित्य नहीं, यह अनेकान्त नहीं कहलाता, क्योंकि उसमें द्रव्यदृष्टिके धर्मका ही विधि और निषेध रूपसे वर्णन है। यदि एक धर्मका ही विधि निषेधका वर्णन होनेसे स्याद्वाद कहा जाय तब तो सभी स्याद्वादी हो गए। बौद्ध लोग कहते हैं कि वस्तु क्षणिक है, अक्षणिक नहीं, सांख्य कहते हैं कि वस्तु कूटस्थ ध्रुव है अध्रुव नहीं। फिर तो किसीका सिद्धान्त गलत नहीं कहा जा सकता। विधिनिषेध सबके साथ लगा हुआ है तो वह एक दृष्टिका पुष्ट निर्णय है। एक दृष्टिके पुष्ट निर्णयका एक दृष्टिका ही निर्णय कहा जायगा, स्याद्वाद न कहा जायगा। और अब उस आधारको छोड़कर यह प्रथा चलने लगी है कि जिसको जो बात सिद्ध करना है बस उसको विधि निषेध कहकर बोल दे और दुनियाको बहका दे कि देखो हम अनेकान्तसे कह रहे कि नहीं। जीव नित्य है, अनित्य नहीं। देखो हां कह दिया, न कह दिया। अरे विरुद्ध धर्म

कहाँ आया ? जीव नित्य है में क्या कहा गया ? शाश्वत है सो यही अनित्य नहीं । पक्षमें कहा गया । द्रव्य और पर्याय दोनों दृष्टियोंके आधारसे विरुद्ध धर्मोंका जो वर्णन जो किया जाता है वही स्याद्वाद अनेकान्त कहलाता है । तो वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है । उसमेंसे केवल द्रव्यदृष्टिका वर्णन एकान्त है, पर्यायदृष्टिका वर्णन एकान्त है । द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुको जानकर फिर जिस दृष्टिको मुख्य करनेमें आत्मस्वभावकी दृष्टि बनती हो, आत्मकल्याण होता है उस दृष्टिको मुख्य कर लीजिये, अन्य दृष्टिको गौण कर लीजिये, यह तो मोक्षमार्गकी प्रगतिमें विधेय है । मगर ज्ञान करते समय एक ही दृष्टिका परिचय लेना अन्य दृष्टिका निषेध करना वह बिल्कुल स्याद्वादसे बाह्य चीज है । तो यह है एकान्तमिथ्यात्व । जीव एक है या अनेक है ? सामान्य स्वरूपकी दृष्टिसे एक है, आवान्तर सत्ताकी अथवा अनुभूतिकी दृष्टिसे जीव अनेक है । उनमें से जीव एक है इस नयको अपना लिया ब्रह्माद्वैत आदिकने और जीव अनेक हैं, इसको इस तरह अपनाया बढ़कर क्षणिकवादियोंने कि केवल एक पर्यायको पूर्ण जीवद्रव्य स्वीकार करके कहते हैं । जब कि जैनशासन एक ही जीवमें एक और अनेक बातें बताता है । वह जीव द्रव्यदृष्टिसे याने सामान्यदृष्टिसे एक है और पर्यायदृष्टिसे याने विशेष दृष्टिसे अनेक है । तो द्रव्य और पर्याय इन दोनों दृष्टियोंसे वस्तुका वर्णन करना स्याद्वाद कहलाता है । इस पद्धतिको छोड़कर जो एक ही दृष्टिकी बातको विधि निषेध द्वारा बोलकर बहकाने वाली बात हो वह स्याद्वाद सम्मत नहीं कहलाती । यह है एकान्तमिथ्यात्व ।

पंच मिथ्यात्वोंमें विनय मिथ्यात्वका निर्देश—विनय मिथ्यात्व—सभी हमारे प्रभु हैं, सभी हमारे गुरु हैं । हमसे तो सब बड़े ही हैं, सबका विनय करना, धर्मदृष्टिसे वह विनयमिथ्यात्व है । विनयमिथ्यादृष्टि दलील देते हैं ऐसी कि कोई किसी रास्तेसे चले, कोई किसी रास्तेसे चल रहा हो, जा रहे सब एक मोक्षके महलमें ही । पर क्या ऐसा हो सकता कि कोई किसी रास्तेसे जाय, कोई किसी रास्तेसे जाय और वे एक जगह पहुंच जायेंगे ? नहीं हो सकता । अच्छा, और हो सकता है । देखिये—आपके इस मंदिरमें आनेके तीन चार रास्ते हैं, आप सबको मालूम है और सब लोग मंदिर आ भी जाते, पर यहाँ तो कहा जा रहा कि एक ही जगह नहीं आ सकते सो क्यों ? देखो चाहे कोई कितने ही रास्तोंसे आये, पर मंदिर के अन्दर प्रवेश होनेका रास्ता तो एक ही है ना ? हाँ पहलेके जो रास्ते हैं वे जरूर भिन्न-भिन्न हो गए । मगर वे भिन्न-भिन्न रास्ते भी एक इस रास्तेपर पहुंचनेके लिए हैं, इसलिए वे अनेक प्रकारके होकर भी एकके ही साधक हैं, ऐसे ही मोक्षमार्गमें चलने वालोंके कुछ दूर तक तो अनेक रास्ते हैं, कोई गृहस्थ धर्ममें रहकर मोक्षमार्गमें चल रहा है, कोई मुनिधर्ममें रहकर मोक्षमार्ग में चल रहा है, उसमें भी बहुत विधियाँ हैं, मगर

वह व्यवहारधर्म, वह परम्पराकी बात, दूरकी बातमें भेद पड़ गया है। अब चाहे गृहस्थका धर्म हो, चाहे मुनिका धर्म हो, सब ज्ञानियोंकी दृष्टिमें एक आत्मस्वभावकी दृष्टि, आत्मस्वभाव का रमण, आत्मस्वभावमें मग्नताका ही ध्येय है। चाहे गृहस्थ हो और चाहे मुनि हो, मुनि आगे हैं, गृहस्थ पीछेके रास्तेमें है, पर अभिमुखता दोनोंकी एक ओर ही होती, इस तरह तो यथायोग्य विधि बन जायगी। सप्तम प्रतिमाधारीका भी विनय, क्षुल्लक, ऐलकका भी विनय, मुनिका भी विनय, यों तो विनय एकान्त न बनेगा, पर जहाँ लक्ष्य नहीं है, मोक्ष का स्वरूप, मोक्षमार्गकी अभिमुखता यह बात जहाँ नही है, ये जो अनेक सिद्धान्त हैं उनमें सबको एक समान मानकर विनयभाव करना यह विनय एकान्त है। जैनशासनमें पूजा, आदर, विनय धर्मदृष्टिमें त्याग और व्रतको ही कहा गया है। केवल सम्यग्दर्शन होनेसे उसकी महिमा बतानेके समय उसकी प्रशंसा गायी गई है, पर सम्यग्दृष्टि मात्र हो, अव्रती हो तो उसको जैनशासनमें यह विनय, पूजा आदिककी बात नही कही गई, क्योंकि उसमें फिर अव्यवस्था है। क्या पता कहो इन गाय, बैल, घोड़ा आदिक जानवरोंमें भी अनेकोंको सम्यग्दर्शन हो। होता ही है अनेक पशुवोंको सम्यग्दर्शन। बताया है कि जितने मनुष्य सम्यग्दृष्टि हैं उनसे कई गुने अधिक सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च होते हैं संसारमें। सम्यग्दृष्टि मनुष्योंकी संख्या बहुत कम है, उनसे अधिक सम्यग्दृष्टि जीव देवोंमें भी मिलेंगे और तिर्यञ्चोंमें तो बहुत अधिक मिलेंगे। ढाई दीपमें सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च भी मिलेंगे और ढाई द्वीपसे बाहर अन्तिम द्वीप समुद्रको छोड़कर बीचके जितने अनगिनते द्वीप समुद्र हैं उनमें पशुवोंकी संख्या अधिक है सम्यग्दृष्टि और पंचम गुणस्थान वाले भी मनुष्योंकी अपेक्षा तिर्यञ्चोंमें बहुत पाये जाते हैं। विनयमिथ्यात्व—सभी अनुयायी, सभी संन्यासी, सभी लोगोंको, सभी देवोंको, सभी मूर्तियोंको एक समान समझकर, हैं तो सब हमसे बड़े, हैं तो सब भगवानके रूप, ऐसी आस्था रखकर विनय करना विनय मिथ्यात्व कहा है।

पंच मिथ्यात्वोंमें संशयमिथ्यात्व व विपरीतमिथ्यात्वका निर्देश—संशयमिथ्यात्व—वस्तुके सम्बंधमें अनेक कोटि स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय कहलाता है, और उसमें आस्था न बन सके वह संशयमिथ्यात्व है। आत्मा है या नहीं, अमुक बात है या नहीं, इसे कहते हैं संशय मिथ्यात्व। विपरीत मिथ्यात्व—वस्तु है अन्य प्रकार, मान ले अन्य प्रकार इसे कहते हैं विपरीत मिथ्यात्व।

दृष्टियोंसे दर्शनकी संभूति—देखिये—जितने दार्शनिक हैं, जो मूल प्रयोग हैं, मेरे ख्यालसे उन्होंने बेइमानी करके, जानबूझ करके इन दर्शनोंकी रचना नहीं की, किन्तु सब सुनते पढ़ते-लिखते चले आये उसी बीच उनको जैसी श्रद्धा बनी जिस एकान्ततत्त्व की, उसका

उन्होंने निरूपण किया। और जब नय विभागसे पता पड़ेंगे तो सभी दार्शनिकोंकी बात एक सही ज्ञात होगी कि इसका यह भाव है, इस इस प्रकारसे यह इस तत्त्वपर आया। इस विषय में एक अध्यात्मसहस्री पुस्तक है उसमें एक अध्यायमें यह ही सूत्र बताया गया कि किस दृष्टि से किसका सिद्धान्त बना हुआ है। कठिनसे भी कठिन कोई बात ले लो पुरातन दार्शनिकोंकी वह किसी नय विभागसे मिलेगा। कहीं एक नयसे मिलेगा कहीं दो तीन नयोंका संयोग समागमसे मिलेगा, पर उनके आशयका पता यह नय पाड़ देगा कि किस अभिप्रायमें रहकर उन्होंने यह बात देखी और फिर उसका एक एकान्त बन गया। जैसे ईश्वर जगत्का कर्ता है इसके मानने वाले अनेक दार्शनिक हैं, और आजके उठे हुए सम्प्रदाय भी हैं। वहाँ ईश्वरका अर्थ क्या है ? जो स्वयं अपने ऐश्वर्यमें यथार्थ हो, अपनी परिणति करनेमें दूसरेकी परिणति की अपेक्षा न करनी पड़ती हो, अर्थात् अन्य पदार्थोंकी परिणतिका साझेदार बनाकर परिणमन न करना पड़ता हो उसकी साझेदारीके बिना केवलका परिणमन चले उसे कहते हैं ईश्वर। वे हैं प्रत्येक जीव : प्रत्येक जीव अपनी सृष्टिको, निमित्तको, उपादानको करता चला आ रहा है। जैसा शरीर मिला, तो जीवके जैसे भाव हुए उस प्रकारका कर्मबंध होना उस कर्मके उदयमें आहार वर्गणावोंका वहाँ परिणमन हुआ। लेकिन शरीररचना इस जीव ईश्वरके कारणसे हुई। क्रोध, मान, माया, लोभ यह रचना जीवकी हुई। सर्व सृष्टियोंका कर्ता कहीं विचित्रतया, कहीं निमित्ततया यह जीव पाया जाता है। जगत्में जो कुछ भी यह दिख रहा है खम्भा, पत्थर, चटाई, कपड़ा इनमें कुछ भी ये सब जीवके शरीर हैं। कोई जीवके द्वारा छोड़ा गया शरीर है। कोई जीवसहित शरीर है, यह खम्भा खड़ा है, यह जीवसे त्यक्त शरीर है, इसकी यह शक्ल न बन सकती थी यदि जीवका सम्बंध न होता। जो कुछ दिख रहा है ये सब शक्ल कभी भी न बन सकते थे यदि इनमें कभी जीवका सम्बंध न होता। यह खान में था, वहाँ जीवका सम्बंध था, यह शक्ल बन गई, बढ़ गई, वहाँसे निकाल लिया तो मृतक हो गया, पर जो दिख रहा है वह सब जीवका देह है। कोई मुर्दा देह है, कोई जीवित देह है, तो आखिर ये सब सृष्टियाँ जीवकी ही तो हुईं, होता भिन्न-भिन्न जीवों द्वारा, एक जीव द्वारा नहीं। तो यहाँ तक आये कि जीव ईश्वर द्वारा यह सब सृष्टि चली। अब इस निर्णय के बाद वे सब जीव स्वरूपतया एक दिखे, जीवके स्वरूपपर दृष्टि गई तो एक नजर आया। लो कहीं कुछ समझ आयी, कहीं कुछ समझ आयी। अनेक जीव ईश्वर सृष्टिकर्ता हैं। स्वरूप देखें तो वह ईश्वर केवल एक विदित हुआ, ऐसा होते-होते एक ईश्वर सृष्टिकर्ता है, यह सिद्धांत बन गया। जब प्रारम्भ हुआ होगा तब ऐसा ही आशय मिलता-जुलता था। आज वह आशय न रहा और एकदम ऐसी बात चित्तमें आयी लोगोंके कि जैसे कुम्हारने घड़ा

बनाया वैसे ही ईश्वरने सारी सृष्टियोंको कर दिया। इसके आगे तो अन्य विषय बहुत छोटे हल्के हैं। वे तो नयविभागसे जल्दी सिद्ध हो जाते हैं। तो विपरीतमिथ्यात्व वस्तु और भाँति है, मान्यता और भाँति है उसे विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं।

मिथ्यात्वकी अधिगमजता व निसर्गजता—५ प्रकारके मिथ्यात्वके वश होकर यह जीव संसारमें रुल रहा है। यह मिथ्यात्व कहीं तो समझानेसे बनता है और कहीं बिना समझाये बन रहा। मिथ्यात्वके अधिकारी अनंत जीव हैं। समझाकर बने हुए मिथ्यात्वके अधिकारी थोड़े जीव हैं। समझाकर बने मिथ्यात्वका नाम है गृहीत मिथ्यात्व। स्वभावतः निसर्गतः बिना ही समझाये चल रहे मिथ्यात्वका नाम है अगृहीत मिथ्यात्व। गृहीत मिथ्यात्व जिसके होता है वह उसे पूर्ण सत्य समझता है और उसे कोई दिशा नहीं मिलती सही कि जिससे वह समझ जाय कि यह क्या सत्य भी है? उसे सत्य समझता है और उसपर इतना तीव्र आग्रह रखता है। सत्य समझने वालेको सोचता है कि यह अनभिज्ञ है। इसको क्या पता है? बात तो वास्तविक यह है। जब कोई भविष्य अच्छा हो और चीजको प्रयोगरूपमें लेने लगे तब उसका निर्णय करना आसान होता है। केवल बोलता ही बोलता रहे और प्रयोग करनेकी भावना ही न हो तो वहाँ उसका निर्णय करनेका मौका खत्म रहता है। जैसा किसीने सुनाया, जैसा बताया, कुछ शब्दोंमें प्रियताकी चाल होनी चाहिए वहाँ गृहीत मिथ्यात्व लग जाता है। और फिर वह गृहीत मिथ्यादृष्टि अन्य किसीकी बताई हुई बातको स्वीकार करनेसे लाचार हो जाता है। एक छोटे देहातके गाँवके किनारे कोई बढ़ई रहता था और वह बहुत मजाकिया था। सो जो कोई मुसाफिर उस गाँवसे होकर निकलता था वह उस बढ़ईके घरके पाससे होकर निकलता था। जो भी मुसाफिर उससे किसी गाँवका रास्ता पूछता तो वह गलत रास्ता बता दिया करता था। और साथ ही यह भी कह दिया करता था कि देखो इस गाँवके सभी लोग मसखरे हैं, उनसे तुम रास्ता पूछोगे तो वे तुम्हें गलत मार्ग बता देंगे, उनके कहनेमें तुम न आना। एक दिन कोई मुसाफिर उसके द्वारसे निकला, किसी गाँवका रास्ता पूछा, तो था तो मानो रास्ता वहाँसे पूरब दिशाकी ओर, मगर उसने बता दिया दक्षिण दिशाकी ओर। जब वह कुछ आगे बढ़ा और रास्ता पूछा तो लोगोंने बताया—अरे तुम गलत रास्ता आ गए, उस गाँवका रास्ता तो उस बढ़ईके घरके पाससे पूरब दिशाको जाता है। सभी लोगोंने यही बात कही, तो उस मुसाफिरको उनकी बातपर विश्वास न हुआ, समझ लिया कि बढ़ईने सच ही कहा था कि इस गाँवके सभी लोग मसखरे हैं। आखिर वह उसी गलत मार्गको सही समझकर आगे बढ़ता गया। काफी दूर निकल गया। आगे कोई दूसरा गाँव मिला, वहाँके लोगोंसे रास्ता पूछा तो लोगोंने बताया कि उस गाँवका रास्ता तो

तुम बिलकुल गलत आ गए। यहाँसे वापिस उस गाँव जाओ और वहाँसे एक रास्ता जो पूरब दिशाको जाता है उस रास्तेसे जावोगे तो सीधे तुम अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुंच जावोगे। आखिर उस मुसाफिरको वापिस लौटना पड़ा तब कहीं उस गाँवका रास्ता पाया। तो जब खुद प्रयोग रूपसे चलें, करना है आत्मस्वभावकी दृष्टि। उद्यम करनेकी धुन हो तो बाकी समयोंमें सर्व पता पड़ जाता है कि हमको किस विधिसे रहना है। किस विधिसे चिन्तन करना है।

आत्महिताभिलाषा होनेपर आत्मोपलब्धिके मार्गकी उपलब्धि—केवल आत्महितका अभिलाषी सर्वत्र निर्णय करनेको तैयार रहता है। वह सर्व कथनोंमें अपनी धुनकी ही बात रखता है। जैसे लोभी पुरुष कुछ भी बात कहे, मगर धनार्जनकी बातका ध्यान उसके मुख्य रूपसे रहता है, ऐसे ही आत्मधुनका स्वामी किन्हीं भी कथनोंको सुने, किसी भी अनुयोगका अध्ययन करे, सबसे उसे आत्मतत्त्व तक पहुंचनेकी विधि मिल जाती है। प्रयोग करना चाहे तो उसे सब जगह मार्ग मिल जायगा, पर केवल बोलना, पक्ष या अन्य जो कुछ भी बात चित्तमें है पार्टी मजबूत करना या जो भी ध्येय बने हों, उन ध्येयोंके रहते हुए इस जैनशासन के कथनोंमें से कोई सारभूत बात ग्रहण न कर सकेंगे। जो केवल आत्महितकी भावना रखता हो उसको मार्ग मिल जायगा, पर जो आत्महितकी भावनासे रहित है वह किन्हीं भी विधियों में मार्ग न पायगा। तो जो निसर्ग मिथ्यात्वमें है उसे मार्ग मिलना सरल होता है। कोई संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो, पर गृहीत मिथ्यात्व हो तो उसको मार्ग पाना कठिन होता है। जो वास्तवमें सोया हुआ हो उसको जगाना सफल होता है और जो जान-बूझकर आँखें मींचकर सोनेका रूप बना रहा है उसका जगाना कठिन होता है। तो ऐसे अनेक मिथ्यात्वके वश होकर यह जीव चतुर्गतिमें भ्रमण करता है।

परिग्रहेणापि युक्तास्तपस्विनो वधेऽपि धर्मं बहुधा शरीरिणां।
अनेकदोषामपि देवतां जनस्त्रिमोहमिथ्यात्ववशेन भाषते ॥१३०॥

मोहकी प्रबल बैरिता—जो जीव मिथ्यात्वके वशमें है वह जब कुछ बुद्धि पाता है तो किस तरह अपनी बुद्धि चलाता है, यह बात इस छंदमें कही गई है। देखिये—सबसे प्रबल बैरी हम आपका मोहभाव है। बाहरमें किसीको बैरी मानना यह सब कल्पना है और मिथ्या है। दूसरा कोई भी जीव मेरा बैरी नहीं है। यदि कोई दूसरे लोग मेरा अनर्थ करते हैं तो मेरे ही पापका उदय उसमें मुख्य निमित्त है। जैसा पुण्य कमाया है वैसा उदयमें आ रहा है। कोई दूसरा जीव मेरा बैरी नहीं है। मेरा बैरी मेरा मोहभाव हैं, रागद्वेष भी बैरी हैं, पर प्रबल बैरी, बैरियोंका राजा मोहभाव है। मोह मायने भेद ज्ञात न हो सकना परमें

और स्वमें एकता जानना इसे मोह कहते हैं जैसे शरीरको ही समझा कि यह मैं हूं, देहको ही जीव मान लिया यह मिथ्यात्व हुआ। तो यह मिथ्यात्व तो है ही, पर कुछ बुद्धि मिलती है, तो यह कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रको भी हितकारी मानने लगता है।

मिथ्यात्वमें देवमूढ़ता—मूढ़तायें ३ कही गई हैं—(१) देवमूढ़ता, (२) पाखण्डमूढ़ता और (३) लोकमूढ़ता। देवमूढ़ता उसे कहते हैं जो जीव रागी द्वेषी है, जिसकी वृत्तियां विकारोंसे भरपूर हैं तो भी उन्हें देव मानना अथवा वे अपनेको देवरूपसे जनायें तो इनको देव मानना यह देवमूढ़ता है। देखिये—अपनेको क्या करना है ? जिससे शान्ति मिले, राग-द्वेष मोहसे रहित होना है। और अपने स्वरूप आत्मामें अपने उपयोगको लीन करना है। तो ये बातें जहां हो चुकीं हों उनकी ही सेवामें तो लाभ है या जो इनसे विपरीत हैं, विषयकषाय के वश हैं, रागद्वेष हो रहे हैं तो क्या उनकी आराधना पूजासे लाभ है ? संसार तो दुःखमय है। संसारकी कोई भी चीज चाहने योग्य नहीं है। मानो कोई देशका राजा बन गया तो क्या वह सुखी हो गया ? अरे उसकी चिंतायें उसके साथ हैं, और राज्य छिन जाय, जैसे कि आजकल वोटोंके आधारपर बड़े बनते हैं, मिनिस्ट बनते हैं और अगले चुनावमें वोटोंमें हार जायें तो उनको कितना परेशान होना पड़ता है। तो संसारकी कौनसी ऐसी वस्तु है जो इस जीवको सुख दे सकती है ? कुछ भी पदार्थ नहीं। जो आज दिख रहा है कि यह बहुत ऊँची विभूति है, यह बड़ा अच्छा पदार्थ है, तो वह दुःखका ही कारण बनता है। देखिये—जो जितना अधिक ऊँचाईसे गिरेगा वह उतना ही अधिक चोट खायगा। तो संसारमें कुछ ऊँचा कहलवानेकी बात न विचारें। यहां चाहें तो यह चाहें कि मुझे चाहिये वीतरागता। इसके लिए वीतराग देवकी उपासना करें। जो जीव मोह मिथ्यात्वके वशमें है वे स्वयं रागी द्वेषी हैं, वे देव नहीं हैं। उनकी आराधना करना देवमूढ़ता है।

मोहमें पाखण्डिमूढ़ता—पाखण्डमूढ़तामें यह जीव मिथ्यात्वके वश होकर परिग्रहसे सहित गृहस्थोंको साधु संत तपस्वी मानता है। यद्यपि जितने भी साधु हो गए निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो गए वे सब वास्तवमें साधु हैं यह बात नहीं कही जा सकती, मगर जो भी वास्तवमें साधु हैं वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेषमें ही मिलेंगे। अन्य भेषमें साधुपना नहीं हुआ करता, मगर मिथ्यात्वके वश होकर जीव परिग्रहसे युक्त मनुष्योंको साधु तपस्वी बतलाता है। यह है पाखण्ड मूढ़ता। जो परिग्रहसहित है, आरम्भयुक्त है ऐसे मनुष्यने कुछ मुद्रा बना ली हो, जैसे लंगोट पहन लिया, राख बदनमें रमा लिया, जटा बढ़ा ली, त्रिशूल ले लिया, पंचाग्नि तप तपने लगे, कुछ लौकिक जनोंसे विलक्षण बात करने लगे, तो उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव गुरु मानने लगते हैं, पर वे वास्तवमें गुरु नहीं है, क्योंकि हमें चाहिए एक आत्मतत्त्वकी उपा-

सना । मैं आत्माके सही स्वरूपको जानूं और उसमें ही रम जाऊँ, यह ही चाहिये ना ? तो ऐसा व्यक्ति ऐसे पुरुषोंको ही गुरु मानेगा जो आत्मतत्त्वकी आराधनामें लगे हैं । और संसार का कुछ भी जिनको चाहिए नहीं है वे ही तो वास्तवमें गुरु हैं । तो मोही जीव परिग्रहसहित को गुरु मानते हैं ।

व्यामोहियोंकी लोकमूढ़ता—लोकमूढ़ता अर्थात् धर्मके बारेमें विपरीत कल्पनायें करना । जिन कार्योंमें महापाप होता है, जीवोंका वध होता है ऐसे कार्य करके लौकिक जन मानते हैं कि मैंने धर्म किया । जैसे देवताके आगे पशु-पक्षियोंका वध करके सोचते हैं कि मैंने बड़ा धर्म कर लिया । अरे कितना अंधकार है उनके हृदयमें और उस वध किए हुए मांसको लोग देवी देवतावोंका प्रसाद मानते हैं, तो यह है सब अज्ञानभाव । नदी, समुद्रमें स्नान कर धर्म मानना, पर्वतसे गिरकर मरनेमें धर्म मानना, बालू पत्थरोंका ढेर लगाना, वृक्षादि पूजनेमें धर्म मानना आदि सब हैं अज्ञानभाव । मिथ्यात्वके उदयमें इस जीवको ऐसा ही सूझता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष जिसको आत्माके सहजस्वभावका अनुभव बना है जिसको अपना आनन्द मिल गया है वह पुरुष तो इस आनन्दरससे छके हुए पुरुषोंकी ही पूजा उपासना करेगा ।

विवोधनित्यत्वसुखित्वकर्तृताविमुक्तितद्धेतुकृतज्ञतादयः ।
न सर्वथा जीवगुणा भवंत्यमी भवंति चैकांतदृशेति बुध्यते ॥१३१॥

मिथ्यात्वविपाकवश तत्त्वके सम्बन्धमें नाना विकल्पनायें—धर्म और दर्शन अनेक हैं । जो केवल एक ही अंशका हठ करते हैं । किसीका सिद्धान्त है कि विज्ञानमात्र ही तत्त्व है और यह कुछ नहीं है । केवल 'ज्ञानस्वरूप ही ज्ञान ज्ञान ही तत्त्व है यह ज्ञातका एकान्त है और उनकी युक्ति यह है कि जैसे कोई स्वप्नमें देखता है तो दिखता तो उसे सब कुछ है, ज्ञानमें सब आता है—मंदिर, पानी, जंगल, पहाड़, सांप, बिच्छू, शेर, हाथी आदि सब सही दिखता है, पर वहाँ सही तो कुछ है नहीं । तो ऐसे ही यहाँ जगते हुए की हालतमें भी ज्ञान में तो सब आ रहा—मकान है, धन है, परिजन हैं, सो ये विज्ञानएकान्तवादी कहते हैं कि यह सब भ्रम है । जो कुछ दिख रहा है वह सब ज्ञानस्वरूप है । जैनधर्म क्या कहता है कि जो ज्ञानस्वरूप है सो तो जीव है और जो ज्ञानस्वरूपसे रहित है वह अजीव है । जिसमें जानने देखनेकी शक्ति है वह जीव है और जिसमें जानने देखनेकी शक्ति नहीं सो जीव नहीं । और ये दिखने वाले पुद्गल अजीव हैं । सो यहाँ कुछ दिखा रहे हैं कि मिथ्यात्वके उदयमें ऐसे-ऐसे एकान्तमत निकलते हैं । किसी मतका कहना है कि वस्तु सर्वथा नित्य है, ब्रह्म जिसे कहते, आत्मा वह अपरिणामी है, नित्य है, उसमें कुछ फेरफार नहीं है । उसका परिणमन

नहीं है । जो रागद्वेष सुख दुःख हो रहे हैं वे प्रकृतिके धर्म हैं ऐसा उनका कहना है । जैन सिद्धान्त क्या कहता है कि जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है । जब यह जीव है तो सदासे है और सदा तक रहेगा, किन्तु इसकी अवस्थायें तो बनती हैं । आज मनुष्यभव में हैं, कभी किसी भवमें थे, कभी किसी भवमें थे, तो ये जो अवस्थायें बदलती हैं—अभी क्रोध है, थोड़ी देरमें मान हो गया, फिर शान्त हो गया, फिर लोभ हो गया, तो जो अवस्थायें बदलनेपर भी आत्मा अपने स्वरूपमें अचल है । सो स्याद्वादसे तो सर्व धर्मोंकी सिद्धि होती है, पर उसमें ये केवल एक ही धर्मका एकान्त करना यह मिथ्यात्वमें होता है । कोई पुरुष समझता है कि जीवके सुख दुःख ये जीवके गुण हैं, पर ये जीवके गुण नहीं हैं । जीव का गुण तो आनन्द है, उस आनन्द गुणका विकार बना है सुख दुःख । यदि सुख दुःख जीव के गुण होते तो जीवके साथ सदा रहते । ये तो विकार हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं ।

आत्माके निर्णय बिना धर्मकी दिशाका भी अलाभ—देखो अपने आपका कल्याण करना है तो अपना निर्णय जरूर करना पड़ेगा कि मैं क्या हूं, कहाँसे आया, किस रूपमें हूं और किस-किस रूपमें था; और न चेते तो किस-किस रूपमें फिर रहेंगे । और अगर चेत गए सन्मार्ग मिल गया तो किस रूपमें मैं होऊँगा आदि सारी बातें ठीक तरहसे समझना है । परिवारसे मोह कर-करके या धन-दौलतको चित्तमें बसा-बसाकर इस जीवका पार न पड़ेगा, बल्कि यह जीवन व्यर्थ खो दिया समझिये । यदि धर्मसे अलग होकर और इन बाहरी बातोंमें ममता करने लगे, धर्म इतने ही मात्रको न समझें कि मंदिरमें आये, प्रभुकी स्तुति कर ली, कुछ विनती बोल ली, बस धर्म हो गया । अरे मंदिरमें आकर, प्रभुकी विनती बोलकर भी चित्तसे अगर मोह नही हटा रहा तो वहाँ धर्म नहीं हो रहा । मोह तो भीतर बसा हुआ है । सो इसी भावसे वह धर्म कर रहा है कि मेरा घर सुखी रहे, मेरा परिवार सुखी रहे और सबकी खूब तरक्की हो, ऐसे भावोंको लेकर वह मंदिरमें धर्मकार्य कर रहा है, उसे धर्म नहीं मिल रहा, कभी कषायें मंद हों, उस तरफसे भी उपयोग हटे तो थोड़ा पुण्यबंध हो जायगा, पर भेदविज्ञान जगे बिना, आत्मस्वरूपका प्रकाश पाये बिना धर्म न हो पायगा । मोक्षमार्ग न मिल पायगा । दो बातें एक साथ किसीके नहीं हो सकतीं कि विषयोंका मौज भी खूब मिलता रहे और धर्म भी खूब कर लेवें । आपको निर्णय करना होगा कि हम संसारमें जन्म मरण करते रहनेका ही प्रोग्राम रखें या सर्व संकटोंसे छूटकर सिद्धप्रभु होनेका प्रोग्राम बनायें, इन दो में से एक कुछ निर्णय करना होगा । ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं । तो अपना-अपना निर्णय बनाइये, घर गृहस्थीमें रहते हैं तो करना सब पड़ रहा, मगर उसे समझना चाहिए कि अपना गुजारा करनेके लिए सब करना पड़ रहा, पर वास्तवमें करने योग्य

कार्य तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। यदि यह ध्येय न बना पाये और वैभवों में ही रम गये, परिजनोंसे ही मोह करते रहे तो यह जीवन यों ही व्यर्थ जायगा।

अधर्मभावके परिहारमें ही धर्मकी संभवता—एक उदाहरण है कि कोई दो भाई थे, तो छोटा भाई तो था पुजारी, भगवानका भक्त और बडा भाई दुकान धंधा रोजगार करने वाला, छोटा भाई रोज-रोज बड़े भाईको समझाता रहता था कि देखो तुम धर्मके कामोंसे दूर रहते हो, केवल व्यापार धंधाके कामोंमें ही अपना उपयोग फंसाये रहते हो, सो यह तुम्हारे लिए ठीक नहीं, धर्ममें अधिक दृष्टि दो। तो उस बड़े भाईका जवाब होता था कि ठीक है, हम धर्म नहीं करते, मगर तुम्हें धर्मका काम करनेकी हम पूरी छुट्टी तो दिए हैं, तुम्हारे धर्म के काममें हम कोई दखल तो नहीं देते, इससे हम भी अपनेको ऐसा समझते कि हम भी धर्म कर रहे। अब देखिये हुआ क्या कि किसी कारणसे छोटा भाई रुग्ण हो गया, उस रोगमें उसकी मरणासन्न दशा हो गई तो उस रोगसे घबड़ाकर बोला—भैया जी अब तो हमारा जीवन रहना मुश्किल है, हमारे न रहनेपर पता नहीं हमारे बच्चोंका क्या हाल हो, सो आप उनका पूरा ध्यान रखना, उनको किसी बातकी तकलीफ न होने पावे, उनकी तुम सब प्रकार से व्यवस्था बनाये रहना····तो बड़ा भाई समझ गया कि हमारे इस छोटे भाईको इन बाल-बच्चोंका मोह इस मरणासन्न दशामें सता रहा है। सब बात समझ गया, सो बोला—अरे तुम क्यों व्यर्थकी मोह ममतामें पड़ रहे? तुमने जिन्दगीभर धर्म करके भी कुछ धर्म नहीं किया। खैर तुम अब इन बाल-बच्चोंकी चिन्ता छोड़ो हम उनकी सब प्रकारसे व्यवस्था रखेंगे। उनको कोई तकलीफ न होने देंगे। और यदि तुम्हें विश्वास न हो तो ये लो एक कागजपर मैं लिखकर तुम्हारे बाल-बच्चोंको दिए देता हूँ कि मेरे पास जितना जो कुछ धन सम्पत्ति है वह सब मेरे छोटे भाईके बाल-बच्चोंकी है। मैं तो सिर्फ एक छोटीसी झोंपड़ीमें रहकर साधारणसा कोई काम करके अपना गुजारा चला लूंगा।····इस प्रकारकी बात सुनकर वह छोटा भाई बड़ा लज्जित हुआ और बोला—भाई मैं बड़ी भूलमें था, अब मेरा शल्य निकल गया। अब मेरे ममत्व नहीं रहा। और आप जैसा जानें सो करें, मैं तो अब आत्मा में लीन होना चाह रहा हूं। आखिर उसने समाधिपूर्वक मरण किया। उसके नामपर उसके बड़े भाईने धर्मार्थ औषधालय बनवाया, अपने पास जितनी जो कुछ सम्पत्ति थी उसका वह भाग उस छोटे भाईके बाल-बच्चोंके नाम कर दिया। और स्वयं एक छोटीसी झोंपड़ीमें रहकर कोई साधारणसा काम करके अपना जीवन निर्वाह करने लगा। तो समझिये कि जहाँ अपने भाव उत्तम हैं वहाँ तो धर्म चल रहा और जहाँ भावोंमें कलुषता है, मायाचार है, वहाँ धर्म नहीं।

सर्व सतोंका स्वतंत्र सत्त्व—कितने ही लोग वस्तुका सही स्वरूप न जानकर कुछसे कुछ मानते हैं—जैसे कोई इस जगत्का रचने वाला है। पर देखो तो सही यह जगत् क्या है ? यह सब जो कुछ दिख रहा है इसकी सृष्टिका निमित्त कारण यह जीव है। यह जीव जहाँ जाता है वहीं किसी न किसी शरीररूप बन जाता है और सारी रचना चलती है। यदि कोई बाहरसे रचने वाला आया तो बताओ जब कोई चीज हो उससे रचा या कुछ न था और रच दिया। आखिर कुम्हार भी तो जब घड़ा बनाता है तो मिट्टीसे ही तो बनाता है। स्वर्णकार कलश बनाता है तो स्वर्णसे ही तो बनाता है। तो यदि किसी एकने इस सारे जगत्को रचा, समस्त पदार्थोंके समूहको बना डाला तो बताओ उनका उपादान कुछ था या नहीं ? अगर कुछ भी उपादान न था तो असत् कैसे प्रकट हो सकता है ? और था उपादान तो सृष्टि भी क्या रची ? सर्व पदार्थोंका स्वभाव है ऐसा कि वे समय-समयपर नई-नई अवस्थायें बनाते रहते हैं। यह स्वभाव द्रव्यमें चल रहा है अनादिसे। तो हम अपने भविष्यका निर्माण किया करते हैं। आज जैसे परिणाम कर रहे हैं उसके अनुसार हमारा भविष्य बनेगा। तो देखो मोह करना बिल्कुल व्यर्थ और गंदा परिणाम है। बिल्कुल भिन्न जीव हैं, भिन्न पदार्थ हैं, क्या सम्बंध है ? आपके घरमें जितने जीव हैं उनसे भी बहुत अच्छे गुणी सुन्दर और लोग भी हैं, और बच्चे भी हैं। उनमें क्यों ममता जगती ? इन घरके कुछ जीवोंमें ही क्यों मोह ममता बन रही ? जैसे वे बाहरके जीव अत्यन्त भिन्न हैं वैसे ही ये खुदके घरमें आये हुए जीव भी उतने ही भिन्न हैं। भिन्नतामें कुछ अन्तर नहीं। जीव सब मुझसे निराले हैं, मेरेमें मैं ही हूँ। तो जब अत्यन्त भिन्न हैं तो उनमें यदि यह छंटनी बन जाय कि ये तो मेरे हैं और ये गैर हैं तो यह तो उसने अनन्त आत्माओंके स्वरूपकी उपेक्षा कर दी। अन्य आत्माओंका जो स्वरूपमें परमात्मा हैं उनका तिरस्कार करता है। मोह करना इस जीवके लिए बिल्कुल व्यर्थकी विडम्बना है। तो जो नहीं जानता है वस्तुका यथार्थ स्वरूप वह कितने ही एकान्त दर्शनोंमें रम जाता है। पर्यायोंको ही गुण समझकर ऐसे अनेक गुण अनेक दर्शनों ने माने। मुक्ति संसारपना, कृतज्ञता आदिक अनेक बातें गुणरूपमें मानी, मगर गुणरूप तो जीवका केवल चैतन्यस्वभाव है, बाकी तो यह सत बेकार है। एक भाव बने—अपने आत्माको देखो—मैं आत्मा हूं, मैं अनन्त गुणोंका पुञ्ज हूं, परमार्थसे अखण्ड हूं, जब भेददृष्टि करके निहारता हूँ तो ये ज्ञान दर्शन, आनन्द, श्रद्धा, चारित्र आदिक अनेक गुण आत्मामें मालूम होते हैं।

आत्माकी स्वतंत्रता—लोकमें सभी सतोंका अपने आपके खुदमें परिणमन चल रहा है तो मैं अपने काममें रह रहा हूँ। मैं दूसरे जीवका काम नहीं करता। कोई सोचता हो कि

मैं दूसरेको दुःखी कर देता, दूसरेको सुखी कर देता तो यह सोचना उसका बिल्कुल मिथ्यात्व है, क्योंकि उसके यदि पापका उदय नहीं है तो कितना ही कोई प्रयत्न करे, पर दूसरा दुःखी नहीं हो सकता। यदि दूसरेके पुण्यका उदय नहीं है तो आप कितने ही प्रयत्न करें, पर वह सुखी नहीं हो सकता। लोग ऐसा सोचते हैं कि हम छोटे-छोटे बच्चोंको पालते पोषते हैं, मगर बात वहाँ यह है कि उन बच्चोंका पुण्य अधिक है जिससे उनकी नौकरी करनी पड़ रही है, यह अहंकार करना व्यर्थ है कि मैं बच्चोंको पाल रहा हूं। हाँ हो रही है आपके द्वारा सब व्यवस्था यह बात और है। उनके प्रति प्रेमका व्यवहार भी कीजिए, मगर भीतर में यह अहंकार न रखें कि मैं दूसरोंको पाल रहा हूं, दूसरोंको सुखी कर रहा हूँ। सबके कर्म सबके साथ हैं। कर्मोंके उदयके अनुसार ही सबकी सब बात बनती है। आप किसीके मददगार न होंगे, आप अपनेको सम्हालें और दयावश दूसरोंको भली बातकी शिक्षा दें, यह तो आपका कर्तव्य है, मगर भीतरमें यह अहंकार न जगना चाहिए कि मैं इन बाल-बच्चोंको सन्मार्गपर लगाता हूं, मैंने इनको इतना इतना सम्बोधन किया है···· । अरे जो सन्मार्गमें लगे हैं, सो अपनी कलासे अपने विकाससे सन्मार्ग पर लगे है। मैंने किसीको सन्मार्ग पर नहीं लगाया, मैंने किसीका कुछ पालन-पोषण नहीं किया। सर्व जीव अपने-अपने अर्जित किए हुए कर्मोंके अनुसार अपनी सृष्टि पाते हैं और स्वयंकी रचना बनाते हैं। ऐसा जानकर चित्तमें गर्व न होना चाहिये। और कायरपना भी न अनुभवना कि यह मुझे दुःखी कर देगा, यह मेरा न जाने क्या बिगाड़ कर देगा ? अरे अपने ज्ञानस्वरूपको सम्हालें। बाहरमें मेरा कुछ है ही नहीं। बाहरमें यदि कभी कुछ कम हो जाय तो उससे आत्मामें कमी नहीं कहलाती। अपना ज्ञानस्वरूप देखो, जो ज्ञानका जहाँ विकास हुआ है ऐसे प्रभुकी भक्तिमें रहिये बस ये ही दो काम हैं—सिद्धप्रभुकी भक्ति करना और शुद्ध आत्मारूप अपनेको अनुभवना कि मैं सर्व विकार विडम्बनाओंके संकटसे अलग हूं। मेरे स्वभावमें ज्ञान और आनन्द ही बसा हुआ है। जो आत्माको पहिचानेगा सो संसारके दुःखोंसे दूर हो जायगा।

न धूयमानो भजति ध्वजः स्थितिं यथानिलैर्देवकुलोपरि स्थितिः।
समस्तधर्मानिलधूतचेतनो विनीतमिथ्यात्वपरस्तथा नरः ॥१३२॥

पूर्व गाथावोंमें वर्णित अज्ञान व एकान्त मिथ्यात्वकी हेयताका स्मरण—इस प्रकरणमें मिथ्यात्वके भेद बताये जा रहे हैं, जैसा कि आलोचना पाठमें पढ़ते हैं विपरीत, एकान्त विनयके, संशय अज्ञान, कुनयके। नामोंमें मैं पहले पीछे प्रायः बदलकर मिलते हैं उससे कुछ बात नहीं। इसी ग्रन्थमें पहले अज्ञानमिथ्यात्व, फिर एकान्तमिथ्यात्व फिर विनय, फिर संशय, फिर विपरीत, फिर गृहीत और निसर्ग ७ प्रकारके मिथ्यात्व बताये जा रहे हैं। तो

अज्ञान मिथ्यात्वमें तो बताया ही था कि अज्ञानवश एकेन्द्रिय आदिक सब मिथ्यात्वमें पड़े हैं, कुछ विशेष बुद्धि भी जगी तो परिग्रहयुक्तको तो तपस्वी मानते, जीवोंके वधमें धर्म मानते और रागद्वेषसहित प्राणियोंको देव मानते। ये अज्ञानमें चेष्टायें हुई हैं। एकान्तमिथ्यात्वमें बताया है कि किसी भी सिद्धांतका, मतका, धर्मका हठ कर लेना, बाकी अन्य धर्मोंकी अपेक्षा छोड़ देना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे जीव नित्य है कि अनित्य। नित्य मायने सदा रहने वाला, अनित्य मायने सदा न रहने वाला। तो जीव सदा रहने वाला है या मिटते रहने वाला है ये दोनों बातें यदि द्रव्यदृष्टिसे देखें तो सदा रहने वाला है। जीववस्तुका कब नाश होगा? पर्यायदृष्टिसे देखें तो जीवकी पर्यायें बदलती रहती हैं। तो पर्यायरूप जीव तो सदा न रहा। अब उसमें से नित्यका ही हठ कर लेना अथवा अनित्यका ही हठ कर लेना यह एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे बहुतसे दार्शनिक हैं सो कुछने आत्माको कूटस्थ नित्य माना, कुछ दार्शनिकोंने आत्माको केवल क्षणस्थायी माना, सो किसी एक ही वस्तुधर्मका हठ करना, शेषको न मानना यह एकान्तमिथ्यात्व है। ये सब मिथ्यात्व जीवके बैरी हैं इनको छोड़नेमें ही आत्महित है।

विनयमिथ्यात्वकी भी हेयता—अब इस छन्दमें विनय मिथ्यात्वकी बात कही गई है। जिन पुरुषोंके विनय मिथ्यात्व पाया जाता है उनका मन कहीं एक जगह नहीं टिकता। कभी किसीको माना कभी किसीको। जैसे कि मन्दिरके ऊपरकी ध्वजा हवाके वेगसे क्षणभर भी स्थिर नहीं रह सकती, डोलती ही रहती है, इसी प्रकार जो विनय मिथ्यात्वके वशमें हैं उनका मन भी सांसारिक मतोंके प्रभावरूपी वायुके वेगसे किसी एक धर्ममें स्थिर नहीं रहता। वह इधर-उधर भटकता ही रहता है। लोग तो कहने लगते कि मार्ग नाना प्रकारके हैं, पहुंचना तो सबको एक ही मंजिलपर है मोक्षमें, पर मार्ग नाना कैसे हो सकते? कोई इस मंदिर में आया मानो पूरब दिशासे तो क्या वह चारों दिशावोंमें चला गया? वह तो पश्चिमकी ओर ही आयगा। मार्ग एक ही है मुक्तिका और वह है निश्चयसे आत्माके सहज स्वरूपमें अपने उपयोगको मग्न करना। संसार संकटोंका घर है। जिन जीवोंका चित्त सदैव बाहरी बाहरी पदार्थोंपर ही रहता है उनको क्षणभर भी विश्राम नहीं मिल पाता। यहाँ तो मन बहलानेके लिए कोई ताश खेलता, कोई सिनेमा आता, कोई अन्य उपाय करता, पर वह वास्तविक विश्राम नहीं है। वहाँ तो उपयोगका बाहर बाहर भटकना ही है। वास्तविक विश्राम मिलेगा सहज आत्मस्वरूपमें। जिसने सहज आत्मस्वरूपके अनुभवका आनन्द पाया है वह जब चाहे किसी भी क्षण दृष्टि दे और उसके दर्शन कर ले। तो सच्चा विश्राम मिलेगा आत्मानुभवमें। इस जीवनमें कर्तव्य है कि अन्य बातें कुछ लौकिक प्रभावकी, महिमाकी

जीवन-यापनको जैसे गुजरें सो गुजरें, वे प्रधान काम नहीं हैं इस मनुष्यभवमें। मनुष्यभवका प्रधान काम है आत्माको पहिचानना और जैसा वास्तविक सही सहज स्वरूप है उस रूप अपनेको स्वकीार कर लेना, अन्य रूप स्वीकार न करना यह भीतरी काम, गुप्त काम जो केवल अपने ज्ञान द्वारा ही किया जाता है, जो महाभाग कर-सके उसका जीवन सफल है, पर जिसने इस आत्माके सहज स्वरूपको दृष्टि नहीं की वह बाहर ही बाहर डोलता है, भटकता है। और प्रत्येक देव, प्रत्येक गुरुकी सेवा उपासनामें अपनेको मुक्तिमार्गपर चलने वाला मानता है। आजकल तो विनयमिथ्यात्वको एक बड़ा शृङ्गार मानते हैं। ये नेता बड़े ऊँचे पहुंचे हुए हैं, ये किसी भी धर्मसे घृणा नहीं करते हैं, सब धर्मोंमें पहुंचते हैं। तो घृणा करने न करनेकी बात नहीं कही जा रही, पर वस्तुका सही स्वरूप क्या है, उसकी श्रद्धा तो मजबूत होनी ही चाहिये। जिसको वस्तुस्वरूपकी सही श्रद्धा नहीं है उसके ही विनयमिथ्यात्व हुआ करता है। ये सब मिथ्यात्व इस जीवको संसारमें परिभ्रमण कराने वाले हैं। इनके वर्णनसे शिक्षा यह मिलती है कि मिथ्यात्व भावसे परे रहना चाहिये।

समस्ततत्त्वानि न संति संति वा विरागसर्वज्ञनिवेदितानि वै।
विनिश्चयः कर्मवशेन सर्वथा जनस्य संशीतिरुचेर्न जायते ॥१३३॥

त्याज्य संशयमिथ्यात्वका निर्देश—इस छंदमें संशय मिथ्यात्वका प्रभाव बताया गया है। जिनेन्द्र देवने ७ तत्त्व कहे—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष। उनके विषयमें संशय होना कि वहाँ इन ७ पदार्थोंको तत्त्व कहा या नहीं कहा, ये तत्त्व इस स्वरूपके हैं या नहीं, आत्मा है या नहीं, परलोक है या नहीं, मोक्ष वास्तवमें होता है या नहीं, यों किसी प्रकारका संदेह रखना संशय मिथ्यात्व है। सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित वचनों में पदार्थोंमें यह मिथ्यादृष्टि जीव शंका रखता है, और यों कहना कि कौन देख आया कि सर्वज्ञ होता या नहीं, स्वर्ग नरक है या नहीं, इस प्रकारका संशय करना संशय मिथ्यात्व है।

पयोयुतं शर्करया कटूयते यथैव पित्तज्वरभाविते जने।
तथैव तत्त्वं विपरीतभंगिनः प्रतीपमिथ्यात्वदृशो विभासते ॥१३४॥

त्याज्य विपरीत मिथ्यात्वका निर्देश—इस छंदमें विपरीत मिथ्यात्वका वर्णन है। विपरीत मिथ्यादृष्टि वाले जीवको सच्ची बात नहीं सुहाती। जैसे कि पित्तज्वर वालेको शक्कर मिला हुआ दूध भी कडुवा लगता है। उसकी कैसी जिह्वा हो गई उसका कैसा शरीर हो गया कि मीठा दूध भी उसे कडुवा लगता है। ऐसे ही विपरीत मिथ्यात्व वाले जीवोंको वास्तविक तत्त्व चाहे युक्तियोंसे भी बहुत समझाया गया हो, पर उन्हें उल्टा ही भाषता है। समझाने पर भी वास्तविक तत्त्वका निश्चय नहीं होता और मिथ्या तत्त्वोंमें ही फंसा रहता है। कहने,

से कहीं निर्णय नहीं बन जाता कि इसकी ऐसी ही श्रद्धा है। शरीर न्यारा है, जीव न्यारा है, ऐसा कहने वाले अनेक लोग हैं, पर साधारण असाधारण गुणोंकी परख करना, असाधारण स्वरूपसे निरखकर जो जाने कि ये सब शरीर अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें हैं, यह मैं अमूर्त आत्मा अपने ही स्वरूपसे हूं। इस प्रकारकी अन्तर्भावना करके जो परखे सो सत्य समझ सकता है, कहनेका एक ऐसा रिवाज बन गया जो चाहे कहने लगता कि शरीर जुदा, जीव जुदा, पर भावभासना नहीं है। तो ऐसे जीव भी मिथ्यात्वमें फंसे रहते हैं, शरीरको आत्मा मानना भी विपरीत मिथ्यात्व है। यदि किसी मनुष्यको ऐसा आभास हो जाय कि मेरा अब मरण काल आ गया तो उस समय उसे यदि घबड़ाहट है तो समझिये कि उसे देहमें आत्म-बुद्धि है तब ही तो वह मरणसे डर रहा। और कोई मनुष्य ऐसे भी मिलेंगे जो मरणके समय प्रसन्न रहते, उनको किसी बातका विषाद नहीं होता। जिसको बाह्यपदार्थोंमें ममता नहीं, इस दुनियाको असार जिसने जाना, अपने आत्माको अमर माना, जिसकी आस्थामें है कि मैं आत्मा परिपूर्ण हूं, यह हूँ तो भी वही हूं। जिसने इस आत्माको ही इहलोक समझा और साथ ही परलोक समझा उसको विषाद नहीं होता। तो यह है भेदविज्ञान। जिसे भेद-विज्ञान हुआ उसका ममत्व टूट जाता है। यदि ममता चित्तमें चल रही है तो न है वह ज्ञानी, न है वह धर्मात्मा। भले ही ऊपरके धार्मिक कार्य करें, पर इन ऊपरी-ऊपरी बातोंसे कर्म थोड़े ही कट जायेंगे। अन्तः धर्मबुद्धि हो, धर्मदृष्टि हो, स्वभावका ग्रहण हो, ममता मोह टूट गया हो, एक आत्माकी ही धुनमें रहता हो, जिसकी पहिचान है कि इन्द्रियके विषयोंमें प्रीति न होगी और नामवरीकी इच्छा न होगी। इस तरहको जिसको अपने आतमाकी धुन हो वही पुरुष मृत्यु जैसी घटनावोंमें विषाद नहीं मानता। और जिसको देहमें आत्मबुद्धि है वह इसमें अपना विनाश समझता है। तो विपरीत मिथ्यात्वमें इस जीवको सही तत्त्व सुहाता नहीं, जिनवाणी सुहाती नहीं।

ज्ञानको ज्ञानके साधनकी व ज्ञानियोंकी अनुरक्तिका परिणाम—देखिये—खास बात यह है कि केवलज्ञान पाये बिना संसारसंकट मिटेंगे नहीं और केवलज्ञान जिस ज्ञानधारामें रहकर मिलता है वह है आत्मज्ञानकी धारा, और यह आत्मज्ञान, यह ज्ञानप्रकाश ज्ञानावरण कर्मके दूर हटे बिना नहीं होता और उन कर्मोंके हटनेका उपाय ज्ञानमें, ज्ञानके साधनोंमें, ज्ञानियोंमें अनुराग जगना यह है ज्ञानावरण कर्मको दूर करनेका पुरुषार्थ। अनेक लोग होते हैं ऐसे कि बड़ी-बड़ी धर्मशाला, बिल्डिग, मन्दिर या अन्य-अन्य चीजें दुनियाको दिखें उनके बनवानेमें बड़ी उमंग रखते, बड़ा द्रव्य खर्च करते, तो ठीक है, ये सब बातें चलेंगी, किन्तु ज्ञानप्रचारका कोई प्रसंग आये, पाठशाला खुलवाये, शास्त्रोंका प्रकाशन हो, व्याख्यान आदिक

का प्रबन्ध हो तो इन बातोंको वह बेकार मानता है और उसमें उमंग नहीं जगती। तो ऐसे जीव बड़े दयापात्र हैं, वे कैसे भविष्यमें ज्ञानप्रकाश पायेंगे, यह बहुत शोचनीय बात है। तो यदि अरहंत पद प्राप्त करना है, केवलज्ञानी बनना है तो ज्ञानमें धुन होना, ज्ञानके साधनोंमें धुन होना, दूसरोंके ज्ञानवर्द्धनमें सहयोग देना, इनमें यदि वृत्ति है, अनुराग है तो यह ज्ञानावरण कर्मको ढीला कर देगा और उनका क्षयोपशम बनेगा। तो ज्ञानविकास होगा, पर यह सब एक गुप्त साधना है। इसमें भी भीतर अन्य कोई आकांक्षा न हो, विशुद्ध ज्ञानप्रकाशका भाव हो तो वह ज्ञान थोड़े ही कालमें अथवा अगले ही भवमें ज्ञानविकास प्राप्त करेगा। यहाँ ही लड़कोंको देखा जाता कि कोई लड़का इतना बुद्धिमान् होता कि एक बार कोई बात बता दी गई तो वह उसको भी सीख लेता और उससे सम्बंधित अन्य बातें भी अपने आप सीख लेता, और कुछ लड़के ऐसे होते हैं कि वर्षों प्रयत्न करनेपर भी वे पढ़ ही नहीं पाते। बड़ी उम्रके हो जाते, फिर भी छोटी कक्षावोंमें पढ़ते रहते। कुछ उनकी प्रगति ही नहीं हो पाती, तो यह फर्क कैसे आया ? यह फर्क आया ज्ञानावरणके क्षयोपशमका। उन्होंने पूर्वभवमें जैसा ज्ञान और ज्ञानके साधनोंके प्रति व्यवहार किया उस प्रकारको उनका भविष्य बना। जिसने ज्ञानकी साधना की, दूसरोंके ज्ञानके साधन दिलाये, ज्ञानदान किया, खुद पढ़ाया-लिखाया, ज्ञानमें उमंग रखी, ज्ञानियोंको देखकर खुश हुए, ऐसा पुरुष मरकर वह बालक हुआ जो एक बारके सिखानेमें बहुत कुछ सीख जाता है। कोई दूसरा पुरुष जिसने ज्ञानमें अन्तराय डाला, ज्ञानियोंसे ईर्ष्या की, ऐसा पुरुष मरकर ऐसा लड़का बना कि जिसको कितने ही ट्यूशन दिलवाये गए, कितने ही मास्टर लगवाये गए तो भी वह आगे नहीं बढ़ सका। तो जिसको अपने ज्ञानस्वरूपका विकास चाहिए उसका कर्तव्य है कि वह आत्मविज्ञानके साधनोंमें प्रीति करे, ज्ञानी जनोंको देखकर हर्ष भाव लाये तो उसके कर्म क्षीण होंगे और वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानलाभ पायगा।

प्रपूरितश्वर्मलवैर्यथाशनं न मंडलश्वर्मकृतः समिच्छति।
कुहेतुदृष्टांतवचः प्रपूरितो जिनेंद्रतत्त्वं वितथं प्रपद्यते ॥१३५॥

गृहीत मिथ्यात्वकी प्रेरणा—५ मिथ्यात्वके वर्णनके बाद इस छंदमें गृहीत मिथ्यात्व की बात कही गई है। जैसे चमारका कुत्ता जो वहाँ रात-दिन मांस खाता रहता है, चमार चमड़ा उधेलता रहता और उस कुत्तेको मांस मिलता रहता, तो मांसभक्षी होनेके कारण अब वह अन्नको नहीं चाहता। कोई रोटी डाल दे तो रोटी पड़ी रहेगी। तो कुत्ता मांस खाता, उस मांसको ही स्वादिष्ट जानता और अन्नसे घृणा करता, इसी प्रकार जिन जिनके चित्तमें खोटे छन्द, खोटी युक्ति, खोटे दृष्टान्तसे समझाया गया है, रात दिन उल्टा ही उपदेश प्राप्त हुआ है वह पुरुष सर्वज्ञदेव द्वारा कथित सत्य पदार्थोंको मिथ्या मानता है और उसे समझना

नहीं चाहता। उस जिनवाणीसे दूर रहता है। जो बात समझा दी गई उल्टी बस उसीको पकड़कर रह जाता है। फिर कोई दूसरा कितना ही समझाये उसे ग्रहण नहीं करता, यह है गृहीत मिथ्यात्व। गृहीत मिथ्यादृष्टि कुदेवको देव मानता, कुशास्त्रको शास्त्र मानता, कुगुरुको गुरु मानता और उनकी इस सेवासे ही अपनेको मोक्ष मानता है, जो समझ लिया, जिस अज्ञानीने जो भी कुतत्त्व समझ लिया उसकी दृष्टिमें वह ही सार लगता है। उसे उसमें दोष नहीं विदित होते। और कोई सत्य तत्त्व उपस्थित करे तो उसमें भी वह दोष लगाता है। यह है गृहीत मिथ्यात्वका असर। कभी घरमें बच्चोंको या किसीको कुछ तकलीफ हो जाय और कोई बहका दे कि अमुक देवी देवताकी मान्यता करो तो सब ठीक होगा। बस तुरन्त तैयार हो जाते। उनको आस्था नहीं है यह कि जरा असाताका उदय आया और यह निकल रहा यह उदय भी टलेगा। तो यह दुःख भी दूर होगा अथवा वीतराग जिनेन्द्रदेवकी भक्तिमें ही रहिये—जो होता है सो पाप पुण्यके उदयसे होता है। इस पर आस्था नहीं जमती। तो यह सब क्या है ? गृहीतमिथ्यात्वकी प्रेरणा। सो जो जीव सिखाये गए होकर कुधर्ममें लग जाते हैं वे गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं। उनकी ऐसी हालत है जैसी कि बहाना करके कोई आँखें मींचकर सो गया है तो उसे कोई कितना ही जगाये, पर उसे जगनेका क्या काम ? और कोई वास्तवमें सो गया हो तो वह तो जगानेपर जग जायगा। तो ये गृहीत मिथ्यादृष्टि ये बँधकर मिथ्यादृष्टि हुए हैं। इनको कितना ही समझाया जाय, पर समझना बड़ा कठिन है। हाँ जिनका भवितव्य उत्तम है वे थोड़ा ही समझाया जानेपर सुलट जाते हैं। जैनशासनमें ऐसे अनेक आचार्य हुए, अष्टसहस्रीके रचयिता विद्यानन्दि स्वामी जी सैंकड़ों वर्ष पहले हुए थोड़ीसी घटनामें ही उन्होंने विपरीत आस्था तोड़ ली और स्याद्वाद शासनमें आ गए। अनेक पुरुष जिनका भवितव्य उत्तम है वे गृहीत मिथ्यात्वको भी छोड़ देते हैं।

यथांधकारांधपटावृतो जनो विचित्रचित्रं न विलोकितुं क्षमः।
यथोक्तत्वं जिननाथभाषितं निसर्गमिथ्यात्वतिरस्कृतस्तथा ॥१३६॥

निसर्गमिथ्यात्व—जैसे अंधेरेका वक्त है और कोई मनुष्य काले वस्त्रसे ढका हुआ हो तो वह रंग-बिरंगे चित्रोंको देख नहीं सकता। प्रथम तो अंधेरा ही हो तो भींतमें बने रंग-बिरंगे चित्र न दिखेंगे, और फिर काला वस्त्र ओढ़े हुए हो, ऐसा पुरुष बाहर कुछ भी नहीं निरख सकता, इसी तरह जो पुरुष निसर्ग मिथ्यात्वके वशमें हैं वे बार-बार उपदेश जाने पर भी प्रभु द्वारा बताये गए तत्त्वोंको नहीं समझ सकते। निसर्गमिथ्यात्व कहते हैं उसे जो बिना सिखाये बिना समझाये जीवोंमें मोहभाव बना रहता है। शरीरको मानें कि यह मैं हूं इसको सिखानेकी कहीं पाठशाला नहीं है, किन्तु बिल्ली, कुत्ते, कीड़े, मनुष्य व पशु-पक्षी आदि सभी

अपने आप इस मिथ्यात्वमें पड़े हुए हैं। जो देहको मानता है कि यह मैं हूँ। तो जो सिखाना न पड़े और अपने आप बना हो उसे मोह कहते हैं। निसर्ग मिथ्यात्व—सो अज्ञानके कारण बड़े-बड़े उपदेशो द्वारा समझाया जानेपर भी वास्तविक तत्त्वका श्रद्धान नहीं हो पाता, इसे कहते हैं निसर्ग मिथ्यात्व। सारा जगत् इस मिथ्यात्वके वशमें है। अनन्त निगोद जीव निसर्ग मिथ्यात्वमें हैं, जिनका दूसरा नाम है गृहीत मिथ्यात्व। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रियमें सभीके गृहीत मिथ्यात्व है। संज्ञी पञ्चेन्द्रियमें भी बहुत कम मनुष्य हैं ऐसे जिनके गृहीत मिथ्यात्व नहीं होता। सो उनके भी अगृहीत तो लगा हुआ ही है, बाकी सब गृहीत मिथ्यात्व है। यह मोह ऐसा पिशाच है कि हम आपको बरबाद करने वाला है, ऐसे दुर्लभ मानव-जीवनको निष्फल गंवा देने वाला यह मिथ्यात्व है।

दयादमध्यानतपोव्रतादयो गुणाः समस्ता न भवंति सर्वथा।
दुरंतमिथ्यात्वरजोहतात्मनो रजोयुतालाबुगतं यथा पयः ॥१३७॥

मिथ्यादृष्टि जीवमें गुणोंका अनवसर—जैसे तूमड़ीमें मिट्टी भरी हो, राख भरी हो तो उसमें जल कभी न रह पायगा, वह तो सूख जाता है उसी तरह जिस आत्मामें मिथ्यात्व की धूल पड़ी हुई है उसमें दया, ध्यान, जप, तप आदिक कोई गुण नहीं ठहर सकते। इस जीवका मिथ्यात्वसे बढ़कर कोई बैरी नहीं। जो इन्द्रियसे दिख रहा है वह विश्वासके लायक नहीं है और रमणके योग्य भी नहीं है। सब मायामय हैं, इन वस्तुवोंमें मोहभाव करना बिल्कुल मूढ़ता है और उसका ही फल है कि संसारमें दुःखी होते फिर रहे हैं। रात-दिनके क्षणोंमें कुछ क्षण तो आत्मदृष्टिमें व्यतीत हों। आत्माकी सुध लेनेमें लग गए वे तो इसके क्षण सफल हैं और यदि यह काम न किया जा सका तो सारे जीवन यों समझो जैसे कहावतमें कहते हैं—पापड़ बेले। पापड़ बेलनेमें भी कुछ फायदा दिख सकता, मगर मिथ्यात्वभरी चेष्टावोंसे कोई फायदा न मिलेगा। जिसका हृदय अज्ञानसे भरा है, बाहरी पदार्थोंकी ममतासे भरा है, यह मेरा है, ऐसी ममता जिनमें कूट कर भरी है उनमें दया कहाँसे आ सकती? जिनके तीव्र ममताका भाव है उनके अन्य सबसे उपेक्षाका भी भाव रहता है। दया उन पुरुषोंके चित्तमें होती है कि जिनको अपने स्वजनोंमें तेज ममता नहीं है। तो अन्य जीवोंपर भी कुछ कुछ ध्यान जायगा। यदि कुटुम्ब आदिकमें तीव्र ममता है तो अन्य जनों पर दृष्टि कम जायगी, दया नहीं आती। मोही पुरुषोंमें इन्द्रियदमनकी बात कहाँसे आ सकती? विषयों का त्याग तपश्चरण, सत्संगति आदिक बातें कहाँ पैदा हो सकतीं? उसके तो मोह सता रहा है।

मोही प्राणीके शान्तिकी असंभवता—मोही जीवोंको शान्ति कहाँसे मिलेगी? मोह

खुद अशान्ति है। संसारमें जिन-जिनका समागम हुआ है उनका वियोग नियमसे होगा। जो मोहीजन हैं, जो मिले हुए समागमोंमें यह आस्था रख रहे हैं कि ये तो कभी मिट ही नहीं सकते, और जब मिटेंगे तब इसको बड़ा दुःखी होना पड़ेगा। मोही जीवको शान्ति नहीं मिल सकती। जिसका उपयोग आत्माके स्वभावसे हटकर बाहरी पदार्थोंमें लग रहा है, बिना काम पापड़ बेलनेकी तरह बिल्कुल व्यर्थ है। ऐसा बाहर उपयोग भटकाने वाले पुरुषको शान्ति कहाँ मिल सकती ? शान्ति बाह्यपदार्थोंसे नहीं आती। गृहस्थीमें करना सब पड़ रहा है, और जब गृहस्थ हैं तो करना चाहिये, पर जो योग्य गृहस्थ है, ज्ञानी गृहस्थ है वह इन कार्योंको मुख्य नहीं मानता। हाँ जीवन-यापन करनेके लिए करना पड़ रहा है, पर जीवनका ध्येय न समझना कि मैं खूब धन जोड़कर घर जाऊँ। अरे जो जिन्दगीभर धन जोड़-जोड़कर घर जायगा उसे लाभ क्या होगा ? वह तो निरन्तर व्याकुल रहा कमाते समय भी और जब उसे छोड़कर जायगा तब तो उसे बड़ा संक्लेश परिणाम बनेगा—हाय मेरा सारेका सारा धन छूटा जा रहा है। यहाँ कोई परपदार्थ किसीका बनकर न रहा। आपका आपके प्रदेशोंसे बाहर कुछ नहीं है। जैसे दुनियाके सब जीव आपसे बिल्कुल भिन्न हैं वैसे ही आपके घरमें रहने वाले दो-चार जीव भी आपसे बिल्कुल भिन्न हैं। तो मरेके बादकी तो बात क्या, जीवित अवस्थामें भी बच्चे या अन्य कोई अपने कुछ नहीं। तो मोही जीव कभी शान्त नहीं हो सकता।

मोही प्राणीके ज्ञान, ध्यान आदि धार्मिकताकी अनुद्भूति—जिसके मोह बसा है उसके ज्ञान कहाँसे जगेगा ? ज्ञान तो यह बतलाता है कि प्रत्येक पदार्थ एक दूसरेसे बिल्कुल जुदा है, सत्ता ही न्यारी है। दो मिलकर एक न कभी हुआ, न है, न हो सकेगा, पर ममतामें तो यह बात जगती है कि हममें और इनमें कुछ फर्क ही नहीं, खुद न खाया, पर जिनमें ममता है उनको खूब खिलाया, खुद तो रूखा सूखा खा लेते, पर जिनमें ममता है उनको रसीले व्यञ्जन खिलाते। और यह समझते कि इनके अच्छा खाने-पीनेसे मेरेको ही खाने-पीनेका लाभ हो गया। देखिये—कितना मोह है, ऐसा मोह जहाँ बसा है वहाँ ज्ञानप्रकाश कभी आ सकता है क्या ? तो मोहमें ज्ञान नहीं रहता, ध्यान भी नहीं जमता, ध्यान करें, आत्माका ध्यान करें, अपने देहके अन्दर जैसे कि ध्यानके प्रयोग हैं—श्वास रोकना, एक जगह मनको टिकाना फिर उपयोगको अपने आत्मापर प्रयोग करें। पर अहो, जिन जीवोंके मोह लगा है, परमें आत्मबुद्धि है, उन पुरुषोंके ध्यान कैसे जम सकता है ? ध्यानमें आवश्यक है उपयोगको अपने आत्मामें टिकाना। एक जगह अच्छे योग्य तत्त्वोंमें मनको लगाना और मोह फेर रहा है बाहरी पदार्थोंमें मनको रमानेके लिए, तो जहाँ मोह है वहाँ ध्यान कभी हो नहीं सकता।

जप तप ये मोहमें कहाँ रहते ? जबरदस्ती माला लेकर बैठे हैं तो मन कहीं रहेगा, अंगुली कहीं चलेगी। जिसका जाप किया जा रहा, जिसका नाम जपा जा रहा वह उपयोगमें रहे यह कैसे हो सकता ? मोही पुरुषकी बात है। मोही पुरुष इच्छाका निरोध कैसे करेगा ? वहाँ तो इच्छायें बनती हैं, उसे तो निरर्गल विषयसेवन चाहिये। मोहियोंके चित्तमें व्रत, तप आदिककी बात नहीं जम सकती। व्रत, उपवास, नियम आदिक इनकी ओर ध्यान कहाँ जायगा ? जिनके मिथ्यात्व भाव लगा है। इस देहमें जिसके आत्मबुद्धि है उसके तो देहके पोषनेका ही भाव रहेगा, देहसे विरक्त होकर अपनी कामनावोंसे दूर रहे यह व्रत मोहीमें नहीं हो सकता। तो यह मिथ्यात्वका प्रकरण चल रहा है। इस जीवका प्रबल बैरी मिथ्यात्वभाव है, इसलिए थोड़ा ध्यान जमायें। जो आँखों दिखता है उसे माया जानें। वह मेरे लिए सत्य स्वरूप नहीं है। वे सब सांसारिक बातें हैं, उनसे मेरा हित नहीं होनेका। मुझ आत्माका हित तो मुझमें बसे हुए परमात्मस्वरूपके दर्शनसे ही होगा, मोहादिकसे न होगा। ऐसा निर्णय बनाकर जीवनमें अपना उच्च ध्येय बनाना चाहिये।

अवैति तत्त्वं सदसत्त्वलक्षणं विना विशेषं विपरीतलोचनः।
यदृच्छया मत्तवदस्तचेतनो जनो जिनानां वचनात्पराङ्मुखः ॥१३८॥

जिनवचनाभिमुख मोही प्राणीके सत् असत्के विवेकका अभाव—मोही मिथ्यादृष्टि जीव सर्वज्ञदेवके बताये हुए मार्गसे बिल्कुल उल्टे हैं। जो पुरुष भगवानके दर्शन करते हैं, मंदिरमें प्रतिबिम्बके दर्शन करते हैं और बड़ी भक्तिसे पाठ विनती पढ़ते हैं, और उनके चित्त में यदि यह बात है कि ऐसे धर्मपालनसे मेरा परिवार सुखी रहेगा···तो बताओ भगवानके द्वारा बताये गए मार्गमें वह कहाँ चल रहा ? भले ही हम भगवानके बताये मार्गपर चल न सकें, पर जब-जब प्रभुका स्मरण हो तब-तब यह भाव लाना चाहिए कि जैसे मोह मिथ्यात्व को तजकर सर्व परिग्रहोंसे ममता तजकर प्रभुने अपने आत्मामें अपनेको देखा, ध्यान बनाया और इस मार्गसे चलकर सदाके लिए सुखी हो गए, मुझको भी यही स्थिति चाहिये, अन्य कुछ न चाहिए। यह तो निर्णय होवे दर्शनके समय तब तो प्रभुके दर्शन कहलायेंगे, और प्रभु का मार्ग यदि रुच ही नही रहा तो वह प्रभुका दर्शन नहीं है। तो जो जीव सर्वज्ञदेव द्वारा बताये गए मार्गसे भ्रष्ट है वह मद्यपायी पुरुषके समान है। विशेष ज्ञानके बिना वस्तुके सत्त्व और असत्त्वको यथार्थ नहीं जान सकता। विपरीत जानेगा। जैसे मद्यसे मतवाला हुआ पुरुष अपने पागलपनके कारण, नशेके कारण कभी अपनी माँ को बहिन कहता, कभी माँ को अपनी स्त्री कहता, कभी अपनी स्त्रीको माँ कहता या वह अटपट बकता है, क्योंकि उसे कुछ विवेक नहीं रहता, ऐसे ही जो लोग वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ हैं और यथार्थ आत्मस्वरूपका जिन्हें कभी

अनुभव नहीं हुआ वे वास्तविक बातका निर्णय नहीं कर सकते। मिथ्यात्वके नशेसे पागल हुआ यह जीव सत्को असत् और असत्को सत् समझता है। वास्तविक भेदको न जान सकेगा मिथ्यादृष्टि जीव, और यही कारण है कि मोही जीव संसारमें अनादिकालसे चिरकाल तक भटकता ही फिरता है।

त्रिलोककालत्रयसंभवासुखं सुदुःसहं तत्त्रिविधं विलोक्यते।
चराचराणां भवगर्तवर्तिनां तदत्र मिथ्यात्ववशेन जायते ॥१३६॥

मिथ्यात्ववशवर्ती जीवोंका संसारपरिभ्रमण—भूत भविष्यत् वर्तमानमें तीनों लोकमें जितने भी मानसिक वाचनिक और शारीरिक असह्य दुःख हैं वे सब इस मिथ्यात्वके कारण होते हैं। यह कितनी एक बड़ी विकटसी बात है कि कोई जीव मरकर पेड़ बन जाय और उसका आत्मा इस ढंगसे फैल जाय कि शाखावोंमें, टहनियोंमें, पत्तियोंमें, फूलोंमें, परागोंमें उन सबमें ये आत्माके प्रदेश फैलते हैं, यह तो कोई विचित्र काम है। इसे कोई कैसे करके दिखायेगा? तो उसका उपाय केवल एक ही है कि मोह ममता खूब करे जावो तो आसानी से यह जीव ऐसे पेडोंमें जन्म ले-लेकर इस तरहसे फैलकर अपनी लीलायें करेगा। जितना भी संसारमें कष्ट है वह सब मिथ्यात्व और अज्ञानके कारण है। अन्यथा कष्टका क्या काम? कोई मकान गिर गया या जल गया, पुद्गल था, इकट्ठा था, बिखर गया, उसमें मेरेको क्या कष्ट पड़ गया? कोई परिजन या मित्र जन गुजर गया तो उससे मेरे आत्मामें क्या कष्ट आया? अरे जगत्में कुछसे भी कुछ गुजरे, उससे मेरेको कोई कष्ट नहीं होता। कष्ट है तो मोहभावका है: जो भीतरमें अज्ञान बसा है, जिससे कल्पनायें चल रही हैं, बस यही दुःख है। तो दुःख रहा मिथ्यात्व, मोह। दूसरा कोई दुःख नाम नहीं है। जो भी जीव दुःखी हो रहे हैं कोई धनके बिगड़नेसे, कोई अपने इष्टके बिछुड़नेसे, कोई किसी तरह, तो उनको कौन सा साधन रखा जाय कि उनका दुःख दूर हो जाय? है क्या कोई ऐसा साधन? केवल एक सम्यग्ज्ञान ही साधन है।

अपनी सम्हालमें सब सम्हाल—भैया, अपनेको वश किया तो बाकी सब ठीक। एक ऐसा अहाना है कि लेवा मरे या देवा, बल्देवा करे कलेवा। कोई अनाजकी मण्डी थी, उसमें कोई बल्देवा नामका एक दलाल था। दूसरेका अनाज बिकवा दे तो कुछ बेचने वालेसे मिल जाता, कुछ खरीदने वालेसे। सो उसने एक किसानका दो एक गाड़ी अनाज बिकवा दिया और दोनोंसे अपना कमीशन ले लिया। अब बिक तो गया, मगर उस प्रसंगमें खरीददार और बेचने वाला इन दोनोंमें मन-मुटाव हो गया, खरीदने वालेने समझा कि हमको महंगा मिला और बेचने वालेने समझा कि हमारा सस्ता बिका, सो दोनोंमें कुछ झगड़ासा होने

लगा। करीब दोपहरका समय था, उसके कलेवा करनेका समय हो गया था, सो वह एक पेड़के नीचे बैठ गया और कहने लगा—लेवा मरे या देवा, बल्देवा करे कलेवा, याने चाहे लेने वाला मरे चाहे देने वाला, बल्देवाको उससे कुछ मतलब नहीं, उसे कुछ दुःख नहीं, वह तो आराममें है। लड़े मरें तो वे दोनों मरें तो ज्ञानी पुरुष चूंकि अपने आत्माको सम्हाल लिए हुए हैं, सो वह परपदार्थोंकी परिणतिमें ज्ञाता दृष्टा रहता है और यह निर्णय रखता है कि चाहे जगत्का कुछ भी परिणमन हो हम तो अपने आत्मारामें ही लीन होकर संतुष्ट रहेंगे।

मोहवश उच्छिष्ट भोगोंमें अपूर्वताका भ्रम—यह जीव अब तक किस-किस भवमें नहीं गरा। यहाँ तो जैसे रोज-रोज वही रोटी-दाल, चावल खाते, पर रोज-रोज उन्हें नया सा लगता। अपने इस ५०-६०-७० वर्षके जीवनमें न जाने कितना ही अनाज खा लिया होगा, मगर रोज-रोज वही दाल, रोटी, चावल ऐसे लगते हैं जैसे कि नई चीज। स्वादमें आसक्त रहते हैं। सो ऐसे ही इस जीवने इन सब पुद्गलोंको बार-बार भोग रखा, अनेक बार भोगा, मगर प्रत्येक भवमें कुछ नयेसे लगते हैं। उनकी तृष्णा भी जगती, और लोकमें जो धनी हैं, ऐश आराममें रहते हैं उनके प्रति होड़ भी लगाते हैं। यह विवेक नहीं करते कि पुण्यके उदयसे जो कुछ प्राप्त हुआ है वही बहुत है। हम उसमें ही गुजारा कर लेंगे। हमें तो अपना आत्मज्ञान बढ़ाना है, उसमें बढ़ें और उसका आनन्द लूटें। बाहरी पदार्थोंमें कुछ नहीं रखा और न कभी होड़के चक्करमें रहना चाहिये। जैसा उदयमें है वैसा हो रहा है, उसमें हम गुजारा कर सकते हैं, ऐसी हमारेमें कला है। संतोष रहे, और वास्तविक जो धन है, अपने ज्ञानमें ज्ञानका अर्जन करें और अपने आपके आत्मामें घटित करें। और उसके अनुभव का आनन्द लें, यह काम करनेका है इस जीवनमें, और यह काम वही कर सकता है, जो इन बाहरी पुद्गलोंको, महल मकानोंको, धन-दौलतको तुच्छ समझता हो। यह मेरे आत्माके लिए कुछ चीज नहीं है। आत्माका हित करने वाला तो यह ज्ञानभाव ही है। ऐसा जो भाव रखता है वह संसारके परिभ्रमणसे दूर होता है। और जो मिथ्यात्वमें पगे रहते है वे चतुर्गतियोंमें जन्म मरण कर, परिभ्रमण कर, शारीरिक, मानसिक, वाचनिक सब दुःखोंसे दुःखी रहते हैं।

वरं विषं भुक्तमसुक्षयक्षमं वरं वनं श्वापदवन्निषेवितं।
वरं कृतंवह्निशिखाप्रवेशनं नरस्य मिथ्यात्वयुतं न जीवितं ॥१४०॥

मिथ्यात्वकी सर्वाधिक अहितकारिता—मिथ्यात्वसहित जीवन रहना बहुत बुरा है, क्योंकि जहाँ ज्ञानप्रकाश नहीं, स्व-परका भेद नहीं, यथार्थ ज्ञान नहीं वहाँ उपयोग क्षुब्ध रहता

है, व्याकुल रहता है और अटपट कल्पनायें करने वाला रहता है। ऐसा जीवन ठीक नहीं है। उससे तो अच्छा हैं विषपान, विषपान करने वाला एक ही बार तो मरेगा, दो जीवनमें न मरेगा। मगर मिथ्यात्वसे जिसका हृदय व्याप्त है उसका तो अनेक भवोंमें मरण होगा। तो विषपानसे भी खोटा है मिथ्यात्वयुक्त जीना। मिथ्यात्वयुक्त जीवनसे अपेक्षाकृत भला है सिंहादिक जंतुवोंसे भरे हुए बनमें निवास करना। जहाँ हिंसक जंतु भरे हैं उस वनमें जो निवास करेगा वह भला तो नहीं है। वहाँ वे जंतु आक्रमण करेंगे और इसको मरना होगा, मगर एक ही बार तो मरण होगा, किन्तु मिथ्यात्वसे जिसका आत्मा दबा है उसका तो भव-भवमें मरण होगा। मिथ्यात्वसहित जीवनसे तो जलती हुई अग्निमें जलकर प्राणोंका खो देना अच्छा है। उस घटनाका असर उतना ही तो है कि एक भवमें मरण हो, किन्तु जिनके मोह बसा है उनका तो भव-भवमें मरण होगा। जन्म और मरणकी परम्परामें लगेगा। तो मिथ्यात्वभाव इतना दूषित भाव है कि कषायोंके व्यामोहमें रहकर यह जीव सोचता नहीं है और अपना जीवन जैसे कषाय परिणाममें गुजरें, जैसे तात्कालिक काल्पनिक आनन्द मिले वैसा प्रयत्न करता है। उन सुखोंमें यह बहिर्मुख रहता है। ये सब सुख वस्तुतः तो दुःखसे भरे हुए हैं। यह जीव अब तक संसारमें रुलता चला आया तो यह मिथ्यात्वका ही तो असर है। मिथ्यात्वके बराबर जीवका बैरी दूसरा नहीं है। मान लो यहाँ प्रेम हुआ किसीसे, स्नेह हुआ, मोह हुआ तो उसमें थोड़ासा कल्पित मौज माना कि यह मेरा बहुत भला है, मगर किसीका किसीसे पूरा पड़ सकता है क्या ? अपने आत्मासे ही अपना पूरा पड़ेगा। यदि ज्ञान सही है तो अपना पूरा पाड़ लेगा यह जीव और यदि ज्ञान निर्बल है, मिथ्या है तो वह दुःखी रहेगा। सो मिथ्यात्वके समान दूसरा कोई बैरी इस जीवका नहीं है।

करोति दोषं न तमत्र केशरी न दंशशूको न करी न भूमिपः।
अतीव रुष्टो न च शत्रुरुद्धतो यमुग्रमिथ्यात्वरिपुः शरीरिणां ॥१४१॥

मिथ्यात्वका प्रबल बैरीपना—इस जीवका जितना अहित मिथ्यात्वरूप बैरी कर सकता है उतना अहित कोई दूसरा नहीं कर सकता। सिंह भी क्रुद्ध हो जाय तो जान ले लेगा, एक भवका प्राण ले ले इतना ही तो कर पाया। हस्ती, रुष्ट राजा, शत्रु आदिक कोई अधिकसे अधिक इतना ही तो बिगाड़ कर सकेगा कि एक भवका प्राण खत्म कर दे, मगर मिथ्यात्व बैरी तो भव-भवमें जन्म मरण करायेगा, और जिससे जीवन रहता है इष्ट वियोग अनिष्ट सयोग, नाना वेदनायें, इससे दुःखी रहेगा। जीवका विशुद्ध जाननहार है। जहाँ कल्पना नहीं, विचार नहीं, कोई विशेषता न लेकर केवल झलक प्रतिभासमात्र दर्पणमें इस तरह झलक रहे समस्त पदार्थ कि यह ही तो वास्तविक स्वरूप है। अपने सही स्वरूपमें रहे तो कोई कष्टकी बात नहीं। लोग कष्ट बनाते हैं और फिर उन कष्टोंको मिटानेका प्रयत्न करते

हैं। कदाचित् कल्पनामें यह बात आये कि कष्ट मिटा तो उसके एवजमें इसको कष्ट और भी सामने आते हैं। जैसे कोई तराजूमें धरकर जिन्दो मेढक तौल नहीं सकता। कुछ रखे जायेंगे, फिर कुछ रखनेका प्रयत्न करेंगे तो उनमेंसे कुछ उछल जायेंगे, तो जिन्दा मेढक तौलना जैसे अशक्य है ऐसे ही कष्टोंको दूर करनेका प्रयत्न कर-करके कष्टोंका मिटाना बिल्कुल अशक्य है, केवल ज्ञानप्रकाश ही एक ऐसी परम औषधि है कि कष्ट मिटानेमें समर्थ है। दूसरा कुछ नहीं हैं। तो जिस जीवके मिथ्यात्वभाव लगा है उसका महान अहित है। हमारे अहितको कोई दूसरा नहीं कर सकता।

दधातु धर्मं दशधा तु पावनं करोतु भिक्षाशनमस्तदूषणं।
तनोतु योगं धृतचित्तविस्तरं तथापि मिथ्यात्वयुतो न मुच्यते ॥१४२॥

मिथ्यात्ववशीभूत जीवके क्षमा आदि धर्मोका पालन करने पर भी मोक्षमार्गका अभाव—कोई पुरुष १० प्रकारके क्षमा आदिक पवित्र धर्मोको भी पा ले, पर मिथ्यात्वको न तजे तो क्या उसको मोक्ष मिलेगा ? वह तो संसारमें ही रुलेगा। जिसने मिथ्यात्व नहीं छोड़ा वास्तवमें वह धर्मको पाल ही नहीं सकता, मगर रूढ़िमें हम जिसे धर्मपालन कहते हैं उस ढंगसे कोई क्षमा मार्दव आदिक दस धर्मोका पालन करे और मिथ्यात्वसे युक्त है तो वह छुटकारा नहीं पा सकता। कोई पुरुष बाह्य परिग्रहोंको त्यागकर निर्दोष भिक्षावृत्तिका आचरण करे और जैसे संन्यासमें उपदेश किया है उस प्रकारसे योगकी साधना भी कर डाले, मनके वेगको भी रोके, मनको नियंत्रणमें रखे तो भी जब तक मिथ्यात्वसे युक्त है तब तक कदाचित् भी इसकी मुक्ति नहीं हो सकती। वास्तवमें श्रद्धान हुए बिना कितना ही जप तप कर लिया जाय वह मोक्षका दायक नहीं हो सकता। उसे संसारमें रुलना ही पड़ेगा। तो अब यदि अपने आपपर दया हुई हो तो भीतरमें यह सोचिये कि हम इस जीवनमें कर क्या रहे है ? मिथ्यात्व और मोह ही पुष्ट हो रहा है तो उसका जीवन सब व्यर्थ है। यों तो अनादि कालसे अनन्त जन्म मरण किया, अनेक जीवन पाये, परिजन पाये, पौद्गलिक ठाठ पाये, पर उससे लाभ क्या मिला ? आज भी यदि वास्तविक ज्ञान प्रकाश नहीं जग रहा है तो कुछसे भी कुछ कर लिया जाय उससे इस जीवका लाभ होनेका नहीं है। अपने आपका केवल अपना आत्मा ही शरण है दूसरा कोई शरण नहीं। ऐसा जानकर कुछ दया करनी चाहिए और सत्य प्रकाश चित्तमें लाइये। मैं आत्मा अमूर्त ज्ञानस्वरूप अकेला हूं, इसका दूसरा कोई कुछ नहीं है। यह अपनेको सम्हाले तो कल्याण पा लेगा और अपने स्वरूपकी सुध न ले और बाहरी पदार्थोंमें लगाव मोह राग बनाये रहे तो यह संसारमें इसी तरहके जन्म मरणके कष्ट पायगा। सो जो मिथ्यात्वयुक्त पुरुष हैं वे बाहरमें कितनी भी धार्मिक क्रियायें कर डालें तो

भी उनको मोक्षमार्ग नहीं मिलता।

ददातु दानं बहुधा चतुर्विधं करोतु पूजामतिभक्तितोऽर्हतां।
दधातु शीलं तनुतामभोजनं तथापि मिथ्यात्ववशो न सिद्धयति ॥१४३॥

दान, पूजा, शील आदि कर्तव्य करने पर भी मिथ्यात्ववशी जीवको सिद्धिका अभाव—मिथ्यादृष्टि जीव चाहे चारों प्रकारके दान भी कर लेवे तो भी उसको निराबाध सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह भी एक हिम्मत है कि अपने पाये हुए धनको दूसरोंके उपकार के लिए लगाये, दान करे सो अपेक्षाकृत ठीक है किन्तु मोहबुद्धि यदि न चले तो मोक्षमार्ग तो न मिल पायगा। कोई पुरुष जिनेन्द्र भगवानकी पूजा बड़ी भक्तिसे करे तो अपेक्षाकृत उसे लाभ मिलेगा थोड़ा, लेकिन मिथ्यात्वके वशीभूत हैं तो ऐसे पूजन आदिक करने पर भी उसे निराबाध मोक्षका मार्ग नहीं मिल पाता। कोई पुरुष शीलको खूब धारण करे याने द्रव्य ब्रह्मचर्यका पालन करे वह भी ठीक है अपेक्षाकृत, लेकिन मिथ्यात्वके वशीभूत है तो इतना त्याग करके भी उसे मोक्षमार्ग न मिल पायगा। कोई पुरुष ८-१० दिनके बड़े उपवास भी करे और नाना प्रकारके एकान्त आदिक बहुत-बहुत व्रत करे कर्मदहनके, जिनगुणसम्पतिके, णमोकार मंत्रके, किसी भी सहारेसे व्रत, उपवास करे, तीर्थप्रवृत्तिके लिए ठीक है, करे, लेकिन यदि मिथ्यात्वके वशीभूत है, मोहयुक्त है तो वह मोक्षमार्ग तो नहीं पा सकता। तो इस जीव का सर्वाधिक बैरी एक मिथ्याभाव है।

अवैतु शास्त्राणि नरो विशेषतः करोतु चित्राणि तपांसि भावतः।
अतत्त्वसंसक्तमनास्तथापि नो विमुक्तिसौख्यं गतबाधमश्नुते ॥१४४॥

शास्त्रज्ञान व विविध तपश्चरण होनेपर पर्यायबुद्धि जीवके मुक्तिका अभाव—कोई मनुष्य शास्त्रोंका भले प्रकारसे अध्ययन, अध्यापन करे, पर यदि मिथ्यात्वभावमें आसक्त है तो वह मुक्तिके सुखको तो नहीं पा सकता। उसका शास्त्राध्ययन करना शब्दोंमें है, भावभासनामें नहीं है। कोई पुरुष पवित्र भावोंसे नाना प्रकारके उग्र तपोंकी आराधना करे, परन्तु यदि वह निर्दोष तत्त्वके विचारसे विमुख है तो वह कभी भी बाधारहित मोक्षसुखको प्राप्त नहीं कर सकता। यहाँ जो यह बतलाया जा रहा है कि चाहे उपवास करे, चाहे शास्त्र पढ़े आदिक जो कहा जा रहा, सो इसमें शास्त्रके अध्ययन उपवास, जप तप आदिकमें हीनता नहीं बतायी जा रही है, किन्तु मिथ्यात्वका प्रबल बैर बताया जा रहा कि यदि मोह मिथ्यात्व है तो इतना बड़ा काम करनेपर भी वह मोक्षमार्गको न प्राप्त कर सकेगा।

विचित्रवर्णांचितचित्रमुत्तमं यथा गताक्षो न जनो विलोकते।
प्रदर्श्यमानं न तथा प्रपद्यते कुदृष्टिजीवो जिननाथशासनं ॥१४५॥

जिसके आँख नहीं है वह अंधा मनुष्य नाना रंगके बने हुए उत्तम चित्रोंको देख सकता है क्या ? आँखें अंधी हैं तो उन चित्रोंको कैसे देख सकता ? तो ऐसे ही जिसके विवेक नहीं है, विवेककी आँख फूट गई है, मिथ्यात्वका अंधा बना हुआ है वह जीव नाना प्रकारके उपदेश किए गए जिनेन्द्रके सच्चे मार्गको नहीं पहिचान सकता। मिथ्यात्व अज्ञान इस जीवका इतना घना बैरी है। तो जीवनमें कर्तव्य तो यह है कि उन सब कामोंको गौण कर देवें, पर तत्त्व-ज्ञानके पौरुषको पूर्ण मुख्यता दें, क्योंकि मददगार, शरण अपना तत्त्वज्ञान बनेगा।

तत्त्वज्ञानातिरिक्त अन्य पदार्थ व अन्य भावकी अशरणता—बाह्य पदार्थ जो समागममें मिले हैं ये मददगार नहीं बनते। जीवनमें अनेक घटनायें घटती हैं और वे घटनायें क्या हैं ? सारे कष्टके कारणभूत है। अगर किसीको विशेष धन मिल गया तो वह भी कष्टका कारण है, न मिला तो वह भी कष्टका कारण है। किसीके संतान हो तो वह भी कष्टका कारण है, न हो तो वह भी कष्टका कारण है।

इस प्रकार सारी घटनायें कष्टका ही एक रूप हैं। सो कहनेको धन तो सभीके पास है, किसीके पास अधिक भी है। तो जो भी धन मूलमें प्राप्त है उसकी रक्षाकी चिन्ता, व्यवस्थाकी चिन्ता, उसकी सम्हालकी चिन्ता और रक्षा करते-करते हानि हो जाय तो उसकी चिन्ता, धनमें कहाँ सुख पाया और कोई अगर निर्धन है, गरीब है, तो उसके भूख-प्यासकी बाधा कैसे मिटे, अनेक कठिनाइयां हैं, उसको भी कष्ट है। जिसके पुत्र है तो पुत्र तो दो ही तरहके होंगे—कोई कुपूत निकले कोई सुपूत निकले। यदि किसीका पुत्र कुपूत निकल आया तो बताओ कष्ट मानते कि नहीं ? और किसीका पुत्र सुपूत निकल आया तो उसके तो उससे भी अधिक कष्ट है कुपूत निकल आया तो एक बार घोषणा कर दी कि मेरा इससे कुछ मतलब नहीं। जो इससे व्यवहार करे, लेन देन करे सो खुद जाने, और सुपूत निकला तो जिंदगी भर उसके पीछे चिन्ता, इसे मैं खूब कमाकर धर जाऊँ, यह बड़ा आज्ञाकारी है, बड़ा गुणवान है, कभी लौटकर बात नहीं कहता, सो उसके सुखी करनेके लिए जिन्दगीभर चिन्तन करेंगे, परिश्रम करेंगे कि मैं इसके लिए खूब धन जोड़कर धर जाऊँ। तो आखिर कष्टका ही तो कारण बना। संसारका कौनसा समागम ऐसा है परपदार्थका जो शान्तिका साधन बने ? सब कष्टके कारण बनते हैं। भले ही मोहमें वे न मानें, पर हैं वे सब कष्टके ही कारण। सो जिसने विवेक नहीं पाया, जो मिथ्यात्वसे अंधा है वह कभी सुखी नहीं हो सकता।

अभव्यजीवो वचनं पठन्नपि जिनस्य मिथ्यात्वविषं न मुंचति।
यथा विषं रौद्रविषोऽतिपन्नगः सशर्करं चारुपयः पिबन्नपि ॥१४६॥

अभव्य जीवके अध्ययनकी भी मिथ्यात्वविषपोषकता—कोई विषधर सर्प भयंकर

विष वाला यदि मीठे दूधको पी ले तो वह क्या उगलेगा ? विष ही उगलेगा, अमृत नहीं, यद्यपि उसने पी तो अच्छी वस्तु, सही दूध है, मीठा मिला हुआ है, पर वह आधार ऐसा है कि वहाँ दूध पहुंच जानेपर विषरूप परिणम जाता है । तो जैसे विषैला सर्प मीठे दूधको पीकर विष ही उगलता है इसी प्रकार अभव्य जीव जिनेन्द्र भगवानके वचनोंको पढ़ता हुआ भी मिथ्यात्वरूपी विषको ही उगलता है । आपने निर्णय ही यह बनाया है कि मुझे दोष निरखना है और आप यदि गुण निरखने चलें तो दीन भिखारियोंमें भी कोई न कोई गुण मिलेंगे । तो जैसी दृष्टि बनायेंगे वैसा ही उपयोग बन जायगा । मगर आशय मिथ्या है, मोह भरा है, अपने आपको सुधसे पतित है, च्युत है तो वह कितना भी उपदेशको सुने, पर उसमें से दोष ही निकालेगा, मिथ्यात्वको ही प्रकट करेगा । भव्य पुरुष समय पाकर अपने शुद्ध परिणामोंके बल से मिथ्यात्वको तोड़ देगा, पर जिनका होनहार खोटा है, अभव्य पुरुष हैं वे तो सदा वैसे ही रहते हैं । वे अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ सकते । जैसे साँप अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ पाता, दूध भी पिये तो भी विष ही उगलेगा । ऐसे ही कोई कैसा ही विद्वान् हो, उपदेश भी सुने, यदि श्रोता अभव्य है तो वह दोष ही देखेगा—भाई बात तो सब ठीक कही, पर एक इतनी कमी दिखी ।

परके दोष न निरखकर स्वके दोष देखकर उसके दूर करनेके पौरुषमें विवेक—कमी तो साधुवोंमें भी होती, अन्यथा वे साधु ही क्यों होते ? फिर तो वे भगवान कहलाते । जिनमें कमी नहीं है वे भगवान हैं । साधुवोंमें कमी होती है, उस कमीको दूर करनेकी साधना करते हैं, उनको ही तो साधु कहते हैं । अब कमीपर कोई दृष्टि डाले तो बतलावो उसका जो दिल है वह दोषकी फोटोसे भर गया या नहीं ? जो दूसरोंके दोष देखनेकी आदत बनाये रखते हैं उनका उपयोग दोषोंकी फोटोसे भरा हुआ रहता है । और गुणोंको देखे तो उसका उपयोग गुणोंकी फोटोसे भरा हुआ होता । तो मनुष्यका यह कर्तव्य हैं कि वे दोष देखें, कमी देखें तो खुदकी कमी देखें । मुझमें कितनी कमी है । भले ही सम्यक्त्व भी हो गया, पर जो गुण कुछ विकासमें आये हैं उनको न देखे, किन्तु जो दोष रह गए हैं उनको देखे । अगर अपने गुणोंको देखेंगे जो कि पर्यायरूप है तो उससे तो अहंकार बनेगा और अपने दोष देखेंगे तो उन दोषोंको दूर करनेका पौरुष बनायेगा । और यदि अपने गुण ही देखना है तो जो अल्प विकास पर्यायरूपमें जो गुण है उनको न देखें, किन्तु आत्माके जो सहज स्वभावरूप शाश्वत शक्तिको देखें । जो कुछ थोड़े विकसित हुए हैं उन गुणोंपर दृष्टि न डालिये अपनी । गुण देखें तो स्वभावमें देखें और दोष देखें तो जिससे अपने दोष दूर हो सकें उसे देखें । अब दूसरोंमें देखिये तो उनके गुण निहारिये ताकि अपनेको प्रेरणा मिले कि इस तरहकी वृत्ति मेरी भी

होनी चाहिए। तो गुण देखिये दूसरोंके और दोष देखिये अपने।

स्वसहज गुणोंकी उपासनामें प्रगति—अपने गुण देखना हो तो अनादि अनन्त अहेतुक सहज स्वभावरूप अपना चैतन्यगुण निरखियेगा। बाहरमें देखा तो यह जीव उलझनमें पड़ गया। सारी उलझनें दिख रही हैं बाहर। जब अपने स्वरूपके अन्दर देखें तो वहाँ सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं। जितनी उलझनें हमने बाह्य पदार्थोंके लगावसे बना डाली है एक क्षणमें आतमस्वभावकी दृष्टि होते ही सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं। चाहे बड़ा कठिन भी हो कि मकान कैसे छोड़ा जा सकता, यह धन कैसे दूर हो गया, लोग मुझसे कैसा बुरी तरह बोलते हैं, इन्होंने मेरा कितना बड़ा तिरस्कार किया···यों कितनी ही उलझनें मिलेंगी चित्तमें, मगर सारीकी सारी उलझनें एक क्षणके आत्मतत्त्वकी दृष्टिमें खत्म हो जाती हैं। क्या है, परकी परिणति थी, उससे मेरेमें क्या आता था। तो अपने स्वभावके दर्शन होते ही सारी उलझनें समाप्त होती हैं। तो सुखके लिए बाहर कहीं उद्यम नहीं करना है, किन्तु अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि करना, उपासना करना उसे निहारे रहना, प्रयोग करना है।

भजंति नैकैकगुणं त्रयस्त्रयो द्वयं द्वयं च त्रयमेककः परः।
इमेत्र सप्तापि भवंति दुर्दृशो यथार्थतत्त्वप्रतिपत्तिवर्जिताः ॥१४७॥

मिथ्यादृष्टिके रत्नत्रयका अभाव—तीन बातें हैं—सम्यग्दर्शन न होना, सम्यग्ज्ञान न होना, सम्यक्चारित्र न होना। दो भङ्गोंके रूपमें रखा जाय तो मुख्यताकी दृष्टिसे ३ भंग और हो जायेंगे। तीन तो एक-एकके और तीन दो-दो के। सम्यक्त्वका अभाव और सम्यग्ज्ञानका अभाव अथवा सम्यक्त्वका अभाव, सम्यक्चारित्रका अभाव अथवा सम्यग्ज्ञानका अभाव, सम्यक्चारित्रका अभाव। और तीनोंका अभाव है, वह एक भंग हुआ अथवा जो पहले ७ तरहके मिथ्यादृष्टि कहे गए उनमें प्रथम तीनके तो एक गुण सम्यग्दर्शन नहीं। अगले तीन मिथ्यादृष्टियोंके दो गुण नहीं और अन्तके एकके अतिरिक्त अगृहीत मिथ्यादृष्टिके तीनों ही गुण नहीं। वस्तुतः इन सभी मिथ्यादृष्टिवोंके तीनों ही गुण नहीं। वस्तुतः इन सभी मिथ्यादृष्टियोंके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं है। जिसके सम्यक्त्व नहीं उसके दो हो ही नहीं सकते।

अनंतकोपादिचतुष्टयोदये त्रिभेदमिथ्यात्वमलोदये तथा।
दुरंतमिथ्यात्वविषं शरीरिणामनंतसंसारकरं प्ररोहति ॥१४८॥

सम्यक्त्वघातक सप्त प्रकृतियोंके उदयकी अनंतसंसारकरता—सम्यग्दर्शनका घात करने वाली ७ प्रकृतियाँ हैं। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। ये ७ प्रकृतियाँ सम्यक्त्वकी घातक बतायी गई हैं। इनके उदयमें

जीवके मिथ्यात्वभाव रहता है और इस मिथ्यात्वभावके कारण संसारमें निरन्तर दुःख भोगना पड़ता है। अनन्तानुबंधी क्रोध—जो क्रोध मिथ्यात्वका सम्बंध बनाये, मिथ्यात्वको पुष्ट करे उसे अनन्तानुबंधी क्रोध कहते हैं। अनन्तका अर्थ है मिथ्यात्व, उसका जो अनुबंधन कराये उसे कहते हैं अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये सम्यक्त्वके घातक हैं।

धार्मिक ओटमें या प्रसंगमें कषायोंके होनेकी अनन्तानुबन्धिता—अनन्तानुबंधीके उदाहरणमें यह उदाहरण भी हो सकता है कि धार्मिक प्रसंगकी कोटिमें क्रोध, मान, माया, लोभ करना, जैसे धार्मिक व्यवस्था, प्रबंध संचालन या जो धार्मिक कार्य हैं उनके प्रसंगमें क्रोध आना एक हठवादके कारण जैसे पर्वके दिनोंमें पूजन करते हैं, अब रोज रोज अभिषेक करते हैं मानो प्रारम्भमें और किसी दिन उस जगह कोई दूसरा आ जाय तो उसपर क्रोध कर बैठे तो यह अनन्तानुबंधी क्रोध है। कोईसा भी धर्मकार्य हो उस बीच क्रोध आये तो यह अनन्तानुबंधी क्रोध है। जिन लोगोंकी ऐसी प्रकृति है कि पूजा करते समय मान लो धूप दान न आया या अग्नि न आयी तो लोग माली या मंदिरके पंडितपर झल्ला जाते हैं, उस पर बहुत नाराज होते हैं तो वह अनन्तानुबंधी क्रोध है। प्रभुकी पूजा तो बिना द्रव्यके भी हो लेती है, चुपचाप भी हो लेती है, आँखें बंद करके भी हो लेती है, वहाँ तो भक्तिभाव चाहिये, पर उस प्रसंगमें बीच-बीच क्रोध आना यह भलेका सूचक नहीं है। हाँ व्यवस्थाके नाते आगे पीछे बात करना वह तो व्यवस्थामें शामिल है, पर जब पूजा कर रहे हों, जहाँ कि भावशुद्धि रहनी चाहिए वहाँ यदि भाव बिगड़ जायें तो वह अनन्तानुबंधीका द्योतक है। कोई धर्मकार्यके प्रसंगमें घमंड आये—मैं पुजारी हूं, मैं इतने दिनोंसे लगातार पूजा करता आ रहा हूं, प्रबंधक हूं यह अनन्तानुबंधी मान है। कारण यह है कि अन्य जगह कोई पाप कर आये तो धर्मस्थानमें उन पापोंको नष्ट करनेका मौका मिलता है और यदि कोई धर्मस्थानमें ही पाप करे तो फिर उसको अन्यत्र कहाँ मौका मिलेगा? अनन्तानुबन्धी माया—धर्मका कार्य करते हुएमें मायाचार रखना, दिखानेके लिए अन्य करते और अपने आपको जगह आचरण और करते, जैसे अभी तक तो ढीले-ढाले बैठे या खड़े पूजा कर रहे थे, जल्दी-जल्दी बोलकर कर रहे थे, पर कोई दो-चार दर्शक लोग आ गए तो झट अटेन्शन हो गए और बड़ा राग आलापकर पूजा करने लगे। तो यह अनन्तानुबंधी माया है। ऐसे ही धर्मका कार्य कोई सामने आये और अपनेमें सामर्थ्य बहुत है और उस प्रसंगमें तृष्णा लोभ कर जाय तो वह अनन्तानुबंधी लोभ है। एक ही बात नहीं, अन्यत्र भी यह अनन्तानुबंधी लोभ चलता है। तो जहाँ ये चार कार्य हैं वहाँ प्रकट नहीं हो पाता। भले ही एक स्थिति ऐसी आती है कि सम्यक्त्व छूट गया, मिथ्यात्वमें नहीं आ पाया और एक समयसे लेकर अधिकसे अधिक

६ आवली पर्यन्त अनन्तानुबंधी रहता है। जिसे कहते हैं सासादन गुणस्थान, पर वह तो मिथ्यात्वके ही सम्मुख है। वहाँ भी अज्ञान है। तो अनन्तानुबंधी चार कषाय और दर्शनमोह की तीन प्रकृतियाँ इनके उदयसे मिथ्यात्व होता है। जहाँ मिथ्यात्वका उदय है वहाँ सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिकी क्या चर्चा ?

दर्शनमोहकी प्रकृतियोंका वैचित्र्य—एक स्थिति ऐसी होती है कि मिथ्यात्व नहीं है और सम्यग्मिथ्यात्वका उदय है, जिसे कहते हैं तीसरा गुणस्थान, मगर वह सम्यक्त्वके प्रसाद से ही प्रकट हुआ है। जिसको पूर्ण सम्यक्त्व नहीं हुआ उसके तीसरा गुणस्थान नहीं हो सकता। भले ही वह मिथ्यादृष्टि होकर तीसरा गुणस्थान पा ले, पर सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी सत्ता तो सम्यक्त्व होनेके समय ही तो बनी थी। यही सम्यक्प्रकृतिका हाल है। सम्यक्-प्रकृति सम्यक्त्वका घात नहीं करती, पर सम्यक्त्वमें चल मलिन अगाढ़ दोष उत्पन्न करती रहती है। इसका नाम सम्यक्त्वप्रकृति रखा है। सम्यक्त्वप्रकृतिके मायने क्या है कि सम्यक्त्व होते हुए भी उसमें दोष उत्पन्न हों। सम्यक्त्व नाम उसका रख दिया है, पर अर्थ उसका दोषोत्पादक है और उसका उदय वेदक सम्यक्त्वमें होता है। सो यह प्रकृति भी सत्तामें तब आयी जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व हुआ था। उस क्षण मिथ्यात्वके तीन टुकड़े हुए थे। सो जहाँ मिथ्यात्वका उदय है वहाँ इन २ प्रकृतियोंकी क्या चर्चा ? भले ही पड़े रहें, पर प्रबल तो मिथ्यात्वकर्म है।

संसारी जीवोंकी कर्माक्रान्तता—संसारमें जितने भी प्राणी हैं उन सबके साथ शुभ और अशुभ कर्म लगे हैं और उन्हीं शुभ अशुभ कर्मोंकी प्रेरणासे ये संसारी जीव चारों गतियों में डोलते रहते हैं। तो जो भी संसारमें कष्ट हैं वे कर्मका निमित्त पाकर हुए हैं। जीवका स्वभाव है नहीं कष्ट होनेका। वह तो आनन्दस्वरूप है, पर जहाँ ऐसे कर्म उदयमें होते हैं वहाँ दुःखकी स्थिति बन जाती है। ये आठों प्रकारके कर्म इस जीवके लिए एक कीचड़ हैं। इससे मलीमसता उत्पन्न होती है। जैसे-जैसे इन कर्मोंका नाश होता है वैसे ही वैसे आत्माके गुणों का विकास होता चला जाता है। आत्मामें शक्ति अद्भुत है, अनन्त है, पर कर्मोदय इस प्रकार निमित्त हो रहा है कि यह जीव स्वयं बलहीन हो जाता है और दोषीक बन जाता है। जब कभी आत्माको अपने सहज स्वरूपका अनुभव बने तो वहाँ आत्मा बलिष्ट होता है। तो निमित्तनैमित्तिक भावका अब पल्टा हो गया। आत्माके शुद्ध भावका निमित्त पाकर अब कर्मोंमें निर्जरा होने लगती है। पर जहाँ मिथ्यात्वका तीव्र उदय है वहाँ इस जीवका क्या वश चले, तिसपर भी जब विवेक पाया है तो उद्यम करें तत्त्वज्ञानका, भावनाका, भक्तिका, जिसके प्रसादसे सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंमें कुछ कमजोरी आयी और मौका सम्यक्त्व पानेका

मिल गया।

अलब्धदुग्धादिरसो रसावहं तदुद्भवो निंबरसं कृमिर्यथा।
अदृष्टजैनेंद्रवचोरसायनस्तथा कुतत्त्वं मनुते रसायनं ॥१४६॥

मिथ्यादृष्टिकी कुतत्त्वमें आस्था—जैसे निम्बोलीमें अर्थात् नीमके फलमें उत्पन्न हुआ कीड़ा उस नीमके रसको ही मधुर और इष्ट समझता है। उसने कभी दुग्ध अथवा मीठेका रस जाना ही नहीं है। तो नीमके रसको वह मधुर समझता है। ऐसे ही कुछ मिथ्यादृष्टि जीवोंने जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वरूपी रसायनको जाना ही नहीं है तो उनको रागद्वेष मोह अथवा कुबुद्धि कुनयकी बात ही विदित होती है। बड़ा ही सौभाग्य है उन मनुष्योंका जिनको जैनशासनमें प्रीति, आत्मस्वभावको दृष्टिमें प्रीति, धार्मिकतामें अनुराग होता है। और इस शुद्ध तत्त्वकी प्रीतिमें कुछ शान्तिका भी अनुभव होता है। और जो मनुष्य पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें अनुराग रखता है, उनके संचयका ही मात्र ध्येय समझता है, उसका उपयोग निरन्तर बाहर ही बाहर भटकता रहता है और उसे चैन नहीं पड़ती। उसे शान्तिलाभ नहीं मिल सकता। परवस्तुवोंके उपयोगमें शान्ति सम्भव ही नहीं है। जैसे कोई मछली अपने जल के स्थानसे उछलकर रेतीली भूमि पर गिर जाय तो उसका तड़पना ही रहेगा और तड़प-तड़पकर मरना होगा, ऐसे ही अपना उपयोग इस ज्ञानसमुद्रसे, इस आत्मस्वरूपसे बाहर निकल गया तो इस उपयोगने अपने इस ज्ञानसागरको तो नहीं जाना और जानने लग गया बाह्य विषयोंको। तो जो उपयोग यों बाह्य विषयोंमें गिर पड़ेगा वह तो तड़पेगा और तड़प-तड़पकर विकट कर्म बांधेगा और तड़पनेकी म्याद बढ़ाता रहेगा, भव-भवमें जन्म-मरण करता रहेगा।

ददाति दुःखं बहुधातिदुःसहं तनोति पापोपचयोन्मुखीं मतिं।
यथार्थबुद्धिं बिधुनोति पावनीं करोति मिथ्यात्वविषं न किं नृणां ॥१५०॥

मिथ्यात्वविषकी दुःखकारिता, पापविस्तारकता व सद्बुद्धिध्वंसकता—यह मिथ्यात्वरूपी विष इस जीवको अतीव दुःसह दुःख देता है। इस मिथ्यात्व भावके ही कारण पाप कार्योंकी ओर बुद्धिको लगा देता है। विषयके भोग और उपभोगोंमें ही यह अपनेको महत्त्वशाली जानता है। इसीसे ही कल्याण समझता है। इसमें ही लाभ समझता है। किसीके पास बहुत धन इकट्ठा हो गया तो वह यह समझता है कि मैंने बहुत कमाया और महत्त्व ही महत्त्व पाया, लाभ पाया, पर जो आत्मा है उस ओर तो देखो कि परपदार्थोंकी ओर बुद्धि लगाकर उसने अपना सब कुछ खोया या पाया? उसने सब खोया। भले ही धनलाभ हुआ, पर उससे वह अपनेको महत्त्वशाली समझे, बड़प्पन जाने और उसमें अपनेको कृतार्थ माने तो

उस जीवने अपना सब कुछ खोया ही है, कमाया कुछ नहीं है। कमाया तो उसने है जो अपने सहज स्वरूपको निरखता है, और उस सहज स्वरूपकी दृष्टिमें ही अपना लाभ समझता है।

ज्ञानीका उद्देश्य व परमार्थनिधिलाभ—ज्ञानीका उद्देश्य सहज आत्मस्वरूपकी उपासना है। बाह्य तत्त्वोंका निवारण करना ज्ञानका ध्येय नहीं होता। ज्ञानी गृहस्थ भी यद्यपि लगा है सबके बीच, पर उसकी धुनमें केवल अन्तः स्वरूप ही बसा है। जैसे किसीका कोई इष्ट गुजर जाय तो भले ही वह रिस्तेदारोंके बीच भी बैठा है, भोजन भी करता, लोगों की बात भी सुनता, पर लक्ष्य और दृष्टि मरे हुए इष्टकी ओर ही है। उसका ख्याल और प्रतीति नहीं छोड़ पाता। तो ऐसे ही धर्मात्मा ज्ञानी पुरुष भले ही समय-समयपर अन्य-अन्य कार्योंमें लगा है। घरमें, दुकानमें लोगोंसे वार्तामें भले ही लगा है, मगर एक क्षणको भी वह अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति नहीं छोड़ता। जैसे लोगोंको अपने-अपने नाममें बड़ी प्रीति और प्रतीति लगी हुई है, वह एक सेकेण्डको भी नहीं हटती। भले ही सो गया, मगर अपने नाम और पर्यायके प्रति जो वासना है उसे बार-बार रखे हुए है। इन्द्रियाँ बेहोश हैं सो विकार मालूम नहीं हो रहा, पर प्रतीतिमें उसके अपने पर्याय और नाममें आत्मत्वकी आस्था है। जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको हर प्रसंगमें चाहे वह खाये-पिये, चाहे किसीसे वार्तालाप करे, पर प्रतीति अपने अकिञ्चन चैतन्यस्वरूपकी ही है। मैं तो यह हूं, बाकी बाहरी रंग ढंग ये सब मैं नहीं हूँ। मैं तो अमूर्त ज्ञानमात्र हूं, ऐसी आस्था ज्ञानीके होती है। इस जीवका प्रबल बैरी है मिथ्यात्वभाव। इस मिथ्यात्वके कारण जीवपर सभी प्रकारके संसार-संकट छा जाते हैं।

अनेकधेति प्रगुणेन चेतसा विविच्य मिथ्यात्वमलं सदूषणं।
विमुच्य जैनेन्द्रमतं सुखावहं भजंति भव्या भवदुःखभीरवः ॥१५१॥

भव्यों द्वारा कुपथको छोड़कर सुपथका ग्रहण—जो भव्य पुरुष हैं, सम्यक्त्वके पात्र हैं वे संसारमें जन्म मरण धारण करनेसे डरते हैं। देखिये क्या लाभ मिलता ? मरे, फिर कोई न कोई जन्म ले लिया, चिड़िया ही बन गए, पशु ही बन गए, न जाने कहाँ कैसे रहना पड़ता है, न जाने कैसे-कैसे शरीर मिलते हैं, ये सब बड़ी विडम्बनाकी बातें हैं। जन्मे फिर मर गए, कितना कष्ट है ? चिड़ियोंके अंडेमें पहुंचे, उस अंडेमें रह रहे, कुछ जरासे बड़े हुए तो किसी बंदरने दबोचा या किसी बिल्लीने उठा लिया, किसी तरह मर गए। तो जन्म-मरण की इस कसरतमें इस जीवको लाभ क्या मिलता है ? अबसे पहले भी तो जन्म था किसी भव में। वहाँसे तो मरकर आये हैं। क्या लाये हैं साथ ? वहाँका क्या है ? अब यहाँसे मरकर जायेंगे सो पता नहीं कहाँ उत्पन्न हों ? यदि सम्यक्त्व नहीं है और विषयवासना ही चल रही है तो उसका फल है कीड़ा-मकोड़ा एकेन्द्रिय आदिक होना। हुए, जन्म तो हो गया, पर

किस कामका ? जन्मे और मरे, यह कसरत ज्ञानीको पसंद नहीं है । ज्ञानी पुरुष जन्म मरण धारण करनेसे डरता है । वह नाना प्रकारके दोषोंसे दूषित सर्व प्रकारके मिथ्यात्वको छोड़कर जिनेन्द्र मतको ही धारण करता है । मिथ्यात्व सर्व दोषोंसे दूषित भाव है । जहां अपना ही पता नहीं और बाहरी-बाहरी पदार्थोंमें ही मोह बना हुआ है, सही सुध है ही नहीं कि मैं क्या हूँ, तो ऐसा प्राणी तो बड़े अंधेरेमें है । न जाने क्या-क्या सोच रहा है ? वह स्वप्न जैसी स्थिति है । जैसे स्वप्नमें कोई बड़ा खजाना दिख गया अथवा किसी घसियारेको स्वप्नमें राज्य मिल गया तो सब लोग उसे सलाम करने लगे, हुक्म मानने लगे और सो रहा जमीन पर, सिरके नीचे ईंट रखे हुए हैं और अचानक किसी घसियारेने जगा दिया कि उठो चार बज गए, अब कब चलोगे, कब घास बेचोगे ? तो चूंकि वह स्वप्नमें तो राज्यपद पाये हुए था । जगनेके बाद तो कुछ नहीं तो वह अन्य लोगोंसे लड़ने लगा कि तुमने हमारा राज्य छीन लिया । अरे था कहाँ राज्य ? केवल एक स्वप्नकी बात थी, तो वह तो सोतेकी बात है, जगनेमें भी उसका है कहाँ ? केवल कल्पनामें, मोहमें मान रहे कि मेरा है । कहीं मेरे माननेसे कोई वस्तु मेरी बन सकती है क्या कि आत्मस्वरूप ही मेरा है, अन्य कुछ मेरा नहीं है । ऐसी बुद्धि भव्य जीवोंको प्राप्त होती है । सो वे मिथ्यात्वको छोड़कर अनन्तसुख देने वाले जिनेन्द्र देव द्वारा बताये गए धर्मभावमें प्रवेश करते हैं । मिथ्यात्वसे हटना और सम्यक्त्व भावमें आना यह है सच्ची कमाई और वह नहीं है तो पुद्गलका ढेर कुछ भी हो उससे आत्माका क्या लाभ ?

विमुक्तशंकादिसमस्तदूषणं विमुक्ततत्त्वाप्रतिपत्तिमुज्ज्वलं ।
वदंति सम्यक्त्वमनंतदर्शना जिनेशिनो नाकिनुतांघ्रिपंकजाः ॥१५२॥

प्रभु द्वारा निर्दोष सम्यक्त्वका निरूपण—अनन्त दर्शनके धारी देवेन्द्रों द्वारा पूजित भगवानने दिव्यध्वनिमें उपदेश किया है कि शंका आदिक दोषोंसे रहित जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं । शंका आदि दोषोंसे रहित मायने जो सम्यग्दर्शनके ५ अतिचार बताये गए हैं उन अतिचारोंसे रहित सम्यक् सम्यक्त्वनिरतिचार सम्यक्त्व कहलाता है । उन अतिचारोंसे रहित सम्यक् सम्यक्त्व निरतिचार सम्यक्त्व कहलाता है । शंकाके मायने हैं जिनेन्द्रवचनोंमें आत्मस्वरूपमें संदेह करना, शंका रखना यह अतिचार है । काङ्छाका अर्थ है भोगोंकी, भोगोंके साधनोंकी वाञ्छा करना अतिचार है । विचिकित्साका अर्थ है कर्मोदयसे क्षुधा, तृषा आदिक कोई विपदा आ पड़े तो उसमें विषाद करना विचिकित्सा है तथा साधुजनोंकी सेवामें उनके मलिन शरीरको देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा है, यह सम्यक्त्वका अतिचार है । अन्य दृष्टि प्रशंसा—

अन्य दर्शन अर्थात् मिथ्यादर्शनका जिनके प्रवर्तन है ऐसे साधकोंकी प्रशंसा करना सम्यग्दर्शन का अतिचार है। यह प्रशंसा शरीरसे हो, मनसे हो, वह सब अतिचार है और मिथ्यादृष्टिका स्तवन करना, गुणानुवाद करना, वचनोंसे प्रशंसा करना, यह अतिचार है। इन ५ अतिचारों से रहित ७ तत्त्वोंका श्रद्धान सम्यक्त्व कहलाता है। जीव चैतन्यस्वरूप है। इसके साथ अनादिसे अजीव कर्मोपाधि लगी आयी है। जीवमें कर्मका आना, कर्मवर्गणामें कर्मत्व आना आश्रव है। कर्मोंका अनेक समयके लिए जीवमें बँध जाना बंध है। कार्माणवर्गणामें कर्मत्व न आना सम्वर है। जो बँधे कर्म हैं उनका झड़ जाना निर्जरा है और सर्व कर्मोंका विकार हट जाना, क्षय हो जाना मोक्ष है। इन ७ तत्त्वोंका श्रद्धान हो और उसके माध्यमसे परिचय करके जीवके सहज स्वरूपका श्रद्धान होना वह सम्यग्दर्शन कहलाता है।

परोपदेशेन शशांकनिर्मलं नरो निसर्गेण तदा तदश्नुते।
क्षयं शमं मिश्रमुपागते मले यथार्थतत्त्वैकरुचेर्निषेधके ॥१५३॥

सम्यक्त्वकी निसर्गजता व अधिगमजता—सम्यग्दर्शनके दो भेद किए गए हैं—(१) निसर्गज सम्यग्दर्शन और (२) अधिगमज सम्यग्दर्शन। सो कोई भी सम्यक्त्व होना होता है सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशममें। केवल वर्तमान समयमें उपदेश आदिक मिलने न मिलनेका अन्तर है। निसर्गज सम्यग्दर्शन जिसको उत्पन्न होता है उसने कभी पूर्वभवमें देशनालब्धि पायी थी और उसके संस्कारसे आज इस भवमें बिना उपदेश पाये सम्यक्त्व हो रहा है तो भले ही हो रहा है तो भी ७ प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशम बिना नहीं हो पाता। वे ७ प्रकृतियाँ यथार्थ तत्त्वोंके श्रद्धानको रखने वाली हैं, जिनमें तीन दर्शनमोहनीयकी हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति। चार चारित्रमोहनीयकी हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। इन ७ प्रकृतियोंके उपशम क्षय अथवा क्षयोपशमसे सम्यक्त्व होता है। किसी भी नवीन परिणतिके होनेमें दो कारण हुआ करते हैं—(१) अंतरंग कारण, (२) बहिरंग कारण। जिनका दूसरा नाम है उपादान कारण और निमित्त कारण। सो ऐसे ही जिस जीवके सम्यक्त्व न था और अब सम्यक्त्वका आविर्भाव हो रहा है तो उसमें उपादान कारण तो जिसमें सम्यक्त्व हो रहा है वह जीव है और निमित्त कारण सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंका उपशम, क्षय व क्षयोपशम है। उपशमका अर्थ है कर्मोंका दब जाना उदयमें न आ पाना। जैसे कोई मलिन तेल है तो उसमें फिटकरी डालनेसे उस तेलमें रहने वाले मलका उपशम हो जाता है। दब जाता है। वही तेल यदि दूसरी शीशीमें निखार लिया जाय तो वहाँ मलका अंश भी नहीं है। वह क्षय जैसी चीज है और वह मलिन दबा हुआ तेल यदि हिल जाय तो उसका मैल कुछ व्यक्त होता है कुछ नहीं रहता है। ऐसी

स्थिति क्षयोपशमकी होती है। अनादिकालसे यह आत्मा कर्म द्वारा मलिन था। इस आत्मा में उपदेश आदिकके कारण दर्शन गुणको ढाकने वाले कर्मका उदय न आये, कुछ कालके लिए उस कर्मके फलका मिलना न हो तो यह उपशम कहलाता है। सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियों का सर्वथा नाश हो जाय उसका नाम क्षय है और सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंमें से ६ प्रकृतिनों का उदयाभावी क्षय हो, उन्हींका उपशमन और सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंका उदय हो तो यह क्षयोपशम है, सो निमित्त कारणमें अंतरंग निमित्त है ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षय, क्षयोपशम, बाह्य कारण है दूसरेका उपदेश मिलना, जिनबिम्बका दर्शन होना आदिक। ये सम्यक्त्व होते समय तो नहीं हैं कारण, पर सम्यक्त्वसे पहले जो शुभोपयोग हुआ था उस शुभोपयोगमें ये आश्रयभूत कारण पड़े थे। चूंकि शुभोपयोग हुए बिना सम्यक्त्व नहीं हुआ और शुभोपयोगमें ये आश्रयभूत कारण पड़े तो इन्हें भी सम्यक्त्वका बाह्य कारण कहा जाता है। इस प्रकार निमित्तकी ओरसे देखनेपर सम्यक्त्वके तीन भेद हैं—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक, और परोपदेश आदिक वर्तमान भवमें न हों तथा हों इस अपेक्षासे दो भेद हैं—(१) निसर्गज सम्यग्दर्शन और (२) अधिगमज सम्यग्दर्शन।

सुरेन्द्रनागेंद्रनरेंद्रसंपदः सुखेन सर्वा लभते भ्रमन् भवे।
अशेषदुःखक्षयकारणं परं न दर्शनं पावनमश्नुते जनः ॥१५४॥

अशेषदुःखक्षयकारणभूत सम्यक्त्वकी दुर्लभता— इस संसारमें भ्रमण करता हुआ यह जीव बड़ी सुगमतासे देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्रकी सम्पत्तियोंको सबको पा लेता है। परन्तु इस पवित्र सम्यग्दर्शनसे जो कि समस्त दुःखोंके क्षयका कारण है उसे यह मनुष्य नहीं प्राप्त कर पाता। इस छंदमें सम्यग्दर्शनकी दुर्लभता बतायी है। सम्यग्दर्शनको हर एक कोई पुरुष नहीं प्राप्त कर पाता। जितना सुलभ संसारके बड़े-बड़े वैभवोंको मिलना है उसके मुकाबलेमें सम्यग्दर्शनका पाना अतीव दुर्लभ है। इस जीवने अनेक वैभव संपदायें अनेक भवोंमें पायी, पर इस जीवेका कुछ पूरा न पड़ा। सम्यक्त्व एक ऐसा पवित्र विकास है कि जिसके होनेपर वह आत्मा नियमसे निर्वाण प्राप्त करेगा।

जनस्य यस्यास्ति विनिर्मला रुचिर्जिनेंद्रचंद्रप्रतिपादिते मते।
अनेकधर्मान्विततत्त्वसूचके किमस्ति नो तस्य समस्तविष्टये ॥१५५॥

सम्यग्दृष्टिकी सम्पन्नता—जो आत्मा सर्वज्ञ प्रणीत जीवादिक तत्त्वोंमें निर्दोष श्रद्धा रखता है उन आत्मावोंके लिए इस लोकमें कोई भी पदार्थ दुष्प्राप्य नहीं है। समस्त सांसारिक सुख मानो उनके हाथके खिलौने ही हैं। लोकमें जो भी बड़े-बड़े पद प्राप्त होते हैं चक्री, नारायण, बलभद्र, तीर्थंकर आदिक वे सब यद्यपि होते हैं पुण्योदयसे, लेकिन इस प्रकारका

पुण्यबंध सम्यग्दृष्टि जीवके शुभ राग होनेपर होता है। तो सम्यक्त्व होनेपर ही ऐसा पुण्योदय संभव है, जिसके उदयमें लोकपूजित बड़े पदोंकी प्राप्ति होती है, इसीसे यहाँ यह कहा गया है कि जिन जीवोंको भगवत् प्रणीत तत्त्वोंमें निर्दोष श्रद्धा है उनके लिए लोकमें कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं है। सत्य सुख चाहने वाले पुरुषोंका कर्तव्य मात्र एक ही है—अपने आत्माके सहज स्वरूपका अनुभव, दर्शन, प्रत्यय करना। एक इस आत्माकी सम्हाल होनेपर जो इस लोकमें अच्छा होना चाहिये वह सब विधान बनता चला जाता है। और जिस अंतस्तत्त्वका विकास होना चाहिए वह भी विधान इसके साथ बनता चला जाता है। तो उन्नतिका मूल हेतु सम्यक्त्वका प्रादुर्भाव है। उसकी प्राप्ति सहज आत्माके अनुभवसे बनती है। ऐसे अनुभव की पात्रता भेदविज्ञानसे बनती है। भेदविज्ञानका लाभ वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाननेसे होता है। अतः प्राथमिक कर्तव्य यह है कि वस्तुका स्वरूप यथार्थ समझनेका पौरुष करें।

विधाय यो जैनमतस्य रोचनं मुहूर्तमप्येकमथो विमुंचति।
अनंतकालं भवदुःखसंगतिं न सोऽपि जीवो लभते कथंचन ॥१५६॥

सम्यक्त्वसे संसारपरिपाटीका प्रक्षय—जो जीव जिनेन्द्र प्रतिपादित तत्त्वोंमें एक क्षण भी श्रद्धान कर लेता है वह जीव भी अनन्तकाल तक संसारमें परिभ्रमण करनेकी परिपाटी को तोड़ डालता है। सम्यग्दर्शनकी स्थिति कमसे कम अन्तर्मुहूर्त है। उपशम सम्यक्त्व अंतर्मुहूर्तसे अधिक टिकता ही नहीं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी किसीके जघन्य अन्तर्मुहूर्त रह सकता है। तो यों कोई जीव मुहूर्तके भीतर ही सम्यग्दृष्टि बन जाय, पीछे मिथ्यादृष्टि हो जाय तो भी वह पुरुष अनन्तकाल तक तो संसारमें परिभ्रमण न करेगा। तो यों चाहे बहुत थोड़े समयके किए ही सम्यक्त्व पाया गया है, पर सम्यग्दर्शनके प्रतापसे इतना कर्मभार दूर हो गया और ऐसा संस्कार अपेक्षाका टूट गया कि सम्यक्त्व मिटनेपर भी यदि वह संसारमें रहेगा भी तो अधिकसे अधिक कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन तक ही रह सकेगा, यह तो बहुत विरली बात कही है, पर निकट कालमें ही वह सम्यक्त्व पायगा और उच्च गुणस्थानमें चढ़ेगा और क्षपक श्रेणीमें प्रवेश कर कर्मोंका क्षय करता हुआ निर्वाण प्राप्त कर लेगा।

यथार्थतत्त्वं कथितं जिनेश्वरैः सुखावहं सर्वशरीरिणां सदा।
निधाय कर्णे विहितार्थनिश्चयो न भव्य जीवो वितनोति दुर्गतिं ॥१५७॥

प्रभुभाषित तत्त्वोंके अवधारणसे कुमतिका विनाश—जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंका जो भव्य जीव पूर्ण विश्वास रखता है वह कभी भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर दुर्गतिमें नहीं जाता। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रियमें तो उत्पन्न होता ही नहीं, तिर्यंच पञ्चेन्द्रियमें वही सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न

होगा सो भी भोगभूमिमें, जिसने कि पहले तिर्यञ्चायु बांध ली हो पश्चात् सम्यक्त्व हुआ हो और वह सम्यक्त्वमें ही रहे तो वह तिर्यञ्च तो होगा, पर भोगभूमिया तिर्यञ्च होगा। सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्यगतिमें उत्पन्न होगा तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त पुरुषवेदी मनुष्य होगा। उसका स्त्रीमें और नपुंसकोंमें उत्पाद नहीं होता। देवगतिमें देवोंमें ही उत्पन्न होगा। सम्यक्त्वमें मरण कर जीवको नरकगतिमें न उत्पन्न होना चाहिए, पर किसी जीवने पहले नरकायु बाँध ली हो पश्चात् सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो वह सम्यक्त्वमें मरण कर अधिकसे अधिक पहले ही नरकमें और वह भी थोड़ी ही आयु लेकर उत्पन्न होता है। नरकोंमें जघन्य आयु ८४ हजार वर्षकी है। तो यों जीव सम्यग्दृष्टि होकर खोटी गतियोंमें उत्पन्न नहीं होता। सम्यग्दर्शनका ऐसा ही प्रभाव है कि वह वर्तमानमें भी खोटे मार्गमें न चलकर सुमार्गपर ही चलता है।

विरागसर्वज्ञपदाब्जद्वये यतौ निरस्ताखिलसंगसंगतौ।
वृषे च हिंसारहिते महाफले करोति हर्षं जिनवाक्यभावितः ॥१५८॥

सम्यग्दृष्टिके यथार्थ देव धर्म गुरुकी प्रतीति--सम्यग्दृष्टि जीव रागद्वेषादि सहित देवों में देवत्वकी बुद्धि नहीं रखता। जो रागद्वेष सहित है वह कभी देव हो ही नहीं सकता। प्रभु तो वह है कि जिसमें दोष एक भी न हो और गुण परिपूर्ण हों। तो दोषसहित आत्मा देव नहीं कहला सकता। सम्यग्दृष्टि जीव आरंभ परिग्रहसहित मनुष्योंमें गुरुत्वकी श्रद्धा नहीं रखता। जो आरंभसहित है वह गुरु नहीं कहला सकता है, क्योंकि गुरु आरंभ और परिग्रह से रहित होता, विषयोंके वश नहीं होता। जो ज्ञान ध्यान तपमें ही निरत रहा करता। इससे विपरीत लक्षण वाला मनुष्य गुरु नहीं कहलाता। सम्यग्दृष्टि जीव हिंसा आदिक कर्मों में धर्मपनेकी बुद्धि नहीं करता। जैसे कि लोकमें अनेक मोही पुरुष ममता आदिक करके देवी देवताके नामपर पशु आदिककी बलि देकर धर्मबुद्धि कर लेते हैं वह सम्यग्दृष्टि उन्हें पापरूप से ही निरखेगा। उनमें धर्मत्वकी बुद्धि नहीं करता। धर्म वही है जहाँ स्वकी भी दया है और परकी भी दया है। तो सम्यग्दृष्टि कुदेव, कुगुरु, कुधर्ममें श्रद्धा न रखकर यथार्थदेव, यथार्थ गुरु और यथार्थ धर्ममें ही श्रद्धा रखता है, जो रागद्वेषसे रहित है, सर्व पदार्थोंका ज्ञाता है वह देव कहलाता है। जो आरंभ परिग्रहसे रहित है, निरंतर आत्माकी धुनमें रहता है वह निर्ग्रन्थ मुनि गुरु कहलाता है। जो हिंसा आदिक पापोंसे रहित वर्तव्योंमें धर्म मानते है और उन्हीं की सेवा करते हैं, सम्यग्दृष्टिका ऐसा ही आचरण होता है।

भवांगभोगेष्वपि भंगुरात्मना जयत्सु नारीजनचित्तसंतति।
भवार्णवभ्रांतिविधानहेतुषु विरागभवं विदधाति सद्रुचिः ॥१५९॥

इन्द्रियभोगोंकी अहितकारिताका निर्णय—सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियभोगोंको बुरा अहितकारी समझता है। ये भोग सांसारिक आपत्तियोंसे भरे हैं, विनाशीक हैं और नारीके मनोभावकी तरह चंचल हैं याने स्थिर नहीं हैं। ये भोग विनाशीक हैं। इन भोगोंको सम्यग्दृष्टि पुरुष बुरा ही मानता है। भोगोंमें लगाव, भोगोंका लाभ, इनमें उसकी रुचि नहीं रहती है। और इन भोगोंको ये संसारसमुद्रमें डुबाने वाले हैं ऐसा समझता है। सो भोगोंको अप्रशस्त जानकर उनसे विरक्त ही रहता है। इन्द्रिय भोगोंमें सम्यग्दृष्टि जीवको उपादेय बुद्धि कभी नहीं होती और इसी कारण उनमें लिप्त नहीं होते। ज्ञानी पुरुषको सहज आनन्दस्वरूप अपना ज्ञानमात्र आत्मा अनुभवमें आया है, दृष्टिमें आया है। सो अपने सहज स्वरूपके आलंबनसे जो आनन्द पाया है वह अनुपम है, अलौकिक है। ऐसा अद्भुत आनन्द पाने वाला भोगोंमें कैसे चित्त देगा? यद्यपि जीवकी आदत है आनन्द होनेकी, सो जिसको अपने आनन्दधामकी सुध नहीं है वह परपदार्थोंमें उपयोग लगाकर अपनी ही कल्पनासे सुख मानता है सो ये इन्द्रियविषय जिनका संयोग समझकर सुख मानता है वे बाह्य पदार्थ विनाशीक हैं, वे अपने आपके समयानुसार नष्ट हो जाते हैं। तो यह मोही जीव उनको वियुक्त नष्ट देखकर मनमें बड़ी वेदना मानता है। संसारमें यही हो रहा। किसका कुटुम्ब सदा रहने वाला है? जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग नियमसे होगा। जो इन बाह्य पदार्थोंसे भिन्न परतत्त्व मानते हैं उनको तो कोई आकुलता नहीं होती इनके वियोग होनेपर, पर जिनको स्वरूपकी सही श्रद्धा नहीं है वे यही आस्था लिए हुए हैं कि धन-वैभव परिजनके संयोगसे ही मेरेको सुख है, आनन्द है और पवित्रता है, इस कारण वे पराधीन रहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इन सब आपत्तियोंसे दूर है, वह तो निरन्तर इस धुनमें रहता है कि मेरा सहज आत्मा ही मेरेमें विराजे। मेरा उपयोग एक इस सहज आत्मस्वरूपकी सेवामें लगे, सम्यग्दृष्टिका यह ही प्रयत्न होता है। उसे विषय भोग खाना-पीना कदाचित् संयमके साधनभूत देहकी रक्षाके लिए करने पड़ते हैं, परन्तु उनमें न धुन है, न शक्ति है, उनसे उनकी प्रतीक्षा रहती है, समय पर जैसा हो गया सही मार्गानुसार वैसा हो गया, पर किसी भी भोगमें सम्यग्दृष्टिके अनुराग नहीं रहता।

कलत्रपुत्रादिनिमित्ततः क्वचिद्विनिंद्यरूपे विहितेपि कर्मणि।
इदं कृतं कर्म विनिंदितं सतां मयेति भव्यश्चकितो विनिंदति ॥१६०॥
गलंति दोषाः कथिता कथंचन प्रतप्तलोहे पतितं यथा पयः।
नयेषु तेषां व्रतिनां स्वदूषणं निवेदयत्यात्महितोद्यतो जनः ॥१६१॥

ज्ञानी द्वारा चारित्रमोहवशापतित कुकृत्यपर आत्मनिन्दा—सम्यग्दृष्टि जीव अपने

जीवनमें कैसी चर्चासे रहता है इसका वर्णन चल रहा है। इन दो छंदोंमें कहा गया है कि यदि कदाचित् सम्यग्दृष्टि जीवसे स्त्री, पुत्र, भाई-बहिन, मां-बाप आदिक कुटुंबी जनोंके निमित्तसे कोई बुरा काम बन जाय तो वह अपनेको बार-बार धिक्कारता है, उस काम करने की निन्दा करता है, और एक निन्दा ही नहीं, वह अपने कुकार्योंको गुरुजनोंके समक्ष निवेदन भी करता है, गृहस्थीमें रहकर वह स्वयं भी चारित्रमोहके उदयसे कोई कुकार्य बन जाय या परिजन आदिकके प्रसंगसे कोई खोटा काम करनेका प्रसंग आ जाय जिससे कि दूसरोंको कष्ट हुआ हो अथवा किसी पर अन्याय हो गया हो तो ऐसे कार्योंकी वह स्वयं निन्दा करता है और गुरुजनोंसे आलोचना करता है। वह ज्ञानी जानता है कि गुरु जनोंके समक्ष विनयपूर्वक दोष कहा जाय तो इस आलोचनासे भी समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। जैसे गर्म लोहेपर गिरी हुई जलकी बूंदें क्षणभरमें नष्ट हो जाती हैं इसी प्रकार गुरु जनोंके समक्ष विनयपूर्वक कहा गया दोष भी नष्ट हो जाता है। सो यह ज्ञानी जीव अपनेमें ज्ञानध्यानोंका ही प्रयत्न करता है। पर गृहस्थीका प्रसंग है, इसको पंक बताया गया है। अनेक कार्य कुछ अन्याय आदिकके बन सकते हैं। तो जो खोटा कार्य बन गया हो उस कार्यकी यह निन्दा करता है और गुरु जनोंसे आलोचना करता है।

निमित्तते भूतमनर्थकारणं न यस्य कोपादिचतुष्टयं स्थितं।
करोति रेखा पयसीव मानसे स शांतभावोऽस्ति विशुद्धदर्शनः ॥१६२॥

सम्यग्दृष्टिका शान्त भाव—महान् अनर्थके कारणभूत क्रोधादिक चार कषायोंके कारणसे कोई अनर्थके काम हो तो गए, परन्तु जैसे जलकी रेखा चिरकाल तक नहीं ठहरती, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिके चित्तमें बहुत देर तक वे कषाय वाली बातें नहीं ठहरतीं। ऐसा ही शान्त स्वभावी सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। सम्यग्दृष्टिने मात्र अपने स्वभावकी आराधनाका ही जीवनका ध्येय बनाया है, इसके अतिरिक्त उसके अन्य कुछ भी ध्येय नहीं हैं, पर कर्मोदय है, पूर्वबद्ध कर्मविपाक आता है। क्रोध, मान, माया, लोभके प्रसंग बन जाते हैं और जब तक वह निम्नभूमिमें है तब तक कषायकी वेदना हो जाती है। तो ऐसे समयमें उससे कोई अनर्थ की बात बन जाय, ये कषायें बन जायें तो भी उसके चित्तमें ये कषायें देर तक नहीं ठहरतीं, इसका कारण यह है कि ज्ञानी तो अपनेमें शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी भावना करता है, वही उसका ध्येय है, तो जो बाहरी विकार प्रसंग हैं वह स्थूल नहीं रह सकता है। यों विकार परिणाम उसके नष्ट हो जाया करते हैं। जैसे मान लो क्रोधवश किसीको कुछ कह डाला तो जैसे बालक कभी आपसमें भड़ने लगे तो थोड़ी ही देर बाद वे मिलकर खेलने लगते हैं, उन बच्चों के चित्तमें कषाय बैठकर नहीं रहता, ऐसे ही ज्ञानी पुरुषोंके चित्तमें कोई कषाय बैठाकर न

रहेगा। किसी भी कषायवश किसीके प्रति कोई व्यवहार बन गया हो तो वह उस कषायको लिए हुए नहीं रहता। कषायका परिहार कर देता है, और जिसको कष्ट हुआ है उससे बड़े प्रेमपूर्वक मिलकर वह शल्यको दूर कर देता है।

विशुद्धभावेन विधूतदूषणं करोति भक्तिं गुरुपंचकस्य ते।
श्रुतान्विते जैनगृहे जिनाकृतौ जिनेशतत्त्वैकरुचिः शरीरवान् ॥१६३॥

सम्यग्दृष्टिके पञ्चपरमगुरुभक्तिका भाव—सम्यग्दृष्टि जीव पूज्य पुरुष और पूज्य जिनालय आदिकके भक्तिभावसे निर्दोष विधिसे पूजा भक्ति करते हैं, पर अन्य अल्पज्ञ पाखंडी जनोंके प्रति भक्ति नहीं करते। सम्यग्दृष्टिको परमात्मतत्त्वके प्रति दृढ़ श्रद्धा है कि जो निर्दोष और सर्वज्ञ हो और हितोपदेशी हो वह तो अरहंत भगवान है। प्रभु निर्दोष हैं, इस कारण उनके वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकते, और सर्वज्ञ हैं, इसलिए उनके कोई बचन मिथ्या नहीं निकलते। जिनको संपूर्ण ज्ञान है उनके मिथ्यावचन होनेका प्रसंग ही नहीं है, सो वह प्राणिमात्रके हितके लिए इनकी दिव्यध्वनि होती है और उस उपदेशसे जगतके प्राणी लाभ लेते हैं। सिद्ध भगवान आत्माकी परम शुद्ध अवस्था है। जिसका आत्मा स्वयं अपने आप है उस ही प्रकार जो प्रसिद्ध हो गया, प्रकट हो गया। निर्लेप निरञ्जन चेतनामात्र जिनकी जाज्वल्यमान ज्योतिसे समस्त लोकालोक प्रतिभासित होता ऐसा शुद्ध द्रव्य, व्यञ्जन पर्याय और शुद्ध गुण व्यञ्जन पर्यायमें परिणम रहे आत्मा सिद्धप्रभु कहलाते हैं। आचार्य जो मुनिसंघके नायक हैं और परिग्रह भारसे रहित हैं, संगमें रहने वाले मुनिजन स्वयं आत्मकल्याणके अभिलाषी हैं अतएव सहज है। ऐसी प्रकृति रहती है कि उनसे आचार्यपर कोई भार नहीं होता और आचार्य भी स्वयं आत्मकल्याणके मार्गमें रहनेके कारण अपनेको परिग्रह रहित, भाररहित ही अनुभव करते हैं यह उनकी परम करुणा है कि संगमें रहने वाले साधु जनोंको यथासमय उपदेश आदेश देकर उन्हें भी मोक्षमार्गमें लगाये रहते हैं। उपाध्याय परिग्रह और आरंभसे रहित हैं और मुनियोंको प्रतिदिन पढ़ाते रहते हैं, ऐसे ज्ञानी और दूसरोंको पढ़ानेका उपकार करने वाले उपाध्याय कहलाते हैं। ये भी साधु ही हैं। निर्ग्रन्थ परिग्रहरहित आत्मसाधनामें तत्पर रहा करते हैं और साधुजन जो आरंभ परिग्रहसे रहित हैं इनकी निर्दोष पूजा भक्तिमें सम्यग्दृष्टि निरत रहता है और सर्वज्ञके द्वारा कहे गए शास्त्रोंके प्रति अपूर्व भक्ति रहती है। उन शास्त्रोंका प्रकट करना, प्रचार करना, पढ़वाना और उपदेशादिकसे ज्ञान की प्रभावना कराना यह सब सम्यग्दृष्टि जीवोंकी चर्यामें बना रहता है। जैनमंदिर और जिनबिंबकी भी विशुद्ध भक्तिसे निर्दोष पूजा करते हैं, पर ज्ञानी पुरुष अन्य किसी भी अल्पज्ञ को आरंभ परिग्रहसहितको विषयकषायकी वाणीको कभी भी योग्य सही नहीं समझता।

चतुर्विधे धर्मिजने जिनाश्रिते निरस्तमिथ्यात्वमलेऽतिपावने ।
करोति वात्सल्यमनर्थनाशनं सुदर्शनो गोरिव तर्णके नवे ॥१६४॥

सम्यग्दृष्टिका चतुर्विध संघके प्रति वात्सल्य—जिस प्रकार गाय अपने नये बच्चेमें प्रीति करती है और वह गाय अपने बच्चेका वियोग कभी नहीं चाहती है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी अपने ही समान जो तत्त्वके श्रद्धानी हैं ऐसे श्रावक श्राविका और इस पंथमें बढ़े हुए मुनि अर्जिका आदिक संघमें निर्दोष प्रेम करता है और उस संघ समागमका वियोग नहीं चाहता। उनकी संगतिमें रहना ही हितकर समझता है। सम्यग्दृष्टिकी मूल चाह है कि आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमणमें उसकी वृत्ति रहती है, ऐसी चाह करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव ऐसी चाह वाले और इस ही में जो अग्रगामी हैं उन पुरुषोंके प्रति निश्चल प्रेम करेगा ही। लोकमें भी देखा जाता कि जो जिस कर्मका उद्देश्य रख रहा है उसीका उद्देश्य रखने वाले अन्य जनोंमें प्रीति हो जाती है। बालक भी जो सिनेमा जा रहा हो और अन्य बालक सहपाठी भी सिनेमा जा रहा हो तो उनमें परस्पर मैत्री भाव बन जाता है, प्रीति हो जाती है। तो यहाँ तो मोक्षमार्गका उद्देश्य है। जो लोकोत्तर लक्ष्य है इसका ही ध्येय सम्यग्दृष्टिने बनाया और इसी ध्येयमें चलने वाले अन्य श्रावक, श्राविका, मुनि, अर्जिका हैं तो उनके प्रति निश्छल वात्सल्य उमड़ जाता है, क्योंकि समय-समयपर जो बातें अपनेमें देखना चाहते हैं उसीके संकेत इन पूज्य संतोंमें प्राप्त होते हैं, इसलिए अनुरागकी वृद्धि करना स्वाभाविक ही बात है।

दुरंतरोगोपहतेषु संततं पुरार्जितैनोवशतः शरीरिषु ।
करोति सर्वेषु विशुद्धदर्शनो दयां परामस्तसमस्तदूषणः ॥१६५॥

सम्यग्दृष्टिका रोगी दुःखी जीवोंपर करुणाभाव—सम्यग्दृष्टि जीव समस्त संसारी जीवोंमें दयाभाव धारण करता है। संसारी जीवोंको निरखकर वह समझ रहा है कि पहले अपने उपार्जित किए हुए दुष्कर्मोंके कारण यह अनेक रोगोंसे आक्रान्त है, अनेक कठिनाइयोंसे परेशान है तो ऐसे रोगाक्रान्त प्राणियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव दयाभाव धारण करता है और केवल वचनमात्र ही दयाभाव नहीं, किन्तु अपने सामर्थ्य प्रमाण तनसे, मनसे, धनसे, वचनसे उन रोगाक्रान्त प्राणियोंकी सेवा करता है। इस प्रकार इस सम्यग्दृष्टि जीवको सभी प्राणियों के प्रति दयाभाव रहता है, उनमें किसी प्रकारका वह स्वार्थ नहीं चाहता। निश्छल सेवा करता, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव जो सेवामें चल रहा है वह स्वरूपके नातेसे चल रहा है। कोई लौकिक छल कपटका संबंध वहाँ नहीं है। तो जैसे सम्यग्दृष्टि जीवोंका अन्नदान आदि में प्रेम है उसी प्रकार औषधिदानमें रोगियोंकी सेवामें भी उसकी प्रवृत्ति रहती है। वह सर्व

अवस्थावोंमें सभी जीवोंमें उस शुद्ध सामान्य चैतन्यस्वरूपको निरखता है यह जीव स्वभावतः है तो कष्टरहित अविकार, पर उपाधिवश ऐसी ही वृत्ति हुई कि जिससे कर्मबन्ध हुए, और उन कर्मोंके उदयमें आज ऐसी रुग्ण दशा हुई है।

विशुद्धमेवंगुणमस्ति दर्शनं जनस्य यस्येह विमुक्तिकारणं।
व्रतं विनाप्युत्तमसंचितं सतां स तीर्थकृत्वं लभतेऽतिपावन ॥१६६॥

विशुद्ध सम्यक्त्वका लोकमें प्रताप—जिस जीवके विशुद्ध सम्यग्दर्शन है वह बिना व्रत, तप, उपवास किए भी सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर लेता है। तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करने वाले अव्रती भी होते, श्रावक भी होते, मुनि भी होते। तीर्थंकर प्रकृति बंधमें जीवों के प्रति विशुद्ध भावना पड़ी हुई है, संसारके ये जीव सभी स्वरूपतः शुद्ध ज्ञानानन्दमय हैं अर्थात् स्वरूपमें विकार नहीं पड़ा है। ये कब अपने स्वरूपको सुध लें और संसारके संकटोंसे मुक्ति पायें ऐसे जीवोंके प्रति सम्यग्दृष्टिकी भावना रहती है। यह सम्यग्दर्शन मुक्तिका कारणभूत है। अष्ट अगसे सहित है और जीवोंका मूल आलंबन है। जिसके सम्यक्त्व हुआ उसके व्रत भी न हो तब भी वह तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करता है और निकट कालमें ही निर्ग्रन्थ पद धारण कर तपश्चरण बलसे इस तीर्थंकर पदको साक्षात् प्राप्त कर लेता है। तीर्थंकर वास्तवमें १३वें गुणस्थानमें ही रहता है, इससे पहले वह परमार्थसे तीर्थंकर नहीं हैं, पर जो गर्भकल्याणक व जन्मकल्याणक आदिक मनाये जाते हैं सो तीर्थंकर प्रकृतिके उदयमें नहीं मनाये जाते, किन्तु जिस पुरुषने तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया है और तीर्थंकर होगा उसके इतना पुण्य विशेष है कि उस पुण्य विशेषके प्रतापसे कल्याणक आदिक उत्सव मनाये जाते हैं। तीर्थंकर अवस्थामें तो केवल दो ही कल्याणक मानते हैं—ज्ञानकल्याणक और निर्वाण कल्याणक। तीर्थंकरप्रकृतिका उदय १२वें गुणस्थान तक नहीं आता, किन्तु इस विशुद्ध तीर्थंकर प्रकृतिका बंध अव्रती सम्यग्दृष्टि भी कर लेता है। इस संसारमें जितनी भी विभूतियाँ हैं चाहे इन्द्रकी विभूति हो, चाहे धरणेन्द्रकी विभूति हो या चक्रवर्तीकी विभूति हो, संसारमें जितनी भी अलौकिक विभूतियाँ हैं उन सबमें महान् विभूति तीर्थंकरकी विभूति है। तीर्थंकर पदका प्राप्त करना बड़े ही उत्कृष्ट तपका फल है, परन्तु जो जीव विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है उसे बिना व्रत आदिकके भी वह विभूति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। तो जब सम्यक्त्वके प्रतापसे तीर्थंकर जैसी विभूतियाँ प्राप्त हो सकें तो अन्य विभूतियोंकी तो बात ही क्या है? वह तो स्वयं ही अनायास मिल जातीं है। तो सम्यक्त्व जीवका उत्कृष्ट वैभव है।

दमो दयाध्यानमहिंसनं तपो जितेंद्रियत्वं विनयो नयस्तथा ।
ददाति नैतत्फलमंगधारिणां यदत्र सम्यक्त्वमनिंदितं धृतं ॥१६७॥

सम्यक्त्वकी दमदयातपसे भी अधिक फलदायिता—जो फल सम्यक्त्वके प्रतापसे प्राणियोंको प्राप्त होता है वह फल संसारमें अन्य बड़े-बड़े ध्यान आदिक कार्योंसे भी प्राप्त नहीं हो सकता । कोई पुरुष सम्यक्त्वसे हीन हो और क्षमाशील हो तो भी उसे वह पद प्राप्त नहीं हो सकता जो सम्यक्त्वका कारण हुआ करता है । दयालु पुरुष अनेक पाये जाते हैं । प्राणियोंपर दया करनेके लिए अपनी संपत्ति भी व्यय कर देता है, पर सम्यक्त्व नहीं है तो उनको वह फल प्राप्त नहीं हो सकता । जो सम्यक्त्वके होनेपर ही हुआ करता । ध्यान करने वाले अनेक लोग हैं, और ध्यानके बड़े योग आसन प्राणायाम आदिकमें निपुण लोग हैं, पर सम्यक्त्वहीन यदि हैं तो उनके ध्यानसे वह फल प्राप्त नहीं हो सकता, जो सम्यक्त्व होनेपर हुआ करता है । तपश्चरण करने वाले अनेक सन्यासी जन मिलते हैं और ऐसे-ऐसे दुर्धर तप करते हैं कि जो साधारण जनोंसे भी न किए जा सकें । जैसे जिन्दगीभर खड़े रहना, सोना भी हो तो पेड़के सहारे खड़े ही खड़े टिककर कुछ सो लेते । हाथको ऊँचा ही बनाये रहते, चाहे वह हाथ खूनसे रहित होकर अतीव दुर्बल हो जाय ऐसे-ऐसे अनेक तपश्चरण हैं जिसे बहुतसे संन्यासीजन करते हैं । करें, लेकिन यदि सम्यक्त्वहीन है तो उनको वह फल नहीं प्राप्त हो सकता जो सम्यग्दर्शनके होनेपर फल प्राप्त होता है ।

सम्यक्त्वकी जितेन्द्रियता विनय आदिसे भी श्रेष्ठफलदायिता—जितेन्द्रियपना भी बहुतसे लोग आचरण करते हैं । जो नीरस ही खायें, शरीरका शृङ्गार भी न करें, न नहायें या अनेक प्रकारके विकट परिश्रम करें, पर इन्द्रियके विषयोंमें आसक्त न हों उन भोगोंकी ओर ध्यान भी न रखें ऐसे बहुतसे पुरुष मिलेंगे, पर उनके जितेन्द्रियपनाके कारण भले ही साधारणतया पुण्यबंध हो, पर वह विशिष्ट ध्यान नहीं बन पाता जो सम्यक्त्वके होनेपर बँधा करता है । विनयशील भी पुरुष अनेक मिलते हैं, बड़ी विनम्रता रखते हैं । वचनोंमें नम्रता, शरीरसे नम्रता, मन भी नम्र रखें, ऐसे विनयशील पुरुष भी सम्यक्त्वरहित है तो वह फल नहीं प्राप्त कर सकते जो सम्यक्त्वके होनेपर हुआ करता है । क्षमा आदिक धारण करनेसे तो साक्षात् स्वर्गादिक सांसारिक अनित्य सुखोंकी प्राप्ति हो जायगी, सो यह अनादिसे अनेकों को होती चली आयी, पर शुद्ध सम्यक्त्व धारण करनेसे पारमार्थिक अविनाशी मोक्षसुख प्राप्त होता है । वास्तविक आनन्द मुक्तिका ही आनन्द है, जहाँ केवल आत्माश्रयसे आनन्द झड़ रहा है, पराधीनताका रंच भी नाम नहीं है, जिसका ज्ञान सर्वज्ञ होता हुआ भी निश्चल स्थिर रहा करता है । जहाँ कोई शारीरिक व्यक्ति नहीं, शरीर नहीं, कर्म नहीं, केवल आत्म-

मग्नता है तो ऐसा आनन्द सम्यक्त्वके प्रतापसे प्राप्त होता है। वह आनन्द अन्य गुण विकास से नहीं हो पाता। इस कारण अन्य शेष समस्त गुण मिलकर भी इस शुद्ध सम्यग्दर्शनकी बराबरी नहीं कर सकते। जीवोंका कल्याणरूप कोई प्रयत्न है तो वह है सम्यग्दर्शन। आगे जितनी भी चारित्ररूप प्रगति होती है उस सबका आधार है सम्यग्दर्शन। सम्यक्त्वके आधार पर ही चारित्रकी प्रगति बनती है। जहाँ कोई अपना उद्देश्य ही न बना पाये, फिर उपयोग को कहाँ रमाओगे ? उपयोग वहाँ रमता है जिस प्रकारकी जीवोंको श्रद्धा होती है। जिनको भोगसाधनोंमें सुख पानेकी श्रद्धा है उनका उपयोग भोगसाधनोंमें रमता है। सम्यग्दृष्टिका श्रद्धान केवल आत्मस्वरूप ही हितमय है, आनन्दमय है ऐसा बना रहता है। तो उनका उपयोग उस ही आत्मस्वरूपमें मग्न रहता है। तो सम्यग्दर्शनमें जो आनन्द है वह तत्काल भी आनन्द है और इसके प्रतापसे कर्मोंका विध्वंस होकर सम्यक्चारित्रकी पूर्ण प्राप्ति होकर जो एक शुद्ध शाश्वत निरञ्जन सिद्ध अवस्था प्रकट होती है, फिर तो यह अनन्तकाल तकके लिए धर्मादिक द्रव्योंकी तरह शुद्ध पवित्र रहेगा। तो जीवोंका परम कल्याण हो उसका मूल साधन है सम्यग्दर्शन।

वरं निवासो नरकेऽपि देहिनां विशुद्ध सम्यक्त्वविभूषितात्मनां।
दुरंतमिथ्यात्वविषोपभोगिनां न देवलोके वसेतिविराजते ॥१६८॥

मिथ्यात्ववासित जीवके देवलोकमें निवासकी अपेक्षा सम्यक्त्वसहित जीवके नरकवासकी भी श्रेष्ठता—जिन जीवोंको शुद्ध सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है ऐसे विशुद्ध सम्यक्त्वसे विभूषित आत्माओंका नरकमें भी निवास हो तो भी वह अच्छा है, परन्तु जिनका परिणाम खोटा है ऐसे मिथ्यात्वविष भोगने वाले जीवोंका स्वर्गलोकमें भी निवास हो तो भी उत्तम नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव नरकोंमें भी पाये जाते हैं। कोई तो नरकोंमें सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते हैं और पहले नरकमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वके साथ उत्पन्न हो लेते हैं तो नरकमें सम्यग्दृष्टि जीव पाये जाते हैं, सो भले ही नरकमें उनका निवास है, लेकिन सम्यक्त्वकी ऐसी महिमा है कि जिसके प्रसादसे वह अन्तः व्याकुल नहीं रहता, किन्तु जो मिथ्यादृष्टि जीव हैं वे स्वर्गमें भी रहते, किन्तु ज्ञानप्रकाश न मिलनेके कारण उनका आत्मा बेचैन रहता है, तृष्णासे व्याकुल रहता है। तो सम्यग्दर्शनका ऐसा उत्कृष्ट माहात्म्य है कि जिसके कारण यह जीव संतुष्ट हो जाता है। इस सहज आत्मस्वरूपका अवलोकन करने वाले सहज आनन्दसे तृप्त हो जाते हैं, किन्तु सांसारिक विभूति भी विशेष मिली हो और वह मिथ्यादृष्टि हो तो वह तृष्णासे व्याकुल बना रहता है। तो सम्यक्त्व ही श्रेष्ठ चीज है और यही वास्तविक वैभव है।

अधस्तनश्वभ्रभुवो न याति षट् न सर्वनारीषु न संज्ञितोऽन्यतः ।
न जायते व्यंतरदेवजातिषु न भवनज्योतिषिकेषु सद्रुचिः ॥१६९॥

सम्यग्दृष्टिके दुर्गतिमें अनुत्पादका विवरण—जिन आत्माओंको सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया है वे पुरुष नीचेके ६ नरकोंमें उत्पन्न नहीं हो सकते । सम्यक्त्वमें मरण करने वाले जीव की बात कही जा रही है । जो सम्यक्त्वसहित मरेगा वह प्रथम नरकको छोड़कर शेष नरकों में उत्पन्न नही हो सकता, सो प्रथम नरकमें भी वह जीव उत्पन्न होगा जिस मनुष्यने पहले नरकायुका बंध किया हो पश्चात् विधिपूर्वक उसके क्षायिक सम्यक्त्व बन जाय । तो क्षायिक सम्यक्त्व तो कभी मिटता नहीं । और जो आयु बांध ली वह भी टलती नहीं याने जिस भव की आयु बांधी है उस भवमें जाना ही पड़ता है । तो वह जीव पहले नरकमें जायगा, नीचे के नरकोंमें न जायगा । सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वमें मरण कर किसी भी स्त्री जातिमें उत्पन्न नहीं हो सकता । सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वमें मरण कर केवल संज्ञी पंचेन्द्रियमें ही उत्पन्न होगा । असंज्ञी तक उत्पन्न न होगा । एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय व असंज्ञी पञ्चेन्द्रियमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होता । भवनवासी व्यन्तर व ज्योतिषी इन तीन प्रकारके देवोमें भी सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होता । संसारमें चार प्रकारकी जीवोंकी विभाव द्रव्य व्यञ्जन पर्यायें हैं—मनुष्य, तिर्यञ्च नारकी और देव । इन ही के अनेक उत्तरोत्तर भेद हैं । सो मनुष्योंमें स्त्री जाति और नपुंसकोंमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होता । पर्याप्त मनुष्य पुरुष ही होगा । तिर्यंचोंमें एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रियमें उत्पन्न न होगा । पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें ही वह उत्पन्न होगा जिसने पहले तिर्यंचायु बांध ली हो, सो वह भोगभूमिमें उत्पन्न होगा । हां कोई नारकियोंमें केवल प्रथम नरकमें ही उत्पन्न हो सकेगा । सो वह भी जिसने पहले नरकायु बांधी हो, पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया हो वह देवोंमें भवनत्रिकमें उत्पन्न न होगा और स्त्री जातिमें तो कहीं भी उत्पन्न न होगा, यह सब सम्यक्त्वका प्रताप है ।

न बांधवा नो सुहृदो न बल्लभा न देहजा नो धनधान्यसंचयः ।
तथा हिताः संति शरीरिणां जने यथाञ्च सम्यक्त्वमदूषितं हितं ॥१७०॥

निर्दोष सम्यक्त्वकी हितकारिता—इस अनादि अनन्त संसारमें जितना हितकारी जीवोंका शुद्ध सम्यग्दर्शन है उतना हितकारी अन्य कुछ भी नहीं है । दूसरे जीव मेरा क्या सुधार कर सकेंगे । समर्थ ही नहीं हैं । एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं कर सकता । हम ही अपनी अशुद्ध भावनाको छोड़कर शुद्ध भावनामें आयें, मिथ्यात्वको तजकर सम्यक्त्वमें आयें तो हम अपना स्वयं कल्याण कर पायेंगे । तो इस जीवका हितकारी केवल सम्यक्त्वभाव

है । न बंधु, न मित्र, न वल्लभा, न पुत्र, न धन धान्य कोई भी इस जीवका हितकारी नहीं है । इस कारण यदि अपने आपपर दया हो तो निर्दोष सम्यक्त्व धारण करना चाहिये । यदि चित्तमें ठन जाय यह बात कि मुझको लोकके अन्य प्रलोभनोंसे कोई प्रयोजन नहीं, अणुमात्र से भी कोई प्रयोजन नहीं । मैं तो संसारसंकटोंसे छूटनेका उपाय चाहता हूं । ऐसा दिलमें ठन जाय तो उसको सम्यक्त्व उत्पन्न होगा और किसी भी प्रकारसे लालच, परवस्तुकी तृष्णा रखेगा तो उसको सम्यक्त्व न उत्पन्न होगा ।

तनोति धर्मं, विधुनोति पातकं, ददाति सौख्यं, विधुनोति बाधकं ।
चिनोति मुक्तिं, विनिहंति संसृतिं, जनस्य सम्यक्त्वमनिंदितं धृतं ॥१७१॥

सम्यग्दर्शनधारीकी धर्मविस्तारकता व पापविध्वंसकता—जिस जीवने निर्दोष सम्यक्त्व पा लिया है वह जीव पापभावका विध्वंस कर देता है । पापकर्म उनकी दृष्टिसे न कट पायेंगे, पापकर्म कोई ग्रहण भी नहीं कर सकता, मरोड़ नहीं सकता, नष्ट क्या किया जायगा ? पर जीव यदि अपने भाव शुद्ध बना ले तो कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं । कर्मोंके दूर करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है । अपने आपको संभाल करें, अपनेको सहज चैतन्यस्वरूप अनुभवें, इस प्रकार स्वरूपमें मग्न हों तो कर्म अपने आप ही झड़ जाते हैं । तो सम्यक्त्वभाव ऐसा उत्कृष्ट भाव है कि जिसके होते ही पापकर्म ध्वस्त होने लगते हैं । जिस जीवने सम्यक्त्व धारण किया वह धर्मका विस्तार करता है । धर्म बताया गया है चारित्र को, चारित्तं खलु धम्मो, किन्तु सम्यक्त्वको कहा है धर्मको जड़ । दंसण मूलो धम्मो, सम्यक्त्व जिसकी जड़ है वह धर्म है । जैसे—पक्की नींव किए बिना महल नहीं उठाया जा सकता, और कोई उठाये तो वह धंस जायगा । तो ऐसे ही निर्दोष सम्यक्त्व पाये बिना कोई चारित्र में न बढ़ सकेगा । कोई बनावटी चारित्र पाले तो उससे कहीं कर्म नहीं कटते । कर्म कटेंगे निश्चय चारित्र द्वारा । तो सम्यक्त्वभाव जिसके हुआ वह धर्मका विस्तार करता है अर्थात् चारित्र की प्रगति करता है ।

सम्यक्त्वकी सौख्यकारकता व बाधापहारकता—सम्यक्त्व भाव ही सौख्य प्रदान करता है । जब तक भ्रम था तब तक यह जीव कष्टमें रहा । जहाँ देहको माना कि यह मैं हूं तो देह तो वियुक्त होगा ही । जब मरण काल आता है तो विपरीत श्रद्धान वाले जीव बड़े दुःखी होते हैं । भ्रम निकल जानेपर फिर उनके दुःख नहीं रहता । जैसे कोई पड़ी तो हो रस्सी और कुछ अंधेरे उजेलेमें समझ लिया कि यह तो सांप है, तो वह बड़ा दुःखी होता है । और यदि उसका यह भ्रम दूर हो जाय, उसके पास जाकर, उसे छूकर, हाथसे उठाकर जान ले कि अरे यह तो कोरी रस्सी है, तो फिर उसको कोई भय नहीं रहता । तो ऐसे ही

संसारके इन समागमोंके प्रति जब तक भ्रम बना है कि ये मेरे हैं, ये मेरेको सुखदायी हैं, मेरे हितू हैं तब तक यह जीव कष्ट पाता है। क्योंकि जैसा सोचा वैसा परपदार्थोंमें होता नहीं और यह मानता है परपदार्थ पर अपना अधिकार तो यह दुःखी होता है। और जहाँ वस्तु स्वातंत्र्यका परिचय हुआ वहाँ दुःख नहीं होता। तो सम्यक्त्व भाव सुख प्रदान करने वाला है। संसारकी जितनी भी बाधायें हैं उन सब बाधाओंको सम्यक्त्वभाव नष्ट कर देता है। बाधायें क्या हैं ? परपदार्थोंसे स्नेह जो रखा है। उनकी शंका, उनका उपकार उनके मनके अनुसार न मिलना, ऐसी घटनायें होती हैं तो उन्हें यह जीव बाधा समझता है। बाधा किस बात की ? जीवका स्वरूप अभेद्य है। इसमें किसी परका प्रवेश नहीं है। तो स्वयंमें तो कोई भी परपदार्थ कुछ भी गड़बड़ नहीं कर पाता है, फिर बाधा किस बात की ? सम्यक्त्वका प्रकाश जिसके आ गया उसके बाधा नहीं रहती। मानें तो बाधा न मानें तो कुछ बाधा नहीं।

सम्यक्त्वके द्वारा संसारसे छुटकारा—सम्यक्त्व भाव संसारसे मुक्तिको दिलाता है। सम्यक्त्व ही तो वह जड़ है कि जिसके आधारपर चारित्रकी प्रगति हो तो कर्मोंका ध्वंस होता है और मोक्षका लाभ होता है। मोक्ष मायने है खालिस आत्माका रह जाना। भले ही आज आत्मा, कर्म और शरीर ये एक जगह पिण्डोले रूप बन रहे हैं लेकिन सत्ता तो अलग-अलग है। तो जैसी मेरी सत्ता है उस सत्ता रूप ही अपने को निरखें तो यह उपाय है शुद्ध होने का। जब मुक्तिमें अकेला रहना है तो यहाँ ही अपनेको अकेला देखिये ना तो अपने एकत्वका यह अभ्यास मोक्षलाभका कारण बनेगा। सम्यक्त्वभाव संसार प्रक्रियासे जन्म मरण से दूर कर देता है। संसार मायने जन्म लेना, मरण करना और जीवनका इष्टवियोग अनिष्ट संयोग आदिक दुःखोंसे दुःखी होना इसीका नाम संसार है। सो जब सम्यक्त्वभाव उत्पन्न हो गया तब परभावोंमें इसको अहंकार नहीं रहता। सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें ही आत्मत्वका अनुभव रहता है। सो जिस जीवके यह उत्कृष्ट भाव निर्दोष सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है उसके सर्व श्रेय बन जाता है। तो सर्व अकल्याण उसका दूर हो जाता है।

मनोहरं सौख्यकरं शरीरिणां तदस्ति लोके सकले न किंचन।
यदत्र सम्यक्त्वधनस्य दुर्लभमिति प्रचिंत्यात्र भवंतु तत्पराः ॥१७२॥

सम्यक्त्वकी लोकोत्तरसौख्यकरता—तीन लोकमें ऐसा कोई सुख नहीं है जो सम्यक्त्व धनके प्रतापसे प्राप्त न हो सके। लोकमें जितने बड़े-बड़े पदवियोंके सुख माने जाते हैं उन सुखोंके पाने लायक पुण्यका बंध सम्यग्दृष्टिके हो पाता है। तीर्थंकर हो सके, चक्री हो सके ऐसा पुण्य मिथ्यादृष्टिके नहीं बन पाता। बनता है रागभावसे, मगर सम्यक्त्वसे पुण्य नहीं बँधता। सम्यक्त्व तो संवर और निर्जराका कारण है, पर सम्यक्त्व होते हुए प्रभुभक्ति

आदिक शुभ भावनायें हों तो उसे उत्कृष्ट सुख मिलता है और फिर आत्मानुभवसे बढ़कर आनन्द कहाँ रखा है? वह सम्यक्त्वसे ही प्राप्त होता है। तो सम्यक्त्वके प्रभावसे ही उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। इस कारण जिनको सुखी होने की चाह है उनको सम्यक्त्व धारण करना चाहिए। सम्यक्त्व लाभ होने से हित अहित का विचार जगने लगेगा। ये रागद्वेष विकल्प मेरे लिए अहित है और यह सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप की उपासना मेरे लिए हितकर है। ऐसा हित अहितका विवेक करना और उसका पालन, अहितका छोड़ना, हितका ग्रहण करना यह सम्यक्त्व होने पर होता है। तो जहाँ हेयका त्याग किया, उपादेयका ग्रहण किया तो इससे बढ़कर आनन्द और कहाँ मिलेगा? तो सम्यक्त्वकी कृपासे ऊँचासे ऊँचा आनन्द सिद्ध होता है और यहाँ तक कि सम्यक्त्व मोक्षके आनन्दको प्रदान करता है। तो संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। एक सम्यत्वभाव दुर्लभ है। अपने आपके सहज स्वरूपको पहचानें, जानें, यह ही बात दुर्लभ है जो कि सुगम होना चाहिए। जिस जीवका भवितव्य सुधरनेको है उसे अपने स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

विहाय दैवीं गतिमर्चितां सतां व्रजंति नान्यत्र विशुद्धदर्शनाः।
ततश्च्युताश्चक्रधरादिमानवा भवंति भव्या भवभीरवो भुवि॥१७३॥

सम्यग्दृष्टिका सुगति लाभ—शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव जिसको संसार शरीर भोगोंसे सहज वैराग्य बना है वह मरकर अच्छी जाति के देवोंमें ही उत्पन्न होता है। या तो स्वर्गों में कल्पवासी देव बनेगा या स्वर्गों से ऊपर के विमानोंमें कल्पातीत देव बनेगा। अन्य प्रकार के खोटे देव नहीं बन सकता और वह ऐसे उत्तम देव देवेन्द्रके भवों को पाकर उस जीवनमें भी धर्मचर्चासे अपने को सुवासित रखेगा और आयुके क्षयके समय विशुद्ध परिणाम रहेगा जिससे इस मध्यलोक में वह श्रेष्ठ मनुष्य बनेगा जिनको लोकोत्तम सुख प्राप्त होता है उन्होंने पूर्व भव में सम्यक्त्वके साथ धर्मसाधना की थी वहाँ भक्ति आदिकके कारण ऐसा ही पुण्यबंध हुआ था उसका ही यह फल है कि अच्छे फल भोग रहे हैं। लेकिन ये ज्ञानी जीव संसारके अनेक सुखोंको पाकर भी उनमें लीन नहीं होते। उनसे विरक्त ही रहते हैं तो मनुष्यका, जीवका जितना भी जो कुछ कल्याण है वह सम्यक्त्व धारण करने से ही प्राप्त होगा और सम्यक्त्व अपने आपके मननसे प्राप्त होता है। इसमें कोई कठिनाई और कोई बाधा नहीं आती। स्वयं अपनेमें अपनेको सहज स्वरूपमात्र अनुभव करें कि मैं तो यह अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा हूँ। स्वयं आनन्दस्वरूप हूँ। यहाँ कोई कष्ट नहीं। ऐसा अन्तस्तत्त्व को निहारता रहे तो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता

है। सो सब कल्याण सम्यक्त्व का प्रताप जानकर तत्त्वाभ्यास द्वारा आत्ममनन द्वारा सम्यक्त्व को पायें और इस सम्यक्त्वको स्थिर बनाये रहें, यह ही इस मनुष्यजीवनका सर्वश्रेष्ठ कार्य है।

प्रमाणसिद्धाः कथिता जिनेशिना व्ययोद्भव ध्रौव्ययुता विमोहिता।
समस्तभावा वितथा न वेति यः करोति शंकां स निहंति दर्शनं ॥१७४॥

सम्यग्दृष्टिके जिनोदित वचनोंमें व वस्तुस्वरूप में शंकाका अभाव—जिनेन्द्रदेवने वस्तुका स्वरूप उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त बताया है जो वस्तुमें स्वभावतः सुक्तक्षयातः है ही क्योंकि प्रत्येक वस्तु नवीन पर्यायोंरूपसे उत्पन्न होती है, पुरानी पर्यायोंके रूपसे विलीन होती है और वह सद्भूत वस्तु शाश्वत रहती है। ऐसा ही वस्तुस्वरूप प्रमाण और युक्तियों से सिद्ध है। सो जो मोही पुरुष ऐसे वस्तुस्वरूप को वस्तुमें रहने वाले समस्त भावोंको नहीं जानता है अथवा उनके स्वरूपमें शंका करता है कि यह सत्य है अथवा नहीं है या इस प्रकार है, वह अपने विशुद्ध सम्यक्त्वका नाश करता है। जिसको वस्तुके मूल स्वरूपकी श्रद्धा ही नही वह न तो अपने आपको पहिचान सकता है और न मोक्ष मार्ग में गति कर सकता है। तथ्य यह है कि जीव हूँ, सदा रहने वाला हूँ, प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायों को उत्पन्न करता हूँ। आज तक उपाधिके सम्पर्कसे मैं विभावरूप परिणमता आया हूँ। आश्रयभूत पदार्थोंका आलम्बन लेकर विकार व्यक्त करता आया हूँ और यदि मैं अपने स्वरूपको सम्हालूं तो ये विकार भी दूर होंगे और आत्मामें शुद्धि प्रकट होगी। उपाधि दूर होनेका उपाय भी यही है कि अपने आपके सहज स्वरूपकी श्रद्धा करना और उस ही में रमना। तो जिस पुरुषको वस्तुके उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूपकी श्रद्धा नहीं है वह आत्मकल्याण नहीं कर सकता।

सुरासुराणामथ चक्रधारिणां निरीक्ष्य लक्ष्मीममलां मनोहरां।
अनेनशीलेन भवेन्ममेति यस्तनोति कांक्षां स धुनोति सद्रुचिं ॥१७५॥

सम्यग्दृष्टिके लोकवैभवकी कांक्षाका अभाव—पहले छंद में शंका नामक दोषकी दृष्टिकी प्रधानतासे वर्णन किया गया था, अब यहाँ कांक्षा अतीचार की प्रधानतासे वर्णन किया जा रहा है। यदि कोई सम्यग्दृष्टि पुरुष कभी शिथिलता में आकर जगतकी विभूतियोंको देखकर उनकी इच्छा करे तो वह अपने सम्यक्त्वको नष्ट कर सकता है। कभी देवों की विभूति देखे या सुन ले, असुर या चक्रवर्तीकी विभूतिको देखे या सुने, उसे जानकर मनमें यदि यह इच्छा उत्पन्न हो कि मेरे भी ऐसी ही विभूति हो, मैं भी ऐसी

सम्पत्ति वाला बनूं तो यह भाव आते ही वहाँ सम्यक्त्व कहाँ रहा ? सम्यक्त्वमें तो केवल आत्मस्वरूपकी भावना रहती है और कदाचित् इच्छा रूपकी बात कहे तो मोक्षकी इच्छा हो सकती है, पर संसारकी विभूतियोंकी इच्छा करनेके मायने यह हैं कि उसको संसार रुच गया है। संसार की विभूतिकी इच्छा कर रहा है, तो ऐसी स्थितिमें सम्यक्त्व मलिन होता है और मलिन होकर नष्ट भी हो जाता है, तो सम्यग्दृष्टि पुरुष कभी भी जगतकी विभूतिकी इच्छा नहीं करता। मेरा इस जगतमें नाम हो, जगतका ऐसा वैभव प्राप्त हो ऐसी कुछ भी चाह नहीं करता, सम्यग्दृष्टिकी धुन तो केवल सहज आत्मस्वरूप के अवलोकन की है। कदाचित् ज्ञानी गृहस्थ दुकान पर जाये तो इच्छा तो करेगा ही कि मेरा माल बिके, इस भाव में बिके, तो ऐसी इच्छा करने मात्रसे सम्यक्त्वका घात नहीं होता, पर निदान रूपमें इच्छा बने अथवा धर्मकार्य करके उसके एवज में लौकिक बात की इच्छा करे तो वहाँ सम्यक्त्वका घात हो जाता है।

मलेन दिग्धानवलोक्य संयतान्प्रपीडितान्वा तपसा महीयसा।
नरश्चिकित्सां विदधाति वः परां निहंति सम्यक्त्व मसावचेतनः ॥१७६॥

सम्यग्दृष्टिके निचिकित्साका अभाव—सम्यग्दृष्टि पुरुष तपस्वियोंके मलिन शरीर को देखकर या रोगादिक से पीड़ित शरीरको देखकर उसमें घृणा नहीं करता। वह जानता है कि तपस्वियों का शरीर रत्नत्रयधारी आत्माके सम्पर्क से पवित्र है मंगल है, तो वह रत्नत्रयसे पवित्र शरीरमें घृणा कैसे कर सकेगा ? जिसको अपने पुत्रके गुणोंसे प्रेम है या पुत्रमे ही प्रेम है वह पुत्र यदि मूत्र विष्टा करदे तो माँ उससे कभी ग्लानि नहीं करती, ऐसे ही समझिये कि सम्यग्दृष्टि जीवको रत्नत्रयधारी पुरुषोंके प्रति धर्मानुराग है, उसमें रत्नत्रयके भावोंका निरीक्षण है तो ऐसे आत्मासे अधिष्ठित शरीरको कभी रुग्ण मलयुक्त देखे तो सेवा करते हुए में उन्हें रंच घृणा नहीं होती। यह रत्नत्रय से पवित्र श्रमणका शरीर स्नान आदिकसे रहित है इसलिये मल भी चढ़ जाता है, श्रेष्ठ तपसे संयुक्त है इससे स्यामवर्ण हो जाना आदिक बातें भी हो जाती हैं। दुर्बल शरीर हो जाता है, हड्डियाँ भी निकल आतीं, ऐसा जीर्ण शरीर बन सकता है, पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र से उसकी कान्ति बढ़ी हुई रहती है। उन श्रमणोंका आत्मबल सहज बढ़ता रहता है, तो ऐसे तपस्वीजनोंके मलिन व रोगादिकसे पीड़ित शरीरको देखकर यदि कोई पुरुष घृणा करता है तो वह मूढ़ पुरुष अपने सम्यग्दर्शन में कलंक लगाता है और ऐसे कलंक के होते रहने से सम्यक्त्वका घात हो जाता है।

विलोक्य रौद्रथतिनोऽन्यलिंगिनः प्रकुर्वतः कंदफलाशनादिकं ।
इमेऽपि कर्मक्षयकारकव्रता विचिन्वतेति प्रतिहन्यते रुचिः ॥१७७॥

मूढदृष्टित्वसे सम्यक्त्वका क्षय—यदि सम्यग्दृष्टि पुरुष शिथिलतावश अनेक प्रकार के आचरण रखनेवाले पाखण्डी जनोंको देखकर यह श्रद्धा कर ले कि ये भी सही हैं और अपने कर्मोंका क्षय कर रहे हैं, इनके इस तप, व्रत तपश्चरणसे भी कर्मोंका नाश हो जाता है, ऐसी श्रद्धा जगने पर बुद्धि होने पर वह अपने सम्यग्दर्शनको दूषित कर लेता है। कभी-कभी बड़ ऊँचे बाह्य तपश्चरणके धारी सन्यासी देखने को मिलते हैं। कोई पंचाग्नि तपको तप रहा है, गर्मी के दिनों में चारों तरफ अग्नि सुलगा रखी है तपश्चरण के वास्ते और ऊपरसे सूर्यका आताप है तो यों पाँचों ओर से तपन मिल रहा है, ऐसे तपन में तपने वाले पंचाग्नि तपके तपने वाले कहे जाते हैं, उसमें कष्ट तो प्रत्यक्ष दिख ही रहा है। उसे देखकर प्रशंसा करना कि यह भी बड़ धर्मात्मा है, तपस्वी हैं, कर्मोंका क्षय कर रहे हैं, तो इसमें सम्यग्दर्शनको दोष आता है क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्ष मार्ग है और उस रत्नत्रय के अनुसार ही क्रिया बने तो वह व्यवहार धर्म में माना गया है, पंचाग्नि तपमें प्रथम तो अग्निका आरम्भ किया, चारों ओर अग्नि जल रही है और अग्नि जलने पर अनेक जीवोंका घात भी सम्भव है और यह जान बूझकर आरम्भ करे तो वह रत्नत्रयके मार्गसे विरुद्ध बात है। फिर भी उसके प्रति यह भाव रहना कि इससे कर्मोंका क्षय होता है तो वह सम्यक्त्वको दूषित कर रहा है, अनेक संन्यासीजन जगलमें रहते हैं और कंदमूल फल खाकर अपना पेट भरते हैं, यह देखकर भी प्रशंसाका भाव किसीके हो सकता है कि देखो ये कितना निरपेक्ष है, किसी मनुष्य से मतलब भी नहीं रखते हैं, जगलमें ही रहते हैं और कंदमूल फल खाकर अपना गुजारा कर लेते हैं यह बात तो जानी पर यह ध्यानमें न आया कि कितना स्वच्छंद वृत्ति है, रसना इन्द्रियका विषय स्वादने के लिये उनके कोई बाधा नहीं है। कैसा ही खाय, फलके तोड़ने में आरम्भ, कंदमूल के खोदनेमें आरम्भ, ऐसे षट्कायकी हिंसा भी चल रही है। इस ओर ध्यान नहीं किन्तु बाहरी निरपेक्षता देखकर किसी मनुष्य से सम्बन्ध नहीं है इतना ही मात्र देखकर प्रशंसा करना यह भी कर्मक्षयका मार्ग है ऐसी बुद्धि करना सम्यक्त्व में कलंक लगाना है। अनेक पाखण्डीजन चिलम, तम्बाकू, सुलफा, भाँग आदिक मादक चीजें पीते हैं और उसमें धर्मकी मुद्रा दिखाते हैं। ऐसे ही देवताओंको माना है और उन देवताओंका नाम लेकर सुलफा आदिक पीतेखाते हैं और भक्तजन भी चूँकि शिथिल हैं तो उनके प्रति

गुणका ही भाव बढ़ाते हैं कि जब ये इस नशे में होते हैं तो भगवान से साक्षात् मिलते हैं, ऐसी ही बातें सोचकर उनका समर्थन करते हैं, भक्तिपूजा करते हैं, ऐसी घटनाको देखकर यदि कोई ज्ञानी अपने ज्ञानभावमें शिथिल होकर उनकी अनुमोदना करे और ये भी कर्मक्षय कर रहे हैं ऐसी बुद्धि रखें तो वह ज्ञानी अपने सम्यग्दर्शनको दूषित करता है और ऐसे दूषण द्वारा सम्यक्त्वका घात कर लेता है।

कुदर्शनज्ञानचारित्रचिद्रजान् निरस्ततत्त्वर्थरुचीनसंयतान्।
निषेवमाणो मनसापि मानवो लुनाति सम्यक्त्वतरुं महाफलं ॥१७८॥

मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रवन्तोंकी मानसी सेवासे सम्यक्त्वका क्षय—जो पुरुष खोटे दर्शन, खोटे ज्ञान, खोटे चारित्ररूपी मैलसे मलिन जीवों के मन, वचन, कायसे किसी एक से भी सेवा सुश्रुषा करता है वह अपने सम्यक्त्वको काट डालता है, दूषित करता है, सम्यक्त्वका घात करता है। जो मिथ्यातत्त्वके श्रद्धानी हैं उनकी भक्ति, उनकी सेवासे कौनसा फल पा लिया जायेगा? मिथ्यात्व ही तो संसारके जीवोंको अनादिसे रुलाता आया है. मिथ्यात्वके वश ही तो यह जीव सारे संकट सह रहा है और अब यह मिथ्यादृष्टियों को ही गुरु समझकर, शरण समझकर उनकी भक्ति श्रद्धा करे तो वह मिथ्यात्वको ही तो पुष्ट करता है। जिन लौकिक गुरुजनोंका दर्शन खोटा है. अनेकान्तके स्वरूपसे अपरिचित हैं आत्माके वास्तविक स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं. उनको कर्मक्षयका रास्ता कैसे प्राप्त हो सकता है? वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ताका भान न होनेसे जिसका ज्ञान खोटा बना हुआ है और खोटा दर्शन ज्ञान होनेके कारण रागद्वेषमें ही पग रहे हैं, रागद्वेषमयी क्रियामें ही धर्म मानकर उनका ही आचरण कर रहे हैं, ऐसे पुरुषोंकी सेवा सुश्रुषा में यह पुरुष कैसे सम्यक्भाव प्राप्त कर सकता है? जिस मिथ्यात्वभावको लिये हुए है उसी मिथ्याभावको और भी दृढ़ कर रहा है, तो मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी, मिथ्या आचरण वाले पुरुषोंकी कोई मनसे सेवा सुश्रुषा करे, वचनसे सेवा सुश्रुषा करे अथवा शरीरसे सेवा सुश्रुषा करे वह सम्यग्दर्शनरूपी वृक्षको जड़से उखाड़ डालता है। सम्यग्दर्शन ही तो संसार संकटोंसे छुटाने वाले मोक्ष रूप महाफलको देने वाला है, उसीका ही जिसने घात किया है वह अब कैसे आत्माको प्रगतिके मार्गमें बढ सकता है?

जिनेंद्रचंद्रमक्तभक्तिभाविना निरस्तमिथ्यात्वमलेन देहिना।
प्रधार्यते येन विशुद्धदर्शनमवाप्यते तेन विमुक्तिकामिनी ॥१७९॥

निरतिचार सम्यक्त्वसे प्रगतिपूर्वक निर्वाणका लाभ—इस छंदसे पूर्वके ५ छंदोंमें सम्यग्दर्शनके ५ अतिचारोंका वर्णन किया, उन अतिचारोंसे रहित सम्यग्दर्शनको जो धारण करते हैं और साथ ही जिनेन्द्र भगवानके चरणोंमें अचल भक्ति भी रखते हैं वे जीव शीघ्र ही मुक्तिरूपी कामिनीको प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् संसारके सर्व संकटों से सदाके लिये छुटकारा पा लेते हैं। संसार नाम है अपने रागद्वेष सुख दुःख आदिक विकारोंमें आत्मीयता मानकर भटकते रहना सो जब सम्यग्दृष्टिने इन रागादिक विकारोंको परभाव समझ लिया, ये मेरे स्वभावमें नहीं हैं किन्तु कर्मोदयकी छाया प्रतिफलन रूप जो नैमित्तिक है, औपाधिक है यह मेरा कैसे हो सकता है ? मैं तो इनसे निराला केवल चैतन्यवृत्ति मात्र हूँ, बस चेतता रहूँ, प्रतिभास होता रहे यह ही मेरा सीधा काम है और मैं प्रतिभास स्वरूप हूँ, यह श्रद्धा जिसके हो गई है वह पुरुष तो इस स्वतः सिद्ध चेतनामात्र सहज परमात्मतत्त्व को ही धुन रखेगा, उसका संसार फिर कैसे बढ़ सकता है ? कर्मभार उसके साथ लगता है जिसको कर्मके फल में आदर रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव को कर्म के फल में आदर रंच नहीं है। यह समस्त कर्मफल विकृत हैं, संसार संकटों में फंसाने वाले हैं, ऐसा परभावोंकी असारता भिन्नता सम्यग्दृष्टि के निर्णीत हुई है, अब वह सम्यग्दृष्टि इन विकार भावोंसे तो उपेक्षा करता है और अपने सहज अविकार स्वभावकी आस्था रखता है और जिसने सहज स्वभाव प्रकट कर लिया है उन परमात्माओंकी अचल भक्ति करते हैं, अर्थात् यह सिद्ध स्वरूप ही परमात्मतत्त्व है। यही अवस्था जीवोंको कल्याणकारी है, ऐसी उस सिद्ध पर्यायके प्रति आस्था रहती है, तो जिसको निज सहज स्वरूपका भान है और सहज स्वभाव के अनुकूल जिनका विकास हुआ है उनके प्रति भक्ति जगती है वह पुरुष संसार संकटों से नियमसे छूट जाता है।

८ सम्यग्ज्ञाननिरूपण

अनेकपर्यायगुणैरुपेतं विलोक्यते येन समस्ततत्त्वं।
तदिंद्रियानिंद्रियभेदभिन्नं ज्ञानं जिनेंद्रैर्गदितं हिताय ॥१८०॥

प्रत्यक्ष परोक्षरूप सम्यग्ज्ञान का स्वरूप व हित प्रयोजकत्व—इससे पूर्व परिच्छेद में सत् असत्का विवेक किया गया था, जिसके आधार पर सम्यक्त्व होता है जो कि मोक्षका

मूल है उसका वर्णन करके अब सम्यग्ज्ञानका वर्णन किया जा रहा है। ज्ञानका अर्थ है अनेक पर्याय और गुणोंसे युक्त जीवादिक पदार्थोंका जानना। जो पदार्थ जिस स्वरूप से अवस्थित है उस स्वरूप में उन पदार्थोंका परिज्ञान करना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सो ये सम्यग्ज्ञान दो प्रकार के हैं – परोक्ष और प्रत्यक्ष। जो इन्द्रिय मनके सहयोग से ज्ञान जगता है वह तो परोक्षज्ञान है। जहाँ इन्द्रिय मनका माध्यम नहीं लेना पड़ता, केवल आत्मीय शक्तिसे ही ज्ञान जगता है उस ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। यद्यपि जाना जाता है वैसे मात्र ज्ञानके ही द्वारा, कहीं इन्द्रियके द्वारा नहीं जाना जाता पर जैसे कोई कमरे में बन्द हो तो वह पुरुष खिड़कियों के द्वार से ही देख सकता है, तो देखने वाला वह पुरुष ही है। खिड़कियाँ नहीं देखतीं। पर उस बंधनकी स्थितिमें यह ही चारा है कि वह खिड़कियों के द्वारसे बाहर की बात देख सके। तो ऐसे ही यह जीव कर्म और शरीर से बंधा हुआ है। छदमस्थ है, इस स्थितिमें इन बाहरी पदार्थोंका ज्ञान इन्द्रियरूपी खिड़कियोके द्वारा कर पाता है। सो जानने वाला तो आत्मा ही है, पर स्थिति ऐसी है कि इन्द्रिय और मनके निमित्तसे वह जान पाता है। तो ऐसे इन्द्रियज ज्ञानको परोक्षज्ञान कहते हैं और अतीन्द्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। ज्ञान शब्द ज्ञ अवबोधने धातुसे बना है। जिससे पदार्थ जाना जाय उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञानका स्वरूप जानना है। जैसे दीपकका स्वरूप ही प्रकाशमय है सो वह स्वयं प्रकाशित है और दूसरे पदार्थका भी प्रकाशक है, ऐसे ही यह आत्मज्ञान स्वयं जानन स्वरूप है, प्रतिभास स्वरूप होने से वह ज्ञान अपने को भी जानता है और पर पदार्थोंको भी जानना है। सो जहाँ इन्द्रियकी निरपेक्षता हो गयी, केवल आत्मीय शक्तिसे ही जानता चल रहा है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

रत्नमयी रक्षति येन जीवो विरज्यतेऽत्यंतशरीर सौख्यात्।
रुणद्धि पापं, कुरुते विशुद्धि, ज्ञानं तदिष्टं सकलार्थविद्भिः ॥१८१॥

ज्ञानसे रत्नत्रयी रक्षा, विरक्ति, पापनिरोध, विशुद्धि एवं सकलार्थ सिद्धि—सर्वज्ञदेवने उस ज्ञान को श्रेष्ठ ज्ञान कहा है, जिस ज्ञान की सहायतासे यह जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की रक्षा करता है। यद्यपि यह भी बताया गया है कि सम्यग्दर्शन होते ही सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन से पहले वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता, पर ज्ञान तो सही पहले था, पर अनुभूति सहित न था। सम्यग्दर्शन होने पर भी ज्ञानकी आराधना, ज्ञान का पौरुष आवश्यक है। यदि ज्ञानका पौरुष न रहे तो विषय कषायोंके अनुरागसे पाया हुआ सम्यग्दर्शन भी नष्ट कर सकता है तो वही ज्ञान प्रशंसनीय है जो सम्यग्दर्शन

को रक्षा करता है, सम्यग्ज्ञान की रक्षा करता है। ज्ञानमें समीचीनता आये, पर उसको बनाये रहे यह भी ज्ञानसे ही किया जायगा। अपना आचरण सही बनायें, ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व में उपयोग जुटायें यह सब ज्ञानबलसे ही होता है। सम्यग्ज्ञान वही श्रेष्ठ बताया गया है जिसके प्रतापसे विनश्वर शारीरिक सुखोंसे वैराग्य जग जाय। विषयोंमें अनुराग बना रहे तो उसमें ज्ञानका प्रकाश नहीं है। सच्चा ज्ञान वही है जिसके होनेसे शारीरिक सुखोंसे वैराग्य बन जाता है। सम्यग्ज्ञान पापके आश्रवको रोकता है। पाप कर्मका बंध न होगा, जिसके सम्यग्ज्ञान है उसके पापका आश्रव रुक जायगा। ज्ञानी पुरुष धर्ममें अनुराग रखता है, धर्ममें प्रवृत्ति करता है। रागद्वेष न करके मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहना यह कहलाता है धर्मपालन। यह धर्मपालन सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे ही होता है। तो सर्वज्ञदेवने उसी ज्ञानको श्रेष्ठ ज्ञान कहा है, जिससे पाप कटें, धर्म बढ़े, रत्नत्रयकी रक्षा हो और उसकी विशुद्धि बढ़ती हो।

क्रोधं धुनीते, विदधाति शांतिं, तनोति मैत्रीं, विहिनस्ति मोहं,।
पुनाति चित्तं, मदनं लुनीते, येनेह बोधं तमुशंति संतः ॥१८२॥

ज्ञानसे क्रोधध्वंस व शान्तिविधान—ऐसे ही ज्ञानको संत जन ज्ञान नामसे पुकारते हैं जो ज्ञान क्रोधको नष्ट कर देता है। जिसके ज्ञान जग रहा है उसके क्रोध कैसे होगा? क्रोध तभी होता है जब अज्ञान बर्त रहा हो। किसी बाह्य पदार्थमें लगाव लग रहा हो, फिर कोई विघनकर्ता समझा जा रहा हो वहाँ क्रोध उत्पन्न होता है, पर जहाँ सम्यग्ज्ञान है, भिन्न-भिन्न सत्ताका स्पष्ट निर्णय है वहाँ क्रोधका क्या अवकाश? तो वास्तवमें ज्ञान वही है जो क्रोधको नष्ट कर देता है। बड़े-बड़े ऋषी जो तपश्चरणके बलसे ऋद्धि को प्राप्त करलें और कदाचित् अज्ञान आ जाय, क्रोध आ जाय तो वह भी भस्म हो जाता है और दुनियाको भी भस्म कर देता है, तो जहाँ ज्ञान है वहाँ क्रोध नहीं रह सकता। ज्ञान वही है जो शान्तिको उत्पन्न करता है, जहाँ पदार्थका यथार्थ बोध है वहाँ रागद्वेष का क्या काम? रागद्वेष होते हैं अज्ञान दशामें। ज्ञान जगने पर जहाँ यह प्रकाश जगा कि मैं तो अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ। जगतमें सर्व पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न है, भिन्न इन समस्त पदार्थोंका कुछ भी परिणमन हो उससे मेरे में कोई सुधार बिगाड़ नहीं होता है। स्वतन्त्र सत्त्वका जहाँ भान हो गया, ऐसा ज्ञान जग गया वहाँ शान्तिका वातावरण छा जाता है, और उस ज्ञानीके सत्संग में जो लगे रहते हों, उन्हें शान्त देखकर अन्य लोगों

पर भी शान्ति छा जाती है, ऐसी घटनायें हुई भी हैं। किसी जंगलमें कोई मुनिराज तपश्चरण कर रहे हैं, वहाँ सिंह और बैल दोनों ही मुनिराजके समीप खड़े हैं, उनमें परस्पर क्रोध नहीं आता, अशान्ति नहीं होती। शान्तिका वातावरण रहता, वह सब प्रताप है सम्यग्ज्ञान का। वहाँ जो उदारता जगी, शान्ति जगी वह ज्ञान के कारण ही तो जगी। तो वास्तविक ज्ञान वही है जिस ज्ञानके होनेसे शान्तिका साम्राज्य छा जाय, तो जहाँ क्रोध न हो और शान्तिका साम्राज्य छा जाय वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्ज्ञानसे मैत्री विस्तार और मोहविघात—सम्यग्ज्ञानके प्रताप से सर्व जीवोंकी मैत्रीका विस्तार हो जाता है। जिसने अपना सहज आत्मस्वरूप जाना वह सब जीवोंका सही स्वरूप समझता है। अपने ही स्वरूपके समान अन्यका स्वरूप है और जो अपने पर बीतती है वही उन पर बीतती है, सब कुछ जाननहार ज्ञानी मित्रताका विस्तार कर लेते हैं। किसी भी जीव को दुःख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषाको मित्रता कहते हैं, तो जहाँ सर्व जीवोंका स्वरूप अपने स्वरूपके समान निरखा वहाँ मित्रताका विस्तार हो ही जाता है, सो ज्ञान सम्यक वही है जिसके होने पर सर्व जीवोंमें मित्रताका विस्तार हो, शत्रुताका भाव न रहे, ज्ञान सम्यक वही है जिसके होने से मोह नष्ट हो जाय। ज्ञान और मोह ये दो एक साथ कहाँ रह सकते। मोह का अर्थ है पर पदार्थोंमें और अपनेमें भेद न समझ सकना, परसे हित मानना, परसे अपना सुधार बिगाड़ समझना। यह सब मोह कहलाता है, तो जहाँ मोहभाव रहता है वहाँ ज्ञानभाव नहीं रहता। क्योंकि ज्ञानका विषय है यह कि जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा जान ले। प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य-क्षेत्र, काल भावसे है, परके द्रव्य-क्षेत्र काल भावसे नहीं। एक का दूसरे में प्रवेश नहीं, दखल नहीं, अधिकार नहीं, फिर भी जिसके ज्ञानभाव नहीं रहता, वह सबकुछ परके प्रति मान बैठता है। इन बच्चोंपर मेरा ही तो अधिकार है, इनका मैं ही तो मालिक हूँ, जो वैभव प्राप्त हुआ है वह मेरा ही तो है। तहसील में रजिस्ट्री मेरे नामसे ही तो है, यह मकान दूसरे का कैसे हो सकता। तो पर पदार्थमें आत्मीयताका कामोह रहना यह ही तो अज्ञानभाव है। जहाँ ज्ञान जगता है वहाँ अज्ञान नहीं ठहर सकता।

सम्यग्ज्ञानसे चित्तपवित्रता व कामखंडन—सम्यग्ज्ञान वही है जो चित्तको पवित्र कर दे। चित्त अपवित्र होता है रागद्वेष मोहसे, रागद्वेष मोह बनता है अज्ञानभाव से। जहाँ वस्तुके आवान्तर सत्त्वका ज्ञान जगा है वहाँ विकार न आ सकेगा, तो सम्यग्ज्ञानके होने

पर चित्त पवित्र हो जाता है। चित्तमें अपवित्रता नहीं ठहरती और जिनके पूर्ण सम्यग्ज्ञान है, केवल ज्ञान है, उनके चित्त ही नहीं, पर आत्मा उपयोग स्वरूप तो है, उनका वह उपयोग पवित्र हो जाता है, सम्यग्ज्ञान वही है जिसके होने पर कामदेवका प्रभाव घट जाता है। किसी स्त्री पुरुषको निरखकर उसके रूपका कोई महत्त्व दे, उसके प्रति ग्लानि न आये, हाड़, खून आदिक का ध्यान न जगे और केवल एक सौन्दर्य शोभा यही मात्र दिखे तो वह तो अज्ञानभाव है। जहाँ ज्ञान सही जग रहा हैं वहाँ कामदेवका प्रभाव नहीं ठहर सकता। यह शरीर जीव कर्म और आहार वर्गणायें इन तीनका पिण्ड है। जीव तो अमूर्त है, देह भी इस मलिन जीवकी संगति पानेसे पहले इसमें कोई खराबी न थी। जहाँ ही जीवका सम्बन्ध हुआ तो ये आहार वर्गणायें इस तरह परिणम गई कि कोई हड्डी बनी, कोई खून बनी, कोई चास बनीं, तो ये सब अपवित्र पदार्थ बन गए। तो जहाँ सही ज्ञान है, प्रत्येक वस्तुके स्वरूपका बोध है वहाँ देहको देखकर सत्य ही नजर आयेगा, असत्य माया दृष्टिमें न आयेगी। तब इस पर कामदेवका प्रभाव कैसे हो सकता ? तो जिसके होने पर इतना प्रभाव बने वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, ऐसा संत पुरुष कहते हैं।

ज्ञानेन बोधं कुरुते परेषां, कीर्तिस्ततश्चंद्रमरीचिगौरी।
ततोऽनुरागः सकलेऽपिलोके ततः फलं तस्य मनोनुकूलं ॥१८३॥

ज्ञानसे परबोध करानेके कारण कीर्तिविस्तार—ज्ञानके द्वारा यह जीव दूसरोंको बोध करा सकता है। दूसरोंको समझाना तब ही बनता है जब उस विषयमें खुदने भी बहुत कुछ समझा हो और स्पष्ट हो। तो जिस ज्ञान द्वारा दूसरे प्राणियोंको प्रतिबोध हो वह ज्ञान सही ज्ञान है, और ज्ञानका यही चिह्न है अर्थात् ज्ञानी पुरुष ज्ञान द्वारा कुमार्गपर जाते हुए लोगोंको कुमार्गसे हटाकर सुमार्गपर लगा सकता है, यह सामर्थ्य ज्ञानमें है। अन्य वैभव आदिकके द्वारा यह बात न बन पायेगी कि कुमार्गसे हटाकर सुमार्गमें लगा दे। ज्ञानमें ही यह कला है कि वह दूसरोंको बोध करा सकता है। दूसरोंको प्रतिबोध कराये उससे उसकी कीर्ति चंद्रकिरणोंकी तरह धवल विस्मित हो जाती है। जिन महापुरुषोंके आज नाम पाये जा रहे हैं उन्होंने यही तो किया था अपने समयमें कि कुमार्गपर जाते हुए लोगोंको सुमार्गपर लगाया था। तो जो पुरुष दूसरोंको प्रतिबोध करता है, कुमार्गसे हटाकर सुमार्गपर लगाता है उसकी कीर्ति चंद्रकिरणोंकी तरह स्वच्छ फैलती है। जहाँ लोगोंको प्रतिबोध प्राप्त हो और उसकी कीर्ति धवल स्वच्छ विस्मित

हो तो उसके प्रति लोगोंका अनुराग बढ़ जाता है। अब यह ज्ञानी पुरुष दूसरोंका प्रेमपात्र बन जाता है। अनेक प्रयत्न करने पर भी कोई लोगोंका प्रेमपात्र बन सके यह बात नहीं हो पाती, क्योंकि ज्ञानातिरिक्त अन्य उपायोंमें निश्चलता नहीं है। ज्ञान ही एक ऐसा उपाय है कि जिसके प्रसारसे लोगोंका अनुराग बढ़ता है, जहाँ अनुराग प्राप्त हो तो उसका अभीष्ट शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है।

ज्ञानाद्धितं वेत्ति ततः प्रवृत्ती रत्नत्रये संचितकर्ममोक्षः।
ततस्ततः सौख्यमबाधमुच्चैस्तेनात्र यत्नं विदधाति दक्षः ॥१८४॥

ज्ञानसे हितपरिचय, रत्नत्रयवृत्ति, संचितकर्ममोक्ष व अबाध आनन्द--ज्ञानसे यह जीवहित अहितको जानता है। जब ज्ञान प्रकाश जगता है तो वहाँ यह स्पष्ट रहता है कि यह भाव तो हितरूप है और यह भाव अहितरूप है, कुछ ज्ञान दृढ़ होने पर विशेष उच्च स्थितिमें अहित पदार्थोंका ध्यान नहीं रहता पर हितमय निज सहज स्वरूपका तो ध्यान रहता ही है, तो यह जीव ज्ञान द्वारा हितको समझता है। हित क्या है ? समता परिणाम। अज्ञान हटे, रागद्वेष भाव विकार दूर हों। केवल ज्ञाता द्रष्टा रहें, ऐसी जो अपनी स्थिति है वही हितरूप है। हितरूप परिणामके परखने पर फिर उसमें प्रवृत्ति हो जाती है। क्या है हितरूप ? वह सहजभाव, उसकी दृष्टि की मग्नता। यही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र कहा जाता है। तो हितका परिचय होनेपर जीवकी प्रवृत्ति रत्नत्रयमें होती है और रत्नत्रयमें प्रवृत्ति होनेके कारण पूर्व संचित कर्मोंका क्षय हो जाता है। यह पूर्ण वैज्ञानिक बात है। आत्माके विकार भावका सान्निध्य पाकर कार्माण वर्गणामें कर्मत्व आ जाता है तो ऐसे भव भवके बाँधे कर्म आत्माके अविकार स्वभावकी दृष्टि होनेपर उनमें दुर्बलता आकर उन कर्मोंका क्षय हो जाता है। कर्मोंका क्षय होनेसे मोक्ष सुख प्राप्त होता है। यह मोक्षसुखभी धर्म है। कभी मिटने वाला नहीं है। इस मोक्षसुखमें बीच में कभी बाधा भी नहीं आ सकती और कभी उस सुखमें थोड़ी कमी हो जाय, जैसे केवल ज्ञानके द्वारा प्रभु निरन्तर समस्त पदार्थोंको जानते रहते हैं तो ऐसे ही इस आनन्द परिणमन के द्वारा निरन्तर निराकुल अखण्ड परम आल्हादका अनुभव होता रहता है। तो कर्मक्षयसे जो मोक्षसुख प्राप्त होता है। उसमें कभीभी बाधा नहीं आ सकती। ऐसा निराबाध नित्य मोक्ष सुख प्राप्त होता है कर्मोंके विध्वससे। इस कारण जो विवेकीजन हैं वे आत्मीय पवित्रता पानेके लिए जैसा स्वयंका सहजस्वरूप है।

उस प्रकार व्यक्त हो जाय वह धर्मपालन करके ज्ञानका उपार्जन करता है। ज्ञानसे भीतर प्रकाश मिला और सत्य प्रकाश मिलनेसे स्वभावाभिमुखता हुई। रागादिक विकार दूर हुए, तो ऐसा सुयोग होने पर पूर्वबद्धकर्म स्वयं क्षयको प्राप्त हो जाते हैं तो जिनको मोक्षसुखकी चाह है उनका कर्तव्य है कि वे अवश्य ही सवप्रयत्नपूर्वक वस्तुस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करें।

यदज्ञजीवो विधुनोति कर्म तपोभिरुग्रैर्भवकोटिलक्षैः।
ज्ञानी तु चैकक्षणतो हिनस्ति तदत्र कर्मेति जिना बदंति ॥१८५॥

ज्ञानीका अल्प समय में कर्मप्रक्षय—अज्ञानीजन लाखों करोड़ों भवों में तपश्चरण कर करके जितने कर्म नष्ट कर पाते हैं उतने कर्म ज्ञानी जीव क्षणभर में नष्ट कर डालता है। यहाँ ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मनाशकी तुलना की है उसका अर्थ इतना है कि इतना कर्म-भार एक क्षणमें दूर होता, पर अज्ञानी जीवने वास्तवमें कर्मोंका क्षय ही नहीं किया था। और इसीलिए लाखों करोड़ों भवोंके तपश्चरणकी बात कही गई है। सम्वरपूर्वक निर्जरण हो वह मोक्षमार्गमें उपयोगी कहा गया है। अज्ञानी के सम्बर कहाँ ? भले ही थोड़े कर्म दूर हो जायें और वहाँ भी दूर हो रहे थे कुछ तपश्चरण आदिक विधानोके कारण कुछ अधिक दूर हो गए, उदीर्णा हो गई, किसी भी प्रकार हटे तो हट गए, इतने कर्मभार की तुलना की है। पर वहाँ अज्ञान अवस्थामें तो कर्मों का क्षय नहीं होता किसी का। यह जीवके एक क्षणके स्वरूपानुभव से इतने कर्म दूर हो जाते हैं। ज्ञानीके जो कर्म दूर होते हैं उनमें पाप कर्मके दूर होने की संख्या अधिक रहती है। पाप भारसे रहित होकर उच्च दशा में यह ज्ञानी पुण्य भारको भी हटा देता है। पाप कहते हैं उसे जिसके उदय से जीवको अनिष्ट सामग्री मिले। मनके प्रतिकूल वातावरण मिले, जिसमें यह कष्ट मानता है। पुण्य कर्म उसे कहते हैं जिसके उदयसे जीवको इष्ट सामग्री मिले। जिससे यह सुख मानता है, पर वस्तुतः जो सुख मिला पुण्योदयसे वह क्षोभसे भरा हुआ है और जो कष्ट पापके उदयसे मिला उसमें तो क्षोभ स्पष्ट ही है। और फिर जैसे पापके उदयमें इस जीवको संसारमें ही रहना पड़ता तो ऐसे ही पुण्य के उदय में भी इस जीवको संसारमें ही रहना पड़ता। तो ज्ञानी जीवका ध्येय तो जैसा अपने आत्माका सहज स्वरूप है एक अकेला आत्मा ज्ञानमात्र, वैसा ही प्रकट होता, वही ध्यानमें रहता है। सो यह स्थिति पुण्य पाप दोनों से ही रहित होने पर होती है। तो यों पुण्य पाप दोनों हेय हैं।

चौरादिदायादतनूजभूपैरहार्यमर्च्यं सकलेऽपि लोके ।
धनं परेषां नयनैरदृश्यं ज्ञान नरा धन्यतमा वहंति ।।१८६।।

ज्ञानकी परके द्वारा अहार्यता—यह ज्ञान ऐसा अद्भुत पदार्थ है, अलौकिक वैभव है कि जिसको चोर चुरा नहीं सकते। बाहर धन पुद्गल पड़े हों तो आँख बचाकर या जबरदस्ती चोर चुरा ले जायेंगे पर इसके ज्ञानको तो न ले जायेंगे। और ज्ञान भी यदि पाया है तो उसको न हरेंगे। और किसी ने परमार्थ ज्ञान प्राप्त किया है तो वह तो उसका अमिट वैभव है, तो चोर बाहरी पदार्थों को तो हर लें मगर ज्ञानको नहीं हर सकते। ज्ञान ऐसा विलक्षण अलौकिक पदार्थ है कि जिसको भाई-बंधु आदिक कोई बाँट नहीं सकते। हिस्सा बाँट हो रहा हो और उनमें यदि कोई जबरदस्त हो तो वह कुछ अधिक धन भी ले सकता मगर ज्ञानको तो कोई नहीं बाँट सकता। सो ज्ञान एक अलौकिक वैभव है। वह यदि प्राप्त हो जाय तो न छिन सकता है न बँट सकता है। ज्ञान को राजा भी नहीं छुड़ा सकता। कोई अपराध बन जाने पर राजा धन भी ले सकता, राज्य से बाहर भी निकाल सकता मगर उसके ज्ञानको नहीं छीन सकता। वह ज्ञान आत्मा का आत्मा के पास ही रहेगा। बाहरी धन तो लोगोंके द्वारा आँखों से दिख जाने योग्य है, दिख गया, उसको पकड़ा भी जा सकता, पर ज्ञान तो आँखों से अदृश्य है। कोई ज्ञानको कैसे छुड़ा लेगा ? यह ज्ञानभाव जिसके पास है वह पुरुष धन्य है। सब कुछ लोकमें वैभव मिलना सुलभ है पर ज्ञानभावका पाना दुर्लभ है। ज्ञानही आत्माका स्वरूप है और आत्मा के इस सहज स्वरूपको ज्ञान पहिचान ले तो चूँकि ज्ञानमें ज्ञान स्वरूप आ गया तो उसकी पवित्रता बढ़ी और सारे संकट दूर हो गए। तो सर्व संकटों को दूर कर सकने वाला कोई मित्र है तो वह ज्ञान ही है। इसलिए बहुत पुरुषार्थ करके भी एक इस ज्ञानभावका अर्जन करना चाहिये।

विनश्वरं पाप समृद्धिदक्षं विपाकदुःखं बुधनिंदनीयं ।
तदन्यथाभूतगुणेन तुल्यं ज्ञानेन राज्यं न कदाचिदस्ति ।।१८७।।

ज्ञान की अतुलता—लोकमें सबसे बड़ी वस्तु लोग राज्य को समझते हैं, पर उस राज्यकी उपमा भी ज्ञानके लिए फेल हो जाती है। यदि ज्ञानसे राज्यकी उपमा दी जाय तो तुलना कैसे बन सकती है ? राज्य तो विनाशीक है। एक न एक दिन नष्ट हो जाने वाला है, किन्तु ज्ञान अविनाशी है, वह नष्ट होगा नहीं। जो सम्यग्ज्ञान की धारा है वह

बराबर चलती रहेगी। जो सहज आनन्दगुण है वह कभी नष्ट होगा नहीं। तो राज्यमें और ज्ञानमें कालकृत बड़ा अन्तर है। राज्यसे पाप की वृद्धि होती है और ज्ञानसे पापका नाश होता है। तो पापवर्द्धक और पापनाशक की तुलना कैसे जा सकती है? राज्यतो अन्तमें दुःखदायी है। या तो उसे कोई छोनता है या मरण होता है तो राज्य वैभव छूटा जा रहा है या कुछ भी हो अन्तमें दुःख ही प्राप्त होता है और यह ज्ञान सदा ही सुखका देने वाला है। तो दुःखदायक और सुखदायककी तुलना कैसे कही जा सकती है। ज्ञानीजन, विद्वान लोग, संसारसे विरक्त महापुरुष राज्यकी तो वास्तवमें निन्दा करते हैं। राज्य तो निन्दनीय है और ज्ञानकी सब लोग प्रशंसा करते हैं तो निन्दनीय और प्रशंसनीय की परस्पर तुलना क्या? जो लोग ज्ञानकी राज्यके साथ तुलना करते हैं वे भूल करते हैं। राज्य और ज्ञान ये दोनों बराबर कभी नहीं हो सकते।

पूज्यं स्वदेशे भवतीह राज्यं ज्ञानं त्रिलोकेऽपि सदार्चनीयं।
ज्ञानं विवेकाय, मदाय राज्यं ततो न ते तुल्यगुणे भवेतां ॥१८८॥

ज्ञानकी सार्वभौमता—ज्ञान और राज्यमें बहुत अन्तर है। राज्यतो अपनेही देशमें पूज्य होता है, जो राज्य मिला है वह राजा अपने ही देशमें पूजा जायगा। दूसरे देश वाले उसकी आज्ञा न मानेंगे अथवा दूसरे देश पर उसका अधिकार और प्रवेश ही नहीं है। तो राजा अपने ही देशमें पूजा जाता है, पर ज्ञानतो तीनों लोकमें सभी जगह सदा पूज्य है। किसी भी देशके लोग हों किसी भी कालमें, सभी लोग सम्यग्ज्ञानका आदर करते हैं। सम्यग्ज्ञानको हितकारी सुखदायी समझते हैं। तो ज्ञानकी राज्यके साथ तुलना कैसे? राजा स्वयं ज्ञानकी पूजा करते हैं। बड़े-बड़े महाराजा चक्रवर्ती इन्द्र, धरणेन्द्र, योगीजन सभी ज्ञानकी पूजा करते हैं। तो ज्ञान ऐसा प्रधान हितकारी गुण है, ज्ञान तो विवेकके लिए होता है। परन्तु राज्यपद तो मद कराता है। विवेक कहते हैं उसे जहाँ हितका ग्रहण किया जा सके और अहितका त्याग किया जा सके। जो हित है उसका ग्रहण करलें, परन्तु राज्यका जब मद आ जाता है या राज्यके विधानका जहाँ सम्बन्ध होता है वहाँ हितका तो ग्रहण नहीं हो पाता और अहितका ही ग्रहण होता रहता है। तो ज्ञान और राज्य ये दोनों एक समान कैसे हो सकते हैं? सम्यग्ज्ञान तो स्वयंका स्वाभाविक गुण है। राज्य तो पराधीन बात है। ज्ञान और राज्यकी तुलना करना यह मोहियोंका ही काम हो सकता है।

तमो धुनीते, कुरुते प्रकाशं, शमं विधत्ते, विनिहंति कोपं ।
तनोति धर्मं, विधुनोति पापं, ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणां ॥१८९॥

ज्ञानसे धर्मवृद्धि व पाप प्रक्षय—सम्यग्ज्ञान मनुष्यों को कौन-कौन सा लाभ नहीं पहुँचाता है, अज्ञानरूपी अंधकारका नाश हो जाना यह बहुत बड़ा लाभ है। जो प्राणी अज्ञान में डूबे हुए हैं उनका उपयोग स्वसे हटकर पर तत्त्वों में लिपट गया है। उन पर बड़ी विपदा है। अज्ञान की विपदा बहुत बड़ी विपदा होती है। तो ऐसे अज्ञान अंधकार को भी जो नष्ट कर दे वह ज्ञान बहुत ही श्रेष्ठ गुण है। ज्ञान अंतरंगमें विलक्षण रीतिका स्वानुभवका प्रकाश पैदा कर देता है। ज्ञानसे शान्ति का साम्राज्य छा जाता है, शान्तिका साम्राज्य छा देने वाले और कोई पदार्थ नहीं हो सकते। सम्यग्ज्ञान ही है एक ऐसा परमतत्त्व जो कि शान्तिका साम्राज्य बना देता है। ज्ञान प्रकाशके कारण क्रोधका नाम निशान तक नहीं रहता। ज्ञानमें ही वह महान बल है कि इस जीवकी विकार विपदाको मूलतः समाप्त कर दे। ज्ञानसे धर्मकी वृद्धि होती है और पापका विनाश हो जाता है और पापके नाश होनेसे ही लोकमें भी अद्भुत सम्पदायें प्राप्त होती हैं और फिर निष्पाप लोग ही मोक्ष मार्ग को प्राप्त करते हैं। तो ज्ञान से इस जीवको क्या-क्या लाभ नहीं होता। समस्त अद्भुत लाभ ज्ञान द्वारा प्राप्त होते हैं।

यथा यथा ज्ञानबलेन जीवो जानाति तत्त्वं जिननाथदृष्टं ।
तथा तथा धर्ममतिः प्रशस्ता प्रजायते पापविनाशशक्ता ॥१९०॥

ज्ञान बलसे आत्माकी उज्ज्वलता—जैसे जैसे इस ज्ञानबल के द्वारा यह जीव तत्त्वसे स्पष्ट मर्मसहित मनन करता चला जाता है वैसे ही वैसे इसकी बुद्धि समीचीन होकर धर्मकार्य में अग्रेसर होती चली जाती है। धर्म है आत्माके सहज स्वरूपमें उपयोग का मग्न होना। यह अद्भुत कार्य ज्ञान प्रकाश द्वारा ही सम्भव है। जब कोई जीव अपनेको सहज ज्ञानस्वरूप समझ ले तब ही तो वह निज सहज ज्ञानस्वरूपमें मग्न होगा। सो जैसे जैसे वास्तविक पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान होता चला जाता है वैसे ही वैसे धर्मभाव में बुद्धि स्थिर होती है और पापका विनाश होने लगता है। पापों में प्रधान पाप है अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह। सो ज्ञान बल द्वारा उस पाप का तो तुरन्त नाश हो ही जाता है, फिर पूर्वबद्ध चारित्र मोहके विपाकमें जो अविरति भोगरति आदिक त्रुटियाँ रह जाती हैं उन पापों का विनाश भी सम्यग्ज्ञानके बलसे ही होता है।

आस्तां महाबोधबलेन साध्यो मोक्षो विबाधामलसौख्ययुक्तः ।
धर्मार्थकामा अपि नो भवति ज्ञानं बिना तेन तदर्चनीयं ॥१९१॥

ज्ञान के बिना पुरुषार्थ की असिद्धि—ज्ञानका महाफल है मोक्षका लाभ होना। जीव अनादि कालसे अज्ञानवश विषय भोगोंमें रति करता हुआ जन्म मरणकी परिपाटी बनाता चला आ रहा है, जिसमें सिवाय क्लेशके और कोई लाभ नहीं। उस क्लेशको नष्ट करने वाला है महाज्ञान बल। सो मोक्ष सुखके बारेमें अनेक लोग यह कह सकते हैं कि वह हमें कहाँ दिखता ? और इस तरह बहाना करके कि जो हमारी इन्द्रियके गोचर भी नहीं है, जिसे हम देख नहीं सकते तो वह हमारे लिए कुछ भी नहीं है। अतः उसके ज्ञानकी आराधना करना व्यर्थ है। ऐसा कहकर लोग इस ज्ञानको टाल सकते हैं और यह भी कह सकते हैं कि यदि वह मोक्ष है तो बड़े भारी ज्ञानसे ही मिल सकेगा, साधारण ज्ञानसे नहीं। जिस ज्ञानका उपार्जन करना बहुत कठिन है ऐसा कहकर मोक्ष सुख प्रदान करने वाले ज्ञानकी बातको टाल सकता है। तो सुनो उसे भी गौण कर दो परन्तु देखो कि वह ज्ञान के बिना इसके इन्द्रियगोचर धर्म अर्थ काम भी तो नहीं है। जो इन्द्रियसे यहाँ देखता है धर्म अर्थ काम वह ज्ञानके बिना नहीं हो सकता। ज्ञानके बिना तो उन कामोंको भी नहीं कर सकते जो कि हमारे लिए प्रतिदिनके काम हैं। इसलिए ज्ञान सम्माननीय है। इस लोकमें भी लाभ देने वाला है और परलोकमें भी लाभ देगा और उत्कृष्ट लोक जो मोक्ष है। उसकी भी प्राप्ति करायगा। तो ऐसा ज्ञान आदरके योग्य है और ऐसे ज्ञानका उपार्जन करना चाहिये।

सर्वेऽपि लोके विधयो हितार्था ज्ञानाहते नैव भवंति जंतोः ।
अनात्मनीयं परिहर्तुकामास्तदर्थिनो ज्ञानमतः श्रयंति ॥१९२॥

ज्ञानसे ही हितमें प्रवृत्ति—संसारमें जितने भी कार्य हैं, जितने भी व्यवहार हैं वे सब ज्ञानके बिना ठीक-ठीक नहीं चल सकते और ठीक-ठीक हितकारी भी नहीं हो सकते। ज्ञानी पुरुष जितना योग्य हितसम्पादन विधि से कार्य और व्यवहारको कर सकता है अज्ञानी नहीं कर सकता। इस लोकमें भी जिनका दिमाग सही नहीं है, कमजोर है, बुद्धि-हीन हैं, उनकी क्या प्रतिष्ठा देखी जाती ? सब लोग उसे तुच्छ देखते हैं। जो ज्ञानी हैं वे लोकके कार्योंको भी भली-भाँति सम्पादित करेंगे। तो ज्ञानके बिना संसारके कार्य और व्यवहार ठीक-ठीक हितकारी नहीं बन सकते हैं। इस कारण जो लोग अपना हित चाहते

हैं उन्हें चाहिये कि अहित से तो दूर हटें और हितकारी ज्ञानका आश्रय लें। ज्ञानका अर्जन सम्पादन इस जीवके लिए कल्याणकारी है तथा यदि आत्माका जो सहज ज्ञान प्रकाश है तन्मात्र अपनेको अनुभव होने लगे तो इस ज्ञानका फल है मोक्ष का लाभ। जब तक इस जीवके साथ शरीर लगा है तब तक इस जीवको कष्ट ही कष्ट है। खुद अनुभव कर लीजिए—जितने रोग होते हैं वे शरीर के आधीन ही तो होते हैं जितने सम्मान अपमानके व्यवहार चलते हैं वे शरीरको ही यह मैं हूँ ऐसा मानकर ही तो चलते हैं। मानसिक दुःख, वाचनिक दुःख और शारीरिक दुःख ये सब इस जीवको शरीरके कारण प्राप्त होते हैं। सो उपाय यह होना चाहिये कि शरीरके साथ इस जीवका सम्बन्ध सदा के लिए छूट जाय। यह जीव अशरीर हो जाय, केवल आत्मा ही रह जाय तब तो इस जीवका कल्याण है और मानो कुछ दिन को शरीरका सुख है और इसी प्रसंग में भोगका सुख मान रहा है तो इससे जीवका कुछ पूरा तो नहीं पड़ सकता, ये तो मिट जाने वाले हैं। शरीर मिटा, दूसरा शरीर मिला, पता नहीं कैसा शरीर मिले। मगरमच्छ आदिक न जाने कैसे कैसे जीव हैं, कैसा उनका शरीर है। न जाने कैसे कैसे शरीरोंमें इस जीवको बसना पड़ता है। वास्तविक लाभ आत्माका यह है कि वह अपने इस ज्ञान-स्वभाव की आराधना करे और अन्य कुछ न चाहे। ऐसी धुनके साथ आत्माके ज्ञानस्वभाव की उपासना करें कि कर्म और देह ये सदा के लिए छूट जायें और केवल ज्ञान ज्योति ही आत्म-स्वरूप रह जाय। यही सर्वश्रेय की बात है, बाकी तो जगत में सब कुछ विडम्बना ही विडम्बना है।

शक्यो विजेतुं न मनः करींद्रो गंतु प्रवृत्तः प्रविहाय मार्ग।
ज्ञानांकुशेनात्र बिना मनुष्यैर्विनांकुशं मत्तमहाकरीव ॥१६३॥

ज्ञानांकुश से मनमत्तकरीन्द्र पर विजय—यह मन मदोन्मत्त हाथीकी तरह है। जैसे उन्मत्त हाथी किसीके वश में नहीं आ पाता, जितने चाहे पुरुषोंका विघात करता है। किसी ओर से अपनी तीव्र गतिसे बाधा पहुँचाता रहता है, ऐसे ही यह मन वशमें किया जाना बड़ा कठिन है और यह कुछ से कुछ कल्पनायें करके अपने आपको दुखी करता रहता है। दुनियाके बड़े धन वाले, प्रतिष्ठा वाले, राज्याधिकार वाले दिखते हैं तो उन्हें देखकर मन तरस उठता है कि मेरेको भी ऐसी चीज प्राप्त हो। अरे अभी तक वह बड़े सुखमें था, अब तृष्णाका उदय आनेसे कष्ट में पड़ गया। तो यह मन मदोन्मत्त हाथी की तरह जीता जानेके लिए शक्य नहीं है। यह मन यह उन्मत्त हाथी मार्गको छोड़कर कुमार्ग पर चलने

के लिए उद्यमी रहता है। ऐसा यह मन ज्ञान अंकुशके द्वारा ही वश किया जा सकता है। जैसे उन्मत्त हाथी तीक्ष्ण अंकुशके द्वारा ही वशमें किया जा सकता। मनुष्यका मन बहुत चंचल है। मन तो चंचल होता ही है, पर पशु-पक्षियोंका मन उतना चंचल न होगा जितना कि मनुष्यों का है। पशु-पक्षियोंकी तो सीमित इच्छा है, रोजका वही वही कार्य है, पर यह मनुष्य तो मनके द्वारा न जाने क्या-क्या चीजें नहीं चाह डालता। तो मनुष्यका मन बहुत चंचल है। प्रयत्न करने पर भी यह कुमार्ग पर ही दौड़ता है। बुरी से बुरी वस्तुका अनुभव करनेमें पापके कार्य करके वह हिचकता नहीं है। ऐसा भी यह उन्मत्त मन तब तक ही स्वच्छंद रहता है जब तक कि ज्ञानरूपी अंकुशकी मार इस मन पर नहीं पड़ती। ज्ञान ही मनकी चंचल वृत्तिको रोकता है। ज्ञान द्वारा मनकी चंचल वृत्ति रोके जाने पर वह तत्काल वशमें हो जाता है।

ज्ञानं तृतीयं पुरुषस्य नेत्रं समस्ततत्त्वार्थ विलोकदक्षं।
तेजोऽनपेक्षं विगतांतरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेपि ॥१९४॥

ज्ञान पुरुषका समस्ततत्त्वार्थ विलोकदक्ष तृतीय नेत्र – ज्ञान मनुष्यका तीसरा नेत्र है, दो नेत्र तो चामके हैं जिनसे रूपका देखना होता है मगर मनुष्यमें ज्ञानका ऐसा उत्कृष्ट बल है कि इस ज्ञानके द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमानके सूक्ष्म स्थूल आदिक अनेक पदार्थोंको जानता है। हित अहितका ज्ञान करता है तो यह ज्ञान इन दोनों नेत्रोंसे बढ़कर नेत्र है और इसको विद्वानों ने तीसरा नेत्र कहा है। चर्मचक्षु तो समस्त पदार्थोंको नही देख सकते। ये तो सामने के मूर्तिक मोटे पदार्थ ही देख पायेंगे। ये नेत्र अमूर्तिकको नहीं देख सकते। सूर्यका प्रकाश, दीपकका प्रकाश ये हों तो इन नेत्रोंसे देख सकते हैं, अंधेरा हो तो ये नेत्र देख नहीं सकते। सो इनका देखना पराधीन भी है। प्रकाश आदिकके माध्यमसे ये नेत्र जान सकते हैं, इतने पर भी यदि कोई विघ्न न आये, बीचमें कोई आड़े न हो जाय तब ही सामनेकी वस्तु देख सकते हैं और ये नेत्र बहुत दूर तक भी नहीं देख सकते। भूत, भावी कालको नहीं जान सकते, किन्तु ज्ञानरूपी नेत्र समस्त मूर्तिक पदार्थोंको जानता है। अमूर्तिक पदार्थोंको जान सकता है। प्रकाशकी इसको जरूरत नहीं है, अंधेरेमें भी जान सकता है। हजारों प्रकारके विघ्न आयें तिसपर भी जान सकता है और जो प्रत्यक्ष ज्ञान है, प्रभुका ज्ञान है वह तो तीनों काल और तीनों लोकके पदार्थोंको जान रहा है, तो ज्ञान एक तृतीय नेत्र है। दो नेत्रोंके होने पर भी यदि तृतीय नेत्र न हो तो जान नहीं सकते। ऐसा अद्भुत ज्ञान आदर के योग्य है और इसकी उपासनासे मनुष्य अपना कल्याण करते हैं।

निःशेषलोकव्यवहारदक्षो ज्ञानेन मर्त्यो महनीयकीर्तिः ।
सेव्यः सतां संतमसेन हीनो विमुक्तिकृत्यं प्रति वद्धचित्तः ॥१९५॥

ज्ञानकी लोकव्यवहार दक्षता—इस परिच्छेदमें ज्ञानकी महिमा और ज्ञानका फल बताया है। ज्ञानसे ही मनुष्य लौकिक सारे व्यवहारोंमें चतुर होते हैं। लोक व्यवहारमें रहते हुए व्यवहारकी चतुराई भी वही पुरुष पा सकता है जिसको ज्ञान हो। तो ज्ञानसे लोकव्यवहारमें चतुर होते हैं। ज्ञानसे ही अपनी समस्त लौकिक आवश्यकताओंको सुगमतया उपलब्ध कर लेते हैं। ज्ञानका परमार्थ फल तो यह है कि कर्मोंका क्षय हो, मुक्तिका लाभ हो, सो तो वह होगा ही, पर इस समय भी लोकव्यवहारमें रहने वाले प्राणियों को ज्ञान ही मददगार होता है। लोग क्या-क्या चीजें चाहते आजीविकाके लिए, शरीर पोषणके लिए या देशकी भलाईके लिए जो जो वस्तुएं पा लेना आवश्यक है उन वस्तुओंका संग्रह भी तो ज्ञानसे ही हो सकेगा, जिसको ज्ञान नहीं है वह संग्रह भी क्या करेगा ? लोक-व्यवहार भी क्या करेगा ? इस ज्ञानमें ही जैसे समस्त लोक-व्यवहारमें मनुष्य चतुर होते हैं। ऐसे ही ज्ञानसे अपनी समस्त आवश्यकताओंको सुगमतासे प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्यकी निर्मल कीर्ति ज्ञानसे ही फैलती है। यह लौकिक लाभकी बात कही जा रही है क्योंकि लोगोंकी दृष्टि लौकिक लाभ पर अधिक होती है तो वह भी ज्ञान बिना नहीं हो पाती।

ज्ञानसे निर्मल कीर्तिका एवं वैराग्यका अभ्युदय—ज्ञानसे ही मनुष्यकी निर्मल कीर्ति फैलती है। जिस मनुष्यमें ज्ञान होगा वही ऐसे योग्य कार्य कर सकेगा कि जिससे लोगोंका उपकार हो और लोकोपकारके आधार पर ही उसकी कीर्ति विस्तृत होती है। तो जो पुरुष ज्ञानसे ज्ञान वाले काम करेगा उसकी कीर्ति फैलती है। ज्ञानसे ही मनुष्य सज्जनोंकी सेवाका पात्र बनता है। ज्ञान हो और उस ज्ञान द्वारा लोगोंको लाभ पहुँचा हो तो ऐसे पुरुषोंकी बड़े-बड़े सज्जन भी सेवा किया करते हैं। मनुष्यों में जो एकका दूसरे के प्रति उपग्रह चलता है वह जिसको जैसा ज्ञान हो उसके साथ वैसा ही सेवाभाव चलता है। शिष्यजन ज्ञानार्जनके अर्थ गुरुकी सेवा करते हैं। जो जिसका अर्थी है वह उसके लाभके लिए उस वस्तुके अधिकारीकी सेवा करता है। तो वह सब ज्ञानका ही तो फल है। ज्ञान बिना वह योग्यता नहीं आती जिस योग्यताके होने पर बड़े-बड़े धीमान श्रीमान भी उसकी सेवा सुश्रुषा करें। ज्ञानसे ही सांसारिक समस्त विषयोंसे वैराग्य जगता है। ये इन्द्रियके विषय ये बाहरी पदार्थ ये भोगने योग्य नहीं हैं। इनके भोगनेका परिणाम खोटा है। यह

बात ज्ञानसे ही तो समझ सकेंगे। वैराग्यका आधार ज्ञान हुआ करता है। जो पुरुष ज्ञानके बिना वैराग्यकी मुद्रा ग्रहण कर लेते हैं उनका वैराग्य टिक नहीं पाता अथवा वह सही दिशा में नहीं पहुँचता है, जिसको ज्ञान है जिससे कि वैराग्य जगा है उन वस्तुओं की असारता, भिन्नता, अहितकारिता का बोध है वह ही पुरुष उन विषयभोग साधनोंसे भली-भाँति विरक्त होगा।

ज्ञानसे मोक्षमार्ग प्रगति--सांसारिक समस्त विषयोंसे वैराग्य ज्ञानसे ही जगता है और जब विषयोंसे वैराग्य जगेगा तो यह जीव मोक्षकी तरफ लगेगा। मोक्ष कहते हैं आत्माके अकेले रह जाने को। जहाँ शरीर, कर्म, विकार आदिक कोई भी पर तत्त्व न रहे, केवल आत्मा ही रहे उसीको सिद्ध अवस्था कहते हैं। तो ऐसी सिद्ध अवस्थाका लाभ उस ही पुरुषको होगा जो इस समय भी केवल ज्ञानमात्र आत्म-तत्त्वका परिज्ञान किए हुए हैं। जिसने वस्तु के बारे में सम्यक् निर्णय बनाया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं, वही पुरुष वस्तुओंकी स्वतन्त्रता का परिचय कर सकता है और केवल निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टि रख सकता है, जिसके फल में आगे बढ़-बढ़कर यह जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसे ही हित अहितका विचार होता है। यदि ज्ञान नहीं है तो कैसे समझें कि यह हितरूप है और यह अहितरूप है। वास्तव में हित रूप निज आत्मतत्त्व ही है। जो अपने आपका स्वतः सिद्धस्वरूप है उसही की दृष्टि होना, उसको ही आत्मस्वरूप मानना, यह ज्ञान वास्तवमें हित रूप है और इस शुद्ध अंतस्तत्व को छोड़कर विकार भावमें लगना उनको आत्म-स्वरूप मानना, उनसे ही अपना भला समझना, यह सब अहित रूप है। तो ऐसा हित और अहितका विचार ज्ञानसे ही होता है। सो यह ज्ञान इस जीवका बड़ा वैभव है। इस वैभवसे ही यह जीव अमीर कहलाता है। बाह्य पदार्थ तो जब कभी आये और कभी ही चले गए। उनका भी संयोग उनके ही कारण बना है। उस पर इस जीवका अधिकार नहीं है, क्योंकि परद्रव्य पर किसी भी जीवका अधिकार नहीं हो सकता। तो यों कोई भी परद्रव्य किसी भी परका सम्पर्क इस जीवके लिए हितकारी नहीं है। हितकारी है अपने आपके सहज चित् प्रभु आत्मस्वरूप की दृष्टि। जिन जीवों की दृष्टि इस निज सहजस्वरूप पर पहुँचती है, इसे ही आत्मस्वरूप मानते हैं। वे पुरुष सर्व आकुलताओं और बाधाओं से दूर हो जाते हैं क्योंकि अब उनके अशुभ संकल्प नहीं चलते।

धर्मार्थकामव्यवहारशून्यो विनष्टनिःशेषविचारबुद्धिः ।
रात्रिंदिवं भक्षणसक्तचित्तो ज्ञानेन हीनः पशुरेव शुद्धः ॥१९६॥

विचारहीन रातदिन भक्षणसक्तचित्त मनुष्यकी पशुतुल्यता—जो पुरुष ज्ञानसे रहित हैं, अज्ञानी हैं याने धर्म अर्थ कामके व्यवहार से बिल्कुल अपरिचित हैं, उन्हें हित और अहितका ज्ञान नहीं होता। जो पुरुष धर्म अर्थ कामकी विधिसे भी परिचित हैं, दया, पूजा, दान आदिक ये धार्मिक कर्तव्य हैं और गृहस्थजनोंका धन अर्जन करना भी उस पदवीमें कर्तव्य है और परिवार जनोंका पोषण करना, उनकी सेवा करना काम भी उस गृहस्थीमें कर्तव्य बन जाता है। तो ऐसे जो धर्म अर्थ कामके व्यवहारसे भी अपरिचित हैं वे पुरुष तो आगे कभी बढ़ ही नहीं सकते न तो अपने हितका ही विचार कर सकते और न अहितका त्याग कर सकते। तो ज्ञानकी तो आवश्यकता इस जीवको प्रत्येक भूमिकामें है। ऐसे अज्ञानी जीवोंका एक कर्तव्य यह ही बन जाता है कि वे रात-दिन खाते पीते रहते हैं और इसी कारण वे इस संसारमें पशु तुल्य गिने जाते हैं याने जिन लोगोंको धर्म कार्यका, दया, दान, पूजा भक्ति सेवा आदिक इनका भी ज्ञान नहीं है ऐसे जीव ज्ञानसे हीन होने के कारण आगे तो बढ़े हुए बन नहीं सकते। फल यह होता है कि स्वच्छंद मन हो जाने से रात दिन विषयभोग साधनों में इनका उपयोग लगता है, सो जो ऐसे ज्ञानसे हीन हैं और आचरणसे भी हीन हैं वे पुरुष तो कोरे पशु ही कहे गए हैं। मनुष्य और पशुमें अन्तर तो विशेष और अल्प ज्ञानका होता है। मनुष्योंमें ज्ञान विशेष है, पशुओं में ज्ञान अल्प है यही तो अन्तर है। यदि कोई पुरुष अल्पज्ञानी रहे और आचरण भी स्वच्छंद रहे तो उसे पशु ही तो कहा जायगा, क्योंकि विशेष ज्ञान न होने से पशु भी हित अहित का विचार नहीं करता। यह मनुष्य भी ज्ञान रहित होनेसे हित अहित का विचार न कर पाया। तो जो गृहस्थ हित अहित के विचारसे रहित है, धर्म, अर्थ, काम त्रिवर्ग भी सही समान सम्पादन नहीं करता है उस मनुष्यमें और पशुमें कोई भेद नहीं है।

तपोदयादानशमक्षमाद्याः सर्वेऽपि पुंसां महिता गुणा ये ।
भवंति सौख्याय न ते जनस्य ज्ञानं बिना तेन तदेषु पूज्यं ॥१९७॥

ज्ञानहीन मनुष्यके अन्य गुणोंकी असुखदायिता—इस संसारके जितने मुख्य गुण हैं जिनके धारण करने से लोगोंको सुख मिलता है, वह सब ज्ञानके बल से ही सुखकारी होता है। मनुष्योंमें तप ज्ञानकी मुख्यता है। जो मनुष्य इच्छारहित है, लौकिक आकांक्षायें

जिसके चित्तमें नहीं हैं वह पुरुष तपस्वी कहलाता है। शरीरसे चाहे ऊँचे तप करता रहे किन्तु मनमें लौकिक वस्तुओंकी इच्छा बनी रहे तो वहाँ तप नहीं होता क्योंकि कर्मोंका सम्वर, कर्मोंकी निर्जरा शरीरकी चेष्टाके कारण नहीं होती किन्तु आत्माके इस उपयोग के कारण होती है। सो इच्छाओंका रोकना तप कहलाता है। पाप कार्योंसे विरक्त होना व्रत कहलाता है, यह मनुष्यों का मुख्य गुण है। पाप कार्य हैं हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, दूसरों को सताना, किसी की झूठी बात कहना, किसी की चीज चुरा लेना, किसी नारी पर बुरी दृष्टि रखना, परिग्रह का लालच बनाये रखना, यह सब पाप है। इन पापों से विरक्त होना व्रत कहलाता है। तो व्रत भी मनुष्योंका मुख्य गुण है। दान—अपने पास वस्तु हो, धन हो, द्रव्य हो और आवश्यकतासे अधिक हो तो उसका उपयोग दूसरे जीवोंके हितमें करना दान कहलाता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष अपनी आवश्यकताओं को बहुत कम रखता है और धन का उपयोग दूसरों के उपकार के लिए करता है। यह मनुष्यका मुख्य गुण है। समकषायें कम होना, शान्ति रखना, अभिमान न होना, मायाचार न होना, लालच न होना, ऐसा कषायोंके समनको सम कहते हैं। यह उपशम, मंदकषायपना मनुष्यका मुख्य गुण है। दया—प्राणियोंपर करुणा करना, कोई दुःखी जीव है उसका दुःख जैसे दूर हो उस प्रकारसे उसकी सेवा करना दया गुण है। यह मनुष्यका मुख्य गुण है। क्षमा भी मनुष्यका बड़ा हितकारी गुण है। क्षमाशील पुरुष ही उदार कहलाता है। दूसरे लोग कुछ भी अपराध करें, अपनी निन्दा करें या किसी प्रकारकी बाधा दें तो उनपर क्षमाभाव रखना और यह समझ बनाये रहना कि ये जीव तो स्वरूपतः निरपराध हैं, पर ऐसा ही कर्मोंका उदय है कि जिससे इन्होंने ऐसा भाव बनाया है और ऐसी चेष्टा की है, इस आत्मद्रव्यका कुछ अपराध नहीं, ऐसा समझकर उस पर क्षमाभाव रखना यह भी मनुष्य का मुख्य गुण है। तो जो मनुष्यके मुख्य गुण हैं, जिनके धारण करनेसे स्वको परसे सुख मिलता है, वे सब गुण ज्ञानके द्वारा ही तो प्राप्त होते हैं। ज्ञान न हो तो ये मुख्य गुणोंके सुख भी नहीं प्राप्त हो सकते। इस कारण समस्त गुणोंमें भी ज्ञान गुण पूज्य है और मुख्य है।

ज्ञानं बिना नास्त्यहितान्निवृत्तिस्ततः प्रवृत्तिर्न हिते जनानां।
ततो न पूर्वार्जितकर्मनाशस्ततो न सौख्यं लभतेऽभ्यभीष्टं ॥१६८॥

ज्ञानके बिना सौख्य लाभकी असम्भवता—ज्ञानके बिना मनुष्यके अहितकी निवृत्ति नहीं होती। जो पदार्थ अहितकारी है उससे हटने की बात कैसे बनेगी जिसको उस पदार्थके

विषयमें अहितकर्ताका भी ज्ञान नहीं है। तो ज्ञानके बिना मनुष्योंके अहित कार्योंसे निवृत्ति कैसे बनेगी ? और जब अहित कार्योंसे निवृत्ति नहीं होती तो हित कार्योंमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। ये मनुष्य अहित को छोड़ें और हितमें लगें। यह बात ज्ञानसे ही तो सम्भव है। तो जिसको ज्ञान नहीं है वह अहितको छोड़ नहीं सकता और हित कार्योंमें लग नहीं सकता। इसलिए इस आत्माके उपयोग में ज्ञानका बड़ा भारी सहयोग है। जिस जीवके अहितसे निवृत्ति नहीं, हितमें प्रवृत्ति नहीं, उसके पूर्व उपार्जित कर्मोंका नाश नहीं हो सकता। कर्मोंका नाश ज्ञान द्वारा ही होता है। कहीं कर्मोंको देख-देखकर पकड़-पकड़कर उन्हें मसोला जाय, रगड़ा जाय ऐसा तो नहीं हो सकता। एक आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप की सम्हाल करले तो स्वयं ही ऐसा नियोग है, निमित्त नैमित्तिक योग है कि ये कर्म अपने आप दूर हो जायेंगे। तो ज्ञानके ही कारण अहितमें प्रवृत्ति होनेसे पूर्व अर्जित कर्मोंका नाश होता है। यदि ज्ञान नहीं है तो कर्म क्षय नहीं हो सकता और जब कर्मोंका क्षय नहीं हो पाता तो उसे मोक्षसुख भी प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्ष होता है समस्त कर्मोंके विनाश से। कर्मों का विनाश होता है आत्माके अपने आपके ज्ञानस्वरूप की सम्हाल से। तो लोकमें जीवोंका सर्वोत्कृष्ट वैभव ज्ञान है। जिसने अपने ज्ञानस्वरूपकी सम्हाल कर ली है वह पुरुष कृतकृत्य हो गया। अब उसको संसारमें किसी भी प्रकारका संकट नहीं रहता। जो पुरुष ज्ञानदृष्टिसे दूर है वह बाह्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति करता है और बाह्य पदार्थोंमें लगाव रखने का फल है कर्मबंधन, जिसके उदयमें संसारमें रुलना पड़ता है। तो समस्त संकटोंका विनाश ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। दूसरा कोई उपाय ऐसा नहीं है कि जिससे इस जीवके संकट दूर हो सकें।

क्षेत्रे प्रकाशं नियतं करोति रविर्दिनेऽस्तं पुनरेव रात्रौ।
ज्ञानं त्रिलोके सकले प्रकाशं करोति नाच्छादनमस्ति किंचित् ॥१९९॥

ज्ञानका सर्वत्र प्रकाश—ज्ञानका प्रकाश सूर्यसे भी अधिक प्रकाश है। वैसे लोग कहावत में भी कहते हैं कि जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि। जैसे अंधकारवाली गुफायें, महलका आन्तरिक भाग यहाँ रविका प्रकाश नहीं होता। सूर्यका उजाला भी नहीं है मगर उनका वर्णन कवि लोग बड़ी विधिपूर्वक किया करते हैं। तो देखो वहाँ कवि की गति हो गई, पर सूर्य की गति नहीं है तो कविकी गतिके मायने ज्ञानकी गति। यह तो एक लौकिक ज्ञानकी बात कहा है, पर जिन पुरुषोंके आत्माके सहजस्वरूप का ज्ञान है उनके ज्ञानका प्रकाश तो करोड़ों सूर्यसे भी अधिक है। सूरज तो सब जगह प्रकाश नहीं कर पाता मगर

ज्ञान सब पदार्थोंका प्रकाश करता है। ज्ञान करता है सूक्ष्म हो, गुप्त हो, भूतका हो, भविष्यका हो, सबका ज्ञान ज्ञान कर लेता है तो सूर्यमें और ज्ञानमें एक तो अन्तर यही बहुत है कि सूर्य सर्वत्र प्रकाश नहीं कर पाता, ज्ञान सर्वत्र प्रकाश करता है। तो अन्तर यह है कि सूर्य जिस क्षेत्रमें प्रकाश कर पाता है उस क्षेत्रमें भी सदा नहीं करता, रात्रिको नहीं करता, दिनमें करता है, पर ज्ञान तो सदैव ज्ञान करता रहता है। इसका प्रकाश सतत् चलता है। तीसरी बात यह है कि सूर्यके आड़े यदि मेघ आ जाय तो सूर्य का प्रकाश बंद हो जाता है पर जिस पुरुषके ज्ञान प्रकट हुआ है वह तीन लोक और तीन कालके समस्त पदार्थोंको बेरोकटोक जानता है। उस पर अब किसीका आवरण नहीं चल सकता। इस अन्तरके बावजूद महान अन्तर तो यह है कि यह प्रकाश तो पौद्गलिक है किन्तु ज्ञान चैतन्यतत्त्व है और जिसको यह ज्ञान पूर्णतया विकसित है, जहाँ पर उपाधि साथ न रही, शुद्ध आत्मा हो गया है उसका ज्ञान बेरोक-टोक तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंमें पहुँचता है अर्थात् सबको जानता है। तो यह जो ज्ञानकी महिमा कही जा रही यह दूसरे की बात नहीं कही जा रही यह खुद अपनी बात कही जा रही। प्रत्येक जीव ऐसे ज्ञान-स्वरूपका धनी है। सबमें यह सहज अनन्त ज्ञान अन्तः विकसित है। जो पुरुष इस ज्ञान-स्वरूपकी दृष्टि कर लेता है और अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव लेता है उन पुरुषोंका प्रकाश अतुल है, वे सदा तृप्त रहते हैं। सहज आनन्द रससे विभोर रहते हैं। तो इस लोकमें जो बाह्य दृश्य पुद्गल पदार्थ हैं उनका संग्रह करना बिल्कुल व्यर्थ है, व्यर्थ ही नहीं, अनर्थ हैं, क्योंकि बाह्य वस्तुके लगावसे इस जीवके मोह कलंककी वृद्धि ही होती है इसलिए बाह्य पुद्गलका या मायामय जगतमें कीर्तिके सम्पादनका जो आशय लगा हुआ है यह आत्माका कलंक है, आत्माके लिए लाभकारी नहीं है और ज्ञान-स्वभाव निज अन्तस्तत्त्वका मनन, दर्शन, अनुभवन हो तो यह इस जीवका अलौकिक वैभव है। जो जीवका स्वयं स्वाधीनतया अपने ही ज्ञान-बलसे उपार्जित किया है ऐसी समग्र बाह्य वस्तुओं में हितकी बुद्धि छोड़कर एक इस निज चैतन्य स्वरूपमें ही हित बुद्धि करना सुखार्थीका मुख्य कर्तव्य है। अपने आपको शुद्ध ज्ञानमात्र अमूर्त अविकार स्वरूपका ही मनन रखना और इस ही रूप अपनेको मानना यह बहुत बड़ी वीरताका कार्य है, जिसके प्रतापसे संसारकी व्याधियाँ, संसारके सर्व संकट समाप्त हो जाते हैं।

भवार्णवोत्तारणपूतनावं निःशेषदुःखेंधनदाववह्नि ।
दशांगधर्मं न करोति येन ज्ञानं तदिष्टं न जिनेंद्रचन्द्रैः ॥२००॥

दशाङ्गधर्ममय न करने वाले ज्ञानकी ज्ञानरूपसे इष्टताका अभाव—इस परिच्छेदमें ज्ञानकी महिमा और ज्ञानका फल बताया जा रहा है। ज्ञान कौनसा सही कहा जाय इस विषयमें वर्णन हुआ है। अब बतला रहे हैं कि जिस ज्ञानके बलसे दस अंग वाले धर्म न बोले जा सकें वह सम्यग्ज्ञान जिनेन्द्र देवने इष्ट नहीं माना। याने ज्ञानबल करता है तो उत्तम क्षमा मार्दव आदिक रूप प्रवृत्ति होनी ही चाहिए। कोई क्रोध अधिक करे और कहे कि मुझे सम्यग्ज्ञान है, घमंड मायाचार बहुत करे और कहे कि सम्यग्ज्ञान है तो यह नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान वास्तवमें यह है कि जिसके बलसे क्षमा आदिक धर्मोंका पालन हो सके। परमार्थतः देखा जाय तो क्षमा आदिकमें ज्ञानका प्रकाश ही मिल रहा है, ज्ञान विकार न करे, केवल ज्ञातादृष्टा रहे तो उसमें क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक सभी धर्म आ गए। प्रवृत्ति की दृष्टि से १० प्रकार बताये गये हैं, पर उनमें जो मौलिक प्रभाव है, बल है वह एक ही है कि विकार रहित ज्ञानका प्रकाश बना रहे यह ही वास्तवमें धर्म पालन है, एक क्षमा आदिक दशांग धर्म संसार समुद्र से पार कर देने के लिए नौकाके समान है। जैसे नौकाके द्वारा नदी और समुद्र पार कर लिये जाते हैं ऐसे ही दशांग धर्म के द्वारा संसार समुद्र पार कर लिया जाता है। यह दशांग धर्म समस्त जन्म मरणके दुःखों को जलानेके लिए बनकी अग्निकी तरह है। जैसे बनकी आग सारे वृक्षोंको जला देती है ऐसी ही दशांग धर्म ये जन्म मरण आदिक सब दुःखोंको भस्म कर देता है। तो जिसे ज्ञानबल से उत्तम क्षमा आदिक १० प्रकार के धर्मोंका पालन न हो वह वास्तवमें ज्ञान नहीं कहलाता। ज्ञानका फल है अहितसे अलग होना और हित में लग जाना। वह दशांग धर्म हितरूप है और उसके विरुद्ध क्रोधादिक भाव ये अहित रूप हैं। तो अहितसे हटें और हितमें लगें, यह ही ज्ञानका फल है। सो यदि यह फल नहीं प्राप्त होता तो वह ज्ञान वास्तवमें ज्ञान नहीं है।

गंतु समुल्लंघ्य भवाटवीं यो ज्ञानं बिना मुक्तिपरीं समिच्छेत्।
सोऽधोऽधकारेषु विलंघ्य दुर्गं बनं पुरं प्राप्तुमना विचक्षुः ॥ २०१ ॥

ज्ञानके बिना मुक्तिकी असंभवता—कोई पुरुष चाहे कि ज्ञानके बिना इस संसार रूपी अटवीका उल्लंघन करके मुक्ति पुरीमें पहुँच जायें तो यह बात बिल्कुल असम्भव है। ज्ञानमें बहुत ज्ञान न हो, जैसे आगमका बहुत बड़ा ज्ञान है तो इतना तो ज्ञान हो कि जिसमें स्वपर भेद विज्ञान जग रहा हो और आत्माका जो सहज स्वरूप है वह उसकी दृष्टि में आ गया हो, इतना भी अगर नहीं है तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। और वह चाहे

कि मैं मुक्तिपुरी पहुँच जाऊँ तो वह बहुत असम्भव है। जैसे उदाहरण दिया है कि कोई पुरुष अंधा है और अंधकार में ही सघन बन पार करके, किलेको पार करके नगरमें पहुँचना चाहता है तो वह एक कल्पना भर करता है, पहुँच कैसे सकता ? एक तो वह अंधा है, दूसरे अंधेरी रात है। अगर सूर्यका उजेला भी हो तो कुछ न कुछ धुंधला सा नजर भी आ सकता, उससे नगरमें पहुँचनेमें घबड़ाहट कम हो सकती, पर एक तो वह अंधा और दूसरे अंधेरी रात तो उसका विकट जंगलका पार करना, किलेका पार करना और नगरीमें प्रवेश कर जाना असम्भव है, ऐसे ही कोई पुरुष ज्ञानके बिना केवल बाहरी आचरणसे चाहे कि मैं इस संसार समुद्रको पार करके मुक्तिनगरीमें पहुँच जाऊँगा तो यह उसके लिए असम्भव बात है। अब इस मनुष्यके सामने अंधेरा क्या आता है कि नाना तरहके मत हैं, उन मतोंमें किसीने किसी तरह धर्मका रास्ता बताया है किसीने किसी तरह तो वह एक बड़ा अंधकार है कि जहाँ कुछ निर्णय ही नहीं हो पाता कि वास्तव में तथ्य क्या है ? तो ऐसी अवस्थामें भी जो पुरुष सम्यग्ज्ञानके बिना ही इन अनिष्ट गलियोंको त्यागकर मोक्षमें पहुँचना चाहता है तो उसका यह प्रयास सफल नहीं हो सकता।

ज्ञानेन पुंसां सकलार्थसिद्धिर्ज्ञानादृते काचन नार्थसिद्धिः।
ज्ञानस्य मत्वेति गुणान् कदाचिज्ज्ञानं न मुंचंति महानुभावाः ॥ २०२ ॥

ज्ञानसे सकलार्थसिद्धि — ज्ञानके माहात्म्यके सम्बंधमें अधिक क्या कहें, सबका सारभूत यही तथ्य निकला कि ज्ञानसे ही समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धि होती है। अज्ञानसे कुछ भी सिद्धि नहीं होती। देखिये धर्मपंथमें इतना तो कम से कम चाहिए ही कि स्वपर का भेदविज्ञान बने, शरीर न्यारा, कर्म न्यारा, विकार जुदे और उन सबसे न्यारा मैं ज्ञानमात्र स्वरूप हूँ। अब इतनी बात समझने के लिए द्रव्य, गुण, पर्यायका परिचय करना चाहिए। शरीर पुद्गल द्रव्यका ढेर है। इसमें पुद्गल द्रव्य जैसा ही परिचय करना चाहिए। मेरी सत्ता चैतन्यमात्र है, मेरा शरीरसे क्या सम्बंध ? कर्म भी सूक्ष्म पौद्गलिक ढेर हैं। उसमें पौद्गलिक जैसा ही परिणमन चलता है। मैं चेतना मात्र हूँ। मेरा कर्मोंसे क्या सम्बंध ? जो रागादिक विकार जगते हैं तो है तो आत्माकी परिणति, जब कि यह अशुद्ध अवस्थामें है मगर ये विकार आत्माके स्वभावसे तो नहीं उत्पन्न हुए। ये कर्मोदय का निमित्त पाकर हुए। तो जो आत्माके स्वभावमें न हो तो ये मेरे नहीं हैं विकार क्योंकि ये पराधीन हैं, नैमित्तिक हैं, मेरे स्वरूपमात्र नहीं हैं, इनसे मैं निराला हूँ। तो जो अपनेको सर्वपर और

पर भावोंसे विविक्त निरख लेगा उसका मोक्षमार्गके योग्य ज्ञान उत्पन्न हुआ समझियेगा। ऐसा ज्ञान प्राप्त हुए बिना उपयोगमें यह सहज परमात्मस्वरूप आ जाय, स्वानुभव बन जाय सो बात नहीं हो सकती। तो जितना भी हमारा इष्ट है, मोक्षमार्गका प्रयोजन है वह ज्ञानसे ही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त लौकिक प्रयोजन भी ज्ञानसे सिद्ध होते हैं। लौकिक दृष्टिसे भी देखें तो जो व्यापारी, सेठ, दूकानदार अपने व्यापारमें सफल हो रहा है तो ज्ञान तो मलिन कर रहा, कैसी चीज लेना देना व्यवहार करना. तो लौकिक काम भी ज्ञान बिना नहीं बनते, फिर मोक्षका मार्ग और रत्नमयका कार्य यह ज्ञान बिना कैसे हो सकता ? तो जो लोग सम्यग्ज्ञानके बिना इस संसाररूपी अटवीको पार करना चाहते हैं वे असफल प्रयास चाह रहे हैं, उनको सफलता नहीं मिलती है और अन्तमें वे संसारमें ही भ्रमण करते हैं।

वरं विषं भक्षितमुग्रदोषं वरं प्रविष्टं ज्वलनेऽतिरौद्रे।
वरं कृतांताय निवेदितं स्वं न जीवितं तत्त्वविवेकमुक्तं ॥२०३॥

तत्त्वज्ञानरहित जीवनकी व्यर्थता—तत्त्वज्ञानसे रहित होकर जीना इस संसारमें भला नहीं है। यह जीव अनादिकालसे अनेक भवोंमें, अनन्त भवोंमें जीता ही तो चला आया है, पर वह जीवन किस कामका रहा कि जहाँ दुःखोंसे छूटने का उप य न बना सके। यही बात अपने लिए कह रहे कि तत्काल प्राणोंके हरने वाले विषका खा लेना तो भला है मगर तत्त्वज्ञान से रहित जीवन संसारमें भला नहीं। अन्तर क्या आया कि विष खा लेने से तो वह एक ही भवमें अपने प्राण गवा सका, इस भवके खाये विषका फल अगले भवमें तो नहीं मिलता। तो एक ही बार मरण हुआ, मगर तत्त्वज्ञानसे रहित जीवन रहे तो वहाँ विषय कषायोंके प्रसंग आयेंगे ही। अज्ञानमें विषय कषायकी भावना होती ही है। तो उस अज्ञान भावमें जो विषय कषाय सेये गए उनके फलमें अनेक भवोंमें मरण करना पड़ेगा, जन्म लेना होगा, मरण करना होगा, तो विष खा लेना उतना बुरा नहीं रहा जितना बुरा तत्त्वज्ञानसे रहित जीवन है। दूसरा उदाहरण दे रहा तुलनात्मक कि भयंकर जल रही हुई अग्निमें प्रविष्ट होकर जलकर राख हो जाना भला है परन्तु तत्त्वज्ञानसे रहित होकर जीना इस संसारमें भला नहीं है। अन्तर यही आयेगा कि अग्निमें प्रविष्ट होकर जल जाय तो एक ही बार तो मरण हुआ मगर अज्ञान और मोहमें रहकर जीने से अनेक भवोंमें मरण होगा। इसी प्रकार लोकदृष्टि के अनुसार यमराजकी गोदमें चले जाना भला है याने मरण कर जाना भला है, परन्तु तत्त्वज्ञान से रहित होना जीना भला

नहीं है। आज यह दुर्लभ मानव जीवन पाया तो यह मानव जीवन बड़ा दुर्लभ है। पुरुषोंमें भी उच्च कुलमें जन्म लेना दुर्लभ है और वहाँ भी जैन शासनका मिलना दुर्लभ है और उसमें भी विद्वान गुरुजन इनका समागम मिलना दुर्लभ है। उपदेश मिलना दुर्लभ है। इतने सब योग होने पर भी यदि मोह न छोड़ा, विषय कषायोंमें ही लीन रहे, इन्हीं में ही जिन्दगी गुजारी तो समझो कि एक बड़ा सुन्दर अवसर खोया और मर कर कीड़ा-मकोड़ा, पेड़-पौधा आदि कुछ भी बनना पड़ेगा। फिर वह कुछ वश न चलेगा। इस कारण तत्त्वज्ञानसे रहित होकर जीवन भला नहीं है।

शौचक्षमासत्यतपोदमाद्या गुणाः समस्ताः क्षणतश्चलंति।
ज्ञानेन हीनस्य नरस्य लोके वात्याहता वा तरवोऽपि मूलात् ॥२०४॥

ज्ञानहीन पुरुषके अन्य गुणोंका भी शीघ्र विनाश—जैसे आँधीका तेज वेग आये तो पेड़ धड़ाधड़ गिर पड़ते हैं ऐसे ही जो पुरुष ज्ञानसे हीन हैं, अज्ञान और मोहका वेग जिन पर आया है उनके शौच, क्षमा, तप, दमन आदिक गुण क्षण भरमें विलीन हो जाते हैं। अज्ञानी पुरुष शौचादिक गुणोंको निश्चल रीतिसे दृढ़ प्रतिज्ञ हो पालन नहीं कर सकते। समय पड़ने पर वे शौचादिक गुणोंको छोड़ बैठते हैं, किन्तु जो ज्ञानी है, जिसने अन्दरमें ज्ञानका प्रकाश पाया है वह शौचादिक गुणोंको नहीं छोड़ सकता। निर्लोभता होना, क्षमा आना, सरलता आना, यह सब ज्ञानप्रकाशमें ही हो सकता है। मोह और अज्ञानमें ये गुण नहीं आया करते, क्योंकि निज सहज स्वरूपका ज्ञान होने पर उसको समस्त परकीय घटनाओंसे उपेक्षा हो जाती है। वह जानता है कि पर पदार्थोंकी कैसी भी परिणति हो, उन परिणतियोंसे मेरेमें कुछ भी सुधार बिगाड़ नहीं होता है। मैं ही अज्ञान दशामें रहूँ तो मेरा बिगाड़ है, तत्त्वज्ञानमें आऊँ तो मेरा सुधार है। इस प्रकार वह अपने सहज ज्ञानस्वभाव की धुन में रहता है और इसी कारण उसमें गुणोंका विकास होता चला जाता है।

माता पिता बंधुजनः कलत्रं पुत्रः सुहृद् भूमिपतिश्च तुष्टः।
न तत्सुखं कर्तुमलं नराणां ज्ञानं यदेव स्थितमस्तदोषं ॥ २०५ ॥

ज्ञानकी अलौकिकसुखकारिता—निर्दोष पवित्रज्ञान जिस सुखको उत्पन्न कर सकता है उस सुखको बड़े प्रेमी संतुष्ट माता-पिता स्त्री पुत्र मित्र राजा आदिक कोई भी प्रदान नहीं कर सकते। प्रत्येक जीव अपने अपने ज्ञानके अनुसार ही सुख दुःख पाया करता है। जैसा आत्म-स्वरूप है वैसा ही अपनेको जाने और सहज ज्ञाता मात्रकी स्थिति बनाये तो उसको अनुपम सुख प्राप्त होता है। इस सुखको कोई दूसरा दे सकता क्या ? ज्ञान ज्ञान-स्वभावमें रहे, यह

स्थिति दूसरोंके द्वारा नहीं दी जा सकती। यह खुद ही खुदमें की जाने की बात है, और जिसको यह ज्ञानदृष्टि नहीं मिली, देहमें ही आत्मबुद्धि रही आयी तो वह पुरुष दूसरे जीवों से प्रेम रखेगा तो सीमा तोड़ कर रखेगा अर्थात् कल्पनामें कितना ही बखेड़ा बुनकर लोगों में मोह रखेगा और कदाचित लोगोंका पालन प्यार करते हुए भी और उनसे कोई बड़ी चोट वाली घटना मिल जाय तो यह अज्ञानी जीव और को तो बात क्या, किसी भी विधिसे आत्महत्या तक कर डालता है। तो जो पुरुष आत्मघात करते हैं उनको अपने ज्ञानस्वरूप का पता नहीं है। बाहरी घटनाओंसे सुख दुःखकी श्रद्धाकी है, उनका मोह बड़ा प्रबल है। अपने प्राण गवां कर भी अपने को सुख शान्ति मिलेगी, ऐसी उनके आस्था बनी है। तो यह संक्लिष्ट होकर, दुःखी होकर जो आत्मघात किया जाता है वह केवल पापबंधका कारण बना। ज्ञानी होने पर भी थोड़ा बहुत भय तो शेष रहता है और वह गृहस्थोंके किसी कठिन उपद्रवोंके कारण हो जाता है पर साधुजन कोई प्रकार का भय नहीं करते। कैसे ही उपद्रव आयें यहाँ तक कि प्राणघात भी हो रहा हो फिर भी रंच भय नहीं मानते, वे अपने ज्ञानस्वरूप की सम्हाल बनाये रहते हैं। पर जब तक गृहस्थ जीवन है, चारित्रमोहका उदय छाया है तब तक वे यथा समय कुछ विचलित होते हैं, मगर स्वयं आत्महत्या कर लें, इतनी बात ज्ञानीजनों के नहीं होती। श्रेणिक राजाका जो उदाहरण है तो उनके लड़के कुणिक ने अपनी आत्महत्या नहीं की, किन्तु वह स्थान ही ऐसा था जहाँ पर उनका लड़का कुणिक उनको रोज पीटता था। शारीरिक बहुत कष्ट देता था। तो एक बार जब उसने असमय में आते हुए देखा तो वह कुणिक तो बेचारा आया पछताता हुआ पिता को जेल से निकालने के लिए, मगर श्रेणिकने देखा कि यह कुसमयमें आया है, अभी तो यह पीटकर गया था, कुछ और पिटाई करने आया है, सो इस डरके मारे श्रेणिकका शरीर कँप गया, उछल गया और ऐसी ही स्थितिमें ऊपर जो कीला था उसका चोट लग गया जिससे उसका प्राणघात हो गया। मैं इस कीलेमें सिर मारकर मरू, ऐसी बुद्धि श्रेणिकने नहीं की किन्तु डरके मारे उसका शरीर ही कँप गया। ज्ञानी पुरुष तो अपने आपके ज्ञानस्वरुपको निरखकर तृप्त रहा करते हैं। उनके तो स्वयं ही आनन्द बना हुआ है। पर कितने ही गृहस्थोंकी घटनायें हैं ऐसी कि जिनमें शारीरिक वेदनावोंके कारण चित्त बाहर उगमगाता रहता है पर प्रायः इन ज्ञानियोंके यह ही होता कि अपने सहज ज्ञानस्वरूपको निहारते हैं और अनुपम अतुल सुख प्राप्त करते हैं। उस सुखको कितने ही प्रेमी कुटुम्बीजन हों, मित्रजन हों, वे कोई नहीं प्रदान कर सकते।

शक्यो वशीकर्तुमिभोऽतिमत्तः सिंहः कणीद्रः कुमितो नरेंद्रः ।
ज्ञानेन हीनो न पुनः कथंचिदित्यस्य दूरे न भवंति संतः ॥२०६॥

ज्ञानके बिना सन्मार्गपर चलने चलानेकी दुष्करता--लोग ऐसे ऐसे बलवान हैं कि बड़े बड़े मस्त हाथियोंको वशमें कर सकते हैं, कुमार्गपर जा रहे हाथियोंको सुमार्गपर ला सकते हैं और क्रुद्ध हुए सिंह, सर्प, राजा आदिक जो बड़े ही कठिन होते हैं उनको अपनी कलासे समझा सकते हैं, पर मूढ़ अज्ञानी पुरुषोंको किसी भी प्रकार सुमार्गपर नहीं लगा सकते । तब यह पुरुषार्थ करना होगा कि ज्ञानका अर्जन करें और अपने आत्मस्वरूप की दृष्टि रखें । सबको यह समझना चाहिये कि हमारा ज्ञानके बिना सुमार्गपर आना नहीं बन सकता और ज्ञानके बिना दूसरोंको सुमार्गपर लाना नहीं बन सकता, अतएव तत्त्वज्ञान का अर्जन करना चाहिए । ऐसा निर्णय कर तत्त्वज्ञानके अभ्यासमें अपनेको लगा देना उचित है ।

करोति संसारशरीर भोगविरागभावं विदधाति रागं ।
शीलव्रतध्यानतपः कृपालु ज्ञानी विमोक्षाय कृतप्रयासः ॥ २०७ ॥

ज्ञानी जनोंकी सुमार्गमें प्रगति—ज्ञानी पुरुषका जितना पौरुष होता है वह सब मोक्षके लिए होता है । मोक्षके अतिरिक्त अन्य कोई लक्ष्य ज्ञानीका नहीं होता । तो मोक्षके लिए ही ज्ञानी संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्य भावको धारण करता है । संसार तो हुआ रागादिक विकार जन्म-मरण सो इनसे विरक्त रहता है । रागद्वेष विकारको नैमित्तिक जानता है, परभाव भिन्न जानता है इसलिए उसमें ज्ञानीको राग नहीं रहता, बल्कि हेय-बुद्धि रहती है । ये ही विकार तो दुःखके कारण हैं, अशुचि हैं, उनमें ज्ञानीको वैराग्य रहता है । शरीर सर्व दुःखोंकी जड़ है, जितनी शारीरिक वेदनायें होती हैं, भूख प्यासकी पीड़ायें, सम्मान अपमान आदिककी कल्पनायें वे सब इस शरीरके माध्यमसे ही होती हैं । सो ज्ञानी जानता है कि यह शरीर भिन्न पदार्थ है, आत्माके साथ लग गया है । जब तक इसका सम्पर्क है तब तक इसको कष्ट है, ऐसी ज्ञानीकी भावना रहती है कि मैं शरीर रहित अवस्थाको प्राप्त करूं । इन्द्रियके भोग जिनमें कल्पित मौज है और आत्माकी सुधसे च्युत करने वाले हैं उन भोगोमें ज्ञानीजनोंको राग नहीं होता । ज्ञानीने तो अलौकिक आनन्दका अनुभव किया है, जो आधीन है और निर्बाध है उस आनन्दके अनुभव की इन्द्रियके विषयोंमें सुख बुद्धि कैसे हो सकती है । सो जीव संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्यको धारण

करता है। ज्ञानीका कोई अनुराग होता है तो धर्म विषयक ही अनुराग होता है, यह अनुराग भी मोक्षके लिए है। अनुरागके लिए अनुराग नहीं है। ज्ञानीका शीलपालनमें अनुराग है, शीलके विरुद्ध चलनेमें उपयोगका जो भटकना होता है, उसमें स्वभाव दर्शनकी पात्रता नष्ट हो सकती है। ज्ञानीको स्वभावदृष्टि चाहिए जिसके बलपर मोक्षका लाभ होता है। तो ज्ञानीको शीलमें अनुराग है। ज्ञानीको पाँचों पापोंसे जुदे रहनेमें अनुराग है। इसीको ही व्रत कहते हैं। हिंसारूप प्रवृत्ति ज्ञानीके नहीं होती। दयारूप प्रवृत्ति होती है। असत्य सम्भाषण न करके यह ज्ञानी सत्य ही बोलता है। किसी पराये द्रव्यको हरनेका ज्ञानीके मनमें कभी भाव नहीं उठता। शीलपालनके बड़े दृढ़ प्रतिज्ञ होते हैं। किसी परिग्रहकी तृष्णा ज्ञानीको नहीं सताती। तो यों पापोंसे विरक्त रहने रूप व्रतोंसे अनुराग होता है। ध्यानका अनुराग ज्ञानीको होता ही है क्योंकि ध्यान कल्पवृक्ष है। जो उत्तम से उत्तम अभीष्ट पद है, मोक्ष पद है उसका भी लाभ ध्यानके द्वारा होता है। जहाँ ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही पाया जा रहा हो वह ध्यान परम ध्यान है और ऐसे ध्यानकी भावना ज्ञानी संतोंके रहा करती है। तपका अनुराग ज्ञानीको होता है। अनशन अनोदर आदिक १२ प्रकारके तप कहे गए हैं। जिनमें इच्छाओंको दूर करके अविकार ज्ञानस्वभावकी उपासना की जाती है। ज्ञानी जीवको दयाका भाव विशेषतया बरतता है। कोई दुःखी प्राणी हो तो अपनी सामर्थ्यके अनुसार तन, मन, धन, वचनसे उसके दुःख दूर करनेका प्रयत्न रहता है और विशेषतया अपने आपके सहज परमात्मतत्त्व पर बहुत सही दृष्टि रहती है, यह ही अपने आपपर कृपा करना कहलाता है। तो इन गुणोंमें ज्ञानी जीवका धर्मानुराग रहता है।

परोपदेशं स्वहितोपकारं ज्ञानेन देही वितनोति लोके।
जहाति दोषं श्रयते गुणं च ज्ञानं जनैस्तेन समर्चनीयं ॥२०८॥

ज्ञानबलसे ही स्वहितगमन व दोषनिवृत्ति—यह जीव अपना हित और पराया हित परोपदेश देकर करता है तो वह सब ज्ञानके बल पर ही तो कर पाता है। वस्तुस्वरूपका जब स्पष्ट बोध है तब वह दूसरोंको सही उपदेश देता है और अपने आपको भी सन्मार्गमें लगाये रहता है। ज्ञानके द्वारा ही यह जीव स्वयं अपने हित अहितका विचार कर गुणोंकी ओर ही अभिमुखता करता है। आत्माका जो सहजस्वरूप है वही इसका सहज गुण है और जैसा कि सहज चैतन्यस्वरूप है उस रूपमें अपने आपको अनुभवता है तो यह सब ज्ञानबल द्वारा ही तो हो रहा है। यह ज्ञानी दोषोंसे सर्वथा बचने का उपाय करता है। वह भी

ज्ञानबलसे ही तो करता है, जिसके ज्ञान है वही दोषोंसे हटनेका और सन्मार्गमें लगनेका प्रयास करता है। तो समस्त अभ्युदयोंका उपाय ज्ञानभाव ही है अतः यह ज्ञान प्रशंसनीय तत्त्व है। आत्माका धन ज्ञानके सिवाय और है ही क्या ? स्वरूप ही ज्ञान है और ज्ञान-स्वरूपका विकास ही भगवंत अवस्था है। वही परम कल्याण है। तो जिस ज्ञानके बलसे यह जीव लोकमें भी सही प्रवृत्तियाँ सुख शान्तिके लिए कर पाता है और ज्ञानके ही द्वारा समस्त अज्ञान जंजालोंको त्यागकर अपने ही ज्ञानस्वरूप में रुचि और धुन बनाये रहता है वही वास्तविक कमायी है। अपना ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञानमें बना रहे जिसके प्रतापसे कर्मोंका क्षय होता है, मोक्ष मार्गमें प्रगति होती है और निर्वाणपदको प्राप्त करता है।

एवं विलोक्यास्य गुणाननेकान् समस्तपापारि निरासदक्षान्।
विशुद्धबोधा न कदाचनापि ज्ञानस्य पूजां पूजां महतीं त्यजंति ॥२०९॥

विवेकीजनोंका ज्ञानार्जनमें प्रयास—ज्ञानी पुरुष सदा ज्ञानके उपार्जनमें ही प्रयत्नशील रहा करता है, क्योंकि जितने भी समीचीन अभ्युदय हैं वे ज्ञानके द्वारा ही प्राप्त होते हैं। ज्ञानी पुरुषको धर्मानुरागके कारण पुण्यानुबंधी पुण्य प्राप्त होता है जिसके उदयमें सन्मार्गकी ओर गति रहती है और उस भूमिकाके अनुसार लौकिक सुखोंको प्राप्त करता है। पापको नष्ट करने वाला ज्ञान ही है, क्योंकि पाप भी आया था ज्ञानकी खोंटी प्रवृत्तिसे, रागद्वेष विकारभाव जगनेसे कर्मोंका आश्रव हुआ था। तो अब रागादिक विकार न हों, अविकार ज्ञानस्वरूपकी उपासना रहे तो पूर्वबद्ध पाप भी खिर जायेंगे। नवीन पाप भी न बंधेंगे। तो यह ज्ञान समस्त पापोंको नष्ट करने वाला है। सो ज्ञानके ऐसे प्रभाव हैं। उनको विचार कर बुद्धिमान पुरुष ज्ञानकी पूजा कभी नहीं छोड़ते। ज्ञानके अर्जनमें, ज्ञानकी प्रभावनामें ज्ञानीजन अपना सर्वस्व समर्पण कर देते हैं। संसारमें सारभूत बात और है ही क्या ? ज्ञानमय आत्मा अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें अनुभवा जाय तो वहाँ संसारका कोई संकट नहीं रहता। तो ज्ञानमें ही ऐसा प्रभाव है कि जो सर्व अभीष्ट सुखोंको भी प्राप्त करे और कर्मोंका क्षय करके मुक्तिधाममें भी पहुँचा दे। ऐसा विशुद्ध ज्ञानी जीवको स्पष्ट निर्णय है, इसी कारण वह कभी भी ज्ञानकी पूजाको नहीं छोड़ता।

९. सम्यक्चारित्र

सद्दर्शनज्ञानबलेन भूता पापक्रियाया किरतिस्त्रिधा या।
जिनेश्वरैस्तद्वदितं चरित्रं समस्तकर्मक्षयहेतुभूतं ॥२१०॥

सम्यक्चारित्रके स्वरूपका संकेत—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बलसे जो पाप क्रियावोंसे विरक्ति जगती है वही चारित्र कहलाता है। ज्ञानीजन पापक्रियावोंमें न मनसे संकल्प करते हैं न वंचनसे समर्थन करते हैं और न कायचेष्टासे पापक्रियावोंका आरम्भ करते हैं किन्तु मन, वचन, कायसे ज्ञानी जीवके पापक्रियावोंसे विरक्तिभाव रहता है। इसीका नाम सम्यक्चारित्र है। इस सम्यक्चारित्रसे ही समस्त कर्मोंका विनाश होता है। सम्यग्दर्शन नाम है सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंका श्रद्धान होना और सम्यग्ज्ञान नाम है वस्तुस्वरूप सहित पदार्थोंका बोध होना। जब इस मनुष्यको हित अहितका विचार जगने लगता है तो वह अतीतकालमें सब भूलोंको भूल समझने लगता है और पर-पदार्थोंकी ओर इस जीवने एकता कर रखी थी उस एकताको अब यह धीरे-धीरे दुःख-दायी समझने लगता है। सो ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानके बलसे सर्व बाह्य प्रवृत्तियोंसे उपेक्षा हो जाती है। और अपने शरणभूत इस अंतस्तत्व को अपनाने लगता है। संसारमें परिभ्रमण करने वाले, करानेवाले आठों प्रकारके कर्म हैं, इन सबका विनाश हो, अभाव हो ऐसी सद्भावना ज्ञानी पुरुषके अन्तःकरणमें होती है। बस ऐसे हित अहितके विवेकके समय जो पापक्रियावोंसे, मन, वचन, कायसे विरक्त रहता है, उसहीको सम्यक्चारित्र कहते हैं।

शम क्षयं मिश्रमुपागतायां तन्नाशिकर्मप्रकृतौ त्रिधायां।
द्विधा सरागेतरभेदतश्च प्रजायते साधनसाध्यरूपं ॥२११॥

चारित्रकी त्रिविधता—सम्यक्चारित्रका घात करने वाला कर्म चारित्रमोहनीय कर्म कहलाता है। मोहनीय कर्मकी २८ प्रकृतियाँ होती हैं। जो दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीयके प्रभेदरूप हैं सो दर्शनमोहनीय इस सम्यग्दर्शनका घात करता है और चारित्र-मोहनीयकी प्रथम अननानुबंधी चार प्रकृतियाँ दोनों प्रकारके स्वभाव रखती हैं, सो इनके उदयमें सम्यक्त्वका भी घात होता है और चारित्रका भी घात रहता है। सो सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियाँ हैं, उनका उपशम होने पर ही उपशम सम्यक्त्व होता, क्षयोपशम होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता और क्षय होनेपर क्षायिक सम्यक्त्व होता। चारित्र-

मोहनीय कर्म आत्माके चारित्रगुणका घात करता है। उसके क्षय, उपशम या क्षयोपशमसे आत्मामें चारित्रगुण प्रकट होता है। चारित्रमोहका उपशम होने पर यथाख्यात चारित्र होता है, पर उपशमसे हुआ चारित्र अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं टिकता। चारित्रमोहनीयका क्षय होनेसे जो चारित्र होता है वह प्रगतिशील होकर निर्वाणको प्राप्त कराता है। उस चारित्रका कभी विघात नहीं होता। ऊँचा चारित्र प्रकट होने पर आंशिक चारित्र नहीं रहता किन्तु पूर्णचारित्र हो जाता है। चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशमसे चारित्र पूर्ण प्रकट नहीं होता किन्तु आंशिक प्रकट होता है जैसे अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदयाभावी क्षय और उपशम हो तो प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय हो तो ऐसे क्षयोपशमकी स्थिति होने पर अणुव्रत प्रकट होता है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन ८ कषायोंका उदयाभावी क्षय हो और इन्हींका उपशम हो और संज्वलनकषायका उदय हो तो मुनिव्रत प्रकट होता है। सो मुनिव्रत भी पूर्ण चारित्र समस्त कषायोंके अभावमें प्रकट होता है जिसका नाम है यथाख्यात चारित्र। चारित्रके पात्रकी दृष्टिसे दो भेद हैं—(१) सराग चारित्र और (२) वीतराग चारित्र। जिसके सराग चारित्र तो साधन है जिसकी प्रगतिसे वीतराग चारित्र प्रकट होगा। विराग चारित्र साध्य है, जो सराग चारित्रके द्वारा शुद्ध भाव प्रकट होता है। तो इस जीवका चारित्रमोहका उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने पर अलग जातिके परिणाम हो जाते हैं। इस ज्ञानीको सांसारिक समस्त अशुभ पापक्रियावोंसे घृणा होने लगती है और व्रत चारित्र आदिक शुभ क्रियायें करनेसे अनुराग बन जाता है। तो प्रारम्भिक लोगोंका कर्तव्य है कि वीतराग चारित्रकी प्राप्तिके ध्येयमें सराग चारित्रसे प्रारम्भ कर अपने आपके चारित्रको दृढ़ बनायें।

हिंसानृतस्तेयजनीविसंगनिवृत्तिरूपं व्रतमंगभाजां।
पंचप्रकारं शुभसूतिहेतुहेतुर्जिनश्वरैर्ज्ञातसमस्ततत्त्वैः ॥२१२।

चारित्रकी पञ्चरूपता—५ प्रकार के पापोंके त्यागसे ५ प्रकारके व्रत बनते हैं। हिंसाके त्यागसे अहिंसा व्रत, झूठके त्यागसे सत्यव्रत, चोरीके त्यागसे अचौर्यव्रत, कुशीलके त्यागसे ब्रह्मचर्य व्रत और परिग्रहके त्यागसे अपरिग्रह व्रत बनता है। इन व्रतोंमें केवल निवृत्ति अंश ही हो, ऐसा नहीं है। वह तो भूमिकानुसार है ही, पर इसके साथ ही धर्मानुराग विषयक प्रीति भी रहती है और इस धर्मानुराग मूलक प्रवृत्ति होनेके कारण व्रतोंको शुभ आश्रवका कारण बताया गया है। यदि केवल निवृत्ति अंश ही होता है तो आश्रवका कारण नहीं कहा जा सकता। यह धर्मानुराग भी उच्च स्थिति पा लेने पर त्याज्य हो

जाता है, किन्तु प्रारम्भिक दशामें तो इस जीवको व्रत तप आदिक शुभोपयोग ही हस्तावलम्बन है। यदि ज्ञानी गृहस्थ शुभोपयोगको छोड़ दे और शुद्धोपयोग को छोड़ दे और शुद्धोपयोग बन नहीं पा रहा तो अशुभोपयोगमें ही आयेगा। जिसका फल अनन्त संसार परिभ्रमण है। तो ज्ञानी पुरुष ५ पापोंका त्याग करके ५ व्रतोंरूप अपनी चेष्टायें बनाये रखते हैं और साधक दशामें ये निरारम्भ और निष्परिग्रह हो जाते है। निरारम्भ निष्परिग्रह होने पर ही स्वभावदृष्टि बनाये रहने के ध्यानकी पूर्ति होने लगती है। तो चारित्रका अद्भुत माहात्म्य है। इसके ही प्रतापसे जीवोंने मुक्ति प्राप्त की है। ऐसा सम्यक्चारित्र हम आप सबके लिए आदर्श तथ्य है, सो अपनी शक्तिमाफिक सम्यक्चारित्रका पालन करना चाहिये।

जीवास्त्रसस्थावरभेदभिन्नास्त्रसाश्चतुर्धात्र भवेयुरन्ये।
पंचप्रकारास्त्रिविधेन तेषां रक्षा अहिंसाव्रतमस्ति पूतं ॥२१३॥

छह जीवनिकायोंकी रक्षामें अहिंसाव्रतकी क्षमता—संसारी जीव त्रस और स्थावर दो जातियोंमें पाये जाते हैं। त्रस जीव तो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियका नाम है जिनके त्रस नामकर्मका उदय है और स्थावर जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये ५ प्रकारके कहे गए हैं। इन सब ६ कायके जीवोंकी मन, वचन, कायसे जो रक्षा करना है उसका नाम अहिंसा व्रत है। ६ कायके ५ तो स्थावर जीव लिए गए हैं और एक त्रस जीव। इन्द्रियाँ ५ होती हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। जिन जीवोंके केवल स्पर्शन ही इन्द्रिय हैं वे एकेन्द्रिय कहलाते हैं। पृथ्वी, जल आदिक ५ स्थावरोंके अंग उपांग नहीं हैं, रसना इन्द्रिय नहीं है, केवल स्पर्शन इन्द्रिय है। रसना इन्द्रिय जिह्वाको कहते हैं। जिस जीवके जीभ है उसके स्पर्शन इन्द्रिय अवश्य होती है। तो ये दो इन्द्रियाँ जिनके हैं वे दो इन्द्रिय जीव कहलाते हैं। रसना इन्द्रियसे खट्टा, मीठा आदिक रसोंका स्वाद जाना जाता है। घ्राणेन्द्रिय नासिकाको कहते हैं। इसके द्वारा सुगंध दुर्गंधका ज्ञान होता है। जिसके घ्राणेन्द्रिय पायी जाती है उसके स्पर्शन और रसना इन्द्रिय अवश्य होती है। सो जिन जीवोंके तीन इन्द्रिय हैं वे तीन इन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे खटमल, चींटी, जूं आदिक। चक्षुइन्द्रिय आँखको कहते हैं। इसके द्वारा काला, पीला, नीला, लाल, सफेद इन ५ प्रकारके वर्णोंका और इनमें किसीके संयोगसे हुए वर्णोंका ज्ञान होता है। जिसके चक्षु इन्द्रिय है उसके स्पर्शन, रसना और घ्राण अवश्य होते हैं। सो जिन जीवोंके चार इन्द्रियाँ पायी जायें उन्हें चौइन्द्रिय जीव कहते हैं। कर्णेन्द्रियसे शब्द जाने जाते

हैं, जिनके कर्णेन्द्रिय हैं उनके शेष सभी इन्द्रियाँ हैं। यों पाँचों इन्द्रियाँ जिन जीवोंके हैं उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं। जीवशास्त्रका जिन्हें बोध है वे ही जीव तो भले प्रकार जीवकी रक्षा कर सकते हैं। जिनको ज्ञान नहीं कि जल खुद जीव है और जलमें सूक्ष्म त्रस जीव भी रहते हैं, वे लोग संन्यासके नाम पर ऊंचा तप करके भी जल छानकर ही पीना, या स्वयं न छानना, आरम्भ न करना आदिक भाव कहाँ जग सकते हैं। तो जीव दयाका पालन वही पुरुष भली-भाँति कर सकता है जिसको जीव देहोंका, उनकी योनियोंका, उत्पत्ति स्थानोंका बोध होता है। तो इस षट्कायके जीवोंकी विराधना न करना यह अहिंसा व्रत कहलाता है।

स्पर्शेन वर्णेन रसेन गंधाद्यदन्यथा वारि गतं स्वभाव।
तत्प्रासुकं साधुजनस्य योग्यं पातुं मुनींद्रा निगदंति जैनाः ॥२१४॥

साधुजनों द्वारा प्रासुक जलकी पेयता—जल कैसा पीने योग्य है साधु पुरुषोंको इसका वर्णन इस छंदमें किया है। जैसे जलका स्पर्श, रस, गंध और वर्णके चार स्वाभाविक गुण बदल जायें ऐसे जलको पेय बताया गया है। जैसा जलका अपने आप रूप है स्पर्श आदिक है उससे यह परिचय होता है कि इसमें जीव है। जैसे ताजा ठंडा निकला हुआ पानी शीतल है तो सहसा बोध हो जाता है कि अभी यह जल जीवसहित है, पर जो जल गरम है या लौंग आदिकसे प्रासुप किया गया है जिससे कि रस, गंध आदिक भी बदल गए हैं तो उस जलमें यह निश्चय रहता है कि यह जल अचित्त है। सो साधुजन सचित्त जलका सेवन नहीं करते, क्योंकि उसमें अहिंसा व्रतका पालन नहीं होता और स्वयं आरम्भ भी नहीं करते कि जलको गर्म करें या प्रासुप करें। उनको कहीं भक्तजनोके घर विनयपूर्वक गृहस्थ बुलाये और विधिपूर्वक दे तो ऐसा अचित्त जल साधुजन ग्रहण कर लेते हैं।

उष्णोदकं साधुजनाः पिबंति मनोवचः कायविशुद्धिलब्धं।
एकांततस्तत्पिवतां मुनीनां षड्जीवघातं कथयंति संतः ॥२१५॥

मनोवचः कायविशुद्ध उष्णोदककी ग्राह्यता—साधु पुरुष सर्व प्रकारकी हिंसाके त्यागी होते हैं। वे मन, वचन, कायकी विशुद्धिको प्राप्त हुए उष्ण जलको पीते हैं और जो उष्ण जलको न पीकर अचित्त जलसे विपरीत जलको ग्रहण करते हैं उस साधुजनोंके ६ कायके जीवों के घातका पाप लगता है। वे ६ कायके जीवोंके हिंसक कहे जाते हैं। सचित्त जलका जल स्वयं जीव है और उसमें त्रस जीव भी रह रहे इस कारण सचित्त जलके उपभोगमें

दयाका पालन नहीं कहा जा सकता है। सो ऐसे जलको भी साधुजन आरम्भ कराकर या उसकी अनुमोदना करके प्राप्त करते हैं। नवकोटि विशुद्ध जलको ग्रहण करते हैं, अर्थात् जिसमें न मनसे संकल्प किया हो कि यह मुझे दे और न वचनसे कोई प्रयोग कराया गया हो, न शरीरसे अनुमोदनाकी हो या करायी गई हो। मन, वचन, कायसे न कृत हो, न कारित हो, न अनुमोदित हो, ऐसा जलही साधुजनोंके ग्रहणके योग्य कहा गया है।

हतं घटीयंत्रचतुष्पदादि सूर्येदुवाताग्नि करैर्मुनींद्राः।
प्रत्यंतवातेन हतं वहच्च यत्प्राशुकं तन्निगदंति वारि ॥२१६॥

प्रासुक जलका स्वरूप—कौनसा जल प्रासुप कहा गया है इसका वर्णन इस छंदमें किया गया है। जो जल घटी यंत्रका हो यानि जिस जलको अरहटके द्वारा निकाला जा रहा है यानि पानी को गड़बड़ा करके उन घटियोंमें डालते हैं जिस विदोलनके कारण वह जल अचित्त हो जाया करता है। जो जल गाय, भैंस आदिक जानवरोंके आवागमनसे ताड़ित हो गया हो। जैसे अनेक जलाशयोंके ऐसे स्थान होते कि जहाँ बहुतसे गाय, भैंस आदिक पशु आते जाते हैं, यानि जिस जलका काफी विडोलन हो गया हो वह जल प्रासुप है। जिस जलपर सूर्यकी तीव्र किरणें पड़ती हैं, जिसके कारण वह जल प्रासुप हो गया है। रूप, रस आदिक भो बदल गये हैं ऐसा जल प्रासुप कहा गया है। चन्द्रकिरणोंसे भी जल प्रासुप हो जाता है। किसी भी प्रकारका परिवर्तन हो जाय वह सूचक है कि यह जल अचित्त हो गया। कोई जल वायुको ताड़नासे ही अचित्त हो जाता है। जहाँ तीव्र लहर उठती है। वायुका बहुत प्रताड़न होता है वह जल अपने स्वाभाविक वर्ण गंध रस, स्पर्शको छोड़ देता है। अचित्त जलकी पहिचान यह है कि उसका जो स्वाभाविक रूप है वह रूप न रहे, बदलकर अन्य प्रकार हो जाय तो वह जल अचित्त हो जाता है। अग्निसे तपाया गया जल अचित्त होता ही है। ऐसा जल जैनागममें प्रासुप माना गया है और बड़े-बड़े आचार्योंने इस प्रकार का उपदेश किया है।

भवत्यवश्यायहि मांशधूसरी घनांबुशुद्धोदकबिंदुसीकरान्।
विहाय शेष व्यवहारकारणं मनीषिणां वारि विशुद्धिमिच्छतां ॥२१७॥

अपेय जलका संक्षिप्त विवरण—जो जल पाला रूप है, ओला, मेघ और छाने हुए जलके बचे हुए शुद्धोदक बिन्दुके कणोंसे भिन्न हो वह सब जल अहिंसा व्रतके पालनेवाले मुनियोंको व्यवहारमें लाने योग्य होता है। जलकी प्रासुपताका कारण है या परिचायक है

तो उनका स्पर्शादिक बदल जाना। वह जिन-जिन घटनाओंके प्रसंगसे बदल होता है उन सब घटनाओंका जिक्र किया गया है। सो ऐसे सब जल साधुजनोंके व्यवहारके कारण हैं। यहाँ इतनी बात समझना कि प्रासुप जल ये सब बताये गए हैं, मगर पीनेके लिए ही सब योग्य हों यह नहीं कहा गया। जरूरत पड़ने पर उनका उपयोग कर सकें, हाथ पैर धो सकें, शुद्धि कर सकें, इन सब कामोंमें वे आते हैं। जैसे कि जंगलमें प्रायः होता है। कोई पानी ऊपर पहाड़ोंसे गिर रहा है। पत्थरोंकी ठोकर खा रहा है, ऐसी जगहका जल इस्तेमालमें ले लिया जाता है, पर पीने योग्य जल तो जो श्रावकके यहाँ है, श्रावकके द्वारा प्रदत्त जलही पेय होता है, क्योंकि ऐसे जलके ग्रहण करनेमें ही वह निरारम्भ होता है और इच्छाका निरोधक होता है, सो अहिंसाव्रत पालन करने वाले मुनियोंके व्यवहारमें लेने योग्य जलका इस छंदमें वर्णन किया गया है।

उष्णोदकं प्रतिगृहं यदकारि लोकैस्तच्छ्रावकैः पिबति नान्यजनैः कदाचित्।
तत्केवलं मुनिजनाय विधीयमानं षड्जीवसंततिविराधन साधनाय ॥२१८॥

श्रावकोंके गृहपर लब्ध प्रासुक जलकी पेयता—जो जल श्रावक द्वारा अपने घर पर, अपने कामके लिए उष्ण किया जाता है वह जल पीने योग्य है। श्रावकजन शुद्ध भोजन करने वाले होते हैं और जल छना हुआ हो, वह ४८ मिनटके अन्दर ही उपयोगके योग्य होता है, उसके बाद फिर वह त्रस जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान बन जाता है। जो श्रावकजन उस जलमें संदेह न रहे या बार-बार छाननेका कार्य न करना पड़े अथवा ध्यानसे चूक गए तो उसका दोष न आये, इन सब अपराधोंसे बचनेके लिए श्रावक उष्ण जल करके रखता है, तो ऐसा अपने घर अपने लिए जो उष्ण जल किया जाता है वह मुनिजनोंके पीने योग्य है किन्तु इसके सिवाय जो जल केवल मुनियोंके उद्देश्यसे उष्ण किया गया है। जो क्रिया विधि न जानने वाले पुरुषोंसे गरम कराया गया है वह सब जल अपेय है। वह षट्कायके जीवोंकी हिंसाका साधन भूत है। मुनिजन जल क्या, भोजनमें भी नवकोटि विशुद्धिसे रहते हैं। मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदना उसके साथ नहीं रहती है। इसी कारण श्रावकजनों द्वारा उष्ण किया जाने वाला जल साधुजनोंके योग्य समयपर मिले तो वह पेय कहा गया है।

यथार्थवाक्यं रहितं कषायैरपीडनं प्राणिगणस्य पूतं।
गृहस्थभाषाविकलं यथार्थं सत्यं व्रतं स्याद्वदतां यतीनां ॥२१९॥

सत्यमहाव्रत—इस छंदमें सत्य व्रतका वर्णन किया गया है। जिन मुनियोंके वचन सार्थक होते हैं, जैसा पदार्थ है उसके अनुरूप होते हैं वे वचन सत्य कहलाते हैं। और पदार्थ उस अनुरूप होने पर भी कषायरहित होकर प्रयुक्त किए गए हों तो वह सत्यव्रत कहलाता है। यथार्थ भी बात हो और कषायवश प्रयोग किया गया हो तो इससे उसने भावहिंसा कर ही लिया। तो जो हिंसामूलक प्रवृत्ति है वह व्रतमें कैसे आ सकती है? सो कषायोंसे रहित वचन सत्यव्रतमें शामिल हैं, और वे वचन भी प्राणियोंको पीड़ा न पहुँचाने वाले हों। साधु-संतोंको क्या आवश्यक है कि ऐसे वचन बोलें कि जिससे दूसरे जीवोंका प्राणघात न हो जाय। प्रथम तो बोलना ही उन्हें पसंद नहीं होता। मुनिजन मौनपूर्वक अपना ध्यान किया करते हैं। पर किसी प्रसंगमें धर्मके सम्बन्धमें कुछ वचन बोलना ही पड़े तो वे दूसरों को पीड़ा करने वाले वचन नहीं बोलते। साधुओंके ऐसे वचन जो पवित्र हैं और दूसरोंको हितकारी हैं वे वचन ही बोलने योग्य कहा गया है। साधु वचन गृहकार्योंके पोषण करनेसे रहित होते हैं। आरम्भ रोजिगार अन्य गृहस्थीकी बातें इन सब दोषोंसे शून्य उनके वचन होते हैं। सारांश यह है कि हित मित प्रिय वचन बोलनेको सत्यव्रत कहते हैं। सो मुनिजनोंका यह कर्तव्य है कि वे कभी व्यर्थ वचन न बोलें अधिक शब्द न बोलें। थोड़े शब्दोंकी आवश्यकता है। कुछ ही शब्द बोलकर अपने आपमें विश्राम करें।

ग्रामादिनष्टादि धनं परेषामगृह्णतोऽल्पादि मुनेस्त्रधापि।
भवत्यदत्तग्रहवर्जनाख्यं व्रतं मुनीनांगदितं हि लोके ॥२२०॥

अचौर्य महाव्रत—कोई ग्राम आदिक नष्ट हो गए हों, वहाँ कोई धन पड़ा हो वह धन भी साधुजनोंके ग्रहणके योग्य नहीं है। कहीं भी रखा हुआ, गिरा हुआ, खोया हुआ, किसीका भूला हुआ, कैसा ही हो बिना दी हुई दूसरेकी वस्तुका मन, वचन, कायसे ग्रहण न करना अचौर्य व्रत है। सो साधुजनोंके निरपेक्ष कोई व्रत नहीं होता। जैसे मानो किसी साधु पुरुषको किसी धनिकने कोई धन जेवर आदि भेंट किया और उसे साधु ग्रहण कर ले परिग्रह त्याग महाव्रतका पालन करते हुए भी तो वह साधु कहाँ रहा? हाँ साधुजनोंको योग्य कोई वस्तु हो जैसे पिछी, कमण्डल, शास्त्र या कोई औषधि आदिक जो कि संयमके लिए साधन हैं उन्हें कोई दे तो उन्हें साधुजन ग्रहण कर सकते हैं। बिना दी हुई कोई चीज ग्रहण नहीं कर सकते। तो बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण न करना अचौर्य व्रत है।

विलोक्य माहस्वसृदेहजावत्स्त्रीणां त्रिकं रागवशेन यासां।
विलोकन स्पर्शनसंकथाभ्यो निवृत्तिरुक्तं तदमैथुनत्वं ॥२२१॥

ब्रह्मचर्य महाव्रत—जो महानुभाव वृद्ध स्त्रीको तो माँ, बराबरकी आयु वाली स्त्रीको बहिन और छोटी आयु वालीको पुत्रीके समान मानता है और सभी प्रकारकी स्त्रियोंका मन, वचन, कायसे त्याग कर देता है उसके ब्रह्मचर्य व्रत होता है। ब्रह्मचर्य व्रतका धारी न तो स्त्रीजनोंको रागबुद्धिसे देखता है न उनके साथ रागकी बातें करता है न कभी उनका स्पर्श करता है, उसके ब्रह्मचर्यकी सिद्धि होती है। राग बुद्धि करना, संकल्प करना ये सब मनकी चेष्टायें हैं। वचनालाप करना यह वचनका व्यवहार है। कोई अंग आदिकका स्पर्श करना या उनके छुवे हुए कपड़े आदिकका स्पर्श करना जिनमें वाचनाका सम्बन्ध चलता है वे सब कायकी चेष्टायें हैं। साधुजन मन, वचन, काय तीनों योगोंको सम्हाले रहते हैं और वे ब्रह्मचर्यके विरुद्ध इन योगोंका प्रयोग नहीं करते हैं। ब्रह्मचर्यका परमार्थ अर्थ तो यह है कि ब्रह्म मायने आत्मा, उसमें चर्य मायने लीन होना। सो काम विषयक चेष्टायें आत्मामें लीन होनेकी साक्षात् बाधक हैं। इस कारण कुशीलके त्यागको ब्रह्मचर्य शब्दसे कहा गया है। इस प्रकार साधुजन ब्रह्मचर्य महाव्रतका पालन किया करते हैं।

सचेतनाचेतनभेदतोत्थाः परिग्रहाः संति विचित्ररूपाः।
तेभ्यो निवृत्तिस्त्रिविधेन यत्र नैसंग्यमुक्तं तदपास्तसंगैः ॥२२२॥

परिग्रहत्याग महाव्रत—लोकमें समस्त पदार्थ चेतन या अचेतन दो प्रकारके हैं, जिन पदार्थोंमें चेतना हो, जानने देखनेकी शक्ति हो वे पदार्थ चेतन हैं और जिनमें चेतना नहीं है, जानने देखनेकी शक्ति नहीं है वे पदार्थ अचेतन हैं। सो दोनों प्रकारके पदार्थोंका मन, वचन, कायसे त्यागकर देना अपरिग्रह है। परिग्रह त्यागी पुरुष बाह्य पदार्थोंको न मनसे अपना समझते हैं, न वचनसे अपना कहते हैं और न इस शरीरके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध रखते हैं, श्रवण निसंग कहे जाते हैं। संग मायने परिग्रह, निः मायने निर्गत, परिग्रहसे दूर हो गए अथवा संग मायने प्रसंग सम्पर्क उसके दूर हो गये हैं ऐसे निसंगको श्रवण बताया है। सो जैसे मूढ़ पुरुषोंकी बुद्धि अचेतन पदार्थोंमें रमी रहती है। अचेतन पदार्थोंमें अपनी एकता मान लेते हैं, ज्ञानी पुरुषोंको वहाँ स्पष्ट दृष्टिमें रहता है कि इन सब पदार्थोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी जुदा है, मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जुदा है। एकका दूसरेके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। चेतन पदार्थ जो उसके प्रसंगमें रहते हों, जैसे गृहस्थ है तो स्त्री, पुत्र, मित्रादिक उसके चेतन संग बन सकते हैं और मुनि हैं तो उनके साथ शिष्यजन होते हैं। वे सब उनके प्रसंगके सचेतन पदार्थ हैं, किन्तु ज्ञानीजन चाहे गृहस्थ हों या मुनि हों, उन सचेतन परिग्रहोंसे भी अपना स्वरूप निराला समझते हैं

और चूँकि चारित्र मोहका उदय है सो गृहस्थ उसका परित्याग नहीं कर सकते, किन्तु मुनिजन उन सचेतन पदार्थोंका भी परिग्रह नहीं रखते। तो ऐसे मन, वचन, कायसे सचेतन अचेतन परिग्रहोंके त्यागको बेसंग कहा है।

युगांतरप्रेक्षणतः स्वकार्याद्दिवा पथा जन्तुविवर्जितेन।
यतो मुनेर्जीवविराधहान्या गतिर्वरेर्यासमितिः समुक्ता ॥२२३॥

साधुवोंकी ईर्यासमिति—इस छंदमें श्रवणकी ईर्यासमितिका वर्णन किया है। ईर्याका अर्थ गमन है और समितिका अर्थ सावधानी सहित समताकी सम्हाल रखते हुए प्रवृत्ति होना है। तो जिन श्रवणोंके श्रामण्य है, मुनिव्रत है उनका यह भाव रहता है कि किसी जीवकी हिंसा न हो, और हमको विहार करना पड़ रहा, वहाँ हमारे सम्बन्धसे मार्गमें आये हुए किसी भी जीवको रंच भी दुःख न हो, यह तो उन मुनिजनोंका अभिप्राय रहता है। और वे इस अभिप्रायके कारण चार हाथ आगे पृथ्वी देखकर गमन करते हैं। सो वह गमनभी दिनमें ही किया जाता है। रात्रिमें नहीं, और ऐसा गमन भी किस प्रयोजनके लिए होता है कि जिसमें आत्माके विकासका कोई प्रसंग हो। तो इस छंदमें ईर्यासमितिके लिए चार बातें कही गई हैं। भावशुद्धि होना, चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना, दिनमें ही चलना और किसी भले कार्यके लिए ही चलना। ऐसी चार बातोंका योग जिस गमनमें रहता है उस गमनकी वृत्तिको ईर्यासमिति कहते हैं। निश्चयसे तो श्रवणकी ईर्या अपने आपके स्वरूपमें अन्तरंग ज्ञानके बलसे गमन होना कहलाता है और इसही ईर्याकी सिद्धिके लिए व्यवहार ईर्यासमितिका पालन किया जाता है। सो मुनिजन अन्तरंगमें तो सावधान होते ही हैं। सतत उनका ध्येय सहज चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वकी प्रतीत और लीनता है। पर एकही जगह रहकर रागद्वेषके प्रसंग आ जाते हैं, इसलिए कहीं अधिक दिन नहीं ठहरते, ऐसा प्रभुका आदेश है। कोई कठिन स्थितिमें अत्यन्त वृद्ध हो जाये, समाधिमरणकी प्रतिज्ञा करले या कोई विशेष ज्ञानार्जनका लाभ होता हो तो ऐसेही कुछ कारणोंसे ये कुछ दिन ठहरते हैं एक जगह लेकिन आम आदेश है कि छोटे गाँवमें एक दिन, कुछ बड़े में तीन दिन और बहुत बड़े में ५ दिन, इससे अधिक नहीं ठहरते। तो विहार करना आवश्यक हो गया। तो उनका विहार किस प्रकार होता है वह सब ईर्यासमितिमें बताया गया है।

आत्मप्रशंसा परदोषहासपैशून्यकार्कश्यविरुद्ध वाक्यं।
विवर्ज्य भाषां वदतां मुनीनां वदंति भाषासमिति जिनेन्द्राः ॥२२४॥

साधुवोंकी भाषासमिति—इस छंदमें श्रवणकी भाषासमितिका वर्णन किया गया है।

जो मुनि आत्मप्रशंसा नहीं करते वे ही योग्य वचनकी वृत्ति रखते हैं और भाषा समितिका पालन कर सकते हैं, जिसको अपने आपकी प्रशंसामें रुचि है, व्यामोह है तो उस प्रशंसाके लाभके कारण कोई प्रसंग ऐसा भी बन जाता है कि जहाँ तक कुछ अंशमें असत्य बोलना पड़ जाता है। फिर भाषा समिति कहाँ रही ? तो जो भाषा समितिके पालनेके इच्छुक हैं उनका कर्तव्य है कि वे आत्मप्रशंसासे अति दूर रहें। परनिन्दा, दूसरे जीवोंकी निन्दा, करनेका जिनका व्यापार है, ऐसी आदत बनाली गई है तो परनिन्दाकी धुन रखने वालेके इतनी स्वयंमें छुद्रता आती है और हठवाद हो जाता है कि कभी किसी प्रसंगमें उसे झूठ बोलनेका भी प्रसंग बन जाता है, परनिन्दा करनेसे अनेक आपत्तियाँ खुदके सिरपर आ जाती हैं। क्योंकि जिसकी निन्दा की गई वह तो बरदास्त करेगा नहीं, वह तो कुछ न कुछ उपद्रव ढायेगा। तो ऐसी अनेक विकट स्थितियाँ होती हैं, उन परिस्थितियोंमें यह असत्य बोल सकता है अपने बचावके लिए या अपने हठकी रक्षाके लिए। तो परनिन्दाकी प्रकृति रखने वाले पुरुषके भाषा समितिका पालन नहीं बन सकता। जो मुनि दूसरोंका उपहास करते हैं, वचनोंसे कोई हँसी करते हैं, कुछ नीचा दिखानेकी बात करते हैं तो ऐसे उपहासका जो मनमें आशय रख रहा है वह पुरुष छुद्र आशयका है। गम्भीर पुरुष है और ऐसे पुरुषोंके वचन असत्य भी निकला करते हैं। तो भाषा समितिका पालनहार पुरुष उपहासमें चुगली करनेकी प्रकृति जिन श्रवणोंके पड़ जाती है, एककी बात दूसरेसे कुछ कहा, तीसरेसे कुछ कहा, यों एककी बात दूसरेसे चोरीसे कहना यह चुगली कहलाता है। तो चुगलीकी प्रकृति वालेका चित्त स्थिर नहीं रहता और उस प्रसंगमें कोई बात खुलनेका भय होता है या खुल जाता है तो उस प्रसंगसे यह ऐसी प्रवृत्ति करता, वचन बोलता जो दूसरेका बिगाड़ करने वाला हो या वस्तुके यथार्थ स्वरूपसे विपरीत हो। तो चुगली करने वाले श्रवणके सत्य बोलनेकी भाषा समिति नहीं बन सकती। जो पुरुष कर्कश वचन बोलता है और शास्त्रके विरुद्ध वचन बोलता है वह भाषा समितिका पालन नहीं कर सकता, क्योंकि कर्कश वचन किसी वेदनासे या खोटे अभिप्रायसे होता है। तो जहाँ दूषित आशय रहा वहाँ भाषासमिति कैसे पल सकती है ? तो श्रवण न आत्मप्रशंसा करते हैं, न किसी पर जीवकी निन्दा करते हैं, न किसीका उपहास करते हैं और न चुगली की प्रवृत्ति करते हैं। तो इस आत्मप्रशंसादि दोषसे रहित शास्त्रसम्मत वचन बोलनेको भाषा समिति कहते हैं।

अनुद्गमोत्पादनबल्भदोषा मनोवचः कायविकल्पशुद्धा ।
स्वकारणा या मुनिपस्य भुक्तिस्तामेषणाख्यं समितिं वदंति ॥२२५॥

साधुवोंकी एषणा समिति—इस छंदमें श्रवणके एषणा समितिका वर्णन किया गया है। उद्गम आदिक ४६ दोष होते हैं जिनमें १६ दोष तो श्रावक दाताके द्वारा बनते हैं और १६ दोष साधु पात्रके द्वारा बन सकते हैं। १० दोष आहार सम्बन्धी होते है और ४ दोष भाव खोटे विषयक हैं। जैसे गुस्सासे खाना, निन्दा करते हुए खाना। अनिष्ट भोजनमें द्वेष और इष्ट भोजनमें राग रखकर खाना आदि भावकृत दोष हैं। ऐसे ४६ दोषोंसे रहित और ३२ अन्तराय टालकर मन, वचन, कायकी शुद्धिसे शुद्ध शरीरकी स्थितिके लिए जो आहार ग्रहण करता है वह मुनिकी एषणा समिति कहलाती है। एषणाका अर्थ है खोजना। शरीर है संयमका बहिरंग साधन। शरीरकी स्थिति रहे तो यह पुरुष धर्मका पालन सुगमतया कर सकता है। कहीं कोई रोग व्याधि हो जाये अथवा क्षुधा तृषाकी तीव्र वेदना जगे तो उस समय यह अपने समाधिभावमें नहीं ठहर पाता। अतएव आहार करना आवश्यक हो जाता है। सो शुद्ध आहारकी खोज करना एषणा समिति है। जहाँ श्रावकने शुद्ध होकर पड़गाहा और विधि मिलनेपर मुनिजन वहाँ निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं, आहारचर्याके बाद और आहार कर चुकने तक अंतरायोंको टालकर ही चर्या करते हैं। वे अन्तराय ३२ हैं जो भिन्न-भिन्न स्थितियोंके हैं। सो ३२ अंतरायोंसे रहित होकर मुनिजनोंका आहार करना एषणा समिति कहलाता है। मुनिजन मन, वचन, कायकी शुद्धिसे शुद्ध रहते हैं और न वे आहारका निर्माण करते हैं, न कराते हैं और न करानेकी अनुमोदना करते हैं। नवकोटि विशुद्ध आहारका करना एषणा समिति कहलाता है।

आदाननिक्षेपविधेर्विधाने द्रव्यस्य योग्यस्य मुनेः स यत्नः ।
आदाननिक्षेपण नामधेयां वदंति संतः समितिं पवित्रा ॥२२६॥

साधुवोंकी आदाननिक्षेपण समिति—मुनिजनोंके रखने योग्य जो उपकरण हैं उन उपकरणोंके रखने और उठानेका कार्य तो पड़ता ही है, सो उन उपकरणोंके धरने उठानेमें सावधानी रखना, जीवहिंसा टालकर प्रवृत्ति करना वह आदान निक्षेपण समिति है। मुनिजनोंके रखने योग्य उपकरण तीन कहे गए हैं। संयमका उपकरण पिछी है। शुद्धिका उपकरण कमण्डल है और ज्ञानका उपकरण शास्त्र है। सो इन उपकरणोंके धरनेके समय पहले उस भूमिको शोधलें कि कोई जीव-जंतु तो नहीं है। पीछे धरे जाने वाले उपकरणोंको शोधलें, यों शोधन करते हुए धरना, ऐसे इन उपकरणोंको उठाते हुए पिछीसे

पोंछना और उठाना, फिर उस उपकरणको नीचेसे भी पोंछना ताकि कोई जीव यदि चींटी आदिक चढ़ गई हो तो उसे समितिपूर्वक उसका बचाव कर दें, ऐसी वृत्तिको आदान निक्षेपण समिति कहते हैं। आदानका अर्थ है ग्रहण करना और निक्षेपणका अर्थ है धरना। इन दोनों प्रकारकी वृत्तियोंमें मुनिजन पवित्र समितिका प्रयोग करते हैं।

दूरे विशाले जनजंतुमुक्ते गूढे विरुद्धे त्यजतो मलानि।
पूतां प्रतिष्ठापननामधेयां वदंति साधोः समितिं जिनेन्द्राः ॥२२७॥

साधुवोंकी उत्सर्गसमिति—साधुके जब शरीर लगा है और उस शरीर रक्षाके लिए आहार वे करते हैं तो नीहार भी करना हो जाता है। मल मूत्रका क्षेपण करना पड़ता है, तो उसका क्षेपण कहाँ करे और कैसे करे, ऐसी इस प्रतिष्ठापन समितिका वर्णन इस छंदमें किया है। मल मूत्रका त्याग दूरवर्ती प्रदेशोंमें करें, क्योंकि जो उनके ठहरनेका जो स्थान है वहीं यदि करें तो निकट रहने वाले पुरुषोंको बाधा उत्पन्न होती है। और मुनिजन कभी किसीकी बाधको नहीं स्वीकार करते, अतएव दूरवर्ती प्रदेशोंमें ही मुनिजन मल मूत्र क्षेपण किया करते हैं। दूरवर्ती प्रदेश हो और वह भी विशाल हो, जैसे मैदान पड़ा है, खेत पड़ा है, जहाँ शोधन भली-भाँति होता है और आमतौरसे सबके लिए वह प्रदेश खुला हुआ है, ऐसे विशाल प्रदेशमें मल मूत्र क्षेपण करे तो यों दूरवर्ती प्रदेश हो और विशाल प्रदेश हो, तिसपर भी वह कुछ ओटसा लिए हुए हो, यानि कुछ छिपा हुआ सा हो। जैसे मनुष्योंकी प्रवृत्ति है कि कुछ ओट लेकर ही मल मूत्रका क्षेपण करते हैं। यद्यपि सब जानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य मल मूत्रका क्षेपण करता है तिसपर कोई मनुष्य सबको दिखाकर मल मूत्रका क्षेपण नहीं करता। यह एक सभ्यताकी बात है और इसमें दूसरोंको कष्ट न पहुँचे, इसकी भी बात है। और साधुजनोंको तो देखिये, वे तो निरन्तर नग्न रहते हैं, गृहस्थजन तो कपड़ेसे अपने गूढ़ अंगको ढाके रहते हैं तो उसे खुला दिखानेमें संकोच हो जाता है, पर मुनि तो सतत् नग्न रहते हैं, तिसपर भी मल मूत्रके क्षेपणके समय वे भी गूढ़ स्थानमें मल मूत्रका क्षेपण करते हैं। तो जहां मल मूत्रका क्षेपण किया जाना चाहिए वह प्रदेश दूरवर्ती हो, विशाल हो, गूढ़ हो, इतने पर भी जन जंतुरहित हो। जन जंतुरहित प्रदेशमें ही मुनिजन मल मूत्रादिका क्षेपण किया करते हैं, किन्तु जो समितिका मुख्य ध्येय है जीवहिंसाका बचाना, सो जहाँ जीव न हो। ऐसे स्थान पर ही मल मूत्रका क्षेपण करना समिति है और कदाचित् दो एक छोटे जीवजंतु दीख जायें तो कभी अपहृत संयम धारणा करके भी उस स्थानका प्रयोग कर सकते हैं। संयम दो प्रकारके होते हैं—(१) उपेक्षा संयम और

(२) अपहृत संयम। उपेक्षा संयमके मायने यह हैं कि जिस प्रदेशपर जंतु बहुत हों या कुछ भी हों तो उस प्रदेशको छोड़कर अन्य प्रदेशोंमें गमन करना मल मूत्र क्षेपण करना आदिक बताया गया है और अपहृत संयममें यदि दो एकही जंतु हों तो उन्हें कोमल पिछीसे एक ओर करके शोधकर उस भूमिमें मल मूत्र क्षेपण कर सकता है। सो जीव जंतुरहित प्रदेश होना चाहिए, प्रतिष्ठापना समितिका पालन करनेके लिए।

समस्त जंतुप्रतिपालनार्थाः कर्माश्रवद्वारनिरोधदक्षाः।
इमा मुनीनां निगदंति पंच पंचत्वमुक्ताः समितीर्जिनेंद्राः ॥२२८॥

समितियोंकी संवरकारिता—जो जन्म मरणसे अतीत हो गए हैं ऐसे प्रभु जिनेन्द्रदेवने ५ समितियोंका श्रमणोंके श्रावण्यमें प्रयोग बताया है। इन समितियोंसे सब जीवोंकी रक्षा होती है। सो ये पाँचोंही समितियाँ कर्मोंके आश्रवका द्वार रोकनेमें सक्षम हैं अर्थात् ये सम्वरका कारण बनती हैं। बताया ही गया है कि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह विजय एवं चारित्र इनमें जीवोंके शुभ अशुभ कर्मोंका सम्वर होता है। सो तीन गुप्ति तो उत्कृष्ट वृत्ति हैं। यदि कोई गुप्तिमें न रह सके, कुछ प्रवृत्तिमें आता है तो उसे समितिका पालन करना चाहिये। यह समिति आश्रवनिरोधके कारणभूत है। यद्यपि समितियोंमें प्रवृत्ति अंश भी पड़ा है पर यहाँ इन्द्रियकी प्रधानता है। सो यह सब जगह अलग-अलग बात है। वैसे तो ५ महाव्रतोंमें भी निवृत्ति बतायी गई है और प्रवृत्ति बतायी गई है पर वहाँ प्रवृत्तिपर दृष्टि है, इस कारण व्रतोंको आश्रवका कारण बताया है। भलेही वह शुभ आश्रवोंका ही कारण है, पर है तो आश्रवोंका हेतु। लेकिन समितिसे चलने, बोलने आदिककी प्रवृत्ति होनेपर भी निवृत्तिका ही लक्षण है, निवृत्तिका ही प्रयोजन है। सो निवृत्तिकी प्रधानता होनेसे इसको सम्वरका कारणभूत कहा गया है।

प्रवृत्तयः स्वातवचनस्तनूनां सूत्रानुसारेण निवृत्तयो वा।
यास्ता जिनेशाः कथयंति तिस्त्रो गुप्तीर्विधूताखिलकर्मबंधाः ॥२२९॥

साधुवोंकी गुप्तियाँ—जैसा सर्वज्ञ देवने प्रतिपादित किया है उस आगमके अनुसार मन, वचन, कायकी जो प्रवृत्ति है और इसकी जो निवृत्ति है वही गुप्ति कहलाती है। गुप्ति तीन प्रकारकी कही गई है—(१) मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एवं कायगुप्ति। जैन शासनके अनुसार मनकी प्रवृत्ति हो या मनकी निवृत्ति हो उसे मनोगुप्ति कहते हैं। जिस सहज सिद्ध स्वभाव अंतस्तत्त्वमें मनकी प्रवृत्ति हो, विचार, चिन्तन सहज स्वरूप में चले,

यह मनोगुप्ति है और वही मनोगुप्ति विषय कषायोंसे निवृत्तिरूप है। इसीलिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही बातें गुप्तिमें कही गई हैं। वचनकी प्रवृत्ति ऐसी करना कि जिसमें आत्मध्यान बने, आत्माकी अभिमुखता रहे उस प्रवृत्तिको वचनगुप्ति कहते हैं और जिसके स्वात्माभिमुखता परक वचन हो रहे हैं उसके अन्य प्रकारके वचनोंसे निवृत्ति है, इस कारण वह निवृत्ति भी हो गई। तो यह कहलायी वचनगुप्ति। शरीरका जैनागम चरणानुयोगकी विधिके अनुसार शरीरका प्रवर्तना, शरीर चेष्टायें होना, पद्मासनसे ध्यान लगाकर बैठकर शरीरको निश्चल बनाना आदिक जो शारीरिक पौरुष हैं, चेष्टायें हैं वह कायकी प्रवृत्ति है और वही स्थिति अन्य प्रकारकी काय चेष्टावोंकी निवृत्तिरूप है, सो यह कायगुप्ति कहलाती है। इस प्रकार इस छंदमें मुनियोंकी गुप्तियोंका वर्णन किया गया।

एवं चरित्रस्य चरित्रयुक्तैस्त्रयोदशांगस्य निवेदितस्य।
व्रतादिभेदेन भवंति भेदाः सामायिकाद्याः पुनरेव पंच ॥२३०॥

सम्यक्चारित्रकी त्रयोदशाङ्गता—इस परिच्छेदमें अब तक ५ व्रत, ५ समिति और ३ गुप्तियोंका वर्णन किया गया। इनके मिलनेसे चारित्र १३ प्रकारका हो जाता है। तो यह प्रकार नहीं है किन्तु अंग है। जैसे शरीरके ८ अंग कहना तो उचित है मगर शरीरके ८ प्रकार कहना यह उचित नहीं है, क्योंकि अंगोंके समुदायका नाम शरीर है। ऐसेही १३ प्रकारके जो आचरण हैं इनके समूहका ही नाम सम्यक्चारित्र है। सो ५ व्रत, ५ समिति और ३ गुप्तियोंके मिलनेसे चारित्र त्रयोदशांग हो जाता है और इस ही त्रयोदशांग चारित्रके ५ भेद अन्य प्रकारसे कहे गए हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र।

पंचाधिका विंशतिरस्तदोषैरुक्ताः कषायाः क्षयतः शमाद्वा।
तेषां यथाख्यातचरित्रमुक्तं तन्मिश्रतायामितरं चतुष्कं ॥२३१॥

सामायिकादि यथाख्यातान्त चारित्रोंकी विशेषताका संक्षिप्त दिग्दर्शन—सामायिक आदिक ५ भेदोंमें से जो यथाख्यात चारित्र है वह तो इन २५ कषाय दोषोके क्षयसे हुआ। किसीके उपशम होनेसे हुआ। तो यथाख्यातचारित्र कषायरहित आत्मवृत्तिका नाम है और शेषके जो चार चारित्र हैं वे कषायके क्षयोपशम होनेसे होते हैं। यथाख्यातचारित्र उपशम श्रेणीमें रहने वाले मुनिजनोंके औपशमिक होता है और क्षयक श्रेणीमें रहने वाले श्रवणके क्षायक होता है, पर शेष बचे हुए चार चारित्र कषायके क्षयोपशम होनेसे होते हैं। इस

जीवमें अनन्त गुण विद्यमान हैं, जैसे जाननेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति, फिर अनुभवनेकी शक्ति। इस प्रकार शक्तिके निरखनेसे आत्मामें अनन्त गुण विदित होते हैं, परन्तु वे अनन्त गुण ज्ञानावरणादिक कर्मोंके आवरणको ढक रहे हैं। तो अब जैसे उन कर्मोंका क्षयोपशम हो तो वे गुण प्रकट हों, क्षय हो तो प्रकट हों, क्षयोपशम हो तो प्रकट हों। तो चारित्र भी आत्माका एक गुण है और उस चारित्र गुणका घात करने वाला चारित्र मोहनीय कर्म है, जिसके २५ भेद होते हैं। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, जिसके उदयमें सम्यक्त्वका घात और चारित्रका घात होता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ जिसके उदयमें इस जीवके व्रतरूप भाव नहीं हो पाते। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ जिसके उदयसे जीवके सकल व्रतके भाव नहीं हो पाते। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ जिसके उदयसे जीवके यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं हो पाता। ये १६ तो कषायें हैं और ९ नोकषायें हैं। नोकषायका अर्थ है ईसत कषाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद। तो इन २५ भेदोंके क्षयसे क्षायक यथाख्यात चारित्र होता है और उपशमसे औपशमिक यथाख्यात चारित्र होता है, पर प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे सामायिक आदिक चार प्रकारके चारित्र प्रकट होते हैं। जिसके अनन्तानुबंधीका उपशम हो, क्षय हो या क्षयोपशमकी विधिमें हो, सम्यक्त्व हो गया है अब अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय इन ८ का क्षयोपशम हो मायने उदयाभावी क्षय और उपशम हो और संज्वलनका उदय हो, ऐसी स्थितिमें अभेद रूप सामायिक चारित्र होता है और अभेद पद्धतिसे उपयोग हो तो छेदोपस्थापना चारित्र होता है। परिहार विशुद्धिके साथ परिहार विशुद्धि चारित्र होता है और एक संज्वलन लोभ शेष रह गया और शेष कषायोंका उपशम या क्षय हो गया तो वहाँ सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र होता है। तो सूक्ष्मसाम्पराय चारित्रमें उपशम या क्षयकी बात है, पर संज्वलन लोभ कषायका उदय आनेसे वह विधि तो क्षायोपशमिक जैसी बनी। यों शेष चार प्रकारके चारित्रको क्षायोपशमिक कहा गया है।

सद्दर्शनज्ञानफलं चरित्रं ते तेन हीने भवतो वृथैव।
सूर्यादिसंगेन दिवेव नेत्रे नैतत्फलं येन वदंति संतः ॥२३२॥

चारित्रसे सम्यक्त्वलाभ व ज्ञानलाभकी सफलता—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके विषयमें उनकी एकताका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन करते हैं। जैसे सूर्यादिकके प्रकाशके बिना नेत्रोंका धारण करना व्यर्थ है, नेत्र तो हैं देखनेका समर्थन तो है पर है अंधेरा, न सूर्यका

प्रकाश है न दीपक आदिकका प्रकाश है तो नेत्र तो कुछ काम न कर सके, कुछ दीखा ही नहीं। तो प्रकाशके बिना नेत्रोंका धारण करना व्यर्थ है। वहाँ अभीष्ट पदार्थोंका देखना और अभीष्ट स्थान पर पहुँचना नहीं हो सकता। इसी तरह चारित्रके बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका भी धारण करना व्यर्थ है। व्यर्थ इस दृष्टिसे है कि केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे कभी अभीष्टकी प्राप्ति नहीं हो पाती। जब चारित्रगुणका विकास हो, जैसा जाना और श्रद्धान किया उस प्रकारसे उपयोग रम जाय निज स्वरूपमें, तो यह स्थिति ही तो सार्थक स्थिति कहलाती है। इसमें किसीको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो हुआ और सम्यक्चारित्र न हुआ तो अभीष्ट अंतस्तत्त्व में रमने और पहुँचनेकी सम्भावना न हुई, इस कारक इसको व्यर्थ कहा गया है। सारांश यह है कि चारित्रको अवश्य धारण करना चाहिये क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसे जो प्रकाश पाया है उसकी सफलता सम्यक्चारित्रसे है। जसे कि कोई औषधिकी श्रद्धा करे और औषधिका खूब ज्ञान भी रखे कि यह अच्छी औषधि है, इससे रोग दूर होगा तो भी जब तक औषधिको न पीवे तब तक उसका औषधियोंका जानना, श्रद्धान करना किस काम का? ऐसे ही यदि सम्यक्-चारित्रकी बात न बने तो कहा गया है कि फिर श्रद्धान और ज्ञान करना व्यर्थ है यानें फलवान न हो सका।

कषायमुक्तं कथितं चरित्रं कषायवृद्धावपघातमेति।
यदा कषायः शममेति पुंसस्तदा चरित्रं पुनरेति पूतं ॥२३३॥

कषायवृद्धिसे चारित्रविनाश व कषायशमनसे चारित्रविकास—चारित्र कहते हैं कषायके अभावको। आत्मामें कषायें न जगें और अपने सहज ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वमें रमे वह चारित्र कहलाता है। तो चारित्र कषायके अभाव बिना सम्भव नहीं है। तो जिस जीवके कषायोंका अभाव नहीं हो पाता उस जोवके कषायोंकी वृद्धि होने लगती है, और जब कषायें बढ़ती हैं, कषायोंपर दृष्टि है, लगाव है तो इसका चारित्रगुण भी नष्ट होने लगता है। सो कषायोंका अभाव होनेसे उपयोग शान्त अपने स्वरूपके अनुसार हो जाता है। बस यही आत्माकी पवित्रता है कि इसके कषायभाव न रहे और अपने सहज अन्तस्तत्त्वमें यह मैं परम पदार्थ हूँ, ऐसी भावना बने यह ही वास्तवमें चारित्र कहलाता है।

कषायसंगो सहते न वृत्तं समार्द्रचक्षुर्न दिनं च रेणुं।
कषायसंगो विधुनंति तेन चारित्रवंतो मुनयः सदापि ॥२३४॥

चारित्रपालनके लिये कषायन्यावृत्तिकी अनिवार्यता—जहाँ सम्यक्चारित्र होता है

वहाँ क्रोधादिक कषायें या धनधान्यादिक बाह्य परिग्रहकी स्थितिको यह ज्ञानी नहीं सह सकता। जैसे कि किसीकी आँख दुःखती है, ललाई आदिक होने लगती है तो वह दुःखित आँखोंसे सूर्यका प्रकाश या धूलके कणोंको नहीं सह सकता, ऐसे ही चारित्रभाव भी क्रोधादिक कषायोंको और धन-धान्यादिक परिग्रहके कणोंको नहीं सह सकता। यदि कषायभाव आ जाय तो चारित्रमें दोष आयगा। कहो कभी चारित्रका घात भी हो जाय। इसी प्रकार धन-धान्यादिक बाह्य परिग्रहोंकी मौजूदगी रहे तो वहाँ भी चारित्र नहीं टिक पाता। इस कारण जो सम्यक्चारित्रको निर्दोष रीतिसे पालना चाहते हों वे मुनिजन कषायोंको और परिग्रहोंको अपने पास न फटकने दें, क्योंकि कषाय होनेसे चारित्रका घात है और परिग्रह होनेसे कषायभाव होनेका साधन है। अतः कल्याणार्थी पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे दूर रहें।

निः शेषकल्याणविधौ समर्थं यस्यास्ति वृत्तं शशिकांतिकांतं।
मर्त्यस्य तस्य द्वितयेऽपि लोके न विद्यते काचन जातु भीतिः ॥२३५॥

चारित्रसे सकलकल्याणलाभ—निर्दोष चारित्र पालन करनेसे समस्त कल्याणकी प्राप्ति होती है। संसारमें ऐसा कोई भी दुर्लभ पदार्थ नहीं है जो चारित्रके पालनसे न मिलता हो। बात यहाँ यह समझना कि जिस जीवने अविकार स्वभाव सहज चैतन्य तत्त्वको जाना, उस ही तत्त्वका श्रद्धान किया, उस ही सहज अंतस्तत्त्वमें उपयोगको रमाया तो अब उसे चाहिए क्या? संसारका कोई भी बाह्य परिग्रह कण उनकी चाह कोटिसे बाहर है। तो जहाँ कुछ भी चाह नहीं है वहाँ सब कुछ ही मिला समझियेगा। तो सब कुछ चारित्रभावसे ही प्राप्त होता है, यह जानकर चन्द्रज्योत्सनाके समान स्वच्छ चारित्रको धारण करने वाले जो लोग होते हैं वे ही इहलोक और परलोक दोनोंमें निर्भय सुखको प्राप्त करते हैं। आत्मा पर विपत्ति है तो यही है कि अपने स्वभावमें नहीं रम पाते। सो स्वभावमें जो रम सके उसके लिए कोई कष्ट और संकट होते ही नहीं हैं। सो चारित्रधारी इहलोक और परलोक दोनोंमें भयरहित, बाधारहित आत्मीय आनन्दको प्राप्त करते हैं।

न चक्रनाथस्य न नाकिराजो न भोगभूजस्य न नागराजः।
आत्मस्थितं शाश्वतमस्तदोषं यत्संयतस्यास्ति सुखं विबाधं ॥२३६॥

चारित्रसे अलौकिक आनन्दका अनुभव—संयमी पुरुषके जो आनन्द उत्पन्न होता है वह आनन्द चक्रवर्तीको प्राप्त नहीं है क्योंकि चक्रवर्तीकी दृष्टि तो बाह्य पदार्थोंमें चाहे

कितना ही संयोग मिला हो, छह खण्डका राज्य मिला है मगर जिसकी दृष्टि परकी ओर है उसको आनन्द कैसे कहा जा सकता है ? वहाँ तो क्षोभ ही है। तो संयमी जीवके जो आनन्द होता है उसके सामने नागेन्द्र या स्वर्गोंके इन्द्रकी सम्पत्ति भी तुच्छ है। आखिर वह पौद्गलिक ढेर ही तो है। किसी भी बाह्य पदार्थसे आत्मतत्त्वमें कुछ कष्टकी बात नहीं हो सकती। सो इन्द्रके वैभवमें भी वह आनन्द नहीं है जो संयमी जीवोंमें पाया जाता है। संयमी जीवोंके आनन्दको कोई भोग भूमिया जीव पा नहीं सकता। भोग भूमिया मनुष्य भोगकी स्थितिमें ही तो रमा करते हैं। सुख पा रहे मगर उस सुखकी कीमत क्या ? पीछे भी क्षोभ हो रहा है और उसके फलमें संसारके दुःख ही भोगने पड़ेंगे। तो भोग भूमिके सुख संयमी जनोंके आनन्दकी तुलना नहीं कर सकते। क्योंकि अन्य सुख इस आनन्दकी तुलना नहीं कर पाते कि यह आनन्द स्वमें स्वके उपयुक्त रहनेसे प्रकट होता है, पराधीन नहीं है यह आनन्द। जब ही दृष्टिकी, जब ही अपने स्वरूपको देखा तब ही वह आनन्द इस संयमीको प्राप्त होता है। कल्याणार्थी जीवका कर्तव्य है कि बाह्य पदार्थोंको तुच्छ समझे और अपने आपकी दृष्टिसे बने तब वह आनन्द प्राप्त हो। आत्मा पवित्र बने तो यह उनके कल्याणकी बात है। ये मायामयी जगतके मायामयी लोग मेरा क्या सुधार कर सकेंगे जिनके लिए यश चाहने वाले लोग नाना प्रकारकी कीर्तिकी चेष्टायें करते हैं। कोई दूसरा इस आत्माको कुछ भी देनेमें समर्थ नहीं है। यह ही आत्मा अपने सहज स्वरूपको सम्हाले तो उसे आनन्द प्राप्त होता है।

निवृत्तलोकव्यवहारवृत्तिः सन्तोषवानस्तसमस्तदोषः।
यत्सौख्यमाप्नोति गतांतरायं किं तस्य लेशोऽपि सरागचित्तः ॥२३७॥

चारित्रलभ्य आनन्दकी सरागचित्त द्वारा अलभ्यता—जो पुरुष जो साधक सांसारिक समस्त व्यवहारोंसे अपनी वृत्ति हटा लेता है, व्यवहारमें नहीं जगता, व्यवहारमें दृष्टि होने पर केवल आकुलता और भावोंकी परतंत्रता ही चलती है। साधक वही है, मुनि वही है जो सांसारिक समस्त व्यवहारोंसे अपनी वृत्ति हटा लेता है। कल्याणार्थी पुरुष ज्ञानीजन ऐसे ही साधकोंकी उपासनामें रहते हैं। जो लोग जगतके व्यवहारमें ही प्रेम किए हुए हैं उन साधक जनोंसे ज्ञानीजन क्या बोलेंगे ? संसारकी निवृत्तिका कोई दूसरा आदर्श न मिलेगा। वास्तविक आदर्श वही है जो सांसारिक व्यवहारोंसे अपनी दृष्टि हटा लेता है और इस कारण जो संतुष्ट रहता है, जिसने समस्त दोषोंको नष्ट कर संतोष प्राप्त कर लिया है वह पुरुष जितना निराबाध सुख प्राप्त करता है उसका हजारवाँ हिस्सा भी रागी

पुरुष प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मदृष्टिसे, आत्माश्रयसे स्वाधीन होने वाला आनन्द वास्तविक आनन्द है, और जिन सुखोंमें अनेक बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा रखनी पड़ती है, वे सुख वास्तवमें सुख हो नहीं हैं।

ससंशयं नश्वरमंतदुःखं सरागचित्तस्य जनस्य सौख्यं।
तदन्यथा रागविवर्जितस्य तेनेह संतो न भजंति रागं ॥२३८॥

सरागके सुखमें और विरागके सुखमें अन्तर—जो मनुष्य ज्ञान सहित हैं वे विनाशीक सुखका अनुभव करते हैं, जिनका चित्त रागमें ही है, राग ही जिनको सुहाता है, रागमें ही जो विश्राम पाते हैं वे पुरुष राग रहित आत्माके स्वभावको क्या जानेंगे? जब राग रहित आत्माके स्वभावको जान न सके तो वास्तविक आनन्दका अनुभव क्या करेंगे? वे तो कल्पनाजन्य इन्द्रिय सुखोंमें ही सुख पानेका अनुभव करते हैं। ये इन्द्रिय सुख विनाशीक हैं, क्योंकि सुखके आधारभूत, आश्रयभूत बाह्य पदार्थ सदा नहीं रहते, इनका चित्त भी स्थिर नहीं रहता, इस कारण ये सब विनाशीक हैं। इन्द्रिय सुख अन्तमें नियमसे फल देने वाले हैं। जैसे कि यही अनुभव होता है कि विषय सुखोंको भोगना है तो उसके फलमें पछतावा होता है, निर्बलता होती है, शारीरिक संकट आते हैं, व्याधियाँ होती हैं, कोई अच्छा फल नहीं निकलता। फिर पापका जो बंध किया उसके फलमें अगले भवमें खोटी दशायें पाते हैं। ये इन्द्रिय सुख अन्तराय सहित हैं। जिस वस्तुको भोग रहे हैं वह वस्तु बिगड़ जाय, न रहे, उसे कोई छीन ले यह भी अन्तराय है अथवा भोगने वाली इन्द्रिय बिगड़ जाय वह भी अन्तराय है, या चित्त उस ओर न रहे, बिगड़ जाय तो वह भी अन्तराय है। पापका उदय आनेसे अनेक ऐसे अन्तराय आते हैं, तो इन्द्रिय सुखमें अन्तराय बहुत पड़े हुए हैं। ऐसे सुखोंका अनुभव रागी जीव किया करते हैं, किन्तु जो विरागी पुरुष हैं, जिनका रागमें चित्त नहीं है वे अविनाशी सुखका भोग करते हैं। आत्मा स्वयं सुखमय है और सुख स्वरूप आत्मा दृष्टिमें आये, अन्य कोई दृष्टिमें न रहे तो वहाँ जो आनन्द मिलता है वह अविनाशी आनन्द है, खुद सदा रहता है तो आश्रयभूत स्व कहीं जा नहीं सकता। अतएव इस ओरसे देखें तो आनन्द सदा रहना चाहिये। आत्माकी दृष्टि शुद्ध होने पर, राग रहित होने पर स्थिर ही रहता है। अस्थिरताका कारण तो रागद्वेष मोह है। तो विराग पुरुषकी दृष्टिमें स्थिरता रहती है, इस कारण आत्मीय सुख अविनाशी सुख है। यह आत्मीय आनन्द स्वभावतः उत्पन्न होता है। इसमें कर्मोदय आदिककी आवश्यकता नहीं होती है। अनैमित्तिक आनन्द है, इस कारण सदैव रहा करता है। तो आत्मीय आनन्द

नित्य है और सदा मधुर है। जिस समय आनन्द भोग रहे उस समय भी अलौकिक आनन्द आ रहा, परम आह्लाद भी अनुभव हो रहा और उसके फलमें यही आनन्द मिलेगा। कोई कर्मबंध न होगा, कोई अंतरायकी बात नहीं आ सकती। ये सदा मधुर हैं और आत्मीय आनन्दमें कोई अन्तराय भी नहीं आता। अन्तराय उसे कहेंगे कि जो पराधीन सुख है और परका वियोग हुआ तो वह अन्तराय वाला बन गया। अब यहाँ स्वका ही तो आनन्द अनुभव रहा। स्वकी दृष्टि ही आनन्दको भोगती है और यह सब स्वाभाविक है। सदैव रहता है तो इस आनन्दमें क्या अन्तराय आयगा। इस कारण जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, हित अहितके जानकर हैं वे रागद्वेष मोहसे सदैव दूर रहा करते हैं।

विनिर्मलं पार्वणचंद्रकांतं यस्मास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञः।
मानी कुलीनो जगतोऽभिगम्यः कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धिः ॥२३६॥

निर्मल चारित्रवान पुरुषकी सम्माननीयता—जिस पुरुषका चरित्र पूर्णमासीके चन्द्रकी तरह कान्त है, निर्मल है वही वास्तवमें मानी पुरुष है। यहाँ मानीका अर्थ घमंड करने वाला नहीं किन्तु जगतके द्वारा मान्य है। जिसको लोग गौरवके साथ देखते हैं, जिसका नाम गौरवके साथ लेते हैं ऐसा श्रेष्ठ पुरुष है वह जिसका चरित्र निर्मल है। चारित्रकी निर्मलता रागद्वेषके दूर होनेसे होती है, क्योंकि जो भी पाप बंधते हैं या इन्द्रिय विषयोंमें कुछ भी प्रवृत्ति जगती है तो उसका कारण है राग और द्वेष। तो जहाँ राग और द्वेष नहीं रहा, वहाँ चारित्र निर्मल होता है। तो ऐसा निर्दोष चारित्र वाला पुरुष ही इस जगतमें मान्य है और वही कुलीन है। श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न होनेको कुलीन कहते हैं। आत्माका श्रेष्ठ कुल है चेतन। अरहंत भगवान इस विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमें ही रम रहे हैं, इसी कारण ही वो सर्वोत्कृष्ट हैं। तो वही वास्तवमें कुलीन पुरुष है जिसका चारित्र निर्मल होता है, श्रेष्ठ पुरुष भी वही है जिसका चारित्र निर्दोष है। लोग श्रेष्ठ चारित्र वाले पुरुषकी ही प्रशंसा करते हैं और वही वास्तवमें श्रेष्ठ समझा जाता है। तो निर्मल चारित्र वाला पुरुष जगतमें श्रेष्ठ है और उस ही का जन्म कृतार्थ है याने जन्म सफल होगा। जगतमें ये जीव अनादि कालसे रागद्वेषवश परवस्तुवोंमें ही रमते चले आये हैं। यह जीवके लिए बड़ा कलंक है। जीव स्वयं तो ज्ञानानन्दस्वरूप है और परवस्तुमें बुद्धि अटकनेसे न ज्ञानका विकास चल रहा, न आनन्दगुणका शुद्ध परिणमन चल रहा। तो जो भी इस रागद्वेषमें जानकारी है, प्रवृत्ति है वह सब इस जीवके लिए कलंक है। तो ऐसा कलंक भव भवमें लगाता चला आया है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन चार संज्ञावोंके वश होकर दुःखी होता चला आया है तो उस

जन्मकी क्या कृतार्थता है ? उस जन्मकी कृतार्थता है जिसमें यह जीव समस्त बाह्य पदार्थोंसे चित्त हटाकर केवल शाश्वत सहज स्वरूपमें ही चित्त रमे वही पुरुष वास्तवमें श्रेष्ठ है और उस ही का जन्म सफल समझा जाता है। ऐसे ही पुरुषकी बुद्धि सम्माननीय है जिसका चित्त वैराग्यकी ओर जाय।

गर्भे विलीनं वरमत्र मातुः प्रसूतिकालेऽपि वरं विनाशः।
असंभवो वा वरमंग भाजो न जीवितं चारुचरित्रमुक्तं ॥२४०॥

चारित्रहीनों के जीवनकी निन्द्यता—जो पुरुष निर्दोष चारित्रसे रहित हैं याने दुराचारी हैं, पापोंमें जिनकी बुद्धि फसी है उनका जीवन निन्द्यनीय है। जिन्होंने जन्म लेकर किशोर, युवक बनकर खोटे विषयोंमें प्रवृत्ति डाली है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह इनमें ही जो रम रहे हैं और इनके लिए निन्द्यसे निन्द्य कार्य कर बैठते हैं, उनका जीवन क्या जीवन है ? निन्द्यनीय जीवन है, बेकार जीवन है और उनके विषयमें आचार्य कहते हैं कि वे यदि अपनी माताके गर्भमें ही विलीन हो जाते तो उत्पन्न होते ही मर जाते तो वह अच्छा था क्योंकि इस जीवनसे लाभ उन्हें क्या मिला या बाहर निकलकर ही मर जाते अथवा इस पर्यायमें ही पैदा न होते तो अच्छा था। मर जाना या मनुष्य पर्यायमें न होना यह तो किसी कदर अच्छा है क्योंकि इसने मनुष्य पर्याय न पायी। इस कारण कोई तपश्चरण आदिक न कर सके, यह कहनेके लिए तो रहा या यह बात तो रही कि बेचारा यह चौइन्द्रिय जीव, एकेन्द्रिय जीव क्या करे ? उसका उदय ही ऐसा है, भव ही ऐसा है कि न संयमकी योग्यता है, न आत्मीय आनन्दकी पात्रता है तो उसको तो यों ही टल जायेगा, पर जो मनुष्य होकर ऊधमी बने, स्वच्छंद विषयोंमें रमण करने वाला बने, चोर, डाकू, वेश्यागामी, शराबी, मांसभक्षी अनेकोंको धोखा देने वाला, दिन दहाड़े लूटने वाला, जिस चाहेको मारने पीटने वाला, ऐसा कोई उपद्रवी बन जाय तो उसके लिए धिक्कार है कि ऐसा श्रेष्ठ समागम पाया था तिस पर भी कुबुद्धिसे यह खोटे पथमें चला गया। उसके लिए कह रहे हैं कि वह इस पर्यायमें पैदा ही न होता या गर्भमें या बाहर निकलते ही मर गया होता तो यह अपेक्षाकृत अच्छा है उससे कि मनुष्य जीवन पाया और अनेक तरहके पाप किया। तो जिसने श्रेष्ठ इस मनुष्य पर्यायको पाकर चारित्र धारण नहीं किया उसको मनुष्य पर्यायका पाना सर्वथा निरर्थक है।

निरस्तभूषोऽपि यथा विभाति पवित्र चारित्रविभूषितात्मा।
अनेक भूषाभिरलंकृतोऽपि विमुक्तवृत्तो न तथा मनुष्यः ॥२४१॥

निर्दोष चारित्रवानकी सहज शोभा—वास्तविक श्रंगार है इस मनुष्यका तो निर्दोष चारित्र श्रंगार है। दुनियाके चित्तमें आदरके योग्य यदि कोई बात है, किसी पुरुषके सम्बन्धमें तो वह उसका निर्दोष चारित्र ही है। तो निर्दोष चारित्रसे सहित पुरुष चाहे भूषणोंसे रहित हो, कैसे ही शरीर वाला हो उस पुरुषकी शोभा होती है, वैसी शोभा नाना प्रकारके आभूषणोंसे सुसज्जित चारित्रहीन पुरुषोंकी नहीं हो सकती। इसलिए जो सोना चांदी आदिक गहने हैं वे सब पार्थिव भूषण है, उनसे आत्माका क्या श्रंगार बनता है? चारित्र उत्तम हो, निर्मल हो, दया आदिकसे विभूषित हो वह पुरुष श्रंगार रहित हो तो भी वह श्रंगार सहित है। उत्तम श्रंगार उसके भीतरकी दृष्टिका बना हुआ है। तो आभूषण रहित भी पवित्र चारित्रसे विभूषित आत्मा जैसे शोभित होता है वैसे अनेक आवरणोंसे अलंकृत चारित्रहीन पुरुष शोभाको प्राप्त नहीं हो सकता।

सद्दर्शनज्ञानतपोदयाद्याश्चारित्र भाजः सफला समस्ताः।
व्यर्थाश्चरित्रेण बिना भवंति ज्ञात्वहे संतश्चरिते यतंते ॥२४२॥

चारित्रके सम्पर्कसे सर्वगुणोंकी महनीयत—अहिंसा आदिक तपश्चरणोंसे संयुक्त पुरुष त्रयोदशांग चारित्रके धारण करने वाले पुरुषके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, रमण, शान्ति आदिक समस्त गुण सफल हैं। चारित्रके रहने पर सर्व गुणोंका श्रंगार बढ़ जाता है, किन्तु जो चारित्रसे रहित हैं उनके वे सारे गुण निरर्थक हैं। कोई पुरुष परस्त्री लम्पटी है, शराब खोर है, मांस भक्षी है. दुनियाको सताने वाला है, चारित्रहीन है। उस पुरुषमें यदि कोई गुण हो, कोई कला विशेष हो तो भी वह व्यर्थ है। वह कोई सफल नहीं कहलाता। उन गुणोंके कारण उनकी शोभा लोकमें नहीं हो पाती और जो चारित्रसे रहते हैं उनके सारे गुण निरर्थक हैं लेकिन जो अहिंसक हैं वे सदा सत्य बोलने वाले हैं। किसी भी वस्तु पर कभी भी चित्त नहीं डिगाते हैं, पर स्त्रीके प्रति माता, बहिन पुत्रीके समान दृष्टि रहती है, उनके प्रति स्वप्नमें भी कामवासना नहीं जगती। जो तृष्णा रहित है, जो श्रमण ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति इन १३ प्रकारके अंगों सहित चारित्रके धारण करने वाले हैं उनके सम्यक्त्वकी बड़ी शोभा है। लोग कह उठते हैं कि जैसी आस्था है वैसा ही करके दिखाया है। उनके ज्ञानकी बड़ी शोभा है। वे तपश्चरण करें, इन्द्रियका दमन करें, वे भी बड़े सफल हैं। तो चारित्रके होने पर समस्त गुण फल वाले बनते हैं, इस कारण जो विवेकी पुरुष हैं वे हमेशा चारित्र धारण करनेका प्रयत्न करते हैं।

१०. जातिनिरूपण

अनेकमलसंभवेकृमिकुलैः सदा संकुलेविचित्र बहुवेदने बुधविनिंदिते दुःसहे ।
भ्रमन्नयमनारतं व्यसनसंकटे देहवान् पुरार्जितवशो भवेभवति भामिनीगर्भके ॥२४३॥

जीवपर अनादिसे जन्मसंकट—ये प्राणी पूर्वोपार्जित कर्मोंके वशसे नाना दुःखोंसे परिपूर्ण योनियोंमें भ्रमण करते करते स्त्रीके महा निन्द्यनीय अनेक मलोंसे उत्पन्न कीड़ावोंके समूहसे व्याप्त गर्भाशयमें देह धारण करते हैं और वहाँ विचित्र दुःसह वेदनायें भोगते हैं। इस परिच्छेद में पाये हुए जन्मकी चर्चा की जा रही है। ये प्राणी अनादि कालसे अपने कमाये हुए कर्मोंके उदयके अनुसार नाना दुःखोंसे भरी योनियोंमें भ्रमण करते चले आये हैं। अनन्त काल तो उन्हें निगोदमें बीता जहाँ एक श्वांसमें १८ बार जन्म मरण करना पड़ा। इसीमें अनन्त काल खो दिया। सुयोगसे वहाँसे निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति हुए। ये निगोद साधारण वनस्पति कहलाते। अब यहाँ प्रत्येक वनस्पति तक बने लेकिन वहाँ भी कितना दुःख है। काटना, छेदना, भूनना, फलोंका मसलना आदि कितनी ही प्रकारके दुःख हैं। उन्हें भी यह जीव सहता आया। वहाँसे कुछ विकास हुआ तो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय आदिक हुआ। वहाँ भी अनेक दुःख कैसा रहने लगे, उन कीड़ों मकोड़ोंको यों ही सता डालते हैं, अन्य पशु पक्षी आदिक यों ही खा डालते हैं तो वहाँ भी बड़ा कठिन दुःख भोगा। पशु पक्षी आदिक हुए तो सर्वत्र दुःख ही दुःख भोगा। अब कुछ सुयोगसे मनुष्य जन्ममें आता है, तो कहाँ तक देह धारण किया यह बात इस छंदमें बतायी गई है। गर्भाशयमें देह धारण करता है जहाँ अनेक मल भरे पड़े हैं। कीड़ोंके समूहसे व्याप्त है, महानिन्द्यनीय है, जिसमें रहना एक घबड़ाहट जैसी ही जगह है, पर उस गर्भाशय में वह रहता है, नाना दुःसह वेदनायें सहता है। बताते हैं कि गर्भाशयमें यह बालक औंधे मुख लटके रहता है। शरीर उसका फसा रहता है। परस्पर मिला रहता है। गर्भाशय ही तो है। तो ऐसे अनेक दुःख यह जीव गर्भमें रहकर भोगता है।

शरीरसुखावहं विविधदोषवर्चोगृहं सशुक्ररुधिरोद्भवं भवभृता भवे भ्राम्यते ।
प्रगृह्य मनसंततेर्विदधता निमित्तं सरागमनसा सुखं प्रचुरमिच्छता तत्कृते ॥२४४॥

क्लेशनिदान शरीरकी रुचिसे जीवोंकी जन्मव्यसनसंतति—यह शरीर दुःखका देने वाला है। शरीर भिन्न वस्तु है। इस पुद्गलसे आत्माका क्या नाता है? कहाँ तो यह

चैतन्यमात्र वस्तु और कहाँ यह शरीर पौद्गलिक घिनावना। इस शरीरका सम्बन्ध नाना दुःखोंका उत्पादक है। व्याधियाँ शरीरमें होती हैं। मान अपमानकी बुद्धि यह जीव शरीरके कारण करता है, जब शरीरको समझा कि मैं हूँ तब यह कल्पना जगती कि इस मनुष्यने मुझको गाली दी है। कोई यदि शुद्ध चैतन्यमात्र आत्माको समझे कि मैं यह हूँ जो अमूर्त है, केवल चित्प्रतिभास मात्र है, ऐसा समझने वालेके हृदयमें यह बात न आयगी कि इसने मुझको कुछ कहा। तो मान अपमान इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदिक जितने हैं वे सब शरीरके कारणसे हैं। किसी शरीरधारीने किसी शरीरधारीसे इष्ट अनिष्ट सम्बन्ध मान लिया जिससे वह कष्ट पाता है। तो जितने भी दुःख हैं वे सब इस शरीरके सम्बन्धसे हैं। सो शरीर दुःख ही देने वाला है। इस कारण जो विवेकी पुरुष है वह एक ही निर्णय रखता है कि मुझको तो शरीर रहित होना है। शरीरको बराबर लिपटाये रहनेसे इस मुझ आत्माको क्या लाभ है? कष्ट ही कष्ट पाया जा रहा है। तो आत्मा जैसा अपने आपमें अमूर्त शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें है उस रूपमें अपने आपको पाये, यह विवेकीका पौरुष होता है। तो यह शरीर दुःखका उत्पन्न करने वाला है। यह शरीर नाना दोष और मल मूत्रका घर है। इस शरीरमें है क्या? इसे आँखों देख सकते हैं। चमड़ा, हड्डी, खून, मल मूत्र आदि अपवित्र वस्तुवोंका ही तो यह भण्डार है, जिसे देखकर यह जीव निरख रहा है कि देह कितना अपवित्र है। ऐसे अपवित्र देहसे रुचि बने यह जीवके लिए कितना बड़ा कलंक है। तो महान विषका ऐसा ही प्रभाव है कि यह अपने सहज स्वरूपकी हत्या करता चला जा रहा है। अपने प्रभु स्वरूपकी सुध नहीं लेता तो यह शरीर नाना दोषोंका घर है। जगतकी जो अधिकसे अधिक गंदी वस्तुवें हैं वे सब वस्तुवें इस शरीरमें पायी जाती हैं। तो इस शरीरको देखकर जो जीव प्रेम करते हैं, सुहा जाते हैं, कैसा रूप है, कैसा आकार है, इस तरह जिनके चित्तमें कल्पनायें उठती हैं उनपर मोहका विष चढ़ता है और वे अपने इस दुर्लभ जीवनको व्यर्थ खो रहे हैं। यह देह उत्पन्न भी तो रज वीर्यसे हुआ है। जो अपवित्र है, गंदी चीज है, जिसका छूना, देखना भी एक घृणाको उत्पन्न करता है, ऐसी घृणित वस्तुसे इस जीवका देह उत्पन्न हुआ है, ऐसा कठिन दुःखदायी यह शरीर है, मगर उसके प्रेममें अंधा होकर इस देहके सुखके लिए यह जीव नाना प्रकारके उपायों को रचता है। रात दिन मोही जीवोंकी धुन इस शरीरके पालनके लिए रहती है। कैसा सुन्दर बढ़िया खाना होना चाहिए। स्पर्शन इन्द्रियका भी सुख, स्त्री सुख, प्रेमवार्ता, राग भरी बातोंमें रमण करना, ये सारी स्वच्छंदतायें यह प्रेम में अंधा हुआ पुरुष कर रहा है। देहके आसक्त

जीव इस देहसे काम नहीं लेना चाहते। इस देहको आराममें रखना पसन्द करते हैं, कैसे कैसे ठाठ, कमरेकी सजावट, कुर्सी, पलंग, देहको निरखकर कैसा अपने आपमें घमंड करते हैं। मैं इन लोगोंमें सबसे ऊँचा हूँ आदिक कैसी ही अवस्थायें बताते हैं। सो यह जीव जन्म-मरणके कारणोंका ही संग्रह कर रहा है। सो देहमें आसक्त हुआ यह जीव चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता है।

किमस्य सुखमादितो भवति देहिनो गर्भके किमंगलभक्षण प्रभृतिदूषिते शैशवे।
किमंगज कृतासुखव्यसनपीडिते यौवने किमंगगुणमर्दनक्षमजराहते वार्धके ॥२४५॥

जीवनमें प्रारम्भसे अन्त तक क्लेश—इस मनुष्य जीवनमें अथवा किसी भी जीवनमें इन प्राणियोंको किसी भी अवस्थामें सुख नहीं मिलता। एक मनुष्य की ही बात देख लो जब वह गर्भमें रहता है तब तो अंगके सिकुड़नेसे गर्भमें ही बड़े दुःख पा रहा है, अंग सिकुड़कर पड़ा रहा, अंग फैलानेका अवकाश नहीं, ऐसी स्थितिमें बड़ा कठिन दुःख होता है। जब वह लड़का बाहर निकलता है तब अबोधसा होता। कहो वह अपना ही मल या दूसरेका मल हाथसे उठाकर अपने मुखमें रख ले। कितनी ही तकलीफें उठाता रहता है। कुछ और बड़ा हुआ तो बचपनके, किशोर अवस्थाके बड़े-बड़े दुःख हैं, जिसे प्रायः सभी लोग अनुभव कर चुके हैं। अपनी युवावस्थामें यह प्रवेश करता है तो कामजन्य पीड़ावोंसे पीड़ित रहता है, जब वृद्ध हो जाता है तो शरीरकी कान्ति नष्ट हो जानेसे दुःख भोगता है। तो एक मनुष्यकी ही क्या कहानी है? मनुष्यको सब अवस्थावोंमें दुःख भोगना पड़ता, ऐसे ही सभी गतियोंमें इस जीवको बहुत कठिन दुःख भोगना पड़ता है। तो इस जाति अतिरिक्त जन्ममें कहाँ कल्याण रखा है? जन्मरहित अवस्था ही इस जीवका कल्याण रूप होता है।

किमत्र विरसे सुखं दयितकामिनी सेवने किमन्यजन दुर्लभे द्रविण संचये नश्वरे।
किमस्ति भुवि भंगुरे तनयदर्शने वा भये यतोऽत्र गंतचेतसा तनुमता रतिर्वध्यते ॥२४६॥

जीवोंका निःसार समागमोंमें प्रेम होनेसे संसारमें संसरण—इस लोकमें किस जगह सुख तलाशा जाय? रसहीन, जहाँ आत्माका रस नहीं है ऐसे जगतके सारे कल्पित सुख ये सब क्षोभसे भरे हुए हैं। सुन्दर स्त्रियोंके सेवन करनेसे यह कामी सुख मानता है जो कि एक कलंक है। कहाँ तो ज्ञानमात्र अमूर्त परमात्मस्वरूपके समान आत्मा और कहाँ इसकी दृष्टि गई, कहाँ उपयोग फंसा और कहाँ गन्दे कार्योंमें लग गया। इसके अतिरिक्त उन्हें

कल्पित सुखोंमें अन्तमें अवश्य ही दुःख उठाना पड़ता है। अनेक मनुष्य बड़े यत्नोंसे कठिनता पूर्वक धनका संचय कर लेते हैं और उसमें सुख मानते हैं, पर वहाँ भी सुख कहाँ? तो वे धन समागम सब विनश्वर और क्षमःशील हैं। करोड़ोंका भी धन संचित हो जाय लेकिन उससे इस जीवनमें भी सुख नहीं मिल पाता। अनेक चिन्तायें, अनेक शल्य अनेक उपसर्गोंका सामना करना पड़ता, कहीं डाकू लोग धन हर ले गए, कहीं चोर चुरा ले गए, कहीं अनेक अफसर लोग सताने लगे, कहीं राजा छीनने लगे, यों अनेक दुःख हैं, ये सब दुःख हुए तृष्णाके कारण। जीवित अवस्थामें भी इस धनका वियोग अनेक कारणोंसे हो सकता, नहीं तो मरने पर तो सब धन छूट ही जाता है। तो धन संचयसे भी सुख नहीं है, क्योंकि वह भी अन्तमें विनाशशील होनेसे दुःखदायी है। अनेक लोग पुत्रके उत्पन्न होनेमें सुख समझते हैं, पर वह काहे का सुख? पुत्र है क्या? अशुद्ध जीव। अनेक गतियोंमें जन्म ले लेकर, अनेक योनियोंमें परिभ्रमण कर अपनी करतूतके अनुसार इस घरमें जन्म लिया है। है तो भिन्न जीव और वह अपने कर्मानुसार ही अपनी अवस्थायें बना रहा। उसमें किसी दूसरेका कुछ प्रवेश नहीं है, फिर अन्तमें वह भी विनाशीक है। या तो पहले पिता गुजर गया तो पुत्रको वियोग हुआ, या पहले पुत्र गुजर गया तो पिताको वियोग हुआ, फिर भी कैसा आश्चर्य है कि यह उन वियोग होने वाली वस्तुवोंसे ही प्रेम करता है और यह भगवान आत्मा अपने सहज आनन्द विलासको तजकर पराधीन सुखोंमें रमकर व्यग्र रहता है, यत्र तत्र डोलता फिरता है। इसको कहीं ठिकाना नहीं मिल पाता।

गतिर्विगलिता वपुः परिणतं हृषीकं मितं कुलं नियमितं भवोपि कलितः सुखं संमितं।
परिभ्रमकृता भवे भवभृता छटीयंत्रवद्भव स्थितिरियं सदा परिमिताप्यनंता कृता॥
२४७॥

जीवका मोहमें जन्मसंततिका अपरिमित कर डालना—यह जीव जो कुछ प्राप्त करता है वह सब परिमित है। यह जीवन भी परिमित है. जिस गतिमें उत्पन्न हुआ उस भव तक ही वह गति है। यह शरीर एकदम बदलता रहता है। क्या पता कि यह कितने दिन जीवित रहे। मरण कर गया, शरीर छूट गया, लोगोंने इस शरीरको जला डाला। जो शरीर जल जाने वाला है उससे मोह करते हुए इस भगवान आत्माको लाज नहीं आती। तो शरीर भी किसका कब रहता है? विनाशीक है। इन्द्रियाँ मिलीं तो प्रथम तो यह ही देखें कि कैसी अटपट रचना जीवोंको पायी जा रही है, हाथीके पैर, हाथीको नाक, मुख, कानकी कैसी रचना है। पक्षियोंके पैर, पक्षियोंके हाथ, पर बन गए। कैसी नाक है, कैसे

कान हैं, भिन्न-भिन्न ढंगके जीव इस इन्द्रिय रचनामें आते हैं। प्रथम तो यह ही एक बहुत विडम्बना है जैसा कि दीख रहा है। फिर ये इन्द्रियाँ भी किसको सदा काम देती रहीं ? मरने पर तो वियोग हो ही जाता। पर कुछ द्रव्येन्द्रियाँ तो इस जीवके जीवनमें ही खतम हो जातीं। उनका काम बंद हो जाता है। ये इन्द्रियाँ विनश्वर हैं। कुल—कोई किसी कुलमें उत्पन्न हुआ, आजकल तो कुलके नामपर लोग दूसरोंसे घृणा करते हैं और ये ही मरकर उससे भी नीच कुलमें उत्पन्न हो जायें तो वे क्या करें ? कहाँ छोड़कर जायें ? तो यह कुल यह सब विनाशीक है, परिमित है। जन्म—कहीं जन्म हुआ, किसी भवमें कितना जीवन रहा, सुख भी परिमित है, सुखके कैसे कैसे ढंग, नई नई विधियाँ, व्यवस्था, कैसी-कैसी कल्पनामें कौन-कौन सुख मान रहे हैं, किन्तु ये सब परिमित हैं, लेकिन इस जीवने लगातार यह ही यह पा पाकर अरहटके समान इनको अनन्त कर डाला है। जैसे अरहटकी घड़ियाँ जुदी-जुदी हैं। दो-दो घड़ियाँ प्रत्येक घड़ीमें आती हैं मगर वे चलती ही रहती हैं। एक दिनमें हजारों बार वे घड़ियाँ पानी ला लाकर बाहर फेंकतीं। यही परम्परा बराबर बनी रहती है। ऐसे ही इस जीवके इन सब बातोंकी परम्परा बन रही और उन्हें इसने अनन्त कर डाला। अरहटकी घड़ियाँ कभी ऊपर आतीं, कभी नीचे, एक समान नहीं स्थिर रहतीं, ऐसे ही संसारमें घूमता हुआ यह जीव कभी किसी योनिमें पहुँचता कभी किसीमें, सदा एक समान तो नहीं रहता। इस संसारमें नाना भवोंमें भ्रमण करते हुए इस जीवको शरीर, गति, इन्द्रिय आदिक वस्तुवें परिमित मिली हैं, परन्तु इसने तृष्णावश अपरिमित कर डाला, अथवा अनन्त भोगों को इसने भोगा, पर मोहवश यह जीव इस संसारमें घूमता रहता है, फिर इसने अनन्त जीवन दुर्दशामें ही व्यतीत कर डाला।

तदस्ति न वपुर्भृ ता यदिह नोपमुक्तं सुखं न सा गतिरनेकधा गतवता न या गाहिताः।
न ता नरपतिश्रियः परिचिता न याः संसृतौ न सोऽस्ति विषयो न यः परिचितः सदा देहिना ॥२४८॥

अज्ञानमें जीवका सर्वत्र भवधारण—इस संसार चक्रमें घूमते हुए इस जीवको सारे इन्द्रियके सुख भोग डाला। कोई इन्द्रियके सुख नहीं बचे जो इसने बार-बार न भोगा हो, न कोई गति योनि बची ऐसी जिसे अनेक बार इसने न पायी हो, न कोई सम्पत्ति बची ऐसी कि जिसको इसने अनेक बार भोगा न हो, न कोई क्षेत्र ही छूटा ऐसा कि जहाँ इसने अनेक बार जन्म-मरण न किया हो। इस जीवको इन्द्रिय सुखोंमें बड़ा व्यामोह रहता है, पर जो इन्द्रियसुख बार-बार भोगे गए उनमें पुद्गल ही तो भोगे गये। बार-बार भोगे गये पुद्गल

कितनी बार के जूठे हैं। इन जूठे भोग साधनोंमें इसकी प्रीति जग रही है और पवित्र ज्ञानानन्द धाम निज स्वरूपमें इसकी दृष्टि नहीं जमती। यह जीव किसी पुत्रादिकके जन्म होने में सुख मानता है, पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ ऐसा कहकर बड़े गाजे-बाजे बजवाकर जन्मोत्सवकी खुशियाँ मनाते हैं। उसके जन्ममें लोग सुख मानते हैं, पर वे जन्म तो अनन्त बार हुए, फिर मरे, फिर जन्मे, उसका भी कौनसा सुख है ? जन्म न हो तो इस जीवको आनन्द रहेगा। समस्त दुखोंकी जड़ तो जन्म है। शरीर मिला, शरीर बन्धन मिला, अनेक संकट आने लगे। तो जन्म कोई कल्याणकी चीजनहीं। लोग सम्पत्तिमें मोह करते, पर कौनसी पुद्गल सम्पत्ति जुड़ जानेपर इस जीवको शान्ति मिली अब तक सो तो बताओ ? अरे अब तक न जाने कितनी ही सम्पत्ति इस जीवने पाया, कितने ही भोग भोग पर यह उनमें कभी तृप्त न हुआ। तो कोई भी इन्द्रिय सुख इस जीवको ऐसा नहीं बचा जिसे अनन्ते बार न भोगा हो, फिर भी इसको कभी शान्ति न प्राप्त हुई।

इदं स्वजन देहजातनयमातृभार्यामयं विचित्रमिह केनचिद्र-चितमिद्रजालं ननु।
क्व कस्य कथमत्र को भवति तत्त्वतो देहिनः स्वकर्मवशवर्तिनस्त्रिभुवने निजो वा परः॥ २४९॥

जीवों द्वारा अकेले अकेले ही घोर दुःखोंका सहन—इस लोकमें यह जीव कर्मबंधन बद्ध हीन होते हुए कर्म विपाकसे पीड़ित होकर अकेला ही नाना दुःखोंको भोगता रहता है। उन दुःखोंके भोगनेमें उनके माता, पिता, बहिन, स्त्री, पुत्रादिक कोई भी काम नहीं आ सकते। जो संकट इस पर गुजरता है उसे अकेला ही भोगना पड़ता है। जो संकट शरीरका, व्याधियोंमें लगने आदिकका काम है वह भी इसको अकेलेको ही भोगना पड़ता है, इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदिक नाना प्रकार के कष्ट इस जीवको अकेला ही भोगना पड़ता है। महाप्रेम रखने वाले भी इनको बटानेमें समर्थ नहीं हो सकते। तो बात तो वास्तविक यह है कि अपने-अपने किये हुए कर्मोंको यह जीव अकेला ही भोगता है, लोग मानते हैं कि मैं अपने परिवार का पालन-पोषण करता हूँ, उनको सुखी रखता हूँ, तो उनका यह ख्याल मिथ्या है। कोई किसी को सुखी नहीं रखता, न कोई किसीको दुःखी बनाता। सबका अपने-अपने साथ कर्मोदय है। उसीके अनुसार यह जीव सुखी-दुःखी होता रहता है, मोहके आवेशमें आकर यह जीव अनेक प्रकार की कल्पनायें करके पर-पदार्थोंको अपना मान लेता है पर पर्याय बदलने पर सब स्पष्ट भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

हृषीकविषयं सुखं किमिह यन्न भुक्तं भवे किमिच्छति नरः परं सुखमपूर्वभूतं ननु ।
कुतूहलमपूर्वजं भवति नांगिनोऽस्यास्ति चेत्समैक सुखसंग्रहे किमपिनो विधत्ते मनः ॥
२५०॥

मोहपश जीवके भुक्तभोगकी बार-बार भोगेच्छा—इस जन्म-मरण रूप संसारमें कोई भी इन्द्रियसुख नहीं बचा जिसे इस जीवने अनेक बार भोगा न हो, इसलिए ये सब इन्द्रिय-सुख भुक्तपूर्ण हैं, उच्छिष्ठ हैं, जूठे हैं, किन्तु आत्माका आत्माकी आराधना से उत्पन्न हुआ आनन्द अभुक्तपूर्ण है। इस आत्मीय आनन्दको इस जीवने पहले कभी नहीं भोगा। सो यह प्राणी अभुक्तपूर्ण आत्मीय आनन्दमें क्यों नहीं अपने मनको लगाता ? बार-बार भोगे गए आसार पराधीन इन्द्रिय भोगोंमें रमकर काल्पनिक सुख भोगता है और बास्तवमें तो कष्ट सहता हो रहता है, पर एक बार भी अभूतपूर्व आत्मीय आनन्द इसके जग जाय तो इसकी आराधना और धुनके कारण यह जीव यथोचित समयमें संयमी बनकर मोक्ष प्राप्त कर लेगा। फिर सदा के लिए संसारके कष्ट छूट जायेंगे। तो कल्याणार्थी पुरुषोंका कर्तव्य है कि अभुक्तपूर्ण आत्मीय आनन्दको अभिलाषा कर उसके मार्गमें लगे। ऐसा किए बिना यह जोव बड़े-बड़े कष्ट भोगता रहता है।

क्षणेन शमवानतो भवति कोपवान्संसृतौ विवेक विकलः शिशुर्विरहकातरो वा युवाः ।
जरार्दिततनुस्ततो विगतसर्व चेष्टो जरी दधाति नटवन्नरः प्रचुरवेषरूपं वपुः ॥२५१॥

मोही जीवका नटवत् विविध आचरण—यह जीव नटकी तरह नाना भेषोंको धारण करता रहता है। कभी यह जीव शान्त होता है तो कभी क्रोध करता है, तो यह नटकी तरह ही तो रूपका धरना हुआ। कभी यह ज्ञान शून्य बालक बन जाता है तो कभी युवतियों के वियोगमें व्याकुल होता है। कहाँ तो वह छोटा बालक जो कुछ अधिक समझ न रखे और कामवासनाकी तो कल्पना तक भी नहीं और वही जीव कुछ ही समय बाद स्त्रियोंके वियोगमें व्याकुल होता। स्त्रियोंके साथ सम्भाषणमें यह मौज लेता तो यह नटकी तरह ही तो नाना भेषोंका धरना कहलाया। यही जीव कभी बुढ़ापेसे पीड़ित होकर चेष्टा-हीन हो जाता। हाथ पैर नहीं चलते। कहीं जा नहीं सकता, बोल भी थक गया, तो इस जीवकी क्या विचित्र हालत होती रहती है। यह सब कर्मलीलाका प्रताप है। कभी यह जीव अकेला ही भवमें रहकर वहाँ ही अपनी इच्छावोंको बनाता रहता है। कभी पेड़-पौधेसे खड़े होकर वहाँ ही पानी मिले, धूप मिले, सुन्दर हवा मिले और सुखी होता, पशु पक्षी हुआ, मनुष्य हुआ, सब जगह अपने-अपने विचित्र ढंगसे यह जीव

नाना तरह की कल्पनायें करके सुखी-दुःखी होता रहता है। सो वास्तविक नटिया तो यह जीव है। लोग तो सनीमा हॉलमें सनीमा देखने पहुँचते हैं पर सनीमा तो यह जीव स्वयं हो रहा है। कभी किसी स्थितिमें, कभी किसी स्थितिमें, और ये शहरोंमें दिखाये जाने वाले सनीमा तो एक फोटो है, नकल है, असल नहीं है। पर यह जीव तो स्वयं कर्मोदयवश नाना रूपोंको (भेषोंको) धारण कर अपने क्षण गुजारता है, एक जगह प्रभुकी भक्ति करते-करते भक्तने यह कहा कि हे प्रभो मैंने अनेक रूप धर-धरकर आपके ज्ञानको बहलाया, जैसे कि कोई नट अनेक रूप रखकर राजाको प्रसन्न करता है, तो मैंने भी नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, और उनके अन्तर्गत नाना तरहकी स्थितियोंको बना बनाकर आपको रूप दिखाया, तो बोलो प्रभु आप मुझपर प्रसन्न हुए या नहीं ? आखिर नट भी तो मुख्य दृष्टाको इसी लिए दिखाता कि यह प्रसन्न हो जाय और प्रसन्न होकर कुछ पुरस्कार दे। तो प्रभु यदि आप मेरे इन रूपोंको देखकर प्रसन्न हो गये हों तो मैं जो चाहूँ सो दीजिए। मैं चाहता हूँ मुक्ति, सो मुझे मुक्ति दीजिए और यदि आप प्रसन्न नहीं होते हमारे रूपोंको देखकर तो फिर इन रूपोंको अब मत मुझसे दिखाइये। याने आपके ज्ञानमें अब मेरे ये रूपादिक न झलकें। तो वह प्रभुकी भक्ति है। उसने प्रभुसे दोनों तरह से माँगना, माँगली है। प्रसन्न हो तो मुक्ति दो, प्रसन्न न हो तो हमारे इन रूपोंको मिटा दो। तो रूपोंका मिटना यही तो मुक्ति कहलाता है। सांसारिक भेषोंमें इस जीवको कहीं भी आनन्द नहीं है।

अनेकगतिचित्रितं विविधजातिभेदाकुलं समेत्य तनुमद्गणः प्रचुरचित्तचेष्टोद्यतः।
पुरार्जितविचित्र कर्मफलभुग्विचित्रां तनु प्रगृह्य नटवत्सदा भ्रमति जन्मरंगागणोः ॥ २५२॥

मोही जीवों द्वारा नटवत् विविध वेषोंका धारण—जैसे रंगभूमिमें नट नाना प्रकारके भेषोंको धारण करके उन भेषोंके अनुरूप ही चेष्टायें करते हैं और लोगोंको ऐसी भ्रान्ति करा देते हैं कि मानों वास्तवमें जिसका भेष रखा है वही सब चेष्टा कर रहा है, इसी प्रकार यह जीव मनुष्य तिर्यञ्च आदिक पर्यायोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी जाति भेष धारण कर, करके मनमाने तदनुरूप चेष्टायें कर रहा और पूर्व उपार्जित अपने कर्मोंका फल भोगता रहा, सदा घूमता ही फिरा और उस समय जिस पर्यायको यह जीव धारण करता है उस ही पर्यायरूप अपने को समझ बैठता है, जैसे जब मनुष्य हुआ तो यह अपनेको मनुष्य ही मानता है और मनुष्य देहको ही अपना सर्वस्व समझता है। उस देहमें आत्मीयपना का इतना अहंकार भर लेता है कि प्रशंसा, निन्दा, कीर्ति, अपकीर्ति, सब कुछ इस देहके मार्फत

ही करता रहता है। तो जिस देहको धारण करता है उस भेषमें यह रम जाता है और अपने आपके वास्तविक स्वरूपको भूल जाता है, यह है जातिका प्रकरण। जन्म लेता है और जिस जन्ममें पहुँचता है उस जन्मके अनुरूप अपने आपको मान डालता है, ऐसी भ्रान्ति यह जीव अनादि कालसे करता चला आया है और उसका कारण है कर्मका उदय। और कर्म उदयमें आये तो जब बंधे थे तब ही तो उदय में आये। तो जिस कालमें कर्म बंधे थे उस कर्मबंध का कारण था यही भेष भेषोंमें आत्मबुद्धि। तो यों भावकर्म, द्रव्यकर्म दोनोंका परस्पर निमित्त नैमित्तिक योग चल रहा है। यह जीव संसारमें नाना भेषोंको धारणकर दुःखी हो रहा है।

अचिंत्यमतिदुस्सहं त्रिविधदुःखमेनोर्जितं चतुर्विधगतिश्रितं भवभृता न किं प्राप्यते।
शरीरमसुखाकरं जगति गृह्णता मुंचता तनोति न तथाप्ययं विरतिमूर्जितां पापतः॥ २५३॥

मोही जीवके पापफल भोगकर भी पापसे विरक्तिका अभाव—इस जीवने जिन भेषोंको धारण किया उन भेषोंमें रह रहकर असह्य दुःख भोगा है। ये भेष मुख्यतया चार प्रकार के हैं—नारकी, देव, मनुष्य, देव, ये चार मुख्य गतियाँ हैं, फिर इनके अन्य बहुत से भेद हैं। जैसे तिर्यञ्चके बड़े ही विचित्र भेष हैं, कोई पशु है, कोई पक्षी है, कोई कीड़ा मकोड़ा है, कोई एकेन्द्रिय है, तो ये अनेक-अनेक उपजातियाँ हैं, तो इसी प्रकार इन सब भेषोंमें इस जीवने असह्य दुःख भोगा। वे दुःख हैं मानसिक, वाचनिक और कायिक जैसे इन्हीं भेदोंमें मनुष्य मनके कितने दुःख बनाये रहते हैं, मनमें कितनी कल्पनायें, नामवरी की, ओहदे पाने की, धन पाने को और तन सम्बंधी कितनी ही कल्पनायें, तो ऐसी चिन्तावोंके भार से यह जीव लदा फिरता है। वाचनिक दुःख भी बहुत हैं। दूसरे की कुछ भी कही हुई बात सहन नहीं कर पाता। क्या लगा, कहाँ के वचन, कौन मनुष्य, इनका आत्मासे क्या सम्बंध? ये सब अत्यन्त भिन्न हैं, लेकिन ऐसा पर्यायोंमें रम गया कि इस ही पर्यायको यह अपना सर्वस्व मानता है और अपने आपको सर्वाधिक चतुर भी मानता है। ऐसी मान्यताके कारण दूसरेके वचन इससे सहे नहीं जाते। यदि अपने आपकी कीर्ति, इच्छा के अनुकूल वचन हों तब तो वहाँ प्यार जगता है अन्यथा अन्य वचनोंसे यह बड़ा भारी कष्ट मानता है। शारीरिक कष्ट नाना हैं ही, अनेक प्रकार की व्याधियाँ, आक्रमण, चोट, शारीरिक वेदनायें ये कायिक वेदनायें हैं। सो इस जीवने मन, वचन, काय तीनों की पीड़ायें अब तक संसारमें रूलकर भोगा। और इतने से ही पिण्ड नहीं छूटा, सारे जीवन दुःख भोगा, अन्तमें

मरण हुआ, फिर यह दूसरा देह धारण करता है, जो शरीर अनेक दुःखोंका देने वाला है, तो ऐसे कठिन दुःखको भोग रहा यह जीव फिर भी यह पापों से विरक्त नहीं होता, यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है, क्योंकि पापोंसे ही संसारमें रूक रहा, सो दुःख भी भोगता जा रहा और पाप भी करता जा रहा, ऐसा अंधेरा इस जीव पर छाया है। जिन कामोंसे दुःख होता है उन्हीं कामोंको यह करता चला जाता है।

भजव्यतनुपीडितो विरहकातरः कामिनीं करोति मदनोज्झितो विरतिमंगनासंगतः।
तपस्यति मुनिः सुखी हसति विक्लवः क्लिश्यति विचित्रमतिचेष्टितं श्रयति संसृतौ जन्मवान् ॥२५४॥

संसारी जीवकी विचित्र चेष्टायें—यह शरीरधारी प्राणी जब भी कामदेवके वाणोंसे व्यथित हो जाता है याने कामवासना उखड़ आती है, व्यर्थका ही मनके दुर्भाव बन जाता है तो यह कामचेष्टाके साधनभूत स्त्री आदिक का विकार होने पर यह कातर हो जाता है और यह कामिनियोंका संग चाहता है, जिस किसी तरह उनकी प्राप्ति करके सुख मानता है। कहाँ तो जीव शुद्ध स्वच्छ ज्ञानानन्दमय और कहाँ बाह्य अशुचि पदार्थोंमें इतना तेज लगाव, ऐसा विरुद्ध परिणमन करने वाले दुःखी क्यों न होंगे ? जिस समय यह जीव कामातुर होता है तो तीव्र वेदनासे पीड़ित हो जाता है, और जिस समय कामसे रहित होकर शान्त हो जाता है तो कामके साधनभूत स्त्री आदिकके संसर्गको दूर कर देता है, फिर साधु होकर तप-तपने लगता है। जिस समय यह कुछ सुखी होता है तब कुछ हँसने लगता है और जब कोई दुःखी होता है तो रोने लगता है। तो इस शरीरधारी प्राणीके इस जन्ममें बड़े विचित्र-विचित्र चेष्टायें होती हैं।

अनेकभवसंचिता इह हि कर्मणा निर्मिताः प्रियाप्रियवियोग संगमविपत्तिसंपत्तयः।
भवंति सकलास्विमा गतिषु सर्वदा देहिनां जरामरणवीचिके जननसागरे मज्जतां ॥२५५॥

मोही जीवों द्वारा नाना भेषधारण व क्लेशसहन—यह संसार विशाल समुद्रके समान अपरिमित है, जैसे बड़े सागरके ओर छोरका पता नहीं लगता, उसकी गहराईका पता नहीं लगता, समुद्रके अन्दर क्या क्या चीजें हैं, कैसे क्रूर जंतु हैं इसका कुछ पता नहीं पड़ता, ऐसे ही यह संसार अपरिमित है, इसका आदि अन्त नहीं है। अनादिसे संसार है, अनन्तकाल तक संसार रहता है। और इस संसारमें कितनी ही प्रकारके जन्म हैं, अवस्थायें हैं, भेष हैं, दुःख है, जिनका कोई परिमाण नहीं है, तो ऐसा संसार समुद्रके

समान अपरिमित है, इसमें यह जीव जन्म-मरण रूपी लहरोंके वेगसे ताड़ित हो रहा है। मरा वह भी दुःख है, जन्मा वह भी दुःख है, तो एक ओर से मरणकी लहरोंके-वेगने इसको दुःखी किया तो तत्काल जन्मकी लहरोंके वेगने इसको दुःखी किया। यों जन्म-मरणके वेगसे यह दुःखी होता रहता है। सो यह प्राणी मनुष्यादिक की पर्यायें धर-धरकर घूमता फिरता है और अपने जीवनमें अपने-अपने कर्मोंके अनुसार नाना दुःख भोगता है। जैसे दुःखोंमें प्रधान दुःख है इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, वेदना और निदान। किसी इष्टका वियोग हो जाय तो उसमें यह बड़ी तकलीफ मानता है और उस इष्टके संयोगके लिए नाना ध्यान बनाये रहता है किसी अनिष्ट पुरुषका संयोग हो गया तो उस कालमें यह निरन्तर कष्ट मानता रहता है और यह कब टल जाय, इसका वियोग हो जाय इसके लिए निरन्तर चिन्तन बनाये रहता है। शारीरिक व्याधिका बड़ा कठिन दुःख है। जब शरीरके साथ इस जीवका एक क्षेत्रावगाह और बंधन भी चल रहा है जहाँ शरीर जाता वहाँ आत्मा जाता, जहाँ आत्मा जाता वहाँ शरीर जाता, तो इतने विकट बंधनमें फँसा हुआ आत्मा शरीरमें वेदनायें आयें तो दुःखी होता ही है, और एक कठिन दुःख है बैठे-बैठे अनेक चिन्तायें करना आशय बिगाड़ना। तो इन समग्र दुःखोंको यह जीव जन्म-मरण करता हुआ अपने जीवनकालमें भोगता रहता है। सो इस संसार समुद्रमें जन्म लेते रहना यह बहुत बड़ी विपत्ति है। जो इस जन्मसे छूट गया वह ही संसार के दुःखोंसे छूटा हुआ कहलाता है। और जो संसारमें जन्म धारण कर रहा है उसके दुःख कभी शान्त नहीं हो सकते।

करोम्यहमिदं तदा कृतमिदं करिष्याम्यदः पुमानिति सदा क्रियाकरणकारणव्यावृतः।
विवेकर हिताशयो विगतसर्वधर्मक्षमो न वेति गतमप्यहो जगति कालमत्याकुलः॥ २५६॥

मोही जीवोंकी क्रियाबुद्धिमें मरणका भी अपरिचितता--यह मोही प्राणी विवेकरहित होकर मन, वचन, काय सम्बंधी क्रियावोंमें लगा ही रहता है और सदा यह ध्यान रखता है, विचार करता रहता है कि मैंने यह काम तो उस समय कर लिया, अब यह काम जरूरी है, अब इस कामको कर डालूँ और फिर अमुक काम पड़ा है, उसे भी कर डालूंगा। करने-करने की धुनमें ही सारी जिन्दगी गुजरती है। यह किया, यह कर रहा हूँ, यह करूंगा, ऐसा कर डालूंगा ऐसा करके ही मैं आनन्द पाऊंगा, ऐसा यह जीव करने-करने की ही वासनामें अपना यह जीवन खो डालता है, पर वास्तविक कार्य मेरा क्या है

उसकी ओर ध्यान नहीं जाता। मेरा वास्तविक कार्य है जैसा मेरा स्वरूप है उसही मात्र प्रवृत्ति करना। मैं ज्ञानमात्र हूँ, केवल मैं ज्ञाता ही मात्र रहूँ, किसी पदार्थका मोह तक भी न हो, राग लपेट रंच न हो, मतलब ही नहीं है, जानने में आ गया। केवल ज्ञाता मात्र ही मैं रहूँ। किसी पदार्थ में कुछ भी विकल्प न करूँ, ऐसा मैं कृतार्थ कार्य रहित जाननहार निरन्तर परम आह्लादको भोगने वाला ही रहूँ, यह कार्य मेरे आत्माका वास्तविक करने का था। सो इस कार्यकी ओर से इसने मुख मोड़ लिया और सांसारिक कार्य जिनमें मन, वचन, कायका सम्बंध है उनमें यह निरन्तर विचार करता रहता है कि मैंने इतने-इतने काम कर डाला, अब यह काम करूँ और आगे मुझे इतना काम करना है। तो मैं करूँगा, करूँगा, करूँगा, यह ही ध्यान रखता रहा, पर मैं मरूँगा, मरूँगा इसका रंच भी ध्यान न रखा। सो यह जीव मरता है, जन्म लेता है और उसके बीच जो जीवन पड़ा है उसमें करने-करने की ही धुन बनाकर अपने अमूल्य क्षणोंको यों ही गमा डालता है।

इमे मम धनांगजस्वजनबल्लभादेहजासुहृज्जनकमातुलप्रभृतयो भृशं बल्लभाः।
मुधेति हृतचेतनो भवनने खिद्यते यतो भवति कस्य को जगति वालुकामुष्टिवत्॥ २५७॥

एकत्रित कुटुम्बी जनों का बालुकामुष्टिवत् अत्यन्त भिन्नपना व आशुवियोग— यह प्राणी रात-दिन बाह्य वस्तुओंमें यह मेरा है यह मेरा है, इस प्रकार का भाव बनाये हुए रहता है, यह धन मेरा है, धन पौद्गलिक पदार्थ है, अनेक पुद्गल परमाणुवोंके अनन्त परमाणुवोंके पुञ्जको ये सब रुपया-पैसा सोना-चाँदी आदिक बने हुए हैं, जो अचेतन हैं, मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, यद्यपि इस जीवनको चलानेके लिए क्षुधा तृषा वेदना मिटानेके लिए बाह्य वस्तुवों का आहार किया जाता है, उसमें कुछ काम होता है मगर आहार करना भी तो कलंक है, आहार करना छूटे तो शरीरका सम्बंध भी छूटे, तो इस जीवको अपने आपमें शान्ति प्रकट हो, लेकिन यह जीव इन धन आदिक बाह्य पदार्थोंमें ये मेरे हैं, यों मेरा-मेरा करता हुआ अपना जीवन खो देता है। सचेतन पदार्थोंको ये मेरे पुत्र हैं, ये मेरे मित्र हैं, यह स्त्री है, ये माता-पिता हैं, ये कुटुम्बीजन हैं, ये मेरे मामा आदिक रिश्तेदार हैं, ये बड़े ही प्यारे हैं, ऐसा निरखता रहता है। ये पुरुष स्त्री हैं क्या? असमान जातीय द्रव्य पर्याय। जीव, शरीर और कर्म इन तीनोंका यह पिण्डोला है, जिससे यह जीव नाना दुःख पा रहा है, पर इन अत्यन्त भिन्न पिण्डोलोंको देखकर ये मेरे हैं इस प्रकार की बुद्धि करता है और

यहाँ तक चिन्तन करता है कि ये मुझे बड़े प्रिय हैं, मैं इन्हें छोड़कर रह नहीं सकता। तो यह मोहके वश होकर इन ही मिथ्या घटनाओंको सत्य समझता रहता है। जब जाना कि ये मेरे हैं, प्रिय हैं, इष्ट हैं, तो उनका वियोग होने पर यह खेद खिन्न होगा ही, सो यह दुःखी होता रहता है, पर यह बात कभी नहीं विचारा कि ये जितने भी जीव हैं ये सब मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। भले ही इकट्ठे हो गए हों, जैसे मुट्ठीमें कोई बालू भर रखी हो तो भले ही एक जगह है फिर भी बिखरती रहती है और प्रत्येक दाना दूसरेसे अत्यन्त भिन्न है। तो जैसे मुट्ठीमें ली गयी बालू कभी एक तो नहीं रहती, उसके दाने भिन्न-भिन्न ही रहते, इसी तरह किसी कारण एक घरमें इकट्ठे हो गए, भाई बहिन, माता-पिता आदिक परन्तु ये सब अत्यन्त निराले हैं, जैसे बालूका ढेर एक दूसरे रेणुसे अत्यन्त निराला है ऐसे ही सभी जीव मुझसे अत्यन्त निराले हैं, ऐसा ध्यानमें नहीं आता इस मोही प्राणीके और इनको ये मेरे हैं, मुझे ये बड़े प्यारे हैं, इन्हें मैं छोड़कर रह नहीं सकता, ऐसे नाना प्रकार के विकल्प किया करता है।

तनूजजननीपितृस्वसृसुताकलत्रादयो भवति निखिला जनाः कृतपरस्परोत्पत्तयः।
किमत्र बहुनात्मनो जगति देहजो जायते धिगस्तु भवसंतति भवभृतां सदा दुःखदां ॥ २५८॥

जीवोंके परस्पर रिश्तोंका परिवर्तन—इस लोकमें ऐसा कोई नियम नहीं है कि इस जन्ममें जो माता है वह सदा माता ही होती रहे, जो पिता है वह सदा पिता ही होता रहे, जो पुत्र है वह सदा पुत्र ही होता रहे, जब ऐसा कोई नियम नहीं है तो इस बातको जानकर भी इस जीवको चेत जाना चाहिए कि यह केवल इस जीवकी कल्पना मात्र है। न यह पहले मेरा था न आगे मेरा होगा। तो संसार में यह नियम नहीं है कि जो पुत्र आज हुआ वह पहले भी पुत्र था और आगे भी रहेगा। बल्कि यह स्पष्ट देखनेमें आता है कि जो आज बाप है वह कहीं उसीका लड़का बन जाय। माँ कहीं लड़की हो जाय, लड़की कहीं माँ बन जाय, जो बहिन है वह कहीं लड़की बन जाय, लड़की कहीं बहिन बन जाय, आज जो बुवा है वह कही स्त्री बन जाय, स्त्री कहीं बुवा आदिक बन जाय। अनेक भवोंमें ये सब बदलते रहते हैं। एक दूसरेसे सर्वथा विरुद्ध पर्यायें रिश्ते ये धारण करते ही रहते हैं। इस परिवर्तनकी बात कहाँ तक कही जाय ? यह मनुष्य अपनी स्त्रीके ही गर्भसे, अपनी ही कुचेष्टासे आप ही पुत्र होता हुआ देखा गया है, इससे बढ़कर और विचित्र बात क्या कही जाय ? जिसको यह पुरुष अपनी स्त्री मान रहा था वही पुरुष मरकर अब उसका

बालक बनकर उसको माँ मानता है, जीव वही है पर पर्याय भेद हो जानेसे इसके विचारोंमें संस्कारोंमें फर्क आ गया । तो यह संसार नटभेष जैसा विचित्र है । तो अनन्त दुःखोंका देने वाला यह संसार है । इसमें जो जन्म होता रहता है वही सब संकटों का मूल धाम है। इस संसार की स्थितिको धिक्कार है ।

विधाय नृपसेवनं धनमवाप्य चित्तोप्सितं करोमि परिपोषणं निजकुटुंबकस्यांगना: ।
मनोनयनवल्लभा समदना निषेवे तथा सदेति कृतचेतसा स्वहिततो भवे भ्रश्यते ।।
२५९।।

परव्यामोहमें स्वहितका ध्वंस—यह मनुष्य कुटुम्ब आदिकको अपना मानकर उनका भरण-पोषण करने के लिए कितना परिश्रम किया करता है । राजा आदिककी सेवासे यह धन कमानेमें कितना व्यग्र रहता है । यह आत्मा अकेला ज्ञानानन्द स्वरूप है । परमात्माके समान शुद्ध पवित्र स्वरूप है, लेकिन इस स्वरूपको भूलकर राजा आदिक न जाने किन-किन पुरुषोंकी सेवामें लगा रहता है । न जाने कितना चित्त परिवर्तन करना पड़ता है, किस किस प्रकार राजाको अपने पर प्रसन्न करना पड़ता है तब जाकर कोई सुविधा मिलती है कि वह मनमाना धन कमा सके । सो मनमाना धन कमाकर क्या किया ? अपने कुटुम्बका भरण-पोषण किया और अधिकसे अधिक यही बात तो रही कि जब कामबाधा हुई तो मन और नेत्रोंको प्रिय जिन्हें माना उन युवतियोंका सेवन किया । तो इन सब कार्योंमें वह अपनेको भृष्ट ही तो कर रहा । कहाँ तो परम आनन्द-स्वरूप परमात्माके सदृश अविचल रूप और कहाँ अपने स्वरूपको भूलकर किन-किन पुरुषोंको प्रसन्न करनेमें यह लगा रहता है तो ऐसा यह मित्र कुटुम्ब स्त्री आदिकमें अपना हित सोचकर इनमें अपना लगाव लगाकर अपने आपको दुःखी करता रहता है । सो यह सब मोहनीय कर्मके उदयसे जो मोहभाव उत्पन्न हुआ है उस मोहमदिरा की शराब पीकर यह जीव इतना चंचल और संक्लेश करने वाला बन गया है । तो यों मोहवश यह प्राणी इधर-उधरकी व्यर्थकी बातोंमें फँसा रहकर अपने हितसे भृष्ट हो जाता है । कभी धन न हुआ तो उसके अभावमें उसकी आशा कर करके अपने जीवनको दुःखी कर डालता है । कभी धन हुआ तो उसकी गिनतीमें और उसके पुलावा बाँधनेमें, उसकी वृद्धि करनेमें सारे जीवन भर अपने उपयोग को उलझा कर दुःखी करता रहा । इस जीवनमें ऐसी कौनसी स्थिति पायी जिसमें यह प्राणी दुःखी न रहता हो । दुःखसे दूर रहने की स्थिति तो केवल रत्नत्रयभाव है । इसकी ओर मोहके कारण यह जीव आ न सका । जो बात आत्महितके लिए सुगम है

उससे तो यह जीव दूर रहा और जो बात आत्महितके बिल्कुल खिलाफ है उन बातों में फँसा रहा। सुगम चीज है अपने सहज स्वरूपको जान लेना। मैं हूँ, अपने आप हूँ, सहज सिद्ध हूँ, तो यह मैं चैतन्यमात्र जिसमें सिर्फ प्रतिभास ही प्रतिभास है, कि मैं हूँ, इस प्रकार का अनुभव बनाना इसमें किसी प्रकारकी दुर्गमता नहीं है। न इसमें धन चाहिए, न मित्रजनोंका सहयोग चाहिए, न किसीकी प्रसन्नता आपेक्षिक है, यह तो अपने आपकी भावना द्वारा अपने आपमें प्राप्त की जाने वाली चीज है तो अपना सहज स्वरूप, उसका श्रद्धान होना, उसका ज्ञान होना यह सुगम चीज है और फिर इसही स्वरूपमें मग्न होना उपयोगको रमाना यह सब स्वाधीन बात है, मगर मोही प्राणीको अपनी स्वाधीन बात बड़ी कठिन लग रही। इसका ख्याल तक भी नहीं कर सकता और एकदम बाहरी पदार्थों का ही संग्रह विग्रह कर रहा और यह मान रहा कि इन बाह्य पदार्थोंका संग्रह करना सुगम है, मेरे अधिकार की बात है और उसी प्रसंगमें जब कोई काम मनके अनुकुल न बना तो दुःख मान रहा और भीतरमें नाना कष्टोंको सहता रहा। सो यह जीव इस संसार चक्रमें घूमने का कारण जो भ्रम है उस भ्रममें ही पगा रहा और इन्द्रियविषयोंमें सुख मान रहा अच्छा स्वार्थ मिल जाय, स्त्री आदिक जनोंका सम्पर्क मिल जाय, बहुत सुन्दर स्वादिष्ट मिठाई आदिक नाना तरह की भोजनसामग्री मिल जाय, यही-यही धुन बनी रही, इन्हींके प्रयत्नोंमें लगा रहा, खाने-पीनेके सुखसे भरपूर हो गया तो अब सुगंध चाहिए, इत्र फुलेल चाहिए, अब घ्राणेन्द्रियमें रम गया। अब आँखोंको आराम देने वाला कोई नाटक चाहिये, सनीमा चाहिए, उस ओर दृष्टि डालता रहा, अब कानोंको सुहाने वाली रंग-रंगेलियाँ चाहियें। यों भोगोंमें रमकर यह कष्ट भोगता ही रहा।

विवेक विकलः शिशुः प्रथमतोऽधिकं मोदते ततो मदनपीडितो युवतिसंगमं वांछति।
पुनर्जरसमाश्रितो भवति सर्वनष्टक्रियो विचित्रमतिजीवितं परिणतेर्न लज्जायते॥ २६०॥

एकही भवमें विचित्र परिणतियोंकी विडम्बना—यह अविवेकी मनुष्य बचपन में तो अधिक आनन्द मानता है याने शिशु अवस्थामें खेल-कूद, खाना-पीना, मनमानी चेष्टायें करके अपने को अधिक आनन्द वाला मानता है और कुछ युवावस्था होने पर भी वह अपनेमें सुखकी कल्पनायें करता रहता है। कामसे पीड़ित होकर नई-नई युवतियोंके संगको चाहता है। वहाँ पर भी यह अपने आपको बड़ा सुखी समझता है, परन्तु वृद्ध होने पर यह समस्त चेष्टावोंसे हीन हो जाता है याने हाथ-पैर से कुछ कर नहीं सकता।

सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, और यों चेष्टा-हीन हो जाता है उस समय यह अपनेको बड़ा कष्टमयी मानता है। वस्तुतः देखा जाय तो जब सुखकी कल्पना कर रहा था तब भी वह कष्टमें था। अज्ञानसे वह अपने कष्टको नहीं जान पा रहा था, पर क्षोभ हुए बिना नाना चेष्टायें कैसे हो सकती थीं? और साथ ही व्यामोह था। स्व और पर पदार्थमें रंच भी भेद न जान रहा था तब ही तो परद्रव्यका आश्रय कर करके यह अपनेको सुखी मान रहा था। तो इसी जीवनमें अवस्थाभेद से चेष्टावोंके बड़े भेद रहे, और यों एकही जन्ममें नाना प्रकार की दशावोंका अनुभव किया। सो आत्माका स्वरूप तो स्वच्छ ज्ञानानन्दमय है. जिसके विरुद्ध चल-चलकर यह कितनी विडम्बनायें कर रहा लेकिन उन विडम्बनाओं के करते हुए में भी उसको लज्जा नहीं आती रही। अपने कुलके विरुद्ध कार्य करने पर लज्जित होना ही चाहिये। यह अपनी चेष्टायें कुलके विरुद्ध रागीद्वेषी मोही बनकर विषयों भोगोंमें अपना चित्त रमाकर कुचेष्टायें करता रहा पर इसको लज्जा नहीं आयी। अब यदि इन विडम्बनाओंसे, संकटोंसे बचना है तो एक ही कर्तव्य है कि पर द्रव्योंका आलम्बन छोड़ें और अपने आपको ज्ञानस्वरूप अनुभव करें।

विनश्वरमिदं पयुर्युवतिमानसं चंचलं भुजंगकुटिलो विधिः पवनगत्वरं जीवितं।
अपायबहुलं धनं बत परिप्लवं यौवनं तथापि न जना भवव्यसन संततेर्बिभ्यति॥ २६१॥

अनित्य समागमोंमें मोहीकी व्यासक्ति—यह शरीर अनित्य है, नष्ट हो जाने वाला है। मरण समय तो सभी जानते हैं कि यह नष्ट हो जाता है अर्थात् शरीरसे आत्मा निकल जाता है और शरीर यहाँ जला दिया जाता है, पर रोज-रोज शरीरमें नाना विकृतियाँ आती रहती हैं सो यह तो अनित्य स्वभाव वाला ही है और इसी कारण इसक शरीर नाम रखा गया है। शीर्यते इति शरीरं, जो शीर्ण हो, गल जाय उसे शरीर कह हैं। तो इस संसारमें यह शरीर जिस पर यह प्राणी इतना मुग्ध हो रहा, जिस शरीर अपना रहा वह शरीर अनित्य है और युवतियोंका मन चंचल है। आज किसी अन्य मनुष्यमें चित्त लगा है तो कल किसी अन्यमें चित्त लगा है, उनमें इनके मनकी स्थिरता ही नहीं रहती। तीसरी बात दैव भुजंगके समान टेढ़ा है। जैसे सर्प वक्र होता है, ऐसे ही यह भाग्य भी वक्र है। आज ये कर्म सुख दे रहे हैं तो कल हो दुःख देने लगते हैं अर्थात् पुण्य प्रकृतियों के उदयसे यह जीव सुख मान रहा है तो उस समय पाप प्रकृतियोंका उदय होने पर यह दुःखका अनुभव करता है। चौथी बात जीवन हवाके समान गमनशील है।

जैसे हवा चलती ही रहती है, आगे भागती ही रहती है ऐसे ही यह जीवन चलता ही रहता है, भागता ही रहता है। अर्थात् जो उम्र गई वह गई। उस क्षणको फिर यह नहीं पाता यह तो आगे-आगे का समय भी गुजरता रहता है। ५ वीं बात—धन नाना कारणोंसे नष्ट हो जाता है। धनको अर्जित किया, बड़ परिश्रमसे कमाया, एकत्रित किया, अब कोई ऐसी ही विडम्बना आ जाती है, घटना आ जाती है, चोर चोरी कर ले जायें अथवा राजा छीन ले या खुद ही भूल जाय कि हमने कहाँ रखा या किसी दूसरेके कब्जेमें आ जाय, नाना कारणोंसे यह धन नष्ट हो जाता है। छठी बात—यह जवानी कालान्तरमें परिणमनशील है। अर्थात् जवानी स्थिर नहीं रह पाती, यह बदलती ही रहती है। तो इतनी बातें प्रतिकूल हो रही हैं तब भी यह मनुष्य इस भयानक संसारकी स्थितिसे डरता नहीं है. यह बड़े आश्चर्यकी बात है। और विषयभोगोंमें ही लगाव रखकर जैसा कि इस छंदमें बताया गया उन घटनावोंको देखकर तो भोगोंकी कामना रहना ही न चाहिये। किसी भी अन्य वस्तुमें प्रीति रहनी ही न चाहिए ! लेकिन मोहका ऐसा प्रताप है कि यह जीव अपने स्वरूपको भूल जाता है और इन नाना विडम्बनाओंमें लग जाता है।

विपत्तिसहिताः श्रियोऽसुखयुतं सुखंजन्मिनां वियोगविषदूषिता जगति सज्जनैः संगतिः।
रूजोरगबिलं कपुर्मरणनिंदितं जन्मिनां तदप्ययमनारतं हृतमतिर्भवे रज्यति ॥२६२॥

क्लेशकर साधनोंमें मोहीकी आस्था—इस संसारमें जीवको जो भी सम्पत्तियाँ मिलती हैं वे सब विपत्तियोंसे सहित हैं। सम्पत्ति कालमें ही नाना विपत्तियाँ आती रहती हैं और जो सम्पत्ति मिली है वह सदा न रहेगी, विघट जायगी। विघटनेपर यह बड़ा कष्ट महसूस करेगा। सो यों भी विपत्तियोंसे सहित है। तो सम्पत्ति तो विपत्तियोंसे युक्त है। जिस सम्पत्तिमें लोग प्रफुल्लित हो रहे मेरे को इतना धन बढ़ा इतना जुड़ा, मैं इतने धनका स्वामी हूँ, इस प्रकार जो सम्पत्तिमें हर्ष मानते हैं उनका हर्ष मानना अज्ञानदशाका काम है क्योंकि वे सब सम्पत्तियाँ विपत्तियोंसे सहित हैं। दूसरी बात सुख-दुःखसे मिला हुआ है। सांसारिक सुख जिन्हें प्राप्त हैं उनको साथ ही दुःख भी लगे हुए हैं। सभी लोग समझते हैं कि सुख सदा नहीं रहते। जिनके सुख आया है उनके दुःख अवश्य आता है सांसारिक सुःखका ऐसा ही स्वरूप है, क्योंकि सुख पराधीन है, काल्पनिक है अतएव यह सुख नहीं रहता, दुःख होने लगता। जैसे कि नीतिकारोंने कहा है कि चक्र की तरह सुख और दुःख परिवर्तित होते रहते हैं। जैसे चकेमें जिसके ७-८ आरे लगे हैं गाड़ी चलती रहती है, तो जो आरा अभी ऊपर है वह क्षण भरमें नीचे हो जाता है वे सब बदलते रहते हैं

ऐसे ही सुख और दुःख ये दोनो बदलते रहते हैं। तीसरी बात सज्जनों की संगति वियोग विषसे दूषित है याने दुःखदायी है। यदि आज अच्छे पुरुषोंका समागम मिला है, जिनके वचन सुनकर धैर्य होता है, शान्ति मिलती है तो वह संगति वियोग-रूपी विषसे विषैली है याने उनका वियोग होगा ओर वहाँ दुःख उत्पन्न होगा। चौथी बात—शरीर रोग रूपी सर्पोंका बिल है जैसे कि बिलमें सर्प रहते हैं ऐसे ही शरीरमें रोग बसा करते हैं। करोड़ों तरह के रोग बताये गये हैं, वे रोग रूपी साँप सब इसी शरीर बिलमें रह रहे हैं। ५ वीं बात जन्म-मरणसे सहित है। जन्म हुआ है तो नियमसे मरण होगा। किसीका भी जन्म-मरणशून्य नहीं होता। जैसे निर्वाण होता है तीर्थंकरोंका अन्य महापुरुषोंका मोक्ष होता है तो वहाँ कोई कहे कि उन तीर्थंकर आदिक महापुरुषोंका जन्म तो होता पर मरण कहाँ हुआ ? तो वहाँ भी निर्वाणका ही नाम-मरण है। आयुके क्षय होनेको मरण कहा करते हैं। अष्ट कर्मोंका जहाँ क्षय हुआ वहाँ आयुकर्मका भी तो क्षय है, वही मरण है। भले ही उस मरणको पंडित-पंडित मरण कहते हैं। उसी का ही दूसरा नाम निर्वाण है, पर प्रत्येक जन्म-मरण करके युक्त है। तो संसार की ऐसी स्थिति है। सम्पत्ति विपत्ति सहित है सुख-दुःख मिश्रित हैं। सज्जन संगति वियोगसे भरी है। शरीर रोगोंका बिल है जन्म-मरण सहित तो भी यह जीव ऐसा अज्ञानी है कि इन अवस्थावोंमें ही अपने को सुखी मानता है और इनसे निकलने की कभी चेष्टा भी नहीं करता, कभी मन में ही बात नहीं लाता। हाँ विवेकी पुरुष, सम्यग्दृष्टि पुरुष परिस्थितिवश इनमें पड़ जाय तो भी इनसे विरक्त है और इनसे हटनेकी चेष्टा करता है।

असातहुतभुक्शिखाकवलितं जगन्मंदिरं सुखं विषमवात-भुग्रसनवच्चलं कामजं।
जलस्थशशिचंचलां भुवि विलोक्य लोकस्थितिं विमुंचत जनाः सदा विषयमूर्छनां तत्त्वतः ॥२६३॥

परिग्रह ग्रहणमें महासंकट—यह संसार रूपी मंदिर अर्थात् महल असाता रूपी अग्निसे प्रज्वलित ज्वालासे सदा जलता रहता है मायने असाता अग्नि ने इस संसार महलको कव्लित कर लिया है अर्थात् सर्वत्र प्राणी यह दुःखमें जलता ही रहता है, क्योंकि संसारकी कोई भी स्थिति ऐसी नहीं है कि जहाँ असाताका प्रभाव न फैला हो। नरकगतिमें सर्वत्र असाता है। कष्ट ही मानता रहता है, वहाँ पर बीच-बीचमें साताके उदय आते हैं। बहुत क्षणिक अथवा असाता कम हो या दूसरा नारकी मारने पीटनेको उस समय किसी क्षणको न आया या बड़े दुःखके बाद कई छोटा दुःख रह गया तो उसी

को ही साता समझ लेते हैं, पर असाताका वहाँ बड़ा साम्राज्य है, तिर्यञ्चोंमें भी असाता देखी जा रही है। मनुष्य असातासे दुःखी हो ही रहे हैं। साताके भी उदय चलते हैं मगर ये साता के उदय भी सदा रहते नहीं हैं। ये असातासे व्याप्त हैं। देवगतिमें साताकी प्रधानता देखी जाती है मगर वहाँ पर भी कठिन वेदनायें दिख रही हैं जिससे असाता वहाँ भी चलती है। इस संसारमें सर्वत्र असाता का ही प्रताप फैल रहा है। कामजन्य सुख सर्पकी जिह्वा के समान चंचल है। जैसे सर्प जिह्वा कैसी लपलपाता है, बाहर निकली, भीतर आयी, चंचल है, क्षण-क्षण बदलती रहती है, क्षणस्थायी है, ऐसे ही कामजन्य सुख क्षणस्थायी है, चंचल है, वह भी सदा नहीं रहता। क्षणभरको कल्पनासे सुख मानता, बादमें यह जीव पछताता है। इसी तरह जो भी कुछ इस संसारमें दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब जलमें पड़े हुए चंद्रप्रतिबिम्बके समान अस्थिर है। जैसे किसी नदी या तालाबमें लहरें उठ रही हों और उसमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो तो उसमें वह प्रतिबिम्ब स्थिर नहीं रह सकता ऐसे ही यहाँ दिखने वाले सभी पदार्थ अस्थिर हैं स्थिर नहीं रह सकते। तो जब ऐसी स्थिति है, असाता ही भरी हुई है, चीजें अस्थिर हैं तो सज्जनोंको चाहिये कि इस संसारके कारणभूत परिग्रहोंका सर्वथा त्याग करें, क्योंकि जितनी विडम्बनायें अस्थिरतायें हैं वे सब परिग्रहके आश्रयसे हैं इस कारण परिग्रहोंसे मुख मोड़कर अपने आपके स्वरूपकी ओर उपयोग रखना चाहिये जिससे कि संसारके संकट और इन संकटोंके कारणभूत विकारभाव ये सब दूर हो जायें।

भवेऽत्र कठिनस्तनीस्तरललोचनाः कामिनीर्धरापरिवृढ श्रियश्चपलचामरभ्राजिता।
रसादिविषयांस्तथा सुखकरान्न कः सेवते भवेद्यति जनस्य नो तृणाशिरोंबुवज्जीवित॥
२६४॥

सकल समागमोंकी अनित्यताका चित्रण—यह जीवन तृणके ऊपर पड़े हुए ओसकी बूँदके समान क्षणविनाशीक है। जैसे तृणपर, घासपर ओसकी बूँद पड़ी हो तो वह क्षणिक है, ढल जाय, गिर जाय, सूख जाय, किसी भी हालतसे वह ओसकी बूँद टिक नहीं पाती, ऐसे ही इस मनुष्यका जीवन टिक नहीं पाता। यदि यह जीवन टिक जाता होता तब फिर कौन पुरुष संसार त्याग करता? कौन पुरुष युवतियोंके संसर्गका सुख छोड़ता, क्यों बनमें जाकर कोई महापुरुष तपश्चरण करता? वे जब सदा जीते रहते ही तो संसारसुख भोगनेकी ही बात करते तो यह जीवन क्षणिक है इसी कारण महापुरुष चंचल नेत्र वाली कामिनियोंका संसर्ग तज देते हैं और बड़े-बड़े राज्य तज देते हैं यदि यह

जीवन क्षणिक न होता तो कौन पुरुष कामिनियोंका संसर्ग न करता ? ढुलते हुए चावरोंसे सुशोभित राज्य विभूतिको कौन पुरुष न सेवता और कौन पुरुष मधुर-मधुर रस व्यञ्जन आदिकके विषयोंको अनुभवमें न लेता ? अर्थात् यदि यह जीवन सदा रहता, कभी नष्ट न होता तो यह मनुष्य विषय ही भोगता, राज्यादिकको ही भोगता रहता। यह कभी उसे त्यागकर तपश्चरणमें न लग पाता। चूँकि यह प्रकट स्पष्ट है कि यह जीवन सदा नहीं रहता और जितने दिन भी रहता उतने दिन भी यह नियम पूर्वक नहीं मर रहा। कितने ही मनुष्य तो गर्भमें ही मर जाते, कोई जन्मते ही बाहर निकलते ही मर जाते। अचानक किसी भी समय मर जाते। तो जब जीवन इस प्रकार का क्षणिक है तो विवेकीजन इस संसारके संकटोंसे हटनेके लिए इन सब मायामयी घटनावोंको त्याग कर ज्ञानात्मक आत्मस्वरूपका ही अनुभव किया करते हैं।

हृसंति धनिनो जना गतधनारुदंत्यातुराः पठंति कृतबुद्धयोऽकृत धियोऽनिशं शेरते, ।
तपंति मुनिपुंगवा विषयिणो रमंते तथा करोति नटनर्तनक्रममयं भवे जन्मिनां ॥२६५॥

अज्ञानी जीवोंकी नटवत् विविध चेष्टायें—यह संसारी प्राणी नटोंके समान कैसा नाना प्रकारकी भिन्न-भिन्न चेष्टायें किया करता है। यह जीव कभी पशु बनता, पक्षी बनता, मनुष्य बन जाता, । यों इसके भेष ही एकदम एक दूसरे से न मिलते हुए नाना प्रकार के यह मनुष्य बना मानो और इस मनुष्यभवमें इसे धन मिल गया तो यह बड़ा खुश रहता है। अपने आपमें संसारमें बड़ा मानता है और जिसके वह धन नाश हो जाता है वह आतुर होकर रुदन करना शुरू कर देता है। तो यह जीव कभी हँसता है, कभी रोता है, यह धनको अपना प्राण सर्वस्व समझता है, तो उसका वियोग होने पर यह चित्तमें कष्ट मानता है। जो ज्ञान वाले पुरुष हैं वे पढ़ा करते हैं और जो ज्ञानरहित पुरुष हैं वे रात दिन आलसमें ही रहते हैं। निद्रा सी लेते रहते हैं। तो यह भी एक विचित्र बात है। ज्ञान वाले पुरुषकी चेष्टा अन्य प्रकार है, ज्ञानरहित पुरुषकी चेष्टा अन्य प्रकार है, जो मनि श्रेष्ठ हैं वे तपश्चरण करते हैं, जो विषीय इन्द्रिय-सुखके लम्पटी हैं वे इन्द्रिय के विषयोंमें ही फसे रहा करते हैं, इनकी भी कैसी विरुद्ध चेष्टायें हैं। कोई तपश्चरण कर रहा तो कोई उसके खिलाफ विषयोंमें रम रहा इस प्रकार यह जीव नटों के समान नाना प्रकार की भिन्न चेष्टायें कर रहा है। ये जन्मके दोष बताये जा रहे हैं। जन्म लेकर इस जीवने कौन सा बड़प्पनका काम किया ? जीवनमें सर्वत्र यह नाना चेष्टायें करता है और वहाँ विविध कष्ट भोगता ही रहता है तो ऐसी जातिको धिक्कार है।

न किं तरललोचना समदकामिनीवल्लभा विभूतिरपि भूभुजां धवलचामरच्छत्रभूत् ।
मरुच्चलितदीपवज्जगदिदं विलोक्यास्थिरं परन्तु सकलं जनाः कृतधिया वनांतं गताः
॥२६६॥

इष्ट समागमोंकी विनश्वरता जानकर विवेकियोंका तपश्चरणोद्यम—कामके मदसे विह्वल हुई ये बल्लभायें कामिनियाँ क्षणिक विनाशीक हैं। जैसे उनके नेत्र चंचल हैं वैसे ही वे स्वयं खुद चंचल हैं। राजा महाराजावोंकी सम्पत्ति जो लोगोंको प्रकट स्पष्ट दिखती है, उन पर छत्र लगे हैं, श्वेत चमर उनके सिरपर ढुल रहे, जिससे राज्यकी बड़ी विभूति विदित होती है तो ऐसी शोभित सम्पत्तियाँ भी शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाली हैं। इससे बढ़कर क्या उदाहरण होगा कि जब श्रीरामका राज्याभिषेक होनेकी तैयारी हो रही थी, निश्चय ही था और अचानक ही यह आज्ञा पितासे सुन पड़ी कि राज्य भरतको दिया जायगा, तो ये राज्यादिक विभूतियाँ ये शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाली हैं। किसी को राज्य वैभव मिला और वह न सम्हाल सका। दूसरे ने उस पर कब्जा किया। तो बड़ी से बड़ी सम्पत्तियाँ शीघ्र नष्ट हो जाने वाली हैं। अन्य भी जो लौकिक सुख हैं वे भी हवा से प्रेरे गए दीपककी लौ के समान चंचल है। जैसे दीपक जलता है तो लौ हवाको प्रेरणासे चंचल रहती है, स्थिर नहीं रह पाती, इसी प्रकार दुनियाके जितने भी सुख हैं वे सब अस्थिर हैं। कोई सुख स्थिर नहीं रहता। यह जीव व्यर्थ ही कल्पनायें करके भ्रमसे अपने आपको सुखी मानता है। ऐसी अनेक बातोंका विचार करें कि जगतमें जो कुछ भी संग प्राप्त हुआ है वह सब विनाशीक है, कभी टिकने वाला नहीं है इसी कारण बुद्धिमान पुरुष इन समस्त अन्य पदार्थोंके लगाव की स्थितिसे छुटकारा पाने के लिए सर्व कुछ त्याग देते हैं और जंगलमें जाकर तपश्चरण किया करते हैं। चूँकि सर्व कुछ समागम केवल अनिष्ट के लिए ही हैं। आत्माका अहितकारी है, उसका आत्मासे कुछ सम्बन्ध नहीं। सो इस ज्ञानबलसे विवेकीजन समस्त परिग्रहोंका त्यागकर ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अपने आपमें अनुभव किया करते हैं।

इति प्रकुपितोरणप्रमुखभंगुरां सर्वदा निधाय निज्चेतसि प्रबलदुःखदां संसृतिः।
विमुंचत परिग्रहग्रहमनार्जवं सज्जना यदीच्छत सुखामृतं रसितुमस्तसर्वाशुभं ॥२६७॥

सुखार्थियोंको ममत्वपरिहारका उपदेश—हे मुमुक्षुजन! यदि तुम्हारी इच्छा समस्त दुःखोंसे रहित चिरस्थायी सुख पाने की है तो इस कुपित सर्पादिक समस्त क्षणभंगुर

समान जीवनको अतीव दुःख देने वाला समझो और उससे छुटकारा पाने के लिए कुटिल परिग्रह के ग्रहणका त्याग करो। ऊपरके छंदोंमें बताया है कि यह जन्म क्षणभंगुर है। इस लोकमें जितने भी समागम मिले हैं वे सब क्षणिक हैं, उन समागमोंमें कल्पनायें करके प्राप्त किया जाने वाला सुख क्षणभंगुर है। उस सुखमें लगाव रखने से आत्माकी बरबादी है। संसार क्लेशकी परम्परा है इसलिए इन सुखों को दुःख मानकर इनकी तो अभिलाषा छोड़नी चाहिए और वास्तवमें आत्मीय स्वाधीन जो सहज सुख है, चिरस्थायी है उस सुख पाने की वाञ्छा होनी चाहिये। सो यदि चिरस्थायी सुख पाने की इच्छा है तो इस जीवनको दुःखदायी समझो जैसे क्रुद्ध हुआ सर्प दुःखदायी है इसी प्रकार यह जीवन यह जन्म दुःखदायी है। यदि यह आत्मा अपने सत्त्वको प्रकट अकेला रखता हुआ होता अर्थात् अन्य पदार्थोंमें मिला हुआ न होता तो आत्मा दुःख रहित था यह दुःखी है तो शरीरके सम्बन्धसे दुःखी है। शरीरके सम्बन्ध होने का ही नाम जन्म है। सो इस जन्मको प्रबल दुःखदायी समझो तो इस जीवनका क्षणिक सुख, इन्द्रियजन्य सुख दृष्टिमें हेय रहेगा और एक आत्माके ध्यानसे केवल आत्मासे ही उत्पन्न हुआ आनन्द यह ध्येय बन जायगा, सो इस ही आनन्दकी इच्छा करें और जीवनको दुःखदायी समझकर जीवनके समागमको, सुखको दुःखरूप समझकर उससे अलग हटनेका पौरुष करें। इन सबसे अलग हटनेका पौरुष यही है कि परिग्रहके ग्रहण का त्याग किया जाय याने समस्त पदार्थोंमें ममताको छोड़ दें। जब इस अमूर्त ज्ञान-मात्र आत्माका अन्य कुछ है ही नहीं तब फिर ममत्व किस बातका किया जा रहा है ?

मनोभवशरार्दितः स्मरति कामिनीं यो नरो विचिंतयति सा परं मदनकातरांगी नरं।
परोऽपि परभामिनीमिति विभिन्न भावेप्सितां विलोक्य जगतः स्थितिं बुधजनास्तयः
कुर्वते ॥२६८॥

जीवोंकी विचित्र परिणतियोंका दिग्दर्शन—जो पुरुष विवेकी हैं, हित अहितकी परख करने वाले हैं वे संसारकी रीति ऐसी समझते हैं कि देखो कामके बाणोंसे पीड़ित होकर पुरुष जिस कामिनी को चाहता है वह कामिनी उसे नहीं चाहती जिस पुरुषको वह कामिनी चाहती है वह पुरुष उस कामिनीको नहीं चाहता और वह तीसरा पुरुष भी जिस कामिनी को चाहता, वह उसे नहीं चाहती। इस जगतकी विडम्बना बड़ी दुःखदायिनी है, ऐसा निरखकर विवेकी पुरुष तपश्चरण करने के लिए बनमें चले जाते हैं। एक ऐसी ही घटना घटी है जिसपर एक छंदमें रचना भी हुई है। वह छंद इस प्रकार है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरुद्ध। साप्यन्यमिच्छति जनं स्वजनेष्वसक्तं इत्यादि। इसमें राजाने उस रानी को उस कोतवाल को इस वेश्याको व खुदको व कामको धिक्कारा है। घटना संक्षिप्त यह है —

एक राजा था तो वह राजा अपनी रानीको चाहता था, पर रानी राजाको न चाहकर एक कोतवालको चाहती थी। कोतवाल वेश्याको चाहता था और वह वेश्या किसी अन्य को चाहती थी। ऐसी ही घटनामें एक अमरफलके आदान-प्रदान से जो तथ्य जाहिर हुआ उसे देखकर राजा विरक्त हो गया था। तो इस जगतमें इन्द्रियज सुखका क्या ठिकाना है? कषायोंसे भरे हुए जीव अपनी-अपनी कषायके अनुकूल चेष्टायें किया करते हैं। यहाँ कौन किसको चाहने वाला है? कौन किसका हिताभिलाषी हो सकता है? सब कुछ अपने-अपने लक्ष्यके अनुसार प्रवृत्तियाँ की जा रही हैं तो जब इस संसारमें कोई किसी को वास्तवमें चाहने वाला नहीं है तब फिर किससे यहाँ राग करना, किसको अपना समझना? ये सब मोहमयी बातें हैं। इन्हें त्यागकर विवेकी पुरुष तपश्चरण करनेके लिए वनमें चले जाते हैं। जहाँ केवल अपना आत्म-स्वरूप ही दृष्टिमें रहता है वहाँ फिर कोई धोखा नहीं है। बाह्य पदार्थोंके लगावमें तो धोखा है, पर स्वकीय ध्यानमें कहीं भी धोखा नहीं है। सो विवेकी पुरुष इस असार संसार समागमको छोड़कर निर्ग्रन्थ होकर सर्व परिग्रहों से ममता त्यागकर अपने आपके आत्मामें ही तेज धुन बनाकर तपश्चरण करने के लिए वनमें चले जाते हैं।

११—जरा निरूपण

जनयति वचोऽव्यक्तं, वक्त्रं तनोति मलाविलं, स्खलयति गतिं, हंति स्मरं, श्लथीकुरुते तनुं।
दहति शिखिवत्सर्वांगानां च यौवनकाननं, गमयति वपुर्मर्त्यानां वा, करोति जरान किं॥ २६९॥

बुढ़ापे का चित्रण— इस परिच्छेदमें बुढापेका वर्णन किया गया है। बुढापेके आ जाने से मनुष्यके वचन अव्यक्त हो जाते हैं, क्योंकि सर्व अंग शिथिल हो जाते हैं। ओंठ जिह्वा आदिक सभी शिथिल पड़ जाते हैं तो उनका वह परस्पर प्रवर्तन नहीं हो पाता जिससे कि वचन स्पष्ट सुननेमें आयें। तो बुढ़ापेमें कैसी-कैसी दुर्दशायें होती हैं उनका वर्णन किया जा रहा है। बुढापेमें जीभ लड़खड़ाने लगती है क्योंकि शरीर शिथिल हो

जाता है अब जीभको मनमाफिक प्रवर्ताना शक्य नहीं हो रहा, और प्रवर्ताते हैं तो शिथिल हो जानेके कारण जीभ लड़खड़ाने लगती है। बुढ़ापेमें मुखमें मल भरा रहता है, मुखसे लार निकलती रहती है और ओंठ लारसे भिड़ रहते हैं। बुढ़ापेमें लार, कफ आदिक बहने लगते हैं। वृद्धावस्था ऐसी दुःखमयी अवस्था है। वह गतिस्खलित हो जाती है। चलते हैं, पैर कहीं रखना चाहते, पर पड़ते कहीं के कहीं हैं बुढ़ापेमें सामर्थ्य नष्ट हो जाती है शक्ति नहीं रहती। अपने हाथ भी आरामसे उठा नहीं पाते। पड़े से उठना कठिन, बैठेसे खड़े होना कठिन, यों सारा शरीर शिथिल होने लगता है। बुढ़ापेमें यह यौवन खाकमें मिल जाता है। जैसे कोई वन अग्निसे मिल गया तो सारा वन खाक हो गया ऐसे ही बुढ़ापेमें यह यौवन खाकमें मिल जाता है। वहाँ न क्रान्ति रहती है, न शरीरकी सामर्थ्य रहती है। बुढ़ापेकी दुर्दशा कहाँ तक कहीं जाय ? जिस अवस्थाका पहले कभी अनुमान न कर सकते थे ऐसी अवस्था शरीरकी बुढ़ापेमें हो जाती है। तो जैसे जन्म एक बड़ा दुःख है, दुःखका मूल निवास है तो बुढ़ापा भी महान दुःख है, जहाँ अच्छी गति मानी जाती है वहाँ बुढ़ापा नहीं आया करता, जैसे देवगति में बुढ़ापा नहीं आया करता, लेकिन मरते समय मालाका मुर्झाना यह सब बुढ़ापेका ही तो चिन्ह है, वहाँ पर भी वे दुःखी रहते हैं। बुढ़ापा एक बहुत बड़ी दुर्दशा है और इस बुढ़ापेका असर मनुष्य और तिर्यञ्चों पर अधिक पड़ता है। जैसे बूढ़े पशु पक्षी शिथिल होकर गतिरहित हो जाते और मरण कर जाते हैं ऐसे ही यह मनुष्य भी बुढ़ापेमें बड़े कठिन दुःख भोगता है। पराधीन हो जाता है। किसी ने सेवा की तो की न की तो जैसी स्थिति है उस स्थितिमें पड़े रहते हैं।

प्रबल पवनयातध्वस्तप्रदीप शिखोपमैरत्तिममलनिभैः कामोद्भूतैः सुखैर्विषसंनिभैः।
समपरिचितैर्दुःख प्रातैः सतामतिनिंदितैरिति कृतमनाः शंके वृद्धः प्रकंपयते करौ ॥२७०॥

वृद्ध पुरुषोंके कम्पित हाथोंसे उपदेशका लाभ—बुढ़ापेमें दुःख क्या है कि मनुष्य के हाथ कंपने लगते हैं सो मानों बुढ़ापेके कारण मनुष्यके हाथ कपकर यह शिक्षा दे रहे हैं लोगोंको कि भाई तुमने जो जवानी अवस्थामें कामजन्य सुख भोगे थे वे अब विष तुल्य हानिकारक सिद्ध हुए हैं। आँधीके वेगसे बुझाये गए दीपकके लौ के समान क्षणविनाशीक और महा दुःखके साधन निकले हैं। सज्जन लोग जो पहलेसे इस काम रोग भोगकी निन्दा करते थे सो बिल्कुल ठीक है उसमें रंच मात्र भी असत्य नहीं है इसलिए इन भोगोंका भोगना सर्वथा अनुचित ही है। बुढ़ापेकी दशा देखो हाथोंका कंपना मानो इस

बातको जाहिर कर रहा है कि यह दुर्दशा मैंने इस कारण पायी कि जवानीमें मन स्वच्छंद करके मनमाना काम भोगा था सो उस काम व्याधि भोगने की परिस्थितिसे आज ऐसी स्थिति हुई है तो ये काँपते हुए हाथ दुनियाको यह शिक्षा दे रहे हैं कि यदि ऐसी दशा नहीं प्राप्त करनी है तो हे युवको अपनी जवानी अवस्थामें समस्त भोगोंका परिहार करके आत्मज्ञानसे भरपूर बनो और आत्माको दृष्टि करके संतुष्ट होवो इन भोगोंमें सार नहीं है यह शिक्षा ये कँपने वाले हाथ स्पष्ट रूपसे लोगोंको दे रहे हैं।

चलयति तनुं, दृष्टेर्भ्रांति करोति शरीरिणां रचयति बलादव्यक्तोक्तिं, तनोति गतिक्षितिं।
जनयति जने नुद्यां निंदामनर्थपरंपरां हरति सुरभिं गंधं देहाज्जरा मदिरा यथा ॥२७१॥

वृद्ध पुरुषोंकी मद्यपायोकी तरह विडम्बना—जैसे मदिरा पीनेसे शरीरको मदिरा चल-विचल कर देता है, आँखोंको भ्रमा देता है, स्फुटित वचन कहलवाता है, चलनेमें बाधा डालता है, लोकमें निन्दाकापात्र बना देता है, देहकी सुगन्धि नष्ट कर देता है, दुर्गन्ध उत्पन्न कर देता है। तो जैसी दशा मदिरापान करने से शरीरकी हो जाती है ऐसी ही दशा वृद्धावस्थासे शरीरकी हो जाती है। जैसे मन्दिरा पीने से शरीर चल-विचल हो जाता है, कंप जाता है तो वृद्धावस्थामें भी शरीर चलविचल हो जाता है और यह कम्पित हो जाता है। शराब पीने से आँखें घूम जाती हैं। वृद्धावस्था आनेसे यहाँ भी आँखोंकी ज्योति कम हो जानेसे दृष्टिमें भ्रान्ति कर देता है। मदिरापायी पुरुष वचन स्पष्ट नहीं बोल पाता। तो यह वृद्धावस्था वाला भी टूटे-फूटे कुछ से कुछ शब्द बोलता है, स्पष्ट नहीं बोल पाता है। मदिरापानसे जैसे चलनेमें बाधा आती है तो वृद्धावस्था होनेसे यह शरीर भी ठीक-ठीक नहीं चल पाता। जैसे शरीर पहले चलता था वैसे अब वृद्धावस्था आने पर नहीं चल पाता। मदिरापायी को जैसे बड़ी निन्दा होती है ऐसे ही वृद्धावस्था में लोगोंसे नाना प्रकार की निन्दा भरी बातें सुननेको मिलती हैं। जो चाहे उस वृद्धको कुछ भी कह जाय आखिर वह वृद्ध उपचार क्या कर सकता है? मदिरा पीनेसे शरीरकी सुगंध खत्म हो जाती है और दुर्गन्ध आने लगती है, तो वृद्धावस्थामें भी शरीरमें दुर्गन्ध आने लगती है। यह वृद्धावस्था बड़ी भयंकर अवस्था है, पूर्ण दुःख वाली अवस्था है। इस वृद्धावस्थासे बचनेके लिए यह ही उपाय है कि इस जीवके शरीरका सम्बंध ही न रहे। शरीर रहित केवल शुद्ध हो जाय। फिर वहाँ बुढ़ापा क्या, किसी भी प्रकार के रोगकी, दुःखकी सम्भावना नहीं रहती इससे इस बुढ़ापाके संकट से बचनेके लिए बुढ़ापारहित, शरीर रहित केवल ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वका अनुभव करना चाहिये और

आत्मतत्त्वकी दृष्टिमें ही रहकर तृप्त रहना चाहिये।

भवति मरणं प्रत्यासन्नं, विनश्यति यौवनं प्रभवति जरा सर्वांगानां विनाशविधायिनी।
विरमत बुधा कामार्थेभ्यो वृषे कुरुतादरं वदितुमिति वा कर्णोपांतस्थितं पलितं जने ॥२७२॥

वृद्धावस्थाके सफेद बालोंसे उपदेश--वृद्धावस्था आनेके समय सिरके बाल श्वेत हो जाते हैं। मानो ये श्वेत हुए बाल लोगोंको कानके पास जाकर अपने आगमन से ऐसी सूचना देते हैं कि हे विद्वान, हे हित अहित के पारखीजनो, तुम्हारा मरण अब समीप है, तुम्हारा मरण शीघ्र आने वाला है, तुम्हारे यौवनकी म्याद पूरी हो चुकी, वह अब नष्ट होने के करीब है, सो देखो तुम्हारा बुढ़ापा आ रहा है, जिससे तुम्हारे अंग जो इस समय काम करनेमें समर्थ हैं वे अब शक्तिहीन हो जायेंगे। किसी कामके न रहेंगे, इसलिए अब कामका प्रयोजन छोड़ो, तुम जो अब तक भोग चुके सो भोग चुके, अब धर्मकी ओर ध्यान दो, अन्तके दिनोंमें तुम भी अपना हित कर लो। मानो ये बुढ़ापेके श्वेत बाल ऐसा स्पष्ट लोगोंको प्रतिबोध कर रहे हैं। बुढ़ापा आने पर यह तो निश्चित ही है कि बुढ़ापेके बाद मरण ही होगा। जवानी या बचपन पुनः लौटकर नहीं आता। एक ही निर्णय है कि मरण होगा। बुढ़ापा कहते हो उसे हैं जहाँ जवानी नष्ट हो गई। शरीर शिथिल हो गया। जैसे पुद्गलमें भी काठ आदिक पदार्थ बहुत दिनके हो जायें तो वे खोखले हो जाते हैं, शक्तिहीन हो जाते हैं, फिर तो उन्हें कोई हाथसे ही तोड़ डालते हैं। तो शरीर भी बहुत दिन तक रहा आया तो यह भी शिथिल हो जाता है, शक्तिरहित हो जाता है। तो ऐसा जरा अर्थात् बुढ़ापा समस्त अंगोंका विनाश करने वाला है। सो यह बुढ़ापा यह शिक्षा दे रहा कि अब तुम काम और धनार्जन आदिकके विकल्प को त्यागकर विराम लो और धर्ममें आदर करो। धर्म ही इस समय इस जीवको विश्राम देगा और परलोकमें भी सद्गतिकी अवस्थाको प्राप्त करायगा, इसलिए बाह्य विकल्पों को त्यागकर अर्थ और काम पुरुषार्थको छोड़कर अब धर्म पुरुषार्थमें चित्त दो, ऐसा ये सफेद केश दुनियाको शिक्षा दे रहे हैं।

मदनसदृशं पश्यंती विलोचनहारिणी शिथिलिततनु कामावस्थां गता मदनातुरा।
तदपि जरसा शीर्णं मर्त्यं बलादिह भोज्यते जगति युवतिर्वा भैषज्यं विमुक्तरतस्पृहा ॥२७३॥

वृद्धावस्थामें कामविडम्बनापर आश्चर्य—जो युवतियाँ नेत्रोंको प्रिय माना जाती थीं, जिनको कामके समान सुन्दर माना जाता था, जिन्हें देखकर शिथिल शरीरको धारण करने वाले कामसे पीड़ित हो जाते थे, उन्हीं को वृद्धावस्थामें अब जरा से जीर्ण

शीर्ण महान निन्दित रूपका धारी देखते हैं, सो वे यद्यपि कामकी इच्छासे बिल्कुल रहित हो जाती हैं तो भी औषधिके समान इच्छा न रखने पर भी जबरन भोगी जाती हैं। इस वृद्धावस्थामें इस पुरुषकी दयनीय दशाका चित्रण किया है। वृद्धावस्था होने पर भी जो पुरुष युवतियोंका सेवन करते हैं उनकी कुचेष्टायें कितनी करुण हैं। जो स्त्री इस पुरुषको कामके समान सुन्दर मानी जाती थीं, जिन्हें देखकर यह पुरुष स्वयं कामसे पीड़ित हो जाता था वही पुरुष अब वृद्धावस्थामें जीर्ण शीर्ण गला हुआ देख रहा है, सो ऐसे शरीरको देखकर स्त्री कामकी इच्छा कैसे करें? ऐसी विकट परिस्थितिमें भी ये स्त्रियाँ अब भी उस वृद्ध जीर्ण शरीर वाले पुरुषोंके द्वारा भोगी जाती हैं, यह बड़े आश्चर्य और अंधेरकी बात है। बुढ़ापा होने पर सर्व कुछ बात शिथिल हो गई, मगर भीतरसे कामकी वासना नहीं निकली। यह अज्ञानका बड़ा कठिन प्रभाव है। तो काम भोगादिकसे विरक्त होकर पूर्ण विश्राम लेकर अपने आपके सहज स्वरूप का दर्शन करना चाहिये था अपने सहज स्वरूपके निरखने में ही तृप्त रहना चाहिये था, मगर यह सब कुछ न होकर ऐसी स्थिति बन गई कि भोग-भोग भी नहीं सकते और इस कारण भोग-भोगने की बड़ी प्रबल वासना बन गई है और उस समय ऐसी स्थिति हो गई जैसी कि नपुंसकोंकी स्थिति होती है। जैसे नपुंसक भोग नहीं भोग सकते मगर उनके मनकी जलन इतनी तेज है, इतनी तीव्र अभिलाषा है कि वह अन्दर ही अन्दर जलता रहता है ऐसे ही यह अज्ञानी वृद्ध पुरुष अपने आपमें जलता ही रहता है।

भवति विषयान् भोक्तुं मोक्तुं न च क्षमचेष्टितो वपुषि जरसा जीर्णो देही विधूतबलः परं।
रसति तरसा त्वस्थीनि श्वा यथा त्वपयोज्झितः कररसनया धिग्जीवानां विचेष्टितमीदृशं ॥ २७४॥

वृद्ध पुरुषोंकी विवशताका चित्रण—यह वृद्ध पुरुष बुढ़ापेके कारण अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। जैसे बहुत पुराना चर्खा, जिसके खूटे वगैरह हिलने लगते हैं, वह खटखट करता है, काम ठीक नहीं देता, ऐसे पुराने चर्खे की तरह बूढ़े व्यक्ति का शरीर हो जाता है। बुढ़ापेमें शारीरिक शक्ति एकदम क्षीण हो जाती है, तो भी आश्चर्यकी बात है कि उस बूढ़ेको इन्द्रियविषयोंके छोड़नेकी इच्छा नहीं होती बल्कि भोगने की इच्छा बनी रहती है। सो जैसे रक्त मांस रहित हड्डीको कुत्ता तृष्णासे चबाता है, चबाता ही रहता है, उसे छोड़ता ही नहीं है, चाहे उस हड्डीके चबानेसे उसके मसूढ़े फट जायें और अपने मसूढ़ों का खून स्वादने लगे और भ्रमसे उसी की हो

ऐसा जानकर कि मुझे हड्डीसे सुख आया है हड्डीको चबाया ही करता है, ऐसे ही इस वृद्धावस्थामें इन्द्रियजन्य बिषयोंकी यह वृद्ध पुरुष सेवा करता ही रहता है, छोड़नेको मन नहीं करता। तो कैसा बुढ़ापेकी दुर्दशा है कि यह अज्ञानी पुरुष इस बुढ़ापेमें न भोगोंको भोग सकता न भोगोंकी इच्छाको छोड़ सकता है। तो ऐसी कठिन स्थिति है इस वृद्ध पुरुषकी। ऐसे जीवोंकी चेष्टावोंको बार-बार धिक्कार है। यदि शरीरने मदद करनी छोड़ दी तो यह शरीरसे उपेक्षा करके आत्माके शुद्ध अन्तःस्वरूपको निरखता रहे, यह काम करना चाहिए, परन्तु आत्मीय पुरुषार्थ को कैसे करे उसका ज्ञान ही नहीं, तो अज्ञानवश बुढ़ापेमें यह वृद्ध पुरुष न भोगोंको भोग सकता और न भोगोंको छोड़ ही पाता।

तिमिरपिहिते नेत्रे लालावलीमलिनं मुखं विगलितगती पादौ देहो विसंस्थुलतां गतः।
पलितकलितो मूर्धा कंपत्यबोधि जरांगनामिति कृतपदां तृष्णा नारी तथापि न मुंचति ॥
२७५॥

जराग्रस्त पुरुषपर तृष्णाकी आसक्ति— संसारका ऐसा एक कायदा बना हुआ है कि स्त्री किसी पुरुषमें तब तक ही प्रेम करती रहती है जब तक कि वह पुरुष उस स्त्रीको चाहता रहता है। जैसे ही उस पुरुषने किसी अन्य स्त्रीको चाहा अर्थात् उस स्त्री से उपेक्षा की और अन्य स्त्रीको चाहा वैसे ही वह स्त्री क्रोध करने लग जाती है और यहाँ तक क्रुद्ध हो जाती है कि उसे छोड़ने पर भी उतारू हो जाती है। लेकिन इस जीवकी बात इससे निराली बन रही है। तृष्णा रूपी स्त्री ऐसी निर्लज्ज स्त्री है जो स्त्रियोंके कायदे के विरुद्ध काम करने लगती है। पुरुष जब जरा रूपी सर्पसे ग्रस जाता है तो इस तृष्णा स्त्रीको उस पुरुषसे मोह छोड़ देना चाहिये, क्योंकि अब उस पुरुषने जरा अर्थात् बुढ़ापा रूपी स्त्रीसे प्रेम किया है याने बूढ़ा हो गया है। यद्यपि उसको इस बातका भी निश्चय हो जाता है कि इस वृद्ध पुरुषके नेत्र मंद ज्योति के हो गए, मुख राल, कफ आदिकसे भरा रहता है। पैर भी ठीक ठिकाने टिक नहीं पाते, चलते हुए में पैर लड़खड़ाते हैं। देह शिथिल झुर्रीदार हो गया, सिर सफेद हो गया, सारे शरीरके अंगोंके साथ सिर भी काँप रहा है, तो स्पष्ट मालूम हो गया कि इस पुरुष को जरा रूपी दूसरी स्त्रीने अपना लिया है। तो जैसा स्त्रीजनोंका कायदा है कि दूसरी स्त्रीका प्रेम दिखे पुरुषपर तो वह उस पुरुषको छोड़ देती है, लेकिन तृष्णा जरा बुढ़ापेकी संगति देखकर भी इस पुरुषको छोड़ना नहीं चाहती, अर्थात् ज्यों-ज्यों

बुढ़ापा बढ़ता जाता है त्यों-त्यों तृष्णा भी बढ़ती जाती है, यह बड़ी विडम्बनाकी बात है।

गलति सकलं रूपं, लालां विमुंचति जल्पनं, स्खलति गमनं, दंता नाशं श्रयंति शरीरिणः।
विरमति मतिर्नो शुश्रूषां करोति च गेहिनी, वपुषि जरसा ग्रस्तं वाक्यं तनोति न देहजः॥ २७६॥

जराग्रस्तकी दुर्दशा—जिस समय यह मनुष्य बुढ़ापेसे ग्रस्त हो जाता है उस समय इसका सम्पूर्ण रूप नष्ट होने लगता है। न कांति रहती है न शरीरमें पुष्टि रहती है, और बुढ़ापा से ग्रस्त पुरुष बोलने में स्पष्ट शब्द नहीं बोल पाता और उसके मुखसे थूक टपकने लगता है, जब वह बूढ़ा पुरुष चलता है तो चलनेमें पैर टेढ़े हो जाते हैं। बूढ़े आदमी के पैर सीधे नही रह पाते। चलनेमें पैर टेढ़े ही चलते हैं। बूढ़के दाँत गिर पड़ते हैं, दाँतहीन मुख हो जाता है। बुढ़ापेमें बुद्धि भी काम नहीं करती। कहते ही हैं लोग कि अब यह सठिया गया। अधिक उम्र होने पर उसकी बुद्धि काम नहीं देती। वृद्ध पुरुषकी खास स्त्री भी जो बहुत पहले बड़ा प्रेम दिखाया करती थी वह भी सेवा सुश्रुषा करना छोड़ देती है और जब पुरुष वृद्ध हो जाता है तो पुत्र भी जानने लगते हैं कि अब इससे मेरा कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं हो सकता, यह मेरे कुछ काम का नहीं रहा सो पुत्र भी उसकी उपेक्षा कर जाते हैं और उसकी आज्ञा नहीं मानते हैं। तो वृद्ध पुरुषकी स्थिति बड़ी दयापूर्ण है। पहले वह कैसा भी बलशाली रहा हो, लोगों पर अपना बड़ा प्रभाव डालने वाला रहा हो, कैसा ही लोगोंके द्वारा वह बड़ा माननीय हो गया हो लेकिन बुढ़ापा आते ही शरीरके पूर्ण शिथिल होते ही ये सारी दुर्दशायें होने लगती हैं और लोग उससे उपेक्षा करने लगते हैं। ऐसा बुढ़ापा इस जीवके लिए हितकारी नहीं है। महान दुःखसे भरा है। तो जब शरीर लगा है तो बुढ़ापा होगा ही। तो जिसे बुढ़ापेका दुःख न चाहिए उसका कर्तव्य है कि ऐसा उपाय बनाये कि शरीरसे ही वह रहित हो जाय याने सिद्ध हो जाय। जब शरीर ही इसे न मिलेगा तो बुढ़ापा आदिकके दुःख इसको किस प्रकार प्राप्त होंगे ?

रचयति मतिं धर्मे, नीतिं तनोव्यतिनिर्मलां, विषयविरतिं धत्ते, चेतः शमं नयते परां।
व्यसननिहतिं दत्ते, सूते विनीतिमथार्चिता मनसि निहिता प्रायः पुंसां करोति जरा हितं॥ २७७॥

जरा की हितकारिता—जो पुरुष ज्ञानी होते हैं उनके लिए बुढ़ापा भी योग्य दिशावोंकी ओर ले जाता है। हित बुद्धिसे विचारा जाय तो बुढ़ापा एक तरहसे प्राणियों

का हित ही करने वाला है। जब वृद्धावस्था आती है तो विवेकी पुरुषोंकी बुद्धि धर्ममें लग जाती है, क्योंकि विवेकी पुरुष उस समय वैराग्य बुद्धिमें आ जाते हैं। यह संसार अहितरूप है, यहाँ जितने भी समागम प्राप्त किये हैं वे सब इसके अनर्थके लिए ही हैं। इन समागमोंकी क्या चाह करना? मैंने अब तक इन इष्ट समागमोंमें रमकर अपने आपको भुलाया ही है। अब जीवनके अन्तका समय निकट आ गया, इसकी निशानी यह बुढ़ापा है। इन भोगोंमें बुद्धि न रखकर आत्मतत्त्वमें ही बुद्धि रखनी चाहिये। इस प्रकार विवेकी जनोंकी बुद्धि धर्ममें आ जाती है। वृद्ध पुरुषके जो कि विवेकी हो उसकी निर्मल नीति चलने लगती है। उसका आचरण निर्मल नीति पूर्ण होने लगता है। अन्याय के लिए उसके चित्तमें इच्छा नहीं उत्पन्न होती। वृद्धावस्थामें विषयोंसे विरक्त हो जाता है क्योंकि विषय भोगकर कुछ नहीं पाया, यह उसका ध्यान बना हुआ है और विषयोंके भोगनेका अब भाव नहीं रहा है, इस कारण उस वृद्ध विवेकी पुरुषके विषयोंसे वैराग्य हो जाता है। बुढ़ापेमें चित्तमें एक अभूतपूर्व शान्तिका आविर्भाव होता है क्योंकि अब उसे न करने का भाव आया है। मेरे करनेको जगतमें कुछ भी नहीं है प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें अपनी ही परिणति किया करता है एक का दूसरे से कुछ भी सम्बंध नहीं है। वृद्धावस्थामें इन विवेकी पुरुषोंके पवित्र विनयका भाव जगने लगता है।

युवतिपरा नो भोक्तव्या त्वया मम संनिधाविति निगदितस्तृष्णां योषां न मुंचसि किं शठ।
निगदितुमिति श्रोत्रोपांतं गतेव जरांगना पलितमिषतो न स्त्रीमन्यां यतः सहतेंऽगना॥
२७८॥

जराका जराग्रस्त को संबोधन—जो उसके केश श्वेत बन गए हैं सो मानो उस बहाने जरा कानके समीप आकर ऐसा कहती है कि हे बुद्धिमान अब मैं तुम्हारी हितकारिणी जरास्त्री आ गई। मेरे सामने तुमको इस दुष्ट तृष्णाका सम्पर्क न करना चाहिये। अब तक तुमने इस दुष्ट तृष्णाका ही सम्पर्क किया जिससे जीवन भर दुःखी रहे। जगतके ये सब पदार्थ भिन्न हैं, उनसे तुम्हारा कोई सम्बंध नहीं है, फिर उनके विषयमें तृष्णा करके क्यों अपने आपको परेशान करते हो? अब इस तृष्णाका सम्पर्क न करना। इस तृष्णा की संगतिसे तुमने नाना प्रकारके दुःख उठा लिया है। जो भी दुःख हुए हैं वे सब तृष्णाके कारण हैं। जो लोग ऊँचे ओहदेदार बनकर अपने आपको बड़ा समझते हैं वे उस प्रतिष्ठामें कायम रहनेके कारण तृष्णासे निरन्तर व्याकुल बने रहते हैं। जो धनिक लोग धन संग्रह करके धनकी बात सोचकर मौज मानते हैं वे धन बढ़ानेके भावसे, और भी बढ़ाते रहनेके भावसे

बड़े व्याकुल रहा करते हैं। तो इस तृष्णाकी संगतिसे तुमने नाना प्रकारके दुःख उठाया है, अब इस तृष्णाका संग क्यों नहीं छोड़ते ? स्त्री भी तो अपनी सौतको अपने सामने इस तरह पतिमें आसक्त कभी नहीं देख सकती ? मानो जरा कह रही है कि मैं आपकी एक भक्त स्त्री हूँ, हितकारिणी हूँ, आपको हितमार्गमें लगाने आयी हूँ, मैं अपनी इस सौत तृष्णाको आपमें आसक्त होते नहीं देख सकती। आप इस तृष्णाका सम्पर्क बिल्कुल त्याग दें और तृष्णारहित अपने सहज आत्मस्वभावकी दृष्टि कीजिए जिससे कि आपके आत्माका कल्याण हो। यह बुढ़ापा रूपी स्त्री श्वेत बालके रूपमें कानके निकट आकर इन विवेकी पुरुषोंको इस प्रकारसे समझा रही है। तात्पर्य यह है कि यह वृद्धावस्था सन्मार्गमें लगनेको प्रेरणा देती है। विवेकियों का कर्तव्य है कि वृद्धावस्था आने पर सर्व प्रकारके राग रंग तृष्णा छोड़कर एक सहज शुद्ध आत्मतत्त्वके चिन्तनमें अपना उपयोग लगायें।

वचनरचना जाताव्यक्ता मुखं वलिभिः श्रितं, नयनयुगलं ध्वांता घ्रातं श्रितं पलितं शिरः।
विघटितगती पादौ हस्तौ सवेपथुतां गतौ तदपि मनस्तृष्णा कष्टं व्युपैति न देहिनां ॥२७९॥

अर्धमृतकसम वृद्धपुरुषकी तृष्णाकी जवानी—वृद्धावस्थामें मनुष्योंकी वचनरचना अव्यक्त होने लगती है, क्योंकि सारे अंग जब शिथिल हो गये, ओंठ, जिह्वा आदिक शिथिल हो गए, मुखका चलना अब शिथिल हो गया तो ऐसी स्थितिमें वचनरचना सही कैसे निकल सकती है ? क्योंकि ये वचन अपने सही-सही स्थानका, जिह्वा आदिकका सही-सही स्पर्शन होने पर ही निकलते हैं। अब अंग शिथिल होनेसे जिह्वा आदिक सही काम नहीं कर सकते तो यह वचन रचना अव्यक्त होने लगती है। मुखपर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, क्योंकि वृद्धावस्थामें खूनका बनना अतीव मंद हो जाता है और बने हुए खून मांस आदिक शिथिल होने लगते हैं। मुखपर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। वृद्ध पुरुषके दोनों नेत्र मंद ज्योति वाले हो जाते हैं क्योंकि जिन नसावोंसे नेत्र ज्योतिका सम्बंध है वे नसाजाल भी शिथिल हो जाते हैं। उनसे अब खूनका बढ़ना बन्द हो जाता है, मंद हो जाता है, इस कारण वृद्ध पुरुषके दोनों नेत्र मंद ज्योति वाले हो जाते हैं। वृद्ध पुरुष के सिरके केश श्वेत हो जाते हैं जो साक्षात् यमराजके आनेकी सूचना दे रहे हैं। इस वृद्ध पुरुषके पैर टेढ़े-मेढ़े पड़ने लगते हैं पैर सही स्थान पर नहीं पड़ते हाथों में भी कंपकपी आने लगती है। हाथ अपने वशमें नहीं रह पाते, क्योंकि सारे अंग शिथिल हो गये हैं, तो हाथ कंपने लगते हैं। वृद्धावस्थामें ऐसे शरीरकी दुःखदायी स्थिति हो जाती है। सो अब अंगोंने जवाब दे दिया। आयु भी अब मिटने वाली है, किन्तु बड़े आश्चर्यकी बात

है कि मनकी तृष्णा नहीं मिटती। वृद्ध पुरुषोंके प्रायः तृष्णा बनने लगती है, क्योंकि तृष्णा मनकी हबस है सो जब शरीर किसी वस्तुको भोगने लायक नहीं रहता और इसके इच्छा बनी रहती है तो उस समय भी तृष्णा बहुत बड़ी जग जाती है, ये सब अज्ञानकी चेष्टायें हैं। अज्ञान अवस्थामें जिसका सारा जीवन गुजरा, उसके बुढ़ापा आने पर भी तृष्णा आदिक व्याधियाँ उसके सामने बढ़ जाती हैं, किन्तु जो ज्ञानी पुरुष हैं वे वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानकर तृष्णाको दूर कर देते हैं, किन्तु यह संसार तो अज्ञानियोंसे भरा हुआ है। यहाँ जो पुरुष वृद्ध होते हैं उनके तृष्णा बढ़ती है, मिटती नहीं है। तो यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि देह मिटने वाला है, आयु समाप्त होने वाली है, देह जीर्ण हो गया है, किन्तु यह तृष्णा जीर्ण नहीं होती, सो यह सब विडम्बना इस संसारमें जब तक शरीर मिलता है होती रहेगी। सो यह वृद्धावस्थाकी विडम्बना जिसको इष्ट नहीं है वह शरीररहित ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी उपासना करे!

सुखकरतनुस्पर्शा गौरीं करग्रहलालितां नयनदयितां वंशोद्भूतां शरीरबलप्रदां।
धृतसरलतां वृद्धो यष्टिं न पर्वविभूषितां त्यजति तरुणीं व्यक्त्वाप्यन्यां जरावनितासखीं॥ २८०॥

वृद्ध पुरुषको स्त्रीका सहारा छूट कर लाठीका सहारा होना—वृद्धावस्थामें स्त्री भी साथ छोड़ देती है। जिस स्त्रीने वृद्धावस्था तक सुखकारी शरीरका स्पर्श दिया था। जो शरीरके स्पर्शसे सुख देने वाली थी, नेत्रोंको प्रिय थी, हस्तके ग्रहण करनेसे जो लालित हुई, प्रिय हुई और कुलीन भी हुई, शारीरिक बलको भी प्रदान करने के उपाय कर रही थी, जिसने अपने जीवनमें सरलता ही धारण की हो ऐसी भी परिग्रहीत स्त्री अर्थात् जिसके साथ धर्मविधि पूर्वक विवाह हुआ हो वह स्त्री भी इस पुरुषको छोड़ देती है मायने प्रीति नहीं करती, पर उससे पहले यह वृद्ध पुरुष भी उस ऐसी भामिनी को छोड़ देता है जिस स्त्रीने इसका जीवन भर लालन पालन किया, बड़े सुखसे उसको रखा और सदैव यह वासना रखी कि मेरेको चाहे दुःख हो जाय पर यह स्त्री सुखसे रहे, ऐसी स्त्री को भी यह वृद्ध पुरुष छोड़ देता है अर्थात् अब स्त्रीका संग नहीं करता लेकिन अब इस पुरुषने लाठी रूपी स्त्रीका संग पकड़ा है याने वृद्ध होने पर यह पुरुष लाठीका सहारा लेकर चलता है, तो इसने उस स्त्रीका सहारा लेना तो छोड़ दिया और लाठीका सहारा लेना ग्रहण किया है। तो अब मानो उस वृद्धावस्थामें साथी का काम लाठी कर रही है याने वृद्धावस्थाका मित्र लाठी बनी है। जो लाठी अनेक वर्षोंसे

विभूषित है, बाँसकी लाठी होती है, उत्तम बंशसे उत्पन्न हुई है, अब यही शरीरकी सहायक है जिसके ऊपर अच्छी मूँठ लगी हुई है, सीधी सादी है ऐसी यष्टि रूपी नवीन स्त्रीको अब यह वृद्ध पुरुष ग्रहण कर लेता है। पाणिग्रहीत स्त्रीकी तरह इस लाठी रूपी स्त्रीकी उपमा दी गई है। जैसे युवती सुखकारी शरीरके स्पर्शसे युक्त है तो यह लाठी भी कोमल स्पर्शसे युक्त है। वह युवती नेत्रोंको प्रिय है तो अब इसको यह लाठी नेत्रोंको प्रिय हो गई, वह स्त्री कुलीन है, उच्च कुलमें पैदा हुई है, तो यह लाठी भी उत्तम बाँससे उत्पन्न हुई है बाँसको बंश कहते हैं। उत्तम बंशसे उत्पन्न हुआ है। तो यह लाठी भी उत्तम बंशसे उत्पन्न हुई है। जैसे वह स्त्री शरीरको सहायक थी शरीरका बल पैदा करने के उपाय बनाती थी तो यह लाठी भी इस वृद्ध पुरुषको शरीरकी सहायक बनती है। जैसे वह स्त्री सरल चित्त वाली थी वैसे ही यह लाठी भी सरल है, सीधी है। वृद्धावस्था के चित्रणमें इस छंदमें यह बताया गया है कि इस वृद्ध पुरुषने स्त्रीको तो छोड़ दिया और अब लाठीको ग्रहण किया है।

त्यजसि न हते तृष्णायोषे जरांगनया नरं रमितवयुषं धिक्ते स्त्रीत्वं शठे त्रपयोज्झिते।
इति निगदिता कर्णीभ्यर्णे गतैः पलितैरियं तदपि न गता तृष्णा का वा नु मुंचति बल्लभां ॥
२८१॥

वृद्धपुरुषसे प्यार करनेके हठमें तृष्णाकी निर्लज्जता—वृद्धावस्था बुढ़ापे के कारण श्वेत हुए ये केश रूपी सभ्य पुरुष हैं जो तृष्णारूपी स्त्रीको बार-बार धिक्कारते हैं। मानो यह बात बार-बार कहते हैं कि हे निर्लज्ज तृष्णा इस पुरुषको अब तू छोड़ दे। यह पुरुष अब तेरे कामका नहीं रहा, क्योंकि जो श्रेष्ठ स्त्रियाँ होती हैं वे अपने सामने अपनी सपत्नीका साम्राज्य नहीं देख सकतीं। यहाँ जरा और तृष्णा इन दो स्त्रियोंका जिक्र चला है। ये पुरुषकी दोनों पत्नी हैं। पूर्व पत्नी तृष्णा थी जो अब तक है। नवीन पत्नी जरा आयी हुई है तो कोई भी सौत अपने सामने दूसरी स्त्रीका वैभव साम्राज्य नहीं देख पाती। वह अपना ही चला बनानेको सोचती है। सो अब जरा कह रही है कि श्वेत केशोंके बहाने जब मैंने इस पुरुषसे प्रेम किया है तो हे तृष्णा तू अपना सम्बंध छोड़ दे। देख यह पुरुष जरा रूपी स्त्रीके फंदेमें पड़ चुका है उसे अब और सेवन करना तुझे धिक्कार है। श्वेत केश मानो उस तृष्णासे वार्ता कर रहे हैं, इस प्रकार मालूम पड़ता है, तो ये सफेद केश इस तृष्णाको बार-बार धिक्कारते हैं किन्तु यह तृष्णास्त्री इतनी बेशरम हो गई है और स्त्रीपनके कायदेसे इतना गिर गई है कि इतना धिक्कारे जानेके बाद यह

तृष्णा इस पुरुषको नहीं छोड़ती है। सो इस तृष्णाका यह पुरुष इतना प्यारा बन गया है अथवा इस पुरुषको यह तृष्णा इतनी प्यारी बन गई है कि ये सफेद केश मानो बार-बार धिक्कार रहे हैं कि अब तृष्णा और पुरुष का संग होना भला नहीं है, मगर न तृष्णा उस पुरुषको छोड़ती है और न यह पुरुष इस तृष्णाको छोड़ता है। इस छंदमें बुढ़ापेकी दयनीयता दिखाई गई है कि बूढ़ा होने पर भी और भोग भोगनेके अयोग्य होने पर भी यह वृद्ध पुरुष अब तृष्णाको छोड़ना नहीं चाह रहा है।

त्यजत विषयान् दुःखोत्पत्तौ पटूननिशं खलान्मजत विषयान् जन्मारातेर्निराशकृतौ हितान्।
जरयति यतः कालः कायं निहंति च जीवितं वदितुमिति वा कर्णोपांते गतं पलितं जनाः ॥
२८२॥

श्वेतकेशोंका कर्णके पास आकर उपदेश—अथवा हे सज्जनों, सदा नाना प्रकारके दुःख देने वाले इन महान दुष्ट विषयोंका तो त्याग करो। मायने ये सफेद केश कानके पास आकर मानो बार-बार समझा रहे हैं कि हे विवेकी पुरुष इन दुष्ट विषयोंने जीवन-भर तुझे दुःख ही दिया है सो अब इन दुष्ट विषयोंका तो परित्याग ही करो। ये विषय जन्म-मरण के बढ़ाने वाले हैं अर्थात् जन्म दिलाते रहेंगे और मरण होते रहेंगे, पर जो अपना आत्मतत्त्व है वह विषय जन्म-मरणको नष्ट करने वाला है, परम हितकारी है। इस अंतस्तत्त्वका आलम्बन कर, क्योंकि समय व्यतीत होता जा रहा है और जीवन शरीरको क्षीण करता चला जा रहा है, ऐसी स्थितिमें अब आत्म-कल्याण शीघ्र कर लेना उचित है। यदि इस समय भी चूके तो ऐसे भवोंके क्लेश अनेक भवोंमें पावोगे। इन क्लेशोंसे यदि छूटना है तो शरीर रहित जो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व है उस रूप अपने आपको भावो। मैं अमूर्त शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ, शरीरसे रहित हूँ, ऐसा अपने को ज्ञानमय अनुभव करो और इन दुष्ट विषय भोगोंका परित्याग करो।

हरति विषयान् दंडालंबे करोति गतिस्थिती स्खलयति पथि स्पष्टं नार्थं विलोकयितुं क्षमा।
परिभवकृताः सर्वाश्चेष्टास्तनोत्यनिवारिता उनृपमतिवद्देहं नृणां जरा परिजृंभते ॥२८३॥

जराकी कुन्टपमतिसे तुलना—पुरुषोंका बुढ़ापा खोटे राजाकी मतिकी तरह इस देहमें आकर अपना डेरा जमाता है और सारी खोटी चेष्टायें कराता है। जिस समय यह वृद्धावस्था मनुष्यके देहमें आकर बसती है उस समय उसकी सारी चेष्टायें खोटे राजाकी बुद्धिको तरह हो जाया करती हैं। जैसे जिस तरह खोटे राजाकी बुद्धि विचारने योग्य बातोंको छोड़ देती है उसी प्रकार यह बुढ़ापेसे ग्रस्त पुरुष भी विषयोंको छोड़ देता है

याने इन्द्रिय भोग भोगनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है इस कारण छोड़ देता है। यदि ज्ञान-बलसे छोड़ता तो उसका छोड़ना भला था किन्तु उसने मनसे नहीं छोड़ा। शारीरिक अशक्ति होनेसे इन्द्रिय विषय भोगोंको छोड़ना पड़ा है। २री बात जैसे खोटे राजाकी बुद्धि गति और स्थिति दोनों ही जगह है याने शान्ति और विरोधमें सभी जगह दण्ड नियमका आलम्बन करता है मायने दण्डका आलम्बन लेना होता है उसी प्रकार यह वृद्ध पुरुष भी गति और स्थितिमें याने चलने और बैठने आदिक सब अवस्थावोंमें दण्डका आलम्बन करता है। तीसरी बात–जिस प्रकार यह खोटे राजाकी बुद्धि पथसे भ्रष्ट हो जाती है याने न्याय-मार्गसे स्खलित हो जाती है और तब योग्य अयोग्यका विचार नहीं कर सकती। उसी प्रकार बुढ़ापेसे ग्रस्त मनुष्य भी पथ-भ्रष्ट हो जाता है याने रास्तेमें स्खलित हो जाता है। थोड़ा दूर चल पाता है फिर बैठ जाता है। रास्तेमें जहाँ पैर रखना चाहता है वहाँ पैर नहीं पड़ते हैं। चौथी बात–जिस प्रकार खोटे राजाकी बुद्धि अर्थको याने वास्तविक तत्त्वको स्पष्टतया नहीं देख सकती, उसी प्रकार यह वृद्ध पुरुष भी अर्थको याने पदार्थको स्पष्टतया नहीं देख सकता है। ५वीं बात–जैसे खोटे राजाकी बुद्धि समस्त परिभव याने तिरस्कारका फल देने वाली चेष्टावोंको करता है याने कुबुद्धि होनेसे स्वयंका तिरस्कार हो, ऐसी चेष्टावोंको करता है, दूसरोंका तिरस्कार हो ऐसी चेष्टावोंको करता है, उसी प्रकार यह वृद्ध पुरुष भी वैसी ही परिभव फल देने वाली चेष्टावोंको करता है अर्थात् इसका तिरस्कार भी हो सर्वत्र ऐसी चेष्टायें होती रहती हैं। तो यह वृद्धावस्था इस मनुष्य को खोटे राजाकी बुद्धिकी तरह परेशान किया करती है।

शिरसि निभृतं कृत्वा पादं प्रपातयति द्विजान् पिबति रुधिरं, मांसं सर्वं समत्ति शरीरिणां।
स्थपुटविषमं चर्मगात्रां दधाति शरीरिणां विचरति जरा संहाराय क्षितावि व राक्षसी॥
२८४॥

जराकी कुपित राक्षसीसे तुलना—यह वृद्धावस्था क्रुद्ध हुई राक्षसीकी तरह चेष्टा करती है। जैसे पहली बात–इस लोकमें क्रुद्ध हुई राक्षसी पहले लोगोंके सिर पर पैर रखती है इसी प्रकार यह वृद्धावस्था भी पहले लोगोंके सिर पर पैर रखती है मायने उस पुरुषके समस्त केश श्वेत हो जाते हैं। तो वृद्धावस्थाने इस पुरुष पर पैर रखा इसका परिचय तो सफेद बालोंसे मिलता है। तो सफेद बालोंके बहाने इस वृद्धावस्थाने लोगोंके सिर पर पैर रखा। दूसरी बात–जैसे वह क्रुद्ध राक्षसी लोगोंके सिर पर पैर रखकर द्विजोंका (ब्राह्मणों का) मांस खून पीती है अर्थात् द्विजोंका (ब्राह्मणोंका) संहार करती है, ऐसी बात प्रसिद्धिमें

है, इसी प्रकार यह वृद्धावस्था इन द्विजोंको याने दाँतोंको गिरा देती है, और खूनको भी सुखा डालती है याने वृद्धावस्थामें दाँत गिर जाते हैं और रुधिर, मांस आदिक भी क्षीण हो जाते हैं। तीसरी बात–जैसे वह क्रुद्ध राक्षसी जिस पर क्रुद्ध हुई है उसके मांसको खा जाती है, केवल हाड़ ही हाड़ छोड़ देती है, इसी प्रकार यह वृद्धावस्था भी मांसको जला देती है और जीर्ण-शीर्ण अवस्था करके केवल हाड़ ही हाड़ बचने देती है। चौथी बात–जैसे यह क्रुद्ध राक्षसी चर्मांगोंको तितर-बितर करके विसम कर देती है याने चमड़ी को भी लोच डालती है, उसी प्रकार यह वृद्धावस्था भी चर्मांगोंको विसम कर देती है मायने झुर्रीदार बना देती है। उसके सभी अंगोंमें चामकी झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। इस तरह यह वृद्धावस्था क्रुद्ध राक्षसीकी तरह वृद्ध पुरुषोंको कष्टदायिनी होती है। ऐसी वृद्धावस्था जिन्हें न चाहिये उनका कर्तव्य है कि ऐसा प्रयोग करें कि जिससे शरीरका सम्बन्ध सदाके लिए छूट जाय, फिर बुढ़ापा आदिक रोग आ ही न सकें और वह उपाय है कि शरीर-रहित अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी साधना करना।

भुवनसदन प्राणिग्रामप्रकंपविधायिनी निकुचिततनुर्भीमाकारा जराजरती रुषा।
निहितमनसं तृष्णानार्यां निरीक्ष्य नरं भृशं पलितमिषतो जातेर्ष्या वा करोति कचग्रहं॥ २८५॥

जराग्रस्त पुरुषपर तृष्णाका आक्रमण—जैसे कोई स्त्री अपनी सौतमें आलिंगन कर, देखकर, क्रुद्ध हुई स्वामीके केशोंको पकड़ लेती है याने सौतसे उसको ईर्ष्या है, तो उस सौतने यदि पतिका आलिंगन किया हो तो वह पति पर क्रुद्ध होकर पतिके केशोंको पकड़ लेती है और इस प्रकारके दुर्व्योहारसे समस्त कुटुम्बके देहमें वह कँपकँपी बना देती है। जब इस प्रकार कलहकी तीव्रता होती है तो कुटुम्बीजन देखकर भी कँप जाया करते हैं। भीतर यह भयंकर बुढ़ापा रूपी स्त्री तृष्णा रूपी भार्यामें पुरुषको अधिकाधिक फँसा हुआ देखकर श्वेत हुए केशोंके बहाने इसके केश पकड़ लेती है। जरा और तृष्णा इन दोनोंको स्त्रीका रूप दिया है। तो जब जरा यह देखती है कि मेरी तृष्णासौत पुरुषमें अधिक व्याप रही है, पुरुषका आलिंगन कर रही है और यह पुरुष भी उस तृष्णासौतमें फँसा हुआ है तो मानो इस जराने क्रुद्ध होकर उस पतिके केशोंको जकड़ डाला याने केश सफेद हो गए, यह ही उन केशोंका जकड़ना हुआ और इस प्रकारके बर्तावसे याने जब श्वेत केशके बहाने इस पुरुषको जराने जकड़ लिया तो समस्त संसाररूपी गृहके प्राणीसमुदायके देहमें घृणासे कँपकँपी बना देता है याने जराने उस पुरुषको श्वेत केशके रूपमें 'ाड़जक उनकी हालत तो

शिथिल हुई, तो अन्य प्राणी भी उस शिथिल देहको देखकर घृणा करने लगते हैं, और उस घृणामें देह कँप जाता है, इसी प्रकार इस बुढ़ापेके प्रसंगसे इस वृद्ध पुरुषको कष्ट तो होता ही है मगर इसके साथ अन्य प्राणिसमुदाय घृणा करने लगते हैं। ऐसी शक्ल सूरत हो जाती है बुढ़ापेमें कि कोई बच्चा अचानक देख ले तो डर जाय। ऐसी इस वृद्धावस्थाकी कठिन स्थितियाँ हैं। तो इन स्थितियोंसे छूटनेका उपाय केवल ज्ञानानन्द स्वभाव अंतस्तत्त्वकी आराधना रखना है।

विमदमृषिवच्छ्लोकंठं वा तादांकितविग्रहं शिशिरकरवद्ध वक्त्रं वेशं विरूप विलोचनं।
रविमिवतमोमुक्तं दंडाश्रितं च यमं यथा वृषमपि बिना मर्त्यं निद्या करोतितरां जरा
॥२८६॥

वृद्धावस्थाकी देवतावोंसे होड़का मजाक—इस छंदमें अंलकार रूपमें यह कहा गया है कि यह निन्यनीय जरा धर्म किए बिना ही मनुष्यसे देवताका स्वरूप बना देता है, यहाँ वृद्धावस्थाकी निन्दाके रूपमें, मजाकके रूपमें वृद्धावस्थाको देवताकी उपमा दी है, सो देवका स्वरूप कोई धर्मके प्रसाद से ही पा सकता है, मगर इस वृद्धावस्थाने धर्म तो कुछ किया नहीं और धर्मके ही बिना मनुष्योंको देवताका स्वरूप दे देता है। देखिये जैसे ऋषि विमद होते हैं इसी प्रकार यह जरा भी मनुष्योंको विमद बना देती है। विमदका अर्थ है घमंडरहित, मद न होना। तो ऋषि तो विमद होते ही हैं याने घमंडरहित होते हैं और जराने मनुष्यको विमद किया मायने वीर्यरहित बना दिया, शक्तिहीन बना दिया। अब यह मनुष्य किस बात पर मद करे? दूसरी बात—जिस प्रकार श्रीकृष्ण गदंकित हैं मायने गदा अस्त्रसे चिन्हित हैं, जिनके गदा अस्त्र पाया जाय उन्हें श्रीकृष्ण कहते हैं। श्री कृष्णके गदा अस्त्र था। तो जैसे श्रीकृष्ण गदांकित हैं इसी प्रकार यह वृद्धावस्था मनुष्यको गदांकित कर देती है। यहाँ गदांकित का अर्थ है गदा मायने राग उससे अंकित मायने सहित कर देना। जब बुढ़ापा आता है तो शरीरमें अनेक तरह की व्याधियाँ आ जाया करती हैं। तो जराने वृद्ध पुरुषके शरीरको गदांकित कर दिया। तीसरी बात—जिस प्रकार महादेव विरूप नैत्रके धारक हैं इसी प्रकार यह जरा भी मनुष्य को विरूप नेत्र वाला कर देता है। महादेवके अर्थमें विरूप विलोचनका अर्थ है असमान तीन नेत्रोंका धारी होना, जैसी कि लोकमें प्रसिद्धि कर रखी है और जराके अर्थमें विरूप विलोचन कर देनेका मतलब है कि यह बुढ़ापा वृद्ध पुरुषके नेत्रोंको मंद ज्योति वाला कर देता है मायने कम दिखने लगता है अथवा दिखना बंद हो जाता है। चौथी बात—जैसे

सूर्य तमोमुक्त है अर्थात् अंधकारसे रहित है, सूर्य जहाँ होता है वहाँ अंधकार कैसे रह सकता है ? तो सूर्य तमोमुक्त है तो यह जरा भी मनुष्यको तमोमुक्त बना देता है, यहाँ तमका अर्थ निद्रा है। वृद्धावस्था मनुष्य को निद्रारहित कर देती है याने वृद्धावस्थामें निद्रा नहीं आया करती है, ऐसा विचित्र देहको शिथिल कर देता है। ५ वीं बात—जिस प्रकार यमराज दण्ड अस्त्रका धारक है, वह दण्डाश्रित है, ऐसी प्रसिद्धि है कि यमराज दण्ड अस्त्रको लिए रहता है तो यह जरा भी मनुष्यको दण्डाश्रित कर देता है, यहाँ दण्डका अर्थ लाठी है, मायने मनुष्यको दंडके आश्रित कर देता है। अब वह वृद्ध पुरुष थोड़ा कुछ चल पाता है तो लाठीके सहारे चल पाता है। इस प्रकार इस छंदमें साहित्यिक अलंकारके ढंगसे जरामें इस लोक प्रसिद्धि देवताओंकी तरह शब्दोंमें समानता बतायी गई है, जिसका अर्थ स्पष्ट यह है कि जरा मनुष्यको हर तरह से परेशान कर देता है ऐसे इस जरा रोगसे हटनेके लिए यह कर्तव्य है कि अपने आपमें अन्तः प्रकाशमान सहज परमात्मतत्त्वकी ही उपासना करें, उसकी ही शरण ग्रहण करें।

विगतदशनं शश्वल्लालाततताकुलसूक्ककं स्खलति चरणाक्षेपं तुंडा परिस्फुटजल्पनं।
रहितकरणव्यक्तारंभं भूदूकृतमूर्धजं पुनरपि नरं पापा बालं करोतितरां जरा ॥२८७॥

वृद्धावस्थाकी बचपनसे तुलना—इस छंदमें वृद्धावस्थाका चित्रण शक्तिहीन शिशुके साथ किया गया है। मानो यह जरा मनुष्यको पुनः बालक बनाये दे रहा है। किस प्रकार ? पहली बात–जैसे बालक दांतरहित होता है याने शिशुके दांत नहीं होते उसी प्रकार यह जरासे ग्रस्त बुड्ढा आदमी भी दांतरहित हो जाता है। फर्क इतना है कि बालकके दांत न थे, दांत प्रकट होंगे, इस वृद्ध के दांत थे और अब दाँत गिर गए हैं, मगर दंतविहीन की तुलनामें यहाँ वृद्ध पुरुषको बालकके समान बना देने की बात कही गई है, दूसरी बात—जैसे बालकका मुख सदा राल, थूक से भरा रहता है, बालक शक्तिशाली नहीं होता है, अपने मलको डाट नहीं सकता, तो उसके मुखसे राल सदा बहती रहती है इसी प्रकार इस वृद्ध पुरुषका मुख राल और थूकसे भरा रहता है। यह भी वृद्धावस्थाके कारण शिथिल है तो अपने मुखके मलको डाट नहीं सकता, तो इसके भी मुखसे राल और थूक बहता रहता है। तीसरी बात—जिस प्रकार बालक पहले तो चल नहीं सकता, यदि चलने का मन करता है तो थोड़ी दूर जाकर वह स्खलित हो जाता है, गिर जाता है फिर चलनेको चित्त चाहता है। थोड़ा चलता है फिर गिर जाता है। तो जैसे बच्चा बार-बार गिर पड़ा करता है इसी प्रकार यह वृद्ध पुरुष भी पहले तो वह

चल नहीं सकता, पीछे गिरे तो उठना भी कठिन हो जाता। कदाचित् उठ जाय और चले भी तो वह थोड़ी दूर जाकर स्खलित होने लगता है, गिर भी पड़ता है। चौथी बात—जिस प्रकार बालक मुखसे स्पष्ट नहीं बोल पाता इसी प्रकार यह वृद्ध भी मुखसे स्पष्ट नहीं बोल सकता। जिह्वा आदिक स्थानों पर जिस विधिसे लगना चाहिये उस विधिसे शक्तिहीनताके कारण बालकके नहीं लग पाती। तो ऐसी शक्ति नष्ट हो जानेके कारण इस वृद्ध पुरुषके भी जिह्वा आदिकका स्पर्श सभी स्थानों पर नहीं हो पाता इस कारण बालक की तरह यह वृद्ध पुरुष भी स्पष्ट नहीं बोल सकता। ५वीं बात—जिस प्रकार बालककी इन्द्रिय प्रबल न होनेसे वह अच्छी तरह कार्य नहीं कर सकता उसी प्रकार इस वृद्ध पुरुषकी इन्द्रिय भी प्रबल न होनेसे भली भाँति काम नहीं कर सकतीं। छठी बात—जैसे बालकके केश कोमल होते हैं वैसे ही इस वृद्ध पुरुषके केश भी कोमल हो जाते हैं। यों यह जरा मानो इस पुरुषको पुनः बालक बनाये दे रहा है याने बालकके समान शक्तिहीन वृद्ध पुरुष हो जाता है।

अहह नयने मिथ्यादृग्वत्सदीक्षणवर्जिते श्रवणयुगलं दुष्पुत्रो वा शृणोति न भाषितं।
स्खलति चरणद्वंद्वं मार्गे मदाकुललोकवद्वपुषि जरसा जीर्णे वर्णो व्यपैति कलत्रवत् ॥२८८॥

वृद्ध पुरुषके नेत्र, कर्ण, पैर एवं रूपकी दशा—वृद्धावस्था आ जानेसे मनुष्यके नेत्र मिथ्यादृष्टिके समान सदीक्षणरहित हो जाते हैं। सदीक्षणके दो अर्थ हैं- एक तो सम्यग्दर्शन और दूसरा स्पष्ट दिखना। मिथ्यादृष्टि जीव सदीक्षणसे रहित है मायने सम्यक्त्वसे रहित है। तो वृद्धावस्था आनेसे इस मनुष्यके नेत्र सदीक्षणसे रहित हैं याने स्पष्ट दिखनेसे रहित हैं। सद् मायने स्पष्ट और ईक्षण मायने निरखना याने वृद्धावस्थामें यह पुरुष अब वस्तुवों को स्पष्ट नहीं देख पाता। मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन तत्त्वोंका समीक्षण नहीं कर पाता मायने सही श्रद्धान नहीं कर पाता। वहाँ सद्का अर्थ है सही, ईक्षणका अर्थ है परिचय। तो मिथ्यादृष्टि जीव सत् तत्त्वोंका समीक्षण नहीं कर पाता तो बूढ़ेके नेत्र भी इन समागत पदार्थोंको अच्छी तरह नहीं देख पाते। वृद्धावस्था आने से ये कर्ण कुपुत्रके समान बात नहीं सुनते। जैसे कुपुत्र पिताकी बात नहीं सुनता, पिताकी आज्ञा नहीं सुनता इसी प्रकार वृद्धावस्थामें ये कान भी अब किसीकी बात नहीं सुन पा रहे याने कान बहिरे हो जाते हैं। वृद्धावस्थामें वृद्ध पुरुषके पैर मदिरापायी पुरुषकी तरह मार्गमें इधर-उधर भटकते रहते हैं। जैसे जिसने मदिरा पी रखी हो उसके पैर मार्गमें सही नहीं चल पाते, ऐसे ही इस वृद्ध पुरुषके पैर स्खलित होते हैं, सही नहीं चल पाते। चलनेमें लड़खड़ाने लगते

हैं। वृद्धावस्थामें शरीरका रंग युवतीके रंगके समान छोड़कर दूर चला जाता है याने जैसे युवती पुरुष बूढ़ेको छोड़कर अन्य जगह चली जाती है इसी प्रकार इस शरीरका रंग भी बुड्ढेको छोड़कर दूर चला जाता है मायने अब उसके शरीरमें कान्ति भी नहीं रहती।

मुदितमनसो दृष्ट्वा रूपं यदीयमकृत्रिमं परवशधियः कामक्षिप्तैर्भवंति शिलीमुखैः।
धवलितमुखभ्रूमूर्धानं जरसा धरात्रयं झटिति मनुजं चांडालं जनीजनाः ॥२८९॥

स्त्रीका वृद्धपुरुषसे घृणाका व्यवहार—जब बुढ़ापा न आया था उसी पुरुषके अकृत्रिम याने प्राकृतिक रूपको देखकर जो स्त्रियाँ पहले हर्षितचित्त हो जाती थीं और काम-वाणोंसे बेधी जानेके कारण उस पुरुषके आधीन होने लगती थीं वे ही स्त्रियाँ बुढ़ापा आ जाने पर उस पुरुषके जरा से ग्रसित हुए फिट्ट मुख और सफेद भौंह केश वाले कान्ति-रहित शरीरको देख लेती हैं तो वे ही स्त्रियाँ उसको चाण्डालकी तरह अस्पृष्य जानकर शीघ्र ही छोड़ देती हैं। यहाँ वृद्धावस्थाके पूर्व और वृद्धावस्थाके समयकी दशाका चित्रण किया है। यौवन अवस्थामें कान्ति अधिक थी। प्राकृतिक रूप निखर रहा था और स्त्रियाँ आधीन थीं, लेकिन वे ही स्त्रियाँ अब वृद्ध पुरुषको देखकर घृणा करने लगती हैं। अब वहाँ न वह रूप रहा, न कान्ति रही, न बल रहा और न स्त्रियोंकी कामवेदना शान्त हो सके ऐसा पुरुषमें पौरुष रहा। तो ऐसी दुर्दशामें स्त्रियाँ उसे अस्पृश्य समझती हैं, याने छूनेमें घृणा करती हैं। वृद्धावस्था ऐसी एक खोटी स्थिति है लेकिन जिन पुरुषोंके शरीर चल रहा है उनको बुढ़ापा आता ही है। बुढ़ापाके दुःखसे बचनेका उपाय यह ही है कि न शरीर मिलेगा न बुढ़ापा होगा। तो शरीर न मिले, आत्मा जैसा अपने सत्त्वके कारण जिस स्वरूपमें है उसी स्वरूपमें रहे तो इसका परम कल्याण है। फिर भी प्रकारका संकट नहीं है।

नयनयुगलं व्यक्तं रूपं विलोकितुमक्षमं पलितकलितो मूर्धा कंपी श्रुती श्रुतिवर्जिते।
वपुषि जरसाश्लिष्टे नष्टं विचेष्टितमुत्तमं मरणचकितो नांगी धत्ते तथापि तपो हितं ॥
२९०॥

वृद्धावस्थाकी विडम्बना आनेपर भी मूर्खका हितकी ओर झुकावका अभाव—वृद्धावस्था आ जाने पर मनुष्यकी आँख रूपको स्पष्ट नहीं देख सकती, क्योंकि तब द्रव्येन्द्रियमें हीनता आ जाती है। आँखकी वह नसाजाल जिन रक्तवाहिनी नसावोंके संयोगसे आँखमें बल रहता है रूप देखनेका। जब वे नसाजाल ही कमजोर हो गए तो आँख फिर रूप कैसे देख सकती है? वृद्धावस्था में मनुष्यकी आँख स्पष्ट नहीं देख सकती। कैसी कैसी दुर्दशायें

बुढ़ापे में होती हैं ? उस दुर्दशाको तो यह जीव भोग लेता है, परन्तु अपने आत्मामें अंतः प्रकाशमान उस सहज परमात्मत्त्वको नहीं देखता, न उसका शरण गहता है। वृद्धावस्था में आँखोंकी हीनता हो गई, बाल सफेद हो गए। कोई बाल काले नहीं दिखते। सिर कंपने लगता है क्योंकि हड्डियाँ भी सब ढीली पड़ जाती हैं। नसाजालके बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। मांस भी क्षीण हो जाता है। खून नहीं बढ़ता, ऐसी स्थितिमें इस सिर को कौन सम्हाले ? वह सिर काँपने लगता। वृद्धावस्थामें कान किसीकी बातको नहीं सुन पाते। बहिरे हो जाते हैं। इन्द्रियमें सैथल्य हो जाता है। जरा आते ही श्रेष्ठ काम करना छूट जाता है। वह अब क्या करे, शरीर ही नहीं उठ पा रहा है। वहाँ मरणके दिन निकट आने लगते हैं क्योंकि बुढ़ापाके बाद मरण ही तो निश्चित है। बुढ़ापाके बाद जवानी नहीं आती। बुढ़ापाके बाद बचपन नहीं आता। बुढ़ापाके बाद मरण होता है। मरण हुए बाद नया जोवन पायगा। जहाँ उस नये जीवनका बचपन रहेगा और बुढापेका अंतिम परिणाम मरण हो है, सो इस वृद्धावस्थामें मरण समीप आने लगता है, परन्तु यह मोही प्राणी ऐसा मूढ़ है कि यह अपने हितस्वरूप तपको नहीं करता। इन्द्रियको वश करे, मन की उड़ान खत्म करे और अपने यथार्थ ज्ञानमात्र स्वरूपको निरखे, यह तो हितकारी काम था, पर इसे छोड़कर संक्लेशमें ही पड़ा रहता है। और यदि तात्कालिक विशेष कष्ट नहीं है तो विषय भोगोंको इच्छावोंमें अपने आपको उलझाये रहता है।

द्युतिगतिधृतिप्रज्ञालक्ष्मीपूरः सरयोषितः सितकचवलिव्या जान्मर्त्य निरीक्ष्य जरांगनां।
प्रदधति रुषा तृष्णा नारी पुनर्न विनिर्गता त्यजति हि न वा स्त्री प्रेयांसं कृतागमप्यवतं
॥२९१॥

वृद्ध पुरुषसे कांति धृति बुद्धि आदिका पार्थक्य, किन्तु तृष्णाका प्यार—मनुष्यमें अनेकों ही शक्ति और शृंगार होते हैं। द्युति (कान्ति) अर्थात् शरीरपर एक विशिष्ट आभा आती। गति-प्रत्येक कार्योंमें बुद्धिका चलना, गमन करना, हाथ पैरोंसे भी चलना। धृति-धीरता आना, बड़े-बड़े संकटोंके आने पर भी अपनी सामर्थ्यको सम्हाले रहना, प्रज्ञा (बुद्धि) ज्ञानकी शक्ति होना, लक्ष्मी—धन सम्पत्ति होना, ऐसी मानो इस पुरुषके पास अनेकों स्त्रियाँ हैं, किन्तु इन सब सुनारियोंने जब यह देखा कि इस पुरुषपर जरा रूपी स्त्रीका आधिपत्य जम गया है, सिरके केश श्वेत हो गए, उससे यह परिचय बन गया कि अब इस पुरुषपर जराने अपना अधिकार कर लिया। तो अन्य स्त्रीका अधिकार देखकर ये सब स्त्रियाँ पराश्रित द्युति गति, धृति प्रज्ञा, लक्ष्मी आदिक देखकर उस वृद्ध पुरुषको

छोड़कर चली जाती हैं, लेकिन एक तृष्णा रूपी नारी नहीं छोड़ती। सो एक साहित्यिक समीक्षामें आचार्य कह रहे हैं कि देखो वह पुरुष यद्यपि अपराधी हो गया याने जरा रूपी स्त्रीने उस पर आधिपत्य जमाया और वह पुरुष भी जरामें तन्मय हो गया। इतने पर भी अपने प्यारेको यह तृष्णा स्त्री छोड़ नहीं सक रही। तात्पर्य यह है कि बुढ़ापेके आ जानेसे मनुष्यकी कान्ति, धृति, बुद्धि आदिक शक्तियाँ तो घट जाती हैं परन्तु तृष्णा नहीं मिटती बल्कि बुढ़ापामें तृष्णा और बढ़ती ही चली जाती है। बुढ़ापेसे पहले जिस प्रकार की पुरुषकी स्थिति होती है, विरक्तिकी हो, तृष्णाकी हो, बुढ़ापेमें वही आगे बढ़ जाता है। जिन पुरुषोंने बचपनमें ज्ञान नहीं पाया, जवानोमें स्त्रियोके आधीन रहा, अब बुढ़ापा आनेपर वह ज्ञानबलको कैसे सम्हालेगा ? वह आत्माकी सुध लेनेमें समर्थ नहीं हो सकता यह बुढ़ापा तो सर्व दुःखोंकी खान है। उस बुढ़ापेसे बचनेके लिए जन्म जरा मरणरहित आत्मतत्त्वकी आराधना करना चाहिये।

परिणतिमतिस्पष्टां दृष्ट्वा तनोर्गुणनाशिनीं झटिति तु नराः संसाराब्धेः समुत्तरणोद्यताः।
जिनपतिमतं श्रित्वा पूतं विमुच्य परिग्रहं विदधति हितं कृत्यं सम्यक्तपश्चरणादिकं ॥ २९२॥

जराकी दुश्चेष्टासे परिचित विवेकियोंका सम्यक् तपश्चरणादि में उद्यम—इस परिछेदमें बुढ़ापेकी दुर्दशाका वर्णन किया गया है। उन समस्त दुर्दशावोंको जानकर जो बुद्धिमान लोग है जो शरीरकी रात-दिन नष्ट होने वाली परिणति जानने वाले हैं वे इस शरीरमें, संसारमें, भोगोंमें रमण नहीं करते, किन्तु संसार समुद्रसे पार होनेके लिए जिनेन्द्र देवका आश्रय लेते हैं। जो संसार सागरसे पार हो गए हैं उनकी उपासना कौन करेगा ? जिनको संसारसे पार होने की इच्छा है। तो ये विवेकी पुरुष संसार सागरसे पार हो चुके सर्वज्ञ वीतराग भगवानका आश्रय लेते हैं, उनके परम पवित्र आगमका आश्रय लेते हैं। उन्होने जो उपदेश किया वह उपदेश किन उपायोंसे भरा हुआ है, जिन उपायोंसे चलकर स्वयं संसार सागरसे पार होकर जिनेन्द्र भगवान हुए हैं। तो इस संसारजालसे पार होने का उपाय इस आगममें लिखा है। यदि कर्मोंका वर्णन आता है तो उसका अर्थ यह है कि संसारजालका, विकारभावका, जन्म-मरणका कारण यह आयुकर्मका उदय है। यदि प्रथमानुयोगका वर्णन है तो उसमें यह दर्शाया गया है कि ऐसे उपायोसे चलकर महापुरुषोंने संसार सागरसे पार होकर मोक्ष प्राप्त किया। द्रव्यानुयोगके वर्णनमें शुद्ध द्रव्यकी दृष्टि करायी जाती है। जिस शुद्ध आत्मद्रव्यका आश्रय करनेसे कर्मबंधन ढीले हो जाते हैं।

कट जाते हैं। तो आगममें नाना विधियोंसे संसारसे मुक्ति पानेका ही उपाय बताया है। सो विवेकीजन प्रभुके बताये हुए आगमका आश्रय लेते हैं और समस्त परिग्रहोंसे रहित होकर, सांसारिक ममतावोंसे दूर होकर श्रेष्ठ तपश्चरण आदिक हित कार्योंमें लगते हैं। इस बुढ़ापाके परिच्छेदमें सर्व प्रकार से दुर्दशा जानकर यह भावना लेना चाहिये कि ऐसा उपाय करें कि शरीर ही न मिले, फिर बुढ़ापा ही कहाँ से आयगा ? सारे संकट खतम हो जायेंगे। एक आत्माकी धुनके साथ आत्माके स्वरूपमें मग्न होने में ही संतुष्ट रहे।

१२वां—मृत्यु निरूपण

संसारे भ्रमतां पुरार्जितवशाद् दुःखं सुखं वाश्नुतां चित्रं जीपितमंगिनां स्वपरतः संपद्यमानापदां। दंतांतः पतितं मनोहररसं कालेन पक्वं फलं स्वास्यत्यत्र कियच्चिरं तनुमतस्तीव्रक्षुधार्चवितं ॥२९३॥

जन्म लेनेवालोंके मरणकी अवश्यंभाविता—जैसे तीव्र क्षुधा किसी पुरुषको लगी है और उसके मुखमें पका हुआ फल रखा है तो वह फल कितनी देर उस मुखमें रह सकेगा ? तीव्र क्षुधा लगी है तो वह पुरुष तो उस फलकी तत्काल ही चबायगा, वह ठहर नहीं सकता, इसी प्रकार इस संसारमें जीवनकी म्याद रहती है। जहाँ म्यादसे आयु पक गई फिर उस आयुके बचाने वाला कौन है ? ये जीव संसारमें पूर्वजन्ममें उपार्जित पाप-पुण्यके द्वारा सुख-दुःखको भोग रहे हैं। जितने भी सुख या दुःख मिलते हैं वह पूर्व उपार्जित कर्मोंके उदयका फल है। कितने ही धर्मात्मा पुरुष बड़ी व्यथावोंसे ग्रस्त देखे जाते हैं। जिन्होंने जीवनमें कभी खोटे भाव नहीं किया, धर्मरूप परिणाम रखा, दया, दान संयमकी प्रवृत्ति रखी फिर भी तीव्र रोगादिकसे व्याकुल देखे जाते हैं। तो सभी कहते हैं कि इस बेचारेने इस जन्ममें कोई अन्याय या पाप नहीं किया। तो पहले करोड़ों भवोंके कमाये हुए कर्म इस समय भी मौजूद हैं, उनका उदय आता है, उसके अनुसार जीवको दुःख होता है, सुख भी होता है। पुण्यका उदय होने पर सुख बनता है तो ऐसे सुख-दुःख भोगने वाले और संसारमें परिभ्रमण करने वाले इन प्राणियोंका चित्र विचित्र जीवन कब तक टिक सकेगा ? जहाँ अपने आपकी ओरसे तथा दूसरेकी ओरसे अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ आती हैं, उन आपत्तिओंका सामना भी इन प्राणियोंको स्वयं करना पड़ता है। उनका यह विचित्र जीवन कब तक टिक सकेगा ? जैसे जिसको तीव्र क्षुधा लगी है और पका हुआ फल मुखमें आ गया तो वह क्यों गम खायगा ? वह तो जल्दी ही उस फलको चबा डालेगा,

ऐसे ही समयकी मर्यादासे यह जीवन निश्चित है, इतने पर भी बीचमें अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ घटनायें आ जाती हैं, उन घटनावोंमें यह जीवन नहीं रह पाता। तो यह जीवन अवश्य ही किसी न किसी दिन समाप्त हो ही जाता है। तो आज जो जीवन मिला है, शरीर मिला है यह कभी समाप्त होगा, अग्निमें जला दिया जायगा। उसका सदैव संयोग नहीं रह सकता। ऐसी जीवनकी विनश्वरता जानकर कर्त्तव्य यह है कि जितना जीवन शेष है उस शेष जीवनमें धार्मिक भाव करें, अपने आत्मतत्त्वकी सम्हाल बनायें। जो इस दुर्लभ जीवनमें आत्मतत्वकी सम्हाल बना लेगा उसका भविष्य उज्ज्वल रहेगा। इसलिए विवेकी पुरुषका यही कर्तव्य है कि जब तक मृत्यु नहीं आती तब तक शीघ्र ही अपने आत्माकी सम्हाल करलें।

नित्यं व्याधिशताकुलस्य विधिना संक्षिप्यमाणायुषो नाश्चर्यं भववर्तिनः श्रमवतो यज्जायते पंचता। किं नामाद्मुतमत्र काननतरोरत्याकुलात्पक्षिभिर्यत्प्रोद्यत्पवनप्रतापनिहतं पक्वं फलं भ्रश्यति ॥२९४॥

प्राणविनाशमें अनाश्चर्य—यह जीवन, यह शरीर सदा सैकड़ों, हजारों व्याधियोंसे आकुलित बना है और फिर आयुकर्मकी स्थिति निश्चित है। इसके बावजूद यह मनुष्य अधिक परिश्रम करता है और परिश्रमसे अधिक थक जाता है। सो यह जीव यदि मर जाता है, इसके प्राण निश्चेष्ट होकर निकल जाते हैं तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? जैसे देखिये जो वृक्ष पक्षियोंसे सदा व्याप्त है याने जिस वृक्षपर पक्षियोंकी बड़ी संख्या रहती है और फिर वह वृक्ष आँधीसे कँप गया हो याने आँधी बड़ी तेज चल गई जिससे वह वृक्ष बहुत हिल गया है। अब यदि उस वृक्षका पका फल गिर जाय। डालीसे अलग हो जाय, पृथ्वी पर पड़ जाय तो इसमें आश्चर्यको क्या बात है? एक तो उस वृक्षका फल पक गया, दूसरे उस वृक्षपर अनेकों पक्षी मंडरा रहे हैं सो डालियाँ हिलती रहती हैं। तीसरी बात—तेज आँधी चल गई है, इतने पर भी फल यदि नहीं गिरता तो इसमें तो आश्चर्य करना चाहिये। यदि फल गिर गया तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात? ऐसे ही एक तो यह प्राणी आयुकर्मके निश्चित समयपर आ गया है, सो इसे तो स्वयं ही मर जाना चाहिये, फिर दूसरे इस मनुष्यके पीछे सैकड़ों अपने आप अथवा किसी परवस्तुके सम्बन्ध से नाना घटनायें दुःख आदिक लगे रहते हैं, हजारों लाखों व्याधियाँ लगी रहती हैं, इसपर भी यदि वह शीघ्र नहीं मरता तो इसपर आश्चर्य करना चाहिये। पर मर जानेमें तो कोई आश्चर्यकी बात ही नहीं है। जो जन्मा है वह नियमसे मरेगा। मरणके बाद जैसे कर्म

किया है उसके अनुसार फल पायगा। यदि नसम्हाल पाया, कर्म खोटे हो गए तो असंज्ञी जैसे अनेक भव पड़े हैं, कोईसा भी भव पायगा। फिर क्या करेगा ? इससे बड़ा श्रेष्ठ भव मिला है, श्रेष्ठ शासन मिला हैं, संगति भी अच्छी प्राप्त है, अपने मनको सही रखना और आत्माके स्वरूपमें उपयोग लगाना, यहाँ ही रहकर तृप्त होना यह आदत बना लेना चाहिये, अन्यथा इस जीवका बहुत बड़ा अकल्याण होगा।

निर्धूतान्य बलोऽविचित्यमहिमा प्रध्वस्तदुर्गक्रियो विश्वव्यापिगतिः कृपाविरहितो दुर्बोध-मंत्रः शठः। शस्त्रास्त्रोदकपावकारिपवनव्याध्यादिनानायुधो गर्भादावपि हंति जन्तुमखिलं दुर्वारवीर्यो यमः ॥२९५॥

यमकी बलवत्ता क्रूरता व दुर्बोधता—यह यम बड़ा बलवान है। यमके मायने आयुका क्षय। वास्तवमें कोई स्वतन्त्र ऐसा देवता नहीं है कि जो लोगोंके प्राण निकालता फिरे। यहाँ तो सब ओटोमेटिक निमित्त नैमित्तिक योगसे चल रहा है। जीव जैसे भाव करता है वैसे कर्म बाँधता है और उस प्रकारके कर्मके उदयपर उसकी स्थिति बनने लगती है। तो जो आयुकर्म बंधा उस आयुकर्मका क्षय हो जाय, चाहे अपना समय पाकर क्षय हो जाय या व्याधि शस्त्र आदिकके घात आदिकसे आयु बीचमें ही छिद जाय तो बाकी बचे निषेक एक ही समयमें सब खिर जायें इसीको कहते हैं मरण। इसीको ही यम शब्दसे कहा गया है, यह यम बड़ा ही बलवान है। इसके सामने बड़े-बड़े योद्धावोंके दाँत भी खट्टे हो जाते हैं। बड़े शूरवीर हैं, योद्धा हैं, वे भी चाहें कि मरणसे बच जायें तो नहीं बच पाते। इसकी बड़ी अपार महिमा है। कोई किलोंमें, जंगलोंमें, दुर्गम स्थानों में चला जाय कि यहाँ यमराज नहीं आ सकता, परंतु यम तो सभी जगह पहुँचता है। उन जीवोंके साथ आयुकर्म बंधा ही तो है। उसका क्षय होते ही मरण हो जाता है। इस यमकी गति रोकेसे भी नहीं रुकती। जहाँ मन करता वहाँ ही यम बढ़ा चला जाता है। यह यम बड़ा ही निर्दय है। कोई हजारों लाखों मिन्नतें करे तो भी यमका वार नहीं हटता। सभी मनुष्य चाहते हैं कि मेरा जीवन नष्ट न हो और वे प्रभुकी कितनी ही भक्ति करें या इस यमको ही अपना सहाय समझकर बड़ी भक्ति करें कि तू मुझे मत मार तो भी वह नहीं मानता इसका मंत्र बड़ा ही दुर्बोध है, इस यमको कोई मना नहीं कर पाता। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि कोई भी कभी भी मर सकता। यह यम जिस पर क्रुद्ध हो जाय उसको किसी न किसी बहाने मार ही गिराता। किसी पर शस्त्रका घात हो जाय, अस्त्र लग जाय, जलमें डूब जाय, शत्रु मार डाले या हवा से उड़ जाय, मानसिक चिंतावोंसे हार्ट फेल हो जाय, कोई कठिन रोग लग जाय, किसी न

किसी तीक्ष्ण हथियार से यह यम मार गिराता ही है। किसीको नहीं छोड़ता। अधिक क्या कहें, यह अपने शत्रुको गुप्तसे गुप्त स्थानमें भी मार डालता है। गर्भ एक बड़ा सुरक्षित स्थान है, जहाँ पर किसी की गति नहीं हो सकती, लेकिन यह गर्भमें ही मार डालता है। अनेक जीव पशु पक्षी मनुष्य गर्भमें ही मर जाया करते हैं। तो इस मृत्यु से कोई फायदा नहीं है और यह नियम है कि जो जन्मा है सो नियमसे मरेगा, ऐसा अपने जीवन को भंगुर जानकर, विनाशशील जानकर जब तक जीवन है तब तक आत्मज्ञान से, आत्म-श्रद्धानसे और आत्मस्वरूपमें रमण करने की धुन से अपने आपको पवित्र बनायें और सर्व संकटों से मुक्त होकर संसार समुद्र से पार हो जायें, इसी में बुद्धिमानी है।

प्राज्ञं मूर्खमनार्यमार्यमधनं द्रव्याधिपं दुःखितं सौख्योपेतमनासमामनिहतं धर्मार्थिनं पापिनं। व्यावृत्तं व्यसनादशद् व्यसनिनं व्यासाकुलं दानिनं शिष्टं दुष्टमनर्यमर्यम खिलं लोकं निहंत्यंतकः ॥२९६॥

आयुक्षयसे सबके मरणकी निश्चितता—यह यम अर्थात् आयुक्षय इस संसारमें किसी को मित्र नहीं बना सकती। कोई पंडित सोचे कि मैं तो बुद्धिमान हूँ। मेरेको यम न आयगा, मेरा मरण न होगा, मेरेमें बुद्धिबल है, सो इसकी बात न चलेगी। चाहे पंडित हो, जब यम क्रुद्ध होता है मायने आयुका क्षय होता है तो उसे मरना ही पड़ता है। कोई सोचता हो कि अमुक पुरुष मूर्ख है, ऐसे मूर्खोंपर यमराज क्यों आयगा, सो भी बात नहीं है। मूर्ख हो वह भी आयु क्षय पर मरणको प्राप्त होता है। कोई सोचे कि अमुक पुरुष दुर्जन है, गुंडा प्रकृतिका है इसको यमराज कैसे सता सकेगा, सो भी बात नहीं है। दुर्जन हो वह भी मरणको प्राप्त होता है। कोई सोचे कि सज्जन पुरुष तो सबके उपकार के लिए होता है इसके मरनेकी जरूरत नहीं है, इसे तो यमराज छोड़ देगा सो यह भी बात नहीं है। सज्जन पुरुष भी आयुक्षय होने पर मरण को प्राप्त होता है। भाग्यवान हो वह भी यमके वशीभूत है। कोई यह न सोचे कि यह तो बड़ा भाग्यवान है, पुण्यवानका कौन बिगाड़ कर सकता है? इसे यम ने सतायगा सो बात नहीं है। कोई गरीब हो, सुखी हो, दुःखी हो, किसी भी स्थिति में हो, सभीको आयुक्षय होने पर मरणको प्राप्त होना पड़ता है। कोई पुरुष स्वस्थ पहलवान हो और सोचे कि मेरेमें कोई रोग ही नहीं है, मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, मेरेको यम कैसे सता सकता है? कोई रोग हो शरीरमें कोई खराबी हो तो मरूंगा, जब शरीर चंगा है तो मेरा मरण कैसे होगा—ऐसा सोचना व्यर्थ है, रोग रहित हो तो भी आयुक्षय होने पर मरणको प्राप्त हो जाता है। रोगी पुरुष तो सदैव

संदिग्ध रहा करता है। किसी भी समय उनका मरण हो जाता है, पुण्यवान जीव हो तो भी ऐसा पुण्य किसीके नहीं होता कि आयुका क्षय होनेको हो और वह मरण न करे, नियमसे सभीको मरना पड़ता है, पापी पुरुष हो वह भी मरता है, जो जीव जितेन्द्रिय है, जिसने इन्द्रिय पर विजय प्राप्त किया है उसके प्रति कोई सोचे कि यह तो संयमी पुरुष है, इसके मरनेका क्या अवसर ? सो भी बात नहीं है जितेन्द्रिय है उसका भी मरण होता है कोई जितेन्द्रिय नहीं है उसका भी मरण होता है। कोई दानी पुरुष हो और उसके प्रति कोई सोचे कि यह बहुत दान करता है, इससे तो लोगोंका बड़ा भला होता है, तो ऐसे पुरुषपर तो यम दया करेगा, मरण न होगा सो बात नहीं है। चाहे दानी हो वह भी कालक्षय होने पर मरणको प्राप्त होता है। लोभी पुरुष हो, दुष्ट हो, शत्रु हो वह भी मरणको प्राप्त होता है। कोई शिष्ट हो, मित्र हो वह भी मरणको प्राप्त होता है। संसारमें कोई भी जीव ऐसा नहीं है जिसको समय पर यम न निगल जाय। तो जो जन्मा है सो सबको नियमसे मरना ही पड़ता है। तो जब एक दिन मरना ही पड़ेगा, यहाँका कुछ समागम न रहेगा तो विवेकियोंको चाहिये कि वे धर्म ध्यानमें रहकर आत्मकल्याण करें।

देवाराधनमंत्रतंत्रहवनध्यान गृहेज्पाजपस्थान त्याग धराप्रवेशगमनब्रज्याद्विजार्चादिभिः। अत्युग्रेण यमेश्वरेण तनुमानगीकृतो भक्षितुं व्याघ्रेणेव बुभुक्षितेन गहने नो शक्यते रक्षितु ॥२९७॥

देवराधनादि द्वारा भी मरणके टाले जानेकी अशक्यता—इस छंदमें कह रहे हैं कि जिस समय यमराज नाराज होता है, मनुष्य पर क्रोध करता है याने जब आयुका क्षय होता है तो वहाँ यम भूखे सिंहके सामने पड़े हुए हिरणके समान मनुष्यका जीवन किसी भी प्रकार रक्षित नहीं रह सकता। एक तो सिंह हिरणको वैसे ही मार डालता है, फिर वह हो खूब भूखा तो उस हिरणकी फिर कहाँ खैर है ? ऐसे ही जो जन्मा है तो सभी मरते ही हैं, फिर शरीरपर यम क्रुद्ध हो जाय मायने विशेष रोग हो जाय या कोई शत्रु उस पर शस्त्रपात करे ऐसी कोई घटना हो जाय तो उसे बचानेको कौन समर्थ है ? जो जन्मा है वह नियमसे मरण करता ही है। चाहे उस समय वह मनुष्य बड़े-बड़े देवोंकी आराधना करे, देवताओंकी सिद्धि करे तो भी वह मरणसे बच नहीं सकता। कोई भी देव किसी जीवको मरनेसे नहीं बचा सकता। चाहे सैकड़ों मंत्रतंत्र कोई सिद्ध कर डाले, चाहे बड़े ध्यान पूजा जप-तप आदिकमें खूब मन लगा है फिर भी मरनेसे कोई बचा नहीं सकता। कोई शरीरमें रोग हो गया तो उसका उपचार औषधियोंके द्वारा तो हो सकता है, क्योंकि

निमित्त नैमित्तिक योग है और उस योगके नष्ट होनेसे असमयमें मरण न हो यह सम्भव हो सकता। पर आयुक्षय हो रहा हो या किसी भी स्थितिमें हो, कोई देवता या मंत्र तंत्र मरनेसे बचा ले, यह कभी नहीं हो सकता। जिन लोगों की ऐसी खोंटी श्रद्धा है कि देवता मुझे बचा लेंगे वे केवल कल्पना ही करते हैं। इससे सिद्धि नहीं है, जिसका मरण हो रहा जिस पर यम क्रुद्ध हो रहा उसे कोई नहीं बचा सकता। वह पुरुष चाहे अपना निवास स्थान छोड़कर धरतीमें प्रवेश कर जाय, बहुत नीचे स्थान बना ले, वहाँ रहने लगे या दूर देश में चला जाय तो भी वह मरणसे बच जाय, यह नहीं हो सकता। चाहे कोई पुरुष दीक्षा ले ले कि मैं घरको छोड़ दूँ, समुदायको छोड़ दूँ तो यह यम क्यों सतायगा, चाहे कोई ब्रह्मज्ञानीकी पूजा आदिक करे तिस पर भी यम क्रुद्ध होने पर उसे कहीं किसी तरह नहीं छोड़ सकता। तो जब जन्मा है तो मरण निश्चित है, ऐसा जाना तो विवेकियोंका कर्तव्य है कि रागद्वेष तजकर वे आत्म-चिन्तनकी तपस्यामें लग जायें।

प्रारब्धो ग्रसितुं यमेन तनुमान् दुर्वारवीर्येण यस्तं त्रातुं भुवने न कोऽपि सकले शक्तो नरो वा सुरः। नो चेद्देवनरेश्वर प्रभृतयः पृथ्व्यां सदा स्युर्जना विज्ञायेति करोति शुद्धधिषणो धर्मे मतिं शाश्वते ॥२९८॥

मरणकी सुनिश्चितता जानकर विवेकीजनोंकी धर्ममें वृत्ति—जिस पुरुषको यमराज ग्रसना चाहता है, जिसको यमके द्वारा ग्रसना प्रारम्भ हुआ है वह पुरुष और तो क्या कोई भी मनुष्य, कोई भी देव उसे बचा नहीं सकता। यदि इस क्षुद्र शक्तिधारी संसारी जीवमें मरणसे बचानेकी सामर्थ्य होती तो आज संसारमें कितने ही देव देवेन्द्र दृष्टिगोचर होते। पुराणोंमें कितने बड़े-बड़े पुण्याधिकारी पुरुषोंके चरित्र सुने हैं। यदि कोई मरणसे बचाने वाला होता या ये खुद अपनेको मरणसे बचा सकते होते तो वे दृष्टिगोचर होते हुए लोग कोई आज यहाँ दृष्टिगोचर नहीं हो रहे सभी मरणको प्राप्त होते हैं। तो सभीको जब कभी न कभी मरण करना ही है जिन्दा सदैव कोई नहीं रह सकता तो हे विद्वान पुरुषों! अपने आपके सम्बन्धमें भी तो सोचो, इस शरीरको अनिष्ट जानकर इन सांसारिक कार्यों को अनित्य समझकर सदा अविनाशी धर्ममें अपने चित्तको लगावो। धर्म है आत्माका शुद्ध चैतन्य-प्रतिभास। सो मात्र सबके ज्ञाता दृष्टा रहें। किसी भी पदार्थको न इष्ट समझें न अनिष्ट समझें। सर्व बाह्य हैं, अपना परिणतिके अनुसार अपना परिणमन करते हैं।

चन्द्रादित्य पुरन्दरक्षितिधर श्रीकंठदीपादयो ये कीर्तिद्युतिकांतिधीधनबल प्रख्यात पुण्योदयाः। स्वेस्वे तेऽपि कृतांतदंतकलिताः काले व्रजंति क्षयं किं चान्येषु कथा सुचारुमतयो

धर्मे मतिं कुर्वता ॥२९९॥

महाबलैश्वर्यादिके धारकोंका भी अवश्यंभावी मरण—इस संसारमें सबसे अधिक कान्ति वाले, कीर्ति वाले चंद्र-सूर्य आदिक हैं, जिनके सम्पदा बल पुण्य विशेष हैं। जैसे चन्द्र यह ज्योतिषी देवोंका इन्द्र है। इसके बड़ा वैभव है, सांसारिक सुख सम्पदा विशेष है। सूर्य प्रतीन्द्र है इसकी तो लोकमें देवताकी तरह मान्यता है। अनेक लोग तो जल ढालकर पूजा करते हैं। वैसे सम्पदा भी विशेष है। सांसारिक सुख देवेन्द्र भी जो स्वर्गों के बड़े इन्द्र हैं, बड़ी बुद्धि, सम्पत्ति, बलके धारी हैं महान पुण्य है। नरेन्द्र मुख्य राजा नारायण बलभद्र आदिक बड़े-बड़े पुरुष हुए, वे भी अपनी-अपनी आयुके अन्तमें यमकी दाढ़ के नीचे दबकर पिस जाते हैं, अर्थात् मरणको प्राप्त हो जाते हैं। तो जब ऐसी अद्भुत बल सम्पत्ति कान्ति कीर्तिके धारी मरण कर जाते हैं तो अन्य छोटे लोगोंकी तो कहानी ही क्या है ? याने सभी अवश्य ही मरेंगे। तो जब यहाँ मरण निश्चित है तो बुद्धिमान पुरुषोंको चाहिये कि वे सांसारिक भोगोंसे चित्तको हटाकर धर्ममें अपनी बुद्धिको दृढ़ करें। आत्मा स्वयं आनन्द स्वरूप है, ज्ञानमात्र है। यह केवल हो, पवित्र हो तो यह ज्ञाता ही रहता है और परम आल्हादका अनुभव करता रहता है। अपने स्वरूपको देखना यही धर्मका पालन है। स्वरूपमें मग्न होना यह ही धर्ममें स्थिर होना कहलाता है। सो विवेकीजन सांसारिक भोग लालसावोंको त्यागकर इस ही सहज आत्मस्वरूपमें अपने उपयोगको रमाकर निरन्तर सहज आनन्दका अनुभव किया करते हैं।

ये लोकेश शिरोमणिद्युति जलप्रक्षालितांघ्रिद्वया लोका लोकविलोकि केवल लसत्साम्राज्य लक्ष्मी-लक्ष्मी धराः। प्रक्षीणायुषि यांति तीर्थपतयस्तेऽप्यस्तदेहास्पदं तत्रान्यस्य कथं भवेद्-भवभृतः क्षीणायुषो जीवितं ॥३००॥

आयुक्षयसे सकल परमात्माके भी देहत्याग—इस लोकमें सबसे बड़े अरहंत भगवान हैं, जिन्होंने घातिया कर्मोंका नाशकर समस्त लोकालोकको एक साथ स्पष्ट जान लिया है। जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्तिके स्वामी हैं, जिनके चरणकमल तीन लोकके ईशों द्वारा सदैव पूजे जाते हैं। अधोलोकमें भवनवासी, व्यन्तर देवोंके इन्द्र अरहंत परमेष्ठीकी पूजा किया करते हैं, मध्यलोकमें चक्रवर्ती बड़े-बड़े नरेन्द्र, सिंह (तिर्यञ्चोंका इन्द्र) ये नतमस्तक हो जाया करते हैं। ऊर्ध्वलोकमें स्वर्गोंके इन्द्र जिनके चरण-कमलोंकी सेवा किया करते हैं, जिनकी सेवामें सदैव स्वर्गोंके इन्द्र रहते हैं, ये अरहंत परमेष्ठी अतीन्द्रिय असहाय ज्ञान वाले समस्त पदार्थोंके ज्ञाता हैं, जिनके समवशरण आदिक

३४ अतिशय आश्चर्यकारी वस्तुवोंको धारण करने वाले हैं। बड़ा अतिशय है, ऐसे अरहंत भगवान भी जब उनके आयु कर्मका अन्त होता है तो शरीरका परित्याग कर मोक्षलाभ करते हैं। मोक्ष जाना भी आयुका क्षय ही तो है। उसे पंडित पंडित-मरण कहते हैं। तो ऐसे बड़े सकल परमात्मा भी मरणको प्राप्त हुए, परम निर्वाणको प्राप्त हुए यानि आयुके अन्तमें उन्हें भी शरीर छोड़ना पड़ता है तब अल्प आयुके धारक ऐसे सामान्य पुरुषोंकी तो कथा ही क्या कही जाय। क्या उन्हें यम छोड़ देगा ? नियमसे उन्हें मरना पड़ेगा। संसारकी ऐसी स्थिति जानकर बुद्धिमान पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे सांसारिक भोग सम्पदा यश कीर्ति आदिककी ओर न बढ़कर अपने आत्मस्वरूपकी ओर बढ़ें और और अपने स्वरूपमें रमण कर शान्त हों।

द्वात्रिंशन्मुकुटावतं सितशिरोभूभृत्सहस्रार्चिताः षट्खंडक्षितिमंडना नृपतयः साम्राज्यलक्ष्मी-धराः। नीतायेन विनाशमत्र विधिना सोऽन्यान् विमुंचेत्कथं कल्पांतश्वसनो गिरींश्चलयति स्थैर्यं तृणानां कुतः ॥३०१॥

आयुक्षयसे चक्रवर्त्यादिकोंका भी मरण—इस लोकमें मनुष्योंमें, राज्यधिकारियोंमें सबसे महान होता है चक्रवर्ती। उस चक्रवर्तीको सदा ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा सेवा किया करते हैं। ये ३२ हजार राजा तो खास राजा हैं। वहाँ छोटे-छोटे राजा भी अनेक होते हैं। सभी के द्वारा जिनकी सेवा होती है। जिन चक्रवर्तियोंकी आज्ञाका पालन करनेके लिए ये सभी राजा तत्पर रहते हैं। चाहे चक्रवर्ती कभी अयोग्य भी आज्ञा दे तो उसके भी पालनके लिए तत्पर रहा करते हैं। तो योग्य अयोग्य समस्त अज्ञाओंका राजागण पालन करते हैं। चक्रवर्तीका साम्राज्य आर्यखण्ड और अनार्यखण्ड छहो खण्डके निवासियोंपर रहता है अर्थात् चक्रवर्ती छह खण्डके अधिपति होते हैं। जो चक्रके अधिपति हैं, जिनको अनेक आयुध सिद्ध होते हैं जिनमें एक चक्र नामका भी आयुध है। जिसपर यह आयुध चला दिया, चक्र चला दिया उसके प्राण नहीं बच सकते। हाँ यद्यपि वह देवोपुनीत होनेके कारण उस चक्रमें इतनी विशेषता है कि यदि वह चक्री अपने बंधुवोंपर वह चक्र चलाये तो उनपर न चलेगा, बल्कि उन बंधुवोंकी प्रदक्षिणा देकर वापिस आ जायगा, पर अन्य सभी तो उस चक्रके ग्रास बन जाते हैं। जिनमें ऐसा अद्भुत बल वैभव है उन चक्रवर्तियों को भी जब यह यम नहीं छोड़ता, उन्हें भी अपने बलसे पछार मारता है तो अन्य सामान्यजनोंकी तो कथा ही क्या है ? भला कल्पांतकालमें चलने वाली वायु याने जब इस कल्पका अन्त होगा मायने अवसर्पिणी कालका अन्तिम काल छठा काल जब वह

पूर्ण होगा तो प्रलय हुआ करता है। उस प्रलयमें ७ प्रकारकी तीव्र वर्षायें होती हैं, उनमें एक वायु भी है। जब प्रलयके समयमें तीव्र वायु चल रही हो तो उस वायुसे बड़े-बड़े पहाड़ तक हिल जाया करते हैं, तो क्या उस वायुसे तृण नहीं हिल सकता? वह तो हिलेगा, ऐसे ही जब चक्रवर्तियों तकको यह यमराज पछार डालता है तो क्या सामान्य लोगोंको न पछारेगा? अर्थात् जो जन्मा है उन सभीका मरण होगा।

यत्रादित्यशशांकमारुतघना नो संति संव्यत्र ते देशा यत्र न मृत्युरंजनो नो सोऽस्ति देशः क्वचित्। सम्यग्दर्शनबोधवृत्त जनितां मुक्त्वा विमुक्तिक्षितिं संचित्येति विचक्षणाः पुरु तपः कुर्वंतु तामीप्सवः ॥३०२॥

मात्र मोक्षदेशमें ही यमका अप्रवेश—संसारमें ऐसे देश तो मिलेंगे कि जहाँ सूर्य न पहुँचे, चन्द्र न पहुँचे, हवा न जा सके, पानी न हो, ऐसे स्थान तो मिल जायेंगे परन्तु केवल एक मोक्ष देशको छोड़कर कोई देश ऐसा नहीं है जहाँ यमराजका प्रवेश न होता हो। यहाँ मोक्ष देशसे मतलब समस्त कर्मोंसे मुक्त हुआ जीव कहा गया है। मुक्त जीव जिनके कर्म ही नहीं हैं, शरीर ही नहीं है, आयु ही नहीं है तो उनके क्षयका क्या प्रसंग? वे सदा काल अपने इस अनन्त आनन्दमयी स्थितिमें रहेंगे, केवल इस एकाकी अशुद्ध परिणतिमें रहेंगे, पर उनको छोड़कर बाकी सभी जीवोंको मरण करना पड़ता है। उनको मोक्ष कैसे प्राप्त हुआ, उसका उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका एकत्व होना। जिन जीवोंने अपने आत्मस्वरूपका विश्वास किया और जो सहज अपने ही सत्त्वके कारण आत्माका स्वरूप है, उस स्वरूप रूप अपनेको माना, जाना और ऐसा ही ज्ञाता द्रष्टा रहनेका पौरुष किया, आत्मज्ञानी, ध्यानी बने, अन्तर्मग्न हुए, उन पुरुषोंने कर्मोंको काटकर मोक्ष अवस्था प्राप्त की। ऐसे जीव जहाँ रहते हैं उसे मोक्ष देश कहते हैं। भले ही उस सिद्धालयमें निगोदिया जीव भी रह रहें, उनका जन्म-मरण हो रहा एक श्वांसमें १८ बार। लेकिन वे मोक्ष देश वाले नहीं कहलाते। जैसे कोई भारतवासी एक आध महीनेको पासपोर्ट लेकर अमेरिका चला जाय तो वह अमेरिकावासी न कहलायगा। ऐसे ही मोक्षदेशवासीसे मतलब है—जिनको मुक्ति हुई उन पर यमराजका वश नहीं चलता, बाकी सभी पर यमराजका वश चलता है। सभी जीव मृत्युसे ग्रसे जाते हैं। तो जो लोग मोक्षदेशको पाना चाहते हैं याने यमके वारसे बचना चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि सम्यग्दर्शन आदिक धारण करके वे महान तपश्चरणको करें।

मोक्षदेशवासी सिद्ध प्रभुका परिचय—सिद्ध मुक्तके मायने यह है कि जैसा आत्माका

सहज स्वरूप है वैसा ही रह जाना। जैसे अनेक पदार्थ हैं, परमाणु परमाणु हैं, धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य हैं, धर्म-अधर्म, आकाश-काल ये द्रव्य तो सदा एकाकी ही हैं, निर्लेप हैं, इनका किसी दूसरेके साथ लेप भी नहीं है। हाँ जीव और अणु पुद्गल ये विभागी बनते हैं, ये संयोगी बनते हैं। कितना ही संयोग हो पर सत्ता इन सबकी न्यारी-न्यारी ही है। तो मेरा सत्त्व जो मेरेमें है उस ही सत्त्वसे देखा जाय तो मैं अपने एकत्वस्वरूपमें रहता हूँ। इस एकत्वस्वरूप को देखें तो इसकी आराधनाके प्रसादसे यही एकत्वस्वरूप प्रकट व्यक्त हो जायगा। इसी को सिद्ध अवस्था कहते हैं। संसार की किसी भी स्थितिमें इस जीवको चैन नहीं है। सदा सभी स्थितियोंमें यह मलिन रहता है। भले ही कुछ लोगोंके द्वारा कोई सम्पत्तिवान देखे जाने पर भला कहलाये, यह बड़ा पुण्यवान है, पवित्र है, योग्य है, मगर जब तक कर्मका सम्बंध है तब तक क्या पवित्रता? थोड़े समयके कल्पित सुख मिला हुआ है। कुछ ही समय बाद इसका मरण होगा। वह काल्पनिक सुख सब खतम हो जायगा। संसारकी किसी भी स्थितिमें चैन नहीं है, इसलिए संसारकी कुछ भी स्थिति चाहिए नहीं। मेरे को तो केवल मेरा आत्माराम चाहिए। मेरी दृष्टिमें केवल मेरा यह चैतन्य स्वरूप परमात्मतत्त्व दृष्टि में रहे। मेरे ज्ञानमें यह ज्ञानस्वरूप ही बसा रहे। यह ही ज्ञानस्वरूप मेरा ज्ञय बने। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञय एक रूप रहें। अपने आपमें ही अपना प्रकाश पाता हुआ सहज आनन्दमय रहूँ। यही स्थिति वास्तविक स्थिति है। कल्याणकारी स्थिति है। इस सिद्ध अवस्था की स्थितिको छोड़कर अन्य कुछ भी न चाहिए, ऐसा दृढ़ निर्णय होना ही चाहिए सम्यग्दृष्टिके ऐसा दृढ़ निर्णय रहता ही है कि मेरा कल्याण करने वाला केवल एक सिद्ध परिणमन ही है। सो ऐसे एकाकीपने की भावना रखें और सम्यग्दर्शन आदिक रत्नमय सहित महान तपश्चरणको करें और मृत्युके संकटसे छूटें।

येषां स्त्रीस्तनचक्रवाक युगले पीतांशुराजत्तटे निर्यत्कौस्तुभरत्नरश्मिसलिले आस्यांबुज-भ्राजिते। श्री वक्षः कमलाकरे गतभया क्रीडां चकरापरां श्रीर्हि श्रीहरयोऽपि ते मृतास्ततः कुत्रापरेषां स्थितिः ॥३०३॥

लक्ष्मीपति श्रीहरिका भी मरण—स्त्रियोंके स्तन रूपी चक्रवाकोंसे सहित और पीताम्बर रूपी मनोहर तटसे भूषित, कौस्तुभमणिकी छटकती हुई किरण रूपी जलसे व्याप्त मुख रूपी कमलसे अलंकृत जिसके वक्षस्थलरूपी विशाल तालाबमें साक्षात् लक्ष्मीने क्रीड़ाकी ऐसे श्री कृष्ण महाराज सरीखे महापुरुष भी कालके गलमें फंस गए तब फिर अन्य मनुष्य सदा काल कैसे जीवित रह सकते हैं? श्रीकृष्ण नारायण हुए और अपने

समयमें इनकी बड़ी ख्याति थी। नारायण और बलभद्र ये दोनो सगे भाई होते हैं और प्रायः कर बलभद्रका ऐसा पुण्य प्रताप होता है कि नारायण ही बलभद्रकी सेवा करता है और उसमें प्रमखता बलभद्र की होती है। जैसे श्रीराम बलभद्र थे और लक्ष्मण नारायण थे। वहाँ श्रीराम की ही प्रमुखता थी। यहाँ बलदेव बलभद्र थे और श्री कृष्ण नारायण थे, यहाँ श्रीकृष्ण नारायण की प्रधानता थी। तो इतने बड़े पुण्यशाली श्री कृष्ण नारायण जब ये भी कालके गालसे न बच सके इनकी भी मृत्यु हुई तो अन्य जीवोंकी कहानी ही क्या है? श्री कृष्ण जेलमें तो उत्पन्न हुए, जिससे यह प्रसिद्धि बनी कि जिनके जन्मका कोई गाने वाला न था और उनका मरण जंगलमें जरत कुमारके वाणोंसे हुआ जिससे यह प्रसिद्धि हुई कि मरण समय अन्य कोई रोने वाला न था। जिनका इतना पुण्य प्रताप कि जीवनमें लोग उन्हें भगवानकी तरह मानते थे, जब वे भी इस तरह जगमें न रहे तब फिर अन्य पुरुषोंकी तो बात ही क्या है? मतलब यह है कि जिनका जन्म हुआ है उनका मरण अवश्भयांवी है, इसलिए जीवनकी लालसा न करना, किन्तु जीवनके क्षणोंमें शुद्ध आत्मद्रव्यके तत्त्वकी दृष्टि करके वास्तविक तपश्चरण करना।

भोक्ता यत्र वितृप्तिरंत कविभुर्भोज्याः समस्तांगिनः कालेशः परिवेषकोऽश्रमतनुर्ग्रासा विसंत्यक्रमैः। वक्त्रे तस्य निशातदंतकलिते तत्र स्थितिः कीदृशी जीवानामिति मृत्यु भीतमनसो जैनं तपः कुर्वते ॥३०४॥

मृत्युभीतमनस्क जनोंका कर्तव्य परमार्थतपश्चरण—इस संसारमें कभी भी तृप्त न होने वाले तीक्ष्ण दंष्ट्रावोंके धारक यमराज तो स्वयं भक्षक हैं और समस्त प्राणी दीन भक्ष्य हैं। अब बतलावो कि जहाँ यह यम बड़े वेगसे जीवोंमें पक्षपात न कर जिस किसी का भी भक्षण कर देता है और सारे प्राणी उस यमराजके भक्ष्य हैं तो अब बचनेका कौन सा अवकाश रहा कि जो कहीं जीवन टिका रहे और मरण न हो। और भी देखिये कभी भी न थकने वाला यह काल प्रभु याने आयु कर्म यह परिवेषक है अर्थात् जीवोंको घेर-घेर कर यमके पास लाने वाला है और जहाँ एक साथ सैकड़ों, हजारों, लाखों बेहिसाब ग्रस लिए जाते हैं तब जीवनके बचनेका अवसर कहाँ रहा? एक तो वह यमराज कभी तृप्त नहीं होता कि मानो लाख दो लाख अथवा करोड़ जीवोंको मार लिया और तृप्त हो जाय और बैठ जाय आरामसे। लोगोंके जीवन बचे रहें, तो यह तो कभी तृप्त होता ही नहीं है और प्राणी दीन मरने वाले सर्वत्र हैं ही और इस पर भी यह आयुकर्म खींच-खींचकर ले जाता है कि अब इसका काल समाप्त और फिर एक साथ ही लाखों करोड़ों अनन्त

जीव मरण कर जाते हैं। निगोदमें तो एक श्वाँसमें १८ बार जन्मते मरते हैं। निगोदों की संख्या तो अनन्त है। अब बतलावो कि मरणसे बचनेका कोई तरीका भी रहा क्या? फिर ऐसी स्थितिमें मनुष्य की सदा कोई एक सी स्थिति बनी रहे यह कैसे सम्भव है? इसी कारण जो मृत्युसे डरने वाले पुरुष हैं, संसार संकट नहीं चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे वीतराग जैन तपका आचरण करें। वस्तुतः आत्मा अमर है। प्रत्येक पदार्थ जो भी सत् है मूलतः उसका कभी नाश नहीं होता। केवल अवस्थावोंका परिवर्तन होता है। सो जीवकी संसारदशामें नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, ये अवस्थायें हैं, सो ये अवस्थायें न हों और जीवका जो स्वयं सहज स्वरूप है उस स्वरूपके अनुरूप इसका विकास हो तो यह सदा अमर ही रहा। अवस्थावोंमें गया तो भी जीवका नाश नहीं हुआ मगर कष्ट तो पाया। कष्ट न पाये और अमर रहे ऐसी स्थिति है तो वह परमात्माकी स्थिति है. अन्यथा इस संसारमें जो वीतराग तपका आचरण नहीं करता उसको अनन्त बार जन्मना और मरना पड़ता है। यदि कोई ऐसा पुरुष संसारमें प्राणियोंको मारने वाला होता कि मान लो कुछ लाख, करोड़ आदिक नियमित संख्या वाले जीवोंको खाकर तृप्त हो जाता, पर ऐसा तो यह काल नहीं है। वह तो अनन्त जीव मरें तो भी अगले क्षण ज्योंका त्यों फिर मारनेको तैयार है। खैर तृप्त नहीं भी होता, कुछ दूर देश या परिमित स्थानमें ही जाने वाला होता, संगम रहित होता तो भी कुछ गनीमत थी लेकिन आयुकर्मका क्षय इसकी सहायता तो निरन्तर बनी हुई है या मानो बैहिसाब न खाकर क्रमसे नम्बर वार खाता होता या मानलो कुछ कम पैनी ही दाढ़ वाला होता, तीक्ष्ण दंष्ट्र वाला न होता तब भी आशा की जा सकती थी। तो शायद कोई न कोई जीव यमराजके तृप्त होनेसे या उसकी गति न होनेसे, छिपकर बच जानेसे या सहायकके अभावसे या नम्बर न आने से बच जाता, किन्तु ऐसा नहीं है। जो चाहे जीव जिस किसी भी समय मरणको प्राप्त हो जाता है। इसलिए इस दुःखदायी संसारसे मुक्त होने के लिए मनुष्योंको वीतराग भगवान द्वारा बताये गए वास्तविक आत्मीय तपश्चरणको करना चाहिये। परमार्थ तपश्चरण है यह कि निज चैतन्य स्वरूपमें उपयोग रमाये रहें। सो ऐसा विवेकीजन करके संसार सागरसे पार हो जाते हैं।

उद्धर्तुं धरणीं निशाकररवी क्षेप्तुं मरुन्मार्गतो वातं स्तंभयितुं पयोनिधिजलं पातुं गिरिं चूर्णितुं शक्ता यत्र विशंति मृत्युवदने कान्यस्य तत्र स्थितिर्यस्मिन्माति गिरिर्बिले सह बनैः कात्र व्यवस्था ह्यणोः ॥३०५॥

महाबलशालियोंके भी मरणकी अवश्यंभाविता—संसारमें ऐसे-ऐसे बलवान लोग हैं कि वे इस पृथ्वीको पलट सकते हैं। सूर्य और चन्द्रमाको आकाशसे उतार सकते हैं। पवनको स्तब्धकर जहाँ का तहाँ रोक सकते हैं। समुद्र को पीकर सोख सकते हैं, पहाड़ तकको चूर्ण कर डालनेकी सामर्थ्य रखते हैं। तो ऐसे लोग भी जब मृत्युके मुखमें फंस जाते हैं और निशक्तके समान नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं तो अन्य मनुष्य इस यमके मुखमें न आयेंगे यह कैसे हो सकता है। भला जिस छिद्रमें बड़े-बड़े जंगल सहित पहाड़ घुस जायें उस छिद्रमें क्या परमाणु याने पुद्गलका सबसे छोटा टुकड़ा टिक सकता है? क्या वह प्रवेश न कर पायगा? तो जहाँ ऐसे बड़े-बड़े बलशाली लोग भी मरण कर जाते हैं वहाँ छुद्र शक्ति वाले जीव क्या जीवित बने रहेंगे? जो जन्मा है सो मरणको प्राप्त होता है। अज्ञानीजन ही इस जीवनको तरसते हैं। मेरा मरण न हो, जीवन बना रहे, पर ऐसा तरसनेसे क्या मरण बच जायगा? क्या जीवन बना रहेगा? विवेकीजन कभी इस प्रकारकी धुन नहीं रखते कि मेरा मरण न हो। अरे यहाँ जिन्दा होकर भी क्या कर लिया? कौन सा हितका काम कर लेते हैं? ये ही संसारके समागम आँखों दिखते हैं, उनकी ओर उपयोग लगता है, दुःखी होते रहते हैं। जीवनमें भी क्या रखा? मरण न हो इस प्रकार की वाञ्छासे क्या लाभ? जो हो सो हो, वहाँ भी मैं अपने आत्माके सहज ज्ञानानन्द स्वरूपको निरखता रहूँ, मरण हो तो वहाँ भी मैं अपने ज्ञानानन्द स्वरूपको निरखता रहूँ। तो सहज परमातत्त्वके निरखने की तो आशा रखना चाहिए और उसी के लिए पौरूष होना चाहिये पर इस अशुचि क्षणिक मायामय शरीरके बने रहने की भावना करना बेकार है। जो हो सो हो, किन्तु सभी स्थितियोंमें मेरे को मेरा आत्मतत्त्व दृष्टगत रहे।

सुग्रीवांगदनीलमरुतसुतपृष्टैः कृताराधनो रामो येन विनाशितस्त्रिभुवन प्रख्यातकीर्ति-ध्वजः। मृत्योस्तस्य परेषु देहिषु कथा का निघ्नतो विद्यते कात्रास्था नयतो द्विपं हि शशको निर्यापकः श्रोतसः ॥३०६॥

सुग्रीवादिमहापुरुषसेव्य श्रीरामका भी वियोग—इस लोकमें श्रीराम बलभद्र जैसे बड़े महिमावान पुरुष व्याप्त हुए जिनकी तीनों लोकमें कीर्ति प्रसिद्ध हुई। जिनकी सुग्रीव, अंगद, नील, हनुमान जैसे महान पुरुषों द्वारा सेवा हुई है। श्रीरामकी इन महापुरुषोंने बड़ी भक्तिसे सेवा की है। तो ऐसी प्रसिद्ध कीर्ति वाले श्रीरामचन्द्र जी भी जब यमसे न बच सके, जिस यमने इनको भी नष्ट कर दिया। आयु कर्मके अन्तमें शरीरका नाता

छोड़कर उन्हें भी चलना पड़ा। यद्यपि श्रीराम भगवान हुए हैं, मोक्ष प्राप्त किया है, पर निर्वाण तो तब हो हुआ जब कि आयु कर्म व शेष सभी कर्म नष्ट हो गए। तो उनका मरण पंडित-पंडित मरण है, जिसके बाद जन्म नहीं होता और न कभी मरना पड़ता, तो ऐसा निर्वाण हुआ है आखिर वे भी इस जगतमें रह न सके। तब यह यम किसी अन्य पुरुषको क्या छोड़ेगा? जो जन्मा है सो नियमसे मरता है। इसमें किसी भी प्रकारका संदेह नहीं है। भला जो नदी का बहाव इतना तीव्र है कि बड़े-बड़े हाथियोंको बहा ले जाता है तो क्या बहुत छोटे खरगोश सरिखे जंतुवोंको वह बहाव छोड़ देगा? वह तो पत्ते के माफिक बहावमें बहाता चला जायगा। तो भला जब ऐसे-ऐसे महापुरुष भी इस काल से न बच सके तो हम आप किसी को भी अब यह आशा न रखना चाहिये कि हमारा जीवन बना रहे और कभी मरण न आये। हाँ यह भावना अवश्य रहना चाहिए कि जीवन बना रहे तो मुझको अपने सहज परमात्मस्वरूपकी आराधना रहे। मरण होता हो तो उस समय भी निज सहज परमात्मतत्त्वकी आराधना रहा करे।

अत्यन्तं कुरुतां रसायनविधिं वाक्यं प्रियं जल्पतु वार्धेः पारमियर्तु गच्छतु नभो देवाद्रि-मारोहतु। पातालं विशतु प्रसर्पतु दिशं देशांतरं भ्राम्यतु न प्राणी तदपि प्रहर्तुमनसा सत्यज्यते मृत्युना ॥३०७॥

मृत्युसे बचनेके लिये बड़े-बड़े उपायों की व्यर्थता—यह जीव मृत्युसे बचनेके लिए चाहे रसायनका सेवन करे परन्तु इस विधिसे वह मरणसे बच जाय यह नहीं हो सकता। जब आयु कर्मकी अवधि पूरी हो रही है तो जीवन कैसे सम्भव है? जीवन तो आयु कर्म के उदयमें ही चलता है। तो चाहे कैसे ही रसायनका सेवन करे पर आयुकर्मकी अवधि पूरी होने पर यह मृत्युमुखमें अवश्य हो जायगा। कोई पुरुष बड़े प्यारे मीठे वचन बोला करे पर प्रिय वचन बोलने से या मृत्यु राजाकी आराधनासे या मृत्युंजय जाप करनेसे मृत्युसे नहीं बच सकता कोई पुरुष समुद्रके दूसरे तट पर चला जाय तो क्या वहाँ मरेगा नहीं? अरे उस जीवके साथ ही तो आयुकर्म लगा हुआ है, जिसकी अवधि पूरी होती है और मरण होता है। कोई चाहे आकाशमें उड़ जाय कि वहाँ कोई सताने वाला, मारने वाला न होगा, मगर उड़ते ही हालतमें यदि आयुका क्षय हो जाय तो उसे गिरना पड़ता है,। मरना पड़ता है। कोई पुरुष सुमेरुपवतको चोटीपर जा बैठे यहाँ जीव बहुत मरते हैं इसलिए इस वातावरण को छोड़े और कोई हो ऋद्धिबल ऐसा कि जिस बलसे यह मेरु पर्वतकी चोटीपर जा बैठे तो इससे कहीं मरणसे न बच जायगा। कोई पुरुष पातालमें घुस जाय यह सोचकर

कि यहाँ यमका प्रवेश नहीं हो सकता तो यम तो सबके साथ ही लगा हुआ है। आयु-कर्मके क्षयका ही तो नाम यम है। जहाँ भी जो पातालमें भी हो तो वहाँ पर भी यह मृत्युसे नहीं बच सकता। कोई पुरुष किसी भी दशामें कितना ही दूर चला जाय और किसी भी नये देशमें कितनी ही दूर घूमने जाय, परन्तु वह मृत्युसे कहीं बच नहीं सकता। जिस समय जीवके आयुकर्मकी अवधि पूरी हो जायगी उस समय इसको अवश्य ही मृत्युके मुखमें फसना पड़ेगा, अर्थात् मरण करना ही पड़ेगा।

कार्यं यावदिदं करोमि विधिवत्तावत्करिष्याम्यद स्तत्कृत्वा पुनरेतदद्य कृतवानेतत्परा-कारितं। इत्यात्मीयकुटुंबपोषणपरः प्राणी क्रियाव्याकुलो मृत्योरेति करग्रहं हतमतिः संत्यक्तधर्मक्रियः ।।३०८।।

क्रियाबुद्धिमें ही रहकर धर्मका विस्मरण—यह प्राणी जबसे होश सम्हालता है तब से ऐसे विकल्प करता रहता है कि यह काम मैं आज करता रहूँ, इस कामको मैं कल कर दूँगा। यह काम आज कर दिया है, इस कामको मैंने पहले ही कर डाला है आदिक विधिसे अपने कुटुम्बके पोषणमें ही लगे हुए सैकड़ों प्रसंगोंमें क्रियावोंमें फंसा हुआ रहता है पर अचानक आयु समाप्त होती है तो इस कालके गालमें जाकर फसना पड़ता है। जब बहुत छोटा बच्चा है, तो वह भी अपने अन्दर में कुछ न कुछ सोचता रहता है मगर कुछ प्रकट नहीं होता। जब यह कुछ बड़ा बनता है, होश सम्हालता है, सांसारिक होशकी बात कही जा रही है तब से यह जीव यह मैं करता हूँ, यह मैं करूँगा, यह मैंने किया है, यों करने-करनेके विकल्पमें ही लगा रहता है और कुटुम्ब आदिक पर पदार्थोंको विषयभूत बनाया करता है, पर यह मृत्युक्षय, मरणकाल अचानक ही आ जाता है और यह जीव कालके गालमें फंस जाता है। सो ऐसा जीवन तो गुजर जायगा परन्तु यह प्राणी धर्मकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। यदि कुछ शरीरका बल मिला है, वचनसे बोलनेकी शक्ति आयी है। शरीरसे चेष्टा करने लायक हुए हैं तो यह करने-करनेके बिकल्पमें ही लगा रहता है। यह ध्यानमें नहीं ला पाता कि बाह्य पदार्थोंमें मेरे कुछ करने का सामर्थ्य ही नहीं है। जो कुछ मैं कर रहा हूँ कर सकता हूँ सो अपने आपके गुण और प्रदेशोंमें कर रहा हूँ। सो कृतार्थता की बुद्धि नहीं आती। मेरे करनेको कुछ पड़ा नहीं है, मैं परिपूर्ण हूँ मेरे को मुझमें करना क्या है। बाहरमें कहीं किसी भी पदार्थमें मैं कुछ भी कर सकता नहीं ऐसा सच्चा ज्ञान नहीं कर पाता और विकट विकल्पमें ही रहकर मृत्युके मुखमें चला जाता है।

मांधाता भरतः शिवो दशरथो लक्ष्मीधरो रावणः कर्णः कंसरिपुर्बलो भृगुपतिर्भीमः परेऽप्यु-न्नताः। मृत्युं जेतुमलं न यं नृपतयः कस्तं परो जेष्यते भग्नो यो न महातरुद्विपवरैस्तं किं शशो भंक्ष्यति ॥३०९॥

महारथियों द्वारा भी मृत्युकी अविजेयता—बड़े-बड़े पुरुषभी मृत्युको जीत न सके। जिसमें मांधाता कोई बड़े वीर पुरुष हुए हैं वे भी न रह सके। भरत चक्रवर्ती जिसका छह खण्ड पर राज्य था जब आयुकर्मका क्षय हुआ तो उसे भी जाना पड़ा। भले ही वह निर्वाण गए हों तो भी आयुका क्षय तो हुआ। महादेव जो बड़ी विद्यावोंके सिद्ध करने वाले थे विद्याबलसे जिसने जगतको वश कर रखा था वह भी न रह सके। दशरथ (श्री रामके पिता) जिनकी उस जमानेमें बड़ी कीर्ति थी वे भी न रह सके। लक्ष्मण, नारायण, जिनका छह खण्डका राज्य था, पर जब गए तो अचानक ही चले गए। रावण प्रति नारायण के बड़ी विद्यायें थीं, अनेक विद्यावोंके धारी थे, जिनके बलकी बड़ी महिमा गायी गई है वे भी यहाँ न रह सके। कृष्ण बलभद्र आखिर ये भी न रह सके। भृगुपति परसुराम, भीम आदिक बड़े-बड़े पुरुष पराक्रमी होने पर शरीर भी इस यमराज की दृष्टि को न सह सके और उनको भी आयुके क्षय होने पर त्यागना पड़ा तो फिर अन्य लोगोंकी कथा ही क्या है? कौन सदा जीवित रहेगा? अपने ही शरीरको टटोलकर बोलो कि यह ही तो शरीर है जो लोगोंके द्वारा जला दिया जायगा। कैसा मोह कि इस शरीर को अपनाया और उसके आधार पर खुश हुए, निन्दामें नाखुश हुए, अनुकूल बात हुई तो खुश हुए, प्रतिकूल बात हुई तो नाराज हो गए, जिसका फोटो चाहते, जिसका नाम चाहते वह क्या कोई पवित्र वस्तु है? अरे वह तो नष्ट हो जाने वाली चीज है। उसके जीनेकी आशा करना व्यर्थ है। जो जन्मा है सो नियमसे मरणको प्राप्त होता है। ठीक ही है, जो महावृक्ष बड़े-बड़े हाथियोंसे न टूट सके उसे खरगोश चाहे कि मैं इस वृक्षको तोड़ दूँ तो क्या तोड़ सकेगा? नहीं तोड़ सकेगा, ऐसे ही जब बड़े-बड़े पुरुष भी यमकी आज्ञाका भंग न कर सके, यमको न जीत सके तो क्या छोटे-छोटे पुरुष इस मरणको जीत लेंगे? नहीं जीत सकते। जो जन्मा है उसे नियमसे मरना पड़ेगा। बुद्धिमानी इसमें है कि जितना जीवन है उतने काल अपने सहज परमात्मतत्त्वका आलम्बन लेकर सबका विकल्प छोड़कर आत्मानुभव करें और ज्ञानानुभवके आनन्दसे तृप्त होवें। इसीसे कर्म कटते हैं और जन्म जरा मरणके राग नष्ट होते हैं।

सर्वं शुष्यति सांद्रमेति निखिला पाथोनिधिं निम्नगा सर्वं म्लायति पुष्पमत्र मरुतः शम्पेव सर्वं चलं। सर्वं नश्यति कृत्रिमं च सकलो यद्वद् व्यपक्षीयते सर्वस्तद्वदुपैति मृत्युवदनं देही-भवंस्तत्त्वेतः ॥३१०॥

सर्व प्राणियोंके मरणकी अवश्यंभाविता—लोकमें जितने भी पदार्थ गीले हैं वे सब सूख जाते हैं, समुद्र हो, कुवाँ हो, नदी हो, सभी सूख जाते हैं याने सब विनाशीक हैं अपनी एक स्थिति में कुछ भी नहीं रह सकता। जितनी नदियाँ हैं वे सब समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वे अपना अस्तित्व कहाँ रख पाती हैं? पानी बहा आगे गया, समुद्रमें गिरा तो ऐसे ही सभी पदार्थ अपनी-अपनी परिणति करते हैं और पुरानी परिणति नष्ट कर देते हैं। जितने पुष्प हैं वे सब सूख जाने वाले हैं, फूल न भी टूटें, वृक्षमें ही लगा रहे तो भी सूख जायगा। वृक्षसे गिर गया तो भी सूख जायगा, इसी तरह जंगलमें जितने भी जीव हैं वे सब मरणकी ओर जायेंगे, कोई सदा न रहेगा, जितने भी पदार्थ हैं वे बिजली के समान चंचल हैं। जैसे बिजली चंचल है, स्थायी नहीं रह सकती ऐसे ही जगतके कोई भी पदार्थ स्थायी नहीं रह सकते। जितनी कृत्रिम वस्तुवें हैं वे सब विनाश-शील हैं, इसी कारणसे जब कि ये विनाशशील हैं, नित्य नहीं तो ये प्राणी भी जन्म धारण करने वाले जितने हैं वे सब मरण कर जायेंगे। यह प्राणी मरनेसे डरता क्यों है? इसको परिग्रहसे मोह है इसलिए डरता है। इसे यदि आत्माकी सुध हो, आत्माकी दृष्टि रहे तो फिर मरणका क्या भय? यह आत्मा यहाँ जिस किसी भाँति दृष्ट है वही आत्मा चलकर अन्य जगह गया तो उसको कौन-सी बुरी बात मिल गई? जो आत्म-ज्ञानी हैं वे मरणसे नहीं डरते, वे ही मृत्युको जीतने वाले कहलाते हैं। और जो अज्ञानी मोही हैं वे मरणसे डरा करते हैं, शरीरसे मैं निकल जाऊंगा यह सोचकर अज्ञानीजन ही दुःखी होते हैं, वे जानते हैं कि मेरा यहाँ बड़ा यश था, लोग मुझे बड़ा समझते थे, हमारे पास इतना बड़ा वैभव था, हम बड़े आराममें रहते थे, अब यह सब छूटा जा रहा है यह सोच सोचकर अज्ञानीजन दुःखी रहा करते हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुष जानता है कि मैं आत्मा आत्मामें ही रहता हूँ, जहाँ जाऊंगा वहाँ ही मैं आत्मा रहूँगा, मेरे अस्तित्वका कहीं भी विनाश नहीं है। वह व्याकुलतासे रहित होता है।

प्रध्वस्त द्युतिकांति कीर्तिधिषणाप्रज्ञाकलाभूतयो देवा येन पुरंदरप्रभृतयो नीताः क्षयं-मृत्युना। तस्यान्येषु जनेषु कात्र गणना हिंसात्मनोविद्यते मत्तेभं हि हिनस्ति यः स हरिणं किं मुंचते केशरी ॥३११॥

क्षुधित सिंह द्वारा हरिणके ग्रहणकी तरह यमके मुखमें सर्व प्राणियोंका प्रवेश—जैसे मदोन्मत्त हाथियोंको भी पछाड़ देने वाला सिंह दीन हीन क्षुद्र हिरणको नहीं छोड़ सकता। उसके लिए हिरणका खा लेना, मार लेना कोई कठिन है क्या? उसे अवश्य ही मार डालता है सिंह अपनी क्षुधा मिटानेको या अपनी प्रकृतिके कारण, तो इसी प्रकार संसार-की प्रसिद्धिसे प्रसिद्ध प्रताप वाले बड़ी कान्ति कीर्ति, बुद्धिके धारण करने वाले सर्व कला और शक्तिके भंडार इन्द्रादिक देवों तकको नष्ट कर देने वाला यह यमराज क्षुद्र प्राणियों को नहीं छोड़ सकता। सब ही अवश्य मरणको प्राप्त होते हैं। देखिये कोई अलग देवता नहीं है जो लोगोंकी जान लेने आता हो, सभी जीवों के साथ कर्म लगे हैं, उन कर्मोंका क्षय होता है। आयुमर्मका क्षय हो गया, नवीन आयुका उदय आ गया उसको मरण कहते हैं। तो वर्तमान आयुके क्षय का नाम यम समझ लेना चाहिये। चूँकि साहित्यिक अलंकारमें यमका (मरणका) वर्णन हुआ है सो यह यम जब बड़े-बड़े इन्द्रोंको भी नष्ट कर डालता है, जिनकी बड़ी सागरों पर्यन्तकी आयु है, जो बीचमें कभी मर नहीं सकते, जिनका वैक्रियक शरीर है, कहो छोटा शरीर बन जाय, कहो बड़ा बन जाय, कहो हल्का बन जाय या वजनदार बन जाय। सो बड़ी नीति रीति ऋद्धिके धारी ये देवेन्द्र भी यमके द्वारा मरणको प्राप्त होते हैं। उनकी भी आयुका क्षय होता है। अब भला विचारो कि जो अनगिनते वर्षों स्वर्गोंके सुख भोग रहा वह भी अन्तमें मरणको प्राप्त होता है तब फिर हम आप क्षुद्र प्राणियोंकी तो कथा ही क्या है? किसी भी समय मरणको प्राप्त हो जाते हैं। तो जिन्हें मरणका कष्ट न भोगना हो उन्हें चाहिए कि धर्ममें चित्त लगायें। जन्म जरा मरण रहित आत्माके ज्ञानानन्द स्वभावकी आराधना करें। उस रूप अपने आपको देखें तो ये कर्म सब सूख जायेंगे। शरीर मिलना बंद हो जायगा। सिद्ध भगवान हो जायेंगे। सदाके लिए इसके समस्त संकट टल जायेंगे। सो दृष्टि रहना चाहिए अपने आत्मस्वरूप की ओर और जगतमें किसी भी उपक्रमके कर्ता न बनना चाहिए, क्योंकि बाह्य पदार्थोंमें यदि इसका लगाव रहा तो फिर आत्माकी दृष्टि नहीं बन सकती। तो जिसके आत्माकी दृष्टि नहीं बनी उसका जीवन बेकार है। संक्लेश पूर्वक मरण करेंगे तो उसके फलमें कठिन दुःख भोगना होगा।

श्रीह्री कीर्तिरतिद्युतिप्रियतमाप्रज्ञाकलाभिः समं यद् ग्रासीकुरुते नितांतकठिनो मर्त्यं कृतांतः शठः। तस्मात्किं तदुपार्जनेन भविनां कृत्यं बिशुद्धात्मनां किंतु श्रेयसि जीविते सति चले कार्या मतिस्तत्त्वतः ॥३१२॥

यम द्वारा देहविनाशके साथ-साथ सर्व गुणोंका विनाश—यह यम ऐसा दुष्ट है कि यह केवल मनुष्यके शरीरको ही नष्ट नहीं करता किन्तु उसके साथ-साथ लक्ष्मी, लज्जा, कीर्ति, कान्ति, रति, प्रज्ञा, कला आदिक समस्त गुणोंको नष्ट कर देता है। जब मरे तो कान्ति भी गई, शरीर पर झुर्रियाँ छा जाती हैं। जीव चला गया तो उसके साथ तैजस कार्माण भी चले गए। तो जब तैजस शरीर निकल गया तो शरीरमें मुर्दानी छा जाती है कान्ति कहाँ रह सकती ? तो यह यम केवल शरीरको ही नष्ट नहीं करता किन्तु साथ ही कान्तिको भी नष्ट कर देता है। लक्ष्मीको भी नष्ट कर देता है। मर गए तो सारी लक्ष्मी छूट ही गई। कीर्तिको भी नष्ट कर देता है। मर गए तो फिर उसके लिए कीर्ति क्या रही ! पिछले भवोंमें न जाने कितने बड़े-बड़े काम किये होंगे पर आज उनकी कीर्तिका कुछ स्मरण भी है क्या ? उस कीर्तिसे इस जीवको क्या लाभ ? तो ऐसे ही किन्हीं कारनामोंसे यह कीर्ति यह बन भी जाय तो भी मरणके बाद फिर उस कीर्तिसे क्या सम्बंध ? तो शरीरको तो नष्ट कर ही देता है यह आयुकर्म (यमराज) मगर कीर्ति आदिक को भी नष्ट कर देता है। प्रज्ञा—चतुराई, इस भवमें इस भव जैसी चतुराई है। जब बच्चे थे तब कोई चतुराई न थी, जब कुछ बड़े होते गए तो धीरे-धीरे चतुराई बढ़ती गई, अनुभव भी बना बड़ी उम्र तक ये सब बातें जानने में आयीं, मर गए तो सारी चतुराई एक साथ खतम हो गई, अब अगले भवमें यहाँ की चतुराई किस काम आयगी ? यहाँ से मरकर मानलो फिर मनुष्यभवमें ही पैदा हो गए तो फिर शुरू से वही अ आ इ ई की पाटी पढ़नी पड़ेगी। जो जो भी कलायें इस जीवनमें सीख लिया, मान लो किसी ने हारमोनियम बजाना सीख लिया या टाईपिगके काम सीख लिया या कोई भी कला का काम सीख लिया, तो मरण होने पर तो ये सब कलायें व्यर्थ हो जायेंगी। अगले भवमें वे कलायें क्या काम देंगी ? मान लो मरकर फिर मनुष्य बने तो फिर से वही पाठ सीखना पड़ेगा। तो यह यम सिर्फ इस मनुष्यके शरीरका ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण कला व गुण आदिकको भी नष्ट कर डालता है। तो जो बुद्धिमान पुरुष हैं, आत्माके स्वरूपको जो जानने वाले हैं वे इस चंचल जीवनमें जीते हुए ही अपने मोक्ष सुखका उपाय बना लेते हैं। आत्म स्वरूपको बरबाद करने वाले पदार्थोंमें वे प्रीति नहीं करते। इनके फंदेमें वे नहीं फंसते। तो मोक्षसुख पायें। मोक्षसुख पानेका उपाय क्या है ? अपने सहज आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना, ज्ञान करना, और उस ही रूप अपने को मानकर रह जाना, अन्य विकल्प न करना यही मोक्षके पानेका उपाय है।

यो लोकैकशिरः शिखामणिसमं सर्वोपकारोद्यतं राजच्छीलगुणाकरं नरवरं कृत्वा पुनर्निर्दयः। धाता हंति निरर्गलो हतमतिः किं तत्क्रियायां फलं प्रायो निर्दयचेतसा न भवति श्रेयोमतिर्भूतले ॥३१३॥

दैवका विचित्र कदम—यह भाग्य इस मनुष्यको पहले तो ऐसा बड़ा बना देता है, ऐसी अपनी भलमंसी दिखाता है कि तीनों लोकके सिर पर पैर रखने वाला अर्थात् ऊंचा बना देता है। समस्त संसारके उपकारमें लगा देने वाला ऐसा महान बना देता है और मुकुटके समान गुणोंसे देदीप्यमान बना देता है। जैसे इन्द्र देवका जब तक जीवन है, पुण्यका उदय है तब तक उसमें कितनी महान शक्ति है। कोई भूख प्यास आदिक की वेदना उनको नहीं, बड़ा ऊंचा बना दिया कर्म ने, पीछे वह ऐसा निर्दयपना दिखाता है कि इस बेचारे इन्द्रके प्राण ही हर लेता है। किसीको खूब सुख मिले जिन्दगी भर, पर उसका आखरी परिणाम क्या होगा सो तो विचारो बड़ा दुःखी होना पड़ेगा। भला जगतमें है क्या कोई ऐसा मनुष्य जिसने जीवन भर सदा सुख ही सुख पाया हो? ऐसा कोई नहीं है? पुण्योदयसे जितनी सुख सामग्री मिलती हैं वे जब अन्तमें विघटती हैं तो उनके पीछे बड़ा दुःख होता है। यह बात सब की निगाहमें है कि मरण होते समय यह जीव सबके विछोहका बड़ा कष्ट मानता है। तो यह दैव पहले तो मनुष्यके साथ बहुत भलमंसी दिखाता है, इसे खूब ऊँचा बना देता है राजा बन गया, सारे वैभव मिल गए, बड़े-बड़े लोग जिसकी आज्ञा में रहते हैं, सब कुछ है, पर अन्तमें उसकी क्या हालत होती है सो वही जानता होगा। सब कुछ छोड़कर जाते समय उसको बड़ा कष्ट होता है। तो यह यमराज बिना ही कसूर के इस जीवको शरीरसे पृथक् कर देता है। जीवन भर सुख पाये और इस मनुष्य ने भी न किसी पर अन्याय किया, न किसी को सताया, धर्मसाधना में भी लगा रहा लेकिन आयुका क्षय और यह यम उसे भी शरीरसे पृथक कर देता है और निरर्थक काम करनेकी जड़ बुद्धिका परिचय देता है। भला किसीको मार देनेसे उसे मिला क्या? मानो कोई मर गया तो उससे यमको मिला क्या? लेकिन इसकी ऐसी प्रकृति ही है। ऐसा स्वरूप ही है वस्तुका। कोई भी जीव शरीर बने तो उसकी म्याद होती है। भले ही लोग जिसे वैकुण्ठकी कल्पना करते कि वहाँ कल्पकाल तक जीव मुक्त रहता है और फिर अवधि पूरी हो जाती है, कल्पकाल व्यतीत हो जाता है तो उसे फिर संसारमें जन्म लेना पड़ता है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। उनका यह आशय जैन शासनके स्वर्ग और ग्रैवयकमें उत्पन्न होने वालेके साथ लगता है ग्रैवयकमें जो

उत्पन्न हुआ है या उससे आगे और ऊपर मानो उत्पन्न हुआ है तो वे सब अहमिन्द्र हैं। वे होते हैं मुक्त जैसे, उनके मंद कषाय होती, शुक्ल लेश्या उनके होती। तो लोगों की दृष्टिमें वे भगवान की तरह हैं मगर उनके भी आयु है। जब आयुका क्षय होता है तो उन्हें भी मरण करना पड़ता है। तो जो जन्मा है वह मरेगा। ऐसा जानकर बुद्धिमानी इसमें है कि यहाँ ऐसा काम कर जायें जिससे हम भविष्यमें आराम और शान्तिसे रह सकें। उसका उपाय है आत्माका ज्ञान करना।

रम्याः किं न विभूतयोऽतिललिताः सच्चामरभ्राजिताः किं वा पीनदृढोन्नतस्तनयुगास्त्रस्तैण-दीर्घेक्षणाः। किं वा सज्जनसंगतिर्न सुखदा चेतश्चमत्कारिणी किं त्वत्रानिलधूत दीपकलि-काच्छायाचलं जीवितं ॥३१४॥

जगतमें सर्व पदार्थोंकी दुःखकरता व हेयता—इस संसारमें जो-जो पदार्थ दुःखदायी मालूम देते हैं, हेय मालूम देते हैं, असार दिखते हैं और शास्त्रोंमें उनके छोड़नेका उपदेश भी दिया है, यदि ये पदार्थ सदा संग रहते और यह मनुष्य मरता नहीं तो फिर इन्हें कौन छोड़ना चाहता ? मान लो स्त्री पुत्र, धन वैभव मकान महल आदिक सदा साथ रहते तो फिर कौन इन्हें छोड़ना पसन्द करता ? यह शरीर यदि सदा निरोग रहे, इसमें जन्म, जरा, मरण आदिक रोग न आयें तो फिर इस शरीरको कौन छोड़ना चाहता ? ये इसी कारण छोड़े जाते कि ये सब चीजें विनाशीक हैं, असार हैं। इनसे आत्माका कोई हित ही नहीं हैं, तब ही तो ये हेय बताये गए। तो ये सब दुःखदायी हैं, हेय हैं, शास्त्रोंमें इनको छोड़नेका उपदेश है। वे इसीलिए तो हेय हैं कि भाई जीवों की भी पर्यायें सदा बदलती रहती हैं। और फिर इन पदार्थोंकी परिणतियाँ भी बदलती रहती हैं, तो इनका संग सदा नहीं रह सकता है। इनका जीवन क्षणभंगुर है। पवन से प्रेरे गए दीपकके लौ के समान अल्पकालमें नष्ट हो जाने वाला है। जैसे कोई सरसोंके तैलका दीपक जल रहा और हवा तेज चल रही तो उस लौ के रहनेका क्या ठिकाना ? शीघ्र ही बुझ जायगा। इसी तरह जो जीवन मिला है यह कालके लपेटके मारे सब बुझ जायगा। सो ये सब विनाशीक हैं, हेय हैं, असार हैं, दुःखदायी हैं। यदि ऐसा न होता सभी पदार्थ हमेशा एक समान बने रहते और यह मनुष्य भी न मरता तो फिर कौन पुरुष घरको त्यागकर, राज्यविभूतिको त्यागकर निर्ग्रन्थ होता। बनका सहारा लेनेकी फिर किसको जरूरत पड़ी थी ? तो चूंकि ये सारे पदार्थ विनाशीक हैं इस कारण ये हेय हैं, असार हैं, इनको बुद्धिमान पुरुष त्यागते हैं।

बाह्यार्थोंके त्यागे जानेका कारण बाह्यार्थोंकी विनश्वरता भिन्नता व हेयता—देखिये राज्य वैभव किसे प्यारा नहीं लगता ? जहाँ प्रजातंत्र पद्धति है वहाँ भी लोग यह चाहते हैं कि मैं राज्यका नेता बनूँ और जहाँ राज्य पद्धति बनी हुई है वहाँ राजा लोग अपने में बड़ी प्रभुत्व महसूस करते हैं। यद्यपि उनकी यह गलती है, इस थोड़े दिनोंका सुख समागम मिला तो उसमें क्या आसक्त होना, लेकिन कर्मोदय ऐसा है कि अपने को भूल जाते हैं और मिले हुए समागमोंसे अपनेमें अंहकार अनुभव करते हैं, गौरव अनुभव करते हैं। तो ये प्राणी यदि सदा रहते और इन पदार्थों का समागम सदा रहता तो इनको कौन त्यागनेकी वाञ्छा करता ? बड़े-बड़े महापुरुष तीर्थंकर जिनके देव रक्षक, देव सेवक जिनके मनको बहलानेके लिए इन्द्र तरसता, उन तीर्थंकरोंने भी सर्व परिग्रहोंको त्यागा और अपने आपमें अपने सहज परमात्मतत्त्वका ध्यान किया, जिसके प्रसादसे सर्व कर्मकलंक से छूटकर वे सिद्ध हुए। यदि ये पदार्थ सदा रहते, एक सरीखे रहते और यह मनुष्य भी सदा रहता तब तो धर्म कर्म क्या ? यह ही धर्म बन गया कि इस पदार्थको लिए रहो, भोगते रहो क्योंकि ये मिटने वाले नहीं हुए। न ये मिटने वाले हुए तो सदा छोड़ता ही न यह। जीव तो जितने लोग विरक्त हैं, विरक्त हुए हैं, विरक्त हुए थे वे इसी आधार पर तो विरक्त हुए कि ये सब पदार्थ विनाशीक हैं। इनके लगावमें आत्माको कोई लाभ नहीं होता। सो ये समस्त पदार्थ क्षणभंगुर हैं। जब पुरुषोंकी पार्टी बन गई, एक संगति बन गई, मित्रता बन गई तो उनको उस ही में आनन्द आ रहा कि इस मित्रता को कौन छोड़े ? यदि पदार्थ विनाशीक न होते, सदा ही जीवके साथ रहते तो इन पदार्थों को कौन त्यागता ? तो वैराग्यका आधार ही यह है कि सारे पदार्थ विनाशीक हैं, मुझसे निराले हैं। मेरा इनसे कोई सम्बंध नहीं है, बल्कि उसकी ओर लगाव बना रहता है तो उससे पापकर्म का ही बंध होता है, जिसके फलमें भविष्यमें नाना कष्ट भोगे जाते हैं। आत्महित केवल अपने ही स्वरूपसत्त्वके कारण जो अपनेमें स्वरूप है ज्ञानमात्र आनन्दमय उस ही रूप अपनेको अनुभव करे तो इसको संसारके संकटोंसे मुक्ति हो सकती है, और अपनेको भूल जाय और बाह्य पदार्थोंमें ही रमण करें तो उसका संस्कार चक्र कभी नहीं मिट सकता। जिनको मृत्युसे बचना है, संसारसंकटोंसे हटना है उनका कर्तव्य है कि संकटहीन अंतस्तत्त्वकी उपासना किया करें।

यद्येतास्तरलेक्षणा युवतयो न स्युर्गलद्यौवना भूतिर्वा यदि भूभृतां भवति नो सौदामिनि-संनिभा। वातोद्भूततरंगचंचलमिदं नो चेद्भवेज्जीवितं को नामेह तदेव सौख्यविमुखः

कुर्याज्जिनानां तपः ॥३१५॥

समागत युवती आदिके विनश्वरपनेके अभावमें तपोवृत्तिकी अनाश्रेयता—यदि इस संसारमें चंचल नेत्र वाली युवतियोंका मनोहारी यौवन ढल जाने वाला न होता तो उस सुखको छोड़कर परोक्ष सुख पाने की इच्छा से कौन तपश्चरण को तपता ? युवतियोंके मनोहारी चंचल नेत्र पुरुषोंकी कामवासनाको उद्गत करते हैं और यह मोही पुरुष वहाँ आसक्त होकर सुखका अनुभव करता है। यदि यह मनुष्य ऐसा ही बना रहे समर्थ और ये स्त्रियाँ सदैव इसी प्रकार संगमें रहें तो कौन तपश्चरणको तपता ? चूँकि ऐसा कभी हो ही नहीं सकता कि यह मनुष्य बलवान बना रहे भोग भोगने की सामर्थ्य वाला बना रहे और जिन युवतियों का संग समागम हुआ है वे सदा रहें, उनका कभी मरण न हो न खुदका मरण हो, ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। यही तो संसारका रूप है, अतएव विवेकीजन इस भोग सामग्रीको त्याग कर तपश्चरण किया करते हैं। बड़े-बड़े राजावोंका ऐश्वर्य बिजलीके समान क्षण-क्षणमें चलायमान होता है, यदि यह राज्य ऐश्वर्य क्षणभंगुर न होता, स्थिर रहता, सदा साथ रहता तो कौन इस राज्य वैभवको त्यागता और तपश्चरणमें लगता, चूँकि ऐसा है ही नहीं कि राज्य वैभव सदा बना रहे। वह छूटता ही है, जीवनमें छूटता है, मरकर छूटता है इसलिए ये सब भी असार हैं और विवेकीजन बड़े वैभवको त्याग कर तपश्चरणमें लगा करते हैं। इस मनुष्यका जीवन वायुसे कँपायी गई चंचल तरंगों के समान क्षणस्थायी है। यदि कदाचित इस मनुष्यका जीवन सदा स्थिर रहता और ऐसा ही बलशाली रहता याने एक-सा बना रहता तो कौन पुरुष इस प्रत्यक्ष सुखको छोड़कर परोक्ष सुख पानेकी इच्छासे जैन तपश्चरणको करता ? चूँकि जीवन क्षणभंगुर है और ऐसा श्रेष्ठ मन मिला है कुछ समयको तो विवेकीजन इस मनको सहज परमात्मतत्त्वके ध्यानमें लगाते हैं और अपने जीवनक्षण सफल करते हैं।

मांसासृग्रसलालसामयगणव्याधैः समाध्यासितां नानापायवसुंधरा रुहचितां जन्माटवीमाश्रितः। धावन्नाकुलमानसो निपतितो दृष्ट्वा जराराक्षसीं क्षुत्क्षामोद्धत मृत्युपन्नगमुखे प्राणी कियत्प्राणिति ॥३१६॥

जराराक्षसीके आक्रमणसे व्याकुल प्राणियोंका अटपट भागकर यम अजगरके मुखमें प्रवेश—मांस मज्जा खून आदिक अनेक धातु उपधातुवोंकी लालसा करने वाले इस रोग रूपी व्याघ्रोंसे यह संसार रूपी जंगल वेष्ठित है। जैसे जंगलमें अनेक व्याघ्र फिरा करते हैं जो दूसरोंके प्राण हरा करते हैं ऐसे ही इस संसारमें नाना प्रकारके रोग भरे पड़े

हुए हैं, इन भोगोंसे मांस मज्जा रुधिर आदिक धातुवें खोटी हो जाती हैं, सूख जाती हैं और नाना प्रकारके विघ्न रूपी वृक्षोंसे सघन है यह जन्मरूपी विशाल जंगल। जैसे विशाल वन नाना वृक्षोंसे सघन रहता है तो यह भी नाना विघ्न रूपी वृक्षों से भरा हुआ है। प्रत्येक जीवके कदाचित दुःख कम होता है, सुख आता है तो उसमें अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं एक प्राकृतिक बात है, जो आत्मीय आनन्द नहीं है, जो सहज नहीं है, स्वाभाविक नहीं है उसकी क्या प्रतिष्ठा? उसमें तो विघ्न आया ही करते हैं। ऐसा नाना विघ्नोसे भरा हुआ यह जन्मरूपी विशाल जंगल है। सो इस जन्ममें, इस जीवनमें जरा अर्थात् वृद्धावस्थारूपी राक्षसीको देखकर यह जीव व्याकुल हो गया है। इधर-उधर भागता है यह मन। इधर-उधर भागता हुआ यह जीव अजगर के मुख में पड़ जाता है। जैसे कोई पुरुष ऐसे जंगलमें फंस गया कि जिसके पीछे राक्षसी लग गई खानेके लिए तो डरके मारे इधर-उधर व्याकुल होकर भागता है और भागनेमें ही अजगरके मुखमें पहुँच गया, तो जैसे उसकी दुर्दशा है ऐसे ही वृद्धावस्थारूपी राक्षसीको देखकर यह जीव घबड़ाता है, इधर-उधर भागता है, उस अटपट भागते हुएमें उस यमराजके मुखमें, अजगरके मुखमें पहुँच गया जो भूखसे मुख बाये हुए था सो वहाँ यह जीव शीघ्र ही अपनी वर्तमानकालकी पर्यायका विनाश कर लेता है, याने प्रत्येक जीव बड़ी दुर्दशावोंमें आकर मरण कर लिया करते हैं ऐसे मृत्युसे व्याप्त इस संसारमें जो जीव रमते हैं, भोगकी इच्छा रखते हैं वे पुरुष महान अज्ञान अंधकारमें फसे रहते हैं और उन्हें सन्मार्ग नहीं दिखता। व्याकुल होकर संसारमें जन्म मरण करके भटकते ही रहा करते हैं।

मृत्युव्याघ्रभयंकराननगतं भीतं जराव्याधत स्तीव्रव्याधिदुरंतदुःखतरुमत्संसार कांतारगं।
कः शक्नोति शरीरिणं त्रिभुवने पातुं नितांतासुरं त्यक्त्वा जातिजरामृतिक्षतिकरं जैनेंद्र धर्मामृतं ॥३१७॥

मरणाक्रान्त जीवोंका धर्मातिरिक्त अन्य साहाय्यका अभाव—यह जीव बड़े तीव्र व्याघ्रोंसे भरे हुए इस संसारवनमें दुःख भोगता रहता है। नाना तरहके दुःख रूपी वृक्षोसे सघन इस संसारवनमें यह जीव संकट भोगता रहता है और जब वृद्धावस्था रूपी व्याघ्रोंसे घिरा हुआ भयभीत हुआ यह जीव भयंकर यम रूपी व्याघ्रके मुखमें चला जाता है। उस समय उसकी रक्षा करने वाला कौन? जन्म मरणको नष्ट करने वाले जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रणीत धर्मके सिवाय कोई बचा नहीं सकता। वे पुरुष धन्य हैं जो मृत्यु समयमें एक चैतन्यस्वरूप आत्मस्वरूप आत्मधर्मकी आराधना किया करते हैं। इस सद्धर्मको

आराधनाके प्रतापसे वह अगला भव पायगा तो सही, पर उत्तम पायगा और वहाँ संयम धारण करके संसारके संकटोंसे सदाके लिए छूट जायगा, ऐसा उसका पौरुष होगा। यदि कोई इस जीवको जन्म मरणके दुःखसे बचाने वाला है, इस जीवका यदि कोई रक्षक है तो वह जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट यह सच्चा धर्म ही है। यह धर्म कहीं बाहर नहीं है। अपने आपका जो सहज स्वरूप है अपने ही सत्त्वके कारण अपना ही जो शील है, स्वभाव है उस रूप अपनेको अनुभवना कि मैं वास्तवमें सहज चैतन्यमात्र ही हूँ। जो पवित्र आत्मा अपने आपके वास्तविक सहज स्वरूपको दृष्टिमें ले लेता है और इस अनुभव के प्रसादसे अलौकिक आनन्दका अनुभव कर लेता है वह पुरुष संसारमें संकटोसे नियमतः छूट जायगा। विवेकी पुरुषोंको इस सहज परमात्मतत्त्वकी आराधना रखना चाहिये। इसकी दृष्टिमें यह ही सहज अंतस्तत्त्व बना रहना चाहिये। मृत्युको जीतने वाला यदि कोई तंत्र है तो यही सहज आत्मस्वरूपकी आराधना है। इसके अतिरिक्त जगतमें अन्य कोई तंत्र मंत्र नहीं है जो इस जीवको मृत्युकी परम्पराओंसे बचा सके। इस जीवका स्वरूप ही ऐसा नहीं है कि किसी वस्तुको कोई दूसरा परिणमा सके। मुझ जीवको मैं ही सुधारमें ला सकता हूँ और मैं ही बिगाड़में ला सकता हूँ। सहज आत्मस्वरूपकी अनुभूति होना यही वास्तविक धर्मपालन है।

एवं सर्वजगद्विलोक्य कलितं दुर्वारवीर्यात्मना निस्त्रिंशेन समस्तसत्त्वसमितिप्रध्वंसिना मृत्युना। सप्रत्नत्रयशातमार्गणगणं गृह्णंति यच्छित्तये संतः शांतधियो जिनेश्वरतपः साम्राज्यलक्ष्मीश्रिताः ॥३१८॥

जन्मजरामरणाक्रान्त लोकमें विवेकियों द्वारा धर्मपालनका कर्तव्य—संसार का स्वरूप काफी बताया गया है, प्रत्येक पदार्थ अपने आपके ही सत्त्वके कारण स्वामी हैं, अपने आपकी ही परिणतिसे परिणमते हैं। भले ही विकार परिणति के लिए निमित्त नैमित्तिक योग अनिवार्य बना हुआ है, पर परिणमन सबका स्वयंका स्वयंमें है। यह वस्तु स्वातंत्र्य कभी भी खण्डित नहीं होता, ऐसे अपने-अपने स्वरूप में परिणमने वाले पदार्थोंका समूह ही तो यह जगत है तो जगतका जिसने सत्य स्वरूप जान लिया वह शान्त पुरुष इस यमको जगतको जीतनेके लिए सम्यग्दर्शन आदिक रत्नत्रय रूप तीक्ष्ण वाणोंको ग्रहण करता है, यह जगत मृत्युरूपी राक्षससे व्याप्त है। अनन्तानन्त प्राणी अपनी अपनी आयुके क्षय होते ही मरणको प्राप्त होते हैं। सारी व्यवस्था ओटोमेटिक बनी हुई है। जिसने जैसे कर्म किया उसके अनुसार उस पर वैसी घटना बीतती है। इस मृत्युरूपी राक्षसने समस्त

प्राणियों के नाश करने की कमर कसी है। उसके नाशके लिए भी शान्त पुरुष ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव भगवान जिनेश्वरके तपके साम्राज्यके प्रभावसे तपस्वी रत्नत्रयके धारी पुरुष इस मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं। निर्वाण प्राप्त कर लेना ही वास्तवमें मृत्यु पर विजय पाना है, सो यह निर्वाण इच्छा निरोध चैतन्य प्रतपन परमार्थ तपके प्रसादसे होता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र जो आत्मस्वरूप है, स्वाभाविक है, इन तीक्ष्ण वाणोंसे उस मृत्युका विनाश कर डालते हैं, जहाँ आत्माने अपने सहज आत्मस्वरूपका दर्शन किया और अपनी ही इस ज्ञान ज्योतिको निरन्तर निरखते रहते हैं, इस ज्ञानस्वरूपमें ही अपने आपको मग्न रखना चाहते हैं उन पुरुषोंको क्या संकट है और यह अमर आत्मा उनकी दृष्टिमें है और इस दृष्टिके प्रसादसे अद्भुत अनन्त सहज आनन्द भी भोगा जा रहा है तो वे पदार्थ हैं, उनको अब किस प्रकारका कष्ट रहा ? सो जो स्वपर तत्त्वके यथार्थ जानकार हैं वे पुरुष इस रत्नत्रय रूपी पैने वाणोंको ग्रहण करते हैं और इस यम-राजका खोज मिटाना चाहते हैं। वास्तवमें इस आत्माका परम मित्र आत्माका धर्म है, पर वह अपने आपमें ही शक्तिमान है, अपने आपको ही अपने द्वारा निरखता है, अथवा यह आत्मा सहज अपने आप ही स्वभावतः मौन रूप है, जाननहार है इसमें जो विकार आते हैं वह सब कर्मकी छाया है। जहाँ कर्मसे निराले सहज ज्ञानस्वरूपको देखा वहाँ छाया की प्रतिष्ठा नहीं रहती। जब यह आत्मा अपने आपके स्वरूपका अनुभव लेता हुआ सहज ज्ञानानन्द स्वभावी अमृतका पान करता हुआ तृप्त रहता है तो जन्म जरा मरण इस संसार रोगके मिटानेकी अचूक औषधि है। सहज आत्मस्वरूपका अनुभवन है। सो हम सबका कर्तव्य है कि इस सहज आत्मस्वरूपका अनुभव पाकर हम अपने इस दुर्लभ मानव जीवन-को सफल करें।

———

सुभाषित रत्नसंदोह प्रवचन

तृतीय भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

(१३वां परिच्छेद—अनित्यताका वर्णन)

कार्याणां गतयो भुजंगकुटिलाः स्त्रीणां मनश्चंचलं
नैश्वर्यं स्थितिमत्तरंगचपलं नृणां चयो धावति ।
संकल्पाः समदांगनाक्षितरला मृत्युः परं निश्चितो
मत्वैवं मतिसत्तमा विदधतां धर्ममति तत्त्वतः ॥३१९॥

(१) **अनित्यसमागममें न रमकर परमार्थधर्मका आश्रय लेनेका कर्तव्य**—इस जगत में कर्मोंकी गति सर्पके समान कुटिल है अर्थात् ये कर्म कभी तो अनुकूल कार्य करने लगते हैं और कभी ऐसे दुःखोंको लाकर सामने पटक देते हैं कि जिनका स्वप्नमें कभी ध्यान भी न किया गया हो । तो ये कर्म अतीव कुटिल हैं, एक समान स्थिति इस जीवकी कहाँ रह पाती क्षणमें सुखी क्षणमें दुखी । बड़ों बड़ोंकी भी यह ही स्थिति है । इस पर कोई क्या करे ? कर्मका स्वभाव ही ऐसा है । दूसरे पदार्थोंका सम्पर्क कभी समता नहीं उत्पन्न कर देता । यह कर्मगति विचित्र है । दूसरी बात स्त्रियोंका मन बड़ा चंचल है तभी तो वे अपरिमित अनुराग दिखाने लगती है और कभी बेहद रुष्ट हो जाती हैं । जिनपर ये जीव मोहित हैं ये इसके वश कहाँ हैं ? कब प्रसन्न हो कोई, कब रुष्ट हो कोई । उसके कषायके आधीन तो कभी कोई रह नहीं सकता । ऐश्वर्य धन धान्य आदिक सम्पत्तियाँ वायुसे प्रेरित लहरोंके

समान चंचल हैं, जैसे समुद्र अथवा बड़ी नदियोंमें लहरें उठती है बड़ी तेज हवासे उन लहरों का चलना होता है तो वे लहर क्षण भरमें कहींसे कहीं पहुंचती हैं। अभी हैं और थोड़े समयमें नष्ट हो जाती हैं, ऐसे ही ऐश्वर्य धन धान्य आदिक सम्पदायें आज हैं कल नष्ट हो जाती हैं। यह मनुष्योंका समुदाय जिसमें यह मनुष्य राजी रहता है, कुटुम्ब मानता, मित्र मानता कि यह समुदाय भोगने वाला है, ये, तो किसी स्वार्थके कारण ही निकट है और स्वार्थके ही कारण सेवा करते हैं और उनका स्वार्थ जब सध जाता है तब वे दूर चले जाते हैं, फिर इनकी अपेक्षा नहीं करता। यह संकल्पविकल्प विचारकी परम्परा मदमत्त स्त्रीके नेत्रके समान चंचल क्षणिक विनाशीक है। विचारसे निरखिये अपने आपमें कभी किसी बातका चिन्तन चल रहा है, थोड़ी देरमें ही अन्य बातका चिन्तन चलने लगता है। तो इस जगतमें जितना सारा समागम है वह अनित्य है। नित्य तो अथवा निश्चित तो केवल एक मृत्यु ही है, अतएव जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे कभी नष्ट भृष्ट न होने वाले सच्चे धर्ममें, आत्मस्वभावमें प्रीति करते हैं और उसी स्वभावमें संलग्न रहा करते हैं। इस छन्दमें बताया गया है कि यह मनुष्य स्वयं क्षण स्थायी है। इसका जीवन सदा टिकने वाला नहीं है और इसको जो भी समागम मिला है वह भी क्षण स्थायी है। सदा रहने वाला नहीं है, क्योंकि सारा समागम कर्माधीन है, पुण्यपापके योगसे प्राप्त होता है। ऐसा सदा कहाँ रह सकता ? योग अनुसार थोड़े समयको निकट होता है, अन्तमें वियोग हो ही जाता है। तो यह पर्याय विनाशीक है, जो समागम मिला वह विनाशीक है तो ये विनाशीक मनुष्य यदि अपने को समझें कि मैं सदा रहूंगा और इन विनाशीक परिग्रहोंको समझें कि ये मेरे साथ सदा रहेंगे तो यह उनकी कितनी मूढ़ता है। जो लोग अपने आपके विश्रामको तजकर, आत्मीय आनन्दरूपी आरामको तजकर बाह्य पदार्थोंमें अपने उपयोगको फंसाते हैं वे महामूढ़ हैं।

श्रीर्विद्युच्चपला वपुर्विधुनितं नानाविधव्याधिभिः
सौख्यं दुःखकराक्षितं तनुमतां सत्संगतिर्दुर्लभा।
मृत्युर्ध्यासि तमायुरत्र बहुभिः किं भाषितैस्तत्त्वतः
संसारोऽस्ति न किंचिदंगिसुरवक्तस्माज्जना जाग्रत ॥३२०॥

(२) सकल समागमोंकी असुखकारिता—इस संसारमें चेतन अचेतन, दासी दास धन धान्य आदिक स्वरूप वाली लक्ष्मी विद्युतकी तरह चंचल है याने मुख दिखाकर क्षण भर में नष्ट हो जाने वाली है। जिस सम्पत्तिको निरखकर, मोहित होकर अपने स्वरूपको भूले हैं वह सब सम्पत्ति चंचल है। उसके लगावमें आत्माको लाभ नहीं है और जो शरीर है, जो चलता फिरता दिखाई दे रहा है वह अनेक प्रकार व्याधियोंसे असमर्थ हुआ सामर्थ्यहीन हो

जाने वाला है। अर्थात् शरीरमें क्षण भरमें कोई न कोई रोग आकर इसे घेर लेता है। शरीर तो व्याधियोंका मंदिर है। इस शरीरमें जितने रोम हैं उससे भी अधिक इसमें रोग लगे हुए हैं। तो इस शरीरका भी क्या व्यामोह करना? पौद्गलिक है यह शरीर अपने स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न है और फिर जितने भी कष्ट हैं वे इस शरीरके सम्पर्कके कारण ही तो हैं। यदि यह आत्मा जैसा ज्ञानस्वरूप है अकेला ही रहे, इसके साथ परद्रव्यका सम्बन्ध न रहे तो इसको कोई कष्ट नहीं। तो यह शरीर है वह भी इसको दुःखका घर है। तीसरी बात इन्द्रियजन्य जो सुख है वह दुःखसे मिला हुआ है। ऐसा संसारमें कौनसा सुख है जिसमें दुःख न मिला हो। जैसे घर गृहस्थीमें लोग लड़का आदिकको देखकर सुख मानते हैं और साथ कितने दुःख और लगे हुए हैं। कोई भी इन्द्रियजन्य सुख हो उसके साथ दुःख जरूर लगे हुए हैं और नहीं तो इतना तो है ही कि इन्द्रियजन्य सुख थोड़े समयका सुख है, अन्तमें विरस हो जाता है सो वह ही दुःखके बराबर हो जाता है। तो जो कुछ साधन मिले हैं, लक्ष्मी है, देह है, इन्द्रियजन्य सुख हैं ये सब दुःखके घर हैं। हाँ सज्जनोंकी संगति मिलना बहुत मुश्किल है, वह बड़े भाग्यसे ही किसी-किसीको मिलती है क्योंकि जो संसार देह, भोगों से विरक्त पुरुष हैं, सज्जन हैं, उनकी संगतिसे, उनके सद्वचनसे सन्मार्गकी प्राप्ति होती है और सन्मार्गमें फिर कोई संकट नहीं रहता। तो सज्जन पुरुषोंकी संगति मिलना बहुत कठिन है, किसी किसीको मिलती है। यह जो आयु है, जिसके उदयसे जीवित चल रहे हैं वह आयु मृत्युसे आक्रान्त है। जब आयु है, जीवन है तो मरण निश्चित है। सो यह जीवन अधिक समय तक नहीं टिक पाता, इस कारण हे बुद्धिमान मनुष्य इस संसारमें निरखो कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो सदा चिरस्थायी हो और जीवको सुख देने वाला हो। अतः समझिये चित्तमें विवेक लाइये, उठाइये और अपने कर्तव्यको संम्हालिये। अपना कर्तव्य है अपने आत्माके सहज स्वरूपका श्रद्धान् ज्ञान और आचरण। इनमें उपयोग रमेगा तो इस जीवका कल्याण है।

यद्येताः स्थिरयौवनाः शशिमुखीः पीनस्तनीर्भामिनीः
कुर्याद्यौवनकालमानमथवा धाता रतं जीवितं।
चितास्थैर्यमशौचमंतविरसं सौख्यं वियोगं न तु
को नामेह विमुच्य चारुधिषणः कुर्यात्तपो दुश्चरं ॥३२१॥

(३) युवती जीवन इन्द्रियसुख आदिकी अनित्यता जानकर विवेकियोंका तपश्चरण में प्रवर्तन—इस मनुष्यको जो समागम मिले हैं वे सब अनित्य हैं। लोग स्त्रीजनोंके प्रसंगमें सुख समझते हैं, पर ये स्त्रीजन ये भी अनित्य हैं। एक तो इनका शरीर यौवन यह क्षणिक

है, इनका जीवन क्षणिक है, अपना जीवन भी क्षणिक है। इन्द्रियजन्य सुख जो इन मनुष्यों को, प्राणियोंको इष्ट हो रहा है वह सब भी क्षणिक है। यदि यह दैव चन्द्र समान मुख वाली मनोहारी स्त्रियोंके यौवनको स्थिर कर देता और जीवनको कभी समाप्त न करता और नाना प्रकारकी चिन्तावोंकी स्थितिको दूर कर देता, इन्द्रियसुखोंका कभी नाश न करता कभी भी इष्टवियोग न होने देता तो फिर ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो इन्हें छोड़कर दुर्धर तपश्चरण करता ? ये सब विनाशीक हैं। चिन्तावोंका प्रवाह इन्हींमें चलता है। इन्द्रियसुख नष्ट हो जाते हैं, इष्टका वियोग होता रहता है, सो इन पदार्थोंके समागममें इस जीवका कल्याण नहीं है। इसी कारण महापुरुष इन सर्व समागमोंको त्यागकर बाह्य आभ्यंतर परिग्रहका त्यागकर आत्माके सहज चैतन्य स्वरूपमें चित्तको रमाते हैं और मोक्षसुख की साधना किया करते हैं। यहाँका समस्त सभागम नियमसे जीवका अहित करने वाला है। जिन जिनको इष्ट मान रखा है वे नियमसे दुःख देने वाले हैं और फिर अनिष्टोंके समागम भी होते रहते हैं। तो एक निज अंतस्तत्त्वको छोड़कर बाकी कोई भी पदार्थ इस जीवके लिए ध्यानके लायक नहीं है। तो आत्माके लिए सभी बाह्य पदार्थ बेकार हैं। उनके लगावमें, सम्बन्धमें केवल कष्ट ही कष्ट है, इस कारण जिनको हित और अहितका विवेक नहीं है वे पुरुष उस मोक्षसम्बन्धी नित्य सुखको ही अभिलाषा रखते हैं और उसीके ध्येयसे श्रेष्ठ तपश्चरण करते हैं और इन थोथे असार पदार्थोंके समागममें अपना उपयोग नहीं फंसाते हैं, इस ही में आत्माका हित है, यही सन्मार्गपर गमन है। इसके विरुद्ध तो सब कष्टोंका केवल घर ही है और जन्म-मरणकी परम्पराको बढ़ाने वाला है।

कांताः किं न शशांककांतिधवलाः सौधालयाः कस्यचि-
त्कांचीदामविराजितोरुजघना सेव्या न किं कामिनी।
किं वा श्रोत्ररसायनं सुखकरं श्रव्यं न गीतादिकं।
विश्वं किं तु विलोक्य मारुतचलं संतस्तपः कुर्वते ॥३२२॥

(४) **अवश्य छूटने वाले पदार्थोंको ज्ञानबलसे पहिले ही छोड़ देने पर नित्यसुखकी संभवता**—अच्छे-अच्छे महल ये लोगोंको इष्ट हैं, चन्द्रमाकी कान्तिके समान सफेद वर्ण वाली हवेलियाँ किसे प्रिय नहीं लगती। क्या सज्जन, क्या दुर्जन सभी उन महलोंमें रहना चाहते हैं। लेकिन मिल भी जायें ऐसे स्वच्छ महल तो भी ये सब अनित्य हैं, सदा इस जीवके साथ नहीं रहते, हम कब तक रहेंगे इस महलमें ? तब ही तो इन महलोंको लोग धर्मशाला कहते हैं। धर्मशालामें तो मंत्री आदिकसे निवेदन करने पर कुछ दिन और भी ठहरनेकी इजाजत

मिल जाती है। पर इस महलमें आयुकर्मका क्षय होनेपर एक पल भी ठहर नहीं सकते। तो जो सबको प्रिय हैं ऐसे बड़े-बड़े महल ये सब अनित्य हैं। सुन्दर युवती समूह किसको प्रिय नहीं होती, सभी उनका सेवन करना चाहते हैं, लेकिन उनके समागम भी अनित्य हैं, वे भी नष्ट हो जाने वाले हैं। ये गीत वादित्र आदिक जो कानोको रसायनके समान मधुर लगा करते हैं ये किसको सुख नही पहुंचाते ? सभी उनके सुननेका सुख अनुभव करना चाहते हैं। जो जो प्रसंग मिले हैं वे सब अनित्य हैं, ये कुछ काल बाद हमसे अलग हो जायेंगे। तो जब इन पदार्थोंकी अनित्यता विदित होती है, ये सर्वथा ऐसे ही न रहेंगे, इस बातका भले प्रकार जिनको निर्णय है तो सज्जन लोग इन भोगोंसे घबड़ा जाते। अर्थात् भोगना नहीं चाहते। इनका भोगना उन्हें बुरा लगता है और वास्तविकता यह है कि यह उपयोग आत्माके वास्तविक सहजस्वरूपमें लगे और उस स्वके आश्रयमें जो अलौकिक आनन्द मिलता है उस आनन्दका जिसने अनुभव कर लिया है उसको संसारका कोई भी समागम इष्ट नहीं हो सकता। सज्जन पुरुषोंका यह निर्णय है कि ये संसारके सारे समागम जब एक न एक दिन हमें छोड़ ही देंगे तो फिर हम इनको पहलेसे ही क्यों न छोड़ें ? यदि हम इन्हें नहीं छोड़ते तो भी ये छूटेंगे ? अगर इस दुर्दशासे ये छूटे तो कोई लाभ नहीं है बल्कि संसारमें अनन्त दुःख भोगने पड़ेंगे और यदि हम ही खुद विवेक करके हित अहितकी समझ बनाकर इस सब अहितको छोड़ दें और निज हित आत्मस्वरूपमें लगें तो नित्य मोक्षसुख मिलेगा, ऐसा जिसके निर्णय वह ज्ञानी पुरुष इन समस्त संग प्रसंगोंको छोड़कर परमार्थ तपश्चरण करने लगते हैं। परमार्थ तपश्चरण है निज सहज आत्मस्वरूपमें अपने आपके आत्माका अनुभव करना कि मैं यह हूं शाश्वत ज्ञानानन्द स्वरूप।

कृष्टेष्वासविमुक्तमार्गणगतिस्थैर्यं जने यौवनं
कामान्क्रुद्धभुजंगकायकुटिलान्विद्युच्चलं जीवितं।
अंगारानलतप्तसूतरसवद् दृष्ट्वा श्रियोऽप्यस्थिरा
निष्क्रम्यात्र सुबुद्धयो वरतपः कर्तुं वनांतं गताः ॥३२३॥

(५) यौवन जीवनकी क्षणभंगुरताका परिचय कर निर्ग्रन्थ होकर परमार्थताकी आराधनामें ज्ञानियोंकी प्रगति—ज्ञानी पुरुषने यह निर्णय किया कि आज तो हमारा यौवन काल है इस कारण मौज उड़ा रहे हैं परन्तु यह यौवन समय शीघ्र ही चढ़े हुए धनुषसे बाण के समान वियुक्त हो जाने वाला है। जैसे कोई पुरुष बाण चला रहा हो तो उस चढ़े हुए धनुषपरसे बाण शीघ्र ही निकल जाता है, अलग हो जाता है, ऐसे ही यह जवानी भी शीघ्र ही दूर हो जानी है, क्षणिक है, विनाशीक है। आज जो मनमाने भोग भोगनेमें आ रहे हैं वे

क्रुद्ध हुए भुजंगके शरीरके समान टेढ़े हैं अर्थात् शीघ्र ही विपरीत हो जाते हैं। जो भोग भोगे जा रहे हैं इनका परिणाम खोटा ही निकलेगा। जो लक्ष्मी अभी दृष्टिगोचर हो रही है, जिसको हम अपनी समझते हैं वह अंगारेसे तपाये गये पारेकी तरह चंचल है, क्षण भरमें उचटकर अलग हो जाने वाली है। यह जो हमारा जीवन है वह भी बिजलीकी चमकके समान अस्थिर है। जैसे बिजलीकी चमक होती है, थोड़ी देरको हुई, फिर विलीन हो जाती है ऐसे ही यह जीवन भी विलीन हो जाता है। कुछ पता नहीं कि कब नष्ट हो जाय। इस कारण परमार्थ तपश्चरणकी साधना करना ही श्रेष्ठ है। आत्माके लिए हितकारी है, ऐसा निर्णय करके जो उत्तम पुरुष हैं, विवेकी जन हैं वे सर्व परिग्रहोंका त्यागकर केवल एक सहज आत्मस्वरूपकी आराधनामें ही लग जाते हैं और उस आनन्दसे भव-भवके कर्मोंका विध्वंस कर देते हैं।

वपुर्व्यसनमस्यति प्रसभमंतको जीवितं
धनं नृपसुतादयस्तनुमतां जरा यौवनं।
वियोगदहनं सुखं समदकामिनीसंगजं
तथापि बत मोहिनो दुरितसंग्रहं कुर्वते ॥ ३२४ ॥

(६) **क्लेशकारी पदार्थोंमें मोही जीवोंकी रति**—इस संसारमें राज, यक्षमा आदिक अनेक रोग इस शरीरको नष्ट कर देने वाले हैं। एक तो शरीर स्वयं ही शीर्णताकी ओर चलता है फिर इसमें बड़े-बड़े राज, यक्षमा आदिक रोग लग जायें तो शरीरको ये नष्ट कर ही देते हैं। दूसरी बात—यमराज सरीखे बलवान शत्रु प्राणोंके नाश करने वाले हैं। जब आयुका क्षय होता है तब प्राण शरीरमें नहीं टिक पाते। तीसरी बात—भाई बंधु पुत्र राजा आदिक हिस्सेदार या चोर डाकू आदिक लुटेरे इस धनको छीन लेने वाले हैं, जिस धनको ये प्राणी अपने प्राणोंके समान प्रिय मानते हैं। यह मनुष्य, यह धन भी सदा रहनेका नहीं। चौथी बात—जब जीवित रह रहे हैं तो वृद्धावस्था तो आयगी ही। तो वृद्धावस्था इस यौवन की शत्रु है, यौवन आया है और वही बना रहे, जवानी ही बनी रहे ऐसा नहीं होता। जिसको जवानी आयी है वह जीवित रहेगा थोड़ा तो वृद्धावस्था ही तो आयगी। और अंतिम बात—युवतियोंके संगसे उत्पन्न होने वाला सुख वियोगरूपी अग्निसे भस्म हो जाने वाला है। ऐसा तो यह सारा समागम है, परन्तु यह प्राणी इन समागमोंमें ऐसा मूढ़ बन रहा है, मोह के नशेमें ऐसा चूर हो रहा है कि जो घटनायें बीत रही हैं इस क्षणविध्वंसताका कुछ ध्यान नहीं देता और पापका बोझ ही अपने सिरपर लादे रहा करता है। सब कुछ अनित्य है, सब कुछ धोखा देने वाला है, किन्तु यह भोगोंसे विरक्त नहीं होता और उन विषयोंमें ही आसक्त रहकर कर्मोंका बोझ लादे रहता है। भविष्यमें भी जन्ममरणके दुःखोंकी परम्परा यह प्राप्त

करता रहेगा।

अपायकलिता तनुर्जगति सापदः संपदो
विनश्वरमिदं सुखं विषयजं श्रियश्चचलाः।
भवंति जरसाऽरसास्तरललोचना
योषितस्तदप्ययमहो जनस्तपसि नो परे रज्यति ॥३२५॥

(७) **अन्तस्तत्त्वकी सुधसे शून्य मोही जीवोंकी सापद संपत्तिमें विनश्वर लोकसुखमें चंचल लक्ष्मी आदिमें व्यामोह**—यह शरीर नाना अपायोंसे सहित है, इसमें अनेक विघ्न पड़े हुए हैं और अचानक ही यह कभी भी नष्ट हो सकता है। यह समुदाय जो पौद्गलिक है, भिन्न है, फिर भी यह नेत्रोंको सुन्दर लगता है, मनको तृप्तिकारी जंचता है। ये सारी सम्पत्तियाँ आपत्तियोंसे वेष्ठित हैं। कैसा इन प्राणियोंको मोह लगा हुआ है कि आपत्तियाँ झेलते जाते हैं और सम्पत्तिकी तृष्णा करते जाते हैं। इस सम्पत्तिकी तृष्णासे, इसके सम्पर्कसे नाना आपत्तियाँ आती हैं, पर उन आपत्तियोंको यह देखता ही नहीं है और इन सम्पत्तियोंके संग्रह करनेमें लगा हुआ है। ये समस्त सम्पत्तियाँ आपत्तियोंसे भरी हुई हैं। ये विषयजन्य सुख ५ इन्द्रियमें अथवा मनके विषयोंमें जो भी सुख मालूम किए जाते हैं वे समस्त सुख विनाशीक हैं। अपनेसे अंदाज कर सकते हैं कि इस जीवनमें अब तक कैसे कैसे विषयसुखों को भोगा मगर वह सुख, वह आनन्द आज भी है क्या? वह सब सब विनश्वर है, यह लक्ष्मी विभूति सब चंचल है, सदा नहीं टिकती। ये यौवनके मदसे मस्त हुई स्त्रियाँ बुढापेसे ग्रस्त हो जाती हैं। आखिर वृद्धावस्था उन स्त्री जनोंको भी आती है और उस बुढापेमें विरस हो जाती हैं, सुन्दरता सब खतम हो जाती है, बल्कि और भयानकरूप बन जाता है, सो ऐसा तो इस संसारका यह कार्य है लेकिन यह प्राणी इन्हीं पदार्थोंमें अनुराग बनाये रहता है, आत्माका जो श्रेष्ठ कार्य है परमार्थ तपश्चरण, अपने आपमें अपने सहज स्वरूपको निरखना और यह मैं हूं, ऐसा अपने आपको अनुभवना, इसमें जो आनन्द प्रकट होता है उसमें ऐसा सामर्थ्य है कि भव-भवके बांधे हुए कर्म इसके खिर जाते हैं। सो जो अपना वास्तविक कार्य है, अपने लिए हितकारी है, सुगम है, स्वाधीन है, जिसमें कष्टका नाम नहीं है, बल्कि अलौकिक आनन्द जगता है ऐसे अपने कार्यकी ओर, इस परमार्थ तपश्चरणकी ओर तो ध्यान नहीं देता और इन विनश्वर चीजोंमें ही अनुराग बना रहता है। कोई पुरुष किसीसे एक बार धोखा खाये तो वह उसका दुबारा नाम नहीं लेता, पर इन सामग्रियोंसे हम निरन्तर धोखा खाते रहते हैं, दुःख पाते रहते हैं फिर भी इन सुख सामग्रियोंमें ही व्यामोह बनाये रहते हैं, यह इस आत्मापर बड़ा भारी संकट है। अज्ञानके समान संकट और कुछ नहीं है। अज्ञान,

मोह, मिथ्यात्व ये सभी एकार्थवाचक हैं। जहाँ वस्तुवोंके स्वतंत्र सत्त्वका निर्णय नहीं है, एकका दूसरेपर अधिकार जान रहे हैं वहाँ नाना विकल्प उठेंगे ही और जहाँ ऐसे विकल्प जगते हैं वहाँ इसको कष्ट होगा ही। तो जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे समग्र पदार्थोंको छोड़कर शाश्वत सहज निज चैतन्यस्वरूपमें उपयोग रमाकर आनन्द पाते रहते हैं।

भवे विहरतोऽभवन् भवभृतो न के बांधवाः
स्वकर्मवशतो न केऽत्र शत्रवो भविष्यंति वा।
जनः किमिति मोहितो नवकुटुंबकस्यापदि
विमुक्तजिनशासनः स्वहिततः सदा भ्रश्यते ॥ ३२६ ॥

(८) **खुदगर्ज लोकमें भ्रान्त प्राणीका व्यामोह कर कर परिभ्रमण**—इस संसारमें अनादिकालसे परिभ्रमण करते हुए इस जीवके कितने कौन-कौन बांधव नहीं हुए और स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए कौन-कौन मित्र नहीं हुए और स्वार्थ न सधनेके कारण कौन-कौन शत्रु नहीं हुए ? इस लोकमें यह जीव अनादिसे ही परिभ्रमण करता चला आया है। न तो जीव की आदि है न कर्मसम्बंधी आदि है, न समयकी आदि है, अनन्तकाल व्यतीत हो गया। तब से कितने ही भव धारण किये। उन अनन्त भवोंमें कभी किसी जीवके साथ, कभी किसी जीव के साथ अनेक रूपोमें संयोग हुआ। सो कितने बंधु हुए होंगे और कितने ही लोग स्वार्थ सिद्ध करने वाले हुए होंगे, मित्र हुए होंगे, और स्वार्थसिद्धिमें बाधा आयी हो तो शत्रु भी बन गए। शत्रु और मित्र वस्तुतः कोई मोही मोहीका नहीं बनता। जहाँ स्वार्थसिद्ध हुआ वहाँ तो वह मित्र हो जाता है, जहाँ स्वार्थसिद्धिमें बाधा आयी वहाँ वह शत्रु हो जाता है। तो यह प्राणी इस तरह मोहके फंदेमें फंसकर अब भी नवीन-नवीन कुटुम्बकी वृद्धि करता चला जाता है। जब अनन्त प्राणी इसके बंधु हो गए तो ये ही जीव तो प्रायः अनेक बार संगमें आते रहते हैं। इतने कुटुम्ब पाये फिर भी नवीन-नवीन कुटुम्बकी यह वृद्धि करता चला जाता है। हर भवमें यह संतानको, पुत्रादिकको तरसता है, हुए कितने ही, कितनोंका ही वियोग हुआ, सारी आफतें सही, फिर भी इसकी अभिलाषा शान्त नहीं होती और उस कुटुम्ब वृद्धिके सम्बंधसे आयी हुई विपत्तियोंको अपने सिरपर लादता रहता है, ऐसी उस घटना परिस्थितिमें विह्वल होता रहता है, यही कारण है कि वास्तविक हितकारी जो जैन-शासन है जहाँ पर वस्तुका सही-सही स्वरूप दिखाया गया, जिसके अध्ययनसे, मननसे इस जीवका मोह संकट, समस्त संकट नष्ट हो जाते हैं। उस शासनको भूलकर यह जीव इधर-उधर भटकता है और सतत कष्ट भोगता रहता है। यह मोह ऐसा कठिन दुःखदायी है।

दृढोन्नतकुचात्र या चपललोचना कामिनी
शशांकवदनांबुजा मदनपीडिता यौवने ।
मनो हरति रूपतः सकलकामिनां वेगते
न सैव जरसाजिता भवति बल्लभा कस्यचित् ॥३२७॥

(६) **प्रेमपात्र युवती जनोंकी वृद्धावस्थामें विद्रूपता**—लोगोंको इन्द्रियसुखोंमें सबसे अधिक प्रिय लगता है स्पर्शन इन्द्रिय सुख । सो स्त्रियोंकी संगतिको यह मोही बहुत पसन्द करता है । सों वे स्त्रियाँ युवावस्थामें बड़े दृढ़ सौन्दर्य वाली थीं, जिनका शरीर भोग काम चाहने वाले पुरुषोंको पीड़ा देने वाला है । दृढ़ उन्मत्त स्तन वाले कामकी बाधासे जिनके नेत्र सदैव चंचल रहते हैं वे ही स्त्रियाँ जब वृद्धावस्थामें आती हैं तो भयंकर दिखने लगती हैं । बताते हैं अथवा निरखते हैं कि स्त्रियोंके नेत्र चंचल होत हैं, उस चंचलताका कारण उनको बाधा है । और विशेषकर कामकी बाधा है, और ऐसे ही उनके गुप्त अंग हैं कि जिनमें ऐसी पीड़ा रहती है जिसके कारण उनके नेत्र चंचल रहा करते हैं । तो जिसे कामी जन सुन्दरता समझते हैं वह तो उन स्त्रियोंके लिए पीड़ा और विडम्बना बनी हुई है फिर भी ये मोही जन उनमें आसक्त होते हैं । तो ये युवती जन जिनकी जवानीमें मुखकी सुन्दरतासे चन्द्रमाके बिम्बको भी लज्जित कराया जाता है, जो अपने सुन्दर सुघड़ शरीरके संगठनको देखते ही कामी पुरुषोंके मनका हरण कर लेती है । ये स्त्री जन जब वृद्ध हो जाती हैं उस समय किसीके भी मनका हरण नहीं कर सकतीं । मन हरण करनेको तो बात दूर रही फिर उनकी तरफ कोई ताककर भी नहीं देखता । स्त्रीजनोंका शरीर पुरुष शरीरसे अधिक सुगम और सुन्दर नहीं हुआ करता, किन्तु कामवासनासे पीड़ित पुरुष ऐसा निरखते हैं । करीब-करीब सभी जातिमें पशु हों, पक्षी हों, मनुष्य हों, ऐसा देखा जाता है कि पुरुष जातिका शरीर दृढ़ और सुन्दर होता है । स्त्री जातिका शरीर किसी भी भवमें पुरुष शरीरकी अपेक्षा सुन्दर नहीं है लेकिन कामासक्त पुरुषोंके द्वारा वह स्त्रीशरीर सुन्दर होता जाता है, सो जब वह स्त्रीशरीर वृद्धा हो जाता है तो कामी पुरुषोंके लक्ष्यकी चीज तो रही नहीं । तब वह शरीर एक तो प्रकृत्या ही बेडौल था, अब वृद्धावस्थाके आनेसे वह अधिक बेडौल हो गया । अब इस शरीरकी ओर कोई पुरुष ताककर भी नहीं निरखता । तात्पर्य यह है कि जिस संग को पुरुष तरसते हैं वे युवती भी विनाशीक हैं, उनका रूप विनाशीक है, उनके प्रति मुग्ध होना यह अज्ञानियोंका व्यापार है । विवेकी पुरुष तो उनसे उपयोग हटाकर सहज सुन्दर निज सहज परमात्मतत्त्वकी धुनमें लगा करते हैं और वहीं बसकर सहज आनन्दका अनुभव किया करते हैं ।

इमा यदि भवंति तो गलितयौवना नीरुचस्तदा
कमललोचनास्तरुणकामिनीः कोऽभुचत् ।
विलासमदविभ्रमान भ्रमति लुंटयित्री जरा
यतो भुवि बुधस्ततो भवति निस्पृहस्तत्सुखे ॥३२८॥

(१०) वस्तुतः बाह्यार्थोंसे रंच हेलमेल न होनेपर भी मोहीका अज्ञानवश उनमें व्यामोह—कामी पुरुषोंके द्वारा चाहा गया युवती शरीर यौवन स्थितिसे जीर्ण शीर्ण कान्ति-रहित हो जाता है । यदि इस संसारमें स्त्रियाँ यौवन अवस्थासे कभी न गिरतीं अर्थात् सदा युवती बनी रहतीं, कान्तिरहित न होती तो इन्हें फिर कोई पुरुष न छोड़ता, परन्तु ऐसा है ही नहीं । जब वृद्धावस्था आती है तब उन युवतियोंके समूहका विलास यह वृद्धावस्था लूट लेती है । अब वहाँ विलास शृङ्गार उनकी मदमस्तीका विभ्रम अंगोंका उस प्रकार हिलना डुलना, चंचलता ये सब नष्ट हो जाते हैं । सो यह वृद्धावस्था नियमसे आती ही है और समयपर वह अवश्य ही युवतियोंको विलास, मद आदिकसे रहित कर देती है । इसी कारण विद्वान लोग जिनको विवेक है और वस्तुस्वरूपका बोध है वे युवतियोंके सुखसे सदा विमुख ही रहते हैं । काल्पनिक पराधीन विडंबनामय सुखकी आकांक्षा उन्हें नहीं रहती, और जब काल्पनिक सुखकी आशा छोड़ दी है तो वे विवेकी पुरुष कभी भी स्त्रियोंसे अपना हेलमेल नहीं बढ़ाते । उनमें स्पृहा नहीं रहती । कहाँ तो यह भगवान आत्मा सहज ज्ञानानन्दका निधान और कहाँ अपने स्वरूपको भूलकर खोटे वीभत्स अपवित्र गंदे स्त्रीशरीरमें ये अज्ञानी जन प्रीति करते हैं । यह पवित्र और अपवित्र आत्माका बहुत बड़ा अन्तर है । विवेकी जन अपवित्र कार्योंसे मुख मोड़ते हैं और आत्माके सहज पवित्र चैतन्यस्वरूपके अनुभवकी ओर ही अपने उपयोगको बढ़ाते है और संसारके संकटोंसे सदाके लिए छूटनेमें सफल हो जाते हैं ।

इमा रूपस्थानस्वजन तनयद्रव्य वनितासुता-
लक्ष्मीकीर्तिधृतिरतिमति प्रीति धृतयः ।
मदांधस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपलाः सर्वमविनामहो
कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान् सेवितुमनाः ॥ ३२९ ॥

(११) अनित्य भिन्न अशुचि शरीरमें प्राणीका व्यर्थ व्यामोह—संसारमें जितने भी पदार्थ हैं, जिनको यह जीव विषय बना बनाकर भोग रहा है ये सभी पदार्थ विनाशीक हैं । मोही जीवोंको इन विषयोंमें प्रीति है, उनके विषयमें सही ज्ञान नहीं है । यह पर्याय भी नष्ट होगी । यहाँ जो कुछ समागम मिला है यह भी नष्ट होगा, यह बुद्धि उनकी नहीं बनी है । उनकी दृष्टिमें यह श्रद्धा है कि ये सदा रहेंगे । जो कुछ मिला है यह मेरेको छोड़

कर कहाँ जायगा, यह सदैव रहेगा ऐसी उनकी श्रद्धा है, किन्तु निष्पक्ष दृष्टिसे देखें तो जो कुछ भी मिला है, प्रथम तो अपने शरीरकी ही बात लो, शरीर मिला है, जवान हुए, सुन्दरता है, कान्ति बिखर रही है, इस शरीरकी क्या हालत हो जायगी ? थोड़े ही दिनोंमें यह शरीर कान्तिहीन हो जायगा वृद्ध हो जायगा और की तो बात क्या यह कभी भी नष्ट हो सकता है। फिर इस शरीरसे प्रीति क्यों ? अब भले ही शरीर स्वस्थ हुए बिना धर्मसाधन न हो सके, मन न लग सके, लेकिन इस शरीरको एक सेवककी तरह जानकर इसका पालन हो वह तो कर्तव्यमें आ जायगा, मगर यही मैं हूं, उसे ही देखकर अहंकार जगना, उस होमें अपना मन रमाना, यह तो संसारमें जन्ममरण करते रहनेका उपाय है सही श्रद्धामें आना चाहिये कि मैं क्या हूं ? उसका सही बोध हुए बिना बाह्यपदार्थोंका सही निर्णय नहीं बन सकते। मैं एक अमूर्त चैतन्यस्वरूप पदार्थ हूं। सबसे निराला हूं। देखते ही हैं कि शरीरको छोड़कर चला जाता है यह जीव। कोई निकल गया शरीरसे, इसी अपने शरीरको छूकर भी आप बात कर सकते हैं। यही शरीर किसी दिन पड़ोसियों द्वारा, बंधुवों द्वारा श्मशानमें इस तरह जला दिया जायगा जैसे कि हम आपने दूसरोंके शरीरोंको जलाया है। सो इस शरीरमें क्या आसक्ति रखना ? उसे यह मैं हूं, ऐसा मानना एक तीव्र व्यामोह है।

(१२) शरीर कुटुम्ब आदिके प्रति निर्मोह हुए बिना धर्मपालनका अभाव—धर्म पालन तब तक प्रारम्भ न होगा जब तक निर्मोह स्थिति श्रद्धामें न आयगी। शरीरको मान कि यह मैं हूं, कुटुम्बको माना कि ये मेरे ही हैं। ये ही मेरे सर्वस्व हैं, ऐसी तो भीतर श्रद्धा बनी रहे और मंदिर आयें, पूजा पढ़ें और मान लिया कि मैंने धर्म कर लिया, तो यह कोई संतोष माननेकी बात नहीं है। हाँ थोड़ा एक अच्छे काममें लगे हैं तो आगे उम्मीदवार तो अच्छा है, कोई समय ऐसा आ सकता है कि सही ज्ञान जग जाय, पर वर्तमान हालत तो ठीक नहीं है। मोही जीव शरीरको देखकर मानता कि यह मैं हूं, कुटुम्बको समझ रखा कि ये ही मेरे सर्वस्व हैं, धन वैभवके संयोगमें उसे मान लिया कि यह ही मेरा ऐश्वर्य है, ऐसी श्रद्धा वालोंको धर्मपालन हो ही नही सकता, क्योंकि धर्म नाम है आत्माके यथार्थस्वरूपका जब उसकी दृष्टि हो नहीं है, समझमें ही नहीं है तो कैसे वह यह भाव बना सकता है कि हमें तो शरीररहित बनना है। जब तक यह शरीर जीवके साथ लगा है तब तक संकट ही संकट है। खूब निरख लीजिए, अगर कहीं अपमानका संकट समझते हैं तो जब शरीरको मान रखा कि यह मैं हूं और मुझको इसने ऐसा अपमान किया है, ऐसा कष्ट दिया है, ऐसे वचन बोला है, अपमानका संकट मिला तो इस शरीरके सम्बंधके कारण। भूख प्यासका संकट रहता है तो इस शरीरके कारण। रोगका संकट है शरीरके कारण, इष्टवियोगका संकट

है तो शरीरके कारण। अमूर्त आत्मासे किसका संयोग, किसका वियोग ? जब शरीरको मान रखा कि मैं यह हूं तो दूसरेके शरीरको मान रखा कि ये मेरे बंधु हैं, ये मेरे मित्र हैं, कभी वियोग अवश्य होगा। ऐसा कोई नहीं है संयोग जिसका वियोग न होता हो। वियोग होनेपर दुःख मानता है। तो वियोगजन्य दुःखका कारण है यह शरीरका सम्बंध। अनिष्ट संयोगमें जो दुःख माना जाता है उसका भी कारण शरीरका सम्बंध है, जितने कष्ट हैं वे इस शरीरके सम्बंधके कारण हैं, पर यह मोही जीव इस शरीरको ही मानता है कि यही मेरा सर्वस्व है, दुःखदायी है। इस शरीरको इस जीवने अपनाया है। यह सुन्दरता, यह शरीर, ये सब नष्ट हो जाने वाले हैं।

(१३) **स्थान स्वजन परिजनका व्यर्थ व्यामोह**—यह स्थान जो आज मोहियोंके प्रबंधमें राज्यमें रजिस्टर्ड हुआ है, यह मकान मेरा ही है, यह मकान इसका ही है, यह सब मायारूप है। स्वप्नमें देखे हुए की तरह है। यदि यह स्थान मकान भगवानके ज्ञानमें रजिस्टर्ड होता, उनके ज्ञानमें झलका होता कि यह इसका मकान है तब तो वह पक्की बात थी। यहाँ तो मोही मोहियोंका प्रबंध है जो अपने ढंगके कानून बनाया है। उसमें व्यवस्था बन गई कि यह इसका है, यह इसका नहीं है, पर वह स्थान, यह सब ठाट-बाट वैभव यह भी भिन्न है, विनाशीक है, जिसमें व्यर्थ ही लोग प्रीति करके वहीं एक संकुचित बन जाते हैं। अपने आत्मतत्त्वकी ओर नहीं निहार पाते। ये कुटुम्बी जन जिसको अपना बड़ा प्रिय समझते हैं, बाहरी दृष्टिसे विचार करें तो जब तक सम्बंध है तब तक आत्महित कहाँ हो रहा आत्मा का ? राग मोहके स्थान बनकर यह इसको संकट ही तो उत्पन्न करता है। इस कुटुम्बके कारण ही तो इतनी चिन्ता, इतना भार, इतना पाप, ऐसी कल्पनायें उठायीं तो उससे मिला क्या ? तिसपर भी वह अनित्य है, विनश्वर है, वियोग नियमसे होगा। जितने पुत्र पुत्री आदिक माने गए जीव हैं वे इस आत्माका क्या हित कर देते हैं ? उनके ममत्वके कारण इस जीवका अनिष्ट ही हो रहा है, तिसपर भी यह जीव उनको सही नहीं समझ पाता। अनित्य हैं, भिन्न हैं, मेरे जीवसे इनका कोई सम्बंध नहीं है, ये स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं, इनका परिणमन इनके आधीन है, इनमें मेरा रंच लगाव (सम्बंध) नहीं है, ऐसा नहीं मान पाता यह जीव और इस मायामें रच-पचकर यह अपने जीवनके दुर्लभ क्षणोंको बेकार कर देता है। स्त्री, शोभा, कान्ति, कीर्ति, ये सब काल्पनिक हैं, विनश्वर हैं।

(१४) **किसकी कीर्ति**—कीर्ति किसका नाम है ? क्या कहीं आत्माकी कीर्ति गायी जा रही है ? आत्मा तो अमूर्त ज्ञानमात्र है, उसे दृष्टिमें लेकर कोई कीर्ति गा रहा है क्या ? कीर्तिका आधार बना है यह शरीर। जैसे स्टेचू बनाना, फोटो बनाना, नाम लिखाना आदिक

जो कुछ भी बने, कीर्तिके प्रसारमें जो कुछ भी किया जाता है वह सब इस शरीरके कारण ही तो किया जा रहा है। यह शरीर मायारूप है, माया कहते हैं उसे जो अनेक द्रव्योंसे मिलकर बने। यह अनन्त परमाणुवोंका मिलकर एक पुञ्ज बन गया है। यह माया है, बिखरेगा। इसमें परमार्थ तो केवल एक परमाणु है। वह परमाणु नष्ट नहीं होता, पर जो एक माया (सकल) बन गई है वह नष्ट हो जाती है। किसकी कीर्ति, कहाँ कीर्ति, कितने समयको कीर्ति, किनमें कीर्ति ? इन सभी प्रश्नोंका उत्तर लीजिए तो सही। कीर्ति लोग पैदा करना चाहते हैं इस विनश्वर पर्यायका। इस सहज ज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्वकी कीर्ति क्या कहीं बाहर को जाती है ? उसकी कीर्ति तो अपने आपके आत्माके अन्दर ही होती है और वह सहज आनन्द को उत्पन्न करती हुई होती है। उसका परिचय केवल एक इस स्वानुभव करने वाले को ही रहता है। दूसरेको तो पता ही नहीं है। जिसको संसारकी कीर्ति कह रखी है वह सब माया है। इस विनश्वर पर्यायके सम्बन्धकी चीज है। सो यह कीर्ति असार है।

(१५) **किनमें कहां कब तक कीर्ति**—लोग किसमें कीर्ति चाहते हैं ? लोगोंमें, इन मायामयी पर्यायोंमें जो स्वयं विनाशीक हैं, कर्मोंके प्रेरे हैं, दुःखसे भरे हैं, मोह अंधकारमें यत्र तत्र भटक रहे हैं, उनमें कीर्ति चाहते हैं। इसमें कुछ लाभ है क्या आत्माको ? किसकी कीर्ति चाहना इस दुनियामें ? कितनी बड़ी है दुनिया ? ३४३ घनराजू कहा जाता, इतना बड़ा विशाल विस्तार है। जैसे समग्र दुनियाके आगे आज हम आपकी परिचित दुनिया विशाल समुद्रके आगे एक बूंद बराबर है। इस बिन्दु बराबर जगहमें यह मनुष्य कीर्ति विस्तारना चाहता है और इसीके चक्करमें यह ऐसा कर्मबन्ध करता है कि जन्ममरणकी परम्परा ही इसे भोगनी पड़ती है। कहाँ कीर्ति चाहते ? कितने समयको कीर्ति चाहते ? किसीसे कहा जाय कि तुम्हारा नाम २० वर्ष तक रहेगा। बादमें मिटा दिया जायगा, तो उसको पसंद नहीं आती यह बात। जैसे किसीने पहले फर्श लगा रखी हो किसी मंदिर आदि में अपने नामसे, अब पुरानी हो जाने से उसे कोई उखाड़ कर दूसरी फर्श लगवाना चाहे तो उस फर्शको उखड़वाने में उस लगवाने वाले के कुटुम्बी लोग इन्कार करते हैं, कह देते हैं कि इस नामको इस जगहसे क्यों मिटाया जा रहा है ? यह तो हमारे पुरुषोंका नाम है। तो इस जीवके चित्तमें यह है कि सदा मेरी कीर्ति रहे, पर सदाका ख्याल है। अनन्त काल कितना कहलाता है, उस अनन्त कालके आगे यह १००–५० वर्षका समय क्या कीमत रखता ? यह समय तो एक विशाल समुद्रके आगे बिन्दु बराबर भी स्थान नहीं पाता। यह परिचित क्षेत्र तो चाहे बिन्दु बराबर गिनतीमें आ सके क्योंकि परिमित क्षेत्र है पर काल तो

प्रनादि अनन्त है। उस अनन्त कालके सामने यह १००–५० वर्षका समय तो एक बिन्दु बराबर भी तुलनामें नहीं आ पाता। तो कितने कालके लिए कीर्ति ? कीर्तिका चक्कर इस जीवके लिए कल्याण होनेका बाधक है।

(१६) अहङ्कारमर्दक विवेकी जनोंके उद्धारकी संभवता—यशचाहका रोग इस मनुष्य को विकट लगा है जिसके कारण उत्तम साधन समागम, उत्तम जिनशासन पाकर भी यह प्रपना कल्याण नहीं कर पाता। इस मनुष्यपर्यायमें मान कषायकी मुख्यता है। लोग तो कहते हैं कि लोभकी मुख्यता है, लोगोंमें लोभकी भावना अधिक दिखाई दे रही है ऐसा बोलते हैं लोग, पर लोभकी मुख्यता नहीं है। लोभ भी जो मनुष्य कर रहा है वह अपने मानकी पुष्टिके लिए कर रहा है। मूलमें कषाय देखिये मनुष्यने किया है मान कषाय। मान के वश होकर यह जीव अपनी हत्या तक कर डालता है। मेरा मान रहे, मेरी कीर्ति रहे, लोगोंमें मेरा नाम रहे, इसके लिए जो चाहे अनर्थ कार्य तक करनेको तैयार रहता है। मान कषायका जिन्होंने मर्दन किया वे ही अपने अंतःप्रकाशमान सहज स्वरूपको निरख सकेंगे। नहीं तो इस मानका ऐसा विसम विष हैं, ऐसा आवरण है कि इसको फिर आत्मस्वरूपका दर्शन ही नहीं हो सकता। तो यह कीर्ति, जिस कीर्तिके लिए यह मनुष्य अपना सब कुछ नष्ट कर रहा है अनित्य है, बेकार है, अनित्य है, संसारमें रुलनेका साधन है। एक बार भी यदि यह मनुष्य सोच ले कि मैं आज मनुष्यभवमें आया तो हूं पर न भी आता, जैसे अन्य अन्य भव हैं उन भवोंमें होता, कीड़ा मकोड़ा आदिक कुछ भी होता तो मेरे लिए फिर ये समागम कुछ भी तो न थे। जिन्हें देखकर मान जगता है, जिनको देखकर मनुष्यके योग्य कार्य करनेके भाव हुआ करते हैं, फिर तो ये कुछ न थे। थोड़ा यों ही मान लो कि मैं इस मनुष्यभवमें न होता, किसी अन्य भवमें होता और मनुष्यभवके जो योग्य कार्य करनेके हैं वे जागृत रखें।

(१७) बुद्धि धैर्य आदिके बिगाड़में जीवकी प्रकट असहायता—भैया, अपनेको मान लें कि मैं दुनियाके लिए कुछ नहीं हूँ, क्यों होऊँ कुछ दुनियाके लिए ? दुनियाके लोग मेरा क्या हित कर देंगे ? जब मेरा भाग्य बिगड़ेगा, मैं दुःखी होऊँगा तो उस दुःखमें कोई मददगार न होगा। आज बुद्धि ठीक है। धन कमाते हैं, आपसे लोगोंका स्वार्थ सधता है, लोग पूछने वाले हैं। कदाचित् किसी वक्त दिमाग खराब हो जाय तो कुटुम्बके लोग जानेंगे कि अब तो यह बेकार है मेरे लिए, यह तो पागल हो गया, तो उसके प्रति किसीकी प्रीति नहीं रहती। कैसा ही कुछ उसपर बीते, पर किसीको उसकी कुछ परवाह नहीं रहती। तो यह सारा स्वार्थमयी संसार है। विवेक इसमें है कि हम अपने सच्चे स्वार्थका काम निकाल लें।

हमारा सच्चा स्वार्थ है आत्माके निज सहज स्वरूपको समझ लेना और उसकी धुन बनाकर, उस सहज ज्ञानमय स्वरूपको ज्ञानमें लेकर ज्ञानका अनुभव कर लेना जिससे कि अलौकिक आनन्द प्रकट होता है, यह काम यदि जीवनमें किया जा सके तब तो यह जीवन सफल है अन्यथा अनन्त जीवन पाये, उन्हींकी तरह यह भी जीवन समझो। संसारमें जो कुछ भी नजर आता है बुद्धि, कीर्ति, धैर्य, वैभव ये सभीके सभी अनित्य हैं। तो विवेकी जनोंका कर्त्तव्य है कि वे उनके सेवनेकी इच्छा न करें और अपने शाश्वत सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टि करके अपने आपमें ही मग्न होकर अलौकिक आनन्दका लाभ लें। खास इसीलिए ही जीवन समझें, यह जीवन विषय भोगनेके लिए नहीं है, क्योंकि उनमें सर्वत्र आकुलता है। ये सब तो संसारमें रुलनेके साधन हैं। उनका विकल्प छोड़कर आत्मा और परमात्माके स्वरूपका ध्यान करें इनके स्वरूपदर्शनमें ही अपने ज्ञानको बसायें, बस यही एक अलौकिक आनन्द पानेका सच्चा उपाय है।

सहात्र स्त्री किंचित्सुतपरिजनैः प्रेम कुरुते
वश प्राप्तो भोगो भवति रतये किंचिदनया।
श्रियः किंचित्तुष्टिं विदधाति परां सौख्यजनिकां
न किंचित्पुंसां हि कतिपयदिनैरेतदखिलं ॥३३०॥

(१८) समागत इष्ट अर्थोंके शीघ्र वियोगकी अवश्यंभाविता—इस लोकमें स्त्री पुत्रादिक कुटुम्ब जो कुछ भी प्रेम करते हैं वह सब थोड़े दिनोंकी ही बात है। कुछ दिनके बाद वह अवश्य ही नष्ट हो जायगा। वर्तमानमें जिन्हें स्त्री पुत्रादिक कुटुम्ब मान रखा है वे जगतके अनन्त प्राणियोंकी तरह एक भिन्न प्राणी हैं, उनके कर्म, उनका सत्त्व, उनका कार्य, उनका भाव सब उन ही में है। उससे इस मनुष्यका कोई सम्बंध नहीं। तब जो कुछ भी प्रेम करता है वह क्या किसीके लिए प्रेम करता है? वह स्वयं अपने सुखके लिए चेष्टा करता है। उन्हें जब यह दिखता है कि आज्ञा माननेमें मेरेको सांसारिक सुखका लाभ है तो वे आज्ञा मानते हैं, प्रीति दिखाते हैं, सो संसारमें स्त्री पुत्रादिक जो कुछ भी प्रेम करते हैं वह सब थोड़े दिनोंकी बात है। कुछ दिन बाद ये न रहेंगे। दूसरी बात—अपने आधीन हुए इन्द्रियभोग जो भी अनुराग पैदा करते हैं वे सब भी थोड़े दिनोंके ही हैं। कुछ दिनोंके बाद वे सब भी नष्ट हो जायेंगे। घरमें रहते हैं, इन्द्रिय भोगके अनेक साधन जुटे हैं, जब चाहे जिस इन्द्रियका सुख भोगते हैं। घरके कमरेमें ही सिनेमा जैसे टेलीविजन लगे हैं, घर घर गान-तान सुननेके लिए रेडियो हैं। देखनेके सब सुख हैं, सुननेके सब सुख हैं। सभी इन्द्रियों के साधन घरमें बसा रखा है और उन भोग साधनोंमें अपना मन बहलाते हैं, जब चाहे स्त्री

संग किया, जब चाहे मिष्टान्न स्वादिष्ट खाया, फूल इत्र आदिकसे अपने कमरेको सजाते हैं, मनमाने भोग साधन जुटाते हैं और ये इन्द्रियभोग जो कुछ भी अनुराग पैदा करते हैं वह सब थोड़े दिनोंका ही है। कुछ दिन बाद ये साधन न रहेंगे, ये भोगने वाले दुर्बल हो जायेंगे, यह लक्ष्मी वैभव जो कुछ भी सुखदायिनी मालूम होती है, कुछ संतोष उत्पन्न करतीसी है वह भी सब थोड़े दिनकी बात है। कुछ दिनका समागम पौद्गलिक ठाठ अन्तमें वियोग होगा ही। और ये सब अवश्य नष्ट हो जायेंगे। तो इन सब समागमोंको अनित्य जानकर उनमें प्रीति न करना और शाश्वत आनन्दधाम निज सहज तत्त्वकी आराधना करना यह ही सत्पुरुषोंका कर्तव्य होता है।

विजित्योर्वीं सर्वां सततमिह संसेव्य विषयान्
श्रियं प्राप्यानर्घ्यां तनयमवलोक्यापि परमं।
निहत्यारातीनां भुवि वलयमत्यंतपरमं
विमुक्तद्रव्यो हि मुषितवदयं याति मरणं ॥३३१॥

(१९) मृत्यु द्वारा लूटे गये बलशाली पुरुषोंका भी चुपचाप पलायन—यह प्राणी अपने जीवनमें अपनी कषायवासनामें अनुसार सब कुछ कलायें खेलता है। समस्त पृथ्वीको जीतकर अपने आधीन कर लेता है। कुछ ऐश्वर्य है, पुण्यबल है, देहबल है, कुछ चतुराई आयी तो यह सारी पृथ्वीपर अपना राज्य जमा लेता है। ऐसे ऐसे अनेक काम कर डालता है, पर मृत्युपर वश नहीं चलता। यह प्राणी नाना पद्धतियोंसे नाना विषयोंका सेवन करता है। काम, भोग कितने ही साहित्यिक ढंगोंसे, कितनी ही कलावोंसे करता है। अनेक प्रकार के गीत भजन न जाने किस किस विधिसे बना-बनाकर गाते हैं, नाना विधियोंसे नाना विषयों का सेवन कर लेते हैं। कुछ पुण्ययोग है, कुछ उसका बल है, सो यह प्राणी विघ्नरहित नाना प्रकारकी लक्ष्मीको कमा लेता है। भले प्रकार बैंकोंमें जमा करता, जिनमें कोई विघ्न नहीं सम्भव हैं, अपने ही नाम सब जायदाद पड़ी है, उसे दूसरा कोई कैसे छीन सकता है? बड़े कानूनसे, ढंगसे इस लक्ष्मीकी कमाई की है, उसका अधिकारी बना हुआ है, यह बड़े प्रतापशाली श्रेष्ठ पुत्रको भी पा लेता है। दुनियामें बड़े बड़े काम कर डालता है। यह प्राणी प्रचण्ड से प्रचण्ड शत्रुवोंके समूहको भी तितर-बितर करके छिन्न भिन्न कर डालता है, पर जब इसका मृत्युसमय निकट आता है तब इसको रंच भी ऊधम नहीं चल पाता और उस समय ऐसा चुपचाप सारी विभूतिको छोड़कर चल देता है जैसे मानो यह इसी तरह लूटा गया है कि यह चुपचाप यहांसे चल दे। उस समय इसको कुछ भी ऊधमबाजी नहीं चल पाती। तो पुण्ययोग है, कुछ इन्द्रियबल प्राप्त हुआ है, सो यह चाहे मनमाने ऊधम कर ले, जब तक

गाथा ३३२

आयु है, इन्द्रियबल है तब तक जैसी चाहे प्रवृत्ति कर लें, पर जब मरणकाल आता है तो बस सब कुछ छोड़कर चुपचाप हो इसे इस देहसे अलग होना ही पड़ता है अर्थात् कुछ भी कर डालें वह सब बेकार है, अनित्य है, इस जीवके लिए लाभदायी नहीं है।

श्रियोपायाघ्रातास्तृणजलचरं जीवितमिदं
मनश्चित्रं स्त्रीणां भुजगकुटिलं कामजसुखं।
क्षणध्वंसी कायः प्रकृतितरले यौवनधने
इति ज्ञात्वा संतः स्थिरतरधियः श्रेयसि रतः ॥ ३३२ ॥

(२०) अनित्यसे हट कर नित्य स्वमें ज्ञानीकी रुचि—जो पुरुष विवेकी हैं, अपना हित समझते हैं, जिनकी बुद्धि स्थिर है वे अपने विचारोंको संतुलित रखा करते हैं। वे जानते हैं कि इस संसारकी समस्त विभूतियाँ नाश सहित हैं। आखिर पौद्गलिक हैं। ये स्वयं माया-रूप हैं, खुद भी बिखरने वाली हैं, और जहाँ चाहे चली जाने वाली हैं। ये सर्वविभूति नाश सहित हैं, अपने जीवनके बारेमें भी समझते हैं कि यह जीवन तृण (घास) के ऊपर पड़ी हुई ओसकी बूँदके समान चंचल है। जैसे घासपर ओसकी बूंद पड़ जाय तो प्रथम तो वह घास ओसकी बूंदका भी वजन नहीं सह सकती, वह गिर जाती है और फिर जरा सी देरमें वह बूँद नष्ट हो जाती है, तो जैसे घास पर पड़ी हुई ओसकी बूंद नष्ट हो जाती है इसी प्रकार यह जीवन भी नष्ट हो जाता है, चंचल है, विवेकी पुरुष समझते हैं कि स्त्रियोंका मन विचित्र है और इसी कारण वे स्त्रियोंके आधीन नहीं होते, उनसे विरक्त बुद्धि रखते हैं। भले प्रकार उन्होंने जीवनमें समझा, इन युवतियोंका मन क्षण-क्षणमें पलटने वाला है। कभी प्रेम दिखायेंगी, कभी रोष दिखायेंगी। जब जैसा मौका देखा तब तैसा रोष-तोष किया करती हैं। विवेकी जन जानते हैं कि इन इन्द्रियोंसे भोगा गया सुख सर्पकी गतिके समान कुटिल है। जैसे सर्प सीधा गमन कोई नहीं कर पाता, जो भी सर्प गमन करता है। तो जैसे यह गमन कुटिल है ऐसे ही इन्द्रियजन्य सुख भी कुटिल है, खोटे परिणाम वाला है। यह शरीर जिसे देखकर मोही प्राणी प्रफुल्लित रहा करते हैं, यह पलभरमें नष्ट हो जाने वाला है। यह जवानी जिसे पाकर यह विवेक खो देता है और अविवेकमयी वृत्तियाँ कर लेता है यह स्वभावसे ही चंचल है, जवानी सदा किसको रह पायी? यह धन भी जिसके पानेसे मदिरापायी पुरुषकी तरह मदसा चढ़ा रहता है वह धन भी स्वभावसे ही चंचल है, ऐसा विवेकियोंने जाना। अतः वे कल्याणलाभकी इच्छासे तपश्चरण आदिक कार्योंमें स्थिरचित्त होते हैं और इस विकार बाह्य अर्थकी संगतिसे विरक्त होते हैं।

गलत्याप्यर्देहे व्रजति विलयं रूपमखिलं
जरा प्रत्यासन्नी भवति लभते व्याधिरुदयं ।
कुटुंबस्नेहार्त्तः प्रतिहतमतिर्लोभकलितो
मनो जन्मोच्छित्त्यै तदपि कुरुते नायमसु मान् ॥३३३॥

(२१) **जन्म मरणके कठिन कष्ट भोगकर भी प्राणीका जन्ममरणके विनाशके उपाय के पौरुषका अभाव**—ये मोही प्राणी कैसी अज्ञान भरी स्थितिमें रह रहे हैं कि इस जीवकी आयु गलती चली जा रही है तो भी यह ऐसा बुद्धिहीन बना है कि अपने इस मरणके नाश करनेका उपाय इसको नहीं सूझता, जन्म लेना, फिर मरना, फिर जन्म लेना, ऐसा कार्य करते रहना ही क्या इसके लिए भला है ? यही तो महान् संकट है । यह जन्ममरण छूट जाय बस वह ही कल्याण है । सो आयु गलती जा रही है, मरता जा रहा है, फिर भी जन्म मरणके नाश करनेका उपाय यह नहीं कर पाता । इस जीवके शरीरकी सुन्दरता आदिक गुण नष्ट हो जाते हैं । शरीरमें जब दुर्गन्ध आती तब शरीर खुदको भी दुःखकारी हो जाता । ऐसे शरीरके कारण अनेक कष्ट होते रहते हैं । शरीरके गुण नष्ट होते जाते हैं फिर भी यह जीव इनसे विरक्त नहीं होता और धर्मको बुद्धि नहीं लाता । यह बुढ़ापा दिन प्रतिदिन समीप ही तो आता जा रहा है । जीवकी आयु बढ़ती है तो इसका अर्थ यह है कि शेष जीवन घट रहा, मृत्यु निकट आ रही है । सो भले ही यह मरेगा, पर अपनी आकांक्षावोंको नहीं छोड़ता, धर्ममें बुद्धि नहीं लाता । इस जीवके शरीरमें नाना तरहकी नई-नई व्याधियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, पर यह अपनी इच्छावोंका पुलावा बाँधता रहता है । अपनी बुद्धिका अपने हितके लिए कुछ प्रयोग नहीं करता, बल्कि कुटुम्बके मोहमें फंसा हुआ यह लोभसे खिचा खिचा फिरता है । इसकी तृष्णा नहीं गलती । बुढ़ापा और तृष्णा बढ़ने लगता है । यह जन्म मरणके नाश करनेका क्या उपाय करेगा ? यह तो इन क्लेशकारी बाह्य पदार्थोंमें ही आशा कर करके फंसता रहता है । विवेकी जन इन समग्र घटनावोंको अनित्य जानकर इनमें मुग्ध नहीं होते और अपने स्वभावमें ही सन्तुष्ट होकर परमार्थ धर्मका पालन करते रहते हैं ।

बुधाब्रह्मोत्कृष्टं परमसुखकृद्वांछितपदं
विवेकश्चेदस्ति प्रतिहतमलः स्वांतवसतौ ।
इदं लक्ष्मीभोगप्रभृति सकलं यस्य वशतो
न मोहग्रस्ते तन्मनसि विदुषां भावि सुखदम् ॥३३४॥

(२२) **ज्ञानियोंकी ध्रुव ब्रह्मस्वरूपमें रुचि**—हे विवेकी पुरुषों, अब विवेकका प्रयोग करनेका समय है । संसारमें परिभ्रमण करते करते अनन्त काल खो दिया । अब अंतरंगमें

विवेक करके यह बात समझ लो कि मेरेको परम सुखदायी इष्ट पद यह परम ब्रह्म परमात्मा है। स्थितिकी अपेक्षा तो दोषरहित आत्मगुणोंका जिसमें विकास है ऐसा परमात्मपद ही इष्टपद है और इसका आधार क्या है उपाय क्या है ? ऐसा परमात्मत्व प्रकट हो वह उपाय है निज अन्तः प्रकाशमान परमब्रह्मका आश्रय करना। सो इस बातको जान लीजिए कि मेरा हितकारी केवल मेरे स्वरूपकी उपासना यही स्वरूप परमब्रह्म है। इस परमब्रह्ममें लीन होने पर मनका मोह नष्ट हो जाता है अर्थात् उस जीवमें फिर मोह नहीं रहता। मोह और अज्ञान ये एकार्थक शब्द हैं। जहाँ अज्ञान बसा है वहाँ मोह है। जहाँ मोह बसा वहाँ अज्ञान है। यहाँ अज्ञानसे मतलब ज्ञानावरणके उदयसे होने वाली स्थिति न लेना, वह भी साथ है किन्तु मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे वस्तुस्वरूपका सही भान न होना यह अज्ञान जिसके बसा है वह पुरुष दुःखी है। यह अज्ञान नहीं रहता निज परम ब्रह्मस्वरूपकी आराधना होने पर, सत्य अनुभव हो जाता है। मेरा यह सहजस्वरूप परम पिता है, यही मेरा वास्तविक धाय है। इसमें ही उपयोग रमे तो यही मेरा कल्याण है। जब ऐसे परम ब्रह्मस्वरूपका अनुभव होता है तब मोह नहीं रहता और मोह नहीं रहा, परम ब्रह्म स्वरूपका अनुभव हुआ इसकी पहिचान क्या है कि उस समय लक्ष्मी भोग आदिक जितने पदार्थ हैं वे रंच भी सुखदायी विदित नहीं होते, क्योंकि वास्तविक आनन्द अपने आत्माका इस ज्ञानीने अनुभव कर लिया है। अब वह झूठे कल्पित सुखोंको कैसे भोग सकेगा ? तो जब मोह नष्ट हो जाता है तब लक्ष्मी भोग आदिक पदार्थ रंच भी सुखकारी नहीं मालूम होते हैं और उन्हें इन सब पदार्थोंका लगाव, सम्बन्ध, सम्पर्क दुःखदायी ही विदित होता है। सो अपने आपपर दया करके अनित्य समागमोंको अपने से जुदा करना और शाश्वत् आनन्दधाम निज सहज परमात्मतत्त्वकी आराधना करना यह ही कल्याणका उपाय है।

भवंत्येता लक्ष्म्यः कतिपयदिनान्येव
सुखदास्तरुण्यस्तारुण्ये विदधति मनः प्रीतिमतुलां।
तडिल्लोला भोगा वपुरपि चलं व्याधिकलितं ॥
बुधाः संचित्येति प्रगुणमनसो ब्रह्मणि रता ॥३३५॥

(२३) **भेदविज्ञानसे हित अहितका परिचय कर ज्ञानियोंकी सहजब्रह्ममें रति**—यह जगतकी लक्ष्मी कितनों दिनोंके लिए सुखदायिनी होती है। प्रथम तो इस धन वैभवके कमाने में कष्ट। धन वैभव आ जाय तो उसकी रक्षा करनेमें कष्ट और रक्षाके अनेक प्रयत्न करते भी यह नष्ट हो जाय तो उसके वियोगका महा दुःख। यह लक्ष्मी कितने दिन तक सुखदायिनी हो सकती है। ये युवतियाँ तरुण स्त्रियाँ अपने यौवनकालमें ही चित्तको विशेष प्रफु-

ल्लित करती हैं, सो इनका भी क्या ठिकाना ? इनकी जवानी सदा न रहेगी। ये भी वृद्धावस्थाको प्राप्त होंगी। ये सुखदायी कैसे हो सकतीं ? सुखदायी तो कभी भी नहीं हैं पर कामी जीव कल्पनायें करके अपनेमें सुख मानते हैं, सो उन युवतियोंके वृद्धावस्था आती है। कामी पुरुषोंके चित्तमें उस प्रकारकी कल्पना भी नहीं जग सकती। ये भोग कितने समय तक इस जीवको सुख देने वाले हैं ? ये भोग भोगते ही क्षणभर बाद विरस हो जाते हैं। एक कहावत प्रसिद्ध है कि घाटी नीचे माटी। कोई भी मिष्ठान्न जब तक कंठके निकट है। जीभका सम्पर्क है तब तक कुछ सुखदायी मालूम होता है। जैसे ही यह गलेके नीचे उतर जाता, छातीके नीचे चला जाता फिर उसका रस विदित नहीं रहता। ऐसी ही समस्त भोगों की बात है। कुछ ही समय जब वह भोगकाल है उस समय कुछ सुखकारी प्रतीत होता है। प्रथम तो संसारका सुख भी क्या, क्योंकि जब इच्छा होती है तब भोग नहीं है और जिस समय भोगका भोगना है उस समय वह इच्छा नहीं रहती, अन्य प्रकारकी इच्छा आ जाती है और दुःखी रहना है। यह बात तो साथ लगी है, मगर इच्छाके समय भोग नहीं है। तो ये भोग कुछ ही समयको सुखके निमित्तभूत हैं यह शरीर कब तक सुखदायी मालूम होता रहेगा, जब तक कि इसमें कोई व्याधि नहीं आ सताती। व्याधि आने पर यह शरीर बड़ा दुःखदायी मालूम होता है। उस समय जरूर ख्याल आता है कि यदि शरीर ही साथ न होता जीवके तो यहाँ कोई संकट न होता। यह शरीर भी जब तक कोई रोग नहीं सताता तब तक ही यह सुखदायी मालूम देता है, बादमें ये सभी पदार्थ दुःखके देने वाले निश्चित ही हैं, ऐसा जिसने निर्णय किया है वह बुद्धिमान पुरुष अपने मनमें भले प्रकार हित अहितका विवेक रखता है और अहितका त्यागकर हितरूप अपने सहज परमात्मतत्त्वके ध्यान में लगता है।

न कांता कांताते विरहशिखिनो दीर्घनयना
न कांता भूपश्रीस्तडिदिव चला चांतविरसा।
न कांतं ग्रस्तांतं भवति जरसा यौवनमृतः
श्रयं ते ते संतः स्थिरसुखमयीं मुक्तिवनिताम् ॥३३६॥

(२४) **सर्व लौकिक इष्टोंकी कष्टकारिताका परिचय कर ज्ञानियोंका मुक्तिमार्गमें वर्णन**—ये दीर्घ (लम्बे) नेत्र वाली युवतियाँ जिन्हें बड़े घरकी स्वामिनी कहा जाता है, जिन्हें देखकर ये पुण्यशाली लोग अपने मनमें बड़ा सुख मानते हैं, ये ही युवतियाँ आखिर अन्त समयमें मनुष्योंको कष्टका ही साधन बनती हैं। जब ये मर जाती हैं तो उनके विरहरूपी अग्निसे पीड़ित मनुष्योंको बड़ी दुःखदायिनी हो जाती हैं। इष्टका वियोग होनेपर मनुष्यका

चित्त विकराल हो जाता है और इतना तीव्र व्याकुल हो जाता है कि जिस व्याकुलतामें अपनी कोई सुध नहीं और विकट कर्मका बंध होता है। यह लक्ष्मी भी तब तक ही अच्छी मालूम होती है जब तक कि यह बिजलीके समान नष्ट नहीं होती। मेघका, बिजलीका उजाला हुआ तो क्षणभरमें ही वह नष्ट हो जाता। उस उजेलेमें कुछ यहाँ प्रकाश जगता है, कुछ भलासा लगता है। मगर वह बिजली खत्म तो यहाँका प्रकाश भी खतम। तो ये लक्ष्मी विभूति, काञ्चन आदिक सम्पदा ये तब तक ही अच्छे लगते जब तक कि वे साथ हैं और अलग नहीं हैं, किन्तु जैसे ही वे अलग होती हैं, नष्ट होती हैं तो यह लक्ष्मी अपरिमित दुःख देने वाली है। जैसे किसीके लाखोंका धन है और वह लुट जाय, छिन जाय, गरीब हो जाय, तो वह कितना कष्ट मानता है, इससे अच्छा तो ऐसा ही शुरूसे होता, गरीब ही होता तो किसी भी प्रकार जीवन चलाकर सुखमय अपने आपको अनुभवता, पर जिनके लक्ष्मीका संयोग हुआ है उन्हें लक्ष्मीका वियोग होनेपर महान् कष्टका अनुभव होता है। ऐसी ही इस जवानीकी दशा है। यह जवानी कब तक सुखदायी मालूम होती है ? खूब प्रखर जठराग्नि है, मनमाना रसास्वादन किया जा रहा है, शरीरमें बल है तो अनेक प्रकारके भोग भोगे जा रहे हैं। तो इस जवानीमें होने वाला सुख यह कब तक रहेगा ? यह सुख भी तब तक ही रह पाता है जब तक कि यह जवानी नष्ट नहीं होती। ज्यों ही बुढ़ापा आया कि फिर इसे क्या आनन्द ? बल्कि खाया नहीं जाता, अनेक रोगोंने घेर लिया, भले प्रकार बैठ भी नहीं सकता, निद्रा गायब हो गई, अनेक प्रकारके कष्ट भोगता है। तो संसारमें इन सब अनित्य पदार्थोंका समागम इस जीवके लिए कष्टका निमित्तभूत ही हो रहा है, इसी कारण जिसको हित अहितका विवेक है, जिसने निज सहज अंतस्तत्त्वका अनुभव किया है उसके आनन्दलाभके बाद जिसको यह स्पष्ट विदित है कि संसारके किसी भी बाह्य पदार्थसे मेरेको आनन्द कभी प्राप्त ही नहीं हो सकता, ऐसा जिसके हित अहितका विवेक है वह पुरुष इन समग्र अनित्य पदार्थोंके समागम को त्यागकर सदाकाल रहने वाले मोक्षरूपी लक्ष्मीको ही वर्तता है अर्थात् अष्टकर्मोंसे रहित केवल पवित्र दशाको ही चाहता है, ऐसी परम ज्ञानज्योतिके पानेका ही उद्यम करता है। लोकमें इस जीवकी शरीररहित स्थिति केवल अपने आपकी सत्तासे ही रहने वाले समस्त पर द्रव्योंके लेपसे रहित धर्मादिक द्रव्योंकी तरह पवित्र स्थिति ही कल्याणमयी स्थिति है और ऐसी कल्याणमयी स्थितिको पा लेनेका साधन अभी वर्तमानमें ही केवल अपने सत्त्वमात्र चैतन्य-तत्त्वको निरखना है। तो विवेकी जन अपने अन्तः प्रकाशमान सहज परमात्मतत्त्वके आलम्बन से शरीररहित केवल गुणविकासमय निर्दोष आत्माकी स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, जिन्होंने यह शरीररहित ज्ञानज्योतिकी स्थिति पायी वे ही पुरुष धन्य हैं, आदर्श हैं, पूज्य हैं, उस ही के

ध्यानमें योगियोंका चित्त रमा करता है।

वयं येभ्यो जाता मृतिमुपगतास्तेऽत्र सकलाः
समं यैः संवृद्धा ननु विरसतां तेऽपि गमिताः।
इदानीमस्माकं मरणपरिपाटी क्रमगता
न पश्यंतोऽप्येवं विषयविरतिं याति कृष्णाः ॥३३७॥

(२५) **माता पिता भाई बन्धु मित्र व स्वयं सबकी मृत्युकी निश्चितता**—हम लोग जितने उत्पन्न हुए हैं वे सभी मृत्युको प्राप्त हुये हैं, हमारे बाबा पिता आदिक अनेक पुरषा जिनकी परिपाटीमें हम इस भवमें उत्पन्न हुए हैं वे सब मृत्युको प्राप्त हुए, और यही बात चली आ रही है जिसके साथ हम रह रहे हैं, बढ़े हैं, खेलते खाते हैं, वे सब विरसताको प्राप्त हो रहे हैं। उनका शरीर ढल गया, वृद्ध हो गया, कान्तिहीन हो गया। अब जो दशा उन सबकी हुई है वही दशा हमारी भी चल रही है, और मरणकी परिपाटी क्रमसे चलती हुई हमारे सामने आयी है अर्थात् जैसे हमारे पुरषा लोग रहे और उनके साथके लोग नीरस हुए, ये कुटुम्बके बड़े पुरुष हुए वही हमारी स्थिति है, ऐसा देखते हुए भी ये विषयोंके लोलुपी पुरुष कैसा कृपण हैं, आत्मदयासे हीन हैं कि वे विषयोंकी विरक्तिको प्राप्त नहीं होते। जो कुछ भी यह दुर्दशा हुई है यह विषयोके लोभमें हुई है, क्योंकि विषयोंकी आसक्तिमें जो मलिन परिणाम हुए हैं उन मलिन परिणामोंसे ऐसा खोटा बन्ध होता है कि इनको जन्म मरण करते ही रहना पड़ता है। और जन्म मरण भी पेड़ पौधा कीड़ा मकोड़ा पशु पक्षी नरक जैसी दुर्गतियोंमें करना पड़ता है। सो हे विवेकी जन सत्य बात समझकर अब विषयोंमें अनुराग मत हो। यह विषयोंका अनुराग असार है, अपवित्र है, हानिकारक है। वह निज परमात्मतत्त्वके अनुकूल बात नहीं है। इसलिए विषयोंसे विरक्त हों और अपने आत्मपदमें लीन हों।

स यातो यात्येष स्फुटमयमहो यास्यति मृति
परेषामत्रैव गणयति जनो नित्यमबुधः।
महामोहाघ्रातस्तनुधनकलत्रादिविभवे
न मृत्युं स्वासन्नं व्यपगतमतिः पश्यति पुनः ॥३३८॥

(२६) **अन्य सबके विनाशका चिन्तन करने वाले स्वयंके विनाशपनेकी बेसुधी**—इस जीवकी ऐसी बहिर्मुखी दृष्टि हो रही है कि बाहरमें जो पदार्थ हैं उनके बारेमें तो विचार करता रहता है। यह भी जानता है कि जो कुछ ये पुरुष आदिक हैं ये सब मृत्युको प्राप्त होते हैं। अमुक पुरुष नष्ट हो गया, यह मर गया, यह चीज विघट गई, पर अपने बारेमें नहीं सोच पाता, अपनी बाह्य वस्तुके बारेमें नहीं सोच पाता कि वे भी मरेंगे। मेरा समागम भी

विघटेगा और अपने आत्माके विषयमें तो कुछ भी सुध नहीं ले पाता है। लोकमें सर्व जगह दृष्टि पसारकर छान लीजिए कि कौनसा स्थान ऐसा है कि जिसमें रमनेसे आत्माको शान्ति प्राप्त हो ? अपने जीवनके अनुभवसे भी पहिचानें, जगतमें जितने भी जीव हैं वे सब मेरी सत्तासे अत्यन्त भिन्न हैं। कोई सम्बंध भी है क्या रंच ? कोई गुंजाइस भी नहीं है। अगर एक पदार्थका दूसरा पदार्थ कुछ लगता होता तो आज जगत शून्य हो जाता। ये बाह्य पदार्थ अब तक टिके हैं, यही इस बातका प्रमाण है कि किसीकी सत्ता किसी दूसरेमें मिली हुई नहीं है। तब ही तो ये अब तक हैं। कोई पदार्थ किसी दूसरेका परिणमन नहीं कर पाता तब ही तो सब पदार्थ अब तक हैं। यदि कोई पदार्थ किसी दूसरेका विनाश कर दे तो वह तो स्वयं कुछ परिणमा नहीं फिर इसका भी कोई परिणमन कर दे यह भी न रहा। अब सर्व अव्यवस्था है, जगत शून्य हो जायगा। ये पदार्थ अब तक मौजूद हैं, यह ही एक काफी प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र स्वतन्त्र अपनी सत्ता वाले हैं। अपने बारेमें सोचिये कि मेरा इन कुटुम्बी जनोंमें किसी भी जीवसे क्या सम्बन्ध है। क्या कर्मका लेनदेन है, क्या भावका लेनदेन है। कोई गुंजाइस भी है क्या कि जिससे यह कहा जाय कि ये मेरे सम्बंधी हैं, अत्यन्त भिन्न सत् हैं, स्त्री पुत्रादिक जो भी परिणमन करते हैं वे अपने भावयोग्यताके अनुरूप परिणमन करते हैं, अपने लिए परिणमन करते हैं। कोई मेरे सुखके लिए परिणमन नहीं करता, हो ही नहीं सकती यह बात। चाहे कोई कितना ही विश्वास दिलाये कि हम आपसे बहुत प्रेम रखते हैं, हम आपके लिए ही सब कुछ करते हैं, आपके लिए ही हमारी जान हाजिर है, किन्तु सारी बात पूरी मिथ्या है यह हो ही नहीं सकता।

(३०) **कषायमिलनकी लौकिक मित्रता बन्धुता**—होता क्या है कि खुदके भावमें यह बात पड़ी हुई है और मित्र भी कोई यों बन गया है कि जैसा जीव मेरा है वैसा ही जीव दूसरेका है, वह भी उस कार्यको वैसा देखना चाहता है, यह मैं भी उस कार्यको वैसा ही देखना चाहता हूं। मित्रता हो गई पर वस्तुतः एक जीवका दूसरे जीवसे सम्बंध बन गया हो सो बात नहीं है, किन्तु उद्देश्यमें लक्ष्यमें एकता आ गई है। कुटुम्बी जनोंमें भी यह चाहता है कि मेरा यह कुल अच्छा चले, पुरुष भी यह चाहता कि यह कुल अच्छा चले, जब एकसा ही भाव बन गया तो वह मित्रताका वातावरण बन गया, पर जीव जीवका कुछ लगता हो इस कारण यह बात बन गई हो सो बात नहीं है। तो जब एकदम स्पष्ट एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न है और साथ ही मेरे किएका फल केवल मैं ही पाता हूं, मैं जैसे भाव बनाता हूं वैसा ही संसारमें परिभ्रमण करता हूं, जैसा शरीर मिलता है समझिये उसके अनुकूल मैंने पहले भाव किया था जिससे ऐसा ही कर्मबंध हुआ और इस तरहका यह समागम मिला है। हमारी

सारी दृष्टि हमारे ही भावोंपर निर्भर है, दूसरेके भावोंपर निर्भर नहीं है ऐसा जानें । जो जानता है ऐसा उसका कभी भी व्यामोह परपदार्थमें नहीं होता । घर गृहस्थी तो एक गुजारे का साधन है । घरमें रहने वाले लोग तो एक गुजारा कमेटी है, उसका यह अनिर्वाचित मेम्बर है जो अपनी योग्यताके अनुसार स्वयं ही कोई मुखिया कहलाता है, कोई घरका प्रबंधक कहलाता, कोई किसी बिभागको सम्हालने वाला कहलाता है । सब अपने आप बन जाते हैं । तो एक तरहकी वह गुजारा कमेटी है । जैसे किसी संस्थाको सम्हाल एक कमेटीसे चलती है ऐसे ही परिवारकी सम्हाल, यह भी एक कमेटी द्वारा चलती है । कमेटीका कोई सदस्य उस सम्पत्तिका मालिक नहीं कहलाता किन्तु प्रबंधक कहलाता है इसी तरह अपना अपना गुजारा करनेके लिए गुजारेका काम चल रहा है, पर यहाँ कोई मालिक नहीं है । जो कुछ भी मिला है वह नियमसे विघटेगा । या घात कोई करे तो विघट गया या पापका उदय आ गया तो अपने जीते जी विघट गया, पर जिसका संयोग हुआ वह सदा साथ न रहेगा, वियोग होगा तो क्या हालत होगी इस मोही जीवकी ? अनादिसे जो हालत चली आ रही सो हालत होगी ।

(२८) **प्राप्त सुयोगका मोहमें व्यर्थीकरण**—आज इतना श्रेष्ठ मनुष्यभव पाया, उत्तम कुल पाया, उसमें भी साधन अच्छे पाये, बुद्धि विशेष पायी । जैनशासनका शरण मिला, तत्त्वज्ञ पुरुषोंकी संगतियाँ भी मिलती हैं, इससे बढ़कर और समागम क्या होगा हमारे कल्याण के लिए, पर इतना सब कुछ पाकर भी हम इसको ऐसा गंवा देते हैं जैसे जंगलकी भीलनियाँ जंगलमें कोई गजमोती या अमूल्य मोती पा लें तो उसे वे पत्थर जानकर उससे पैरके मलको साफ करती हैं, उसकी महिमा वे नहीं समझ पातीं, इसी तरह जितने समागमके बीच हम आये हुए हैं उन समागमोंका हम कोई मूल्य नहीं समझ पाते । भले ही कुल परम्पराके कारण हम मंदिर भी आते, धर्मध्यान भी करते, पर जब तक मोह अज्ञान नहीं मिटा है, आत्माका सहज वास्तविक स्वरूप क्या है यह खुदकी दृष्टिमें नहीं आया है और स्वयंके सहज स्वरूपका अनुभव पाये बिना आनन्द भी नहीं मिल सकता है । धर्मके नामपर बाहरमें जो कर्तव्य किए जाते हैं वे केवल थोड़े पुण्यफलको ही दे सकते हैं, पर मोक्षफलको नहीं दे सकते । जब तक मुक्तिका मार्ग नहीं मिलता, संसारमें बड़ासे बड़ा होकर भी ये क्या लाभ पा लेंगे ?

(२९) **लौकिक बड़प्पनका क्या महत्त्व**—आज भी जिनको हम इस राष्ट्रका बहुत बड़ा अधिकारी समझते हैं, मिनिस्टर समझते हैं उनकी भी क्या हालत है ? जो पहले अधिकारी थे, आज अधिकारी न रहे तो उन पर क्या गुजरती है ? जो मौजूद हैं अब भी उनको कितनी शल्य लगी हुई है । चित्त चंचल है । जितना समागम मिला है उतनी ही चिन्ता ।

उतना ही रक्षाका भार, उतना ही शल्य, वहाँ भी शान्ति कहाँ मिली ? जिसको योग्य कुटुम्ब मिला हुआ है यदि सपूत हैं, योग्य हैं तो उनके प्रेममें निरन्तर आकुलता बनाये रहते हैं। मैं इतना कमा जाऊँ कि ये सब बैठे बैठे आरामसे खायें। ये बड़े प्रिय हैं—यदि कोई खोटे निकले तो उसकी प्रतिकूलता समझकर निरन्तर आकुलता मचाते हैं। तो संसारकी कौनसी स्थिति है ऐसी जो इस जीवका हित कर ले ? और प्रधानतया शरीरको ही निरखलो। जिस शरीरमें इतना व्यामोह है इस जीवका कि शरीरको ही अपना सर्वस्व समझते हैं यह ही मैं हूं। अपना भिन्न अस्तित्व कुछ नहीं जानते। जो कुछ करते हैं वह सब शरीरके लिए ही करते हैं। इतना शरीरमें अहंकार बसा है कि जितने क्लेश हो रहे हैं वे सब इस शरीरके कारण हो रहे हैं। किसीने गाली दे दी तो उससे अमूर्त ज्ञानस्वरूपपर क्या बीत गया ? क्यों बुरा मानता है यह, पर यह अमूर्त ज्ञानस्वरूप इसकी दृष्टिमें कहाँ है ? इसकी दृष्टिमें तो यह शरीर ही मैं बना हुआ है। तब शरीरका सम्बन्ध है इन्द्रियसे। इन्द्रियसे ही ज्ञान किया जा रहा, मूर्तका ही ज्ञान होता है, मूर्तसे ही लगाव चलता है तो यह बुद्धि बन गई कि इसने गाली दी मुझको मायने इस देहको, इस शरीरको तब गाली सुननेसे निन्दा सुननेसे जो कष्ट होता है वह शरीरके कारण ही तो होता है। यदि मैं अकेला ही होता, शरीर न होता, जो मेरा परमार्थ स्वरूप है, निजकी सत्ता है, एतावनमात्र मैं होता तो कोई कष्ट था क्या ? सारे कष्टोंको परख लीजिए एकसे लेकर सौ तक सारे कष्ट इस शरीरके सम्बन्धके कारण हैं। तब यह अभिलाषा होना चाहिए कि मेरा शरीर ही न रहे। अब मेरा शरीर आगे न बने, मैं शरीर रहित हूं, अपने आपके सत्त्वसे हूं, इतना ही मात्र मैं रहूं, यह भावना होनी चाहिये न कि संसारमें मेरा ऐसा नाम हो, मेरा यश हो लोग मुझे समझें, लोगोंमें मेरा अग्रपना हो, मेरे ऐसी सम्पत्ति हो, लोग जान जायें कि यह सबसे बड़े हैं, ये दुर्भावनायें न होनी चाहिए। ये इस जीवको कष्ट देने वाली हैं। भले ही मोहमें ये बातें आज बड़ी सुखकारी मालूम होती हैं मगर इनके साथ दुःख लगा हुआ है और कुछ ही काल बाद एकदम स्पष्ट दिख जायगा। इसीका ही तो फल है कि नाना तरहके शरीर मिलते हैं, कीड़ा मकोड़ा बनते हैं, पेड़ पौधे बनते हैं, पानी, आग आदि बनते हैं। निगोदके दुःख तो बहुत ही कठिन बताये गए हैं। वे भव भी इस मोहके कारण प्राप्त होते हैं। आज मनुष्य हैं, मनुष्यके बाद क्या कीड़ा मकोड़ा बनना पसंद है ? यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि मरण होनेके बाद जीवन जरूर होगा, कोई जन्म जरूर मिलेगा। आगेका कैसा जन्म चाहिये ? यदि कीड़ा मकोड़ा पेड़ पौधेका जन्म इष्ट हो तब तो मनमानी प्रवृत्तियाँ करते ही रहना चाहिये। खूब भोग भोगें, अपने आपको भूल जायें, मनमाना अन्याय करे, जैसा चाहे दिल बनायें, आर्तध्यान रौध्यान में बसा करें

फिर तो जैसा करते आये हैं वही इसकी औषधि है कि खूब जन्म मिलते रहें। जन्म, शरीर का सम्बन्ध यह दुःखका आधार है, किन्तु शरीरसे प्रीति है। आज शरीर मिला है तो जैसे कोई दुष्टका प्रसंग मिल जाय तो अपने कामकी सिद्धिके लिए उस दुष्टकी भी कुछ अंशमें आवभगत की जाती है। आज इस दुष्ट शरीरका समागम मिला है। हम आप असंयममें अपना समय बिताते हैं और संसारमें रुलते हैं।

(३०) **शरीररहित आत्मस्थितिकी प्रतीक्ष्यता**—हमको चाहिए कि इस संसारमें रुलना हमारा छूट जाय। इन शरीरादिक पर सम्पर्कोंसे रहित हो जाय, ऐसी स्थिति पानेके लिए हमें आत्मसाधना करना चाहिए और आज शरीरसे इतना विकट एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है कि शरीरमें व्याधि आ जाय तो धर्मध्यानमें मन लगना कठिन है। हम आगे अपनी आत्मसाधनामें बढ़ नहीं सकते इसलिए इस शरीर सेवक इस दुष्ट शरीरको हमें स्वस्थ रखना पड़ता है, थोड़ी परवाह रखना पड़ता है, मगर उद्देश्य तो सही जानें कि किसलिए हमको, शरीरको ठीक रखनेकी आवश्यकता है ? शरीरके लिए शरीरको ठीक नहीं रखना, आत्मसाधनाके लिए शरीरको ठीक रखना, हमारे जीवनका ध्येय मात्र सहज परमात्वतत्त्वकी साधना रहे, दूसरा ध्येय न रहे, ऐसा अपना पक्का निर्णय बना लें। दूसरा कोई ध्येय होना ही न चाहिये जीवनका। मैं अमुक कलावोंके द्वारा इस लोकमें लोगोंका प्रेमपात्र बन जाऊं, इसकी आवश्यकता नहीं है। ये सब संसारमें जन्म-मरण करनेके उपाय हैं। मैं दुनियाके लिए कुछ नहीं हूं, न दुनियाके लिए मैं कुछ रहना चाहता हूं। मैं तो सबके लिए शून्यकी तरह हूं। मैं केवल अपने सम्यक्त्व ज्ञान और आचरणके लिए हूं। इसीके अर्थ मेरे जीवनके क्षण हैं, जीवन है, यह हमारा पक्का निर्णय होना चाहिए। रही बाह्य साधनोंकी बात, जिसका परिणाम ऊँचा है, जिसकी धर्ममें प्रीति है उसके साथ इतना पुण्योदय तो है ही कि जब तक उसे संसारमें रहना होता है तब तक वह अच्छी विधिसे रह सके, ऐसा उसके समागम चलता है। कदाचित् मानो न चले तो फिर दृढ़ता कहते किसे हैं ? बड़े बड़े मुनिराजोंपर भी उपसर्ग आये, पार्श्वनाथ जैसे तीर्थंकर महाराजपर भी मुनि अवस्थामें उपसर्ग आये, अन्य भी बड़े-बड़े राजा महाराजा सब कुछ त्यागकर मुनि हुए हैं, उनपर कितना कठिन उपद्रव आ था, असाताका ही तो उदय था, किन्तु वे अपने ध्येयसे नहीं चिगे। वे अपने सहज आत्मस्वरूपके ध्यानमें अडिग रहे। कोई परवाह नहीं की, इतना अद्भुत ज्ञानबल बढ़ाया कि सदाके लिए संसारके संकटोंसे छूट गए। इतना प्रबल उत्साह रखना चाहिये और एक मात्र निर्णय रखना चाहिए कि मेरा जीवन आत्मानुभवके लिए है, उसका उपाय बनानेके लिए है, अन्य

कार्योंके लिए मेरा जीवन नहीं है। अन्य कार्योंसे हमें लाभ क्या मिलता ? किन किनकी सेवा अब तक नहीं की, किन किनको दिल नहीं लगाया, कहाँ कहाँ क्या क्या भटकना नहीं की, पर उससे आत्माको कुछ लाभ नहीं मिला। बाह्य पदार्थोंके लिए मेरा जीवन नहीं है। मेरेमें नित्य अंतः प्रकाशमान जो जो ज्ञानज्योति है, जो इसका सहज स्वरूप है, अपने ही सत्त्वके कारण अपने आप है, उसके अनुभवके लिए मेरा जीवन है, अन्य कार्यके लिए मेरा जीवन नहीं है, यह निर्णय जिसका पक्का है वह धर्ममार्गमें चल सकता है। जिसका यह निर्णय नहीं है वह बाह्य पदार्थोंके लिए अटकेगा, भटकेगा और उसका अपने देखनेका जो धर्म है वह सब लौकिक सम्पदाके माफिक है, उसमें वास्तविकता नही है। वास्तविकता तब ही आयगी जब हम सत्य निर्णय करके अपने सहज स्वरूपका अनुभव पा लेंगे।

(३१) **अनित्यसे उपयोग हटाकर शाश्वत स्व नित्यमें उपयोग लानेका कर्तव्य**— जगतके ये सब पदार्थ विनाशीक हैं, नष्ट होते हैं, मुझसे भिन्न हैं, सारहीन हैं, मेरे कामके ये रंच भी नहीं हैं, यह निर्णय बनायें और जो मेरा हित है उस निज स्वरूपमें आदर करें। जिसको आज पोजीशन कहते हैं, इज्जत कहते हैं और जिसकी लोकमें इज्जत नहीं है उसे तुच्छ समझते हैं और अपने आपके बारेमें महत्ताका अनुभव करते हैं। मेरेमें ऐसी कला है। मैं इस तरहसे लोकमें अपनी पोजीशन रखता हूं, इज्जत बनाता हूं, जो औरसे न बने वह काम करता हूं, इस ओर ही जिसकी बुद्धि हैं और अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी सुध नहीं है तो भले ही वह अपनेको चतुर मानता है लेकिन यह रंच भी चतुराई नहीं है। इन बाहरी चक्रों के विकल्पमें इस जीवका कभी उद्धार नहीं हो सकता। प्रयास करना चाहिए अपने आपके अनुभवका। पूजा करें तो इसी उद्देश्यसे कि परमात्माके गुणविकास उसकी दृष्टिमें आयें, और वह गुणविकास जब ज्ञानमें आयगा तो वह ज्ञान भी तो वहाँ ही है। जैसा प्रभुका विकास है उस ही स्वरूपमें तो है। यदि विकास ज्ञानमें आये तो उसके ही ज्ञानस्वरूपका स्पर्श होगा, वह आत्मानुभवके किए ही पूजा है, स्वाध्याय करें, जो भी पढ़ें उसका अर्थ इस ही प्रकार चलेगा ज्ञानका कि जिससे वह अपने स्वरूपकी ओर पहुंचे। व्रत, तप आदिक जो भी आचरण करे वह इस ही विराग बुद्धिसे करेगा कि उसकी दृष्टि सहज अपनी शुद्ध ज्ञानज्योतिपर आये। जैसे प्रकाश शुद्ध होता है, प्रकाशमें रंग नहीं रहता और है वह प्रकाश। भले ही कोई प्रकाश हरा है, कोई नीला है, कोई लाल है तो प्रकाशमें स्वयं ये कोई रंग नहीं होते। उसका जो स्वरूप है वह स्वच्छता मात्र है, पर उसपर जिस रंगका कागज लगा, काँच लगा, रंग लगा बस उस रंगका प्रकाश बन जाता है। तो शुद्ध प्रकाश किसे कहेंगे ? जिसमें कोई रंग नहीं है, मात्र स्वच्छता है, ऐसे ही शुद्ध ज्ञान किसे कहेंगे ? जिसमें विकल्प नहीं, इष्ट अनिष्ट भाव

नहीं, विचार तरंग परिवर्तन नहीं, केवल विशुद्ध जाननमात्र है, वह है अपनी सहज कला, जहाँ यह सहज कला प्राप्त हो वहाँ आकुलता ठहर नहीं सकती। पर कर्मविपाकका जो मालिन्य है, उसकी छाया, उसके ज्ञानपर पड़ती है। आवरण बनता है और मैं उस कर्मकी छाया को अपने रूप मान लेता हूं और इस तरह नटकी भाँति विचित्र चेष्टायें करता रहता हूं।

(३२) **भेदविज्ञान द्वारा अन्यसे भिन्न अपनेको निरखकर आत्मसर्वस्वके उपादानका कर्तव्य**—भेदविज्ञानसे ही धर्मका प्रारम्भ चलेगा। भेदविज्ञान कहाँ करना? इस ज्ञानप्रकाश और कर्मविपाकका मिलना यह यहाँ भेदविज्ञान करना है। यहाँ भेदविज्ञान होने पर जो निज स्वच्छ स्वरूपका भान होगा उससे कल्याण जगेगा। बाहरी बातोंके विचारसे यह मुक्ति मार्ग न मिलेगा। अन्तर्दृष्टि करके अपने आपको मानें कि जो केवल प्रतिभास मात्र है, जानन मात्र है, जिसमें निज परकी कल्पना नहीं है, अच्छे बुरेका विचार नहीं है, ऐसा केवल जाननहार वह तो है मेरे कुलकी कला और उसके अतिरिक्त जितने भी विचार तरंग इष्ट अनिष्ट बुद्धि कल्पना जाल हैं वह सब कर्मकी छाया है। मैं इसमें क्यों बँधूं? यों अपने ही विकारसे उपेक्षा करें, अपने आपको स्वच्छ ज्ञानमात्र निज स्वरूपकी आराधनामें लगायें, यह कार्य यदि इस जीवनमें बन सका तब तो बड़प्पन है नहीं तो जैसे जो जितना ऊँचे पर्वतपर चढ़ेगा वह वहाँसे गिरेगा तो उतना ही अधिक चोट पायगा। ऐसे ही लोकमें कोई कितना ही ऊँचे चढ़ गया, पर उसका गिरना निश्चित है। जो जितना ऊँचेसे गिरेगा वह उतना ही अधिक दुःखी होगा, इसलिए इन बाह्य पदार्थोंमें जो सहज हो तो हो। मैं तो अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी धुन के लिए ही जीवन समझता हूं। चाहे कुछ कर सकूं, कम कर सकूं, कितना ही कर सकूं, पर लक्ष्य एक ही है। मेरा जीवन मेरे ज्ञाताद्दष्टा रहनेरूप एक स्वानुभूतिके लिए हो है, अन्य कार्यके लिए मेरा जीवन नहीं है। ऐसा निर्णय करने वाले पुरुष इन अमूल्य जीवनके क्षणोंसे लाभ लेंगे। अन्यथा अज्ञानी जीव दूसरोंकी बात तो देखते रहेंगे कि यह मरा, इसका नाश हुआ, पर मैं मरूँगा, मेरा विनाश होगा, ये सब कुछ न रहेंगे, इस ओर ध्यान नहीं देता, और जो मिला उस ही में रति करके अपने जीवनभर कष्ट पाता है और आगे जन्म मरणकी परिपाटी चलती है।

सुखं प्राप्तुं बुद्धिर्यदि गतमलं मुक्तिवसतौ
हितं सेवध्वं भो जिनपतिमतं पूतचरितं।
भजध्वं मा तृष्णां कतिपयदिनस्थायिनि धने
यतो नापं संतः कमपि मृतमन्वेति विभवः ॥३३९॥

(३३) शाश्वत आत्मीय आनंदके लाभके लिये धर्मका शरण ग्रहण करनेका कर्तव्य—हे आत्महित चाहने वाले पुरुषो, यदि तुम बाधारहित नित्य आत्मीय सुख चाहते हो, मोक्ष-सुख चाहते हो तो सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदेशे गए परम हितकारी धर्मका आश्रय करो। इस संसारमें सर्व परिस्थितियोंमें कष्ट ही कष्ट है। और उन कष्टोंका आधार शरीरका लगाव है। जीव अपनी-अपनी सत्ता रख रहे हैं, उन अनन्त पुद्गलोंका पुञ्ज है, पर कषाय चिकनाईके कारण ऐसा दोनोंका बन्धन बन गया है कि इस शरीरके सम्बंधसे यह जीव दुःखी हो रहा है। भला हो कि शरीरका सम्बंध हट जाय और वह आत्मा जैसा अपने अस्तित्वसे स्वतः सिद्ध है वैसा ही रह जाय, इस ही स्थितिमें मोक्ष कहलाता है। आत्मीय सुख मिलता है। केवल आत्माके आलम्बनसे आत्मामें ही मग्न होकर जो आनन्द मिलता है वह शाश्वत मिलता है और उसमें कोई बाधा देने वाला नहीं होता। बाधा तो पराधीन सुखमें आया करती है, जिन जिन वस्तुवोंके आधीन सुख है उनका वियोग हो जाय, बाधा आ गई अथवा कोई प्रतिकूल बात आ जाय, मगर आत्माके आलम्बनसे जो आनन्द उत्पन्न होता है उसमें बाधा किस प्रकार आ सकती है? सो ऐसा मोक्षसुख निराबाध है। शाश्वत है। यदि मोक्षसुख चाहिये तो प्रभुने जो धर्मोपदेश किया उसका आश्रय करना चाहिए। प्रभु का उपदेश यही है कि हमारा धर्म, हमारा शाश्वत स्वरूप जो अपने सत्त्वसे अपने आप है वह केवलमें है, सो यहाँ केवल अपने आपके आत्माको निहारो, यह ही धर्मका आश्रय कहलाता है और इसका फल है मोक्षका सुख मिलना। अब हे कल्याणार्थी पुरुषों थोड़े दिनों तक रहने वाले इस धन आदिक वैभवमें तृष्णा मत करो। जो चीज छूट जायगी उससे मोह पहलेसे ही छोड़ दें तो वह आत्मीयनिधि प्राप्त होने लगेगी और यदि इन बाह्य वस्तुवोंमें तृष्णा कर रहे तो संक्लेश किया सो तो है ही और आगामी कालमें कष्ट ही मिलेगा। अतः पाये हुए इन समागमोंमें मोह न करें। अधिक लालचसे उस धन सम्पत्तिके पैदा करनेमें मत लगे रहें। पुण्योदयसे सहज जो आता है बस उसीमें ही व्यवस्था बनायी जा सकती है। जिसमें इतना साहस नहीं है कि जो स्वतः प्राप्त हो उस ही में व्यवस्था बना सके वे धनसे तृष्णा कर करके कभी भी अपनी शान्तिकी व्यवस्था नहीं बन सकते, क्योंकि सांसारिक समुदाय किसीके भी साथ मरनेपर नहीं जाता और उनके बढ़नेकी कल्पनाकी कोई सीमा नहीं है, फिर बाह्य वस्तुवोंका लगाव तजें और आत्मीय एकत्व स्वरूपमें अपना उपयोग लगायें।

न संसारे किंचित्स्थिरमिह निजं वास्ति सकले
विमुच्याच्यं रत्नत्रितयमनघं मुक्तिजनकं।

अहोमोहार्तानां तदपि विरतिर्नास्ति भवतस्ततो
मोक्षोपायाद्विमुखमनसां नात्र कुशलं ॥ ३४० ॥

(३४) रत्नत्रयकी मुक्तिजनकता— इस संसारमें कुछ भी चीज स्थिर नहीं है। जो भी बाह्य वस्तुवें हैं वे मेरे साथ सदा कैसे रह सकतीं ? यद्यपि पदार्थ सब स्थायी हैं। उनकी अवस्थायें बदलती रहती हैं मगर संयोग जो हुआ करता है वह परमार्थका संयोग नहीं होता, पर्यायोंका संयोग होता है और ये पर्यायें विनाशीक हैं। इस कारण जगतमें कुछ भी चीज स्थायी नहीं हो सकती। स्थायी तत्त्व है तो केवल आत्माका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय। सम्यक्त्व मायने है आत्माका जो सहज चैतन्यस्वरूप है उस ही में यह मैं हूं ऐसी आस्था होना और सम्यग्ज्ञान है इस ही प्रकारके विशुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान करते रहना और ऐसा ही ज्ञाता दृष्टा रहे जायें, इस ज्ञानमें रागद्वेषकी तरंग न आ पाये इस प्रकार आत्मामें मग्न होना यह सम्यक्चारित्र है। तो यह रत्नत्रय आत्माका ही स्वभाव रूप है। सहज रूप है। यह रूप कैसे विनष्ट हो सकता, क्योंकि केवल वस्तुमें होने वाली बात कैसे नष्ट हो सकती है ? वही परिणति नष्ट होती है, विसम होती है। बदलती है। परिवर्तित होती है जो निमित्त पाकर हुई है। जैसे रागद्वेषादिक विकार ये रागद्वेषादिक कर्म प्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं अतएव वे नष्ट हो जायेंगे। परन्तु रत्नत्रय तो आत्मा मे आत्मा ही से उत्पन्न हुआ है। जो यह बतलाया करते हैं कि ७ प्रकृतियोंके क्षय आदिकसे सम्यग्दर्शन होता है, चारित्रमोहमें क्षयसे सम्यक्चारित्र होता है। ज्ञानावरणके क्षयसे केवलज्ञान होता है, सो वास्तविकता यह है कि केवलज्ञान तो आत्मामें शक्ति है, स्वरूप है, ज्ञानावरणका उदय होनेपर वह स्वरूप प्रकट न हो सके और अज्ञान बन जाय, विरुद्ध ज्ञान होने लगे तो ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे यह बात हुई सो उनका क्षय होनेपर ये विकृतियाँ मिट गईं। अब केवलज्ञान स्वयं हुआ है तो ज्ञानावरणके क्षयसे अज्ञानदशा मिटती है। वस्तुतः केवलज्ञान नहीं जगता। केवलज्ञानसे तो जानना ही था, अज्ञानका क्षय होते ही, जिसे कहो ७ प्रकृतियों के क्षयसे सम्यग्दर्शन होना। वे सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियाँ मिथ्यात्वको बनाये रखती थीं। उनके उदयपर मिथ्यात्व बना रहता था। तो उनका क्षय होनेपर मिथ्यात्वभाव न रहे, विपरीत अभिप्राय न रहे बात यों हुई क्षयसे। ऐसा हो तो सम्यक्त्व होना स्वाभाविक बात है, वह तो अपने आप आयगा। इस प्रकार चारित्रमोहके उदयसे अविरतभाव रहता है, पापभाव आता था। चारित्रमोहका क्षय होनेपर अविरतभाव खत्म हो गया। अब आत्मविकास, आत्मलीनता यह तो स्वाभाविक बात है, वह सहज हो गई थी। तो यों रत्नत्रय निमित्त नहीं है, किन्तु स्वाभाविक वस्तु है, अतएव वह स्थायी चीज है। रत्नत्रयको छोड़कर बाकी कुछ भी

इस जीवका, स्थायी नहीं है, न इसका कुछ है, परन्तु यह प्राणी ऐसे मोहसे पीड़ित है, अज्ञान के नशेमें चूर होकर इन अनित्य पदार्थोंसे विरक्त नहीं होता। इन अनित्य पदार्थोंके परिहार की कोशिश नहीं करता। यही कारण है कि अपने स्वभावभावसे विमुख पुरुषोंका इस संसार में कल्याण नहीं हो सकता। हम दुःखी रहते हैं। और दुःखको दूर करनेका उपाय मुझमें सहज है, वह नहीं किया जा सकता, तो ऐसी दुर्बुद्धिका कौन इलाज करने आयगा ? स्वयंको ही तो सम्हालना पड़ेगा। अपने केवल स्वरूपको निरखिये—जो इस शरीरसे अत्यन्त जुदे हैं, कर्मोंसे अत्यंत जुदे हैं, अपने स्वभावसे केवल प्रतिभास मात्र है उस स्वरूपको उपयोगमें लिया जाय, फिर कल्याणमें कुछ भी विलम्ब नहीं है। सो हे प्रियतम अपने आपपर दया करिये और अपने आपके सुगम सहज स्वरूपको दृष्टिमें लेकर आनन्दामृतका पान करिये।

अनित्यं निस्त्राणं जननमरणव्याधिकलितं
जगन्मिथ्यात्वार्थैरहमहमिकालंघितमिदं ।
विचित्यैवं संतो विमलमनसो धर्ममतयस्तपः
कतुं वृत्तास्तदपसृतये जैनमनघं ॥ ३४१ ॥

(३५) **जगतकी अनित्यता निस्त्राणता व जन्ममरणव्याधिकलितता**—यह संसार अनित्य है, जो कुछ दिख रहा है यह कुछ भी स्थायी नहीं है। ये सब अवस्थायें हैं और विकृत अवस्थायें हैं, और आँखों दिख रहा है वह सबका सब विकार। न परमार्थ चीज आँखों दिखती है, न परमार्थ वृत्तियाँ आँखों दिखती हैं। तो जो दृश्यमान जगत है वह सब बेकार है, अनित्य है, कभी स्थिर नहीं रह सकता। अनित्यताके अतिरिक्त यह जगत निस्त्राण है। रक्षारहित है, इसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। जिस पदार्थका, जिस जीवका जैसा परिणाम बनता है उस परिणामके अनुसार वह अपनी दशायें भोगता है। उसको दुर्दशासे बचानेके लिए कोई समर्थ नहीं है, यह जीव जन्ममरण आदिक अनेक धर्मोंसे भरा हुआ है। इस संसारमें कोई मरता है, कोई जन्म लेता है। यही तो हो रहा है और मरण और जीवन के बीच जितनासा जीवन है उस जीवनमें नाना प्रकारके कष्ट भोगता है। बस संसारी जीवों का यह सही परिचय है। जन्म लेना, कुछ दिनोंको जीवन पाना, उस जीवनमें इस शरीरके आधारसे नाना प्रकारके निरन्तर दुःख ही भोगता रहना और अन्त कालमें मरण कर जाना फिर नया जीवन पाना, नये शरीरके आधारसे सारे जीवनभर कष्ट सहना, फिर मर जाना, बस यही धारा जन्म मरणकी रात-दिन निरन्तर चलती रहनी है और इस विपरीत धारामें यह जीव निरन्तर कष्ट पाता रहता है। इस जीवनमें कोई पुरुष नाना रोगोंसे पीड़ित होकर नाना दुःख भोग रहा है, और यदि कोई पुरुष व्याधियोंसे पीड़ित नहीं है, शरीर हट्टा कट्टा

है तो वह यह मेरा है, यह मेरा है, ऐसे ममतापूर्ण मिथ्या अभिप्रायोंके कारण निरन्तर बेचैन रहा करता है। इस तरह कोई हँस रहा है, कुछ रसीले भोजन करके मौज मान रहा है। अपने प्रिय माने हुए कुटुम्बी जनोंको देखकर खुश हो रहा है तो वहाँ यह अपनी सुध भूला हुआ है और जो अपने ज्ञानानन्द स्वभावकी सुध नहीं रखे हुए हैं उनको आराम क्या, आनन्द क्या ? वे निरन्तर कष्टमें ही बने हुए हैं।

(३६) **जगतकी असारता जानकर धर्मप्रीति करनेका कर्तव्य**—हे विवेकीजन, अपनी बुद्धिको निर्मल करिये और जिनेन्द्र द्वारा प्रणीत इस आत्मधर्मका आश्रय करके निर्मल परमार्थ तपश्चरणमें लगिये। परमार्थ तपश्चरण है अपने आपके सहज स्वरूपका परिचय पाना और उस सहज स्वरूपमें मग्न होनेके कारण अन्तरंग बहिरंग परिग्रहोंको त्याग देना और इस चैतन्यस्वरूप अंतस्तत्त्वमें मग्न होना यह है परमार्थ तपश्चरण। ऐसा यह परमार्थ तपश्चरण निर्ग्रन्थ हुए बिना नहीं हो सकता। कारण यह है कि यह जीव संसारमें अनादिसे विषय-वासनाओं भरी हुई नाना कुचेष्टायें करता चला आ रहा है। कदाचित् सहज आत्मस्वरूपका परिचय भी हो जाय तो उन वासनाओंके कारण यह अपने ध्यानमें स्थिर नहीं रह सकता। उन वासनाओंको मिटानेका उपाय जो कुछ पौरुष बन सकता है वह यही है कि विकारके आश्रयभूत पदार्थोंका परिहार कर दें तो इसमें बहुत कुछ सहयोग यह मिलेगा कि जब त्याग कर दिया समस्त परिग्रहोंका तो उसके विकल्प न सतायेंगे और निकट कालमें विकल्प मिट जायेंगे और यह विवेक अपने आत्मामें उपयुक्त हो जायगा। इस कारण परमार्थ तपश्चरण करने के लिए निर्ग्रन्थ व्रत धारण करके फिर समस्त व्यामोह छोड़कर परमार्थ तपश्चरणमें लगना चाहिये।

तल्लिल्लोलं तृष्णाप्रचयनिपुणं सौख्यमखिलं
तृषो वृद्धेस्तापो दहति स मनो वह्निबदलं।
ततः खेदोऽत्यंतं भवति भविनां चेतसि बुधा
निधायेदं पूते जिनपतिमते संति निरताः ॥३४२॥

(३७) **अनित्य वाञ्छाको छोड़कर नित्य स्वमें वात्सत्यका महत्त्व**—ये सांसारिक सुख बादलमें चमकती हुई बिजलीके समान क्षण विनश्वर है। जैसे एक रस स्वादनेका सुख देखिये जितनी देर तक जिह्वाके अग्र भागपर वस्तुका सम्बन्ध है उतनी देर यह रसका स्वाद ले रहा है और कंठसे नीचे चले जानेपर, घाटी नीचे हो जानेपर वह वस्तु माटी बन गई। अब उसका स्वाद रस सब खतम हो गया। तो रसनाइन्द्रियका सुख कितनी देरको मिला ? स्पर्शनइन्द्रियका सुख जिसमें प्रधानतया लोग काम सुख कहा करते हैं वह कितने सेकेण्डका

सुख है। बहुत आकुलता है। बादमें भी पछताता तो सभी सुख क्षणिक विनश्वर हैं। ऐसे ही घ्राण, चक्षु, कर्णइन्द्रिय और मनके सारे सुख बादलोंमें चमकती हुई बिजलीके समान अनित्य हैं, और ये सुख अनित्य हैं। मात्र इतना ही दोष नहीं है। अन्यथा यह तो दोष है ही पर यह तृष्णाकी वृद्धि करने वाला है? कोई पुरुष यह सोचे कि सांसारिक सुख अनित्य हैं, क्षण भरको होते हैं, मिट जाते हैं, तो भले ही मिट जायें पर हम निरन्तर सुख की धारा बनाये रहेंगे और सुख मिटते जायेंगे। नये आते जायेंगे। इसकी कौन सी हानि हुई है। हम तो सुख साधनोंको बनायेंगे और इन्हीं साधनोंमें रहेंगे और विनाशीक हैं सुख तो रहने दो, हम उन नये नये सुखोंको आगे पाते रहेंगे। सो यह कल्पना भी बिल्कुल बेकार है, क्योंकि जितने बाहरी सुख भोगे जा रहे हैं अथवा सुखके साधन लगा रखा है उतनी देर तृष्णाकी ही वृद्धि होती रहती है और जहाँ तृष्णा बढ़ रही है, तृष्णाका परिणाम चल रहा है वहाँ आनन्द कहाँ है। तृष्णा और सुख ये तो परस्पर विरोधी तत्त्व हैं, तो ये समस्त पदार्थ अनित्य हैं और तृष्णाकी वृद्धि करने वाले हैं। ये पदार्थ अनित्य हैं, तृष्णा बढ़ती है, ये दो ही दोष हों इतना ही नहीं है क्योंकि इतने पर भी कोई आसक्त पुरुष ऐसा सोच सकता है कि अनित्य है तो रहने दो। निरन्तर साधन बनाये रहेंगे। तृष्णा बढ़ती है तो बढ़ने दो, साधन बढ़ानेका प्रयास करेंगे और साधन बढ़ते देखेंगे तो उसका आनन्द लूटेगा, सो इतनी ही बात नहीं है। ये अनित्य हैं। तृष्णा बढ़ती है, पर साथ ही इनके भोगनेसे भारी तृप्ति भी तो नहीं होती है। अपनी-अपनी अनुभूतिसे विचार करें, अब तक कितना सुख भोगा, कुछ सुख जुड़ा भी है क्या? आज तकका सुख जुड़ा हुआ रखा है क्या जिससे संतोष कर सकें कि मैंने इतना सुख भोग डाला और जो भोग डाला सो भोगने पर यह तो रीताका ही रीता है, भोगनेसे कभी तृप्ति नहीं होती। भोगका सम्बन्ध किया। कल्पनासे सुख जो माना गया वह क्षण व्यतीत हो गया। अब इसके बाद यह कषायदान तृष्णावान पुरुष तो रीताका ही रीता रह गया। इन भोगोंके भोगनेसे कभी तृप्ति नहीं होती है। तृप्ति नहीं होती इतनी ही बात हो सो भी नहीं, किन्तु उन सुखोंके प्राप्त करने की सदा ही चिन्ता बनी रहती है। इन सांसारिक सुखोंके लगावमें इस जीवने क्या आनन्द मान रखा है। ये विनाशीक हैं। तृष्णा बढ़ाते हैं। इन सुखोंके भोगनेसे तृप्ति होती नहीं और सदा उनके प्राप्त करनेकी निरन्तर चिन्ता बनी रहती है। तो चिन्ता तो कष्टोंका पुञ्ज है। चिन्ता और चिताको कवियोंने समान बताया। अन्तर केवल बिन्दी होने न होने का है। ऐसी चिन्ताको चितासे भी भयंकर बतलाया। सो इन सुखोंमें इनके प्राप्त करनेकी चिन्ता रहती है, और तृष्णाकी वृद्धिसे मनको बेहद संताप रहता है। जहाँ मनका संताप है वहाँ आत्मामें शान्ति

का नाम निशान नहीं रहता। जहाँ शान्तिका नाम निशान नहीं है वहाँ अत्यन्त दुःख भोगना पड़ता हे। तो ये सारे कष्ट सांसारिक सुखकी लालसावोंसे ही तो उत्पन्न हुए हैं, इस लिए हे आत्मदया चाहने वाले पुरुषों अपने विवेकको प्रकट करिये और सर्वज्ञ द्वारा कहे गए धर्ममें ही प्रीति करिये। इन सांसारिक सुखोंसे मुख मोड़िये और धर्म है आत्माका स्वरूप। तो आत्मस्वरूपका परिचय करें, उसका ही ज्ञान करें और ऐसा ही ज्ञाता दृष्टा रहें। इस पवित्र आन्तरिक पौरुषमें ही आत्माका कल्याण है।

—•—

१४ वां परिच्छेद-दैवनिरूपण

यत्वाति हंति जनयति रजस्तमः सत्त्वगुणयुतं विश्वं।
तद्धरिशंकरविधि व द्विजयतु जगत्यां सदा कर्म ॥३४३॥

(३८) **जन्म जीवन मरण करनेमें दैवका विजयवाद**—जैसे यहाँ जीवोंका जन्म होता है फिर जीवन बना रहता है, फिर मरण हो जाता है, तो तीन बातें हुई ना ? जन्म हुआ, रक्षा रही मायने जीवन रहा और मरण हो गया। तो जैसे संसारी जीवोंमें ये तीन बातें हैं ऐसे ही सब पदार्थोंमें तीन बातें हैं— उत्पाद व्यय और ध्रौव्य। जिसे कहा रज, तम और सत्व। अन्य दर्शनोंमें कहा जाता है। पैदा होनेको कहते हैं रज, नष्ट होनेको कहते हैं तम और बने रहनेको कहते हैं सत्त्व। तो तीन गुणोंसे युक्त विश्व है। ये कर्म रक्षा करते हैं, मरते हैं, उत्पन्न होते हैं। यहाँ खासकर बात लेना है जीवोंके उत्पन्न होनेकी, जिन्दा रहनेकी और मरण करनेकी। सो मानो इन तीन बातसे ये कर्म हरि, शंकर और ब्रह्माकी तरह हो रहे हैं। जैसे यह प्रसिद्धि है कि विष्णु तो रक्षा करता है। शंकर संहार करता है और ब्रह्मा पैदा करता है, तो मानो उनकी तरह जैसी कि लोकमें प्रसिद्धि है, ये कर्म प्राणियोंको पैदा करते हैं, उनका जीवन रखते हैं और उनका मरण करते हैं और इसमें भी मुख्य बात, आयुके उदयसे जीवन है। जन्म है और आयुका निरन्तर उदय बना रहना सो जीवन है और आयुका विनाश हो गया सो मरण है। यह आयुकर्म जीवने पूर्वभवमें जैसा बांधा है। वह बंध चुका है। अब उसमें बढ़वारी तो कभी हो नहीं सकती। किसी किसी

जीवकी कोई ऐसी घटना आ जाय तो पहले मर सकता है। तो पहले मरणका नाम है अकाल मौत ! तब मरना होता है अकालमें जैसे मानो किसी ने १०० वर्ष तकके निषेक बाँधे थे कि एक एक समयमें एक-एक निषेक खिरेंगे १०० वर्ष तक जिन्दा रहेगा। अब ४० वर्षकी उम्रमें ही मानो किसी शत्रुने आकर तलवार मारा तो बाकी बचे जो ६० वर्षके निषेक हैं वे अन्तर्मुहूर्तमें खिर जायेंगे। इसे मरण कहते हैं। जैसे कोई पेट्रोल भरकर मोटर कार ले जाय, मानो ६० मील चलेगी एक दो गैलन पेट्रोल भर देने से, पर कोई १०—५ मील ही चल पायी थी कि रास्तेमें किसी पेड़ या ट्रककी टक्कर लग जानेसे उसकी पेट्रोल टंकी फट गई तो सारा पेट्रोल बिखर गया। अब वह कार आगे नहीं जा सकती, ऐसे ही जीवके सब निषेक मान लो बीचमें ही किसी कारणसे खिर गए तो उसीको अकाल मरण कहते हैं। वैसे अकाल मौत भी प्रभुके ज्ञानमें ज्ञात हो गई कि इस समयके तो निषेक बाँधेगा और इस समय ये सब खिर जायेंगे। तो जन्म लेना, जीवन बना रहना, मरण करना यह सब कर्मके बलसे होता है, इसी प्रकार और भी कर्म हैं जो सुख देते हैं। दुःख देते हैं, कष्ट देते हैं। तो इस तरह ये कर्म सारे विश्वपर फैले हुए हैं।

भवितव्यता विधाता कालो नियतिः पुराकृतं कर्म।
वेधा विधिःस्वभावो भाग्यं दैवस्य नामानि ॥३४४॥

(३९) **भवितव्यता व विधाता दैवके नामान्तर**—यह दैवका निरूपण करने वाला परिच्छेद है। दैवके कितने ही नाम प्रसिद्ध हैं। भवितव्यता जो आगे होना है इसे कहते हैं होनहार और भाग्यका नाम लोगोंने होनहार भी रखा है, जो होनहार है सो होगा। होगा वह जैसा उदयमें आयगा, उसके अनुकूल संसारी जीवोंपर बीतेगी पर उस दैवको भवितव्यता के नामसे कहते हैं। कितने ही लोग उस दैवको विधाताके नामसे कहते हैं। जैसे प्रसिद्धि है कि विधाता ने इस दुनियाको रचा, तो ऐसी इस दृश्यमान दुनियाका रचने वाला कौन है ? वैसे तो सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं, अपना-अपना ही सब परिणमन करते हैं, पर ये जो शक्लें बनी हैं, जो हमारी दृष्टिमें आ रही हैं इनका भी निर्माण हुआ है तो कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ। पहले तो यह ही देखिये कि जो कुछ यहाँ दिख रहा है यह सब जीवोंका शरीर है। दरी, पत्थर, चौकी, कागज आदिक। जैसे यह पत्थर है तो यह पहले पृथ्वी-कायिक जीवका शरीर था। पहले इसमें जीव भी था। खानमें था, खानसे निकला तो जीव रहित हो गया। आज वह पत्थर यहाँ फर्शमें लगाते हैं। चौकी, तखत जिनपर बैठकर लिख रहे हैं ये भी पहले वृक्ष थे, और वृक्षमें जीव था ही, अब वह जीवरहित हो गया। चौकी तखत आदिकके रूपमें हो गया। तो यहाँ जो कुछ दिख रहा है यह सब जीवोंका शरीर है,

अब यह मुर्दा शरीर है। स्थावर मुर्दा हो जाय तो वह मांसकी तरह नहीं है। सड़ता गलता नहीं है, समय पाकर कमजोर तो हो जाता है मगर जैसे मांस पड़ा हो तो दिन प्रति दिन सड़े गले, तेज बदबू करे, ऐसा स्थावर जीवोंके शरीरमें नही होता। तो यहाँ जो कुछ दिख रहा है ये सब जीव शरीर हैं, ये बने कैसे कि उन जीवोंमें उस प्रकारके आयुकर्मका उदय था। वह शरीरका मूल बना और उसकी यह शक्ल बनी। तो इस सब विश्वकी रचनाका निमित्त कारण कर्मका उदय हुआ। इसीलिए लोग कर्मका नाम विधाता रखते हैं।

(४०) **काल नियति व पुराकृत दैवके नामान्तर**—कोई कर्मका नाम काल रखते हैं। काल आ गया, समय आ गया। जैसे कहते हैं कि उस जीवको सम्पदा मिल गई। पहले वह बहुत गरीब था, अब काल आ गया, समय आ गया, सम्पन्न हो गया। कोई सज्जन पुरुष किसी विपत्तिमें आ गया, काल आ गया मायने साता असाताका ऐसा उदय आ गया, यों ही अन्य कर्मोंका ऐसा उदय है। तो कर्मका ही नाम लोगोंने काल रखा है। इसीको कुछ लोग विपत्ति कहते हैं। निश्चित है। क्या निश्चित है कि भाई जैसा कर्मोदय होगा, जैसी जिसकी योग्यता है वैसा काम बनेगा। तो उस कर्मका नाम अनेक लोगोंने नियति रख लिया। वह तो जो होना है सो होगा। जो नियति है सो होगा। जैसा उदय होगा वैसा होगा। तो ऐसी दृष्टिसे कर्मका नाम एक नियति पड़ गया। कर्मको लोग पुराकृत शब्दसे कहते हैं। पुराकृत जो पहले किया है। क्या भोग रहा है? जो किया सो भोग रहा है। पहले जीवने भाव ही तो किया। भावके सिवाय जीव और कुछ भी नहीं कर पाता। इस जीवने तो भाव किया और उस भावके होने से जीवके साथ कर्म बंधे और जो कर्म बंधे उनका उदय आनेसे जीवको उस भवमें गमन करना पड़ा। वहाँ सुख दुःख सहना पड़ा। तो इसी कारण लोग पुराकृत शब्दसे कहते हैं।

(४१) **कर्म, वेधा, विधि दैवके नामान्तर**—कितने ही लोग इस दैवको कर्म नामसे कहते हैं। कर्मका अर्थ है—क्रियन्ते इति कर्मः जो किया जाय सो कर्म। अब जीवके द्वारा किया जाता पुण्यभाव, पापभाव। तो वास्तवमें कर्म नाम तो जीवके अच्छे बुरे परिणामका है। अब अच्छा बुरा परिणाम जब हुआ तो उसी समय साता असाता पुण्य पाप कर्मका बन्धन हुआ। तो इन पौद्गलों बंधनोंका नाम कर्म रखा गया है। सो जैसा भाव है उस प्रकारसे कर्म हैं। तो यों दैव नाम कर्मका है। कर्मके बारेमें बहुतसे लोग अभी तक भ्रममें हैं कि कर्म कोई चीज होती क्या? कोई कहता है कि लकीर है, कोई कुछ कहता है। जैन शासन बतलाता है कि जैसे यह शरीर है तो है तो मोटा पुद्गल, यह दिखनेमें आता। छूने में आता। पर कर्म हैं केवल सूक्ष्म पुद्गल। जैसे ही जीवके कषायभाव जगता है तो उस

कषायभावका निमित्त पाकर कार्माण पुद्गल कर्मरूप बन जाता है और वे जीवके साथ रहे आते हैं और जब जैसा उनका उदय आता है वैसे जीवको सुख दुःख आदिक फल मिलते हैं। तो इस दैवका नाम कर्म भी है। कितने ही लोग दैवका नाम वेधा (ब्रह्मा) मानते हैं। सो जो बात विधाता शब्दमें कहा था वही अर्थ बेधाका है। कितने ही लोग विधि नाम रखते हैं। विधि हुई, बात बन गई, वह क्या बात है ? कर्म ही तो है।

(४२) **स्वभाव व भाग्य दैवके नामान्तर**—कितने ही लोग दैवका स्वभाव नाम धरते, ऐसा ही स्वभाव है मनुष्योंको ऐसा खायें, पियें, रहें, दुःख सुख भोगें। पशुवोंका अन्य प्रकार स्वभाव है। तो वह स्वभाव नाम है वास्तवमें प्रकृतिका। प्रकृतिको अनेक लोग दैव कहते हैं, सो यह प्रकृति है ही। जैसे कोई लोग हिमालय, काश्मीर आदिमें पहुंचकर वहाँके झील, पहाड़, पुष्प आदिके दृश्योंको देखते हैं तो कहनें लगते कि वाह ! कितना प्राकृतिक सौन्दर्य है। तो उस प्राकृतिकके मायने क्या ? अनेक लोग कुदरत कहते हैं, तो वह क़ुदरत क्या चीज होती है, इसका उत्तर जैन शासनने दिया है। प्रकृति मायने कर्म। जैसे फूल रंग बिरंगे हैं, सुहावने हैं, कई तरहके हैं तो उनका वैसा कर्मका उदय है सो वैसी उनकी रचना हुई है। जैसे यहाँ मनुष्योंको जिनके असाताका, पापका उदय है उनके शरीरके अंग सुहावने नहीं होते। जैसे अंग बताये गए उससे कुछ बिढंगे होते हैं। और जिन पुरुषोंके पुण्योदय है उनके अंग सुन्दर और सुडौल होते हैं। इसी बात पर सामुद्रिक शास्त्र बने। हाथ देखकर बताया है कि ऐसा भविष्य है। तो हाथमें और क्या बात हुई ? सकल सूरतकी सुन्दरता देखकर शुभपना देखकर उसकी बात करते हैं पुण्योदयकी। अशुभपना देखकर पापके कार्य जैसी बात करते हैं। तो यह प्रकृति कहलाती है। अनेक लोग इसका नाम भाग्य रखते हैं। तो वह भाग्य क्या चीज है ? यही दैव, यही कर्म।

(४३) **दैव और पुरुषार्थके विषयमें**—कितने ही लोग एक ऐसा प्रश्न रखते हैं कि भाग्य बड़ा है कि पुरुषार्थ ? इन दोनोंमें विशेष बलवान क्या है ? तो उसका उत्तर यह है कि इस संसारके कामके लिए तो भाग्य बड़ा है और मोक्षके कामके लिए पुरुषार्थ बड़ा है। कितने ही लोग दिन भर बड़ा कठोर परिश्रम करते। लकड़हारे, बसियारे, मजदूर आदि और वे कुछ भी खास धन नहीं कमा पाते और कितने ही लोग कुछ भी काम नहीं करते, गद्दों तक्कों पर पड़े रहा करते हैं नौकर चाकर सब काम करते हैं और हजारों लाखोंका धन घर बैठे मिलता रहता है। तो यह अन्तर किस बातका है ? यह भाग्यका अन्तर है। जिसने जैसे पहले शुभ परिणाम किया था उसके अनुसार ऐसे ही पुण्य कर्मका बंध हुआ कि उसको अब इस भवमें सुगमता बहुत मिल गई है। अच्छा तो यह तो संसारके कामकी बात

है। जो रोजिगारमें या व्यापारमें प्रयत्न करते ही हैं तो वह प्रयत्न मुख्य नहीं है। भाग्योदय यदि ठीक है, साताका उदय आता है, पुण्यका उदय आनेको है तो वह प्रयत्न भी उसके अनुकूल बन जायगा, काम कर जायगा, और भाग्य प्रतिकूल है। असाताका तीव्र उदय चल रहा है तो उसका प्रयत्न भी सफल नहीं हो पाता। तो संसारके कामोंमें दैवकी (भाग्यकी) प्रधानता है और मोक्षके कामोंमें पुरुषार्थकी प्रधानता है। वहाँ आत्मपौरुष चाहिए। आत्मश्रद्धान, आत्मध्यान आदि चाहिए। अब थोड़ा बहुत जो संसारमें भाग्य और पुरुषार्थका जोड़ा देखा जाता है कि भाग्य भी होता, पुरुषार्थ भी होता, तो वहाँ यह समझना कि जिसका भाग्य संसारके कामोंमें सफल हो जाता तो उसका भाग्य है उस तरहका ठीक तब सफल होता। एक बार ऐसी ही घटना घटी कि दो पुरुष इसी बात पर झगड़ा करने लगे। एक कहे कि भाग्य बड़ा है और एक कहे कि पुरुषार्थ बड़ा है और उनका न्याय राजाके पास गया। तो राजाने उन दोनोंको बात सुनी और उनकी परीक्षाके लिए क्या किया कि एक बड़े कमरेमें दोनोंको बंदकर दिया। और उसी कमरेमें कहीं बहुत ऊपर छिपाकर दो बड़े बड़े लड्डू करीब आधा आधासेरके रख दिया उनको ऐसा छिपा दिया था कि वे आसानीसे दिख नहीं सकते थे। अब दोनों ही दो तीन दिन कमरेमें बंद रहे। कमरेमें कुछ अंधेरा सा भी था। कहीं कुछ सूझता न था। अब वे क्या करें? भूखसे बड़े हैरान हो गए। आखिर भाग्यवादी तो चुपचाप बैठा रहा और पुरुषार्थवादी अपने पुरुषार्थमें लगा। इधर उधर टटोलना शुरू कर दिया। सौभाग्यसे उसके हाथ वे दोनो लड्डू लग गये। वह बड़ा खुश हुआ और विचारने लगा देखो मैं ठीक ही कह रहा था कि पुरुषार्थकी प्रधानता है क्योंकि मैंने पुरुषार्थ किया तभी तो ये दो लड्डू मिले। अगर मैं भी इस भाग्यवादी को तरह चुपचाप बैठा रहता तो कहाँसे ये लड्डू मिलते? सोचा कि अब तो विजय हमारी निश्चित ही है। कल न्याय होते समय जब राजासे यह बात बतावेंगे तो न्यायमें निश्चय ही हमारी विजय होगी। यह सोचकर उसने एक लड्डू खुद खाया और दूसरा लड्डू उस दूसरे व्यक्तिको भी खिलाया, सोचा कि आखिर यह भी क्यों भूखसे मरे। आखिर विजय तो हमारी निश्चित ही है ऐसा विचार कर एक लड्डू उस दूसरे व्यक्तिको भी खिलाया। दूसरे दिन जब न्याय होने लगा तो पुरुषार्थवादीने अपनी घटना सुनाई और कहा कि देखो मैं कहता ही था कि जगतमें पुरुषार्थको प्रधानता है भाग्यकी नहीं। तो वह भाग्यवादी बोला—देखो तुमने तो पुरुषार्थ करके लड्डू खाया और मेरा भाग्य अच्छा था सो बिना पुरुषार्थ किये ही मुझे लड्डू खानेको मिला। आखिर न्याय दिया गया कि जगतके कामोंमें दैव को (भाग्यकी) प्रधानता है। पुरुषार्थवादीको लड्डू तभी मिला जब कि उसका भाग्य था। तो बात यहाँ यह कह

रहे थे कि इस दैवके जितने भी नाम दिए हैं उनमें कोई अन्तर नहीं है।

यत्सौख्यदुःखजनकं प्राणभृता संचितं पुरा कर्म।
स्मरति पुनरिदानीं तद्दैवं मुनिभिराख्यातं ॥३४५॥

(४४) दैवका स्वरूप—इस श्लोकमें दैवका स्वरूप बताया है। भाग्य किसे कहते हैं? इस परिभ्रमण रूप संसारमें डूब रहे, घूम रहे जीवोंने जैसे अपने पूर्वजन्ममें या पूर्व समयमें अच्छे या बुरे कर्म किया है, जिनके निमित्तसे उस प्रकारके पुण्य पापकर्म बंधे हैं और जिनके उदयमें सुख या दुःख उत्पन्न होता है तो ऐसे सुख और दुःख उत्पन्न करने वाले पूर्व समयमें जो जीवने कर्म किया है उनको ही लोग वर्तमान कालमें दैव कहते हैं। जो आज सुख या दुःख हो रहा है उसका निमित्त कारण पुण्य पापका उदय है। मगर उस पुण्य पाप का उदय आया कैसे? पहले बांधा था तब उदयमें आये और वे पहले बंधे कैसे थे? इस जीवने अच्छे और बुरे परिणाम किया तब वे कर्म बंधे तो वास्तवमें कर्म क्या कहलाये? वे भले बुरे भावके कर्म। ये ही वस्तुतः कर्म हैं। कर्म शब्दकी व्युत्पत्तिमें सीधा अर्थ जीवके शुभ अशुभ भावसे लेना है। जो जीवने किया सो कर्म है। अच्छा किया तो अच्छे कर्म, बुरा किया तो बुरे कर्म और जैसा किया उसीका ही यहाँ फल मिलता है। तो सुखी दुःखी होना अपने ही आधीन रहा। यद्यपि तत्काल भी पुण्य पापके उदय निमित्त हैं सो पराधीन दशा हुई, लेकिन वे पुण्य पापकर्म जो उदयमें आये वे बँधे थे हमारे भावोंके निमित्तसे ही। तो अर्थ यह हुआ कि जैसा हम करते हैं। वैसा हम फल पाते हैं। तो हमारे किएके अनुसार हमको फल मिला करते हैं, तो जो सुख दुःखको उत्पन्न करने वाले कर्म इन प्राणियोंने पहले संचित किया है उस ही को मुनिजन दैव कहते हैं। पूर्वमें किए गए कर्मको ही दैव नामसे कहा जाता है। जिसका जैसा कर्म है उसका वैसा सामने आता है। आजके प्राणी जैसे दुःख पा रहे हैं उसमें अपराध उनके ही किए गए भावका है। तो कर्म कर लेना तो आसान है—खोटे भाव बनें, क्रोधके बनें, घमंडके बनें, मायाचारके बनें। लोभके बनें, मोहके बनें, विषय-सुखोंके बनें, कैसे ही भाव करलें, आज तो यह बड़ा सरल लग रहा है, क्योंकि ऐसी योग्यता मिली है, ऐसा पुण्यबंध मिला है, मगर जो जैसा करता है उसका फल उसे आगे भोगना पड़ता है। इससे यह सावधानी रखना चाहिये कि हमारे भाव खोटे न चलें। चाहे वर्तमान में हम दुःखी हो लें, कुछ कष्ट सह लें, मगर अन्याय न करें, किसीको धोखा न दें। कोई पापके कार्य न करें। यदि ऐसा करते हैं तो उससे विकट पाप कर्मोंका बंध होगा जिससे आगामी कालमें उसका बड़ा खोटा फल भोगना पड़ेगा। वह फिर हटाया जाना बड़ा कठिन होगा। इससे जब हममें सामर्थ्य है कि आज चाहें तो अच्छा भी कर सकते, बुरा भी कर

सकते तो वहाँ यह विवेक लाना चाहिये कि मुझसे बुरे कर्म न हों और मुझसे जो भी काम हों वे भले ही काम हों। भले काम क्या हैं ? जो लोग इस संसारसे कामोंसे छूट गए, संसार शरीर भोगोंसे विरक्त हैं ऐसे जीवोंकी संगति करना, उनका स्मरण करना यह सबसे ऊंचा काम है। फिर सब जीवोंको अपने स्वरूपके समान समझना और अपनेमें सामर्थ्य है तो उनके दुःखको दूर करना ये सब भले काम हैं। तो भले कामोंमें रहें और बुरे कामोंसे बचें यही हमारे जीवनमें एक विशिष्ट कर्तव्य है।

दुःख सुखं च लभ्येद् यद्येन यतो यदा तथा यत्र ।
दैवनियोगान्नाप्यं तत्तेन ततस्तदा तथा तत्र ॥३४६॥

(४५) दैव नियोग—जिस जीवने जिस प्रकारसे जिस समय जहाँ पर जितना दुःख व सुख उठाया होगा अर्थात् भोगा होगा उतना ही इस जीवको उससे उसी समय वहीं पर उसी प्रकार उतना ही दुःख व सुख भाग्यके वशसे मिलेगा। इस छंदमें जीवके परिणामका फल बताया है कि जिस जीवने जैसा सुख दुःख उठाया है उसी प्रकार उसके प्रति भी बर्ताव होता है। जैसा संक्लेश विशुद्ध परिणाम जिस प्रकार जिस जीवने किया उसीके अनुसार उस को कर्मबंध होता है और उसीके अनुसार उदय आने पर उसको उसका फल प्राप्त होता है। तो यह एक ऐसी धारा है कि जैसे जो परिणाम करता है उस परिणामके अनुसार ही उसके बंध होता है, उसी प्रकारकी अवस्थायें भी प्राप्त होती हैं। इस कारण जीवका विधाता यह जीव ही स्वयं है। जैसा उसने शरीर पाया है, जैसी इसने स्थिति बाँधी है उसके अनुसार ही उसका परिणाम होगा और उस परिणामके अनुसार उसकी निजमें और पर समागममें व्यवस्था बनेगी। संसारमें जो जीवोंकी विचित्रता देखी जाती है, किसीको कैसा ही शरीर मिला, किसीको कैसी ही वेदनायें होती हैं, किसीको किसी प्रकारका सुख समागम प्राप्त होता है वह सब उनके पूर्वकृत परिणामका ही फल है। ऐसा जानकर अपने आपमें यह निर्णय करना चाहिये कि चाहे सांसारिक घटना किसी भी प्रकारकी घटती हो पर अपनेको ऐसे विशुद्ध परिणाममें रहना चाहिये कि जिससे तत्काल भी शान्तिका अनुभव हो और भविष्य भी भले प्रकारसे गुजरे।

यत्कर्म पुरा विहितं यातं जीवस्य पाकमिह किंचित् ।
न तदन्यथा विधातुं कथमपि शक्रोऽपि शक्नोति ॥३४७॥

(४६) कर्मका दुर्निवार वेग—पूर्व समयमें जैसे भी कर्म भले हों या बुरे हों, यह जीव कर चुका है। उसके विपरीत यदि कोई इन्द्र भी चाहे कि कोई फेर फार कर सके तो वह भी किसी प्रकार फेर फार नहीं कर सकता। जब कभी सम्यग्ज्ञानका उदय हो और

उसके बलसे पूर्व किए हुए कर्मोंमें भी फेर फार होवे तो भी उस ही जीवके परिणामके कारण हुआ है। उसे कोई दूसरा नहीं कर सकता। यह सम्यग्ज्ञान जिसे कोई विशेष आत्म-परिणाम उत्पन्न नहीं हुआ तो जैसे कर्म किया था वैसा ही फल इस जीवको भोगना पड़ता है। लोकमें भी यह बात प्रसिद्ध है कि जो जैसा बोता है वैसा ही फल पाता है। जैसे जो भाव करता है उसके अनुसार ही वह फल भोगता है। आजके समयमें तो यह विषमता देखी जाती है कि कोई काम तो कर रहा है खोटा कषायीपनेका जैसा और उसके सम्पदा, महल, वैभव, चला आदिक ये सब कुछ बढ़ रहे हैं, तो जो कुछ काल्पनिक सुख साधन मिल रहे हैं वह तो पूर्वकृत पुण्यका फल है, और वर्तमानमें जो खोटे भाव कर रहा है उनका फल वह आगे भोगेगा, क्योंकि वर्तमानमें जो कर्मबंध हो रहा है सो पूर्वकृत कर्मके उदयके अनुसार नहीं हो रहा किन्तु वर्तमानमें होने वाले परिणामोंके अनुसार हो रहा है। उसके वर्तमान परिणाम खोटे हैं ही इस कारण खोटा कर्मबंध हो रहा और उसके फलमें आगे भी खोटा ही फल प्राप्त होगा। ऐसा जानकर हे विवेकी जनो अपने इन भावोंमें परिणामोंकी उज्ज्वलता रखना चाहिये ताकि अपना भविष्य उज्ज्वल रहे।

धाता जनयति तावल्ललाभभूतं नरं त्रिलोकस्य।
यदि पुनरपि गतबुद्धिर्नाशयति किमस्य तत्कृत्यं ॥३४८॥

(४७) **दैव द्वारा उत्थान व पतन**—यदि यह भाग्य इस पुरुषको तीनों लोकमें शिरोमणि बनाकर अर्थात् दुनियावी दृष्टिमें ऊंचा बनाकर फिर निर्बुद्धि बनाकर इसको नष्ट कर देता है अर्थात् सबसे अधम बना देता है तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि भाग्यके अनुभाग विचित्र होते हैं। कभी कैसे ही कर्मका उदय होता है, कभी खोटे कर्मका उदय होता है। जब यह जीव इस दुनियावी दृष्टिमें शिरोमणि था तब उसका उस प्रकारके साता और पुण्यका उदय था, अब वह उदय अपना समय पाकर खिर गया। अब उदय आया है पापका इसलिए तत्काल ऊँचेसे गिरकर अधम स्थिति इस जीवकी बन जाया करती है। जैसे बताया गया है कि ऊँचासे ऊँचा राजा भी मरकर क्षणभरमें कुत्ता, बिल्ली आदिक पशु बन जाता है और कुत्ता आदिक पशु भी मरण करके क्षणभरमें देवगतिको प्राप्त कर लेता है। तो यह सब अपने किए हुए कर्मोंका ही तो फल है। आज कोई राजा है मगर राज्य वैभवके मदमें आकर अन्याय कर रहा है, अत्याचार करता है, जैसा चाहे जिस चाहे स्त्रीको छेड़ता है, जिस चाहेकी हिंसा करता है, जिस चाहेका परिग्रह लूट लेता है इसके फलमें पापकर्मका बंध होता है, जिसके फलमें वह कुत्ता, बिल्ली जैसी निकृष्ट पर्यायोंमे पहुंचता है। कोई जीव कुत्ताकी पर्यायमे है, उसके भी मन है, यदि विवेक जग जाय और अपनी

करनीका पछतावा करे, शुद्ध भावना रखे तो वह मरकर देव होकर उस देव भवके ऐश्वर्यको प्राप्त कर लेता है। तो यह दैव किसी पुरुषको लोक शिरोमणि बनाकर फिर निर्बुद्धि बनाकर अधम बना दे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

निहतं यस्य मयूखैर्न तमः संतिष्ठते दिगंतेऽपि।
उपयाति सोऽपि नापदि किं तं विधिः स्पृशति ॥३४६॥

(४८) **दैव द्वारा उत्थान पतनका लौकिक वैचित्र्य**—लोकमें देखा जाता है कि जैसे सूर्यकी हजारों किरणें हैं, और वह इन किरणों द्वारा दुनियाको प्रकाश देता है, दुनियाका उपकार करता है, बीमारी नष्ट करता है, योग्य मौसम बनाता है ऐसा वह सूर्य जो अंधकार को नष्ट करके उदयाचलपर विराजमान होता है, उच्च बनता है वही सूर्य जिस समय पश्चिम समुद्रमें जाकर डूब जाता है तो क्या उसके साथ दैव नहीं रहता ? देखो दैवका कैसा परिवर्तन कि जो कभी उदित हुआ और दुनियाकी दृष्टिमें आदर्श माना गया वही दिनके अन्तमें डूब करके अस्तको प्राप्त होता है, एक यह लोकनीतिके अनुसार बात कहा है। परमार्थतः तो वह सूर्य विमान है, सुमेरु पर्वतके चक्कर लगाता है, कभी यह लोगोंको दिखता है कभी नहीं दिखता। जब लोगोंको दिखता है तो लोग उसे उदय कहते हैं। जब लोगोंकी दृष्टिसे ओझल हो जाता है तो लोग उसे अस्त कहते हैं। इसमें सूर्यका कुछ बिगाड़ नहीं है, वह तो ज्योंका त्यों है। वहाँ जो बिगाड़ है वह उसकी आयु है और वह अपनी आयु समाप्त करके उस देव पर्यायको छोड़ देता है। तो वास्तविक अस्त तो उसकी आयुके क्षय होनेपर कहा जाता है, पर लोकरीतिके अनुसार भी यहाँ विचारा गया है कि जो सूर्य उदयको प्राप्त होता है वही शामको ढल जाता है। ऐसी ही कर्मकी दशा सब जीवोंपर विचित्र छायी रहती है। जब साताका पुण्यका उदय होता है तब यह जीव नाना सुख साधनोंको प्राप्त करता है और जब उसका पुण्य अस्तको प्राप्त हो जाता तो यह ही जीव खोटी दशाको प्राप्त करता है। तो यह सब दैवके अनुभागका फल है। इस छन्दमें यह बताया है कि जब सूर्य जैसा प्रतापी माने गएका इतना पतन देखा गया है तो फिर अन्य पुरुषोंकी तो बात ही क्या है ? दुनियामें जीवोंको जो कुछ सुख अथवा दुःख होता है वह सब दैवके अनुसार ही होता है।

विपरीते सति धातरि साधनामफलं प्रजायते पुंसां।
दशशतकरोऽपि भानुर्निपतति गगनादनवलंबः ॥३५॥

(४९) **दैवके विपरीत होनेपर साधनकी निष्फलता**—यदि जीवका, मनुष्यका भाग्य खोटा है, मनुष्यकी इच्छाके प्रतिकूल कर्मका उदय है तो यह हजारों लाखों प्रयत्न कर डाले तो भी अपने चाहे हुए कार्यमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। लोकमें जो भी दशायें देखी

जातीं वे सब कर्मोदयके अनुसार हुआ करती हैं, इसी कारण जो कुछ यहां दृश्य है वह सब नैमित्तिक कहलाता है। औपाधिक कहलाता है और नैमित्तिक औपाधिक है इसी कारण इसे माया भी कहा करते हैं। तो यदि किसी पुरुषका भाग्य विपरीत है तो वह अपने इष्टकी सिद्धिमें लाखों करोड़ों प्रयत्न कर डाले तो भी उसे सफलता प्राप्त नहीं होती। इस प्रकरणके लिए एक लौकिक दृष्टान्त दिया गया है कि जिस सूर्यके सैकड़ों किरणें हैं ऐसा सूर्य भी जिस समय उसकी अवस्था पूरी हो जाती है, प्रतिकूल भाग्य हो जाता है तो सहायरहितके समान वह आकाशसे गिर पड़ता है। सूर्य प्रतीन्द्र, चन्द्र इन्द्र आयु क्षयके होनेपर ये भी वहांसे च्युत होते हैं, याने ये आकाशमें कुछ ऊपर चढ़े हुये हैं ये भी मर कर नीचे ही आकर पैदा हुआ करते हैं इसलिए वे आकाशसे गिर पड़ते हैं, ऐसा कहा गया है। ऐसे ही जिन मनुष्योंका भाग्य विपरीत हो गया, चाहे वे चक्री ही क्यों न हों, बड़ेसे बड़े नरेन्द्र क्यों न हों, जब भाग्य टेढ़ा है, पापका उदय है तो राज्य भी छिनता है। बुरी तरह मरण होता है और खोटी गति उनको प्राप्त होती है। तो यह सब संसार भाग्य प्रधान है। जिनका जैसा भाग्य हो उन जीवोंको सब कुछ प्राप्त होता है। रही पुरुषार्थकी बात तो पुरुषार्थका प्रयोग अपनी मुक्तिके लिए हुआ करता है न कि संसारकी बातोंमें यह पुरुषार्थ चलता है। हां पुरुषार्थ चलता भी है किन्तु दैवके अनुसार चलता है अथवा इसमें कुछ एकान्त भी न करना चाहिये कि सारी सिद्धियाँ भाग्यसे ही होती हैं। ये सारी सिद्धियां पुरुषार्थसे ही होती है। यदि यह एकान्त हठ किया जाय कि सारी सिद्धियां भाग्यसे ही होती हैं तो भला बतलावो जिस भाग्यसे सिद्धियाँ हो रही हैं वह भाग्य बना कैसे था ? वह भाग्य बना था जीवोंके परिणाम के अनुसार। यह जीवके परिणामका ही तो पौरुष है। तो पौरुषसे ही तो भाग्य बना, भाग्य से सिद्धियाँ हुई तो इसके मायने यह है कि इस जीवने जैसे पहले भावरूपी पौरुष किया था उसके अनुसार सिद्धि हुई। यदि कोई यह हठ करे कि सारी सिद्धियाँ पौरुषसे ही होती हैं। संसारमें पौरुष तो सभी जीव करते हैं, घसियारे, लकड़हारे वगैरह बड़े प्रयास करते हैं पर उनको वाञ्छित कार्योंकी सिद्धि क्यों नहीं होती ? इसलिए संसारमें तत्काल तो दैवके अनुसार बात है। उस दैवको बनाने वाला यह पुरुषका पौरुष है। तात्पर्य यह है कि दुनियामें जो कुछ होता है वह सब दैवके अनुसार हो रहा है।

यत्कुर्वन्नपि नित्यं कृत्यं पुरुषो न वांछितं लभते।
तत्रायशो विधातुर्मुनयो न बदंति देहभृतः ॥३५१॥

(५०) दैवके विपरीत होनेपर प्रयत्नकी निष्फलता—किसी कार्यकी सिद्धिके लिए यह मनुष्य रात दिन परिश्रम करता है तिस पर भी उसका प्रयत्न सफल नहीं हो पाता। इस विषयमें मुनिजन दैवका ही दोष बतलाते हैं। इसमें मनुष्यका दोष नहीं है। मनुष्यका कर्तव्य तो अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिए चेष्टायें करते रहना है। तो यह मनुष्य चेष्टायें

करता ही है। यहाँ भी यह देखा जाता कि कोई मनुष्य भाग्यके भरोसे बैठा नही रहता। भाग्य कैसा है इसकी ओर दृष्टि नहीं देता, किन्तु जिस कार्यके करनेकी बात मनमें आयी है उसकी सिद्धिके लिए चेष्टायें करता रहता है। मनुष्यका जो कर्तव्य है अपने कार्यसिद्धिके लिए चेष्टायें करना वह बराबर कर रहा है और उसका फल मिले, न मिले, कैसे मिले यह सब दैवके आधीन है। जब ऐसी स्थिति है तो यह मनुष्य अपना कर्तव्य चुका रहा है याने कर्तव्य तो पूरा कर रहा है और दैव फल नहीं दे रहा तो इसमें मनुष्यका दोष नहीं कहा जा सकता। यह तो भाग्यका ही दोष कहा जायगा। मनुष्यका कार्य यत्न करना है। उसको यहाँ दुनियावी ढंगसे बतला रहे हैं कि संसारमें सुख साधनोंके लिए यह मनुष्य प्रयत्न करता है, यह ही उसका पुरुषार्थ कहा जाता है। तो मनुष्य पुरुषार्थ करे, दैवके भरोसे न बैठा रहे दैव अनुकूल होगा तो इसके थोड़ेसे प्रयाससे ही सब काम बनेगा। और अगर दैव अनुकूल नहीं है तो कितना ही यत्न करने पर भी कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसमें मनुष्यका दोष न कहा जायगा। यह तो दैवका ही दोष कहा जा सकेगा। सारांश यह है कि संसारमें जो भले काम हैं उनके लिए अपना प्रयत्न बनाये रहना चाहिए। फल क्या होता है इसका विचार भी न करना चाहिये अथवा जो हो सो हो। तथा सर्वोत्कृष्ट बात तो यह है कि संसारके कार्योंके लिए भी प्रयत्न क्यों किया जाय ? प्रयत्न करना चाहिये आत्माके शाश्वत आनन्द और विकास पानेका। वह है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय। उसके प्रयासमें जो विवेकी पुरुष रहता है उसका पुरुषार्थ सच्चा पुरुषार्थ है।

बांधवमध्येऽपि जनो दुःखानि समेति पापपाकेन।
पुण्येन वैरिसदनं यातोऽपि न मुच्यते सौख्यैः ॥२५२॥

(५१) **दैवकी अनुकूलतामें बैरियोंके मध्यमें भी समृद्धि तथा दैवकी प्रतिकूलतामें बान्धवोंके मध्यमें भी विपत्ति**—जिस जीवका जिस समय भाग्य अनुकूल होता है, पुण्यका उदय होता है उस समय बंधुवोंके बीच भी रह रहे हों तो भी नाना प्रकारके कष्ट उठाना पड़ता है। ऐसी घटनायें अनेक जगह देखनेको मिल रही हैं। पुराणोंमें भी श्रीकृष्ण नारायण का पुत्र प्रद्युम्न जिसके कि पुण्यका उदय था, जो कालसम्वर राजाके यहाँ पला था, उसके अनेक पुत्रोंने प्रद्युम्नको नष्ट करनेकी चेष्टा की। खोटी खोटी बावड़ियोंपर ले गए, कहीं गुफावों में ले गए, जहाँ मृत्यु होनेमें कोई संशय न माना जाता था, लेकिन वहाँ जाकर भी प्रद्युम्नने नाना विद्यायें प्राप्त की, नाना सम्पत्तियाँ प्राप्त की। यह तो पुण्यके उदयका फल है। जैसे किसीके पापका उदय आया तो वह बंधुवोंके मध्य भी रहकर उन्हीं बंधुवों द्वारा वह कष्ट पाता रहा। राजा श्रेणिक बड़े प्रतापी राजा थे लेकिन जब उनके पापका उदय आया तो

अपने ही पुत्र कुणिकके द्वारा कैसी ही यातनाओंको सहते रहे। तो उस जीवके जैसा पाप पुण्यका उदय होता है उसके अनुसार उसे सुख दुःख भोगने पड़ते हैं। उन पाप पुण्य कर्मोंको बाँधा किसने ? बँधे तो अपने आप ही याने कार्माणवर्गणावोंमें कर्मत्व परिणति आयी मगर यह जीवके परिणामका निमित्त पाकर ही आयी। इसलिए मूलमें देखा जाय तो जीवके सुख दुःख आदिक सब बातोंका, घटनावोंका कारण जीवका ही परिणाम है। तो इस छन्दमें यह बताया गया है कि जब जीव पापके उदयसे घिर जाता है तो बंधुवोंके बीच रहकर भी उन्हीं बंधुवोंके द्वारा दुःख पाता है, और जब पुण्यका उदय होता है तो बैरियोंके घेरेमें रहकर भी उन्हीके कारण, उन्हींकी करतूत द्वारा नाना प्रकारकी सुख समृद्धियोंसे भरपूर हो जाता है।

पुरुषस्य भाग्य समये पतितो बज्रोऽपि जायते कुसुमं।
कुसुममपि भाग्यविरहे बज्रादपि निष्ठरं भवति ॥३५३॥

(५२) **दैवकी अनुकूलता व प्रतिकूलताके अन्तर**—जब पुरुषका भाग्य अनुकूल रहता है उस समय इसके सिरपर बज्र भी आ पड़े तो भी वह फूलकी तरह हो जाता है। एक कथानक है कि वारिसेण मुनि जब ध्यानस्थ थे उस समयकी घटना है कि कोई अंजन चोर किसी रानीका जगमगाता हार चुराकर लिये जा रहा था। तो अंजन चोरमें इतनी कला थी कि उस पुरुषको कोई न देख सकता था अंजन लगानेके कारण, पर वह हार तो चमकता ही था। उसे देखकर कोतवालने पीछा किया। अंजन चोर भागता गया। भागते भागते जब देखा कि अब कोतवाल पास आने वाला है तो उसने वह हार वारिसेण मुनिके आगे डाल दिया और वह स्वयं आगे भागता चला गया। जब कोतवालने आकर देखा कि यह हार इसके सामने पड़ा है तो उसे बड़ा गुस्सा आया कि यह चोर हार चुरा लाया और आरोपसे बचनेके लिए इसने मुनिका भेष धारण कर लिया। आखिर वह घटना राजाके पास तक पहुंच गई और राजाने उसे प्राणदण्डकी आज्ञा दे दी। तो वे चाण्डाल लोग आये और वारिसेण पर तलवार मारने लगे। जितनी बार तलवार चलाया उतनी बार वह फूलमाला बन गई। ऐसी अन्य प्रकारकी भी घटनायें होती हैं कि जब भाग्य अनुकूल होता है तो बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ भी उसपर विराजें तो भी फूलवत् हो जातीं। प्राणघातक न होकर सुखदायक हो जाती हैं। यह इसका अर्थ है। जब इस जीवके अशुभ भाग्यका उदय रहता है उस समय फूल भी इसके ऊपर गिरें तो वे भी बज्रवत् बन जाते और बज्रकी तरह प्राण लेकर ही छोड़ते हैं। असाताका, पापका उदय आनेपर बड़ी-बड़ी सेवायें की गईं बंधुवों द्वारा मगर वे घातक ही सिद्ध हुईं। जैसे एक अकृतपुण्य पुत्र था राजाका, तो उसके उत्पन्न होते ही राज्य में विरोध होने लगा। प्रजाने विनती की कि इसे आप राज्यसे बाहर कर दीजिए। आखिर

राजाने उसे राज्यसे अलग तो किया, पर वह प्रिय था, सो उसके साथ उसकी माँ साथ गई और राजाने अनेक धन भण्डार साथ लगा दिया कि इस पुत्रको कहीं तकलीफ न हो, पर वे मोहरें आग बन गईं, अनाजके दाने खिर गए। पासमें कुछ न रहा, ऐसी भी स्थितियाँ हो जाती हैं। तो जगतमें जो कुछ भी सुख दुःख हो रहे हैं वह सब दैवका प्रभाव है। इस दैव को किसी दूसरेने नहीं बनाया। यह जीव ही अपने भावोंके द्वारा बनाता है।

किं सुखदुःखनिमित्तं मनुजोऽयं खिद्यते गतमनस्कः।
परिणमति विधिविनिर्मितमसुभाजां किं वितर्केण ॥३५४॥

(५३) **सुख दुःखकी विधिविनिर्मितता जानकर उनमें हर्ष विषाद न करनेका कर्तव्य**—जगतमें जो भी मनुष्य खेद खिन्न होते हैं, अनेक चिन्तावोंमें पड़ जाते हैं रात दिन सुख दुःखके निमित्त जुटते रहते हैं उन संगतियोंमें रहकर निरन्तर विषाद करते हैं। वे भूल गए कि विषाद चिन्ता करना किस प्रयोजनके लिए है। संसारमें जितने भी सुख दुःख हैं वे सब दैवाधीन हैं। भाग्यके वश होते हैं, ऐसा जानकर उन्हें संतोष धारण करना चाहिये था, लेकिन यथार्थता भूलकर निरन्तर चिन्तामग्न रहा करते हैं। वास्तविकता यह है कि जगतमें जितने भी संयोग वियोग और इन दृश्य पदार्थोंका परिणमन है यह सब कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ करता है। जीवके पास सम्पदा आये, यह साता उदयके निमित्तसे होता है जीवसे इष्टका वियोग हो जाय यह असाताके उदयके निमित्तसे होता है। निमित्तनैमित्तिक भाव जीव के परिणमनमें, विकृत भावोंमें इन कर्मोंके उदय हैं। जैसे कि कर्मोंके बंधमें निमित्त कारण जीवके शुभ अशुभ भाव हैं। जितना भी विसम परिणमन है वह सब नैमित्तिक हुआ करता है। निमित्त बिना स्वयं सहज शक्तिसे अपने आप ही होने वाला परिणमन विषम नहीं हुआ करता। वह सम ही हुआ करता। जैसे पुरुषका ज्ञान दर्शन आनन्द आदिक परिणमन सम हैं, वहाँ विसमता नहीं है। रागद्वेष सुख दुःख कितनी तरहके पाये जाते हैं और अभी सुख हो रहा था अब दुःख होने लगा। अभी शुद्ध परिणाम थे अब क्रूर परिणाम होने लगे, इतनी जो विभिन्नता है, विसमता है वह नैमित्तिक ही होती है, स्वाभाविक नहीं होती। स्वभावतः तो एक समान परिणमन चलता है। तो जगतमें इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, सही शरीर मिलना, रोगादिक होना, ये सारी विसमतायें ही तो हैं, इसका कारण पुण्य पापका उदय है। ऐसा जानकर इनका ज्ञाताद्रष्टा रहना चाहिए, चिन्ता करनेकी क्या जरूरत है? विकारसे भिन्न ज्ञानस्वरूप अपनेको देखें और चिन्तासे मुक्त होवें।

दिशि विदिशि वियति शिखरिणि संयति गहने बनेऽपि यातानां।
योजयति विधिरभीष्टं जन्मवतामभिमुखीभूतः ॥ ३५५ ॥

(५४) **पुण्योदयमें सर्वत्र अभीष्ट सिद्धि**—जिस समय दैव इस जीवके अनुकूल रहता है उस समय चाहे यह जीव किसी भी दिशामें हो, किसी भी विदिशामें रह रहा हो, वह वहाँसे अपनी अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता है। किसी विशेष स्थानमें रहनेसे सुख दुःख नहीं है। सुख दुःख है पाप पुण्यके उदयमें। चाहे यह मनुष्य पर्वतके ऊँचे शिखरपर बस रहा हो, चाहे गहन भयानक वनमें हो, यदि इसके पुण्यका उदय है तो इस जीवके सब प्रकारके अभीष्ट की सिद्धियां होती हैं। कोई बैरी इसे हरकर किसी जगह ले जाय, पर्वतपर ले जाय या भयानक वनमें भी फेंक दे, किन्तु उसके पुण्यका उदय है तो वहाँ ही ऐसा सुयोग प्राप्त होगा कि यह जीव अभीष्ट सिद्धिको प्राप्त होगा। ऐसे अनेक दृष्टान्त पुराणोंमें पाये जाते हैं, और देखनेमें भी आते हैं। यह जीव चाहे युद्धमें भी पहुंचा हो, यदि पुण्यका उदय है तो वहाँ भी इसको अभीष्ट कार्योंकी सिद्धि होती है। तो लोकमें जो कुछ भी सुख साधन दिखाई देते हैं, जिन्हें लोग चाहते हैं वे सब सुख साधन दैवके अनुकूल हुआ करते हैं, पर यहाँ यह न भूलना चाहिए कि वह दैव बनाया गया है जीवोंके भावोंके द्वारा ही। इसलिए सांसारिक सुखोंका भी कारण इस जीवको हस्तगत है याने इस जीवके ही आधीन है। यदि यह जीव अपने परिणाम विशुद्ध रखे तो उसका फल मिलनेमें चाहे कुछ विलम्ब भी हो, पूर्वकृत पापकर्मका उदय आनेसे उसे उसका फल अभी नहीं मिल पा रहा है, लेकिन यह निश्चित है कि निर्मल परिणामका फल इस जीवको शुद्ध ही प्राप्त होगा। एक चक्रवर्तीकी पुत्री जिसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर कोई विद्याधर उसे हरे लिए जा रहा था पर उसके पीछे बहुत लोग लग गए। परिस्थितिवश उस कन्याको एक भयानक जंगलमें विद्याधरने छोड़ दिया। तत्काल तो बड़े दुःखका वह स्थान था। भयानक जीव जंतुवोंके बीच उसका जीवित रहना अत्यन्त मुश्किल था। वहाँ पर भी उस पुत्रीने अपना साहस बनाया अपने परिणाम निर्मल किया। व्रत, तप आदिक साधनाओंमें रहने लगी, ऐसे उसके सैकड़ों वर्ष व्यतीत हुए। और अन्तमें एक अजगर सर्पने उसको ग्रस लिया। और सुयोग ऐसा हुआ कि उस कन्याका पिता चक्रवर्ती उसकी तलाशमें चलते चलते उसी जंगलमें पहुंचा और उसने अपनी पुत्रीको अजगरके मुखमें देखा तो चक्रवर्तीने उस अजगरको मारकर अपनी कन्या उससे छुड़ाना चाहा, पर उस समय पुत्रीने मना किया कि पिताजी इस बेचारे अजगरको न मारो। आखिर वह पुत्री गुजर गई और मरकर उत्तम गतिको प्राप्त कर फिर विशल्या हुई, जिसका पुण्य प्रताप इतना विशेष था कि जिसके नहाय हुए जलकी छींट यदि किसी पर पड़ जाय तो उसके असाधारण रोग भी दूर हो जाते थे, यह उस अजगरको अभयदान देनेका फल मिला। सैकड़ों हजारों वर्ष तपश्चरण करनेका फल मिला। तो कोई जीव अपने निर्मल परिणाम

रखता है तो उसकी निर्मलताका फल उसे अवश्य मिलता है। इस कारण कल्याण चाहने वाले पुरुषोंका कर्तव्य है कि प्रत्येक घटनामें अपने परिणामोंको न्यायके अनुकूल रखें, दयासे भरा हुआ रखें, किसीका बुरा न विचारें, अच्छे परिणामोंका फल अच्छा ही मिलता है और वही संसारमें यह सब देखा जा रहा है। इस कारण आत्मपरिचय करके अपने परिणामोंकी सावधानीमें अपना जीवन बिताना चाहिये।

यदनीतिमतां लक्ष्मीर्यदपथ्यनिषेविणां च कल्यत्वं।
अनुभीयते विधातुः स्वेच्छाकारित्वमेतेन ॥३५६॥

(५५) **दैव द्वारा नीतिका उल्लंघन**—यह दैव बड़ा ही स्वच्छंद प्रवर्तने वाला है। इसे अलंकार रूपमें आचार्य कह रहे हैं कि इस दैवके मनमें जो बात आती है उसे ही कर डालता है अर्थात् स्थिति पाकर उदयके समय अथवा उदीर्णाके समय जो अनुभाग खिलता है उसके अनुकूल जीवमें चेष्टायें हो जाती हैं। देखिये—न्यायसिद्ध बात तो यह है कि जो लोग नीति पर चलने वाले हैं, योग्य आचरणसे रहने वाले हैं उन्हें ही धनवान किया जाना चाहिये, पर विधिकी गति विचित्र है। नीति न्यायपर चलने वाले योग्य आचरणसे रहने वाले लोग दरिद्र पाये जाते हैं। वैसे इस बातकी प्रसिद्धि भी है कि लक्ष्मी और सरस्वतीका परस्पर बैर है। जहाँ सरस्वती है, बुद्धि है वहाँ लक्ष्मी नहीं है। और जहाँ बुद्धि नहीं वहाँ ही लक्ष्मी देखी जाती है। तो यह भाग्यकी विचित्रता ही तो है। किस उदयकी वहाँ बात चल रही है। कभी बुद्धिमान भी धनवान देखे जाते। तो वह दैवका स्वच्छंदाचारपना है। देखिये—जो लोग पथ्यसे रहते हैं, संयम नियम अनुसार आहार करने वाले होते हैं उन्हें तो नीरोग बनाये रहना चाहिए। यह तो न्याय नीतिकी बात, परन्तु दैवकी छटा विचित्र है। मीमांसा आहार विहार करने वाले भी रोगी रहें और यथा तथा भक्ष्य अभक्ष्यका विवेक न रखने वाले लोग तंदुरुस्त रहें तो यह दैवगतिकी विचित्रता ही तो है, इसीलिए यह कहा जाता है कि यह दैव स्वच्छंद है। इसके मनमें कुछ और ही बात रहती है। यह अन्यायसे चलने वालोंको धनवान बना दे, विरुद्ध आहार विहार करने वालेको निरोग बना दे। इस चारित्र से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि यह दैव स्वच्छेाकारित्व है।

जलधिगतोपि न कश्चित्कश्चित्तटगोपि रत्नमुपयाति।
पुण्यविपाकान्मर्त्यो मत्वेति विमुच्यतां खेदः ॥३५७॥

(५६) **घटनावोंको दैवलीला जानकर उनमें खेद न करनेका कर्तव्य**—जगतमें जो कुछ भी विचित्र कार्य हो रहे हैं वह सब पाप और पुण्यकी महिमा है, उसमें जीवने क्या किया? क्यों यह जीव खेद खिन्न होता है। यह तो अमूर्त ज्ञानमात्र अपने सत्त्वमात्र है।

इसको जो निज वृत्ति है उसका पहिचान करें और अपने आपके स्वरूपमें आत्मत्व अनुभव करें, सारे कष्ट इसके खतम। वैज्ञानिक विधिसे यह हो रहा है कि जो पूर्वबद्ध कर्म हैं उनमें अनुभाग पड़ा हुआ है, उनका जब उदय उदीरणाकाल आता है तो उस समय जीवके उपयोग में कुछ विकार की छाया पड़ती है उसे यह अपना लेता है, दुःखी होता है। तो यह अपनाये नहीं, भले ही कुछ झलके, वह सब बाह्य तत्त्व हैं, मेरे स्वरूपकी निजकी चीज नहीं है। स्वतः सिद्ध नहीं हैं, ऐसा ज्ञान करके उसे न अपनायें, उसमें खेदकी क्या बात है? मगर यह जीव अपने स्वरूपकी सम्हाल नहीं करता और विचित्रतायें पाप पुण्यके उदयसे जो हो रही हैं उनमें ही यह अपना सुधार बिगाड़ देखता है, सो देखिये—कोई मनुष्य तो समुद्रके अन्दर डुबकियां लगा रहा रत्न खोजनेके लिए, पर रत्न नहीं पाता, और कोई पुरुष समुद्रमें डुबकी लगाये बिना ही केवल समुद्रके तटपर बैठा है और बैठे-बैठे ही रत्न पा लेता है। तो यह सब पुण्य पापकी ही तो महिमा है। सो इस सबको पुण्य पापकी महिमा जानना चाहिये और हर्ष विषाद तज देना चाहिए। लोग खेद अधिक किया करते हैं। इष्ट सामग्री न मिले तो खेद करने लगते। कदाचित् इष्ट सामग्री मिल गई तो सुख मानने लगते हैं, अपराध दोनों ही हैं। विवेकी जन बाह्यपदार्थोंके मिलनेपर वे अपना कुछ सुधार बिगाड़ नहीं समझते। बाह्य पदार्थोंके बिछुड़नेपर अपना कुछ बिगाड़ नहीं समझते हैं। आत्माका सुधार बिगाड़ मूलमें यह है कि जब आत्माको अपने सहज ज्ञानज्योति स्वरूपकी सुध है और उस ही में अपना आग्रह बनाया है कि मैं यह हूं, ऐसा ही ज्ञानमात्र अपनेको अनुभव रहा है उस समय उसको कोई संकट नहीं है। और जब अपने स्वरूपकी सुध छोड़कर जो बाह्यतत्त्व हैं, विकार हैं उनको अपना रहा है और उसी प्रेरणावश इन भिन्न बाह्य पदार्थोंकी भी सुधार बिगाड़ करना चाहता है, पर इसमें सारा संकट है। सो हे विवेकी जन जगतमें जो कुछ भी अच्छे बुरे परिणाम नजर आ रहे हैं, समृद्धि विपत्ति जो कुछ ऊपर बीत रही है वह सब पाप पुण्यकी महिमा है, ऐसा जानकर खेद छोड़ देना चाहिये।

सुखमसुखं च विधत्ते जीवानां यत्र तत्र जातानां।
कर्मैव पुरा चरितं कस्तच्छक्नोति वारयितुं ॥३५८॥

(५७) कर्मफलवारणकी अशक्यता—संसारमें ये जीव उत्पन्न हो रहे, मर रहे, एक भवको छोड़ रहे दूसरे भवको धारण कर रहे, यह ही समस्त जीवोंकी इस संसारमें रीति चल रही है। इस ही का नाम संसार है। नया शरीर धारण किया, कुछ दिन तक यह शरीर रहा, फिर नया शरीर धारण किया, इस परिपाटीको ही संसार कहते हैं। तो संसारमें उत्पन्न हो रहे, यत्र तत्र जन्म रहे इन जीवोंको सुख दुःख सब कुछ यह दैव ही प्रदान करता

है । जब जैसे पाप पुण्यका उदय होता है उसके अनुसार यह जीव अपने भाव करके स्वयं सुखी दुःखी होता है । यद्यपि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका परिणमन नहीं करता, फिर भी यह तो देखा ही जाता है कि कोई पदार्थ यदि स्वभावके प्रतिकूल परिणम रहा है तो वह किसी परपदार्थका निमित्त पाकर ही परिणम रहा है । यदि बाह्य अर्थका निमित्त पाये बिना कोई विसम परिणमन कर ले तो वह तो स्वभाव बन बैठेगा, फिर वह स्वभाव कैसे मिट सकता ? तो यही पद्धति यहाँ हो रही है । जीवने शुभ अशुभ परिणाम किया । उसका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणामें कर्मत्व आ गया । अब जब उन कर्मोंका उदयकाल आता है अथवा उदीर्णा होती है उस कालमें यह जीव स्वयं अपनेमें कल्पनायें करता हुआ सुखी दुःखी होता रहता है । इसीको उपचार भाषामें कहा जाता है कि यह दैव ही इस जीवको सुख दुःख सब कुछ प्रदान करता है । अन्य कोई नहीं । और उसको सामर्थ्यको कोई रोक भी नहीं सकता । जो भाग्य जिसका जिस उदयमें आ रहा है उसे हटानेके लिए कौन समर्थ है । हाँ उदयक्षणसे पहले कर्म हटाये जा सकते, परिवर्तित किए जा सकते मगर वास्तविक बहुत ऊँचे तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है, यह जीव अपने आपकी सुध लेता है, अपने आत्मामें ही रमे तो इस स्थितिके निमित्तसे कर्मोंमें परिवर्तन उपशम, क्षयोपशम क्षय आदिक होते रहते हैं, किन्तु प्रायः जिसने जैसा कर्म किया वह उदयमें आता है । उसे कौन रोकनेमें समर्थ है ? तो जगत का सारा परिणाम पाप पुण्यका फल जानकर उसमें अपना कर्तृत्व मत लगायें । मैं तो केवल ज्ञानभाव मात्र हूं । मैं इन समग्र पदार्थोंका, घटनावोंका करने वाला नहीं हूं । यह सब भाग्य लीला चल रही है । मैं तो विशुद्ध ज्ञानमात्र हूं ऐसी भावना करनी चाहिए ।

द्वीपे चात्र समुद्रे धरणीधरमस्तके दिशामंते ।
यातं कूपेपि विधी रत्न योजयति जन्मवतां ॥३५९॥

(५८) पुण्योदयमें सर्वत्र लाभ—इन प्राणियोंका जिनका कि भाग्य अनुकूल है उनको सर्व समृद्धि सहज प्राप्त हो जाती है । कोई द्वीप समुद्रमें कहीं पड़ा हुआ रत्न हो, पर्वतकी शिखावोंमें, गुफावोंमें, दिशावोंके अन्तमें कुवेंके अन्दर भी गिरा हुआ रत्न हो वे सब उन्हें प्राप्त हो जाते हैं । यह सब दैवका चमत्कार है । ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है, हैं वस्तु सर्व स्वतंत्र अर्थात् किसी वस्तुरूप अन्य कोई न परिणम पायगा, मगर यह योग लगा हुआ है कि पदार्थोंमें विकार परिणमन हो रहा है तो वह किसी अन्य वस्तुका निमित्त पाकर हो रहा है । तो जैसे तीर्थंकर होने वाले आत्माका उस भवमें आगमन हुआ अर्थात् तीर्थंकरका जन्म हुआ तो जन्मते ही कहीं भवनवासियोंके यहाँ घंटा बजने लगता, कहीं शंखनाद होने लगता, तो इन सबको कौन करने जाता है ? कैसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि पुण्यका उदय उस

आत्मामें आ रहा है अर्थात् वह पुण्यकर्म निकल रहा है और इतनी दूर दूर ऐसी ऐसी घटनायें चल रही हैं, यह सब निमित्तनैमित्तिक योग पुण्योदय है। पुण्योदय होनेपर कितनी ही दूर कुछ भी समृद्धि हो, किसी न किसी प्रकार इसके पास आ जाती है अथवा यह पुरुष कैसे उन सम्पदावोंके पास पहुंच जाता है, यह कोई जान-बूझकर करे तो नहीं हो सकता। तो जिनका भाग्य अनुकूल है उन जीवोंको हर जगह समृद्धिकी प्राप्ति होती हैं और जिनका भाग्य प्रतिकूल है उनके हाथपर रखे हुए भी रत्न नष्ट हो जाते हैं।

विपदोपि पुण्यभाजां जायंते संपदोत्र जन्मवतां।
पापविपाकाद्विपदो जायंते संपदोऽपि सदा ॥३६०॥

(५९) पुण्योदयसे विपत्तिमें भी संपत्ति तथा पापोदयसे संपत्तिमें भी विपत्ति—पुण्य के उदयसे इस संसारमें जीवोंपर आयी हुई विपत्तियां भी सम्पत्तियां हो जाती हैं। जैसे श्रीपालका कथानक प्रसिद्ध है कि उसे समुद्रमें धवल सेठने उसकी स्त्रीपर आसक्त होकर समुद्र में ढकेल दिया था। जयधवलने यह मनमें समझ लिया कि इतने विशाल गहरे समुद्रमें यह श्रीपाल बच नहीं सकता। इतनी बड़ी विपत्ति श्रीपालपर डाली गई फिर भी उसके पुण्यका उदय था, किसी काठके सहारे वह समुद्रके एक किनारे लग ही गया और समुद्रके तटपर वृक्ष के नीचे सो रहा था, वहाँ उस देशका राजा आया और अपने पूर्व संकल्पके अनुसार उसे आधा राज्य दे दिया और अपनी पुत्रीसे उसका विवाह कर दिया। और जब जीवके पापका उदय आता है तो सम्पत्ति भी विपत्ति बन जाती है। आजकल भी देखा जाता है कि कोई किसी राष्ट्रका मालिक बन गया, राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री बन गया और उसके विरोधी तो अनेक होते ही हैं, कोई यदि क्रूर विरुद्ध पार्टीका हो तो वह दाव पाकर उसे भी क्या, उसके वंशके भी वंश समाप्त कर डालता है। तो ऐसी बड़ी विपत्तिका कारण सम्पत्ति ही तो रही। बड़े-बड़े धनिक पुरुष लूटे जाते हैं जहाँ लुटेरों द्वारा जानसे मार डाले जाते हैं तो वहाँ पापका उदय आया और उसकी सम्पत्ति विपत्ति बन गई। तो जीवके जब पापका उदय आता है तो सम्पत्तियां भी विपत्तियां बन जाती हैं। बुद्धिमान् पुरुष वह है जो पुण्यके उदयमें हर्ष नहीं मानता और पापके उदयमें विषाद नहीं मानता। इन सारी घटनावोंको देवकृत अर्थात् भाग्य के निमित्तसे हुई हैं ऐसा जानता है और उन घटनावोंमें व्यामुग्ध न होकर अपने सहज आत्मस्वरूपकी श्रद्धामें बना रहता है, अपनेको समय समयपर ज्ञानज्योतिमात्र अनुभवता हुआ अलौकिक आनन्द पाता है।

चित्रयति यन्मयूरान् हरितयति शुकान् बकान् सितीकुरुते।
कर्मैव तत्करिष्यति सुखासुखं किं मनःखेदैः ॥ ३६१ ॥

(५९) **कर्मका विचित्र कर्म**—इस संसारमें जैसा जो प्राणी शरीर धारण किए हुए हैं वे सब दैवके उदयमें बने हुए हैं। कोई मनुष्य बना, कोई नारकी तिर्यञ्च बना, देव बना, उनको उस प्रकारका शरीर मिला तो उनके उस प्रकारके नामकर्मका उदय है। एक एक जातिमें भी कितनी ही उपजातियां हो जाती हैं। कितनी ही तरहकी सकल प्रकृतियां बन जाती हैं, वे सब दैवकृत समझना चाहिये। पक्षियोंमें कितनी ही तरहके रंगरूप आकार प्रकार देखे जाते हैं, रंग बिरंगे उनके पंख होते हैं। तोते हरे रंग वाले होते हैं, बगले सफेद होते हैं। तो ऐसी ऐसी विसमतायें भी उस उस प्रकारके नामकर्मके उदयसे हुई हैं। तो संसार में जो भी दिख रहा है वह सब दैवका प्रसाद है। जिस जीवके जैसे जो कर्म बँधे हुए हैं उसके उदयके अनुसार बाहरमें शरीरकी रचना होती है और अन्दरमें उस उस प्रकारके परिणाम हुआ करते हैं। तो जितने ये विषम परिणमन हैं चाहे आन्तरिक हों, चाहे शारीरिक हों, ये सब स्वभाव नहीं हैं, पर आत्माका अधिकार नहीं है। ये सब दैवके निमित्तसे हुए हैं। इन सबको बाह्य समझना और इनसे उपेक्षा करना इसीमें ही पुरुषोंका वास्तविक विवेक है। जो बाहरी शरीर, वचन बना हुआ है वह तो प्रकट पौद्गलिक है। उससे तो निराला ही है यह आत्मतत्त्व, पर अन्दरमें जो रागद्वेष सुख दुःख परिणाम उत्पन्न होते हैं ये परिणाम भी कर्म-कृत विकार हैं, जीवके स्वाभाविक भाव नहीं हैं। यद्यपि ये परिणाम जीव उपादानके हैं, कहीं यह परिणति कर्मकी नहीं हो गई, हां कर्मकी परिणति भी ऐसी ही है। और उस ही प्रकार की छाया पड़ी हुई है, लेकिन उसे अपनाना, उसका लगाव रखना यह तो जीवका ही विकार है। तो ये सब विकार भी नैमित्तिक हैं। आत्माके स्वभावसे उत्पन्न नहीं हुए हैं, इस कारण इन विकारोंसे भी उपेक्षा करना और आत्माके सहज ज्ञानज्योति स्वरूपमें ही आत्मत्वका अनुभवना हम आपका मुख्य कर्तव्य है।

अन्यत्कृत्यं मनुजश्चिनोति दिवानिशं विशुद्धधिया।
वेधा विदधात्यन्यत्स्वामी च न शक्यते धर्तुं ॥ ३६२ ॥

(६०) **दैवका अपने जनकपर आक्रमण**—इस दैवकी बड़ी विचित्रता है कि यह दैव जीवके परिणामों द्वारा ही तो उत्पन्न हुआ है फिर भी यह दैव इस जीवके ऊपर अपना स्वामित्व चलाता है। कर्मबन्ध हुआ इसका अर्थ यह है कि कार्माणवर्गणा जातिके पौद्गलिक स्कंधोंमें कर्मत्वअवस्था आयी है और वह कितने समय तक कर्मत्व अवस्था रहेगी और किस जातिका फल देनेका निमित्त बनेगा और कितनी ताकतके साथ इसमें अनुभाग पड़ा है, यह सब भी बंधन हुआ है। यह सब कुछ बंधन जीवके कषाय परिणामके अनुसार हुआ है। जो कर्मोंको इस जीवने हो जो पैदा किया। यदि जीवके भाव न हों उस प्रकार तो कर्म कैसे

बनें ? तो इन कर्मोंको जीवने ही उत्पन्न किया । अब उत्पन्न हुए बाद इसका उदय उदीर्णा आती है तब यह जीव विवश हो जाता है और इस जीवपर मानो इस दैवका ही स्वामित्व चल रहा है । तभी तो देखो इस दैवको उत्पन्न करने वाला मनुष्य करना तो कुछ चाहता है और करना कुछ और पड़ता है । वास्तविकता तो यह होती कि यह दैव अपने उत्पादक जीवोंकी आज्ञाके अनुसार चलता । जब जीव परिणामसे कर्मत्वदशा आयी है तो इन कर्मोंका तो इस जीवको आभारी रहना चाहिये था, जिससे यह कृतज्ञ होकर जीवकी आज्ञाके अनुसार चलना और जीवके योगमें, अभिलषित ध्येयमें अपना योग मिलाता, परन्तु यह दैव करता क्या है कि इस ही जीवको अपनी आज्ञामें चलाता है, अर्थात् मानो जो इस दैवके मनमें आता है उसे ही इस जीवके द्वारा कराता है । जिस जीवने विचित्र नामकर्मका बंधन किया तो अब उस नामकर्मके उदयसे इस जीवको विचित्र शरीरोंमें बँधा रहना पड़ा । तो दैवकी कैसी विचित्रता है कि यह जीवके द्वारा ही तो उत्पन्न हुआ और जीवको ही अपने वशमें करके नाना बंधनके दुःखमें डाल रहा है ।

द्वीपे जलनिधिमध्ये गहनवने वैरिणां समूहेऽपि ।
रक्षति मर्त्यं सुकृतं पूर्वकृतं भृत्यवत्सततं ॥३६३॥

(६१) **पुण्योदयकी जीवके लिये सर्वत्र सेवकता**—जिस जीवके पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म का उदय है उसका कोई भी पुरुष बाल बाँका नहीं कर सकता । वह चाहे किसी भी द्वीपमें चला जाय, जिस द्वीपमें कभी भी न गया हो, एकदम नवीन हो जाना हुआ है तो भी उसके पुण्यके कारण वहाँके लोग उसका आदर करेंगे, उसको सब प्रकारकी सुविधायें देंगे । और वह स्वयं ही अपने पुण्यके अनुसार ऐसी बुद्धि पौरुष बना लेगा कि जिसमें यह सम्पत्ति समृद्धियोंका स्वामी बन जाय । जिसके पुण्यकर्मका उदय है वह चाहे समुद्रके मध्य भी गिर पड़े और उसे कोई बैरी समुद्र में पटक दे तो भी उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता । वहाँ पर भी यह पुण्य सेवकके समान इस जीवकी सेवा करनेमें सदा तत्पर रहता है । एक राजाने एक हिंसकको फाँसी देनेका हुक्म चाण्डालको दिया, उस दिन चाण्डालका चतुर्दशीको जीव-हिंसा न करनेका व्रत था सो उसने राजाज्ञाका उल्लंघन कर दिया । राजाने क्रोधमें आकर उस चाण्डालको भयानक हिंसक जीव जंतुवोंसे भरे हुए समुद्रमें पटकवा दिया, पर वहाँ देवोंने उस चाण्डालकी रक्षा की, देवोंने उसके लिए सिंहासन रचा । तो जिनके पुण्यका उदय है उन्हें किसी समुद्रके मध्य भी पटक दिया जाय तो भी उसका पुण्य उसकी सेवा करता है । किसीको सघन वनमें क्रूर जीव-जंतुवोंके बीच छोड़ दिया जाय फिर भी यदि उसके पुण्यका उदय है तो वही जन्तु उसके रक्षक (सेवक) बन जाते हैं । तो पुण्यविपाक जिनके है ऐसे पुरुष

बैरियोंके समूहमें क्यों न बस रहे हों पर वे बैरी उससे बैरभाव छोड़कर उसका आदर करते हैं। उसकी सेवा करनेमें तत्पर रहते हैं। तो जिनके पुण्यका उदय है वे पुरुष किसी भी द्वीप में, समुद्रमें कैसी ही घटनाके बीच आ जायें, फिर भी उनका पुण्य सेवकके समान उनकी सेवा करनेमें सदा तत्पर रहता है।

नश्यतु यातु विदेशं प्रविशतु धरणीतलं खमुत्पततु।
विदिशं दिशं तु गच्छतु नो जीवस्त्यज्यते विधिना ॥३६४॥

(६२) कर्मका जीवके साथ बन्धन—इस जीवने जो कुछ पूर्वकालमें कर्म उपार्जित किया है वे कर्म इस जीवके साथ तब तक रहते हैं जब तक कि उनका उदय होकर खिर न जायें या अन्य विधियोंसे खिर न जायें। बन्धन तीन प्रकारके कहे गए हैं—जीवबन्ध, कर्मबन्ध और उभयबन्ध। जीवके संस्कारमें विकारका बसना, जीवके स्वभावपर विभावका आना यह जीवबंध है। द्रव्यकर्ममें द्रव्यत्व रहना कर्मबन्ध है और बद्ध कर्मोंका जीवके साथ एक क्षेत्रावगाह होकर बंधनमें रहना यह उभयबन्ध कहलाता है। तो जीवने जो कर्म बाँधे हैं वे मरनेपर भी जीवके ही साथ जाते हैं, जीव यद्यपि अमूर्त है, पर अनादिकालसे कर्मबन्धनवश होनेसे मूर्तरूपसा बना हुआ है, और मरण होनेपर यह कर्मसहित जीव इतने सूक्ष्म कर्म वाला जीव है कि कैसे भी पहाड़ वज्र आदिकसे यह छिड़ता नहीं है और जिस जगह शरीर धारण करना है उस जगह पहुंच जाता है। तो जीवने जो भी शुभ अशुभ कर्मका बन्धन किया है वह कर्म चाहे किसी भी जगह छिप जाय, गुप्त स्थानमें चला जाय, देश छोड़कर विदेशमें पहुंच जाय या कहीं गुप्त पाताल आदिक स्थानमें छिप जाय या आकाशमें चला जाय, किसी भी दिशा विदिशामें चला जाय, और तो बात क्या, यह मरण करके किसी नये भवमें चला जाय पर यह भाग्य किसी भी जगह नहीं छोड़ता, इस जीवके साथ ही साथ रहा करता है। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि मेरे पुण्यका उदय है, चला है, कीर्ति है, लोग मेरा आदर करते हैं, मुझे सत्य समझते हैं पर विषयकषायकी प्रवृत्तिको मैं नहीं रोक पाता हूं, उसको कभी छिपकर करता हूं तो छिपकर करनेमें कर्म मुझे दण्ड न दे पायेंगे, सो ऐसी बात नहीं है। यह कहाँ छिपेगा? जहाँ जाता है उसीके साथ ही बद्ध कर्म लगे हैं। कार्माणवर्गणाके विश्रसोपचय लगे हैं। जैसे ही उसके कषाय जगी कि इसके कर्मका बन्ध हुआ और वे कर्म इसके साथ रहते हैं। तो छिपकर भी कहीं जाय तो भी कर्मके उदयकी धारा बराबर चलती रहती है और उस उदयकी धारासे उस उदीर्णमें इस जीवको सुख दुःख उस प्रकारके मिलते ही हैं। बात यहाँ यह समझना कि जीवके साथ जो कुछ विकृति लगी है, जो विसमनीय हो रहा है वह जीवके स्वभावसे नहीं हो रहा, क्योंकि सब दैवका प्रतिफलन है। जैसी दैवकी उदय

उदीर्णा आदिक अवस्थायें होती हैं उस रूपसे इस जीवके बाह्य शरीरादिकका परिणमन होता है और उस ही के अनुरूप जीवके अन्तरंगमें परिणाम उत्पन्न हुआ करते हैं। सो विवेकी जन इन परिणामोंसे और इन बाह्य स्थितियोंसे अपनेको निराला समझें और अपनेको ज्ञान ज्योति मात्र अनुभव करें।

शुभमशुभं च मनुष्यैर्यत्कर्म पुरार्जितं विपाकमितं।
तद्भोक्तव्यमवश्यं प्रतिषेद्धुं शक्यते केन ॥३६५॥

(६३) पुरार्जित शुभाशुभकर्मकी भोक्तव्यता—इस जीवने पूर्वमें जैसा भी भला या बुरा कर्म किया है समय आनेपर उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। कर्मका बन्धन किया, अब वह कर्म इस जीवके साथ रह रहा, तो जब उस कर्मकी म्याद पूरी होती है तो उस कर्ममें बड़ा प्रस्फोट होता है। उस विस्फोटके समय इस जीवकी उपयोगभूमिमें उसका प्रतिफलन होता है और यह उस समय ददककर अपनी सुधको खोये रहता है और उस बढ़े बढ़ाये प्रतिफलनोंमें अपनेको लगा देता है और नाना विचित्र चेष्टायें किया करता है। जैसे कोई चूनाका डला है तो उसकी म्याद अवश्य है। वह मान लो ६ महीने तक ठीक रहा। अब उसकी म्याद पूरी होनेपर वह डला स्वयं फूल जायगा, प्रस्फुटित हो जायगा। उस समय उसकी गर्मी निकलेगी, बादमें वह शक्तिहीन हो जायगा। तो ऐसे ही जो कर्म बँधे हैं उनकी म्याद पड़ी हुई है। जब उनकी स्थिति पूरी होती है तो उन कर्मोंमें अनुभाग फूटता है और उस समय उसकी भयंकर स्थिति बनती है। उस स्थितिका प्रतिफलन जीवमें होता है और यह जीव विकारी बन जाता है। कदाचित् चूनेकी डलीपर कोई म्यादसे पहले ही कुछ पानी डाल दे, उसमें नमी आ जाय तो वह पहले ही फूलकर अपनी गर्मीको निकालकर शक्तिहीन हो जाता है। तो ऐसे ही कर्मोंकी उदीर्णा आ जाय याने स्थितिसे पहले ही उसका विपाक हो जाय तो वहांपर भी उसका भयंकर रूप बनता है और उसका निमित्त पाकर जीवको विकारी सुखी दुःखी होना पड़ता है। तो जीवने जो भी शुभ अथवा अशुभ कर्म किया उन कर्मोंको भोगना ही पड़ता है। उसका निवारण यह खुद भी नहीं कर सकता, कोई दूसरा भी नहीं कर सकता। तो मनुष्योंको चाहिए कि अपना विवेक बनायें कि कोई भी शुभ अशुभ कर्म करना आसान बन रहा है, लेकिन इसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। तो अशुभ कर्मोंसे तो पूर्णतया बचें ही और अशुभ कर्मसे बचकर जो शुभ उपयोगमें लगा था, शुभ कार्यमें प्रवर्त रहा था सो शुद्ध अन्तस्तत्त्वको ध्यानमें रखकर उन शुभ क्रियावोंसे भी अलग हों और अपने को ज्ञानस्वरूप अनुभव करें, ऐसे ही पौरुषमे इस जीवका कल्याण है।

धनधान्यकोशनिचयाः सर्वे जीवस्य सुखकृतः संति ।
भाग्येनेति विदित्वा विदुषा न विधीयते खेदः ॥३६६॥

(६४) सुखसमृद्धि घटनावोंको दैवकृत जाननेसे ज्ञानियोंके खेदका अभाव—लोकमें जितने भी धन-धान्य खजाने आदिक पदार्थ हैं, जिनको लोग सुखदायक मानते हैं वे सब भाग्य अनुकूल रहनेपर ही सुखदायक हैं । यदि दैव प्रतिकूल हो जाय तो वह सुखदायक सम्पत्ति भी दुःखदायी हो जाती है । बड़े-बड़े महापुरुषोंके अनेक ऐसे चरित्र सुने गए कि उनकी सम्पत्तियाँ ही, उनका बड़प्पन ही उनके लिए क्लेशका कारण बन गया । तो जब पुण्य अनुकूल है तो उस दैवकी अनुकूलतामें इस जीवको सुख साधन मिलते हैं और जब पुण्य नहीं रहता, पापका उदय चलने लगता है तो वे सब दुःखके कारण बन जाते हैं । ज्ञानी जन इस रहस्यको भली-भांति जानते हैं इस कारण वे सुख और दुःखको दैवाधीन ही समझकर उसका रंच भी खेद नहीं करते । उन्हें यह स्पष्ट भान है कि मैं ज्ञानज्योति स्वरूप हूं । मेरी वृत्ति, मेरी अवस्थायें, मेरा परिणमन केवल जाननरूप रहना है । अन्य मेरी वृत्ति नहीं है । जो कुछ भी परिणतियाँ आती हैं, रागद्वेष सुख दुःख आदिक भाव होते हैं वह सब दैवकी छाया है, वह परतत्त्व है, उसका क्या खेद करना । आया है तो उसका ज्ञाता ही मात्र रहना योग्य है, सो विवेकी जन उन सब घटनावोंमें ज्ञाताद्रष्टा ही रहते हैं, उनमें रंच मात्र भी हर्ष विषाद नहीं किया करते हैं और ऐसी ही वृत्तिसे इस जीवका कल्याण है ।

दैवायत्तं सर्वं जीवस्य सुखासुखं त्रिलोकेऽपि ।
बुद्धवेति शुद्धधिषणाः कुर्वंति मनः क्षतिं नात्र ॥३६७॥

(६५) सकल सुखासुखकी दैवकृतता जाननेसे ज्ञानीके खेदका अभाव—इस लोकमें जीवोंके सुख दुःख सभी कुछ दैवके आधीन ही तो हैं । वास्तविक बात यह है कि जो भी विचित्र विसम परिणमन हैं, जो किसी पदार्थके स्वभावके समान नहीं हैं वे परिणमन औपाधिक ही होते हैं । अन्य पदार्थ उपाधिके मिले बिना ऐसे परिणमन नहीं हो पाते हैं । तो जीव तो ज्ञानानन्दस्वरूप है । उसका वास्तविक प्रवर्तन तो जाननहार रहना, निराकुल रहना, परम आल्हादमें रहना है । यह तो मेरे स्वभावके समान प्रवर्तन है । यह तो निरुपाधि प्रवर्तन है, पर ऐसा तो इस समय हो नहीं रहा । इस जीवमें सुख दुःख इष्ट अनिष्ट आदिक नाना परिणमन चल रहे हैं तो वे सब विचित्र हैं, विसम हैं, विकृत हैं, वे दैवके प्रभावसे ही होते हैं अन्यसे नहीं होते । यहां एक तथ्य और जानना कि बहुतसे लोग ऐसा समझते हैं कि जगतमें दिखने वाले इन पदार्थोंसे सुख और दुःख आया करते हैं और ये बाह्य पदार्थ सब

इस जीवके सुख दुःखमें निमित्त होते हैं, पर वास्तविकता यह नहीं है। जीवके सुख दुःख में निमित्त कारण तो जीव द्वारा उपार्जित कर्मका उदय ही है। उस उदयकालमें जीव विकृत परिणामसे हो रहा है उस समय उपयोगमें जो भी इष्ट अनिष्ट पदार्थ उपयोगमें आ रहे हैं वे पदार्थ उस सुख दुःख आदिक विकारके आश्रयभूत कारण कहे जाते हैं, निमित्त कारण नहीं, इस कारण यह निर्णय रखना कि सुख दुःख अन्य पदार्थोंसे नहीं होते किन्तु दैवके विपाकसे होते हैं। ऐसा जानकर शुद्धबुद्धि वाले पुरुष कभी अपने मनमें शान्तिका भंग नहीं करते हैं। यथार्थता जानकर कि ये सब विकार दैवकृत हैं, इनमें मेरा स्वामित्व नहीं है, मैं तो ज्ञानानंद स्वरूप पदार्थ हूं। केवल जाननहार रहना, लोभरहित रहना यह ही उसका वास्तविक प्रवर्तन है। इस तथ्यको जाननेके कारण ज्ञानी पुरुष शुद्ध बुद्धि वाले भव्यात्मा अपने मनमें शान्तिका भंग नहीं करते, किन्तु यथार्थ ज्ञाता और शान्त रहा करते हैं।

दातुं हर्तुं किंचित्सुखासुखं नेह कोऽपि शक्नोति।
त्यक्त्वा कर्म पुराकृतमिति मत्वा नाशुभं कृत्य ॥३६८॥

(६६) कर्मातिरिक्त अन्य पदार्थोंसे सुखासुखकी अनिष्पत्ति जानकर ज्ञानीके अशुभ क्रियाका परित्याग—इस छंदमें यह कह रहे हैं कि पूर्वमें किए गए कर्मोंको छोड़कर न तो कोई इस जीवको सुख ही दे सकता, न कोई दुःख ही मेट सकता, ऐसा विचारकर बुद्धिमानों को सदा अशुभकर्म न करना चाहिये। जगतमें जो कुछ भी जीवोंपर यह लदा हुआ चला आ रहा है, शरीर लदा है, विकार लदे हैं, सुख दुःखके भाव लदे हैं, जो कुछ भी इस जीवमें विकृतियाँ आयी हैं वे सब कर्मका निमित्त पाकर आई हैं। यहाँ यह बात खास करके समझनी है कि जिसे समयसारमें बंधाधिकारमें समझाया गया है। मूढ़ लोग ऐसी श्रद्धा रखते हैं कि मुझको जगतके इन पदार्थोंके निमित्तसे सुख दुःख रागद्वेषादिक संकट आया करते हैं, पर वास्तविकता यह नहीं है। जीवके सुख दुःख रागद्वेषादिक विकारके कर्मविपाकके अतिरिक्त अन्य कोई निमित्त नहीं होता। इन बाह्य पदार्थोंको लोग निमित्त शब्दसे कहने लगे, पर ये वस्तुतः आश्रयभूत कारण हैं। जो निमित्तका मंडन करते न उनका यह ध्यान है, जो निमित्त का खण्डन करते न उनको यह ध्यान है। ये बाह्य पदार्थ, ये इन्द्रियके विषयभूत पदार्थ ये जीवके विकारमें निमित्त नहीं, किन्तु आश्रयभूत कारण हैं। निमित्तनैमित्तिकता अप्रतिहत है, और रोज-रोज देखते हैं कि रसोई बनती है तो जब आग जलती है तब रोटी सिकती है। सब काम ढंगसे चलता है। बेढंगा काम कभी नहीं बनता कि रोज रोज तो रोटी आगसे सिकती थीं आज धूल या पानीसे सिक जायें। ऐसी विचित्र बात नहीं देखी गई। जो बात जिस ढंगसे है, जिस निमित्तको पाकर जिस उपादानमें जैसी परिणति हुआ करती है उसके

ढंगसे सब कुछ हो रहा है। तो यहाँ जीवके विकार और जीवके सुख दुःखके प्रसंगमें यह जानें कि इस जीवके द्वारा जो पूर्वोपार्जित कर्म है उसका विपाक निमित्त है, उस निमित्त-नैमित्तिकताका भंग नहीं हो सकता। जिस जीवके [जिस प्रकारके शुभ अशुभ कर्मका उदय है उस जीवके उस प्रकार शुभ अशुभ घटनायें आती हैं। ये घटनायें बाह्य पदार्थसे नहीं आयीं। यह दृष्टि दिलानेके लिए इस दैव निरूपणमें दैवकी निमित्तनैमित्तिकता बतला रहे हैं।

(६७) आश्रयभूत कारणको व्यक्त विकारमें प्रयोजकता—समयसारमें बताया है कि जो यों कल्पनायें करता है कि मुझको अमुक मित्रने सुख दिया, अमुक शत्रुने दुःख दिया तो ये सब कल्पनायें अनर्थक्रियाकारी हैं मायने ऐसा सोचनेसे न यह बात बनती है और न उन बाह्य पुरुषोंके द्वारा यह बात की जाती है। यदि जीवन होता है तो आयुके उदयसे ही होता है। वहाँ आयुका उदय निमित्त कारण है। जीवका मरण होता है तो वहाँ आयुके क्षयसे ही होता है। आयुका क्षय वहाँ निमित्त कारण है। जिस जीवके सुख होता है उसके साताके उदयसे ही होता है, अन्य जीवादिकसे नहीं होता। तो वहाँ साताका उदय निमित्त कारण है। जिस जीवके दुःख होता है उसके असाताके उदयसे ही होता है, अन्य जीवोंके कारण नहीं होता। इस विषयको समयसारके बंधाधिकारमें बड़े विस्तारपूर्वक समझाया गया है और यह इसलिए समझाया गया कि जो निमित्त कारण हैं ही नहीं उन्हें निमित्तनैमित्तिक मानकर क्यों व्यर्थमें कल्पनायें बढ़ाना? इस दृश्यमान जगतके पदार्थ जीवके रागद्वेष सुख दुःख आदिकमें निमित्त कारण नहीं है, केवल आश्रयभूत कारण हैं। तो बात यों गुजरती है कि जब जीवके उस प्रकारके कर्म का विपाक होता है तो उस प्रकारके भाव होनेमें यह उपयोग जिस बाह्य पदार्थका आलम्बन लेता है, जिस बाह्य पदार्थको विषय करता है, जिससे अनुकूलता विचारता है वह बाह्य पदार्थ आश्रयभूत कारण कहलाता है। इसीको बताया है—वत्थुं पडुच्च जं पुण आदिक गाथामें कि 'नहि बाह्य वस्तु अनाश्रित्य अध्यवसानं आत्मानं लभते।' बाह्य वस्तुका आश्रय किए बिना अध्यवसान अपने स्वरूपको प्रकट प्राप्त नहीं होता। मायने आश्रयभूत कारण बननेपर जिसे कहो आरोपित कारण, बताया गया कारण, जिन आश्रयभूत कारणोंके होनेपर जीव विकार करता है तो वह विकारका आश्रयभूत बना। कर्म का उदय होनेपर जीवमें विकार जगता है, मगर आश्रयभूत मिल जाय तो वह विकार व्यक्त हो जाता है और आश्रयभूत न मिले तो वह विकार अव्यक्त खिर जाता है। जैसे ये क्रोध, मान, माया व लोभ आदिक कषायोंके उदय चल ही रहे हैं, चाहे कोई पूजामें खड़ा हो, सामायिकमें बैठा हो, चाहे परमात्माका ध्यान कर रहा हो तो भी वहां क्रोध, मान, माया, लोभादिकका उदय चल रहा है और उसके अनुभागकी छाया पड़ रही है और उस प्रकारका

वहाँ विकार जग रहा मगर व्यक्त नही हो रहा, अव्यक्त चल रहा क्योंकि उस समयमें उस कषायके आश्रयभूतमें उपयोग नहीं दिया है। यहाँ शुद्ध तत्त्वमें ध्यान जमाया है।

(६८) **विषम विकृत परिणमनोंकी औपाधिकताका नियम**—यहाँ यह बतलाया जा रहा कि जगतमें जितनी विषमतायें हो रही हैं, जो भी विकार विभाव परिणमन चल रहे हैं वे सब स्वभावसे नहीं होते। यद्यपि प्रत्येक वस्तुका परिणमन उसका उस ही में होता है। कोई पदार्थ दूसरेका परिणमन नहीं किया करता। यह है वस्तुस्वातंत्र्य, वस्तुस्वातंत्र्यका अर्थ इतना है कि प्रत्येक वस्तुका परिणमन उस ही वस्तुके परिणमनसे होता है अन्य वस्तु की परिणतिसे नहीं होता। यह है स्वातंत्र्य। तो विकार होते समय भी वस्तुस्वातंत्र्य बराबर बना हुआ है। वह किस प्रकार बना हुआ है कि जैसे मानो क्रोध प्रकृतिका उदय आ रहा है तो क्रोध प्रकृतिका उदय आनेपर जीवमें क्रोधका अनुभाग प्रतिफलित हुआ और उस समय यह जीव अपनी सुध छोड़कर उस अनुभागको अपनाने लगा और एकदम विकाररूप परिणमने लगा। तो उस समय कर्म पुद्गलने जीवको क्रोधोपयोगरूपसे नहीं परिणमाया। यह जीव ही क्रोधोपयोग रूपसे उपयुक्त हुआ है। यह तो वस्तुस्वातंत्र्य है और यह निमित्त-नैमित्तिक योग है कि जीव अपने स्वभावके अनुरूप परिणमन न करे, जो विकार रूप परिणमन कर रहा है वह उस क्रोधप्रकृतिके विपाकका निमित्त पाकर ही कर रहा है। बाह्य उपाधिका संग पाये बिना विकार कभी हो ही नहीं सकता है।

(६९) **निमित्तनैमित्तिकताके परिचयका प्रथम लाभ इन्द्रियविषयोंसे व्यामोहका अभाव**—निमित्त नैमित्तिक भावके परिचय करनेके दो प्रयोजन सिद्ध हुए। एक तो यह होता है कि जो विषयोंका व्यामोह कर रखा है और यह मान रखा है कि ये बाह्यपदार्थ मेरे रागद्वेष सुख दुःखके निमित्त हैं, यह मान्यता हट जाती है। ये निमित्त नहीं है किन्तु उस ही विकाररूप परिणमता हुआ यह जीव इन बाह्य पदार्थोंको उपयोगमें लेता हुआ और विषयभूत बनाता हुआ अपने विकारको प्रकट करता रहता है। ये आश्रयभूत कारण हैं। हम इन आश्रयभूत पदार्थोंका परिहार करें, यहाँसे विकार हटायें, अपने आपके स्वरूपकी ओर शुद्ध आत्मानुभूतिकी ओर जो शुद्ध आत्मारूप परिणम रहे हैं उनके गुणोंके स्मरणकी ओर अपने उपयोगको चलायें तो हम इन संकटोंसे बच जायेंगे। पर जो कर्मप्रकृति उदयमें आयी है वह अपना विकार बनाकर जायगी। हाँ वहाँ अव्यक्त विकार बनेगा। अध्यात्मशास्त्रमें अव्यक्त विकारकी चर्चा नहीं चला करती है। यह तो करणानुयोग बतलाता है। यह सूक्ष्म बात है। अध्यात्मग्रन्थ केवल बुद्धिपूर्वक बातोंका वर्णन करते हैं—अबुद्धिपूर्वकका कथन अध्यात्मशास्त्रोंमें नहीं होता, इसी कारण जहाँ यह कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टिके

आश्रव नहीं है तो उसका अर्थ यह है कि बुद्धिपूर्वक आश्रव भावनाका अभिप्राय न होनेसे तत्कृत बंध और आश्रव नहीं है परन्तु इस मिथ्या आशयके बिना जो अन्य प्रकारके क्षोभ आदिक परिणाम चल रहे हैं तन्निमित्तक आश्रव बंध चल रहा है इसकी चर्चा उस प्रकरण में नहीं की जाती। तो यहाँ यह बतला रहे हैं कि जीवके जो भी सुख हो रहा है वह किसी दूसरेके द्वारा नहीं हो रहा है। जो किसी बंधुको सुखदायी मानकर उसका मोह करनेमें लग जाय कि यह मेरेको सुख प्रदान करता है, यह मेरा बड़ा प्यारा है, यहाँ तो जो लोग जो भी चेष्टायें करते हैं वे अपनी सुख शान्तिके लिए किया करते हैं, वस्तुतः दूसरेके लिए नहीं करते। माता पुत्रसे प्रेम करती है मगर पुत्ररूप जो दूसरा पदार्थ है उसके लिए कुछ नहीं करती, किन्तु उसका आश्रय करके अपने आपमें कल्पनायें बनाती है। यह मेरा पुत्र है यह बड़ा ठीक है, मेरा ही तो है, इससे मेरेको बड़ा सुख उत्पन्न होता है। कुछसे भी कुछ कल्पनायें बनाये, वह माता कल्पनायें बनाती है और अपनी कल्पनासे वास्तवमें राग रखती है। बाह्य वस्तुसे राग करनेका सामर्थ्य किसीमें है ही नहीं।

(७०) **निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयके प्रथम लाभकी विवृतिका समर्थन**——कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमें अपनी परिणति नहीं कर पाता, मगर जो भी विकृत होता है उस में परसंग ही निमित्त होता है। वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्। क्या कि तस्मिन्निमित्तं परसंग एवं जितने भी विकार जगते हैं उसमें निमित्त यह स्वयं नहीं होता। यदि स्वके विकारमें स्व ही निमित्त हो जाय तो वह विकार विकार न कहलायगा, स्वभाव बन जायगा और उसका नित्य कर्ता हो जायगा। वह कभी मिट ही नहीं सकता। तो आगम में जो भी वर्णन है उन सब वर्णनोंसे हमें लाभ उठाना चाहिए निमित्तनैमित्तिकताके तथ्यके वर्णनसे। आचार्योंके ग्रन्थ करीब-करीब जितने हैं उनमेंसे आधेसे अधिक ग्रन्थ कर्मग्रन्थ हैं। धवला ग्रन्थ जो सर्व प्रथम इस पंचम कालमें रचा गया है वह सब इन्हीं सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करने वाला है। उनसे हम क्या शिक्षा लें कि जीवमें जितने भी बिकार जगते हैं वह पूर्वकृत कर्मके उदयका निमित्त पाकर जगते हैं। इनके जगाने वाला कोई दूसरा मित्र, शत्रु, बंधु, भाई, भतीजा, पुरुष कोई नहीं है। ये केवल आश्रयभूत बन जाया करते हैं प्रकट विकार होनेके लिए इसलिए उनमें रागद्वेष न करना। कहाँ राग करें, कौन मुझे सुख देने वाला है? जो सुख होता है वह हमारे पूर्वार्जित कर्मके उदयसे होता है ऐसा ध्यान रखनेमें इस जीवने बाह्य पदार्थसे व्यामोह हटा लिया। कौन मुझे दुःख दे सकता है, मेरे पूर्व उपार्जित कर्मके उदय से यहाँ दुःखरूप अनुभव जगता है। दूसरा कोई मुझे दुःखी नहीं करता, इस कारण जगतमें कोई भी दूसरा जीव मेरा शत्रु नहीं है। किस पर मैं विरोध करूँ किसे मैं बैरी कहूं? यह

अज्ञान है कि जब कोई जरा भी अपने विचारके प्रतिकूल विचार वाला समझता है किसीको तो वह अनिष्ट जचने लगता है, यह उसके पापका उदय है। और वह अपने इस पापके उदय में फिर दुःख भोगता है। पर यह जानें कि जब कहीं कोई शत्रु मेरेपर आक्रमण भी कर रहा हो, खोटे वचन बोलनेकी बात तो दूर रहो, वह तो केवल बाहरी बात है, आक्रमण भी कर रहा हो तो भी मेरेको जो कष्ट हुआ है तो मेरे द्वारा अर्जित पूर्व असाता कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुआ है। उस समयमें यह जीव आश्रयभूत कारण बन गया। तो जो साक्षात् आक्रमण करता हो उसपर भी हममें यह दुर्बुद्धि न रहना चाहिए कि यह मेरेको कष्ट देने वाला है, फिर हम रोज रोजकी चर्या व्यवहारमें जरा जरा सी बात अपने मनके प्रतिकूल निरखने वालेपर हम उसे अनिष्ट मान लें, उसे गैर मान लें, उससे बैर करने लगें, विरोध रखने लगें तो यह तो महान मोह अज्ञानका आक्रमण समझियेगा। यहाँ यह बतलाया जा रहा कि जो मुझमें विषम परिणाम हो रहा वह मेरे स्वभावसे नहीं हो रहा। हो रहा मेरा परिणमन मेरा ऐसा परिणमन निमित्त पाये बिना नहीं होता। जब कभी लोग संदेह करते हैं तो बाहरी परपदार्थोंका निमित्त नाम धर धर कर संदेह उठाते हैं। जिन पदार्थोंके साथ विकारका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध हो, वे ही बाह्य पदार्थ निमित्त कहलाते। हाँ उपयोगके आश्रयभूत होनेपर चूंकि विकार जगा, बढ़ा, व्यक्त हुआ अतएव वह आश्रयभूत कारण कहलाता है।

(७१) **वास्तविक निमित्त कारण व आरोपित कारणका विवेक**—लोक भाषामें और ग्रन्थोंमें वास्तविक निमित्तको भी निमित्त शब्दसे कहा गया है और आश्रयभूत कारण का भी निमित्त शब्दसे कहा गया है मगर वहाँ यह विवेक होना चाहिए कि यह वास्तविक निमित्त है, और यह आरोपित निमित्त है अर्थात् आश्रयभूत कारण है। यों तो हर जगह विवेक रखना है। गाय, भैंस, बकरी आदिके दूधको भी दूध कहते हैं और आक (अकौवा) के दूधको भी दूध कहते हैं पर आपके यह विवेक बराबर बना रहता है कि गाय भैंस आदिक का दूध तो प्राणपोषक होता है और आकका दूध प्राणघातक होता है। यदि कोई एक छटांक आकका दूध पी ले तो उसके प्राण नहीं टिक सकते। तो जैसे वहाँ विवेक बना है ऐसे ही बुद्धिमान पुरुष सर्वत्र सावधानी रखते हैं जीवविकारका निमित्त कहने पर कि जो कर्मका उदय है वह तो है वास्तविक निमित्त जिसका कि नैमित्तिकके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है और बाकी इन्द्रिय और मनके विषयभूत जो बाह्य पदार्थ हैं वे सब आरोपित कारण हैं, आश्रयभूत कारण हैं, निमित्त नहीं हैं। निमित्तनैमित्तिकविधि अप्रतिहत है, उसका भंग नहीं हो पाता। वैज्ञानिक विधिमें सब जगह आप यही पायेंगे। यह शरीरकी विचित्रता जो दृष्टिगत हो रही है कैसे-कैसे पशु, कैसे-कैसे पक्षी, कैसे-कैसे कीट पतिंगे, कैसा

कैसा उनका रूप रंग, आकार। तो यह सब शरीरकी विचित्रता कैसे हुई ? यह विचित्रता दैवकृत है, अर्थात् जिस जीवके जिस प्रकारके नामकर्मका विपाक है उसका उस प्रकार शरीर परमाणुवोंमें उस-उस ढंगकी रचना चली है। जितने भी दृश्यमान पदार्थ हैं वे सब कोई आज दैवनिमित्तक हैं तो कोई कभी। जैसे ये दरी चौकी पत्थर आदिक जो कुछ भी नजर आ रहे पुस्तक वगैरह ये सब जीवके शरीर थे। स्थावर जीव थे। जब ये शरीर थे तो वे इस कर्मके उदयसे निर्मित थे, वहीं आज कुछ यह शक्ल बनी हुई है। तो ये सब विचित्रतायें दैवकृत हैं। इनको निरख करके हर्ष विषाद न करना चाहिए। यह विवेकी उन्हें अन्यके खातेमें डाल देता है कि ये औपाधिक हैं, मेरे स्वभावकी चीज नहीं हैं।

(७२) निमित्त और आश्रयभूत कारणके विवेकीके चरणानुयोगप्रक्रियाका आदर—निमित्तनैमित्तिक विधिका सत्य परिचय करनेसे एक लाभ तो यह है कि वह इन्द्रिय मनके विषयभूत पदार्थोंको निमित्त नही मानना, यह आश्रयभूत मानता और इसी कारण चरणानुयोगमें इन बाह्य पदार्थोंके त्यागका विधान बताया है कि आश्रयभूत कारणोंको आप छोड़ दीजिए। थोड़ा अपने भाव बनाइये और उस भाव पूर्वक उनको छोड़िये। कभी कभी तो यह देखा जाता कि आप अपने भावोंमें कुछ बढ़ चढ़ गए, वैराग्य भी आ गया कुछ मन भी ऊब गया इन विषयभूत पर पदार्थोंमें आपका मन नहीं लगता, मगर ये ही पदार्थ जब अपने सुन्दर सीधे अनेक रूपोंमें सामने आते हैं तो आपका वह पाया हुआ छोटा मोटा वैराग्य मालूम होता है और आप रागभावमें आने लगते हैं। ऐसी घटना आप प्रायः रोज पाते हैं इसी कारण इन आश्रयभूत पदार्थोंके परिहारका उपदेश चरणानुयोगमें बताया गया है। एक तो यह लाभ कि आप उस बाह्य पदार्थमें व्यामुग्ध न रहेंगे निमित्त नैमित्तिक भावके परिज्ञयका, क्योंकि इन बाह्य पदार्थोंके साथ उसके विकारका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है किन्तु यहाँ आश्रय और आश्रयी सम्बन्ध है जो कि कल्पनासे बनाया गया है। तो इन पदार्थोंमें आपको राग द्वेष न जगेगा। इष्ट अनिष्ट बुद्धि न जगेगी। इन बाह्य पदार्थोंके कारण आपके चित्तमें आग्रह न चलेगा, एक लाभ तो यह होगा।

(७३) निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयका द्वितीय लाभ सुगमतया स्वभावदृष्टि—निमित्तनैमित्तिकताके परिचयका दूसरा लाभ यह है कि रागद्वेष सुख दुःख आदिक परिणामों से आपको सहज वैराग्य जगेगा, क्योंकि जिस समय आपने जाना कि ये रागद्वेष सुख दुःख आदिक भाव औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं तो यह जानकारी उसको ही हुआ करती है जो अपने स्वभावका परिचय पाये हो। वही तो जान सकेगा कि यह औपाधिक है, याने मेरा स्वरूप नहीं है। मेरे स्वभावसे उठा हुआ नहीं है। तो निमित्त नैमित्तिकके परिचयसे स्व-

भावसे उठा हुआ नहीं है । तो निमित्त नैमित्तिकके परिचयसे स्वभावदृष्टि होना बहुत सुगम है । यह मैं हूं ही नहीं, यह औपाधिक है, औपाधिक मायाके रुचिया परसमय कहलाते हैं । यह मेरा स्वरूप नहीं है । मैं वह हूं जो अपने परसत्त्वके कारण सहज ही अपने आपमें शक्ति स्वरूप हूं । मैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र हूं, जिसकी वृत्ति मात्र जानन है और परम आल्हाद जहाँ आकुलताका रंग लपेट रंच भी नहीं होता । केवल जाननहार यह वृत्ति मेरे कुलकी बात है, स्वभाववृत्ति है । इसमें रागद्वेषका रंग लगा है, क्योंकि जो हम जानते हैं वह कल्पनाके रूपमें उठकर जानते हैं और उस कल्पनाके रूपके साथ रागद्वेष मिश्रित रहता है । तो इस जाननप्रकाशमें जो रागद्वेषका मिश्रण है यह रागद्वेष कर्म अनुभागकी छायारूप है । इसे यहांसे हटा दीजिए । अपने उपयोग द्वारा इन वर्तमान भावोंमें से इस रागरंगको औपाधिक जानकर हटा दीजिए और केवल एक जानन वृत्तिको ही उपयोगमें रखिये । यह ही साधना तो बनाना है । यह साधना निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयसे बड़ी सुगम बन जाती है स्वभावदृष्टि होनेके लिये । जहाँ गंदे पानीमें यह जाना कि यह जो गंदगी है यह कीचड़ की गंदगी है, ऐसा जानने वालेकी जलके स्वरूपका, स्वभावका परिचय है । यदि जलके स्वभावका परिचय उसे नहीं है तो वह कीचड़की गंदगी है ऐसा बोध कर ही नहीं सकता । इसी प्रकार यह नैमित्तिक है यह बोध उन्हीं ज्ञानी संत पुरुषोंके बनता है जिनको अपने स्वभावका सुदृढ़ परिचय है उनमें ये रंग सम्भव ही नहीं हैं कि मेरे स्वभावमें ये राग रंग आ जायें । तो जितनी भी विषमता है वह मुझे न चाहिए । वह सब विषमता दैवकृत है । मेरे स्वभावसे उत्पन्न हुई नहीं है । मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हूं ।

(७४) **दैवनिरूपणके प्रकरणसे प्राप्तव्य शिक्षा**—यहाँ जो परिचय इस दैवनिरूपण में बताया जा रहा है, इससे सीधी तो यह शिक्षा लेना कि मेरेको सुख दुःख देने वाला जगतका कोई भी बाहरी पदार्थ नहीं है । मात्र भाग्योदय ही निमित्त है । तो यहाँ यदि इन बाह्य पदार्थोंसे सुख दुःख होता है, यह कोई मान ले तो वह और भी उलझनमें पड़ जाता है । हटाना तो दूर रहो, उसकी उलझनें बढ़ती हैं, अज्ञान बढ़ता है, लगाव बढ़ता है और यदि कोई इन रागद्वेष सुख दुःख आदिक विकारोंको नैमित्तिक नहीं मान पाता तो वह अपना मान बैठता है । मेरी कलासे हुआ है, मेरी ही चीज है, मैं क्यों छोड़ूं, यह तो मेरा ही ठाठ है, मेरी ही बात है । वह वहाँ स्वभावरूप मानकर उसमें बह जायगा, इस कारण वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक योग इन दोनोंका भले प्रकार परिचय करना क्योंकि जगतमें हम आप आज यहाँ आये हैं, इन समागमोंके बीच हैं, घर गृहस्थी मकान नगर आदिक जिनकी जैसी-जैसी घटनायें हैं उनके बीच रह रहे हैं और अपने पूर्वोपार्जित कर्मोंके

अनुसार जन्म मरण करते चले आये हैं। आज सुयोग मिला, सुबुद्धि मिली, हम तथ्यका परिचय पा सकते हैं, अपने आत्मस्वरूपका भान कर सकते हैं। तो जैसे अपने आपकी करुणा बने, अपने आपका उद्धार बने वह काम बना लिया जायगा, अन्य कामोंके जितने उपदेश हैं हैं वे सब उपदेश आत्मकल्याणका कार्य बनानेके प्रयोजनसे ही कहे गए हैं। तो उन सबका हम उपयोग इस प्रकार लें कि उनका वाच्य अर्थ उस प्रकारकी पद्धतिसे लायें कि जिससे हम बाह्य पदार्थोंसे उपेक्षा करके विकारोंसे उपेक्षा करके अपने शाश्वत ज्ञानानन्दस्वभावमें उपयोगको ले जा सकें, बस इसमें ही आत्माका कल्याण है।

नरवर सुरवर विद्याधरेषु लोके न दृश्यते कोऽपि।
शक्नोति यो निषेद्धुं भानोरिव कर्मणामुदयः ॥३६९॥

(७५) कर्मोदयके निवारणकी अशक्यता—जैसे जब सूर्यका उदय होता है तो उसको संसारमें कोई रोकनेके लिए समर्थ नहीं है। उदयकालमें उदित होता है। उसे मनुष्य, देव आदिक कोई नहीं रोक सकता, उसका प्रकट होना अवश्यंभावी है। इसी प्रकार इस दैवका भाग्य उदयमें आना और शुभ अशुभ फल देना भी अवश्यंभावी है। इसे भी कोई रोक नहीं सकता, यह एक संतति अनादिसे चली आयी है। जीवके विकार परिणामका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणावोंमें कर्मत्व आया और उस कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें विकारभाव आया। यह संतति अनादिसे इस जीवके साथ चली आयी है। इसी बीच कभी किसीके ऐसा योग बन जाता है कि किसी समय मंद अनुभाग वाले निषेक उदयमें रहते हैं, तो जैसे जब कभी नदीका बेग कम हो जाता तो वहाँ उस नदीको पार कर लिया जाता है ऐसे ही जिस जीवके कर्मभार अनुभाग मंद होनेका समय होता है उस समय जीवको अवकाश मिलता है कि कुछ पौरुष बनाये और आगे प्रगतिकी धारा बना सके। एक प्रश्न होता है कि इस जीवने अनन्त काल क्यों व्यतीत किया? जब जीवके आधीन बात है कि अपने पुरुषार्थको संभाले तो पार हो जाय तो इसने कभी ऐसा पुरुषार्थ संभाला क्यों नहीं और उसका स्पष्ट प्रमाण है कि जो अब तक रुल रहे हैं, हम आप कभी अपने आपकी सुध नहीं संभाल सके। तो बात यह है कि थोड़ा ऐसा प्रसंग आता है कि यह अपने ज्ञानबलको संभाले तो कर्मोंमें परिवर्तन घटा बढ़ी उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमण निर्जरा गुणश्रेणी ये सब अपने आप चलने लगते हैं, पर अपने आपको संभालें कैसे? तो उसका निमित्त है कर्मोंका ७ प्रकृतियोंका उपशम क्षय, क्षयोपशम, वह भी कैसे होवे? तो उसका कारण है कि यह मनुष्य स्वाध्याय, ध्यान, सत्संग आदिक बातोंका प्रयास करे, और यह भी कैसे मिले? तो प्रश्नमें प्रश्न उठा ले जायें, अन्तमें यह उत्तर मिलता है कि सबसे प्रथम क्षयोपशमलब्धिसे जीवको प्रगतिका मौका मिल

पाता है।

(७६) **जीवकी प्रगतिका प्रथम अवसर क्षयोपशमलब्धि**—क्षयोपशम लब्धिका अर्थ यह है कि कोई भी समय मंद अनुपातमें अनुभागका उदय आये वह इस लब्धिका समय है। जैसे इस जीवने मानो अबसे लाख वर्ष पहले कर्म बाँधा था और वे कर्म जबसे जब तकके लिए बांधा उसके निषेक सब प्रति समय बँट गए। उसके बारेमें मानो कई अरबोंकी संख्या में परमाणु वर्ग बँधे तो पहले समयको मिलता है अधिक परमाणु, बादके समयको मिलता है कम परमाणु, ऐसा ऐसा अन्तिम समयमें मिलता है बिल्कुल कम कोई निषेक और शक्तिकी बात इससे उल्टी चलती है। जो पहले समयमें बहुत परमाणु मिले उदयके लिए उनमें शक्ति कम रहती है, अगले समयमें जो परमाण कम मिले उनमें शक्ति अधिक रहती है और अन्त समयके लिए जो परमाणु पुञ्ज बहुत कम बचे उनमें शक्ति सर्वाधिक रहती है, तो ऐसे प्रति समयके पूर्व समयके बांधे हुए परमाणु बँटे हुए हैं। आजके क्षणमें जितना उदय आ रहा है तो यह करोड़ों भव पहलेके अनगिनते समयोंके बाँधे हुए कर्मका जो समय प्राप्त है, विभागमें आया है उसका उदय चल रहा है। तो वह वर्तमान उदय जब मंद अनुभागमें पड़ जाता तो वह है जीवके पुरुषार्थ चलनेका पहला अवसर। तो यह बात होती है कर्मकी ओरसे ही। तब तक जीवका कुछ नहीं वश चल पाता। तभी तो अनादिसे चल रहा है बराबर और चलता ही रहा, तो सर्वप्रथम मौका मिलता प्रगतिका जीवको, तो क्षयोपशमलब्धिसे मंद अनुभाग वाले समयसे ही।

(७७) **प्राप्त सुअवसरमें प्रमादमें न करनेका अनुरोध**—भैया! प्रथमावसरकी इस चर्चामें क्या अधिक पड़ना? हम आपका तो सुनिश्चित ही है कि क्षयोपशमलब्धि मिल चुकी है और आज अच्छी स्थितिमें हैं, यहाँ हम प्रमाद करें तो हमारी भूल है। हम उस योग्य स्थितिमें हैं जहाँ एक अवसर मिलता है कि यह चाहे तो अपना उद्धार कर ले। उसके लिए पौरुष क्या है? ज्ञान सीखें, अध्ययन करें, पढ़ें, चर्चा करें। हर विधियोंसे अपनी ज्ञान भावना बढ़ायें तो इस पुरुषार्थके निमित्तसे कर्मोंमें मंदता, क्षीणता, हल्कापन ये होने लगते हैं। जो ७ प्रकृतियोके उपशम, क्षय, आदिक बताये तो कहीं एक ही समयमें सब कुछ हो गया। पहलेसे कुछ नहीं हो रहा था उन कर्मोंमें ऐसा नहीं। तो हमारा वर्तमान पौरुष भी चाहे सम्यक्त्व नहीं है, मिथ्यात्वकी स्थितिमें ही चल रहे हैं, पर मंद कषाय हो, कुछ उद्धार का परिणाम हो ऐसे मंद मिथ्यात्वमें, मंद कषायमें ये बातें आने लगती हैं। तो इस समयके इस पौरुषका निमित्त पाकर उन ७ प्रकृतियोंमें मंदता आने लगती है। उपशम, क्षय, क्षयोपशम तो न होगा मगर कुछ परिवर्तन होने लगता है और परिवर्तन होते होते जब विशुद्धि

देशना प्रायोग्यलब्धियोंसे गुजर कर करणलब्धि आती है तो यों ही वे कर्म पुञ्ज क्षीण हो होकर उस कालमें उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी स्थितिको प्राप्त होते हैं।

(७८) **सम्यक्त्वादि विकासकी स्वाभाविकता**—जिन कर्मोंके उदयमें मिथ्यात्व बन रहा था उन कर्मोंका उपशम आदिक होनेसे मिथ्यात्व समाप्त हो गया। अब विपरीत अभिप्राय नहीं बनता। तो इसका सम्यक्त्व होना अवश्यंभावी हो गया। वास्तविकता यह है कि उन ७ प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे विपरीत अभिप्राय दूर होता है। मिथ्यात्वका विनाश होता है। जो नैमित्तिक है उसका अभाव होता है। नैमित्तिक है मिथ्यात्व। सो उन ७ प्रकृतियोंके उपशम आदिकसे उस नैमित्तिक भावका, मिथ्यात्वका अभाव होता है, किन्तु वहाँ यह अवश्यंभावी हो गया कि मिथ्यात्वका विशेषतया अभाव हो तो सम्यक्त्व का विकास होता है। तो यों कहने लगे कि इन ७ के क्षय आदिकसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है। ७ के क्षय आदिकसे मिथ्यात्वपर्यायका अभाव होता है और उस स्थितिमें यह स्वाभाविक बात है कि सम्यक्त्वका विकास हो जाय। जो स्वाभाविक परिणतियाँ हैं वे नैमित्तिक हैं। नैमित्तिक तो नैमित्तिकका सद्भाव नैमित्तिकका अभाव हैं और यह स्वाभाविक पर्याय उस समयमें स्वयं ही होती है। अथवा यह वृत्ति तो हरदम विकासके लिए ही तत्पर रहती है। प्रतिबंधक मिथ्यात्व आदिक विभाव आते हैं तो ये विकसित नहीं होते। तो किसी खास स्थितिमें जहाँ तत्त्वज्ञान जगे, आत्माको संभाले, ऐसी विशेष ज्ञानप्रकाशकी स्थितिमें इन बद्ध कर्मोंमें संक्रमण प्राक् निक्षेप आदिक होने लगता है। बस एक इस विशिष्ट स्थितिको छोड़ कर शेष समयके इस दैवका निवारण करनेके लिए कोई समर्थ नहीं है। दूसरा तो समर्थ होता ही नहीं है। मेरे भाग्यको कोई दूसरा जीव परिवर्तित कर दे, वह निमित्त भी बन जाय सो ऐसा नहीं होता। तो दूसरा कोई भी इन्द्र हो, चक्री हो, महापुरुष हो वह भी इस दैव का निवारण करनेमें समर्थ नहीं है।

(७९) **निमित्तनैमित्तिकयोगके परिचयसे कायरता**—उक्त सब बात सुनकर कायरताकी बात नहीं जगाना है कि मैं क्या करूँ? यह सब दैवके आधीन है, दैवकृत बातें हैं। हम तो वहाँ विवश हैं, इन तथ्योंको जानकर यह बात लेना है कि ये कर्म, ये मेरे स्वभावभावके उपादानतया प्रतिबंधक नहीं हैं जो मैं यह कायर बनूँ कि भाग्य ही मुझे जैसा परिणमाता है सो होता है। भैया, दैव निमित्तमात्र है। परिणमाने वाला भी पदार्थ दूसरा नहीं हुआ करता। वस्तुस्वातंत्र्यका अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु अपनी ही परिणति क्रियासे परिणमती है, अन्यकी परिणति क्रियासे नहीं परिणमती है। वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है। तभी प्रत्येक पदार्थ आज सत्तामें मिल रहे हैं। यदि ये गड़बड़ियाँ चलती होतीं कि एक

पदार्थसे दूसरे पदार्थका परिणमन होता तो आज कुछ भी न मिलता। एक दूसरे रूप हो गया, वह दूसरे रूप बन गया, दूसरेका परिणमन करनेका अर्थ दूसरे रूप हो जाना है। तो यों अटपट कोई किसी रूप कोई किसी रूप हो जाता और यों विघटन होते होते जगत शून्य हो जाता। आज जो पदार्थ सत्त्वमें मिल रहे हैं वे इसके प्रमाण हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपनी ही परिणति क्रियासे परिणमते हैं। तब तक ही यह नियोग है कि अशुद्ध उपादान कर्मोदय का निमित्त पाकर विकाररूप परिणमता है। विकाररूप परिणमा यह जीव अकेला। कोई परिणमन दो क्रियावोंका मिलकर नहीं होता। तो विकार रूप यह जीव ही परिणमा उस कालमें, तो यह कहलाया वस्तु स्वातंत्र्य, पर ऐसा विकार रूप परिणमना परसंग पाये बिना नहीं होता। परसंगके सान्निध्यमें ही होता। यह कहलाया निमित्तनैमित्तिक योग। सो निमित्तनैमित्तिक योग जाननेसे अपनेमें कायरता दूर होती है। यह तो नैमित्तिक भाव है, निमित्त पाकर हुआ है। पर हुआ है उसकी ही परिणतिसे। अन्य वस्तुकी परिणतिसे नहीं हुआ है, इसलिए यह वस्तुस्वातंत्र्य बराबर बना है। खेदकी बात कहो या गम्भीर समस्या की बात कहो यह तब कहलाये जब कोई निमित्तभूत पदार्थ ही उपादानरूप परिणम जाय उपादानकी परिणति कर ले और उपादान स्वयं परिणम न रहा हो, केवल निमित्त ही परिणम रहा उस रूप, जिसको कि उपादानका विकार कहते हैं। यह बात होती तो एक बड़ी समस्या थी और मोक्षमार्गका उपाय नहीं बन सकता। पर वस्तुस्वातंत्र्य है, निमित्तनैमित्तिक योग होनेपर भी, इस कारण यहाँ दम है कि यह जीव कभी विकार पर्यायको छोड़कर स्वभावपर्यायमें भी आयगा।

(८०) **निमित्तनैमित्तिकयोगके परिचयसे अहंकार विकारका नाश**--निमित्त नैमित्तिक योगके सही परिचयसे अहंकार मिटता है, कायरता दूर होती है, अहंकार तो यों मिटता कि मैं कुछ करने वाला नहीं। यह कर्मोदयका निमित्त पाकर हो रहा है, कोई पुरुष समृद्ध हुआ, धनी बना, अनेक सुखसाधनोसे सम्पन्न बना तो यह अटपट काम नहीं हो गया, बराबर उस रूप साता आदिक प्रकृतियोंका उदय वहाँ चल रहा है और उसके अनुकूल ये बाह्य समागम मिल रहे हैं। निमित्तनैमित्तिक योगमें वस्तु पारतंत्र्यकी बात नहीं है, किन्तु वह योग जैसी बात है कि इस प्रकारके निमित्त सन्निधानमें उपादान इस रूप परिणम जाता है। जैसे कोई मनुष्य जा रहा है, सड़क पर प्रकाश है, गर्मी है, धूप है और सड़कके पास कोई पेड़ खड़ा है और उस पेड़की छाया जमीन पर नीचे पड़ रही है तो बतावो वह छाया जमीनकी है या उस पेड़की ? निश्चयसे पृथ्वी ही उस छायारूप परिणम रही है। वहाँसे कोई मनुष्य निकला तो वहाँ मनुष्यकी छाया जमीन पर पड़ गई। मनुष्य नहीं छायारूप परिणमा, परि-

णमा यह मनुष्यशरीर ही है और निमित्त पाये बिना इस प्रकार परिणमा नहीं, दोनों तथ्यों को जाननेसे वस्तुस्वभावका दृढ़ परिचय होता है और चाहना यह ही है कि मैं अपने स्वभाव में आऊँ, उतरूँ और उस ही में रम जाऊँ। तो यह ही शिक्षा इन सब घटनावोंसे, प्रसंगोंसे प्राप्त होती है।

(८१) उदयक्षणमें प्रकृतिविपाककी अनिवार्यता और उसके प्रतिपक्षमें ज्ञानीका पौरुष—इस छंदमें कह रहे हैं कि जो भाग्य उदयमें आ रहा उसके निवारणके लिए कोई समर्थ नहीं है। उदयक्षण एक समयका हुआ करता है। उदयावलि एक आवलीकी होती है। उदयावलिका अर्थ है कि उस जातिके निषेकोंका वहाँ निरन्तर उदय चलता रहेगा उस आवली में और उदयका यह अर्थ है कि इन निषेकोंका इस ही एक समयमें उदय मायने निकलना बन रहा है तो उदयक्षणमें वह दैव निवारा नहीं जा सकता। चाहे कैसा ही तत्त्वज्ञानी हो, महापुरुष हो, संयमी हो उसके तत्त्व ज्ञानके बलपर उदयावलिमें परिवर्तन हो जायगा। उदयावलि से पहले भी हो जायगा, पर उदयक्षणमें परिवर्तन नहीं हो पाता है। ऐसा ही वस्तुका नियोग है। ऐसा सूक्ष्मदृष्टिसे इसका अर्थ लगायें तो यों समझिये कि उदयक्षणमें आया हुआ दैव अनिवार्य है, उसे रोकनेके लिए कोई दूसरा समर्थ नहीं है। इतनी सारी बातें होकर भी हम आप को सन्मार्गमें लगनेके लिए अनेक पद्धतियाँ और अनेक अवसर हैं। उदयक्षणमें मत रुकें जो उदयमें आयगा, पर तत्त्वज्ञानी जीव ऐसा कर ही सकता है कि कषायके आश्रयभूत इन इन्द्रिय विषयोंमें उपयोग न लगाये, वह अपने सहज आत्मस्वरूपमें उपयोग लगाये, तो लो बच गया उस संकटसे। अब वह अव्यक्त होकर निकल गया विकार। वहाँ बंधकी विशेषता अब नहीं रही। तो आश्रयभूतका परिहार करें, एक तो यह हम आपका विजयके लिए बड़ा भारी साधन है। दूसरी बात हमारा काम है निज सहज अंतःस्वरूपकी धुन बनाना, उसे दृष्टिमें लेना, उसमें उपयुक्त होना, यह हम अपना कार्य करें। बाधायें आयेंगी, पर बाधायें आनेपर भी हम अपने कार्यकी धुन न छोड़ें। कैसा होता है, क्या होता है, कब होता है, ये कुछ भी शंकायें न बनायें, किन्तु एक ही निर्णय बनायें कि अपने जीवनमें अपना काम निज सहज आत्मस्वरूपको दृष्टिमें लेना है। वह सहज आत्मस्वरूप क्या है? आत्माका अपने ही सत्त्वके कारण सहज जो आत्माका लक्ष्य है, लक्षण है, शक्ति है, स्वभाव है वह आत्माका स्वरूप है। उसरूप अपने आपको प्रतीतिमें लें कि मैं यह हूं।

(८२) सहजात्मस्वरूपकी संभालमें सब संभाल—अब देखिये कितनी बातें दूर हो गईं। ये विकार मैं नहीं हूं। ये विचार मैं नहीं हूं। जरा भी रंग तरंग हो वह भी मैं नहीं हूं। जिसने अपने सहज आत्मस्वरूपको दृष्टिमें लिया है उसके उस ही के आत्मत्वका अनुभव

है, अन्यका अनुभव नही है। देखिये—जैसे अज्ञानदशामें निमित्त नैमित्तिक योगसे बुराई हो रही थी। वैसे अब ज्ञान दशामें निमित्त नैमित्तिक योगसे कर्मोंमें भगदड़ मचने लगती है। निमित्तनैमित्तिकयोग यहाँ पलट गया। अब किस पद्धतिसे बर्तने लगा। एक सहज आत्म-स्वरूपका ज्ञानप्रकाश मिले। उसके बाद इस ही की धुन बनाये और इस ही में अपने आप को रमाता रहे तो क्या होता, कैसे होता इसकी बातें कोई लोग बहुत पढ़ लिखकर जानते हैं वे ही बातें उस तत्त्वज्ञानीके प्रयोगमें अब सहज आती हैं। चाहे किसीने कोई विशेष विद्या का अध्ययन न भी किया हो पर इतना मनन तो होना ही चाहिए कि जिससे सहज आत्म-स्वरूपका ज्ञान प्रकाश पाये और उसके बाद उस ही की धुनमें लग जाय वही एक मात्र लक्ष्य रह जाय तो वे सब बातें इस पर बीतेंगी, जिनको गुणस्थानमें बताया है वे सब स्वयं होने लगेंगी। हमारा कर्तव्य तो अपने वास्तविक स्वरूपको जानना और उस रूप ही अपने को अनुभवना है, बस निमित्त नैमित्तिकता तो न मिटेगी पर उसका पलड़ा बदल जायगा। अब हमारे इस विशुद्ध परिणामका निमित्त पाकर उन कर्मोंमें निक्षेप आगाल, प्रत्यागाल, उनका संक्रमण उनका अनुभाग क्षीण हो, घात हो, जो कुछ उनमें दशा बनती है वह अब होने लगती है। तो हमारा कर्तव्य किसी अन्य वस्तुपर ध्यान देनेका नहीं है। उसपर दृष्टि लगानेका नहीं है। वह तो सब निर्णय अपना पौरुष संभालनेके लिए है। निर्णय करके अब अपने पौरुषको संभालनेमें ही अपने क्षण व्यतीत हों। वह संभाल है अपने को यथार्थ स्वरूप में जानें।

(८३) सहजात्मस्वरूपकी भावना—मैं अपने आप क्या हूं, स्वयं सत् हूं, सो अन्यके लेपसे रहित हूं। सत्त्वमे अन्यका लेप नहीं पड़ा है। सत्त्व कैवल्यको लिए हुए होता है। भले ही प्रसंग संग लेप उपाधियाँ ये सब बातें हों मगर सत्त्वमें स्वकी केवलता रहती है। कहीं दो का मिलकर एक सत् नहीं बनता। तो जब मैं सत् हूं। अपने आपके सत्की ओरसे मेरा स्वयं स्वरूप क्या है इस ओर दृष्टिपात होना चाहिये और इसीको खोजमें, इस ही के प्रकाशमें हमें अपना पौरुष बनाना चाहिए। हम असहयोग करके इस पौरुषको सफल बनायें असहयोगके मायने यह है कि स्वभावके अतिरिक्त जो कुछ भी गुजरता है, जो भी घटना, लेप, सम्बन्ध, बंधन दैव आदिक इन सबका सहयोग समाप्त कर दें, असहयोग आन्दोलन बनायें कि मुझे किसीसे कुछ प्रयोजन नहीं।

(८४) शरीररहित सहजविकासमय अवस्थाकी प्रतीक्ष्यता—ये प्राणी जितना दुःख पा रहे हैं वे अपनी परिणतिसे पा रहे, पर जरा आश्रय निमित्त बंधन आदिक घटनावोंको तो देखिये सारे क्लेश उस शरीरके सम्बन्धके कारण बन रहे हैं, न मेरेसे शरीर चिपका

होता तो भूख प्यास आदिककी व्याधियाँ कैसे मुझे सताती ? यदि यह शरीर साथ न लगा होता तो ये सम्मान, अपमान, इष्टवियोग अनिष्ट संयोग आदिक कैसे लग जाते ? इस अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मामें ये सम्मान अपमान आदिकके कष्ट नहीं आया करते। जब यह जीव शरीरपर दृष्टि दिए है मैं यह हूं और इसने मुझे ऐसा कह डाला, यह भी कुछ नहीं समझता और ये मुझे अनेक लोग देख रहे हैं, इनकी निगाहमें मेरा अपमान हो गया। ये सब बातें शरीरको निगाह करके उठायी जा रही हैं, तो हम आपके सारे कष्टोंका आधार यह शरीर बन रहा है। तब यह भावना बनायें कि मुझे शरीर ही न चाहिए। शरीर रहित मेरा स्वयंका स्वरूप है, बस वही स्वरूप मेरा बने। मुझे यह शरीर न चाहिए। यह शरीर अलग हो और आगे कोई शरीर न मिले मेरी ऐसी वाञ्छा है। इससे क्या नफा पाया जा रहा है ? नया शरीर मिला, जिन्दगीसे जिये, नाना कष्टोंको पाया। फिर मरे, फिर नया जीवन पाया, फिर मरे, फिर नया जीवन पाया और उस जीवनसे दुःख पाया। यह धारा क्यों बने मेरे को। यह शरीर ही मेरा न रहे। शरीररहित केवल ज्ञानमात्र आत्मा रहूं, बस यह ही भीतरमें धुन होनी चाहिए कि मुझको तो यही बनना है। सभी मनुष्य अपने अंतिम बनने की बात चित्तमें लाते हैं। तो हम आपमें यह ही बात आनी चाहिए कि मैं शरीररहित केवल अपने स्वरूपमात्र रह जाऊँ, इसके अतिरिक्त मुझे अन्य कुछ न चाहिये। यह भावना हो तो जो होनेका है कल्याणके लिए वह सब सहज होता रहेगा। अपना कल्याण तो अपने स्वरूपकी संभाल मात्र है।

दयितजनेन वियोगं संयोगं खलजनेन जीवानां।
सुखदुःखं च समस्तं विधिरेव निरंकुशः कुरुते ॥३७०॥

(८५) सांसारिक घटनाओंकी दैवकृतता—इस लोकमें इष्ट जनोंके साथ वियोग, अनिष्टजनोंके साथ संयोग और सुख दुःखकी प्राप्ति कराना आदिक सब बातें निर्भय रीतिसे प्रवर्तने वाले दैवकी कृपा है। दैव ही बिना किसी भयके इन सब बातोंको करता है। यहाँ बाह्य घटनावोंके साथ आत्मस्वरूपके असम्बन्धकी बात दर्शायी गई है। जितने ये सब बाह्य समागम घटनायें हो रही हैं ये सब औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, ये आत्माके स्वभाव रूप नहीं हैं और ऐसा प्रबल निमित्त नैमित्तिक योग है यहाँ कि इस इस प्रकारसे कर्मविपाक होने पर इस इस पदार्थमें इस इस प्रकारकी घटना हो जाती है।

(८६) कार्यकारणभावका दो पद्धतियोंसे निरूपण—कार्य कारण भाव दो प्रकारसे देखा जाता है। एक उपादानदृष्टिसे और एक घटनादृष्टिसे। उपादानदृष्टिसे तो स्वयंका स्वयंमें ही कार्यकारणभाव है। पूर्वावस्थासंयुक्त स्वद्रव्य उपादान कारण है और प्रवर्तने वाली नई

अवस्था यह कार्य है। एक ही द्रव्य अपनेमें कारणपने और कार्यपनेको अनुभवता हुआ अनादि से अनन्तकाल तक निरन्तर वर्तता रहता है। घटनादृष्टिसे यह बात घटती है कि जितने स्व-भावानुरूप कार्य हैं वे पर उपाधिका सम्बंध पाये बिना स्वयं ही अपने आपमें बर्तते रहते हैं। हां कालद्रव्य एक साधारण निमित्त है अतएव उसकी कथनी विशिष्ट नहीं की जाती। वह तो निरन्तर है ही। पर विकार परिणमन जितने होते हैं अर्थात् स्वभावके प्रतिकूल परिणमन वे समस्त परिणमन किसी बाह्य प्रसङ्गका सान्निध्य पाकर ही होते हैं, अन्य प्रकार नहीं हुआ करते। परिणमन सबका अपने आपमें है। यह तो है वस्तुकी स्वतंत्रता। और विकार परिणमनमें भी वस्तुस्वातन्त्र्यको अपने स्वचतुष्टयके स्वातन्त्र्यको नहीं छोड़ता है। निमित्त सान्निध्यमें भी उपादान मात्र अपनी ही परिणतिसे परिणमा है, दूसरेकी परिणतिको लेकर नहीं परिणमता है, ऐसा ही नियोग है और इस ही प्रकार विकारका उत्पाद चलता है अर्थात् जब घटनादृष्टिसे कार्य कारण भावका विचार करते हैं तो उन्हें कार्य कारण शब्दसे कहना या साध्य साधन शब्दसे कहना। साधन मायने कारण और साध्य मायने कार्य।

(८७) **ज्ञप्तिके साध्य साधनकी व्यवस्था**—देखिये—साधन व साध्य उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनोंमें होते हैं याने ज्ञप्तिमें भी साधन साध्य होता है। ज्ञप्ति मायने जानकारी। जैसे ऊपर धुवां उठता हुआ देखा तो उस धुवेंका ज्ञान करनेसे यह ज्ञान कर लिया गया कि इस मकानमें या इस पर्वतमें आग जल रही है। तो धुवांके ज्ञानसे अग्निका ज्ञान होना ये ज्ञप्तिके साध्य साधन कहलाते हैं। जिसे दर्शनशास्त्रमें कहा है—"साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।" साधनसे साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। तो ज्ञप्तिके साधनसे साध्यका ज्ञान होता है न कि उत्पाद हुआ है। ये जानकारीके साध्य साधन है। जब उत्पत्तिके साध्य साधनकी बात देखते हैं तो घटना दृष्टिमें उपादान निमित्त सभी प्रकारका परिचय किया जाता है। तो उत्पत्तिकी दृष्टिमें साधन है अग्नि और साध्य है धुवाँ। धुवांसे अग्नि उत्पन्न नहीं होती, किन्तु अग्निसे धुवाँ उत्पन्न होता है। तब जानकारीमें तो धुवांसे अग्निका ज्ञान चला, उत्पत्तिमें अग्निसे धुवांकी उत्पत्ति हुई है। तो उत्पत्ति और ज्ञप्तिमें साध्य साधन एकदम बदल गये। जो ज्ञप्तिमें साधन है वह उत्पत्तिमें साध्य है। जो ज्ञप्तिमें साध्य बना है वह उत्पत्तिमें साधन है! अब इस तरहसे आत्माको निरखिये। आत्मामें विकारभावके जाननेसे कर्म प्रकृतिका उदय जाना जाता है। जैसे अग्नि पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष है, तब ही तो धुवां जानकर अग्निका ज्ञान करना पड़ा है। ऐसे ही कर्मोदय परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है। स्पष्ट नहीं है और विकार प्रत्यक्ष है। यद्यपि विकार अमूर्तिक भाव है और कर्मविपाक मूर्तिक है तो विकारसे मोटी चीज है कर्म।

अमूर्तिक होनेके कारण वे कर्म मूर्तिक तो हैं और ये विकार उन कर्मोंसे भी सूक्ष्म हैं, क्योंकि जीवविपरिणमन है, मगर खुदपर बीती हुई बात है इसलिए स्वसम्वेदन उनका बन जाता है, और स्वसम्बेदन होनेसे अपने आपके विकार अपने आपको स्पष्ट प्रतिभात होते हैं पर कर्म विपाक ज्ञात नहीं होता। तो यहाँ साधनसे साध्यका ज्ञान किया गया है अर्थात् आत्माके रागद्वेषादिक विकारोंको देखकर कर्मोदयका ज्ञान किया गया है। यहाँ कर्मोदय अवश्य था, अवश्य है क्योंकि विकार भाव होने से। तो यह है ज्ञप्तिका साधन। जानकारीमें जीव विकार बना साधन और कर्मोदय बना साध्य। यह है जानकारीके विषयकी बात।

(८८) उत्पत्तिके साध्य साधनकी व्यवस्था—अब उत्पत्तिकी ओरसे देखें तो उत्पत्तिसे उपादानका परिचय होता, निमित्तका भी परिचय किया जाता। तो उत्पत्तिकी ओरसे बात यह है कि कर्मोदयका सन्निधान होनेपर रागद्वेषादिक विकार जगा तो यहाँ कर्मोदय निमित्त कारण है, और विकार नैमित्तिक कार्य है। तो यहाँ विकार कार्य हो गया, कर्मोदय कारण हो गया। यह कार्यकारणभाव निमित्तनैमित्तिककी व्यवस्था है नहीं, उपादानकी व्यवस्था वाला नहीं। उपादान व्यवस्थामें कार्माण स्कंध तो कारण है और कार्माण स्कंधमें जो कर्मानुभाग उदित हुआ है वह उसका कार्य है। जीव यह अशुद्ध उपादान कारण है और जीवमें जो विकार उपयोग बनता है वह कार्य है। पर निमित्तनैमित्तिकदृष्टिसे यहां कर्मोदय निमित्त कारण है और यह विकार नैमित्तिक कार्य है। वहाँ यह न कहा जा सकेगा कि विकारभाव होनेसे कर्मोदय हाजिर हुआ। यह सिद्धान्तके अत्यन्त विपरीत बात है, जानो जो बात जैसी है, वस्तुस्वातंत्र्य सब जगह निरखो। उपादान उपादेय भाव सब जगह अमिट है। तो उत्पत्तिकी जब बात कहने लगेंगे तो यह ही कहा जायगा कि कर्मोदय निमित्त कारण है और विकार भाव नैमित्तिक कारण है। वहाँ कारण कर्मोदय रहा और कार्य विकार रहा, जब कि ज्ञप्तिके प्रसंगमें साध्य रहा था कर्मोदय और साधन हुआ था विकार। अब समझना यह है कि उत्पत्ति और ज्ञप्तिमें साध्य साधनकी व्यवस्था अपने अपने भिन्न भिन्न क्षेत्रकी व्यवस्था है। और इसी कारण जब कबका प्रयोग यों होता है कि जब कर्मोदय होता है तब जीवमें विकार जगता है, यह निमित्त नैमित्तिक भाव उस ही समयका है। उस ही समयमें होनेपर भी निमित्त नैमित्तिकका विवरण यथार्थ किया जाता है, अटपट उल्टा नहीं। जैसे जब दीपक जलता है तब प्रकाश होता है। जब दीपक जलता है उसी समय प्रकाश होना एक क्रिया है, मगर जब दीपक जलता तब प्रकाश होता, यों तो बोला जाता है, पर यों नहीं कहा जाता कि जब प्रकाश हो जाता तब दीपक जलता। दोनों एक समयमें होकर भी निमित्त नैमित्तिक कार्य कारणकी व्यवस्था एक नियत व्यवस्था है। तो जब कर्मो-

दय होता है तब जीवके विकार जगता है। यों न कहा जायगा कि जब विकार जगता है तब कर्मोदय उपस्थित होता है। यह तो ज्ञप्तिके साध्य साधनकी बात है और वहाँ ज्ञात शब्द लगाना चाहिए। कि जब विकार ज्ञात होता है तब कर्मोदय ज्ञात होता है। यह ज्ञप्तिकी तो बात बनेगी और उत्पत्तिमें जो बात जिस तरह है वह उसी ढंगसे होती है।

(८९) **तत्त्वके सर्वविध परिचयसे लाभ**—जीवके जितने भी सुख दुःख रागद्वेषादिक होते हैं ये उस उस प्रकारके कर्मविपाकका निमित्त पाकर होते हैं। तो ये सुख दुःख रागद्वेष जैसा कि निश्चयदृष्टिमें निरखा जाता है कि आत्मामें हुए, आत्मासे हुए, आत्माकी परिणतिसे हुए। वहाँ दूसरा पदार्थ दिखना ही न चाहिए, क्योंकि निश्चयनयके कारण ऐसा ही होता है। यह निश्चयनयकी दृष्टिमें है। वह अशुद्ध निश्चयनय जो कि व्यवहारनयके ही समान है उस अशुद्ध निश्चयनयमें यह जाना गया कि जीवमें जीवकी परिणतिसे रागद्वेष होते चले जा रहे हैं। अगर अन्यका निषेध किया जाय, घटनाका निषेध किया जाय तो यही एकान्त मिथ्यात्व हो जाता है। जैसे कोई सामने दर्पण दिख रहा है और दर्पणको देखते ही वहाँ सब जाना जा रहा है जो कुछ पीछेसे बन रहा। लड़के खड़े हैं, ऊधम कर रहे हैं, दांत निकाल रहे हैं, जीभ मटका रहे हैं वह सब ज्ञात हो रहा है दर्पणको देखनेसे क्योंकि दर्पणमें वह प्रतिबिम्ब है। तो वहां केवल दर्पणको देखकर बात की जाय तो कर रहे दर्पणमें दर्पणकी फोटोसे, इस इस तरहसे परिणमन चल रहा है। इस परिणमनको कोई दूसरा नहीं कर रहा। दर्पणके ही परिणमनसे इस प्रकारका परिणमन वर्त रहा। बात यहाँ एक द्रव्यकी दृष्टिसे सही चल रही है, पर अन्य बातका यदि निषेध किया जाय जैसे कि पीछे लड़के खड़े हैं, उनका सन्निधान पाकर फोटो आ रहा है, इसको न माना जाय तो इसका अर्थ होगा कि दर्पणमें दर्पणके स्वभावमें दर्पणसे ही सब कुछ प्रकट हो रहा है तब इसमें स्वभावका विघात हो गया। दर्पणके स्वच्छ स्वभावकी अब दृष्टि न रही, तो ऐसी ही ये लीलायें हैं ज्ञानकी। कभी निश्चयकी प्रधानतासे तत्त्व निरखें, कभी घटनाकी दृष्टिसे तत्त्वको देखें। बात दोनों सही हैं और दोनोंका ही परिचय होनेपर पदार्थकी व्यवस्था ज्ञात होती है। किसीसे बुद्धि हटाना, किसीमें बुद्धि लगाना, ये सब कर्तव्य निभ जाते हैं समस्त परिचय होनेपर। केवल एक ही दृष्टिका परिचय एकान्ततः मान लिया जानेपर उसको यथार्थ प्रकाश नहीं रहता और वह अपने अकर्तव्यसे हटकर कर्तव्यमें नहीं आ पाता।

(९०) **अन्य अपेक्षावोंके तथ्यका अत्यन्त निषेध करनेपर विवक्षित दृष्टिके तथ्यका भी मिथ्यापना**—जब स्वभावको निरखते हैं तो यह ध्रुव है, अपरिणामी है, एकस्वरूप है, अचल है, यह बात क्या सही नहीं है। स्वभावके स्वरूपको निरखकर यह कहा जाता है,

पर एतावन्मात्र ही जीव है, इतना ही है, ऐसा ही है, अन्य कुछ यहाँ होता ही नहीं है ऐसा एकान्त मान लेनेपर ये ही तो बन गए—अपरिणामी पुरुषवाद। जैसे सांख्यदर्शनमें बताया है कि यह नित्य अपरिणामी है, अकर्ता है, इसमें रंच परिणमन है ही नहीं, नित्य अचल है तब फिर जब यह एकान्त बना डाला तो यह प्रश्न उठता है कि तो फिर ये राग द्वेषादिक किसके परिणमन हैं ? तो वहाँ यह उत्तर देना पड़ा कि ये प्रकृतिके परिणाम हैं। बात यहाँ भी निरखी जायगी उसी निगाहसे। जब आत्माके ध्रुव सहज अपरिणामी अचल एकरूप स्वरूपको निरखें और उसही को मानें कि यह आत्मा है वहाँ प्रश्न उठता है तो फिर ये रागद्वेष मोह आदिक अनेक विकार ये सब किसके परिणमन हैं ? तो वहाँ यह उत्तर दिया जा सकता है कि ये सब प्रकृतियाँ याने कर्म कर्मप्रकृतिके परिणमन हैं। अब बात तो वहाँ ऐसी है कि कर्मप्रकृतिका परिणमन कर्ममें हो रहा और चूंकि यह ज्ञात है सो इसके उपयोग भूमिमें वे सब विकार झलक रहे हैं। तो जैसे दर्पणका फोटो झलक रूप है और वे बाह्य पदार्थ जिनके अनुरूप फोटो आया है, हुआ है वे बाह्य पदार्थ भिन्न पदार्थ हैं। तो ऐसे ही यहाँपर जो कर्मप्रकृतिमें अनुभाग फैला है वह कर्मप्रकृतिका कार्य है। कर्मप्रकृतिका तत्त्व है और जो विकार उपयोगभूमिमें झलका है, विकार है, प्रतिभास है, प्रतिफलन है, छाया है वह जीवका परिणमन है। बस इतनी बात सांख्यदर्शनमें नहीं मानी गई, बाकी सब मिलजुल रहा है प्रायः एक दृष्टिमें, पर वहाँ तो पुरुषको ज्ञाता ही नहीं माना गया। और स्वरूपदृष्टिसे जब देखते हैं तो ज्ञाता, जाननहार, जानने वाला आदिक ऐसी उलझन यहाँ स्वरूपमें भी नहीं दिखाई गई है, जब कि एक उत्तम ध्यानमें कोई पुरुष इस ध्येयको पा रहा है। तो उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, इसका ध्यान नहीं उस एकान्तमें। सब तरहसे परिचय करने वाला पुरुष अपने आपको ज्ञानलीला बलसे सही सही अपनी पदवीमें उपयुक्त हो जाता है, पर यथार्थ ज्ञान न हो तो वह केवल बाहरकी चर्चाभर रह जाती है, उसका प्रयोग नहीं बन पाता। जो उचित प्रयोग होना चाहिए बाह्य तत्त्वोंसे हटकर अंतस्तत्त्वमें उपयुक्त होना यह प्रयोग वहाँ नहीं बन पाता। जहाँ अज्ञान बसा हुआ है और किसी भी एकान्तका आग्रह बना हुआ है।

(९१) द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुको सर्वविध जानकर हितानुरूप मुख्य गौण व्यवस्थामें प्रयोगकी संभूति—भैया, जानना सब कुछ हर प्रकारसे और फिर कल्याणके अनुरूप कौनसी दृष्टि गौण हो जाती है, कौनसी दृष्टि मुख्य होती है यह बात बनेगी और इस तरहसे प्रयोग बनेगा। जैसे वस्तुमें द्रव्य और पर्याय ये दोनों ही बातें ज्ञात होती हैं, आत्मद्रव्य अनादिनिधन एकस्वरूप अचल जो जाना गया, पर ऐसा ही वह वर्तता है सो बात नहीं है। परिणमनशून्य कोई भी द्रव्य नहीं रहता, मगर यह देखनेकी कला है कि यह परिणमन और द्रव्य

दोनोंका जाननहार पुरुष इसी समय परिणमनको गौण करके केवल एक द्रव्यपनेसे ही जानता जा रहा है, यह उसकी एक कला है, पर जो पर्यायसे अपरिचित है, पर्यायका निषेध करने वाला है, वह इस द्रव्यत्वको जानने चले तो वह उसका अज्ञान है। वह इसमें सफल नहीं हो पाता। जानकारी सब बनाकर कल्याणके अनुरूप दृष्टिको मुख्य कर और अन्य दृष्टिको गौण कर यह कला तो अपनाई जाती है पर मूलमें अज्ञानभाव रखकर कोई जीव एकान्त कलासे खेले तो वह उसमें सफल नहीं हो पाता। जितनी द्रव्य पर्यायें हैं सभी पदार्थोंका सही-सही बोध हो। फिर जिसमें निर्विकल्पता बनती है, समता आती है, अलौकिक अनुभवके साथ परम आल्हादका अनुभव चलता है उस पद्धतिसे चलना यह है प्रयोगकी दशा। परंतु जो पहले जाननेमें ही उल्टा हो उससे यह प्रयोग बन नहीं पाता।

(९२) **दैवनिरूपणमें निमित्तनैमित्तिकयोग दिखाकर आश्रयभूत विषयोंके अनिमित्तत्वका ज्ञापन करानेका प्रयोजन व्याकुलतासे हटाव**––यहाँ इस दैवनिरूपणके परिच्छेदमें निमित्तनैमित्तिक भावकी बात उठाकर यह सावधानी की है कि तुम्हारे विकारका निमित्त कारण कर्मविपाक है। बाहरी पदार्थोंको अपने विकारका निमित्त मत समझें। इनको तो जब आप जानते हैं, विषय बनते हैं उपयोगमें लेते हैं तो ये आरोपित हो जाते हैं। और आश्रयभूत कारण बन जाते हैं। आज जो मनुष्य इतना परेशान हो रहे हैं, व्याकुल हो रहे हैं तो इसका कारण यह है कि इन बाहरी पदार्थोंमें निग्रह अनुग्रह करना, इष्ट अनिष्ट बुद्धि करना, इस प्रकारकी वृत्ति बन गई है। कर्मोदयका निमित्त पाकर ये सुख दुःख आदिक हुए। इन सुख दुःखोंसे व्याकुलता ही बनती। यह तो एक यथार्थ ज्ञान है और इससे तो अपने स्वभाव की दृष्टि जगती है। यह विकार मेरे स्वभावकी चीज नहीं है। मैं इनसे निराला हूं, पर कोई इन विषयभूत, आश्रयभूत कारणको उत्पादक कारण माने विकारका तो वहाँ आकुलता जगती है क्योंकि उसे बाह्य पदार्थोंका हटाना, बाह्य पदार्थोंका रखना कुछ भी अपने आधीन नहीं है। जीव तो स्वके भावमात्र है, वह अपने भाव करता है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर पाता। वस्तुस्वरूप ही इस प्रकार है। तो ये बाहरी पदार्थ, इनसे मेरेको सुख दुःख रागद्वेष विकार नहीं बनते। धन अधिक होनेसे सुख नहीं, धन कम होनेसे दुःख नहीं, पुत्रादिक होनेसे सुख नहीं, पुत्रादिक न होनेसे दुःख नहीं, ये तो बाहरी आश्रय बताये गए हैं—मोही जीवके द्वारा। दुःख सुखका निमित्त कारण ही तो कर्मविपाक है और दुःख सुखका अपने आपमें अपना संस्कार अशुद्धभाव कल्पना यह भी उपादान कारण है, पर बाहरी पदार्थोंसे इसका कोई कारणकार्य भाव नहीं है कि जिससे व्याकुलता मचायी जाय कि अब मैं क्या करूँ यह ऐसा हो गया। अरे जो हो गया सो होने दो। ये बाहरी पदार्थ छिद भिद जायें, कहीं भी जायें,

कुछ भी हो, यह उनका परिणमन उनमें हो रहा है। उस परिणमनसे मेरेमें कोई परिणमन जग रहा हो सो नहीं है, किन्तु उनको आश्रयभूत करके कल्पना बनाकर इष्ट अनिष्ट बुद्धि लाकर जो अपने आपमें अपने आपको मरोड़ा जा रहा है, उसका कष्ट हो रहा है। बाह्य पदार्थोंके परिणमनसे अपने आपको कोई कष्ट नहीं है।

(९३) **भ्रमको त्यागकर आत्महितसाधन करनेका अनुरोध**—लोग तो व्यर्थ ही मोह रागके प्रसंग बनाकर आकुलित होते हैं और दूसरोंको भी उसी विधिसे समझाते कि बड़ा गजब हो गया, यह दुःख कैसे मिटेगा ? बिल्कुल जवान लड़का और असमयमें चला गया यह तो बड़े कष्टकी बात है। अब देखिये इस मोहके क्षेत्रमें जब उपयोग लगाया तो वहाँ कष्ट ही कष्ट नजर आ रहा है। और वास्तविकता क्या है ? कौन किसका है, स्वतंत्र सत्ता सर्व जीवों की अपने आपमें है, जैसे अनन्त जीव हैं वैसे ही वह भी एक जीव है। अभी यहाँ था, अब न रहा। कोई उससे सम्बंध तो नही है, पर यहाँ उसके प्रति लोग अनेक प्रकारकी कल्पनायें करते हैं और दुःखी होते हैं। तो इन बाह्य पदार्थोंको अपने कष्टका उत्पादक कारण न मानें। अपने रागद्वेष सुख दुःखके ये निमित्त कारण नहीं हैं। निमित्त कारण कर्मविपाक है, सो वहाँ पर भी अपना समय क्यों खोना, सीधे वे कर्मविपाक ही छूट जायें ऐसा उपाय बनायें। वह उपाय है अपने आत्माके स्वरूपकी सम्हाल और उसकी ही दृष्टि। तो इस निमित्तनैमित्तिक योगसे कर्ममें क्षीणता आने लगेगी और इससे छुटकारा मिल जायगा। बाहरी पदार्थोंमें यह बुद्धि न रखना चाहिये कि ये बाहरी पदार्थ मेरे सुख दुःख रागद्वेषादिकके कारण है। इस बातको यह दैव ही निर्भय होकर अपनेमें एक वेगसे अपने ही निमित्त कारण रूपसे यह सारी व्यवस्था बनाये रहता है। विकार कष्टोंका न मैं कर्ता हूं और न ये बाह्य पदार्थ कर्ता हैं, ऐसा प्रकाश पाकर इन सब बाह्य पदार्थोंसे अपने आपको हटाना, अपनेमें अपना विश्राम पाना और अविकल्प ज्ञानज्योतिका, ज्ञानबलका अनुभव करना यह पौरुष आत्मकल्याणका बीज है। अन्य प्रकारसे आत्माका हित होना अशक्य है।

अशुभोदये जनानां नश्यति बुद्धिर्न विद्यते रक्षा।
सुहृदोऽपि संति रिपवो विषमविषं जायते त्वमृतं ॥३७१॥

(९४) **अशुभोदय होनेपर बुद्धिभ्रंश**—इस संसारमें जीवोंपर जो भी घटनायें घटती हैं उनका कारण है भाग्य, दैव, कर्म। जब जीवोंके अशुभकर्मका उदय होता है तो मनुष्योंकी बुद्धि नष्ट हो जाती है और रक्षा नहीं हो पाती। अन्य लोग बतलाते हैं कि जब कुछ विपत्ति का समय आनेको था तो श्रीराम वनमें थे और सीता वनमें हरी गई तो उनके कथनके अनुसार तो जब मारीचने सोनेके हिरणका रूप रखा था तो उनकी नीति कहती है कि यद्यपि

स्वर्णका मृग होना असम्भव है तो भी सीताके कहनेसे श्रीराम उस मृगका लोभ करके उसे मारने गए, वहाँ मौका पाकर रावण सीताको हर ले गया। ऐसा उन लोगोंका कथन है। वहाँ यह बतलाया कि जब अशुभकर्मका उदय आता है तो बड़ों बड़ोंकी भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उनकी रक्षा नहीं हो पाती। यहीं हम आपके जीवनमें अनेक बार घटनायें घटती हैं कि कभी ऐसी विपरीत बुद्धि चलने लगती है कि जो न करना चाहिए उस ओर बुद्धि लग जाती है, और पीछे पछताना होता है। तो जब अशुभ कर्मका उदय होता है तो बुद्धि नष्ट हो जाती है। सबसे कठिन विपत्ति है बुद्धिका बिगड़ना। अभी जिस मनुष्यका दिमाग खराब हो जाय, पागलपन आ जाय तो उस मनुष्यका फिर कौन मददगार रहता है? कुटुम्बी जन भी उसको छोड़ देते हैं, परवाह नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि अब यह मेरे कुछ काम नहीं आ रहा, इसकी बुद्धि बिगड़ गई, वह पागल हो गया। अब यह किसीके कामका न रहा। तो सबसे कठिन विपत्ति है बुद्धि बिगड़ जाना। यह पापके उदयमें होता है। और उस समय फिर इसकी रक्षा नहीं हो पाती। सभी उपेक्षा कर जाते।

(९५) **पापोदय होनेपर मित्रजनोंकी भी बाधकता व अमृतका विषीभवन**—जब पापका उदय होता है तो मित्रजन भी शत्रु बन जाते। इस जीवनमें अनेक घटनायें ऐसी आतीं कि जो अपने मित्र हैं, हितू हैं, बंधु हैं वे ही उल्टे बोलने लगते हैं, उल्टी क्रियायें करने लगते हैं। जिससे इसको हानि पड़ती है। तो पापका उदय होनेपर मित्र भी शत्रु बन जाते हैं और अमृत भी कठिन विष हो जाता है। तो जीवोंपर यहाँ जो कुछ खोटी घटनायें घटती हैं उनका करने वाला किसी दूसरेको मत मानो, व्यर्थमें किसीको शत्रु मानकर अपने आपमें खोटी कल्पनायें न करें, मेरेको दुःख देने वाला दुनियामें कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। जो दुःख होता है वह मेरे पूर्व भवमें कमाये गए पापका फल है। जीव जीव तो सब समान हैं। कौन शत्रु और कौन मित्र? सर्व जीव मुझसे भिन्न हैं, मेरे स्वरूपके समान हैं और भिन्न जीव सब एक समान हैं मेरे लिए। वस्तुतः तो इन जीवोंमें मेरा कोई विरोधी नहीं, किन्तु हम ही जिस किसी कामकी कल्पना करते हैं उस काममें हमें जो बाधक जँचता है उसको हम दुश्मन मान लेते हैं। वास्तवमें मेरा दुश्मन कोई जीव हो ही नहीं सकता, है ही नहीं। तो जब कभी अपनेपर आपत्ति आये तो अपने ही पापकर्मको उसका कारण जानिये। किसी दूसरे जीवपर शत्रुताकी कल्पना करके किसीका बुरा मत विचारिये।

नश्यति हस्तादर्थः पुण्यविहीनस्य देहिनो लोके।
दूरादेत्य करस्थं भाग्ययुतो जायते रत्नं ॥ ३७२ ॥

(९६) **पुण्य पापके लाभ अलाभ**—जब कोई पुरुष पुण्यविहीन हो जाता है तो उसके

हाथसे ही उसका धन नष्ट हो जाता है। एक कोई डाकू आ गया तो वह अपने ही हाथसे उठाकर उस डाकूको अपना धन दे देता है। डाकू बोलता हैं कि तू अपने हाथसे तिजोरी खोल और सारा धन खुद निकालकर दे। सो उसे प्राण जानेके भयके कारण सब देना पड़ता है। तो दिया यद्यपि अपने ही हाथोंसे, पर वह देना नहीं कहलाता, वह तो विवश होकर देना पड़ता है। उधर डाकू भी यदि यह सोचे कि यह खुद अपने हाथसे उठाकर अपना धन देगा तो इसमें मुझे दोष न लगेगा सो भी बात नहीं। वह भी आखिर चोरी ही तो है। चाहे लूट मारकर धन ले तो चोरी है, चाहे छिपकर ले तो चोरी है। तो जब पापका उदय आता है तो अपने हाथसे ही अपना धन नष्ट हो गया है उनका धन कैसे नष्ट हो जाता, इसकी कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। नष्ट हो जाता है और जिस समय भाग्यका उदय होता है तो दूरसे रत्न आकर इसके हाथमें आ जाता। जीव तो केवल अपने परिणाम भर करता है, अन्य कुछ काम नहीं करता। हर जगह चाहे खोटा भाव कर ले चाहे अच्छा भाव कर ले, अपने परिणामके सिवाय जीव कुछ काम नहीं करता और उस परिणामका निमित्त पाकर उस प्रकारके कर्मका बंध होता है और कर्मके उदयमें उस प्रकारका क्लेश संक्लेश दुःख होता है। तो ये घटनायें जितनी घटती हैं, कोई सम्पन्न हो गया, कोई निर्धन हो गया, कोई बुद्धि-हीन हो गया, किसीको राज्य मिल गया आदिक जो भी घटनायें घटती हुई नजर आती हैं वे सब घटनायें भाग्यके उदयसे होती हैं। जीवके तत्कालके भावोंसे नहीं। यद्यपि उस भाग्य को जीवने ही बनाया था। अपना जैसा परिणाम किया वैसा ही भाग्य बना। यद्यपि भाग्य बना तदनुरूप भाव होनेसे, मगर जिस समय उदय हो रहा और कष्ट आ रहा उस समयके भावोंसे बात नहीं बन रही है। वह तो नैमित्तिक है। उदय होगा तो ऐसी घटना होगी ही।

(९७) **सांसारिक घटनावोंकी दैवकृतताके निरूपणसे प्राप्तव्य शिक्षण व प्रयोग**— यहाँ भाग्यकी बात बतलाकर यह शिक्षा दी जा रही है कि हे कल्याणार्थी पुरुषो तुम अपने दुःखमें सुखमें किसी भी जीवको कारण न समझिये। किसीको मित्र और विरोधी न जानिये। अपने ही कमाये हुए कर्म अपने आपके सुख दुःखका कारण होते हैं। भैया, यह बहुत बड़ी कमाई है कि कोई पुरुष अच्छे परिणाम रख ले। किसीसे ईर्ष्या न करे। किसीका बुरा न विचारे, किसीको तुच्छ न माने। किसीका कभी अपकार न करे, खोटा चिन्तन न करे, ऐसे जीवनसे अगर वह रह सकता है तो समझो वह मनुष्य धर्मात्मा है और उसको उसकी अच्छी करनीका फल अवश्य मिलेगा। यह मनुष्य एक ऐसा अपराधका घर है। इतना कमजोर बन गया है कि वह ईर्ष्या, विरोध, द्वेष आदिक अवगुण कर बैठता है। तो परिणाम यदि कोई अच्छे करे तो अच्छा फल पायगा बुरे करे तो बुरा फल पायगा। आज जैसा उदय है उसके

अनुकूल सब घटनायें हो रही हैं। मानो पुण्यका उदय आ रहा तो समृद्धि हो रही। अब रही कर्तव्यकी बात तो कर्तव्य तो एक इच्छा है और अपनी इच्छाके कारण सभी कर्तव्य करते हैं। कर्तव्य किए बिना कोई रह नहीं पाता, मगर कर्तव्य सफल किसका होता है? जिसके पुण्यका उदय है, और जिसके पुण्यका उदय नहीं है वह कितना ही परिश्रम कर ले, पर वह सफल नहीं होता। तो उदय अनुकूल होनेपर कर्मोदय चलेगा, संगति चलेगी, साधन मिलेंगे। सर्वकार्य ठीक बन जायेंगे। तो इस बातसे शिक्षा यह लेना है कि जो पहले किया वह आज भोगा जा रहा, पर आज तो अच्छे परिणाम करें जिससे हमारा भावी जीवन बुरा न गुजरे।

(९८) **भावस्वरूप आत्मपदार्थका भावोंसे भावानुरूप भविष्य**—जीव एक भावस्वरूप पदार्थ है, जीव सिवाय भावके और कुछ नहीं कर पाता। जो यह कर रहा कि यह हाथ पैर चलाता, इतनी दूर जाता, गमन करता तो ये सब नैमित्तिक बातें हैं। जीवकी सीधी करतूत नहीं हैं। जीवकी सीधी करतूत भाव करना है, इच्छा करना है। अब उस परिणाम और इच्छाके कारण इस जीवमें स्वयं ऐसा परिस्पंद होता, जीवके प्रदेशोंमें हलन-चलन होती है कि उसके ही अनुकूल शरीर वचन ये चल बैठते हैं। सो इन शरीरादिका चलना यह जीव के भावोंकी प्रेरणा पर होता है। तो मूलमें तो जीवका भाव है। सो जीव चूंकि भावप्रधान तत्त्व है, परिणाम ही करता है। तो अपना परिणाम अच्छा बनाये तो अपनी अच्छी सृष्टि रहेगी और अगर गंदे परिणाम बनाये विषय कषायसे युक्त तो ऐसे ही खोटे कर्मोंका बंध होगा और ऐसा ही उसके सामने फल आयगा। यह सांसारिक घटनाकी बात कही जा रही है। मोक्ष पुरुषार्थके लिए ये सब बाहरी बातें कुछ नहीं सोचना है। क्या पुण्य क्या पाप, क्या सुख क्या दुःख, ये सब तो बाहरी पदार्थोंमें हो रहे हैं। जिनको मोक्ष पुरुषार्थकी भावना है वे अपने आत्मतत्त्वकी सम्हाल किया करते हैं। यह ही खास पौरुष है। यह बात ज्ञानप्रकाश मिलनेपर हुआ करती है। और संसारमें जो कुछ हो रहा है वह सब पुण्य पापके आधीन हो रहा है।

(९९) **संसारमें साम्यवादकी व्यवस्थाका प्रयास करनेपर साम्य न हो सकनेका कारण**—आज कई राष्ट्र ऐसा प्रयत्न कर रहे हैं कि प्रजाके सर्व लोगोंको समान लाभ मिले। जिसे कहते हैं साम्यवादी देश, कम्युनिष्ट, सबको भोजन मिले, सबको काम दिया जाय, सबकी एक समान बात रहे, पर ऐसा हो सकता क्या? उस ही राष्ट्रको सम्हालने वाला कोई राष्ट्रपति है, कोई मिनिस्टर है, कोई चपरासी है, कोई सलामी लेता है, कोई सलामी करता है, कोई आज्ञा देता है कोई आज्ञाका पालन करता है, किसीकी कीर्ति गाई जाती है, किसीकी

निन्दा होती है, कोई ऊँच माना जाता है कोई नीच माना जाता है। तो बतावो ये सब बातें कौन मेट सकेगा ? ये सब बातें तो बराबर देखनेको मिलेंगी। वहाँ साम्य कैसे स्थापित किया जा सकता ? तो सांसारिक जितनी घटनायें होती हैं उन घटनावोंका कारण कर्मका उदय है। जिसके कर्मका शुभ उदय है उसके उस प्रकारकी बुद्धि बनती है, अभ्युदय बनता है, सफल होता है, और जिसके पापकर्मका उदय है वह कितना ही कठिन श्रम करे, पर वहाँ उसे लाभ नहीं मिल पाता। यहीं मनुष्योंमें बड़े अन्तर दिख रहे हैं। ये घसियारे, लकड़हारे दिन भर बड़ा श्रम करते, पर दिनभरमें कोई दो-तीन रुपये ही कमा पाते, भरपेट भोजन भी नहीं कर पाते और कितने ही लोगोंको सभी चीजें खूब आवश्यकतासे अधिक प्राप्त हैं, बड़े ठाठ-बाट हैं और इतने अनावश्यक ठाठ हैं कि उनके बेटे बरबाद हो जाते, दुराचार करते। शराबी बन जायें, जुवेबाज बन जायें, कितने ही उनके परिणाम गिर जायें। तो उदय है पुण्यका, सुख सम्पन्नता मिली है तो इतना जो कुछ अन्तर है वह अन्तरका कारण है कर्मका उदय। यह कोई कायरताके लिए बात नहीं कही जा रही कि तुम अपने सुख दुःखमें दूसरे जीवोंको उत्पादक कारण मत मानो, क्योंकि वास्तवमें कोई दूसरा इसको सुख दुःख नहीं दे रहा।

(१००) सांसारिक विषमताओंको दैवकृत जाननेसे अन्य जीवोंमें शत्रुता मित्रताकी व्यर्थ कल्पनाके क्लेशका प्रक्षय—यहाँ यह बात तो निर्णीत हो गई कि संसारके सुख दुःखकी घटनायें कर्मोदयपर निर्भर हैं। अब यह निर्णय करें कि आपको संसारमें ही रहना है या संसारसे हटकर मोक्ष पाना है यही निर्णय करना बड़ा कठिन होता है। कोई मुखसे कह भी देवे, चूंकि सुन रखा है कि मोक्ष अच्छी चीज है, तो केवल कह देनेसे बात तो नहीं बनती। उसरूप करतूत भी तो होनी चाहिए। अब जिसके हृदयमें निरन्तर इष्टबुद्धि बनी है कुटुम्बमें और पक्षपात बनता है कुटुम्बमें, जब कि सभी जीव एक समान हैं, भिन्न हैं। तो इन अनंत जीवोंमें से उन ४-५ जीवोंको क्यों छाँट लिया कि मेरा तो यह ही है सब कुछ। मेरा तन, मन, धन, वचन सब कुछ इनके ही लिए है, ऐसा क्यों निर्णय कर लिया ? अज्ञान है, व्यामोह है, संसारमें रुलना है, तो यह भीतरमें निर्णय बना हुआ है। तो जीवोंको जो कुछ भी अच्छी बुरी घटनायें आती हैं उनका कारण पूर्व उपार्जित पुण्य पापकर्मका उदय है, दूसरे लोग नहीं हैं, इसलिए किसी जीवपर शत्रुका और मित्रका ख्याल मत करिये—यह श्रद्धा अगर हो तो लड़ाइयाँ कम हो जायें, संक्लेश कम हो जाय। पड़ोसियोंमें, घरमें, कुटुम्बमें जो लड़ाइयाँ चलती हैं, मनमुटाव चलता है उसका कारण है अज्ञान। यह मान रखा है कि इन बाहरी सम्पदावोंसे मेरेको सुख है, इन लोगोंको मेरेसे सुख है, जब कि तथ्य यह है कि साता

का उदय होनेपर सुख है, असाताका उदय होनेपर दुःख है। आज जो प्रेमकी आँख रखते हैं, पापका उदय होनेपर उनकी आँख फिर विषैली बन जाती है, वह भले प्रकार देख नहीं सकता और बुरा करनेका प्रयत्न करता है। तो अपना अर्जित कर्म ही कारण है अच्छे बुरे सुख दुःख आदिकका। दूसरा जीव मेरा कारण नहीं है सुख दुःखका, इसलिए किसी जीवपर भी शत्रुता और मित्रताकी कल्पना न रखनी चाहिए।

कस्यापि कोपि कुरुते न सुखं दुःखं च दैवमपहाय।
विदधाति वृथा गर्वं खलोऽहमहितस्य हंतेति ॥३७३॥

(१०१) किसी अन्य जीवके द्वारा किसी अन्य जीवके सुख दुःख न किये जा सकने का तथ्य जानकर गर्व न करनेका उपदेश——कोई भी जीव किसीको सुखी दुःखी नहीं करता। एक भाग्यको छोड़कर अन्य कोई भी सुख दुःखका कारण नहीं है, पर यह जीव अज्ञानी बन कर व्यर्थ ही गर्व करता है और कभी किसीका विनाश करके यह सुख मानता है। मैंने इसे मार दिया, मैंने अमुक काम कर दिया। इसे पाल पोस दिया, इसे इतना बड़ा कर दिया। पिता क्यों दुःखी होता है पुत्रके विपरीत हो जाने पर ? उसका अहंकार लगा है पिताके कि मैंने इसे बड़ा किया, जब छोटा था तो कितना ध्यान रखता था, कैसे कैसे इसको सुख दिया आराम दिया, पढ़ाया लिखाया, मैं खुद कष्टमें रहा आया, पर जो कुछ कमाया वह सब हमने इसके पढ़ाने लिखानेमें लगाया, मैंने इसका ऐसा ऐसा उपकार किया और यह लड़का आज मेरे प्रतिकूल बोल रहा है, अनधिकार चेष्टा कर रहा है, ऐसी चित्तमें बात जगती है और दुःखी होता है। यह बात भूल गया वह कि यह लड़का जब शिशु अवस्थामें था तो इसके पुण्यका ही ऐसा उदय था कि जिससे हमको इसका सेवक बनकर इसकी सेवा करनी पड़ी। यदि यह समझ रहती कि इस बच्चेका ही पुण्य है जो बड़ा हो गया। पल पुस गया, इसका मैंने क्या किया ? यदि ऐसी यथार्थ बात जान ले तो उसे कष्ट न होगा। विपरीत बात समझने पर कष्ट हुआ करता है। जितने जो उत्पन्न हुए, पुत्र हुए, पुत्री हुए वे सब अपने-अपने कर्म साथ लिये आये हैं। आपसे जो कमायी बन रही है सो उन छोटे छोटे बच्चोंके पुण्यका उदय काम कर रहा है और यह बड़ा यह सोचता है कि मैं बच्चे पर दया कर रहा हूं, इसका पालन पोषण कर रहा हूं। इतनी कमायी करके बच्चोंपर लगा रहा हूं···और बात ऐसी है कि बच्चेके पुण्यका उदय है जो आपको नौकरीमें इतनी कमायी बन जाती है कि सबका गुजारा चलता रहता है। तो अहंकार, करना, गर्व करना बिल्कुल व्यर्थ है। मैं किसीका कुछ नहीं करता। जीवोंके ही अपने अपने दैवके अनुकूल सुख या दुःख हुआ करते हैं। तो ऐसा जानकर विवेकी जनोंको गर्व न करना चाहिए।

(१०२) **एक घटनादृष्टान्त द्वारा स्वकीय सुख दुःखका स्वकीयकर्मानुसार होनेकी समर्थन**—एक घटना बुन्देलखण्डकी है, शायद वह छत्रशाल राजाकी घटना हो। उस बच्चे की माँ जब बच्चा गर्भमें था तो उसका पति गुजर गया। अब राज्य वही राजमाता सम्हालती थी। अचानक ही किसी दुश्मनने बडी भारी सेनासे चढ़ाई कर दी। अब वह गर्भवती रानी घोड़ेपर सवार होकर सेनापतिकी हैसियतसे सेना लेकर शत्रुका मुकाबला करने गई। सब वीरोंने बड़ी वीरतासे शत्रुका सामना किया और उस वीरांगना माताने भी उस युद्धमें बहुत सफलता पायी, पर अचानक ही चूंकि गर्भके दिन पार हो रहे थे, उसके पेटमें कुछ दर्द सा हुआ, सोचा कि यह तो बच्चा उत्पन्न होनेका समय है तो उस बच्चेकी रक्षाके लिए युद्ध छोड़कर आगे बढ़ गई, शत्रुवोंने तब भी उसका पीछा नहीं छोड़ा। वह आगे आगे बढ़ती जाय। घोड़ेपर ही चढ़े हुए उस वीरांगनाके वहीं बच्चा पैदा हुआ। अब वह सोचने लगी कि यदि इस बच्चेसे मैं मोह रखती हूं तो कुछ ही देरमें शत्रु आयेंगे और न मुझे जिन्दा छोड़ेंगे न मेरे बच्चेको सो वह उस बच्चेको एक झाड़ीमें छिपाकर आगे बढ़ गई। शत्रु उसका पीछा न कर सके और लौट गए। ५-७ दिन बादमें उस माँ ने सोचा कि जाकर देखें तो सही कि वह बच्चा जिन्दा है या नहीं, सो वह जब लौटकर आयी तो क्या देखा कि वह बच्चा जिन्दा था। हुआ क्या कि जिस झाड़ीमें वह पड़ा था उसमें एक मधुमक्खीने शहदका छत्ता लगा रखा था और वह ठीक उस बच्चेके मुखके सामने था। उसमें से एक-एक बूंद शहद टपक रहा था जो कि उस बच्चेके मुखपर पड़ रहा था। उसकी वजहसे वह बच्चा पूर्ण स्वस्थ था। यह दृश्य देखकर वह वीरांगना आश्चर्यचकित हो गई। तो इस संसारकी घटनायें पुण्य पापके अनुसार होती हैं, किसी दूसरेकी की हुई नहीं होतीं। इसलिए किसीको शत्रु या मित्रकी कल्पना करना व्यर्थ है, इसमें इस दैव (भाग्य) को ही कारण मानकर अपनेमें संतोष करना चाहिए।

गिरिपतिराजसानुमधिरोहतु यातु सुरेंद्रमंदिरं
विशतु समुद्रवारि धरणीतलमेकविया प्रसर्पतु।
गगनतलं प्रयातु विदधातु सुगुप्तमनेकधायुधै-
स्तदपि न पूर्वकर्म सततं बत मुंचति देहधारिणं ॥३७४॥

(१०३) **जीवके साथ एकक्षेत्रावगाहस्थ कर्मका बन्धन**—जीवोंने जो कुछ भी पूर्वमें कर्म किया है शुभ कर्म अथवा अशुभ कर्म, वे अपना फल दिये बिना नहीं रह सकते। बात यह है कि जीव जब अपने शुभ या अशुभ परिणाम करता है तो जीवके ही साथ लगी हुई जो कार्माण वर्गणायें हैं वे कर्मरूप बन जाती हैं। यहाँ सब यह निमित्तनैमित्तिक भाव है। जीव

के साथ यह शरीर लगा है ना, तो जो शरीर बना है वह तो शरीर है ही, पर इसके साथ और परमाणु भी ऐसे लगे हुये हैं जो शरीर तो नही है मगर शरीर बन जायेंगे। उन्हें कहेंगे शरीर बननेके उम्मीदवार। तो जो शरीर बननेके उम्मीदवार और परमाणु साथ लगे हैं वे शरीर रूप बन जाते हैं, ऐसे ही जीवके साथ सूक्ष्म कर्म परमाणु लगे हैं, जीवके साथ बँधे हैं जिनके उदयमें सुख दुःख होता है सो वह तो कर्म है ही, पर ऐसे भी कर्म परमाणु साथ लगे हैं जीवके जो अभी कर्म तो नहीं कहलाते, मगर कर्मरूप बन जायेंगे। सो यह जीव चाहे कहीं छिपकर रहे, कहीं घरमे हो, बाहर हो, चाहे कोई दूसरा जान पाये या न जान पाये, जैसे ही इसके परिणाम हुए उसी समय उन कर्म परमाणुवोंका बंध हो जाता है। अब वह बँध गया तो वह जीवके ही साथ है। सो जब उनका उदय आता है तो यह फल भोगता है। कोई दूसरा ईश्वर या और कोई जीवको सुख दुःख देता होता, तो चलो कभी नजरसे बचा लो, छुपा लो, न देखे, मगर यहाँ तो सुख दुःखके कारण कर्म हैं और वे कर्म जीवके साथ ही लगे हुए हैं। जहाँ जीव जाता उसके साथ वे कर्म भी हैं। अब उनका उदय आयगा ही, उनका फल मिलेगा ही।

(१०४) निमित्त नैमित्तिक योगके तथ्योंका परिचय कर स्वकीय भावोंके संभालने सुधारनेका अनुरोध—यह बात पूर्ण निश्चित है कि जो जैसा करता है उसको वैसा फल भोगना पड़ता है। कोई बीचमें विशेष ज्ञानप्रकाश जगे, सम्यग्दर्शन हो जाय, सम्यक्चारित्र बने तो कर्मोंमें थोड़ा अन्तर पड़ जायगा मगर रत्नत्रय बिना तो इस जीवकी कोई गति ही नहीं है, जैसा करता है वैसा भोगता है। आज उदय कुछ अच्छा है, पैसा पासमें है अन्य अन्य भी सुविधायें हैं तो विषयोंकी बातें सूझती हैं। पञ्चेन्द्रियके विषयमें इसका उपयोग लगता है और उन विषयोंमें उपयोग लग जाने से ये हीन आचरण बन जाते हैं, सो इसकी बुद्धि भी बिगड़ जाती है। अन्याय पर उतारू हो जाता है दूसरोंपर अत्याचार करने लगता है। सो आज बल मिला है, धन मिला है, जवानी मिली है, अनेक बातें मिली हुई हैं तो जैसा मन आये वैसा यह जीव कर ले मगर आगे भी फल भोगना पड़ेगा। इससे अपने आपको बहुत सावधानीसे चलनेकी जरूरत है। किसी जीवके प्रति गंदे भाव उत्पन्न न हों। सब जीव सुखी हों, मेरा कोई विरोधी नहीं। यदि किसीने स्वार्थके विषयोंमें बाधा भी डाली है तो विरोधसे नहीं डाली है, किन्तु उसने वैसा ही करनेमें अपनी शान्ति समझा है सो वैसा किया है। कोई मेरा शत्रु नहीं। सर्व जीवोंपर क्षमाभाव रखना, सबको भला सोचना, गुणी जनोंके प्रति भक्ति भाव, प्रेमभाव, विनयभाव रखना, शुद्ध आत्माका अपमान न हो, अपवाद न हो, अविनय न हो, इस प्रकारकी सावधानी रखना, जो परिणाम अच्छे रखेगा तो आगे

भविष्य अच्छा रहेगा और परिणाम भला न बन पायगा तो भविष्य खोटा रहेगा।

(१०५) **सुमेरुपर पहुँचकर या बड़े पुरुषोंके स्थानपर पहुंचकर कर्मफलका अनिवारण**—यह जीव चाहे सुमेरुपर्वतकी चोटीपर चढ़ जाय कि मैं इतने ऊँचे चला जाऊँगा तो फिर मुझे कोई देख न पायगा, वहाँ कर्म न सतायेंगे····तो भले ही चोटीपर चढ़ जाय पर ये कर्म वहाँ भी उसे छोड़ने वाला नहीं है। जैसे शुभ अशुभ कर्म किया उस प्रकारका फल भोगना पड़ता है। चाहे कोई इन्द्रके घरमें घुस जाय कि यह मुझे शरण देगा, यहाँ मेरी सुरक्षा हो जायगी, मैं किसी बड़ेके पास पहुंच गया हूं···तो भले ही पहुंच जाय, मगर कर्म वहां भी न छोड़ेंगे। जहाँ सिद्ध भगवान रह रहे हैं मोक्षस्थानमें, सिद्धालयमें अनन्त सिद्ध भगवान हैं; वे तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द पा रहे हैं, पवित्र हैं और वहीं निगोदिया जीव भी हैं, एक श्वांसमें १८ बार जन्म मरण कर रहे, जगह एक ही है, जहाँ सिद्ध भगवान हैं वहीं घुसे हैं निगोदिया जीव भी, पर भगवान सुखी हैं और वे निगोदिया जीव यहांकी तरह दुःखी हैं। कोई कहीं चला जाय, किसी बड़ेके घरमें भी पहुंच जाय, मगर कर्म इसे वहां भी छोड़ने वाले नहीं हैं।

(१०६) **समुद्र, पाताल, आकाशके मध्य पहुंचकर भी तथा दृढ़ अस्त्र शस्त्र दुर्गसे सुरक्षित करनेपर भी कर्मफलका अनिवारण**—कोई जीव चाहे समुद्रके जलमें बैठ जाय, प्रवेश कर जाय कि मैं जलमें प्रवेश कर जाऊँगा, रहूंगा, वहां मुझे कोई न सतायेगा, जैसे कभी मधु-मक्खी इस मनुष्य पर मंडरा जाती, काटने लगती, तो यह मनुष्य जलमें जाकर प्रवेश करता है, यह सोचकर कि ये मक्खी जलके भीतर तो आ ही न पायेंगी, मैं सुरक्षित रह जाऊँगा तो बतावो कब तक वह जलमें रहेगा? आखिर वह ऊपर उठेगा और उसे वे मक्खियाँ काटेंगी ही। ऐसे ही कोई चाहे जलमें भी प्रवेश कर जाय पर कर्म वहाँ भी उसका पीछा न छोड़ेंगे। वहाँ भी उनका फल बराबर चल रहा है। कोई मनुष्य पाताल लोकमें प्रवेश कर जाय कि मैं पातालमें चला जाऊँगा तो वहाँ सुरक्षित रहूंगा। जैसे रावणके पुरुषोंने लंका पायी थी कि यह बड़ा दुर्गम स्थान है, समुद्रके बीच है जहाँ शत्रुका पहुंचना कठिन है। उससे भी अधिक दुर्गम स्थान हो, पाताल हो वहाँ भी कोई जीव पहुंच जाय तो जीवके साथ चूंकि लगे हैं कर्म सो वे कर्म वहाँ भी उसे न छोड़ेंगे। उदय आयगा, इसका दुःख पाना होगा। चाहे कोई पुरुष आकाशमें बहुत ऊंचे चला जाय पर जीवके साथ कर्म वहाँ भी तो हैं। उनका फल भोगना पड़ेगा। कोई शस्त्र अस्त्रोंसे अपनी खूब दृढ़ रक्षा कर ले, बड़ा मजबूत किला बना ले, और यह सोच ले कि मैं तो अब इसके बीच रहूंगा, वहाँ कोई मेरा क्या कर सकेगा, और जीवके साथ ही तो वे कर्म लगे, उनका उदय आनेपर वैसा संयोग

समागम बन जायगा।

(१०७) शुभ अशुभ घटनावोंको शुभ अशुभ कर्मका फल जानकर लौकिक और अलौकिक सत्कृत्य करनेका अनुरोध—यहाँ यह बतला रहे हैं कि जो शुभ अशुभ कर्म जीव करता है उसका इसे फल भोगना पड़ता हैं। किसी भी अवस्थामें सुख दुःख दिये बिना कर्म झड़ते नहीं हैं। हाँ कोई विशेष तपश्चरणका बल बने और कर्ममें कुछ फर्क डाले तो डाल जाय, मगर वह पहले डलता है, उदयकालमें नहीं डल सकता। उदयकालमें तो कर्म अपना फल देता ही है। तो इस प्रकरणसे हम आपको कई शिक्षायें मिलती हैं। एक तो यह कि जो कुछ हमारा खोटा भला हो रहा है सुख दुःख, उसमें कारण कर्मका उदय है, जगतके अन्य जीव नहीं हैं। जैसे लोगोंकी दृष्टि रहती है कि मुझको अमुक भाईने सताया है, इसने हमको इतना कष्ट दिया है। इसने हमको लूट डाला है, यह मेरा विरोधी है, यह मेरे मनके विरुद्ध कार्य करता है। सो जगतमें कोई किसीको सुख दुःख देने वाला नहीं है। जीवके जब पापकर्म का उदय आता है तो उसके मित्र और कुटुम्बी ही दुःखका कारण बन जाते हैं। शत्रुकी तो बात छोड़ो, मेरेको दुःख देने वाला जगतमें कोई दूसरा नहीं है, इस कारण सब जीवोंमें मित्रता का भाव लाइये, सब मेरे स्वरूपके समान हैं। दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि जो कर्म बँध जाते हैं उनका उदय भोगना पड़ता है, इसलिए अभीसे सावधान रहें कि मेरेसे कोई खोटे कर्म न बनें। देखो कर्ममात्र ही मेरे लिए दुःखका कारण है। कर्म साथ लगे हैं तो शरीर भी साथ लगना पड़ता है। जब यह शरीर भी साथ है तो सारे दुःख इसके साथ आ गए। रोग का दुःख, भूखका दुःख, अपमानका दुःख, कोई गाली गलौज देता है तो इसका बुरा क्यों मानना ? इसने मान रखा इस शरीरको कि यह मैं हूं और उसने इस मुझको गाली दी है, बुरा मानते हैं। तो जितने कष्ट भोग रहे हैं ये जीव ये सब शरीरके कारणसे भोग रहे हैं। पहले तो यह इच्छा करें कि हे प्रभु मेरेको यह शरीर ही न मिले, और मैं शरीरसे रहित केवल जो मैं आत्मा हूं सो ही रहूं और मुझे कुछ न चाहिये, शरीररहित स्थिति चाहिये, कर्म-रहित स्थिति चाहिए, कर्ममात्र मेरे लिए दुःखका कारण है, इसलिए कर्म ही न बंधें वह प्रयत्न करिये, पर जब तक ऐसा नहीं हो पा रहा तब तक अशुभ काम तो छोड़ें। शुभ कामों में शुभोपयोगमें, शुद्ध तत्त्वकी भक्तिमें दया दान आदिककी प्रवृत्तिमें अपने आपको लगाइये तो शुभ कार्योंका फल शुभ मिलेगा, अशुभका फल अशुभ मिलेगा।

—०—

१५वां परिच्छेद—उदरनिरूपण

तावज्जल्पति सर्पति तिष्ठति माद्यति विलसति विभाति ।
यावन्नरो न जठरं देहभृतां जायते रिक्तं ॥ ३७५ ॥

(१०८) जगतके प्राणियोंकी क्षुद्ग्रस्तता—इस परिच्छेदमें क्षुधा सम्बन्धी वार्तावोंका विवरण है । यह जीव तब तक बोलता चालता है जब तक कि इसका पेट भरा रहता है । देखिये—क्षुधा रोग समस्त जीवोंपर बना हुआ है । कीड़ा मकोड़ा वे भी क्षुधा रोगसे ग्रस्त हैं और पेड़ पौधे इनको भी क्षुधा लगती है । पता नहीं पड़ता कि इनको कैसे क्षुधा है ? वे मिट्टी खाद आदिक इन सबको खा लेते कि नहीं ? वे जड़से खाते हैं, उनका ढंग और है, उनके मुख नहीं है, मगर अपनी जड़ोंसे मिट्टीके परमाणु, पानीके, खादके परमाणु उनको ग्रहण करते हैं, उन्हें शरीररूप बनाते हैं, यह ही तो मनुष्य करते हैं । ये मुखसे ग्रहण करते हैं और उनसे शरीर बंधता है । तो क्षुधा रोगसे संसारके सारे प्राणी ग्रस्त हैं । नारकियोंसे तो इतनी क्षुधा है कि यह बताया गया कि—"तीन लोकका नाज जो खाय, मिटे न भूख तृणा न लहाय ।" पशु-पक्षी इनके कितनी क्षुधा है, और देवगतिमें कष्ट यह है कि उनके भूख नहीं लगती मगर वहाँ भी भूख लगती । लगती है हजारों वर्षमें और भूख लगी कंठसे अमृत झड़ा और उनकी क्षुधा मिट गई । कुछ भी हो, मगर क्षुधाका रोग संसारके सारे प्राणियों पर लगा है । इससे अगर कोई छूटा है तो परमात्मा, अरहंत भगवान, सिद्ध भगवान, इनके क्षुधाकी व्याधि नहीं है । सिद्धके तो शरीर ही नहीं । उनके क्षुधाका प्रश्न ही क्या ? और अरहंत भगवानके शरीर है, मगर परमौदारिक । वहाँ क्षुधाका प्रश्न नहीं । बाकी सब जीवों पर यह क्षुधा रोग लगा हुआ है ।

(१०९) सभी प्राणियोंपर क्षुधाका आक्रमण—हम आप लोग इस क्षुधाकी अधिक चर्चा क्यों नहीं करते, क्योंकि खूब अच्छे साधन हैं, पैसा है, संयोग है, जरा भूख लगी तो तुरन्त खा लिया, सुबह नास्ता किया, फिर भोजन किया, फिर फल खाया, शामको फिर भोजन किया और कई आदमी तो रात दिन जब चाहे खाते पीते ही रहते हैं । एक आदमी ने एकसे चर्चा की कि तुम तो रात दिन मुख चलाते ही रहते हो तो उसने कहा कि हम तो सोते समय खानेका त्याग रखते हैं, सो सोते समय तो नहीं खा पाते मगर जगते समयमें बराबर खाने पीनेका ही प्रोग्राम चलता रहता है । यह बात रेलगाड़ियोंमें खूब देखनेको मिलती है । तो सब प्रकारके साधन हैं, इसलिए नहीं पता पड़ता, नहीं तो क्षुधाकी बड़ी कठिन वेदना इन जीवोंके साथ लगी है । जिनको साधनोंका संयोग नहीं है, समागम नहीं

पड़ता है भूख सताती है, तो वे जानते हैं कि क्षुधाका कितना बड़ा रोग लगा है। तो यहाँ एक भवमें खूब आरामसे रह लिया, क्षुधाका दुःख न रहने दिया तो इससे क्या होता है ? क्या अगले भवमें बच जायगा ? गरीबी निर्धनतासे। ये कीड़े मकोड़े पशु पक्षी क्या जोड़कर रखते ? तो क्षुधा रोग इतना कठिन है कि जब तक यह प्राणी क्षुधा रोगसे ग्रस्त रहता है तब तक इसे और कुछ नहीं सुहाता। तब ही तक यह प्राणी बोलता है जब तक कि इस प्राणीका उदर भरा रहता है। यह तब ही तक चलता, फिरता, उठता, बैठता खुश होता, आनन्द मानता है जब तक कि इसका पेट भरा रहता है। यह उदर निरूपण की बात कही जा रही। संसारके सारे प्राणी इस क्षुधा रोगसे ग्रस्त हैं।

(११०) क्षुधादिदोषरहित सहजात्मस्वरूपकी आराधनासे सिद्धिका लाभ—यहाँ पूजामें बोलते हैं ना—'क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामि' क्षुधा रोगके विनाशके लिए मैं नैवेद्यको चढ़ाता हूं या नैवेद्यको त्यागता हूं, नैवेद्यको छोड़ता हूं। लोग जानते हैं कि क्षुधाकी शान्ति इन व्यञ्जनोंसे होती है। तो जब इस जीवने समझा कि मेरा स्वरूप तो क्षुधा आदि व्याधियोंसे रहित है, अमूर्त ज्ञानमात्र केवल शुद्ध ज्ञानज्योति, इसमें क्षुधाका क्या काम है ? स्वरूप है इसका ज्ञान। यह जानता रहे, जाननमात्र इसकी प्रवृत्ति रहे यह है इसकी वृत्ति। तो क्षुधारहित आत्माका स्वरूप जब इस ज्ञानीने जाना तो यह ज्ञानी इस नैवेद्यको त्यागता है। अब तुझे इससे कोई प्रयोजन न रहा। खा खाकर कब तक गुजारा चलेगा ? फिर मरेंगे, शरीर मिलेगा, क्षुधा रहेगी, फिर मरेंगे, शरीर मिलेगा बस यही तांता लगा रहना पसंद है क्या ? इसी तरह अपने आपको संसारमें रुलाना पसंद है क्या ? अब अपने आत्माका दोष सम्हालिये। आत्मतत्त्वके दर्शन करिये, यह भगवंत परमात्माकी तरह है, उसका आदर बनाइये। यह आदर तब ही तो बन सकेगा जब कि कुटुम्ब आदिकसे ममता न रहे। ममता ऐसी बनाये हुये हैं कि इसके चित्तमें आता ही नही है कि और भी दूसरे जीव हैं और ये सब एक समान हैं। घर, स्त्री, कुटुम्ब, पुत्र, मित्र आदि इसके चित्तमें लगे हैं। ये मेरे हैं, मेरा सब कुछ तन, मन, धन, वचन इनके लिए ही है, इस प्रकारकी तो ममता लादे हैं और चाहें कि हमें धर्मका पालन हो तो कैसे हो सकता है ? जब मोहका विष हृदयमें ऐसा घर कर रहा है तो वहां धर्म रंच भी हो सकता है क्या ? दिख रहा है कि बहुत बड़ा समुदाय है धर्म करने वालोंका, मंदिरमें बड़ी संख्या है, सभी लोग दर्शन करने आते हैं, सामायिक करते हैं, जाप देते हैं, शास्त्र पढ़ते हैं, त्यागी व्रतियोंकी बड़ी खबर रखते हैं, सेवा सुश्रुषा करते हैं। ये लोग तो बड़े धर्मात्मा हैं, ऐसा दिखता है पर मोहका विष यदि भीतरमें भरा है तो वहां रंच भी धर्म नहीं है। फिर भी जो कुछ थोड़ा बहुत करते हैं उससे कुछ पुण्य कर्म बँध गया, इतना

तो लाभ है मगर उससे मोक्षमार्गका धर्मका रंच भी लाभ नहीं है जिनके मोह लगा है, मोह का विष लदा है।

(१११) **दोष व दोषनिवृत्तिके अर्थ आत्मनिरीक्षण**—अब आप सब लोग अपनी-बात सोचिये कि मेरे चित्तमें मोहका विष चढ़ा है या नहीं। हम सबका चित्त बता देगा भली भांति पूछेंगे अपने आपसे कि मेरा चित्त कुटुम्ब आदिकमें कितना फंसा हुआ है। ये ही मेरे सब कुछ हैं, उनको देखकर मन खुश हो जाता है कि मेरा यह फलाना आ गया। तो समझ लीजिए कि जहां अज्ञान, ममता मोह भीतरमें घर किए हुए है वहां धर्म रंच भी नहीं हो सकता। जैसे जो घड़ा तैलसे चिकना है उसपर पानीकी बूंद ठहर नहीं सकती ऐसे ही मोहसे भरे हुए हृदयमें धर्मका प्रवेश रंच भी नहीं हो सकता। और भी देखिये—धर्म बिना इस जीवकी रक्षा करने वाला जगतमें कोई नहीं है। किसीको शरण मान लें, कैसी ही बात रक्षा की बना लें, मगर इसकी कहीं रक्षा नहीं है। एक धर्मपरिणाम ही ऐसा है जो इस जीवकी रक्षा कर सकता है अन्य कोई नहीं। वह धर्मपरिणाम क्या है ? आत्माका वास्तविक स्वरूप ज्ञानमें रहे और उसके अतिरिक्त सर्व पदार्थोंको अपनेसे निराला समझें, अपने आपमें जो भी विकार जगता है, विचार जगता है उसको माया समझें। यह मैं आत्मा तो सबसे निराला ज्ञानमात्र हूं। ऐसी दृष्टि जगे तो धर्म मिलेगा, बाकी मन, वचन, कायकी जो ऊपरी क्रियायें चल रही हैं उन क्रियावोंसे धर्म नहीं मिला करता। जिनको धर्म मिला है उनके मन, वचन, कायकी ऐसी ही क्रियायें होती हैं जिन्हें हम आप धर्म कहते हैं। यदि धर्मभाव भीतर है तो उसकी धर्मक्रियायें धर्मके लिए बनेंगी मगर जिनके चित्तमें धर्मभाव नहीं है और धर्मकी ऐसी क्रियायें करें तो उससे कहीं धर्म न मिल जायगा। सो धर्म ही एक जीवका रक्षक है, जिससे जब तक यह संसारमें रहेगा तब तक भी यह सुखपूर्वक रह लेगा और निकट कालमें ही संसारके सारे संकटोंसे वह छूट जायगा और मुक्त अवस्थाको प्राप्त होगा।

(११२) **क्षुधा और बुभुक्षाकी वेदना**—क्षुधाका यह प्रकरण चल रहा है। क्षुधा मायने क्या है ? तो लोग तो कहते हैं भूख, पर असलमें क्षुधाका अर्थ भूख नहीं है। भूख शब्दका सही शब्द है बुभुक्षा। भूखका अर्थ है खानेकी इच्छा। और क्षुधाका अर्थ है कोई तरहकी पीड़ा। क्षुधा एक रोग है और भूख तो क्षुधाको मेटनेके लिये भोगनेकी चाहका नाम है रोग, और रोगको दूर करनेकी इच्छा इन दोनोंमें फर्क है, पर क्षुधा शब्दका असली अर्थ हिन्दीके शब्दोंमें कोई अर्थ नहीं मिल रहा, इसलिए भूख शब्द प्रसिद्ध हो गया। भूख लगी तो भूख लगीका अर्थ है मेरेको खानेकी इच्छा जगी। क्षुधा एक रोग है, व्याधि है और उस व्याधिमें, उस पीड़ामें यह जीव व्याकुल हो जाता है, सो यदि क्षुधा रोगको सदाके लिए निवृत्त करना है तो उसका उपाय बनाइये, उसका उपाय है धर्मसाधना, और जो ४-६ घंटेको क्षुधा

मिटाना है तो मिटा लीजिए मगर फिर बुभुक्षा आयगी और देखो रोज क्षुधा सताती है, देखो रोज रोज वही दाल, रोटी, चावल हमेशा खाते आये, पर रोज रोज नया जैसा लगता है। क्यों नया जैसा लगता, क्योंकि वेदना है ना, तो इस वेदनाके इलाजमें इसे ऐसा लगता कि मैं आज नई चीज खा रहा हूं। तो इस क्षुधाकी पीड़ाको यदि अपने आपसे हटाना है तो क्षुधारहित कर्म शरीर आत्माका जो ज्ञानानन्दस्वरूप है उस ज्ञानानन्द स्वरूपको अपनाइये। मैं यह हूं ज्ञानज्योतिस्वरूप अमूर्त। मेरा तो यह शरीर भी नहीं। एक बार ऐसा अनुभव तो आना चाहिए कि मैं केवल जीव ही जीव, आत्मा ही आत्मा हूं। शरीर यहाँ है ही नहीं, शरीरका ख्याल छोड़ दीजिये। शरीर सदासे अलग है, मेरी सत्ता अलग है, तब इसका बिल्कुल ध्यान छोड़ दें, और केवल ज्ञान ज्ञानप्रकाश ही ज्ञानमें रहे ऐसी स्थिति बन जाय। ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, तो समझिये कि ज्ञानका अनुभव बनेगा, अपने आत्माका परिचय बनेगा। इस ज्ञानके अनुभव द्वारा ही हम अपने आपका उद्धार कर पायेंगे। जगतमें कितनी ही माया समेट लें, पर वह पाप है, कलंक है, उससे मेरे आत्माका उद्धार नहीं होनेका। आत्माके उद्धारका कारण तो ज्ञान है, इस ज्ञानसे प्रीति जगे, ज्ञानके साधनोंसे प्रीति जगे, ज्ञानी जीवोंसे प्रीति जगे तो अपना होनहार अच्छा होगा, बाकी अन्य रागोंमें इसका होनहार भला नहीं है।

यद्यकरिष्यद् वातो निक्षिप्तद्रव्यनिर्गमद्वारं।
को नाम शक्यः कर्तुं जठरघटोपूरणं मर्त्यः ॥३७६॥

(११४) **जठरघटीके पूरणकी अशक्यताका सयुक्तिक विवेचन**—प्राणी पेटभर खाते हैं, पर खाये हुए अन्नको निकाल देने वाला पवन पेटमें मौजूद है अर्थात् खाया और मलद्वार से वह निकल गया, तब तो पेट खालीका ही खाली रहा, और यही कारण है कि किसीमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि इस पेटको पूरा भरा ही रख सके। उदर रूपी घड़ेमें पड़े हुए पदार्थ को निकालने वाला पवन बराबर मौजूद है। भोजन किया जाता है तो जठराग्निसे वह पच जाता है, पचकर मलिन बन जाता है। मल होकर फिर उदरमें ठहर नहीं सकता। निसार हुए बाद उस मलको डाटे रहनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं रहती, अन्तमें वह मलद्वारसे निकल जाता है, फिर पेट तो खाली ही रहा। अब उस खाली पेटको भरे रखे ऐसी किसमें सामर्थ्य है? यह क्षुधा रोग इस जीवको इतनी महान् पीड़ा देने वाला है कि प्रतिदिन ही क्षुधावेदना से त्रस्त होता है और थोड़े समयको क्षुधा वेदना शान्त होती है जब तक कि वह पेट भरा रहता है। जब वह मल बनकर बाहर निकल गया तो वह पेट खाली रहा। अब उसे कोई नहीं भर सकता। इतनी बड़ी विवशता इस जीवके साथ लगी हुई है और यही कारण है

कि रोज रोज इस जीवको परेशान रहना पड़ता है और उस पराधीनताके साथ-साथ जीवनमें दीनता भी आ जाती है। जब क्षुधावेदना है तो मनमें दैन्यभाव भी आता। अब यह खायें, यह चाहिये इस प्रकारकी प्राप्ति होना यह ही तो दीनता है, क्षुधा रोग कैसे दूर हो उसका उपाय बनाना विवेकी पुरुषोंका कर्तव्य है। जब तक शरीर साथ है और जीवको निर्दोषता और गुणपूर्णता नहीं प्रकट हुई है तब तक तो इसे क्षुधाकी बराबर बाधा बनी ही रहेगी। सो निर्दोषता बने और गुणोंका परिपूर्ण विकास हो यह स्थिति चाहिये तो इस क्षुधा वेदनासे हट सकते हैं।

शक्येतापि समुद्रः पूरयितुं निम्नगाशतसहस्रैः।
नो शक्यते कदाचिज्जठरसमुद्रोऽन्नसलिलेन ॥३७७॥

(११५) **अन्नसलिलसे जठरसमुद्रके पूरणकी अशक्यता**—क्षुधा वेदनाकी कठिनाई इस प्रकरणमें बतलायी जा रही है जिस कठिनाईको जानकर यह शिक्षा लेना होता है कि कोई ऐसा उपाय बनाया जाय कि सदाके लिए यह क्षुधा वेदना नष्ट हो जाय। कुछ कालके लिए व्यञ्जन खा पीकर क्षुधावेदनाको शान्त किया तो उससे कोई पूरा तो नहीं पड़ता, बल्कि खानेसे तो यह शरीर रहता है, फिर भूख लगती है, फिर खाना पड़ता है, यों उसकी परिपाटी बराबर चलती जाती है। जैसे—समुद्रसे तो सैंकड़ों हजारों नदियोंके समूहसे एक बारमें भर लिया जाय तो वह भरा जा सकता है, समुद्र परिपूर्ण हो जायगा उसकी सीमा है चारों ओर, उस सीमा तक जल आ जायगा, और ऐसा भी हो सकता कि और नदियोंका पानी आता जाय तो अपनी सीमाको लाँघकर समुद्रका पानी बाहर भी निकल सकता है। जैसे कवि लोग कहते हैं कि समुद्रसे कभी एक बूंद भी पानी नहीं कहा है ऐसी असम्भवसी बात भी सम्भव हो सकती है किन्तु यह सम्भव नहीं हो सकता कि उदर रूपी समुद्र अन्न रूपी जलसे कभी भर जाय, फिर कभी रीता न हो। कितने ही अन्न इस पेटमें डालते जाइये, तत्काल तो कुछ पेट भरा रहता है मगर समय जैसे व्यतीत होता, मिनट-मिनट व्यतीत होते कि बस पेट खाली होने लगता। जठराग्नि खाये हुए अन्नको भस्म कर देती है और फिर यह पेट अतृप्त हो जाता है। तो इस उदरसमुद्रकी तृप्ति कितने ही अन्नका पानी डाल दिया जाय तो भी यह पूर्ण नहीं हो सकता, ऐसी यह क्षुधावेदना लगी है और इसका निमित्त कारण है असाताका उदय और उस ढंगके असाताका उदय इस जीवकी परिपाटीको चलाता आ रहा है। जिस भवमें गया यह जीव वहाँ ही क्षुधावेदना इसको सताती। कीड़ा हुआ तो वहां भी क्षुधावेदना, मनुष्य बन गया तो वहां भी क्षुधावेदना। पशुवोंकी क्षुधा तो सामने ही स्पष्ट है। मन-मनभर अन्न एक बारमें खा जायें ये हाथी, घोड़ा, ऊँटा आदिक, यह तो देख

ही रहे हैं। तो यह क्षुधा वेदना संसारके समस्त जीवोंको परेशान कर रही है। इससे मुक्त होनेका उपाय मात्र क्षुधावेदना रहित देहरहित ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी उपासना करना है।

वैश्वानरो न तृप्यति नानाविधकाष्ठनिचयतो यद्वत्।
तद्वज्जठरहुताशो नो तृप्यति सर्वथाप्यशनैः ॥३७८॥

(११६) **जठराग्निकी भोजनेन्धनसे सर्वथा तृप्तिकी असंभवता**—जैसे कितनी ही प्रकारके काष्ठोंका समूह अग्निमें डाल दिया जाय पर अग्नि कभी तृप्त नहीं होती। अग्निका तो वह खुराक है ईंधन। ईंधन पायगी तो अग्नि बढ़ेगी। कितना ही काष्ठसमूह इस अग्निपर डाल दिया जाय तो अग्नि कभी तृप्त नहीं होती, बल्कि अतृप्त होकर और अधिक तृष्णाको ही बढ़ाती चली जाती है याने आग और तेज होती जाती है। फिर उसपर और ईंधन कोई डाल दे तो वह भी आग बनती जाती है। कितनी ही बार डालते जाइये ईंधन, पर अग्नि बढ़ती ही जायगी। तृप्त होनेका तो कोई काम नहीं है। इसी प्रकार यह उदररूपी अग्नि चाहे इसमें कितना ही अन्नरूपी ईंधन झोंक दिया जाय तो भी यह उदराग्नि बढ़ती ही जाती है। कभी भी सन्तुष्ट नहीं होती। मनुष्योंका, पशुओंका, सभीका रोजका काम देख लीजिए। रोज रोज खाना, कुछ समय बाद मल निकालना, बस यही जीवनभर लगा रहता है। अन्य कामोंमें तो परिश्रम होता है मगर यह क्षुधा रोग इस जीवको बहुत परेशान किए हुए है। सो यह उदराग्नि भोजनसे कभी संतुष्ट नहीं होती। तब इस क्षुधाके शान्त होनेका उपाय जगतमें पौद्गलिक समागम नहीं है। यह आत्मा स्वयं क्षुधा आदिक वेदनाओंसे रहित है, ज्ञानज्योति अमूर्त है, स्वयं आनन्दस्वरूप है। उसकी दृष्टि बने। उस ही रूप अपने आपको अनुभवे तो यह कठिन वेदना जो कि खाते समय तो यह अपनेको बड़ा सुखी मानता है पर है यह वेदनारोग। यह दुःख दूर हो सकता है तो मात्र एक अंतस्तत्त्वकी उपासनासे ही दूर हो सकेगा।

यस्यां वस्तु समस्तं न्यस्तं नाशाय कल्पते सततं।
दुःपूरोदरपिठरी कस्तां शक्नोति पूरयितुं ॥३७९॥

(११७) **वस्तुन्याससे उदरपिठरीके पूरणकी अशक्यता**—उदर रूपी पिठरी कुठिया में, बर्तनमें रखी हुई वस्तु सारीकी सारी अल्प समयमें ही नष्ट हो जाती है, फिर कौन पुरुष इस उदर पिठरीको भरकर पूरा रख सकता है? बर्तनोंमें रखी हुई चीज ज्योंकी त्यों बनी रहती है और वह नष्ट नहीं होती। मानो टंकीमें कोई वस्तु भर दी तो वह भरी रहेगी और ऐसी स्थितिमें यह सम्भव है कि वह पदार्थ भरा हुआ बना रहता है, खाली नहीं रहता, पर यह उदररूपी पिठरी यह भर जाय और भरी हुई बराबर बनी रहे, ऐसा यहाँ शक्य नहीं है।

इससे रखी हुई चीज थोड़े समय बाद ही नष्ट हो जाती है। जैसे भोजन किया, भोजन कर चुके बाद अब उस पदार्थका विनाश होना, मल होना, निसार होना यह बराबर शुरू हो गया है, तो यों उदरमें रखी हुई चीज थोड़े समय बाद ही नष्ट हो जाती है। अब कौनसा उपाय है कि इस उदर पिठरीको बराबर भरा हुआ रखे रहे। यह कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव ही है। सब प्राणियोंको मूल रोग यह लगा हुआ है। क्षुधावेदना। कोई धनिक हो, बड़ा हो, जिसके पास इतनी समृद्धि है कि जब चाहे खाये पिये, उसे यह महसूस नहीं होता कि क्षुधा भी कोई वेदना हुआ करती है। पर वेदना सबके होती हैं और वेदना मिटानेके उपायमें सब लगे रहते हैं। सो इस क्षुधावेदनीय कर्मका विनाश हो याने अष्ट कर्मोंका विनाश हो, जब वेदनीय नष्ट होता है तब फिर कोई कर्म नहीं रहता। वेदनीयकर्म अन्तमें ही नष्ट होता है। तो उसके नष्ट होते ही शरीररहित आत्मा हो जाता है। और कैसा पवित्र आत्मा स्वयं स्पष्ट बन गया कि अब उसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं रहता। तो क्षुधावेदनासे वही बच सका है जो सदाके लिए शरीररहित हो गया।

तावन्नरः कुलीनो मानी शूरः प्रजायतेऽत्यर्थं।
यावज्जठरपिशाचो वितनोति न पीडनं देहे ॥३८०॥

(११९) **जठरपिशाचपीडा न होने तक कुलीनता मान शौर्य आदिका प्रतिष्ठापन**— यह मनुष्य तब ही तक कुलीन बना हुआ है याने कुलके योग्य आचरण करके दुनियाको आदर्श बताता है जब तक कि शरीरमें जठररूपी पिशाच पीड़ा नहीं उत्पन्न करता। कदाचित मान लो ऊँचे कुलमें पैदा हुआ पुरुष है और वह कहीं देश क्षेत्रमें ऐसा फंस जाय कि उसके पास पेट भरनेका कोई साधन न रहा तो अब उसकी कुलीनता क्या कायम रहेगी? क्षुधा वेदनाके वश होकर जिस किसी भी प्रकार वह आकांक्षा और प्रयत्न करेगा कि जिससे इसकी क्षुधावेदना शान्त हो। तो जब तक यह जठरपिशाच पीड़ा शरीर पर अपना अधिकार नहीं जमाती याने क्षुधा वेदनासे जब तक यह त्रस्त नहीं होता तब तक ही यह मनुष्य कुलीन रहता है और अपने श्रेष्ठ कुलपनेको बातें झोंकता है, यह मनुष्य तब तक ही अपना मानीपना दिखाता है, बड़ा हूं, उच्च हूं ऐसा गर्व तब तक ही चलता है जब तक कि क्षुधा वेदना इस शरीरपर अधिकार नहीं जमाती। जिसको क्षुधाकी वेदना लगी है और उसको मिटाने का कोई सुगम साधन नहीं है तब यह किसीका भी मुख ताकता है, आकांक्षा करता है, वहाँ फिर इसका भान कहाँ रहता? तो इस मनुष्यका मानीपना तब ही तक दिखेगा जब तक कि क्षुधा वेदनासे यह परेशान न हो। यह पुरुष अपनेको वीर बहादुर होनेका तब तक ही दावा रखता है जब तक कि क्षुधा वेदना इसको परेशान न करे। जहाँ तीव्र क्षुधाकी वेदना

है तो बड़े बड़े वीर वीर बहादुर भी कायर बन जायेंगे और जिस किसी भी प्रकार भोजन मिले वह प्रयत्न करेंगे। तो जब तक यह जठरपिशाच इस पर अधिकार नहीं जमाता तब तक ही सब बातें बड़ी कर्तव्य जैसी लगती हैं और दुनियाको यह मनुष्य दिखानेका प्रयत्न करता है। ज्यों ही क्षुधावेदनाने परेशान किया कि इसका कुलीनपना किनारा कर जाता है। अर्थात् ठहरता नहीं है। यह मान मानो अपनी पूछ दबाकर भाग जाता है। गर्व फिर वहाँ कुछ नहीं दिखता। वीरता मानो काला मुख कर यह कहीं छिप जाती है याने वहाँ वीरता भी नहीं रहती। जठराग्निसे पीड़ित पुरुष छोटे आदमीके पास भी दीन होकर मांगता फिरता है। ऐसी क्षुधाकी वेदनाको हटानेका उपाय अनन्त गुणधाम अमूर्त चैतन्य महाप्रभुकी उपासना-करना है।

यदि भवति जठरपिठरी नो मानविनाशिका शरीरभृतां।
कः कस्य तदा दीनंजल्पति मानापहारेण ॥ ३८१ ॥

(१२०) **मानविनाशिका जठरपिठरीकी समस्याके अभावमें दृश्यमान व्यवहारके अभावका प्रसंग**—यदि प्राणियोंकी यह जठरपिठरी अर्थात् क्षुधावेदना मानका विनाश करने वाली न होती तो कौन पुरुष फिर किसके आगे दीन होकर वचन व्यवहार करता? अर्थात् फिर तो सभी स्वतंत्र ही थे। घरमें १०-५ लोग रहते हैं, वे सब किसी बड़ेके हुक्ममें रहते हैं, ऐसा क्यों करते हैं? उन सबके क्षुधा वेदना है और उसे शान्त करनेका भी आवश्यक काम रोज-रोजका पड़ा है, इसी कारण एक दूसरेके आधीन हैं और एक दूसरेकी बात मानते हैं। यदि यह भूख वेदना, क्षुधा, न लगती होती तो फिर बतलावो कौन पुरुष किसका ताबेदार होता, सेवक होता, आज्ञा मानने वाला होता? फिर तो स्त्री, पुत्र, मित्र आदिक सभी लोग अतीव स्वतंत्र हो जाते। कोई किसीकी परवाह भी न करता। एक यह पेट ही ऐसी चीज है, क्षुधा वेदना ही ऐसा रोग है जिसके कारण बड़े-बड़े मानियोंका मान भी नष्ट हो जाता है। यही तो संसारमें अनादिसे परिपाटी चली आयी है। इस ही परिपाटीमें यह जीव परेशान हो रहा है। इसकी मुक्ति हुए बिना इसका उद्धार नहीं है। मुक्तिके लिए इन सब वेदनावोंसे रहित केवल शुद्ध चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्वकी, सहज परमात्मस्वरूपकी आराधना करना है। जिसके बलसे यह शरीरलाभकी बरबादी मिटे अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि हो, और वास्तविक आनन्द प्रकट हो।

गायति नृत्यति वल्गति धावति पुरतो नृपस्य वेगेन।
किं किं न करोति पुमानुदरग्रहपवनवशीभूतः ॥३८२॥

(१२१) **उदरपिशाचवशीभूत प्राणीकी विविध विचित्र चेष्टायें**—यह मनुष्य पेटरूपी

ग्रहपवनके वशीभूत होकर क्या क्या नहीं कर डालता ? लोकमें अनेक मनुष्य गान तान कर आजीविका करते हैं। एक व्यवसाय बन गया है और जब चाहे पैसा देकर बुलाये, गाना गवाये। तो गानेकी जो एक आजीविका बनाते हैं वह इस पेटसे परेशान होकर ही तो बनाते हैं। तो उदहग्रहसे ग्रस्त हुआ पुरुष यह गाता है, नाचता है, अपने शरीरकी ऐसी कलायें दिखाता, हाथ पैर चलाता, मुख आँखकी भाव मुद्रा बनाता, ये सब किसलिए कोई पुरुषकर रहा है ? केवल पेटरूपी पिशाचसे पीड़ित होकर ही कर रहा। जैसे किसी को भूत पिशाच लग जाय तो वह खूब नाचता गाता है, जैसी चाहे चेष्टा करता है ऐसे ही यह मनुष्य उदर रूपी भूत पिशाचके वशीभूत हुआ गाता है, नाचता है और बड़ी बड़ी डगें भर कर कूदता है। किसी भी जगह जहाँ लाभ सुने वहाँ यह दौड़ता है। क्यों दौड़ता है ? इसलिए कि उस सामग्रीसे यह उदराग्नि शान्त करली जायगी। तो पेटके लिए ही तो यह दौड़ता है। जैसे भूख पिशाचसे ग्रसा हुआ आदमी ये सारी क्रीड़ायें करता है—गाना, नाचना, कूदना, दौड़ना आदिक विसम चेष्टायें करता है इसी तरह इस भूखसे सताया हुआ मनुष्य राजा, धनिक आदिक बड़े पुरुषोंके सामने गाता है, नाचता है, कूदता है, दौड़ता है। ये आजीविकायें करके यह मनुष्य राजावोंको रिझानेका प्रयत्न कर रहा है। तो ऐसा रिझानेका प्रयत्न अपना पेट भरनेके लिए ही करता है। मानो यदि पेट न होता याने इस जीवके क्षुधावेदना न होती तो कोई कुछ भी न करता।

जीवान्निहंत्यसत्यं जल्पति बहुधा परस्वमपहरति।
यदकृत्यं तदपि जनो जठरानिलतापितस्तनुते ॥३८३॥

(१२२) **जठरानिलतप्त प्राणीका अकृत्यव्यवहार**—जो पेटके पीछे काम करनेकी अनेक बातें ऊपर बतायी गई हैं उनमें कई कार्य करने लायक भी हैं, जिनके करनेसे किसीको कुछ भी पीड़ा नहीं होती। सो यद्यपि वह काम भी यह मनुष्य दीनतावश करता है जिनसे किसी दूसरेको पीड़ा नहीं होती, परन्तु ऐसे काम भी इस पेटके वश होकर यह जीव कर डालता है जो बिल्कुल नहीं करने योग्य हैं। अयोग्य कामोंको भी कर डलता। जैसे कोई किसीको मारकर खा ले तो यह कितना अयोग्य काम है। इस भूखे प्राणीको अन्य जीवोंका स्वरूप ही समझमें नहीं है, पर रंच भी दया नहीं है तो वे उन्हें मार डालते हैं, खा डालते हैं। ऐसे अयोग्य काम यह पेटके कारण ही तो कर रहा है। लोग झूठ बोलते हैं, चोरी करते हुए पकड़े जाते हैं और और भी जितने अधम कार्य किये जा रहे हैं वे सब इस पेटके लिए ही तो करते हैं। तो इस अधम पेटके लिए यह पुरुष जो जठराग्निसे संतप्त है, भूखसे व्याकुल है वह क्या क्या नहीं कर डालता ? योग्य कार्योंको करे और अयोग्य कामोंको भी कर

डालता है, ऐसी विडम्बना इस क्षुधा वेदनाके कारण करनी पड़ रही है। इसका मूलसे विनाश तब ही है जब कि शरीररहित आत्माकी शुद्ध स्थिति प्रकट हो जाय।

द्युतिगतिमतिरतिलक्ष्मीलता लसंति तनुधारिणां तावत्।
यावज्जठरदवाग्निर्न ज्वलति शरीरकांतारे ॥ ३८४ ॥

(१२३) **जठरदवाग्निज्वलन न होने तक प्राणियोंके द्युति गति मति आदि लतावों की शोभितता**—जब तक प्राणियोंको समय समय पर खाना मिलता चला जाता है जब तक उनके शरीररूपी वनमें उदराग्नि प्रवेश नहीं कर पाती है तब तक ही मनुष्यके शरीरकी द्युति कायम रहती है। जैसे जंगलमें वृक्ष खड़े हैं, हरे हैं वहाँ बड़ी द्युति है, बड़ी उनकी शोभा हो रही है। यह शोभा कब तक रहती है, जब तक कि उस जंगलमें आग नहीं लग जाती। जहाँ आग लगी कि वे समस्त पत्ते मुर्झा जाते हैं। तो शरीरकी द्युति कहाँ रही ? इस शरीरकी द्युति, गति, चलनेकी शक्ति यह तब ही तक कायम है जब तक इस जीवको खाना मिलता चला जाता है। यह बुद्धि तब तक काम देती है जब तक शरीरको खाना मिलता चला जाता है। कभी यह भूखसे व्याकुल हो जाय और खानेका साधन न मिले तो उस समय इसकी बुद्धि भी काम नहीं करती। यह जीव तब ही तक रतिमें (राग में) रहता है जब तक कि इसको जठराग्नि परेशान नहीं करती। जैसे जंगलमें वृक्षोंकी शोभा, लता तब तक सही है, तब तक नहीं मुर्झाती जब तक कि वहाँ अग्नि नहीं लगती ऐसे ही जब तक जठराग्निका प्रकोप नहीं है तब तक इस मनुष्यके शरीरकी शोभा बराबर बनी रहती है। जैसे ही उदराग्नि प्रविष्ट हुई कि गति, बुद्धि, शोभा इन सभीको यह उदराग्नि कर डालती है। समयपर भोजन न पहुंचे इस मनुष्यके शरीरमें तो कान्ति नहीं रहती, चलना फिर बंद हो जाता, बुद्धि बिगड़ जाती, प्रेम भी नष्ट हो जाता और शरीर शोभारहित होकर, रोगसहित होकर फीका पड़ जाता है।

संसारतरणदक्षो विषयविरक्तो जरादितोऽप्यसुमान्।
गर्वोद्ग्रीवं पश्यति सधनमुखं जठरनृपगदितः ॥३८५॥

(१२४) **जठरवेदनाग्रस्त महापुरुषोंकी भी विवशता**—जो पुरुष संसारसे पार होनेमें चतुर हैं अर्थात् संसार सागरसे तिर सकते हैं, तपश्चरण आदिक करके, आत्मस्वरूपका परिचय करके, अंतस्तत्त्वमें मग्न होकर जो संसार पार कर लेनेकी सामर्थ्य रखते हैं, जिन्हें विषयों से पूर्णतया विरक्ति है, किसी भी इन्द्रियके विषयके सेवनकी कभी भी अपनी इच्छा प्रकट नहीं करते, जो बुढ़ापेसे पीड़ित रहते हैं, वृद्ध होते हैं ऐसे पुरुष भी जिस समय भूख वेदनासे ग्रस्त होते हैं, उदर भरनेके फंदमें पड़ते हैं उनपर भी जब इस उदरनृपकी आज्ञा चलती है तब गर्वसे ऊँचे हुए धनियोंके मुखको आशा भरी दृष्टिसे देखते हैं अर्थात् बहुत उच्च पदमें

पहुंचे हुए पुरुष भी जब जठराग्निकी पीड़ासे बेचैन हो जाते हैं, शरीर जब नहीं चलता तो वे भी उदरपूर्तिकी खोजमें अपनी चर्चा करते हैं। बड़े-बड़े मुनिराज जो परमेष्ठी कहलाते हैं, देह से विरक्त हैं वे भी आखिर इस क्षुधावेदनाकी शान्तिके लिए श्रावकोंके घर स्वयं जाते हैं, शुद्ध आहारकी खोज करते हैं, तो इससे यह जानिये कि इस क्षुधावेदनाने, इस उदरनृपने संसारके जीवोंको कैसा फन्देमें फंसाया है कि ये जीव इस उलझनमें रहकर कभी भी दीनतारहित अपनी चर्या नहीं कर पाते। संसारके प्राणियोंको जो छोटेसे बड़े तक सभीको क्षुधासे ग्रस्त बनाया है तो उससे यह जानना कि संसार ऐसी वेदनावोंका घर है और एक जन्ममें मानो क्षुधाशान्ति का सही साधन बना लिया तो इतनेसे क्या होता है ? मरण होता है, नया जन्म मिलेगा, यह क्षुधा साथ रहेगी। इस शरीरका सम्बंध जीवके लिए बडा कठिन उपसर्ग बना हुआ है। क्षुधा आदि वेदनायें इस शरीरके कारण ही तो सता रही हैं। सो विवेकी जनोंका यह कर्तव्य है कि शरीररहित, वेदनारहित केवल विशुद्ध चेतनामात्र अंतस्तत्त्वकी आराधना करके अपने आपको कल्याणमार्गमें ले जायें।

कर्षति वपति लुनीते दीव्यति सीव्यति पुनाति वयते च।
विदधाति किं न कृत्यं जठरानलशांतये तनुमान् ॥३८६॥

(१२५) **जठरानलशान्तिके लिये प्राणियोंके नाना श्रम**—संसारमें यह शरीरधारी मनुष्य जठराग्निको शान्त करनेके लिए क्या-क्या उपाय नहीं रचता ? जो जो भी बातें उनको बुद्धिमें आती हैं उन सब बातोंको इस पेट भरनेके लिए यह कर डालता है। ये मनुष्य उदराग्निकी शान्तिके लिए ही तो खेत खोदते हैं। खेत जोतनेमें, गोड़नेमें कितना परिश्रम होता है ? इतना बड़ा परिश्रम क्या यह मनुष्य यों ही करता है ? प्रयोजन यह है कि अपनी क्षुधा की शान्तिका साधन बनानेके लिए ही तो यह मनुष्य खेत जोतता है, खेतमें बीज बोता है, अंकुर हो जानेपर उनकी रक्षा करता है, उनकी वृद्धिके लिए परिश्रम करता है, फल आ जाने पर, पक जानेपर उन्हें काटता है, उनका फल निकालता है। प्रारम्भसे अन्त तक किसी विषयक इस परिश्रमको यह जीव जठराग्निकी शान्तिके लिए ही तो करता है। कितने ही लोग जुवा खेलते हैं और अनेक प्रकारके अन्य व्यापार करते हैं। उनमें यह ही तो आशा रखते हैं कि कुछ द्रव्यका संचय हो तो वे उस साधनसे अपनी जठराग्नि शान्त कर लें। तो यह क्षुधा वेदना इस जगतके जीवोंसे क्या-क्या काम नहीं करा रही है। लोग कपड़े सीते हैं, झाड़ू लगाते हैं, मजदूरीका काम, सफाईका काम, कपड़े सीनेका काम आदि, ऊँचेसे ऊँचे नीचेसे नीचे सभी कामोंको यह मनुष्य जठराग्निकी शान्तिके लिए ही करता है। अन्य अन्य बातोंपर इस मनुष्यका कुछ वश चलता है या मानता है, पर जब क्षुधावेदना सताती है, जठराग्निका

प्रकोप होता है तब इस जीवका गर्व खतम हो जाता है और उस समय उसे कोई वश नहीं चलता। यह प्राणी इस उदराग्निके साधन, शान्तिके साधन बनाये रखनेके लिए क्या क्या नहीं करता। न जाने कहाँ कहाँ जाता, कहाँ कहाँ यात्रा करता, किन किन समुद्रोंमें, वनोंमें प्रवेश करता, न जाने क्या क्या कारीगरी नहीं करता। वस्त्र बुने, अनेक प्रकारकी कलावोंसे यह अनेक निर्माणकार्य करता। ये सब कलायें इस जठराग्निकी शान्तिके लिए करता है। एक क्षुधाकी वेदना न हो तो किसीको क्या गर्ज पड़ी है कि वह कठिनसे कठिन परिश्रमसाध्य किसी नये कार्यको करे। जुवा खेलता है उसमें बदनाम होता है। दर्जीका पेशा करता है, भंगी, मेहतर आदिकका कार्य करता है जुलाहा बनता है ये सब कार्य इस जठराग्निकी शान्ति के लिए ही तो करने पड़ते हैं। हाय! यह सारा जगत एक इस क्षुधावेदनासे ऐसा ग्रस्त है कि इससे विवश होकर यह अपना सारा बुद्धिबल खो देता है।

लज्जामपहंति नृणां मानं नाशयति दैन्यमुपचिनोति।
वर्धयति दुःखमखिलं जठरशिखी वर्धितो देहे ॥३८७॥

(१२६) **जठराग्निबाधित प्राणीके दुःख और दोषोंका वर्धन**—जब शरीरमें जठराग्नि बढ़ जाती है, तेज क्षुधाकी वेदना हो जाती है तो यह मनुष्य लज्जाको छोड़कर निर्लज्ज हो जाता है। यहाँ तक कि भीख माँगकर भी अपना पेट भरता है, वहाँ भी शर्म नहीं करता। तो यह क्षुधाकी तीव्र वेदना इस जगतके जीवोंको सताती है। जब जठराग्निका प्रकोप होता है तो मानका सर्वथा अभाव हो जाता है। क्षुधा वेदनासे त्रस्त प्राणी अपना मान नहीं रख पाते। चाहे वे ऊँची स्थितिमें हों चाहे छोटी पदवीमें हों, पर क्षुधाके आगे मान किसीका नहीं टिक सका। उदराग्निके प्रकोपके समय दीनताका साम्राज्य छा जाता है। सभीको दीन होना पड़ता है। अन्यकी तो बात क्या, भले ही कुछ वैराग्यबुद्धिके कारण साधुजन दीनता नहीं करते हैं पर भिक्षा चर्या करनेमें दीनताका कुछ न कुछ अंश आ ही जाता है। तो क्षुधावेदना होनेपर दीनताका साम्राज्य छा जाता है। क्षुधा वेदनामें अन्य समस्त दुःख सह लेते हैं, तो यह एक ऐसी कठिन वेदना है कि इसमें निर्लज्जता आ जाना, मानरहित हो जाना, दीनता आ जाना आदिक सारे दोष होते हैं। तो ऐसा क्षुधा वेदनाका आधारभूत यह शरीर ही इस जीवके साथ न रहे तो यह जीव पवित्र है, कल्याणमय होगा, पर जब तक यह शरीर साथ लगा है तब तक यह जीव अपवित्र बन रहा है। सो शरीररहित अंतस्तत्त्वकी उपासना करके अपने आपको ज्ञानशरीरमात्र, ज्ञानज्योतिमात्र अनुभवना चाहिये।

गुणकमलशशांकतनुर्गर्वग्रहनाशने महामंत्र।
सुखकुमुदौघदिनेशो जठरशिखी बाधते किं न ॥३८८॥

(१२७) **जठराग्निसे गुणोंका भस्म होना**—यह जठराग्नि गुणरूपी कमलोंके लिए चंद्रमाकी तरह है। जैसे चन्द्रोदय होनेपर कमल मुद जाता है इसी प्रकार जठराग्नि होनेपर इस आत्माके गुण सब हीन हो जाते हैं। यह जठराग्नि गर्वरूपी ग्रहके नाश करनेमें महामंत्र का काम देती है। जैसे कहीं कोई पिशाच लग गया हो या पिशाचका कहीं उपद्रव आ गया हो तो महामंत्रबलसे पिशाचका उपद्रव दूर हो जाता, इसी प्रकार इस जठराग्निका प्रकोप हो जानेपर गर्वका विनाश होता है। जब तक पेट भरा है तब तक जीवके गर्व है, आग्रह है, नाना प्रकारकी यह मनमानी लीलायें करता है। यह जठराग्नि सुखरूपी कुमदोंको मुर्झा देने में सूर्यकी बराबरी करती है। जैसे सूर्यका उदय होनेपर कुमुद नामक कमलिनी मुर्झा जाती है ऐसी ही जब इस जठराग्निका प्रकोप होता है तो सुख भी नष्ट हो जाता है। जैसे चन्द्रके उदय होनेसे कमल नहीं खिलता उसी प्रकार उदराग्निसे पीड़ित मनुष्यके गुण नहीं प्रकट होते। जैसे सूर्यका उदय होनेपर कुमुद मुर्झा जाते हैं इसी तरह जठराग्निकी पीड़ा होनेपर सुख भी मुर्झा जाता है, सुखके बजाय दुःख घर कर जाता है। तात्पर्य यह है कि ये संसारके प्राणी इस जठराग्निके द्वारा बड़े पीड़ित हैं और यह शरीर उसका आधार है। और जब तक संसार है तब तक शरीर मिलता रहेगा। सो यह भव भवमें क्षुधाकी वेदनासे दुःखी रहेगा। सो जब तक यह आत्मा अपनी असली स्थिति नहीं पाता, शरीररहित केवल अपने स्वभाव-विकासरूप अवस्थाको नहीं पाता तब तक यह जीव संसारके कष्ट ही कष्ट पाता रहता है।

शिथिलीभवति शरीरं दृष्टिर्भ्राम्यति विनाशमेति मतिः।
मूर्छा भवति जनानामुदर भुजंगेन दष्टानां ॥ ३८९ ॥

(१२८) **उदरभुजंगसे दष्ट पुरुषोंके शरीरका शैथिल्य और दृष्टिका घूमना**—जिसको उदर रूपी भुजंगने डस लिया है अर्थात् जिसको क्षुधावेदना सता रही है और क्षुधावेदनाकी शान्तिके लिए खाने को कुछ न कुछ मिल रहा है उसका शरीर शिथिल हो जाता है। जैसे सर्पके डसने पर डसा हुआ शरीर शिथिल हो जाता है, खड़ा नहीं हो पाता, हाथ पैर कैसे ही गिरते रहते हैं ऐसे ही जब उदराग्नि क्रुद्ध हो जाती है अर्थात् भूख सताती है तो उस तीव्र वेदनामें यह सारा शरीर शिथिल हो जाता है। जैसे सर्पके डसे जाने पर डसे हुए मनुष्यकी दृष्टि घूमने लगती है, दृष्टि स्थिर नहीं हो पाती है, यह सारा जगत घूमता हुआ दिखता, खुद भी घूमता हुआ रहता है इसी प्रकार जठराग्निसे पीड़ित हुआ पुरुष अर्थात् जिसको तेज भूख लगी है उस वेदनासे मुर्झाये हुए पुरुषकी दृष्टि घूमने लगती है। उसको सामनेका दृश्यमान यह पदार्थ समूह भी घूमता सा नजर आता है और स्वयं भी घूमता रहता है।

(१२९) **जठरभुजंगदष्ट पुरुषोंके मतिविनाश और मूर्च्छाका होना**—जैसे सर्पसे डसे हुए पुरुषकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, दिमाग काम नहीं करता है, अब बक भी बकने लगता है इसी प्रकार जठराग्निसे पीड़ित पुरुषकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। अब उस क्षुधावेदनासे पीड़ित पुरुषका दिमाग कुछ काम नहीं करता। किसी कामको करनेमें मन नहीं लगता। यहाँ तक कि लोगोंने एक कहावत बना ली कि "भूखे भजन न होय गोपाला, यह लो अपनी कंठी माला"। क्षुधा वेदनासे ग्रस्त प्राणी भक्ति, ध्यान आदिक सब कुछ छोड़ बैठते हैं। जैसे जिसको सर्पने डसा हो उसको मूर्छा सताने लगती है इसी प्रकार जिसको इस क्षुधावेदनाने सताया है उसे भी बेहोशी आने लगती है। जब कभी भूखका ऐसा तेज प्रसंग आया हो और उसका साधन न मिला हो, प्रायः सभीको जीवनमें ऐसा मौका पड़ा सकता है तो वह स्वयं जानता है कि क्षुधावेदनासे पीड़ित होकर इस मनुष्यको होश भी नहीं रहता है। ऐसे क्षुधा वेदनाके उपसर्गसे दूर होनेकी जिनकी इच्छा है उनका कर्तव्य है कि देहकर्म आदिकसे निराले चैतन्यमात्र इस चैतन्य महाप्रभुकी उपासनामें रहें और ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपका ज्ञान करते हुए अलौकिक आनन्दका अनुभव करें?

उत्तमकुलेपि जातः सेवां विदधाति नीचलोकस्य।
वदति च वाचां नीचामुदरेश्वरपीडितो मर्त्यः ॥३९०॥

(१३०) **उदरेश्वरपीड़ित उत्तमकुलजात मनुष्यको नीचलोकसेवाकी विवशता**—जो पुरुष इस पेटरूपी नृपकी आज्ञासे पीड़ित हैं, जिन पर इस पेटकी हुकूमत चल रही है वे लोग उसकी आज्ञाके वश होकर चाहे, उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हों, उन्हें नीच कुल वाले पुरुषोंकी सेवा करना पड़ता है। यह क्षुधा, यह पेटकी ज्वाला इतनी भयंकर है, इतनी दुःसह है कि इससे पीड़ित होकर उत्तम कुल वाला भी पुरुष जब कुछ पेटपूर्तिका साधन नहीं रहता है तो नीच कुल वाले पुरुषकी भी यह सेवा करने लगता है और इतना ही नहीं, इस उदर-पूर्तिके निमित्त नीचसे नीच जो न कहे जाने चाहिए ऐसे वचन भी बोलने पड़ते हैं। दीनता आना, गर्वका मिटना, लज्जाका खोना, खोटे वचन बोलना आदि ये सारे कार्य उदर पूर्तिके लिए ही तो करने पड़ते हैं। लोकमें ऐसे भाँड़, नट, और और भी कितनी ही तरहके लोग दिखते हैं कि जो जैसे चाहे वचन बोलते हैं। वे केवल एक ही प्रयोजन अपना साधना चाहते हैं कि पेटकी पूर्ति होती रहे! क्षुधा वेदना शान्त होती रहे।

दासीभूय मनुष्यः परवेश्मसु नीचकर्म विदधाति।
चाटुशतानि च कुरुते जठरदरी पूरणाकुलितः ॥३९१॥

(१३१) **उदरगर्तभरणाकुलमनुष्यकी परदास होकर नीचकर्म करनेकी विवशता**—

जो मनुष्य इस जठरदरीके पूरण करनेमें आकुलित हैं याने पेटका गड्ढा भरनेकी चिन्तासे जो बेचैन हैं वे पुरुष दास होकर दूसरोंके घरोंमें नीच कर्म करते हैं, जैसे जूठे बर्तन माँजना, कपड़े धोना, झाड़ू बुहारी लगाना, गौशालावोंका मल-मूत्र साफ करना। भला बताओ कौन मनुष्य ऐसा शौक रखता है कि इन कार्योंको करता फिरे, लेकिन जब इस पेटके गड्ढेको भरनेका प्रसंग आता है, जिसके बिना काम नहीं चलता, शरीर बेसुध हो जाता, शिथिल हो जाय, बड़ी पीड़ा हो जाय, ऐसे इस पेटगड्ढेको भरनेके लिए यह मनुष्य दूसरोंके घरोंमें रहकर नीच कर्मोंको करता रहता है, और इतना ही नहीं, उन बड़े पुरुषोंकी अनेक चापलूसीके वचन भी कहनेमें शर्माते नहीं हैं। जिस किसी भी प्रकार हो, ये मुझपर प्रसन्न रहें, इस प्रकार उनकी प्रशंसा चापलूसी न गुण हों तो भी उन गुणोंको बनाना, बखानना, इन सारे चापलूसीके वचनोंके कहनेमें भी वे पुरुष चूकते नहीं हैं। सो यह जगत इस क्षुधासे ऐसा परेशान है। सो जब तक यह जीव इस शरीरको अपनाये है, शरीरको ग्रहण करता रहता है तब तक ये वेदनायें सहनी ही पड़ेंगी। जिनको ये वेदनायें पसंद नहीं वे शरीररहित चैतन्य महाप्रभुकी उपासना करें।

क्रीणाति खलति याचति गणयति रचयति विचित्राशल्यानि-
जठरपिठरीं न शक्तः पूरयितुं गतशुभस्तदपि ॥ ३९२ ॥

(१३२) **विविध चेष्टाओंसे भी पुण्यहीनकी जठरपिटरीपूरणमें अशक्तता**—जिन जीवोंका पुण्य नष्ट हो गया है अर्थात् जो पुण्यहीन हैं वे नाना प्रकारके व्यापार करते हैं, उनमें भी टोटा पाते हैं और अपना पेट नहीं भर पाते। यह संसार कैसा कष्टका घर है। जो लोग संसारकी चीजोंमें रमण करते हैं वे अज्ञानी हैं, बहुत बड़ी विपत्तिमें फँसे हुए हैं। अज्ञानके समान विपत्ति अन्य कुछ नहीं है। पुण्यहीन पुरुष जमीन की खुदाई करते हैं, बड़े कठिन परिश्रमकी मजदूरी करते हैं फिर भी अपना पेट नहीं भर पाते। उन्हें इतना द्रव्य नहीं मिल पाता कि वे भोजन प्राप्त करके अपनी उदरपूर्ति भी कर सकें। इस जगतमें कैसे कैसे पुण्यहीन प्राणी पाये जा रहे हैं। इस उदरकी पूर्तिके लिए ही अनेक लोग भीख माँगते हैं, याचना करते हैं, लोग उन्हें पुकारते हैं, ये उनकी बात सुन लेते हैं, भले ही भीतर दुःखी हों, आखिर भीख माँगनेके लिए विवश रहते हैं। तो पुण्यहीन पुरुष क्या क्या अकर्तव्य नहीं कर डालते ? जिनका पुण्य नष्ट हो गया वे पुरुष नाना तरहकी कारीगरीका काम करते हैं। गिनती गिनते रहते हैं अर्थात् जैसा चाहे कार्य करते हैं तो भी अपने उदर की पूर्तिमें समर्थ नहीं हो पाते। वे मनुष्य बड़े गहरे अन्धकारमें हैं कि जो पूर्वकृत पुण्यके उदयसे कुछ इन्द्रिय विषय भोगोंके साधन पाकर यहाँ मस्त होते हैं, रमते हैं, मौज मानते हैं। यह कितने दिनों

का मौज है । आखिर उन्हें भी दुःखमें ही पड़ना पड़ता है । सो जो पुण्यहीन पुरुष हैं वे नाना प्रकारके परिश्रम करके भी अपनी उदरपूर्ति नहीं कर पाते । यह संसार कैसा मूर्ख प्राणियों का घर है कि इस क्षुधावेदनासे ये प्राणी निरन्तर त्रस्त रहते हैं ।

प्रविशति वारिधिमध्यं संग्रामभुवं च गाहते विषमं ।
लंघति सकल धरित्रीमुदरग्रहपीडितः प्राणी ॥३९३॥

(१३३) **उदरग्रहपीड़ित मनुष्य द्वारा कठोर व्यवसायोंका भी उपक्रम**——पेट रूपी पिशाचसे पीड़ित हुआ यह प्राणी उदर पालनके प्रयोजनसे समुद्रके मध्यमें प्रवेश करता है । कितने ही लोग जैसे मल्लाह लोग यही आजीविका करते हैं कि किसी समुद्रके मध्य गए और वहाँ कोई सीप, हीरा आदिक चीज मिली, कोई ऐसी मूल्यवान वस्तु कदाचित् मिली तो उसे बेचकर आजीविका करते हैं । तो अपने ही पेटके पालनेके लिए कितने ही प्राणी समुद्रके मध्य में प्रवेश करते हैं, अनेक लोग पेटके ही पालनेके लिए भयानक संग्राममें शामिल होते हैं । युद्धमें सिपाही बनकर भर्ती होना और युद्धमें दूसरोंको मारना, खुद मर जाना, यों लड़ाईका ही तो काम किया जाता है । तो ऐसे भयानक संग्राममें भी शामिल होना पड़ता है इस पेटके पालनके अर्थ । भले ही कुछ लोग चित्तमें वीरताका भी भाव रखते हैं, पर केवल शौकसे ही नहीं वे भयानक संग्राममें जाते, साथ ही उदरपालनका प्रयोजन लगा है । कभी बड़ा पुरुष सेनापति बनकर दूसरोंके युद्धमें प्रवेश करता है तो यद्यपि सीधा प्रयोजन उदर पालनका वहाँ नहीं दिखता, मगर रहता तो है सही पोजीशनके साथ । वे सब भी उदरपूर्तिसे सम्बंध रखने वाले विषय हैं । कितने ही पुरुष इस उदररूपी ग्रहसे पीड़ित हुए समस्त पृथ्वीपर घूमते फिरते हैं । कहाँ जायें, कहाँ व्यापार करें, कहाँ रत्न आदिककी प्राप्ति हो, इस प्रकारकी खोज में, रोजगारमें वह पृथ्वीपर यहाँ वहाँ सर्वत्र घूमता फिरता है । उदर रूपी राक्षससे पीड़ित होने वाले प्राणी इस दुनियामें यहाँसे वहाँ डोलते फिरते हैं । सो यह सब क्षुधाका त्रास जानकर और उसका आधार शरीर जानकर ऐसा ही उपाय बनाना योग्य है कि इस जीवके साथ शरीरका बंधन ही न रहे और सारी व्याधियाँ इसकी एक साथ दूर हो जायें ।

कर्माणि यानि लोके दुःखनिमित्तानि लज्जनीयानि ।
सर्वाणि तानि कुरुते जठरनरेंद्रस्य वशमितो जंतु ॥३९४॥

(१३४) **जठरनरेन्द्रवशीभूत पुरुष द्वारा दुःखनिमित्त व लज्जनीय कार्योंका भी उपक्रम**——उदररूपी राजाके वशमें प्राप्त हुआ यह मनुष्य, यह जंतु संसारमें जितने भी नीचसे नीच लज्जा उत्पन्न करने वाले दुःखके निमित्तभूत कार्य हैं उन सबको करनेमें रंच मात्र भी आनाकानी नहीं करता । लोकमें जितने अत्याचार हो रहे हैं, कोई पुरुष किसीको भी लूट

लेता है, थोड़े थोड़े धनके पीछे दूसरेके प्राण भी हर लेते हैं, और अनेक पुरुष गुंडागर्दीसे जो चाहे कर डालनेकी हिम्मत बनाते, ये सब कार्य एक उदरपूर्तिके लिए ही तो किए जा रहे हैं। ऐसे इन कार्योंमें नीचसे नीच कार्योंको भी यह जन्तु करनेमें शर्मिन्दा नहीं होता। पशु-पक्षी, छिपकली आदिक अनेक जन्तु हैं, ऐसे जिनका कार्य दूसरे प्राणियोंका प्राण हनन करना है और उनको खा डालना है। इससे और नीच कार्य क्या हो सकता है जो दूसरे जीवोंको न जीने दे, उनको खा जाय, प्राणविघात कर दे, इससे नीच और क्या कार्य हो सकता है? सो ये पशु-पक्षी ऐसे नीच कार्यको कर ही रहे हैं। कितने ही जन्तु हैं ऐसे कि जिनका भोजन मांस सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, जैसे छिपकली सिंह आदि, ये मांस खाकर ही जीवित रहना चाहते हैं। तो ऐसे अधम कार्योंको यह जन्तु कर डालता है। वे तो पशु पक्षी ही हैं, और मनुष्योंको भी देखिये--यह मनुष्य मांसभक्षी हो जाता है। कितने ही प्राणियोंका हनन करके उनका मांस खाता है, तनिक भी चित्तमें दया नहीं आती और उदरपूर्तिके लिए कमाई करता है तो उसमें किसीपर कैसा ही अत्याचार करना पड़े, झूठ बोलकर दूसरेको फँसा दे, कितने ही खोटेसे खोटे कार्य यह जीव कर डालता है केवल एक उदररूपी राजाके आधीन होकर। सो सारे संसारको इस उदर पीड़ासे पीड़ित जानकर ऐसा निर्णय बनायें कि इस संसारमें कोईसी भी पदवी, कोईसा भी राज्यादिक पदवियोंका, समृद्धियोंका कोई भी स्थान ऐसा सही नहीं है कि जो इस जीवको शान्ति प्रदान कर सके। सर्वत्र कष्ट ही कष्ट भरा हुआ है। ऐसे इस कष्टमयी जगतसे विरक्त होना और आत्मशान्तिके पौरुषमें लगना यह इस मनुष्य का कर्तव्य है।

अर्थः कामो धर्मो मोक्षः सर्वे भवंति पुरुषस्य।
तावद्यावत्पीडा जाठरवह्निर्न विदधाति ॥३९५॥

(१३५) जठराग्निबाधा न होने तक ही मनुष्योंको चार पुरुषार्थोंमें प्रवृत्ति--मनुष्यों के लिए ऋषि संत जनोंका उपदेश है कि वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंको भली-भांति सिद्ध करें। धर्मके मायने पुण्य, दया, दान, संयम, व्रत, उपवास आदिक धार्मिक कार्योंका करना, अर्थका अर्थ है धन कमाना, क्योंकि धन बिना पालन-पोषण नहीं हो सकता। तो गृहस्थावस्थामें धनार्जन आवश्यक है। सो न्यायनीतिसे धनका उपार्जन करें। कामका अर्थ है—पालन-पोषण, भोगोपभोग आदिक सो इन बिना भी गृहस्थका कार्य नहीं चल पाता। तो उन्हें भी न्याय नीतिपूर्वक भोगें और मोक्ष पुरुषार्थके मायने है—मोक्षके लिए कर्तव्य करना, आत्मज्ञान ध्यानका साधन बनाये रहना। मोक्षपंथमें लगने वाले गुरुजनोंकी सेवा भक्ति करना। सो इन चारों पुरुषार्थोंके कर्तव्यका ऋषि संतोंने उपदेश किया, सो यह मनुष्य जब तक इन

चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिका पौरुष करता है तब तक उदराग्नि नहीं सताती। ज्यों ही भलेसे भले मनुष्योंको यह भूख सताती है, जठराग्निका प्रकोप होता है त्यों ही इन सब पुरुषार्थोंको भूल जाता है और अधिक दिन तक साधन न मिले तो अपनी क्रियासे भी भ्रष्ट हो जाता है। तो ये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थोंके कर्तव्यमें पुरुष तब तक ही सावधान रह पाता है जब तक कि यह जठराग्नि इन प्राणियोंको बेसुध न कर दे। तात्पर्य यह है कि मनुष्यका कर्तव्य तो है मोक्ष पुरुषार्थको निभाना, सो ध्यान तो यही रखें, पर परिस्थिति है ऐसी कि शरीरको टिकाये बिना यह संयम साधना कर नहीं सकता और शरीर टिकेगा अन्न पानसे, सो यथा समय यथोचित अन्न पान देकर कर्तव्य यह करें, साधना ऐसी करें कि शरीररहित ज्ञानमात्रकी स्थिति प्राप्त हो याने मुक्ति प्राप्त हो। मुक्त जीव ही पूर्णतया पवित्र हैं, आनन्दमय हैं।

एवं सर्वजनानां दुःखकरं जठरशिखिनमतिविषमं।
संतोषजलैरमलैः शमयंति यतीश्वरा ये ते ॥३९६॥

(१३६) **अतिविषम जठराग्निका संतोषसलिलसे यतिजनों द्वारा शमन**—यह उदराग्नि समस्त मनुष्योंको दुःखी करने वाली है। अतीव विषम है। इस क्षुधाके कारण शरीर शिथिल हो जाता है। किसी भी कार्यके करनेमें उत्साह नहीं रहता है, इतनी तीव्र वेदनामें यह सब कुछ धर्म बुद्धि गँवा देता है। सो अतिशय कष्टको देने वाली यह जठराग्नि है, परन्तु इस जठराग्निको भी मुनि जन, ज्ञानी महापुरुष संतोषरूपी जलसे शान्त कर डालते हैं। मनुष्योंको क्षुधाकी वेदना होती है। मुनि भी मनुष्य हैं, शरीरका धर्म शरीरके साथ लगा है। उनके भी क्षुधाकी वेदना होती है किन्तु उनके पास ज्ञान और संतोषरूपी जल है जिससे वे क्षुधा अग्निको भी शान्त कर देते हैं। वे हाय हाय न कर आत्मचिन्तन द्वारा उस क्षुधा-वेदनाको सह लेते हैं। वास्तवमें ऐसे महापुरुष मुनि कहलाते हैं। तो मुनिजन जहाँ तक योग्य चर्यासे योग्य साधन मिलते हैं तो वे यथोचित आहार कर लेते हैं, पर आहारके लिए ऐसी कमर कसे हुए नहीं रहते कि जैसा भी मिले भक्ष्य अभक्ष्य, जब कभी भी मिले उसपर उनका राग जाय। ज्ञानबलमें ऐसा प्रभाव है कि कितने ही दिनोंका उपवास भी कर ले और उस उपवासके प्रतापसे कहो क्षुधावेदनाको सदाके लिए भी शान्त कर दें। तो तपश्चरण करनेसे जिन मुनियोंको केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर फिर क्षुधा वेदना नहीं रहती। जब तक मोहनीय कर्म सताता है तब ही तक क्षुधावेदनाका असर होता है। मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर वेदनीयकर्मका उदय यद्यपि सकलपरमात्माके भी चल रहा है परन्तु शरीर वेदनीय कर्मका उनपर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ पाता। तो मुनिजन ही ऐसे

धीर पुरुष हैं जो इस जठराग्निको संतोषरूपी जलसे शान्त कर लेते हैं ।

ज्वलितेपि जठरहुतभुजि कृतकारितमोदितैर्न वाहारैः ।
कुर्वंति जठरपूर्णं मुनिवृषभा ये नमस्तेभ्यः ॥३९७॥

(१३७) मुनिश्रेष्ठोंकी उदात्त चर्या—मुनिजनोंके उद्धिष्ट आहारका त्याग रहता है । वे आहारके प्रति रंच भी आसक्त नहीं हैं इसी कारण न वे आहारका आरम्भ करते हैं, न कराते हैं और न करते हुएको समर्थन करते हैं । ये तीनों प्रकारके कृतकारित अनुमोदनाका आरम्भ मनसे वचनसे कायसे उन मुनीश्वरोंके दूर रहता है इसी कारण वे नवकोटि विशुद्ध कहलाते हैं । तो मुनिगणोंको कदाचित् नाना कष्ट देने वाली जठराग्निको बाधा भी हो जाय तो भी वे मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदिता आहारसे उदरको नहीं भरते । ऐसे विरक्त मुनिजनोंको हमारा नमस्कार हो । वास्तवमें ये ही पुरुष नमस्कार किए जानेके योग्य हैं जिनकी धुन ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वमें ही बनी रहती है और इसी कारण शारीरिक क्षुधा आदिक वेदनायें होनेपर भी उनके चित्तमें आहारके प्रति आसक्ति नहीं होती । जीवोंका उपयोग यदि अपने आपके स्वरूपमें लग जाय तो ये किसी भी प्रकारके संकट नहीं आ पाते । जहाँ अपने स्वरूपसे चिगकर बाहरी पदार्थोंमें उपयुक्त होते हैं कि सारे संकट इसपर लद जाया करते हैं, ये मुनीश्वर इतने विरक्त हैं कि कितनी ही क्षुधाकी वेदना हो जाय तो भी वे न स्वतंत्र भोजन बनाते हैं, न बनवाते हैं और न बनाते हुएका समर्थन करते हैं । और वे ज्ञान से ज्ञानमें ज्ञानका ही स्वाद स्वाद करके तृप्त रहा करते हैं ।

तावत्कुरुते पापं जाठरवह्निर्न शाम्यते यावत् ।
धृतिवारिणा शमित्वा तं यतयः पापतो विरताः ॥३९८॥

(१३८) मुनिवरोंका धैर्यजलसे जठराग्निका शमन करके पापविरमण—यह जीव तब तक पाप करता ही रहता है जब तक कि इसकी जठराग्नि शान्त नहीं हो जाती । सो जठराग्नि शान्त कर लेनेपर यह जीव फिर पापकी प्रवृत्तियोंको नहीं करता, लेकिन जठराग्नि शान्त हो कैसे ? एक बार भोजन कर लिया इससे जठराग्नि शान्त नहीं हो जाती । थोड़ी देरको वह दब गई और भीतर अपना काम कर रही है, उस भोजनको मलरूप बनाकर पवन द्वारा बिखरा देगी और वही अग्नि प्रज्वलित बनी रहेगी । उस जठराग्निको शांत करनेका उपाय केवल मुनीश्वर जानते हैं । ऐसी स्थिति तो इस आत्माको चाहिये ही कि जहाँ शरीर ही न रहे । केवल ज्ञानमात्र यह आत्मतत्त्व ही अपने स्वरूपमें रहा करे, और धर्म, अधर्म, आकाश आदिक अनेक पदार्थोंकी तरह शाश्वत पवित्र रहा करे । इस स्थितिके पाये बिना जीवका संकट नहीं मिट सकता । सो ऐसा स्वभाव है आत्मामें । आत्माके स्वरूपमें क्षुधाका क्या काम ? यह तो अमूर्त ज्ञानमात्र है । उसमें क्षुधाकी बात ही

कहाँसे आ सकती है ? पर जब यह अपने स्वरूपमें नहीं रह पाता । बाहरी पदार्थोंमें ही रमने लगता तो इस जीवकी कैसी दुर्दशा हो जाती इस शरीरके साथमें कि शरीरमें ही कोई ऐसी विलक्षण बात जगती है कि जिससे क्षुधावेदना बनती है और यह जीव तब व्याकुल हो जाता है । यदि अपने स्वरूपकी संभाल करें जहाँ क्षुधाका कोई प्रश्न ही नहीं है, केवल जाननहार आत्मस्वरूप है तो उस स्वरूपकी भावनाके प्रसादसे यह जीव नियमसे समस्त संकटोंके आधारभूत शरीरसे रहित हो जायगा । ऐसा प्रयत्न करने वाले मुनीश्वर धैर्य और ज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूपकी सेवा किया करते हैं । वे मुनि इस दुष्ट जठराग्निको धैर्यरूपी शीतल जलसे बुझाकर पापसे सर्वथा रहित हो जाते हैं । कुछ तो जीवके साथ शरीरका बंधन होनेसे शारीरिक वेदनायें चलती है और अधिकतर जब यह जीव अपना उपयोग शरीर या अन्य बाह्य तत्त्वोंमें लगाता है तब इस पर संकट प्रकट हो जाता है । सो ये बाह्य वस्तु विषयक कल्पनायें मिटाकर अपने सहज आत्मस्वरूपकी आराधना करें तो वहाँसे इसके आल्हाद ही प्रकट होगा वहाँ संकट इस पर नहीं रह सकता । तो ऐसे अलौकिक उपायसे मुनिजन क्या किया करते हैं और वे धैर्य रखकर ज्ञानदृष्टिकी सलिल वर्षासे इस जठराग्निको शान्त कर दिया करते हैं, ऐसे मुनिवरोंको हमारा नमस्कार हो और उनकी भक्तिके प्रतापसे मेरेको भी वही धीरता जगेगी कि जठराग्नि आदिक समस्त दुःखोंको और दुःखोंके आधार भूत इस शरीरको दूर करके आनन्द निर्दोषामृतसे तृप्त रहें ।

श्रीमदमितंगतिसौख्यं परमं परिहरति मानमपहंति ।
विरमति वृषतस्तनुमानुदरदरीपूरणाशक्तः ॥३९९॥

(१३९) **उदरगर्तभरणाशक्त जनोंके शान्तिकी असंभवता**—जिन पुरुषोंकी उदररूपी गुफा संतोषरूपी जलसे नहीं भरी गई है और इसी कारण इस उदररूपी गुफाके भरनेमें ही रात दिन आकुलित रहते हैं वे अपरिमित लक्ष्मी वाले सुखको अपनेसे बाहर हटा लेते हैं । उन जीवोंको सुख कहाँसे हो ? उनको आनन्द कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता । जो इस पेट के गड्ढेको भरनेमें रात दिन व्याकुल रहते हैं, जिनके संतोष नहीं जिनके ज्ञानका प्रयोग नहीं वे पुरुष निरन्तर आकुलित रहते हैं । उनको आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता ? तो आनन्द से तो दूर रहता ही है, पर मानकी मर्यादाका भी विनाश कर डालता है । तृष्णामय होकर यह कर्तव्य न करना चाहिए । इससे पेट भरनेके लिए यह खोटीसे खोटी प्रवृत्तियाँ कर डालता है और खोटी चर्यामें रहकर यह मनुष्य धर्मसे हाथ धो बैठता है । धर्म तो आत्मस्वभावकी दृष्टिका नाम है । जो क्षुधासे व्याकुल हैं, शरीरको ही अपना सर्वस्व समझते हैं उन्हें धर्मका फल कहाँसे प्राप्त हो सकता ? धर्म यद्यपि आत्माका स्वरूप है । स्वयं धर्ममूर्ति है

पर जिनको पता नहीं है उनको धर्मका आनन्द कहाँसे प्राप्त हो सकता।

शुभसंतोषवारिपरिषेकबलेन यतिः सुदुःसहं
शमयति यः कृतांत समचेष्टितमुत्थितमौदरानलं।
व्रजति सरोगशोकमदमत्सरदुःखवियोगवर्जितं
विगलितमृत्युजननमपवि घ्नमनर्थमनंतमास्पदं ॥४००॥

(१४०) **मुनिराजों द्वारा सर्व दोष दूर करके अनन्त आनन्दके धामका लाभ**—प्राणियोंके जब शरीर लगा हुआ है तो उसके साथ क्षुधाकी वेदना भी लगी है। यह मनुष्य भी अन्य प्राणियोंकी भाँति क्षुधाकी वेदनासे घिरा हुआ है। सो जब इस मनुष्यको विवेक जगता है और यह विवेकी इस निर्णयपर पहुंचता है कि हमको तो मोक्षका ही पुरुषार्थ करना चाहिए जिसके प्रतापसे सदाके लिए मेरे संकट छूट जायें। तो वह सर्वपरिग्रहोंका त्यागकर सबसे ममताको छोड़कर ज्ञानमात्र सहज आत्मस्वरूपकी भक्तिमें रहता है और यही स्वरूप जिनके प्रकट हुआ है उन भगवंतोंके गुण स्मरणमें रहते हैं ऐसे पुरुष संतोषको प्राप्त होते हैं। सो वे मुनिराज यमराजके समान भयंकर दुःख देने वाले इस जाज्वलित उदराग्निके वेग को संतोषरूपी शीतल जलके प्रवाहसे बुझा देते हैं वे ऋषिराज इस क्षुधावेदनाको भली भाँति सह लेते हैं सो अपने कर्तव्यमें रहने वाले ये मुनिजन अन्तमें ऐसे साधनोंको पाते हैं कि जहाँ रोग शोक आदिक दुःखोंका नाम निशान तक भी नहीं है। शरीररहित ज्ञानमात्र ज्ञानानन्द धाम यह मैं चित्प्रतिभासस्वरूप हूं। स्वयं सहज अपने ही सत्त्वके कारण जिस रूपमें यह है उस रूपमें ही अपनेको अनुभवने वाले मुनीश्वरोंके अब विकल्पजाल नहीं रहता। ज्ञानप्रकाश को ही ज्ञानमें अनुभवते हुए सदा तृप्त रहा करते हैं। सो इस ज्ञानमात्र निर्दोष चैतन्य महाप्रभुकी उपासनासे यह जीव मोक्षको प्राप्त करता है। वहाँ अब शरीरका सम्बन्ध नहीं, कर्मका सम्पर्क नहीं, इसी कारण रोग शोक घमंड ईर्ष्या विकार आदिक दुःख या किसी प्रकारका दोष कैसे रह सकेगा? अब वहाँ जन्ममरणका सर्वथा अभाव हो गया, विकार अब रंच भी नहीं रहा है। किसी भी प्रकारसे विघ्न इसे नहीं सता सकता। तो जो मोक्षपद सर्वोत्कृष्ट अनन्त आनन्दका भण्डार है, जहाँके निवासियोंको अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्राप्त है। अत्यन्त पवित्र दशा है। विवेकियोंको, मुनीश्वरोंको प्रिय वह मोक्ष पद प्राप्त हो जाता है। इस कारण विवेकी जनोंका कर्तव्य है कि इन क्षणिक घटनावोंमें लगाव न रखें इनके मात्र ज्ञाता रहें और सर्व दोषोंसे रहित ज्ञानमात्र सहज अंतस्तत्त्वकी उपासना करें जिसके प्रसादसे मानसिक वाचनिक शारीरिक समस्त कष्ट दूर होंगे और केवल आत्मामात्र रहकर सदा पवित्र बने रहेंगे।

१६वां परिच्छेद—जीवसंबोधन

सर्पत्स्वांतप्रसूतप्रततमस्तोममस्तं समस्तं
सावित्रीव प्रदीप्तिर्नयति वितनुते पुण्यमन्यद्धिनस्ति ।
सूते संमोदमैत्रीद्युतिसुगतिमतिश्रीश्रिता कांतिकीर्ति
किं किं वा नो विधत्ते जिनपतिपदयोर्मुक्तिकर्त्री च दृष्टिः ॥४०१॥

(१४१) **वर्तमान संग प्रसंगोंकी शरण्यताका अभाव**—मनुष्यकी ऐसी प्रकृति है कि वह किसीको अपना बड़ा समझकर उसकी छत्रछायामें उसके तत्त्वावधानमें रहना चाहता है। गृहस्थीमें भी जिसको जो रक्षक समझमें आता है उसकी छायामें रहना चाहता है। तो अब जरा यह खोजें व्यापक दृष्टिसे कि हम आपको किसकी छत्रछाया हमारा भला कर सकती है, हमें सुख शान्तिमें रख सकती है। खोज करें, कुटुम्ब मित्र आदिकका शरण गहना शान्तिका साधक तो क्या क्षोभ, आकुलता, क्लेश इनका ही साधक है। यह बात सबको अपने जीवनमें घटित हुई होगी। जिसका भी समागम मिलता है, जिसको बड़ा प्यारा समझा जाता है, स्त्री हो, पति हो, पुत्र हो, जो भी इसको बड़े रुचिकर होते हैं, संग मिला है तो समझियेगा कि जितना यह सुख मौज अब मान रहा है इससे कठिन दुःख नियमसे आयगा। यह बात एकको नहीं, सबकी है, चेत जायें, अपनेको समझ लें, यह उनकी बुद्धिमानी है, किन्तु जिनको जितना सुख मिला, मौज मिला संसारका, प्रिय बंधु मिले, जिनका प्यार मिल रहा, जिनके मोहमें यह मस्त हो रहा, अपनेको बड़ा भाग्यशाली समझ रहा, वे सबके सब ये संग इस जीवके लिए कष्टकारी है। कष्ट तो जब संग है तब भी चल रहा, पर यह मोहमे अनुभव नहीं करता, रात दिनकी चर्या देख लो कि अगर पुत्र प्रिय है तो उसे देख-देखकर तनिक मौज मानते हैं पर उसके साथ व्यवहारमें कोई प्रतिकूल बात है, कोई मान नहीं रहा है, जैसा मैं चाहता हूं वैसी ही मेरी प्रवृत्ति नहीं हो रही ऐसे कितने ही कष्ट इसके साथ साथ लगे हुए हैं, पर यह मोहमें नहीं मानता लेकिन वियोग तो निश्चित है। चाहे खुद मर जाय तो वियोग हो गया या इसके सामने वह इष्ट मर जाय तो वियोग हो गया। तो जितना सुख संयोगमें पाया उससे अधिक दुःख वियोगमें मानेगा यह। यह तो निश्चित समझिये कि जितना संग समागम है वह सब इसके लिए कष्टका ही कारण है इसलिए यह रमने योग्य नहीं है और इसका शरण इस आत्माकी शान्तिका कारण नहीं। और आगे बढ़ें—इससे अच्छा तो गुरुजनोंका संग है कि जहाँ कोई धोखा नहीं, छल नहीं, इतना तो निश्चित है, और जितना मौलिक उपदेश हो वातावरणसे, दर्शनसे स्वयं भी कुछ अपने आपमें जागृति हो वह सब लाभदायक है। तो ये भी संग प्रसंग पूर्ण शुद्ध निर्दोष तो नहीं है। ये तो साधक जीव हैं, यहाँ भी इसको शाश्वत

संतोष न मिल पायगा। आपेक्षिक संतोषकी बात तो मिल जायगी।

(१४२) **परमात्माकी शरण्यता**––जब वर्तमान संग प्रसंग शरण्य नहीं तब फिर कौन सा जीव है ऐसा कि जिसकी शरण ग्रहण करना चाहिए ? वे हैं भगवान जिनेन्द्रदेव। जैसा आत्माका शुद्ध द्रव्यस्वरूप है उसके अनुरूप जिसका विकास हुआ है वह कहलाता है भगवान। जैसा स्वभाव है वैसा ही इनका परिणमन हो गया, उनसे और उत्कृष्ट क्या होगा ? आत्माका स्वभाव है ज्ञानदर्शन, जानन-देखनहार रहना। जिसमें क्षोभ नहीं, आकुलता नहीं, विकल्प कोई झंझट नहीं, उलझन नहीं, ऐसा स्वरूप है भगवानका। सो जब भगवानके स्वरूपका स्मरण करते हैं तो स्मरण करने वाला वह भी भगवान आत्मा है। नहीं आज प्रकट है, पर स्वरूप तो वही है। सो जब प्रभुका स्मरण होता है, जिनेन्द्रके गुणोंका ध्यान होता है तो अपने आपका भी स्मरण होता है और उस ही ध्यानमें अन्तर्ध्यान बने तो स्वरूपका स्पर्श होता है। तो जो वास्तविक शरण है, परमार्थ शरण है उसका साधन होनेसे प्रभु जिनेन्द्रदेवका शरण हमारे संकटोंका हरण करने वाला है। संकटहरण होनेकी पद्धति तो अपने स्वरूपका अनुभव है, पर स्वरूपानुभवका प्रसंग मिलता है जिनेन्द्रदेवके गुणस्मरणमें, इसलिए बाहरमें यदि कोई ग्रहण करने योग्य शरण है तो वह जिनेन्द्रदेव हैं निर्दोष परिपूर्ण विकासके लिए।

(१४३) **निर्दोष पूर्ण विकसित आत्मामें परमात्मत्व**––आत्माके सहज स्वरूपके विकासको देवका स्वरूप बताया गया है। और नाम न लें जिनेन्द्र, अरहंतका, किसीका नाम लेकर न बोलें और स्वरूप बोलें तो कोई भी दार्शनिक हो, किसी भी धर्म वाला हो सबको रुचेगा कि बात यही सही है, और नाममें पक्ष हो गया इसलिए नाम सुनते ही लोगोंकी दृष्टि और किस्मकी हो जाती। अब आप स्वरूप तो सुनावें कि मैं तो उसे मानता हूं अपना आदर्श, अपना शरण जिस आत्मामें दोष रंच न रहें और गुण परिपूर्ण विकसित हो गए। मेरा आराध्य तो वह है इसमें कौन मनाही करेगा जिसको कि कुछ भी विवेक है ? बस वही तो भगवान है, जिनेन्द्र है रागद्वेष जीतने वाला जिनोंके इन्द्र अधिपति, ईश, प्रभु, तो भगवद्जिनेन्द्रकी भक्ति जब परम्परया मुक्तिको प्रदान कर सकती है तब भक्तिके प्रसादसे कौनसा कार्य सिद्ध न होगा ? यह एक बहुत बड़ा पौरुष है कि आत्माके स्वरूपका बोध हो और अन्तस्तत्त्व की दृष्टि बने और प्रभुभक्तिमें मन लगे, यह चर्या जिस किसी पुरुषकी बन जाय वह पुरुष बड़ा भाग्यवान है, उसका भवितव्य बड़ा निर्मल है, क्योंकि जगतमें अन्य सब सङ्ग प्रसङ्ग कष्टकारक हैं, धोखा देने वाले हैं।

(१४४) **जिनेन्द्रभक्तिसे गहन मोहान्धकारका विनाश व सम्यक् ज्ञानज्योतिका प्रकाश**––जैसे सूर्यकी कांति तेज किरणें संसारके अन्धकारको नष्ट करके प्रकाश फैला देती हैं उसी प्रकार यह जिनेन्द्रभक्ति मनरूपी घरमें फैले हुए गहन अन्धकारको नष्ट कर डालती है।

जब कभी कोई कहता है कि हमें तो प्रभुभक्तिमें मन नहीं लगता तो मन उनका कैसे लगे जिनका चित्त मोहमें फंसा हुआ है। मोहसे वासित हृदयमें प्रभुभक्ति समा सकती है क्या ? हाँ भक्ति तो जरूर हर एकके अन्दर है पर किसीको स्त्रीकी भक्ति है किसीको पुत्रकी भक्ति है। यहाँ तो भगवानकी भक्तिकी बात कह रहे, जिसके चित्तमें स्त्री बसी हैं, वह बड़े गुण वाली है, बड़ी आज्ञाकारिणी है, बड़ी सौभाग्यशालिनी है, मधुर वचन बोलने वाली है, यही यही जिसे रुच रहा है वह स्त्रीकी भक्ति कर रहा है। जिसको पुत्र रुच रहा वह पुत्रकी भक्ति करता, पर इस भक्तिमें मिलेगा क्या ? कष्ट। इन सबका अंतिम परिणाम है कष्ट। यदि इसका त्याग नहीं किया, मोह नहीं मिटा तो इसके संगका परिणाम है कष्ट। जब कष्ट आता है तब बात सब समझमें आती है। जब सुख रहता है तो यह बात कम समझमें आती है, पर दूसरोंका देख लो, युक्तिसे विचार लो, जितने जो भी इष्ट संग हैं वे सब कष्टके कारण होते हैं। एक निर्दोष परमात्माका प्रसंग संग भक्ति आराधना उसकी दृष्टि यह तो शान्तिका कारण है, शेष सबका संग कष्टका ही कारण है। तो प्रभुभक्तिने मनमें बसे हुए अंधकारको हटाकर एक ज्ञानज्योति प्रकट की।

(१४५) **जिनेन्द्रभक्तिसे पापका विनाश व पुण्यकी वृद्धि**—यह जिनेन्द्रभक्ति पुण्य की वृद्धि करके पापको नष्ट करती है। जिसको जिनेन्द्रके स्वरूपका ज्ञान नहीं, आत्माके स्वरूपका बोध नहीं वह वर्षों पूजा करता रहता, जिन भावोंसे कर पाता है करता है, पर जब उसका कष्ट नहीं मिटता बल्कि कष्टके और प्रसंग आते हैं तो उसका उस पूजा पाठसे, धार्मिक कार्योंसे चित्त हट जाता यह समझकर कि इसमें कुछ नहीं धरा। देखो वर्षों हम पूजा पाठ करते आये पर हमारा कष्ट नहीं मिटा। निर्धनता तो और भी अधिक बढ़ गई, कुटुम्बी जनों का तो वियोग पर वियोग हो रहा है। इस पूजा पाठमें कोई अतिशय तो नही दिखाई दे रहा, ऐसा समझकर वह विचलित हो जाता। सो विचलित तो वह पहलेसे ही था। न उसे प्रभुके स्वरूपका ज्ञान था, न आत्माके स्वरूपका ज्ञान था और न भक्ति ही हो रही थी। कभी ऐसा सम्भव तो है कि धर्मकार्य भी भली भाँति कोई कर रहा हो, ज्ञान भी सही हो प्रभुका व अपना और भक्ति भी कर रहे हों तिस पर भी पूर्वकृत कोई तीव्र पापका उदय है तो संकट तो उस पर आता है, किन्तु ऐसा व्यक्ति उस संकटकालमें धर्मको और भी अधिक दृढ़तासे धारण करता है। उसे छोड़ता नहीं है और जिसको ज्ञान नहीं वह ऊपरी तौरसे धर्मकार्य करता चला आ रहा था, संकट कोई आ गया तो वह उसे छोड़ देता है। ज्ञानीका यह निर्णय है कि कोई संकट अगर आये तो धर्मको और भी अधिक दृढ़तासे करना, क्योंकि हमारा शरण केवल धर्मपालन है। धर्मपालन कहते हैं आत्माका जैसा सहज स्वरूप है चेतना

मात्र, प्रतिमास मात्र उस रूपसे अपने आपको मानना और ऐसी प्रतीतिके साथ कर्तव्य निभाना यह धर्मपालन कहलाता है।

(१४६) अन्तस्तत्त्वके परिचय बिना धर्मका अपालन—कोई १ का अंक न लिखे और ० (शून्य) जीरो, बिन्दी, लगाये जाये तो कितने ही ० (शून्य) धरता चला जाय पर उनकी कोई कीमत नहीं है और १ (एक) का अंक लिखा हो, उसके आगे एक ० (शून्य) रखा जाय तो उसकी १० गुना कीमत बढ़ जाती है, दो शून्य रखे जाय तो १०० गुना कीमत बढ़ जाती है, तीन शून्य रखे जायें तो हजार गुना। तो यों ही समझो वह १ (एक) है आत्मस्वरूपकी समझ करना। यदि एक आत्मस्वरूपकी समझ बन गई तो मन, वचन कायकी सारी चेष्टायें पूजा पाठ स्वाध्याय आदिक इन सभी की कीमत बढ़ जाती है और एक यदि आत्मस्वरूपका परिचय नहीं है तो उसकी वे सब क्रियायें कोई कार्यकारी नहीं होती। हाँ मंद कषायके अनुसार थोड़ा पुण्यबंध हो जाता, पर उससे लाभ क्या? थोड़े समयको सुख साधन मिल जाता, मगर आगेकी गाड़ी उससे नहीं चलती। तो भक्ति अगर आप निभा सकें इस प्रकार कि सच्चा ज्ञानप्रकाश हो और मोह ममता न रहे तो मोक्षमार्गमें प्रगति कर लेंगे। गृहस्थीमें रहकर राग तो रहेगा, कर्तव्य तो आप करेंगे मगर मोह रंच भी न रहना चाहिए कि यह ही मेरा सर्वस्व शरण है, यह ही मेरा सर्वस्व धन है। इस दुर्लभ मनुष्य-पर्यायमें अगर न चेत सके और वही ढला चला चलता रहा जैसा कि करते आये तो समझो कि एक बड़ा भारी मौका खो रहे हैं और मरकर कीड़ा मकोड़ा पेड़ पौधा बन गए तो फिर क्या वश चलेगा? इससे कुछ थोड़ा अपनेको संभालिये। ज्ञानसे प्रीति करिये, ज्ञानके साधनों से प्रीति रखिये, ज्ञानियोंमें प्रमोद रखिये, ज्ञानके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व समर्पित करिये। इतना साहस अगर बना सकते हैं तो कल्याणका मार्ग मिलेगा और यदि मोह ममता तृष्णा इनमें ही लगे रहे तो चाहे कुछ भी क्रियायें करें पर उनसे कल्याण न होगा। एक आत्मपरिचय नहीं है तो सारी चेष्टायें ० (जीरो) जैसा मूल्य रखती हैं। आत्मस्वरूपका जिसको बोध है वह ही प्रभुके स्वरूपको पहिचान सकता है और आत्मस्वरूप का बोध नहीं है तो प्रभुका स्वरूप उनकी दृष्टिमें कुदेवके स्वरूपके समान है। क्योंकि कुदेव कहा है रागी द्वेषी सुख देने वाले, दुःख हरने वाले, यों कल्पना विषयभूतको व हमारे काम आने वालेको। बस ऐसा ही जिनेन्द्र प्रतिमाके आगे लोग करते हैं, ऐसी श्रद्धा रखते हैं कि तू मुझे सुख देगा, तू शादी करा देगा, तू लड़का पैदा करा देगा, तू मुकदमा जिता देगा। ऐसी ही प्रतीति लेकर तो तीर्थ क्षेत्रोंमें लोग घूमते हैं। वही बात यदि यहाँ पायी जा रही तो उन्होंने अपने मनमें जो कुदेवका रूप है वही प्रभुमें समझ लिया। अरे भैया! आत्मस्वरूप

कर यह ऐसा एकाग्र हो जाता कि उसे अनुभव प्राप्त होता है, अलौकिक आनन्द मिलता है। यह बात जिसने पायी वह प्रभुके स्वरूपको स्पष्ट जानता है। ऐसा आनन्द उनके निरन्तर है, निर्विकल्पता उनके निरन्तर है। तो ऐसे प्रभुकी जो भक्ति करता है उसका पुण्यरस बढ़ता है, पापरस नष्ट होता है।

(१४७) **आत्माके अविकार स्वरूपकी समझसे परमात्माके निर्विकारस्वरूपकी समझ और परमात्माके निर्विकार स्वरूपकी समझसे आत्माके अविकार स्वरूपकी समझ**—अपना स्वरूप है अविकार प्रभुका स्वरूप है निर्विकार। अविकारका अर्थ है विकार है ही नहीं। स्वरूपमें विकार है ही नहीं। स्वरूप तो केवल चैतन्यमात्र है। विकार होता है, प्रसंग बनता है, परिणमन चलता है, पर स्वरूप नहीं है विकार जैसे एक दृष्टान्त तो लो थोड़ा समझने के लिए। जलका स्वभाव कैसा है ? सभी लोग बता सकते ना ठंडा। और जब जल गरम हो गया, खौल रहा है तो बताओ उस समय जल ठंडा है कि गरम है, मगर गरमकी स्थितिमें भी जलका स्वभाव गरम नहीं, ऐसा जिसको बोध है वह जलको ठंडा करने के लिए तत्काल चूल्हेसे पानी हटा लेता है, पंखा डुलाता है और शीघ्र ही ठंडा जल प्राप्त कर लेता है। यदि वह वह जल स्वभावतः गरम होता तो वह कभी ठंडा हो ही नहीं सकता था। तो स्वभाव और परिणमन आप परख लीजिए। गरम जलका परिणमन गरम है, पर उस समयमें भी उसका स्वभाव ठंडा है। गरमके समयमें आपको जल ठंडा कहीं न मिलेगा और स्वभाव ठंडा है, यों ही विकारके समयमें आत्माका प्रदेश कोई भी निर्विकार न मिलेगा, सब प्रदेश बिकारसे रचे हुये हैं, तिसपर भी स्वभाव अविकार है और प्रभु निर्विकार हैं मायने विकारसे निर्गत हैं, हट गए हैं, मायने विकार था अब विकार न रहा, यह है प्रभुका स्वरूप। और आत्माका स्वरूप कैसा कि न विकार था, न विकार है, न विकार रहेगा, यह स्वरूपकी बात कही जा रही। परिणमन विरुद्ध होकर भी स्वरूप वही होता जो है। तभी उसे अचल कहा गया है। तो ऐसा जिसको आत्मस्वरूपका बोध नहीं वह जिनेन्द्रके स्वरूपको क्या जानें ? जिसको बोध है वह प्रभुके स्वरूपको जानता है। प्रभुका स्वरूप यह है, प्रभुके स्वभावका प्रकटपना है, मेरा प्रकटपना नहीं है। जैसे गरम जलका स्वभाव ठंडा है पर ठंडपनका प्रकटपना नहीं है, प्रकटपना तो गरमका है, प्रयोगमें जो आयगा वह गरम आयगा। गरम जलका जो ठंडा स्वभाव है वह प्रयोगमें न आयगा। कोई यह समझकर कि जलका स्वभाव तो ठंडा है, भले ही गर्म हो गया, और उसे यदि वह पी ले तो उसकी जीभ तो जलेगी। जले बिना रह नहीं सकती, तो अपने आपके आत्मस्वरूपमें यह स्वभाव, यह सहज शुद्ध सत्त्व, यह ही ध्येय होता है। आत्मानुभवमें यही बात आती है और उस चैतन्यस्वभावका ध्यान कर कर

कर अनुभव हो, केवल चैतन्यमात्र अपने आपके सत्त्वके कारण चित्स्वरूप प्रतिभास मात्र केवल जाननका स्वरूप समझा हो तो समझेगा कि आत्मा स्वरूपमें राग नहीं, द्वेष नहीं। भले ही वर्तमानमें विकार परिणमन हैं यहाँ मगर स्वरूपमें नहीं। ऐसा अविकार स्वरूप अपना कोई समझ सके तो निर्विकार भगवानका स्वरूप भी समझ पायगा।

(१४८) **जिनेन्द्रभक्तिके प्रसादसे गुणप्रमोदकी वृद्धि**—यह जिनेन्द्रभक्ति इस भक्तके प्रमादको बढ़ाती है, बड़ा हर्ष होता है उपयोग यहाँ जाय तो। जिसके हृदयमें मोहविष व्याप रहा है उसको इन शब्दोंका कुछ ठीक अर्थ न लगेगा, केवल एक सुनना, बाँचना, चर्चा, बस शब्दसे यह वाच्य है, यह तो सब आ जायगा चित्तमे, पर वास्तविकता क्या है, यह बात चित्तमें न आयगी। जैसे जिसने जो मिठाई नहीं खायी उसके सामने कोई कितना ही उस मिठाईका वर्णन करे पर वह बात उसके अनुभवमें न उतरेगी। मानता तो रहेगा, बोलता तो रहेगा, और उस मिठाईको खिला दिया जाय तो झट उसका अनुभव उसे हो जायगा। बादमें कभी भी आप उस चीजका नाम लेंगे तो झट उसके हृदयमें वह बात उतर जायगी, ऐसे ही आत्माके सहज स्वरूपका अनुभव बन गया तो उसका नाम लेते ही स्वानुभव, आत्म-चिन्तन, जिनेन्द्रस्वरूप, प्रभुस्वरूप कुछ भी बोलें, सब बात उसके चित्तमें उतरती जायगी। तो ऐसा प्रभुका स्वरूप जिसने पहिचाना है भक्तिके समयमें उसको प्रमोद जगता है, यह आन्तरिक प्रमोद है। यों तो कोई रविवारका दिन हो और भगवानकी पूजा कर रहा हो। तो "रविव्रतके दिन मांही, सुखसंपति बहु होय तुरत ही" आदि बड़ा गानतान करता है, बड़ी अच्छी मुद्रा बनाता है, पर इसलिए बनाता कि ऐसा करनेसे भगवान हमको सुख समृद्धि करेंगे। तो वहाँ वास्तविक स्वरूपके लक्ष्यसे प्रभुभक्ति करता है।

(१४९) **जिनेन्द्रभक्तिके प्रसादसे सर्वेष्टसिद्धि**—जिनेन्द्रभक्तिसे मैत्री जागृत होती है। सब जीवोंका एक स्वरूप समान विदित होनेसे सर्व जीवोंके प्रति मैत्रीभाव होता है। कान्ति, कीर्ति ये सब जिनेन्द्रभक्तिके प्रसादसे प्रकट होते हैं। सौभाग्य, लक्ष्मी, सुगति, धन-सम्पदा ये सब जिनेन्द्रभक्तिसे प्राप्त होते हैं। पर यों नहीं होते कि प्रभु देने आ जायें। प्रभुभक्तिसे जो पुण्यबंध हुआ, पुण्यरस बढ़ा, पापरस खिरा, उस निमित्त नैमित्तिक योगमें सुख सम्पदा भी मिलेगी। प्रभु मेरेको सुख सम्पदा दे रहे हैं यह श्रद्धा यदि है तो बात न बनेगी, सन्मार्ग न मिलेगा। यहाँ तो केवल आत्मस्वरूपकी अनुरूपताके नाते और परिपूर्णताके नाते प्रभुजिनेन्द्र की भक्ति चल रही हो और कोई प्रयोजन न हो, कोई अपेक्षा न हो तो उसका पुण्यरस बढ़ता है और उसके प्रसादसे सुख दुःख समृद्धि प्राप्त होती है। तो ऐसी यह जिनेन्द्रभगवान के चरणोंमें की गई भक्ति जब परम्परया हमें मुक्ति प्रदान करती है तो संसारका कौनसा

अभीष्ट कार्य प्रभुभक्तिके प्रसादसे सिद्ध न होगा। यह जीवके लिए सम्बोधन चल रहा, उसमें समझिये भूमिका या मंगलरूप यह प्रथम छंद कहा गया।

शुश्रूषामाश्रयध्वं, बुधजनपदवीं याहि, कोपं विमुंच,
ज्ञानाभ्यासं कुरुष्व, त्यज विषयरिपुं, धर्ममित्रं भजात्मन्।
निस्त्रिंशत्वं जहीहि, व्यसनविमुखतामेहि, नीतिं विधेहि,
श्रेयश्चेदस्ति पूतं परमसुखमयं लब्धुमिच्छास्तदोषं ॥४०२॥

(१५०) **निर्दोष परम आनन्द पानेके लिये मायासे हटकर परमार्थपोषक कर्तव्यका आदेश**—हे आत्मन्, तू चाहता है सुख। सुखके लिए अनेक प्रयत्न करता है, अनेक पुद्गल का संग्रह करता है, अनेक लोगोसे प्रेम द्वेष आदिक बनाता है। तू सुखके लिए कितना कठिन परिश्रम करता है और उसके फलमें सुख क्या मिलता है इस पर दृष्टिपात करें तो सुख तो क्या उल्टा दुःख ही मिलता है, जितनी चेष्टायें करे, जितनी उलझन बढ़ावे उतना ही व्याकुलता बढ़ती है। कुछ सुख नहीं पा सकता। यदि तुझे सुखकी इच्छा है और वह भी नित्य-सुखकी इच्छा है, संसारका सुख तो क्षणभरको मिलता है, नष्ट हो जायगा पर ऐसे सुखकी नहीं जो आनन्द सदा काल बना रहे। ऐसे सुखकी यदि इच्छा है तो अब तू कुछ अनोखा कार्य कर। वह कार्य क्या है ? पहली बात सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरुका आश्रय लें। यदि निर्दोष परिपूर्ण गुण वाले शुद्ध आत्माका आश्रय हो तो बुद्धि शुद्ध होगी आत्माकी उन्नति होगी। यदि कुदेवका आश्रय लिया तो जो खुद रागी द्वेषी है, अल्पज्ञ है, संसारमें रुलने वाला है, केवल एक ढोंग बनाया है, अपने को भगवान मनवानेकी प्रसिद्धि कर रखी है तो ऐसे कुदेवका आश्रय लेनेसे न बुद्धि शुद्ध होगी न सन्मार्ग दिखेगा। उसे सुखका मार्ग न मिलेगा।

(१५१) **शाश्वत आनन्द पानेके लिये देव शास्त्र गुरुके आलम्बनका व ज्ञानीजनोंकी संगतिका आदेश**—हे आत्मन्! यदि तू नित्य सुख चाहता है तो सुदेवका आश्रय कर। सच्चे शास्त्र जैनशासनमें ज्ञान और वैराग्यकी बात भरी हुई है, उन शास्त्रोंका सहारा ले, अध्ययन कर, पठन पाठन कर जो विषयोंकी आशासे रहित हैं, निर्ग्रन्थ हैं। आरम्भ रहित हैं, परिग्रह रहित हैं ऐसे साधु जनोंकी भक्ति कर। उनकी सेवा सुश्रुषा कर, तेरी बुद्धि शुद्ध होगी और सन्मार्ग मिलेगा और यदि शाश्वत् आनन्द चाहता है तो कुटुम्ब आदिकका मोह त्यागकर देव, शास्त्र, गुरुकी सेवा कर। नित्य शान्ति चाहनेके लिए तू विद्वान पुरुषोंकी संगति कर। मूर्ख पुरुष चाहे हितू भी हो, उसका मित्र भी हो, भला भी चाहता हो, पर मूर्ख पुरुष की करतूत कभी न कभी इसके अनर्थके लिए होगी। चाहे वह द्वेषसे अनर्थ न करे मगर उसकी करतूत ही ऐसी बन जायगी कि इसका अनर्थ हो जायगा। एक इस नीतिमें कथा

प्रसिद्ध है कि एक राजाने अपनी रक्षाके लिए पहरेदार बन्दरको रखा था। बन्दर भी समझदार था ट्रेन्ड (कुशल) हो गया था। तो रात्रिके समय उस बन्दरको सिपाहीकी पोशाक पहिनाकर, तलवार देकर उसको पहरेदार नियुक्त कर रखा था और बन्दर भी अच्छी पहरेदारी करता था। एक दिन क्या हुआ कि राजा सो रहा था। कुछ गर्मीके दिन थे, मुख उघाड़े सो रहा था। फिर क्या हुआ कि एक मक्खी आकर राजाकी नाकपर बैठ गई। वह बन्दर उस मक्खीको उड़ाता था पर वह उड़-उड़कर बार-बार उसी जगह बैठ जाती थी। जब कई बार उस बंदरको मक्खी उड़ाते हो गया तो उसे बड़ा गुस्सा आया और सोचा कि मैं तलवारसे उस स्थानको ही याने नाकको ही उड़ा दूं तब फिर वह मक्खी कहाँ बैठेगी? यह सोचकर ज्यों ही नाक काटनेके लिए तलवार उठायी त्यों ही क्या हुआ कि वहीं पासमें कोई एक चोर छिपा था। वह चोर गरीबीके कारण राजाके यहाँ चोरी करने गया हुआ था। वह था तो एक विद्वान कवि, पर परिस्थितिवश उसे वैसा करना पड़ा था, तो वह चोर एक जगह छिपा हुआ उस घटनाको देख रहा था। ज्यों ही बन्दरने राजाकी नाक काटनेका प्रयास किया त्यों ही उस विद्वान कवि चोरसे न रहा गया और बन्दरके पास पहुंचकर उसकी तलवार छुड़ायी, उससे मुठभेड़ कर बैठा। इतनेमें राजा जग गया, और उस विद्वान कवि (चोर) के मुखसे सारा वृत्तान्त सुना तो उस चोरपर बड़ा प्रसन्न हुआ। राजाने उसे हृदयसे लगाया और उसे मनमाना पुरस्कार देकर विदा किया। तो यह घटना यह बात बतला रही है कि मूर्ख चाहे हितू भी हो, कुटुम्बी हो, मित्र हो तब भी उससे अनर्थकी शंका रहती है, और एक विद्वान चाहे वह आज विपरीत हो, चोरी करने ही तो आया था, विपरीत ही तो था मगर विद्वान होनेसे उसकी रक्षा हो गई। तो विद्वज्जनोंकी संगति बड़ी लाभदायक है। कोई जीव किसीका दुश्मन नहीं हुआ करता, वे घटनायें उस प्रकारकी कल्पना बनवा देती हैं। जो विद्वान होगा वह दूसरेका बुरा नहीं कर सकता। तो वास्तविक शान्ति चाहते हो तो विद्वानोंकी संगति करो। उससे कुछ धर्मका आश्रय मिलेगा, ज्ञान बढ़ेगा, सन्मार्ग प्राप्त होगा।

(१५२) शाश्वत आनन्दके लाभके लिये क्रोधपरिहार व ज्ञानाभ्यासका आदेश—इस प्रकरणमें जीवको सम्बोधा जा रहा है कि हे आत्मन्! यदि तू अपना शाश्वत सुख चाहता है तो तू क्रोधको छोड़। क्रोध जीवके सारे गुणोंको भस्म कर देता है, उसकी बुद्धि व्यवस्थित नहीं रहती। धर्मसे विमुख हो जाता है। तो यदि सन्मार्ग चाहिए, शान्ति चाहिए तो तू क्रोधका परित्याग कर। क्रोधमें ही द्वीपायन मुनिने अपना सम्यक्त्व बिगाड़ा। द्वारिका नगरी भस्मकी। खुद भस्म हो गया, नरक भी गया, क्रोध हमेशा इस जीवको संकट लाता है, पर जीवोंके कषायभाव लगा है, प्रतिकूल कुछ बात दिखती है तो क्रोध कर बैठते। बुद्धि-

मान पुरुष वह है कि कैसी ही प्रतिकूल घटनायें आयें उनमें क्रोध न करें और अपने ज्ञानको, अपनी बुद्धिको सही व्यवस्थित रखें। तो यदि शाश्वत आनन्द चाहिये है तो हे आत्मन्! तू क्रोधको छोड़। शाश्वत शान्तिके लिए, मुक्तिके लाभके लिए तू ज्ञानका अभ्यास कर, ज्ञान-स्वरूप आत्माका ज्ञान कर। और उस ज्ञानमें ही अपने ज्ञानको रमा। इसे कहते हैं ज्ञानका अभ्यास। इसके लिए पहले शास्त्रोंका पठन करना, अध्ययन करना, मनन करना, यह आवश्यक होता है और यह इसलिए किया जाता कि ज्ञानस्वरूप अपने आत्माका मनन बना रहे। ज्ञानानुभव ज्ञानके अभ्याससे ही बनेगा और ज्ञानानुभव हुए बिना जीवको मोक्षमार्ग नहीं मिल सकता। जिसे कहते हैं आत्माका ज्ञान हुआ, उसके मायने है ज्ञानका ज्ञान होना, अनुभव होना, ज्ञान है सो आत्मा। कहीं ज्ञान और आत्मा जुदी चीज नहीं है कि आत्मामें ज्ञान भरा हो। अरे ज्ञानस्वरूपको ही आत्मा कहते हैं। आत्मा अलग वस्तु हो और उसमें ज्ञान भरा गया हो ऐसा नहीं, किन्तु ज्ञानमय ही आत्मतत्त्व है। यदि ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान बना रहे तो ज्ञानानुभव बनता है। तो हे आत्मन्! यदि तू निर्बाध शाश्वत आनन्द चाहता है तो तू ज्ञानका अभ्यास कर।

(१५३) **शाश्वत शान्तिके अर्थ विषयवैरीके त्यागका आदेश**—शाश्वत शान्तिलाभके लिए विषय शत्रुवोंका त्याग कर। जीवका बैरी है विषय। उपयोग विषयोंमें लग जाय, इन्द्रियके विषयोंकी भीतर वाञ्छा जग जाय तो यह विषय इच्छा, विषयभोग ये इस जीवके बैरी हैं। इसके ज्ञान दर्शन गुणका घात करते हैं। पुण्यरस मिटता है, पापरस बढ़ता है और तत्काल भी और आगामी कालमें भी इस जीवको कष्ट भोगना पड़ता है। ये विषयभाव इन्द्रियोंने जैसा चाहा उसी प्रकारको प्रवृत्ति कर डालना यह विषयोंकी चाह इस जीवका बैरी है। बैरी कोई दूसरा नहीं है। कोई भी जीव इसका बैरी नहीं, विरोधी नहीं, इसको विषय प्रिय लग रहे हैं मोहमें, तो विषयको जिसके कारण बाधा समझता है उसको यह बैरी समझ लेता है, पर बैरी तो ये विषय हैं। और विषय बैरीमें जिनसे बाधा आयी उनको वह बैरी समझने लगता, कैसी उल्टी बात है। बैरीका जो बैरी हो उसे तो मित्र मान लेना चाहिए। आपका कोई दुश्मन है और उस दुश्मनका कोई दुश्मन है तो आपको उससे मित्रता हो जायगी, प्रेम हो जायगा। तो विषय बैरी हैं और विषय बैरीके बैरी बन रहे हैं कोई जीव, तो वह तो मित्र मान लिया जाना चाहिए। वह बैरी कैसे? बैरी तो हमारा विषयभाव है। सो विषय बैरीकी प्रीतिको छोड़ो तो शाश्वत शान्तिका लाभ मिलेगा। जब भी किसी विषयकी इच्छा होती है तो यह जीव बेचैन हो उठता है, और उस बेचैनीसे परेशान होकर यह विषयसाधनों का संग्रह करता है और विषय साधनोंका संग्रह करनेपर यह बेचैनीसे उन विषयोंको भोगता

है और विषयोंको भोगनेके पश्चात् यह फिर बेचैन हो जाता है। विषयोंके प्रसंगमें प्रारम्भसे अन्त तक कष्ट ही कष्ट बसा हुआ है। तो हे आत्मन्! यदि तू शाश्वत शान्ति चाहता है तो इस विषय बैरीका त्याग कर।

(१५४) **आत्मीय ज्ञानानन्दके लाभके लिये धर्ममित्रकी सेवाका आदेश**—आत्मलाभ के लिए तू धर्मरूपी मित्रकी सेवा कर। हम आपका वास्तविक मित्र है तो धर्म ही मित्र है, क्योंकि अन्य सब दगा देने वाले हैं। मान लो कोई जीवनमें दगा न दे, बड़ा प्यार रखे तो मरण तो हो ही जायगा। वही एक बड़ा दगा मिल गया। वियोग होनेका कठिन दुःख मानेगा, यह कितना कष्टकी बात है। तो जगतमें कोई भी पदार्थ मेरा मित्र नहीं है, सुखकारी नहीं है। किसी भी पदार्थका नाम लेकर निर्णय बना लीजिए, मेरा मित्र है तो केवल धर्म ही है। और धर्म क्या? आत्माका चैतन्यस्वरूप और अपने आपमें केवल चैतन्यका अनुभव प्रतिभास मात्र कोई तरंग नहीं, विकार नहीं, केवल जानन देखन, ऐसी वृत्ति हो तो यह कहलाता है धर्मपालन। हमारा मित्र धर्म ही है, दूसरा कोई हमारा मित्र नहीं हो सकता। सो हे आत्मन् यदि तू मुक्तिका लाभ चाहता है, सदाके लिए आनन्द चाहता है तो तू धर्म रूपी मित्रकी सेवा कर। बड़े-बड़े पुरुषोंने, तीर्थंकरोंने, चक्रवर्तियोंने, राजा महाराजावोंने सारे जीवन भर क्या क्या नहीं देखा था। राजपाट विषय भोग यश कीर्ति, आदिक दुनियामें जो बड़ी-बड़ी बातें मानी जाती हैं वे सब उनको उपलब्ध थीं, लेकिन उनको उन्होंने त्याग दिया। क्यों त्याग दिया कि उसमें उन्हें सुख नहीं मिला, आनन्द नहीं मिला और उन सबको त्यागकर एक आत्माका ही आश्रय लिया। धर्मका ही आश्रय लिया, तो धर्म ही एक वास्तविक मित्र है। हे आत्मन्! यदि तू शाश्वत् शान्ति चाहता है तो धर्मरूपी मित्रकी सेवा कर। धर्मकी शरणमें जा। जब चत्तारिदण्डकका पाठ करते हैं तो तीसरे दण्डकमें बोलते ना चत्तारिसरणं पव्वज्जामि, मैं चारकी शरणको प्राप्त होता हूं। वे चार क्या हैं जिनकी शरण यह भव्य जीव चाह रहा? अरहंते सरणं पव्वज्जामि मैं अरहंत भगवानकी शरणको प्राप्त होता हूं, क्योंकि वे शुद्ध आत्मा दोषरहित हैं, गुण पूर्ण हैं और यही आनन्दकी अवस्था है, यही मुझे चाहिए। यह ही आदर्श है। तो यह भव्य जीव अरहंतकी शरणको चाह रहा है। 'सिद्धे सरणं पव्वज्जामि—मैं सिद्धकी शरणको चाहता हूं। सिद्ध भगवान दो कर्मोंसे रहित हो गए, शरीररहित हो गए। केवल ज्ञानपुञ्ज आत्मा ही आत्मा रहा। याने अरहंत हुए बाद और पूर्णतया पवित्रताकी स्थिति मिली। पवित्र तो अन्तरंगमें अरहंत थे, मगर बाह्य लेप भी अब न रहा, ऐसे सिद्ध भगवानकी शरणको प्राप्त होता हूं। तो यह तो अरहंत और सिद्धभगवान हैं, देव हैं, वे सदा कहाँ मिलेंगे? जिनसे हमारा काम रोज पड़ सकता है वे हैं साधु,

गुरु, आचार्य, उपाध्याय, साधु। मैं साधुकी शरणको प्राप्त होता हूं। साहू सरणं पव्वज्जामि, क्योंकि रोज उपदेश उनसे मिलेगा, रोज धर्मका साधन कहाँसे प्राप्त होगा ? तो साधुवोंकी शरण चाहिए। ये तीन शरण चाहकर भी अभी यह संतुष्ट नहीं हुआ, क्योंकि परमार्थसे तो उनका शरण मिल भी नहीं सकता। यह तो अपने आपमें भाव बना रहा है। वे परद्रव्य हैं, भले ही साधु हैं, सिद्ध होनेके प्रयत्नमें है, लेकिन परका आश्रय परमार्थ आश्रय नहीं कहलाता। तब चौथा शरण क्या चाहा उसने ? 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि' केवलि भगवानके द्वारा कहे गए धर्मकी शरणको मैं प्राप्त होता हूं। केवलि भगवानने बताया कि वस्तु का स्वरूप, आत्माका स्वभाव अंतस्तत्त्व उसकी शरणको मैं प्राप्त होता हूं। तो किसकी शरण गही अन्तमें ? धर्मकी शरण गही। धर्म ही वास्तविक मित्र है। धर्मकी शरणसे ही यह जीव संसार संकटोंसे पार हो जाता है।

(१५५) **शाश्वत आनन्दके लाभके लिये निर्दयताके परिहारका आदेश**—हे भव्य जीव यदि तू शाश्वत आनन्द चाहता है तो तू निर्दयताका त्याग कर, राक्षसपनेका त्याग कर। स्वार्थमें अंधा मत बन। स्वार्थान्ध होकर दूसरेको मत सता। दूसरेको पीड़ा देने का परित्याग कर। कोई पुरुष धनी होकर किसी भी कार्यमें, गरीबोंपर भी कुछ खर्च न कर सके बल्कि गरीबोंपर ब्याजपर ब्याज चढ़ाकर उनसे धन वसूल करना चाहे और उन गरीबोंके पास कुछ है नहीं, उन्हें सरकारी कार्यवाहियोंसे सताये, कैसी ही पीड़ा करे तो उसके हृदयको तो देखो, वहाँ निर्दयता कितनी है, और कितने ही बड़े धनी पुरुष देखे जाते हैं कि ऐसी घटनायें आनेपर तो स्वयं कह देते हैं कि भाई तुम अपना जैसे भी हो गुजारा करो, हम सब छोड़ देते हैं। जहाँ जैसी बात दिखती है और ऐसे दयालु पुरुष कहीं दुःखी नहीं होते, उनके और साधन जुटते हैं, पुण्यरस बढ़ता है। तो ऐसे ही एक घटना नहीं, अनेक घटनावोंमें बात सोचिये—हर एकका दिल बता देगा कि मैं दयाभाव पर हूं या क्रूरताके परिणामपर हूं, क्योंकि आप सब जानकार हैं, भगवत्स्वरूप हैं। अपनी बातको कौन नहीं परख सकता। तो जहाँ क्रूरता है वहाँपर शान्तिका लाभ नहीं मिल सकता। अतः हे आत्मन्! तू क्रूरताका परित्याग कर और दया धर्मको अंगीकार कर। कभी कभी तो ऐसी क्रूरता करने वाले लोग अपने प्राण भी गंवा देते हैं। अनेक दुश्मन बन जाते हैं। तो दूसरोंको दुश्मन बना लेना यह विवेकका काम नहीं। आज थोड़ा नुक्सान होता है, पर उसकी तृष्णाके व्यामोहमें दूसरोंको बहुत पीड़ा दे तो उसका फल बहुत कटुक भोगना पड़ता है। दयाशील रहना, कोई दीन दुःखी दिख जाय तो इसके दुःखको दूर करनेका प्रयत्न करना, जो दयालु है, ज्ञानी पुरुष है उसकी उदारता रोज रहती है। कोई पुरुष सारे जीवनभर तो कृपण रहे, तृष्णा करे, न

धर्ममें कुछ त्याग कर सके, न अपने खाने-पीनेमें विशेष त्याग कर सके, न दूसरेकी सेवा सुश्रुषामें त्याग कर सके, सारे जीवनभर तो कृपणता रखे और अन्तमें कहे कि हमारा गजरथ चलवा दो, अमुक बना दो, हमारा मंदिर बनवा दो, हमारा अमुक काम करवा दो, इस प्रकार कोई करे तो जरा उसके जीवनकी परीक्षा तो करो, यदि वह रोज उदारता रखता, रोज धर्मकी प्रतीति करता, रोज दयाभाव पालता तो उसका लाभ था। अब जान रहा है यह कि छूट तो रहा ही है मुझसे। अब तो ऐसा ही कर देना ठीक है, तो अंतर तो ताड़िये– धर्मकी प्रवृत्ति ऐसी नहीं होती कि जीवनभर तो क्रूरता रखे और अन्तमें एक गले पड़ेका बड़ा धर्म कर जाय। धर्म यों नहीं होता। धर्म तो भावके अनुसार है, इसलिए यह प्रवृत्ति होनी चाहिए कि हम रोजकी चर्यामें दयालु रहें, धर्मकी प्रीति रखें। तृष्णाका त्याग रखें, यह कार्य यदि हमारा रोज रोज चले थोड़ा थोड़ा तो वह तो लाभ देगा और कोई सोचे कि हम तो मरते समय धर्म करेंगे, जिन्दगीमें नहीं, तो उससे धर्म नहीं बनता। तो जो दयाहीन है, अन्याय करता है, अत्याचारपर उतारू है उसे वास्तविक शान्तिका लाभ कहाँ मिल सकता ?

(१५६) **सत्य शान्तिके लाभके अर्थ व्यसनोंसे विमुख होने व नीतिसे चलनेका आदेश**—हे भव्यात्मन् ! यदि तू शाश्वत शान्ति चाहता है तो क्रूर परिणामको तज और मुक्तिलाभके लिए तू व्यसनसे विमुख हो जा। व्यसन कहते हैं बुरी आदतको। जुवा, मांस, मदिरा, चोरी, शिकार, परस्त्री, वेश्या इनका सेवन ये सब व्यसन कहलाते हैं। जिसकी जिन्दगी इन व्यसनोंमें लगी है उसको न उस समय शान्ति है और न आगे शान्ति मिलेगी। केवल एक व्यसनपर दृष्टि डालें तो वही एक बड़ा कठिन दिखता है। जुवेंका जिसके व्यसन लगा है वह भी सदा शल्यवान रहता है, उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता। अपने सारे वैभव को अन्तमें वह स्वाहा ही कर देता है। अपने धर्मकी तिलाञ्जलि दे देता है, कोईसा भी एक व्यसन देख लो सबमें अवगुण भरा है, मांस खाने वाला क्रूर होता, उसे दूसरेपर रंच भी दया नहीं। मदिरापानमें बेहोशी, धर्मकी विमुखता, खोटा व्यवहार, चोरी, शिकार, परस्त्री, वेश्या आदि इन सबका प्रसंग इस जीवके लिए दुःखदायी है। एक-एक व्यसन जीवको कष्टकारी है, तो जिनके सातों ही व्यसन लगे हैं उनके कष्टका क्या ठिकाना ? जिनको एक व्यसन लग जाय तो साथ ही अन्य व्यसन भी लग जाते हैं। तो हे आत्मन् ! यदि शान्ति चाहिए है तो व्यसनसे विमुख बनो और नीतिका सेवन करो। जो वास्तविक नीति है धर्मनीति उसपर चलें, ज्ञानलाभ लें, आत्ममनन करें, दूसरोंका आदर करें, न्यायसे धन कमायें, पापसे विरक्त रहें, धर्मकी नीतिपर चलें तो परम सुखकी, संतोषकी प्राप्ति हो सकती है और सदाके लिए आत्माका कल्याण होगा। सो अगर शाश्वत शान्ति चाहिए तो इस छंदमें जो उपदेश किया

गया है उस उपदेशका आश्रय लें।

तारुण्योद्रेकरम्यां दृढकठिन कुचां पद्मपत्रायताक्षीं
स्थूलोपस्थां परस्त्रीं किमिति शशिमुखीं वीक्ष्य खेदं प्रयासि।
त्यक्त्वा सर्वान्यकृत्यं कुरु सुकृतमहो कांतमूत्यंगनानां
बांछा चेत्ते हतात्मन्न हि सुकृतमृते वांछिताबाप्तिरस्ति ॥४०३॥

(१५७) **सांसारिक सुखका बीज पुण्यकर्मविधान**—इसमें जीवसंबोधन प्रकरण चल रहा है। इस जीवको समझा रहे हैं कि हे मनुष्य यदि तुझे इस संसारमें भोगोपभोगके उत्तम साधन चाहिए तो उन साधनोंकी ओर हम मन खराब मत करें किन्तु धर्ममें अपना मन लगावें तो पुण्यका बंध होगा। पुण्यके उदयमें ये सामग्री मिलीं। एक उदाहरण दिया है, जैसे कोई परस्त्रीका रूप निरखता है, उसकी सुन्दरता देखकर इच्छा करता है तो ऐसा भाव करनेसे सिद्धि न होगी, किन्तु तू यदि अपने धर्म कार्यमें सावधान हो तो आगे ऐसे कुटुम्ब, स्त्री, सम्पत्ति आदिक खूब प्राप्त कर लेगा, पर उन्हींका निगाह रखना यह तो तेरे अनर्थके लिए ही है। लोग प्रायः इन्द्रिय भोग उपभोगके साधनोंकी वाञ्छा किया करते हैं, जिनमें प्रधानतया लोग स्त्रीजनोंके रूपको निरखकर उनकी ओर अपना चित्त जगाते हैं। उन जीवों को सम्बोधा गया है कि ऐसी खोटी करनीसे तू कुछ लाभ न पावेगा बल्कि कष्ट ही पावेगा। यदि तुझे ऐसे सुन्दर समागमों की ही इच्छा है तो अपने धर्म कर्तव्योंमें सावधान हो, रीति नीतिके अनुसार चल, जिससे पुण्य बंध होगा, पाप खिरेंगे और जो तू चाह रहा है उस वांछित वस्तुकी प्राप्ति होगी। कहीं पापका भाव करनेसे इष्ट वस्तु नहीं मिलती किन्तु धर्मका भाव रखनेसे परिणामोंमें विशुद्धि बनती है। स्वयं ही सहज सांसारिक सुख साधनोंकी प्राप्ति होती है, तो यह तो एक सुखसाधन प्राप्त करनेका उपाय बताया, पर विवेक इसमें हैं, चतुराई इसमें है कि तुम संसारके भोग साधनोंकी भी चाह मत करो, क्योंकि संसारके सुख किसको मिले हैं, किसको मिलते रहेंगे, कौन सदा सुखी रहेगा? केवल एक व्यक्तिपर निगाह डालकर उसकी चर्या निरख लो। जो पहले पुराण पुरुष हुए हैं उनको देख लो, आगे वर्तमानमें भी जो लोग बड़े कहलाये उनको देख लो आज जिनको सुख मिला है कुछ समय बाद उनको दुःख अवश्य होगा। जिनको आज दुःख है उन्होंने पहले कितना सुखकी कल्पनायें करके अपनेको मौजमें रखा था। तो ये संसारके सुख सुख नहीं हैं, ये दुःख हैं। धोखा है और उल्टे क्लेश बढ़ाने वाले हैं, इस कारण सांसारिक सुख साधनोंकी इच्छा मत करो। उनके संग्रहके लिए तृष्णामें अपना जीवन मत गुजारो, किन्तु आत्माको पहिचानो। आत्मा का आत्मा ही साथी है, दूसरा कोई साथी हो ही नहीं सकता। जो लोग किसी दूसरे जीव

को साथी मान रहे हैं, उनको शरण, मददगार समझ रहे हैं वे अंधेरेमें हैं। कोई भी जीव किसी दूसरेका प्रेमी हो ही नहीं सकता। हर एक कोई अपने स्वार्थका, अपनी कषायका प्रेमी हुआ करता है। सो पहले तो यह ही एक अज्ञान है जो यह समझ लिया जाय कि अमुक भाई मुझसे बड़ा प्रेम रखते हैं। मुझसे कोई प्रेम नहीं करता। जो प्रेम रख रहा, प्रेमकी बात कर रहा उसके ऐसी ही कषाय जगी है, ऐसा ही उसके मनमें भाव हुआ है सो अपनी ही भाव वेदनाको शान्त करनेके लिए उस प्रकारकी प्रवृत्ति करता है। वास्तविकता तो यह है फिर भी यदि संसारके इन सुखोंकी चाह है तो सुख कहीं चाहनेसे नहीं मिला करता किन्तु धर्म कर्म पुण्यके प्रसादसे ये सुख साधन मिला करते हैं।

लक्ष्मीं प्राप्याप्यनर्घ्यामखिलपरजनप्रीतिपुष्टिप्रदात्तीं
कांतां कांतांगयष्टिं विकसितवदनां चिंतयस्यार्तचित्तः।
तस्याः पुत्रं पवित्रं प्रथितपृथुगुणं तस्य भार्या च तस्याः
पुत्रं तस्यापि कांतामिति विहितमतिः खिद्यसे जीव मूढः ॥४०४॥

(१५८) संसारी प्राणियोंका उत्तरोत्तर तृष्णासे खेदखिन्नपना—हे मोही प्राणी तू व्यर्थ ही तृष्णा करके खेदको प्राप्त हो रहा। तू चाहता है कि संसारमें मैं सबसे बड़ा धनी कहलाऊँ, इसके लिए तू धनके लिए तरसता फिरता है। अन्याय करके, पड़ोसियोंको सताकर, कुटुम्बको सताकर, अत्याचार करके जिस किसी भी प्रकार तू धन समेटना चाहता है। अपने आपको बड़ा धनी बनाना चाहता है, उसकी ओर रात-दिन कल्पनायें, चिन्तायें, मायाचार, नाना वृत्तियाँ बनाकर दुःखी हो रहा है। धनका विशेष अर्जन या तो एकदम पुण्योदय से इकट्ठा किया हुआ ही किसीको मिल जाय, ऐसा होता है या फिर अन्याय करके, अत्याचार करके विशेष धनी बन पाता है। जैसे समुद्र स्वच्छ नदियोंसे नहीं भरा करता, गन्दी नदियों से समुद्र भरा जाता है, ऐसे ही न्यायकी कमाईसे एकदम धनका संग्रह नहीं बनता। कैसी ही अटपट प्रवृत्तियाँ करके संग्रह बनता। तो हे तृष्णा करने वाले पुरुष पहले तो तू इसके लिए वर्तमानमें ही पाप कर रहा, तृष्णा कर रहा, सो पुण्यका उदय हो तो इकट्ठा धन बने और कदाचित् धन एकत्रित हो गया तो इतनेपर भी संतोष नहीं करता, किन्तु स्त्री अच्छी भली चाहिए, इस ओर तृष्णा बढ़ाये रहता है। स्त्री भी प्राप्त हो गई तो उसके आगेकी चाह करता है कि सन्तान हों, पुत्र हों। इस प्रकारकी तृष्णा बनाता है। ऐसा भी वाञ्छित बन जाय तो वह बड़ा हो गया, पुत्रका विवाह हुआ, उसके बाद पोता हुआ, इस तरह तृष्णामें आगे बढ़ता ही जाता है। तृष्णाकी हद नहीं होती। भले ही आज किसीको ऐसा लग रहा हो कि मेरेको तो बस इतना धन हो जाय फिर कुछ नहीं करना, कमाई छोड़ दूंगा, खूब

धर्मसाधना करूँगा, पर उतना धन हो जानेपर वह वे सब बातें भूल जाता है और आगेकी तृष्णा करने लगता है। तृष्णा तृष्णामें ही यह अपना सारा जीवन गँवा देता है और अन्तमें मरण कर जाता है। मरनेपर क्या साथ ले जाता? जैसा परिणाम किया है शुभ अथवा अशुभ, उससे जो पुण्य अथवा पापका बन्ध किया बस वह साथ जाता है, बाकी यहाँका धेला भी साथ नहीं जाता। तो इस जीवको सम्बोधा जा रहा कि तू क्यों व्यर्थ तृष्णामें अपना जीवन खो रहा है? अपने आपको सावधानकर, सन्तुष्ट रख और आत्मदृष्टि करके इसमें ही तू मग्न हो। तो यह जीव अपने आप ही सदा कल्पनायें करके दुःखका उपार्जन कर खेदखिन्न हुआ करता है। सो तृष्णामें उत्तरोत्तर चाह करके अपनी बुद्धि भ्रष्ट करता है और जीवनमें अपना कुछ भी हित नहीं कर पाता।

जन्मक्षेत्रेऽपवित्रे क्षणरुचिचपले दोषसर्पोरुरंध्रे
देहे व्याध्यादिसिंधुप्रपतनजलधौ पापपानीयकुंभे।
कुर्वाणो बंधुबुद्धिं विविधमलभृते यासि रे जीवः नाशं
संचित्यैवं शरीरे कुरु हतममतो धर्मकर्माणि नित्यं ॥४०५॥

(१५९) असार देहमें आत्मीयताकी मान्यतामें संकटोंका आक्रमण—यहाँ उन जीवोंको सम्बोधा जा रहा जिनको हित और अहितका विवेक नहीं है कि हे दुर्बुद्धि जीव तू अपने इस शरीरमें क्यों इतनी ममता करता है। देखिये—प्रत्येक मनुष्यको प्रायः अपने शरीर में ममता हो रही है और शरीरको माना कि यह ही मैं सब कुछ हूं और शरीरके नातेसे ही सारा जगत व्यवहार कर रहा। जितने भी कष्ट हैं वे सब इस शरीरके सम्बन्धसे हो रहे हैं। रोग इस शरीरमें ही तो हुआ करते हैं। रोग न हो, चंगा हो तो भी इस शरीरमें आत्मबुद्धि करके नाना तरहकी मनकी उड़ान दौड़ाया करता है। मेरा जगतमें यश हो। मेरा मायने यह शरीर, जिसका फोटो उतरवाते हैं, जिसका नाम रखते हैं उसका यश हो, कीर्ति हो। अरे यह शरीर क्षणभंगुर है। यह शरीर अपवित्रताका घर है। पौद्गलिक है, अत्यन्त भिन्न है, इस पर दृष्टि रखकर तू यशकी चाह करके सारे जीवन दुःख पा रहा है। खूब सोच लें, जितने भी कष्ट हो रहे हैं वे सब इस शरीरके सम्बन्धसे हो रहे हैं। यदि मुझ जीवके साथ शरीर न हो, केवल मैं आत्मा ही आत्मा होऊँ तो इसको फिर क्या कष्ट है? जिसके शरीर नहीं रहता, किसी भी परपदार्थका लेप सम्पर्क नहीं है, केवल ज्ञानज्योतिमात्र यह जीव है उसका नाम क्या है? सिद्ध भगवान। जिनको हम पूजते हैं, जिनको हम आदर्श मानते हैं वे प्रभु शरीररहित हैं, ऐसी ही स्थिति हमारी बने तो हम शान्त रहेंगे, अन्यथा संसारमें कष्ट ही कष्ट मिलेगा।

(१६०) **दुःखके बीजभूत शरीरकी प्रीतिसे संसारसंकटोंकी परिपाटी**—जो जीव संसारमें रहकर सुखकी आशा रखते हैं, मेरेको सुख हो, मौज हो, यह उनकी मूर्खता है। संसारमें सुख रह ही नहीं सकता। सारा संसार दुःखमय है, जिसको सुख मान रखा है वह कल्पना है, ख्याल है। जैसे कोई स्वप्नमें कुछ अच्छी बात देखे, खूब धन मिल गया, अच्छे महल हैं, स्त्री पुत्रादिक आज्ञा मान रहे हैं या राज्य मिल गया, किसीने ऐसा स्वप्नमें देखा तो वह स्वप्नमें मौज मानता, पर बताओ नींद खुलनेपर यह मौज रहता है क्या ? नहीं रहता। वह तो ख्याल था, कल्पना थी, वह सब नष्ट हो गया, ऐसे ही यह जीव मोहमें कुछ सुख समझता है, पर कोई वह सुख है क्या ? और जिसे सुख मान रहा है, जो अपनेको सुखी समझ रहा है वह नियमसे दुःख पायगा। संसारका ऐसा ही नियम है। तो सारे दुःखोंका कारण है शरीरका सम्बन्ध। सो हे दुर्बुद्धि प्राणी तू अपने ही अहित करने वाले शत्रुस्वरूप इस शरीरके पीछे लगकर तू अपने कर्तव्यसे क्यों च्युत होता है ?

(१६१) **अत्यन्त अशुचि पदार्थका निर्णय**—इस शरीरका स्वरूप तो विचार, यह महान अपवित्र है। इस शरीरके समान दुनियामें और कोई गन्दी चीज है क्या ? जिनको लोग गन्दा कहते जैसे नाली, कीचड़ और दुर्गन्धित वस्तुवें, तो उनमें है क्या ? वह जीवका मुर्दा शरीर पड़ा है, उसमें कीड़े बिजबिजा रहे हैं, मांस सड़ गल रहा, तो आखिर यह अपवित्र शरीर ही तो गन्दा रहा। तो जरा और भीतर चलकर सोचें तो यह शरीर गन्दा हुआ क्यों ? जब तक इस शरीर पर जीव न आया था तब तक तो यह गंदा न था, जब जीव आया, शरीर बना तो यह गंदा कहलाया। सो यह जीवके आने पर ही तो शरीर गंदा रहा सो कौन सा जीव आया करता है शरीर पानेके लिए। जो रागी है। द्वेषी है, मोही है। तो रागद्वेष मोहके कारण इस जीवके आनेपर शरीर गंदा रहा, तो मूलमें गंदा क्या रहा ? रागद्वेष मोह। यह विकारभाव और जिससे बढ़ बढ़कर यह शरीर गंदा हुआ, जिस शरीरमें ममता कर रहा है और संसारमें जन्ममरणकी परिपाटी बना रहा है, तो यह शरीर इस जीवसे शत्रुताका व्यवहार कर रहा, उसका दुश्मन बन रहा, शरीर न हो तो यहां कोई कष्ट नहीं। जिसके कारणसे मुझे कष्ट हो रहा उस ही शरीरमें यह मूढ़ प्रीति कर रहा। जो समझदार है। विवेकी है वह इस शरीरमें मोह नहीं रखता, इस शरीरको तपश्चरणमें लगाता है। पहले तो यह ही देखें कि यह शरीर अपवित्र साधनोंसे पैदा हुआ अपवित्र चीजों से बना, अपवित्र चीजोंको ही उगलता है, मलको ही बहाता है। प्रारम्भसे लेकर अन्त तक अपवित्र ही अपवित्र मलोंका टोकना है। तो ऐसे अपवित्र मलोंके धाम इस शरीरसे तू क्यों प्रीति करता।

(१६२) **अशुचि अस्थिर दोषसर्पबिल रोगधाम पापघट देहमें प्रीति करनेकी मूढता**— यह शरीर गंदा है और बिजलीके समान अस्थिर है, यदि कोई १००-५० वर्ष जिन्दा रह जाता तो इतनेसे समयकी इस अनन्तकालके सामने कुछ गिनती भी है क्या ? अनादि अनन्त कालके सामने उससे भी कम है जितनी देरको बिजली चमकती है। तो यह जीवन, यह शरीर बिजलीके समान क्षणिक है, विनाशीक है और क्षणिक विनाशीक है, इतना ही नहीं। यह शरीर तो नाना दोषरूपी सर्पोंके रहनेके बिलकी तरह है। जैसे बिलमें साँप भरे रहते हैं ऐसे ही इस शरीरमें नाना दोष भरे रहते हैं। तो ऐसा दोषमय गन्दा शरीर तेरे साथ लगा है और तू इस शरीरमें इतनी ममता रख रहा है, इस अपराधका फल कोई दूसरा भोगने न आयगा। खुद ही को जन्म मरण करके जीवनमें नाना कष्ट उठाते रहने पड़ेंगे। हे मोही प्राणी यह शरीर क्या है ? नाना रोगोंका घर है। अनेक रोगरूपी नदियोंसे मिलकर यह समुद्र बन गया है। सर्वत्र रोग। रोगकी एक जाति है क्या ? जितने शरीरमें रोम हैं उतने प्रकारके शरीरमें रोग होते हैं, उन सब रोगोंका यह शरीर साधन है। यह शरीर पापरूपी पानीका भरा हुआ घड़ा है। पापका घड़ा ऐसा लोग बोलते ही हैं। जब जब शरीरपर दृष्टि होती है तब तब पापके ही भाव होते हैं, धर्म तो आत्माके सहारे होता है, शरीरकी दृष्टिमें धर्म नहीं होता। तो यह शरीर पापरूपी पानीका भरा हुआ घड़ा है। यह शरीर विचित्र मलोंका भंडार है। कितने मल भरे पड़े हैं इस शरीरमें। हड्डी, मज्जा, मांस, खून, चमड़ी, रोम, थूक, मल, मूत्र, कफ, लार, नाक, आँखका कीचड़, कानका कनेऊ, पसीना आदिक ये ही तो सब इस शरीरमें भरे पड़े हैं। सो इन मलोंके घररूपी शरीरसे ही तू प्रीति करता है। इस शरीरको ही मानता है कि यह मैं आत्मा हूं। अरे तू आत्मा इस शरीरसे निराला अमूर्त ज्ञानज्योति स्वरूप है। ऐसे अपवित्र, असार, भिन्न पौद्गलिक देहमें ममता करना, प्रीति करना यह महान मूर्खता है। तब चाहिए क्या ? इस शरीरसे मोह हटाकर धर्ममार्गमें प्रीति करना। यहाँ दो चीजें हैं—शरीर और जीव। शरीर तो यह स्थूल पौद्गलिक दिख रहा है लोगोंको, शरीर यह है और आत्मा अमूर्त ज्ञानस्वरूप जिसमें प्रतिभासका ही काम है वही इसका स्वरूप है, वह ज्ञानमूर्ति है। जब शरीरपर निगाह जाय, दृष्टि जाय तब तो संसार की परिपाटी बढ़ेगी, जन्ममरणका कष्ट बढ़ेगा, और अपने आत्मापर दृष्टि जाय तो धर्ममार्ग मिलेगा, मुक्तिका मार्ग मिलेगा, संसारके संकट टलेंगे। इस कारण शरीरसे मोह हटायें और धर्ममें प्रीति लगायें। शरीरसे आपका मोह हटेगा तो स्वयं ही यह ज्ञान जग जायगा कि कुटुम्ब पुत्रादिक ये मेरे कुछ नहीं हैं तिसपर भी जब शरीरमें सामर्थ्य नहीं है त्यागनेका, तो घरमें रहना ही पड़ेगा और तब आप प्रेमका, रागका बर्ताव करेंगे।

(१६३) **सकल संकटोंके परिहारका बीज आत्मज्ञान**—भैया ! मोह न रहे, अज्ञान न रहे, धर्मसे विचलित न हों। एतदर्थ अपना और परपदार्थका सही बोध करिये और अपने आपको उपादेय मानिये। यह ही आत्मतत्त्व मेरा स्वरूप है, इसकी ही दृष्टि मेरे लिए शरण है। यह ही आत्मा जब दोषसे रहित हो जाता है तो यह ही भगवान कहलाने लगता है। शुद्ध होनेपर यह आत्मा सदाके लिए आनन्दमय होता है। तब संसारके सुखके लिए नहीं तरसना है। सांसारिक सुखोंको कष्ट मानना, अपवित्र मानना, कीचड़ समझना, हेय समझना, जो सांसारिक सुखोंका आदर रखते हैं उन्हें कष्ट भोगना ही पड़ता है। तो जिन्हें कष्ट न चाहिये वे सांसारिक सुखोंसे प्रीति न करें, और सांसारिक सुखोंका आधार जिस शरीरको बना रखा है उससे प्रीति न करें। एक दृष्टिमें आत्मा ही हो, ज्ञानस्वरूप ही उपयोगमें समाया हुआ हो तो यह कहलायगा धर्मपालन। सो भाई शरीरसे मोह ममता हटाकर धार्मिक कार्य करिये, शरीरको बन्धु न समझिये, धर्मको बन्धु समझिये। मेरा रक्षक शरीर नहीं है, मेरा रक्षक धर्म है। धर्म हो तो उसके प्रसादसे सर्वत्र आनन्द ही रहेगा, और अगर धर्म नहीं है, पुण्य भी नहीं है, पापरस भी उमड़ रहा है तो कहाँ जाकर छिपेगा, सब जगह कष्ट पायगा। सो इन सब कष्टोंका आधार यह शरीर है। इस शरीरके शृङ्गारमें, इस शरीरके बार-बार निरखनेमें, शरीरको देखकर अहङ्कार करनेमें, इन सब कार्योंमें पाप है, मिथ्यात्व है। उस शरीरका लगाव छोड़ें, उसका ममत्व त्यागें और धर्मके स्वभावसे प्रीति करें। मैं ज्ञान ज्ञान रूप ही रहूं, मुझे शरीर न चाहिए। मैं शरीरसे निराला केवल जाननहार रहा करूँ, बस यह ही सत्य धर्म है और इस ही में आत्माका भला है।

यद्वच्चित्तं करोषि स्मरशरनिहतः कामिनीसंगसौख्ये
तद्वत्त्वं चेज्जिनेंद्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विदध्याः।
किं किं सौख्यं न यासि प्रगतभवजरामृत्युदुःखप्रपंचं
संचित्यैवं विधित्स्व स्थिरपरमधिया तत्र चित्तस्थिरत्वं ॥४०६॥

(१६४) **मोक्षमार्गमें मनको तन्मय करनेसे निकटकालमें जन्मजरामरणरहित आनन्दधामका लाभ**—यह संसारी जीव पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी धुनमें बना रहता है। सो सभी जीवोंकी बात देख लो और उनमें इस मनुष्यकी कहानी और विकट है। यह मनुष्य इन्द्रिय-विषयोंमें पशु पक्षियों आदिककी अपेक्षा भी और अधिक बढ़ा चढ़ा है। इस मनुष्यके मन है, भाषा है, बोली है, साहित्यिक कलायें हैं, तो अपनी इन पायी हुई कलावोंका प्रयोग इन विषयभोगोंमें ही खर्च कर रहा है। सो इस जीवको आचार्य महाराज सम्बोधते हैं कि हे जीव जिस प्रकार तू कामकी व्यथासे व्यथित होकर कामनीके संगजन्य सुखमें मनको लगा

रहा है, अन्य काम-काज छोड़कर उन्हीं विषयोंके साधनोंमें तन्मय हो रहा है उस प्रकारकी तन्मयतासे यदि धार्मिक भक्तिसे प्रेरित हुये उस मनको [जिनेन्द्रभक्तिमें लगाये, जिनेन्द्रदेवके द्वारा बताये गए तत्त्वमें मनको [लगाये तो निश्चयसे समझिये कि जन्म जरा मृत्युसे रहित होकर तू निकट कालमें मोक्षको पायगा। भैया! सब कुछ धुनकी लीला है। जीव सिवाय धुन और भावके और कर ही क्या सकता है? यह ज्ञानमात्र है। केवल ज्ञानकी परिणति ही बनायेगा, भाव बनायेगा, इसके अतिरिक्त और करेगा क्या? किसी पुद्गलसे कोई सम्बन्ध नहीं कि किसी पदार्थको किसी तरह वह परिणमा दे। यह तो केवल भाव बनाता है और भाव बनाकर उसकी धुन बनाये रहता है। सो यह जीव अपने संस्कारोंके कारण विषयभोग के साधनोंमें अपनी धुन बनाये हुए है। कैसी तन्मयतासे यह विषयसाधनोंमें लगता है, उस ढंगसे तन्मयता यदि धर्मके कार्योंमें लग जाय तो जीवका उद्धार हो जाय, मगर मोहकी ऐसी लीला है कि इसको मोहके काम तो सरल लग रहे हैं और आत्मीय काम उसे कठिन लग रहे। कितनी उल्टी बात है। जो पराधीन है, जिसपर हमारा अधिकार नहीं, पुण्ययोगसे प्राप्त हुआ है इसकी बात तो इसको लगती है बडी सरल कि मैं कर सकता हूं, मैं धन खूब कमा सकता हूं, मैं इतनोंका पालन-पोषण कर सकता हूं, मैं बड़ा रोजिगार कर सकता हूं। यों बाहरी कामोंके करनेमें इसको लग रही आसानी और जंच रहा कि मेरे वशका काम है जब कि ये बाहरी संग प्रसंग इस आत्माके वशके नहीं हैं याने वर्तमान भावके अनुसार संसार के समागम मिल जायें यह इसके आधीन नहीं है। यद्यपि जिस पुण्यके उदयसे ही सब कुछ मिल रहा है वह पुण्य जब बँधा था तो आत्माके परिणामका ही निमित्त पाकर हुआ था। कहा जाता कि अपना ही कमाया हुआ भोग रहे हैं। सो इस तरह तो अपनी ही करतूतका फल भोगा, पर वर्तमानमें हम भाव कुछ करते हैं बीतती हमपर कुछ है। तो वर्तमान भाव हमारे वर्तमान सुख दुःखकी घटना नहीं बना पाते, यह पूर्वकृत दैवके उदयानुसार होता है।

(१६४) अनधिकार चेष्टा त्यागकर स्वाधीन आत्मरमणके पौरुषका कर्तव्य—हम यदि पूर्णतया स्वतंत्र हैं, समर्थ हैं तो मोक्षमार्गके काममें हैं, सो आज यह योग्यता पायी है हम आपने कि इस मनको मोहसे हटाकर मोक्षमार्गमें ले जाना चाहें तो ले जा सकते हैं। सो इस जीवको समझाया कि जिस लगनसे तू विषयसाधनोंमें लग रहा है ऐसी लगनसे धार्मिक भक्तिसे प्रेरित होकर जिनेन्द्र द्वारा बताये गए मोक्षमार्गमें लगे और इस मोक्षमार्गको ही ध्येय समझे तो निश्चयसे समझ कि जन्म जरा मरण दुःखसे रहित होकर तू अनन्त आनन्दके स्वरूपको प्राप्त करेगा। सो अब बाहरी समस्त झगड़ोंको छोड़कर परम पवित्र मार्गमें अपने चित्तको स्थिर कर। देखिये—जैसी आप सबकी आज गृहस्थावस्था है और कितनी उलझनें

इसके अन्दर हैं, रोजिगार करना, और कितनो तरहसे उसके लिए परिश्रम करना, विचार करना ये बातें करना होता है और उस गृहस्थदशामें आजीविका न हो तो भी बात न बनेगी। लेकिन यह तो कला हो सकती है कि साधारण आजीविकाके लिए पौरुष करके जो कुछ प्राप्त हो जायगा उसके अन्दर संतोषपूर्वक हम गुजारा बना सकेंगे। फिर चिन्ता किस बात को। मनुष्यको चिन्ता होती है तृष्णाके कारण। गुजारेके लिए चिन्ता नहीं होती क्योंकि गुजारेकी कोई कानून या लिमिट नहीं बनती है, वह तो अपने आपकी परिस्थिति और भाव के अनुसार है कोई लोग हजार रुपया माहवार कमा कर भी समझते कि हमारा गुजारा नहीं चलता और कोई ऐसे लोग भी हैं कि जो १००-५० रुपये माहवार कमाकर भी गुजारा कर लेते। सो जो लौकिक बातें हैं उन्हें तू मुख्य मत बना। जैसा बीतेगा, गुजरेगा, गुजर ले और उसीमें हम अपनी नीति न्यायअनुकूल करेंगे, पर इस दुर्लभ जीवनको पाकर मुख्य काम तो यह है कि संसारसे छूटनेका उपाय बना लिया जाय। जब तक यह शरीर साथ लगा है तब तक चैन नहीं है। खूब भली प्रकार सोच लो। प्रत्येक कथनमें, प्रत्येक स्थितियोंमें इस जीव के साथ शरीरका लगना ही एक अभिशाप है। इससे ही जीवमें कष्ट पड़े हुए हैं। तो यह निर्णय बनाइये कि मुझे आखिर शरीररहित केवल आत्मा हो आत्मा रहना है। यदि यह निर्णय बन गया तो देखिये—अभीसे फर्क आ जायगा। तकलीफ होगी तो कम महसूस होगी, उपेक्षा कर डालेंगे, मान अपमान, निन्दा प्रशंसा आदिक सभी बातोंमें क्षोभ न आयगा, क्योंकि जान रहे कि मुझे तो शरीरसे ही निराला बनना है, और शरीरसे रहित हुए बिना शाश्वत शान्ति न मिल पायगी। एक भवमें आप कुछसे कुछ साधन बना लें, पर उससे पूरा पड़ जायगा क्या? मरण होगा और जैसा बन्ध किया, जैसा संस्कार बना उसके अनुसार अगले भवमें सुख दुःखके समागम मिलेंगे। मुझे शरीररहित होना है।

(१६५) यथार्थ स्वपरभेदविज्ञान कर एकत्वनिश्चयगत अन्तस्तत्त्वमें रुचि करनेका कर्तव्य—भैया, शरीरको देखकर क्या खुश होना? यह तो मेरे लिए अभिशाप है, कलंक है, उपाधि है, पर जब बन्धन बना है शरीरका तो ढंगसे निपटेंगे। इस शरीरका एकदम विरोध करके इसकी परवाह बिल्कुल न करना चाहें तो हम न निपट पायेंगे। शरीरकी नौकरी लीजिए जितनी जैसी स्थिति है, पर ध्यान रखना है इस बातका कि जीवनमें मेरेको आत्म-स्वरूपकी साधना करना है। दूसरा कोई कार्य मेरे करनेके योग्य नहीं है। सो हे हितैषी आत्मन्! धुन बने अपने आत्मकल्याणकी, मोक्षमार्गकी। मोक्षमार्गमें अपने चित्तको रमा और परिवार मिला है उसे भी ऐसी ही सीख दें, ताकि तेरा कोई बाधक न बने। वहाँ भी धुन ऐसी ही बने कि इस जीवनमें जीकर आत्मकल्याणका लाभ लेना है। मोह हटे, परमात्माके

गुणोंका स्मरण रहे, मेरे सहज स्वरूपकी दृष्टि रहे बस यही चाहिये जीवनमें अन्य सुख साधन प्रसंग न चाहिये। मिलेगा वही जैसा उदय है, पर ऐसा चाहें मत याने अपना सर्वोच्च मत मानो कि इन बाह्य साधनोंके मिलने पर ही मेरा महत्व है, मेरा जीवन है, मेरा पोजीशन है। पोजीशन रखें चारित्रकी, शुद्ध आचरणकी प्रभुके ज्ञानमें हमारी आपकी सही पोजीशन झलकेगी वह तो लाभदायक है और जगतके मोही अज्ञानी प्राणियोंकी निगाहमें जिस किसी भी प्रकारकी अपनी पोजीशन बतानेका प्रयास करूँ वह बिल्कुल बेकार है। धुन की बात है। जिसको आत्मप्रकाश मिला है उसकी धुन आत्महितके अनुरूप बनेगी, जिसको आत्मस्वरूपकी सुध नहीं है उसकी धुन विसम्वादके लिए होती है। सो हे आत्मन्! बाह्य-विषयक विसम्वादको त्याग, पवित्र जैन शासनमें अपने चित्तको स्थिर कर।

सद्यः पातालमेति प्रविशति जलधिं गाहते देवगर्भं।
भुंक्ते भोगान्नराणाममर युवतिभिः संगमं याचते च।
वांछत्यैश्वर्यमयं रिपुसमितिहतेः कीर्तिकांतां ततश्च
धृत्वा त्वं जीव चित्तं स्थिरमतिचपलं स्वस्य कृत्यं कुरुष्व ॥४०७॥

(१६६) **चंचलचित्त प्राणीका बदल बदलकर पातालमें चित्त, समुद्रमें प्रवेश**—अपने आपमें अपनी बात निरखते हुए सोचिये, यह चित्त चंचल रहता है। भले ही कुछ पुरुष गम्भीर हैं। बड़ी धीरतासे उसपर विचार करना है। पर जहाँ बाह्य वस्तु विषयक विचार है वहाँ एक जगह चित्त स्थिर रह ही नहीं सकता। कुछ लोगोंके चित्तकी चंचलताका वेग और किस्मका है कुछका और किस्मका, मगर बाह्यपदार्थका आश्रय वाला चित्त चञ्चल ही रहेगा। वह स्थिर नहीं बन पाता। हे जीव! तेरा चित्त बड़ा ही चञ्चल है। कुछ क्षणको भी यह एक रूपमें स्थिर नहीं रह पाता। कभी तो यह चित्त पातालकी बातें सोचता, वहाँ चित्त ले जाता। सुन रखा, समझ रखा जहाँ इसको इष्ट जंचता है वहाँ यह अपना चित्त ले जाता है। तो कभी यह चित्त समुद्रमें घुसता है। चित्त एक जगह स्थिर कहाँ रहता? कभी कुछ ध्यान आता कभी कुछ। कभी कभी तो लोग ऐसा प्रश्न कर डालते हैं कि जब कभी माला लेकर बैठते हैं या जाप सामायिकका संकल्प करके बैठते हैं तब यह चित्त और अधिक घूमता है सो बात क्या है? जाप और सामायिककी स्थिति एक निरालम्बकी स्थिति है याने किसी एक ओर आलम्बन लिया नहीं और स्वका आलम्बन मिला नहीं तो ऐसी स्थितिमें यह चित्त चलता है तो कोई ऐसा सोचे कि जाप सामायिकको तो अपने किसी एक धंधापानी में लग जाय तो वह चित्त अधिक चंचल नहीं होता, मगर यह सोचना ठीक नहीं है। भले ही जाप सामायिकमें चित्त यहाँ वहाँ जा रहा है तो कमसे कम आपको वह क्षण बतला तो

रहा है कि हमारा इस इस जगह राग बसा है। इतनी त्रुटियाँ हैं, पर किसी एक इन्द्रिय विषयमें चित्तको लगाया तो भले ही थोड़ी देरको वहीं चित्त लग रहा मगर कितनी त्रुटि है, कितना भीतर संस्कार बसा है कि कुछ मालूम नहीं पड़ता। अब यदि चित्त चंचल जंच रहा तो उसको रोकनेका यत्न करें। चित्तकी चंचलताको दूर करनेका भली भाँति वाला उपाय यह है कि आत्माके शाश्वत सहज स्वरूपका मनन करने लगें, क्योंकि मेरे लिए यह मेरा सहज स्वरूप ध्रुव है, कभी धोखा देने वाला नहीं है चूँकि पर पदार्थ जिसका हम ख्याल करते हैं वह स्वयं विनाशीक है, उसके आधीन नहीं है। बाहरी पदार्थ हैं। उनका आश्रय किया हुआ चित्त स्थिर नहीं रह सकता। सो अपने चित्तको स्थिर रखना चाहते हैं तो एक निज स्वरूपमें अपने चित्तको लगा।

(१६७) **चंचलचित्त प्राणीका कभी स्वर्गमें चित्तभ्रमण कभी भोगमें प्रवर्तन**—अहो मनुष्यका कितना चञ्चल चित्त है। कभी पातालमें गया कभी समुद्रमें गया कभी स्वर्गका रास्ता नापता, स्वर्गमें देव हुआ। उन देवोंको बड़ा सुख है, हजार वर्षमें भूख लगती है, कंठ से अमृत झड़ता है, शरीरमें रोग नहीं होता, वैक्रियक शरीर है। हाड़ मांस मज्जा वहाँ नहीं है, चित्त वहाँ जाता है, बहाँ भी चित्त चञ्चल ही रहता है। जैसे यहाँ गरीबोंको धनिक लोग बड़े सुखी नजर आते हैं, पर धनिक लोग खुद जानते हैं अपने चित्तको कि क्या सुख है ? हार्ट फेल वाली बात गरीब और मजदूरोंके अधिक नहीं हुआ करती। हार्ट फेल वालोंकी संख्या अधिकतर मिलेगी समृद्धशाली पुरुषोंकी। चाहे वे धनसे समृद्ध हों या राज काज संभालनेके ओहदेसे समृद्ध हों, तो जैसे यहाँ गरीबोंको धनिक लोग बड़े सुखी नजर आते हैं पर सुख वहाँ रंच नहीं, ऐसे ही मनुष्योंको ये देव सुखी नजर आते मगर देवोंको भी सुख नहीं। चित्त उनके भी है। कषायें उनके भी लगी हैं, उनका भी चित्त स्थिर नहीं रहता। बल्कि उनका तो और भी अधिक अस्थिर चित्त है, क्योंकि उनको ताकत अधिक मिली है। कहीं से भी कहीं क्षण क्षणमें दौड़ सकते हैं। कहीं भी सैर कर सकते हैं। तो दुःख तो भावों से चलेगा। शारीरिक सुख है तो क्या करें ? जहाँ कल्पनायें जग रहीं वहाँ तो कष्ट ही कष्ट है। तो यह जीव कभी स्वर्गका रास्ता नापता, स्वर्गोंके स्वप्न देखता है तो कभी यह मनुष्यों के भोग भोगता है। चित्तकी अस्थिरता बतला रही है कि इस चित्तको सही ठीक ठिकाना नहीं मिला, अतएव यह जगह जगह डोलता रहता है, कहीं टिक नहीं पाता। ठीक ठिकाना है स्वयंका सहजस्वरूप। जब मैं स्वय सत् हूं तो अपने आप अपने सहज स्वरूप मैं हूं। आज उपाधिके सम्पर्कसे विकृत स्थिति बन गई है, लेकिन स्वरूप तो मेरे में नित्य अन्तः प्रकाशमान अचल है। तो जो मेरा स्वरूप है, स्वभाव है, चेतनामात्र वहाँ ही तू अपने चित्तको लें

जा, मनन कर। जैसे जैसे अभ्यास बढ़ेगा, अपने स्वरूपको निरखेगा वैसे ही वैसे स्थिरता बढ़ेगी।

(१६८) चंचलचित्त प्राणीके भोगसाधनोंकी तृष्णासे विकट क्षोभ—अपना कारण समयसार, यह अपना सहज आत्मप्रभु जब तक नहीं मिला जब तक इसका अनुभव नहीं बना तब तक यह चित्त बाह्य विषयोंमें डोलता रहता है और चूँकि विषयोंमें चित्त रमानेसे कष्ट ही होता है सो यह निर्लज्ज होकर विषयोंके साधनोंके कष्ट भोगता रहता है और उन्हीं साधनोंमें ललचाता रहता है। किस विषयके साधनमें बतलावो शान्ति मिलती है? सुख मौज मानना और बात है, शान्ति मिलना और बात है, जहाँ चित्त चंचल है, जहाँ क्षोभ मचा हुआ है, क्षोभके ही कारण विषयोंको भोगता है, क्षोभ पूर्वक ही भोग रहा है, भोगनेके बाद भी इसमें मलिनपना आता है। संसारके सुख साधन इसके लिए शान्तिके कारण कैसे हो सकते? मगर यह चंचल चित्त स्वर्गोंका रास्ता नापता है, मनुष्योंके भोग भोगता है, यह कभी देवांगनावोंका संग चाहता है। सुन रखा कि देवगतिके जीव, देवांगनाओंका स्वरूप सो यह चंचल चित्त कभी कभी वहाँ भी दौड़ता है, यह धन पानेकी तृष्णा इच्छाको बढाता ही रहता है। मनुष्य हुए किसलिए जैसे लोग कहते हैं ना—आये थे हरि भजनको ओटन लगे कपास। यद्यपि कपास ओटना भी एक काम है मगर ऐसा विमूचन वाला काम है कि दिन भर तो कपास ओटा मगर कोई किलो आधा किलो ही रूई ही निकाल पाये, याने परिश्रम तो बड़ा किया पर काम थोड़ा सा हुआ। तो ऐसे ही समझो कि आये तो थे हम प्रभुके भजनको, आत्माकी उपासनाके लिए आये थे मगर लग गए पञ्चेन्द्रियके विषयोंके भोगमें। अपनी बीती हुई जिन्दगीसे ही अनुभव कर लीजिए, शिक्षा ले लीजिये कि इस बीती हुई जिन्दगी तक हमने क्या क्या नहीं भोगा? मगर कुछ धरा है क्या पासमें कि वह सुख जुड़ गया हो और उन सुखोंको निरखकर आज भी आनन्द ले रहे हो। रंच नहीं मिला, और बजाय सुखके कष्ट सामने रहा।

(१६९) धनकीर्ति भोग आदि सबकी लिप्सा तजकर ज्ञानानुभूतिका पौरुष करनेका अनुरोध—भैया, दुर्लभ मनुष्यजीवनको पाकर हमें चित्त कहाँ रमाना चाहिए? इसका निर्णय बनाइये। रमाना चाहिए अपने आपके शाश्वत सहज चैतन्यस्वरूपमें। पर इसका जब ज्ञान नहीं, अनुभव नहीं, इस ओर दृष्टि ही नहीं जाती तो यह चित्त बाहर बाहर डोलता है। धन पानेकी इच्छामें रात दिन व्यग्र रहते हैं और कभी चाहते हैं कि मेरी कीर्तिमें जो बाधक हैं वे मेरे शत्रु हैं, उनका सफाया किया जाय और इस कीर्तिका बहुत विस्तार किया जाय। शरीर में कितना व्यामोह है कि कीर्ति चाहता है यह। मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूं, ऐसा जानकर कौन

कीर्ति चाहेगा ? यह शरीर ही मैं हूं, ऐसी जब बुद्धि हुई है तब ही कीर्तिकी चाह पैदा होगी। सो यह सब मिथ्याभावका ही तो प्रसार है। सो यह चपल चित्त जगह जगह डोल रहा है। इसके डवाडोलसे कोई सिद्धि नहीं। तब कर्तव्य यह है कि इस चित्तको एक जगह स्थिर रखिये। किस जगह स्थिर रखा जाय ? जो स्वयं जगह है मेरा शाश्वत चित्स्वरूप, वहाँ चित्त रमावो, यह ही मौलिक धर्मपालन है और इस ही की सेवाके लिए बार बार धर्ममें अपना चित्त लगाइये। भोगसाधनोंमें अपने चित्तको न लगाइये, क्योंकि भोगसाधनोंमें चित्त रमेगा तो यह चंचल ही रहेगा और धर्ममें चित्त लगेगा तो धीरता आयगी। तब ही हम अपने आप में कुछ समृद्धि का भी अनुभव कर सकते हैं।

नो शक्यं यन्निषेद्धुं त्रिभुवनभवनप्रांगणे वर्तमानं
सर्वे नश्यंति दोषा भवभयजनका रोधतो यस्य पुंसां।
जीवाजीवादितत्त्वप्रकटननिपुणे जैनवाक्ये निवेश्य
तत्त्वे चेते विदध्याः स्ववशसुखप्रदं स्वं तदा त्वं प्रयासि ॥४४८॥

(१७०) **आत्माश्रय बिना चित्तकी चंचलताके निरोधकी अशक्यता**—इस परिच्छेदमें जीवको सम्बोधन किया है। ये प्राणी विषयोंकी प्रीतिके कारण चंचल चित्त वाले हो गए हैं। चित्त क्यों चंचल है ? उत्तर उसका एक ही है कि इसका चित्त विषयोंमें रमना चाह रहा है। विषय हैं विनश्वर, विषय हैं पराधीन, विषय हैं अपनेसे भिन्न। तो उसमें लगाया हुआ चित्त स्थिर कैसे हो सकता ? फिर विषयोंमें जो चित्त लगा है वह हो गया अपनेसे बाहर। जब अपने स्वरूपसे बाहर हो जाय तो वह स्थिर कैसे रह सकता ? तो चंचल चित्त वाले पुरुषोंको सम्बोधा है कि देख तेरा चित्त ऐसा चंचल चल रहा है कि तीनों लोक रूपी आँगनमें घूमते हुएको कोई भी नहीं रोक सकता। क्षणमें कहीं क्षणमें कहीं चित्त जा रहा। यह चित्तकी चंचलता बिल्कुल स्पष्ट है और बाहरी पदार्थोंमें रमकर कोई चाहे कि मैं स्थिर चित्त वाला हो जाऊँ तो कभी नहीं हो सकता। स्थिर चित्त होनेके लिए स्वाधीन स्थिर तत्त्व का आश्रय चाहिए। वह है आत्मस्वरूप। जिसको अपने स्वरूपका परिचय है और जान लिया है कि यह ही मेरा सर्वस्व है, यहाँ ही जिनको संतोष होता है उनका चित्त तो चंचल न होगा, बाकी विषयोंमें जब प्रेम है तो चित्त चंचल होगा ही।

(१७१) **आत्महितके लिये आचरणका प्रारंभसे अन्त तक सहयोग**—कल्याण केवल ज्ञानसे नहीं है, केवल ऊपरी आस्था बनानेसे नहीं है, मात्र चर्चामें समय गुजारनेसे नहीं है। उसके लिए चाहिये कुछ प्रयोगात्मक आचरण। आचरणहीन पुरुषके सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता। कोई सोचे कि यह तो केवल ज्ञानकी बात है, जान लो, तत्त्वका जानना बना

लो उसकी बात बोल लो, सम्यक्त्व हो जायगा, सो न होगा। सम्यक्त्व होता है आत्माके अनुभवपूर्वक। आत्मानुभवपूर्वक ही सम्यक्त्व जगता है, सम्यक्त्व जगे बाद आत्मानुभूति रहे न रहे, बहुत समय बाद मिले, मगर यह नियम है कि सम्यक्त्व जब उत्पन्न होता है तो आत्मानुभूति पूर्वक ही होता है, और आत्माका अनुभव अन्तः संयम, सदाचार, अपनी ओर अभिमुखता, व्यसन आदिकका परिहार हो, नाना विकल्पजालसे छूटें, यह बात हुए बिना आत्माका अनुभव नहीं जग सकता। तो आप समझिये कि सम्यक्त्व पाना यों ऊपरी भावसे केवल यह ही ध्येय जिसने बनाया कि आचरणकी क्या आवश्यकता, सम्यक्त्व हो गया, काम बन गया, तो भाई आचरण बिना सम्यक्त्व न होगा और आचरणकी वृद्धि बिना मोक्षका लाभ न होगा। तो जिसकी अभिमुखता आत्माकी ओर है, जिसका आचरण वैराग्यपूर्ण है, विषयोंमें जिसका चित्त नहीं रमता उसके ही स्थिरता आयगी और वह ही शान्तिका लाभ पा सकेगा। करणानुयोगमें बताया है कि ७ प्रकृतियोंका जो क्षय होता है, जिससे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ वे ७ प्रकृतियाँ हैं अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शन-मोहनीयकी तीन मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। इन ७ का क्षय क्या एक साथ होता है ? पहले क्षय होता है अनन्तानुबंधीका। इसके बाद क्षय होता है दर्शनमोहका। अनन्तानुबंधी प्रकृति है चारित्रमोहकी, जो किसी प्रकारके आचरणका घात करती है। अनन्तानुबंधीका क्षय होनेपर एक ऐसा आचरण बनता है कि जिसके पालनपर अन्तर्मुहूर्त बाद दर्शनमोहका क्षय होता है। प्रयोगात्मक विधि बनाये बिना अनुभूति न होगी, सम्यक्त्व न जगेगा।

(१७२) सहज स्वावलम्बन बिना बेतुकी विडम्बना—जब अपने आपका स्वरूपका आश्रय बनता है तो चित्तमें स्थिरता आती है। इसके बिना इस जीवका चित्त इतना चंचल है कि तीन लोकमें यह सर्वत्र चक्कर लगाता ही रहता है। कभी कुछ विचार, कभी कुछ विचार। कभी कहीं गया, कभी कहीं गया। यदि इस चित्तकी चंचलताका निरोध हो जाय अर्थात् एक सहज आत्मस्वरूपको ही प्रधान कर ज्ञान जानता रहे तो इसीको कहते हैं ऐकाग्रे। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका एकत्व होना ही ऐकाग्रका परम स्वरूप है। तो ऐसी एकाग्रता आ जाय तो जन्म मरणके समस्त दुःख नष्ट हो सकते हैं। थोड़ीसी सुविधा मिल गई। लोगोंके बीच बैठकर थोड़ा बोलना आ गया, कुछ लोग कहने लगे कि यह भाई अच्छे समझदार हैं, पंडित हैं, ज्ञानी हैं, कुछ धन आदिककी सुविधायें हो गईं, कुछ राजकाजमें चला, प्रतिष्ठा, प्रभाव बन गया तो इतनेका क्या गर्व करना ? यह गर्व लायक चीज नहीं है। यह तो जितना बाहर उड़ान चलती जायगी उतना ही इसको भविष्यमें कष्ट मिलेगा। जो

जितनी सुख सुविधावोंमें मस्त रहता है वह उससे कितना ही गुना अन्तमें कष्ट पाता है। यह बात देखी हुई, बीती हुई सब तरहसे समझ लीजिए। जिनसे प्रेम था उनका वियोग हो गया, आज उस बारेमें सोच सकते हैं यदि विवेक है कि मैंने व्यर्थ ही इतना समय उनके स्नेहमें गंवाया। लाभ क्या मिला ? जो सुख सुविधावोंमें मस्त होना चाहते हैं और यहाँ ही गर्व रखते हैं उनको बहुत बड़ा कष्ट आने वाला है। पुण्यके फलमें जो हर्ष नहीं मानते, सुख सुविधा सम्पदावोंमें जो अपने आपको मस्त नहीं बनाते, उनके भी ज्ञाताद्रष्टा रहते हैं कि यह सब दैवका (भाग्यका) फल है और पापका उदय आनेपर उसमें विह्वल नहीं होता, उसका भी ज्ञाता रहता है कि यह भी दैवका फल है। वह पुरुष अपने चित्तको स्थिर रख सकता है। जिनको दैवफलमें हर्ष विषाद करनेकी प्रकृति पड़ गई है उनका चित्त स्थिर कैसे हो सकता है।

(१७३) शरण्य सहज परमात्मतत्त्वका शरण पाये बिना जीवका बेठिकाने परिभ्रमण—चित्तकी एकाग्रताका मूल उपाय निज सहज आत्मस्वरूपमें आत्मत्वकी प्रतीति है। यहाँ ही मनको रमा। केवल एक भावका ही तो सारा खेल चल रहा है। किस ओर दृष्टि है कि क्या बीत रहा है, यह बात आप खूब निर्णयमें रखिये। जब दृष्टि बाह्य विषयोंकी ओर रहती है तो क्षोभ है, आकुलता है, अज्ञान है। चित्तकी अस्थिरता है। अपनेमें दीनताका अनुभव है। और ऐसी स्थिति है कि जैसे वह बेठिकाने हो रहा हो, कहीं ठिकाना नहीं पड़ता, और जब अपने सहज ज्ञानमात्र ज्ञानघन आनन्दधाम सहज आत्मस्वरूपकी सुध होती है कि मैं यह हूं तो चूंकि यह कभी अलग नहीं हो रहा, यह कहीं बाहर न भग जायगा। यह तो अन्तः ही बना रहता है और इस ही में आत्मत्वका अनुभव कर रहा है तो ऐसे अपने आपके स्वभावको लखने वाला पुरुष धीर बनता है। उसमें इतना साहस आ गया, उसमें इतना सदाचार आ गया कि वह बाहरी पदार्थोंकी परिणति निरखकर क्षोभ नहीं मचाता, आकुलता नहीं करता। जानता है कि जो मैं समझता था सो ही तो हो रहा। इन विषय-साधनोंमें मौज मानने वाला पुरुष यह नहीं सोच पाता कि ये साधन नष्ट होते हैं। वह अपने बारेमें समझता है कि ये जो कुछ मुझे समागम मिले हैं ये सदैव रहेंगे, ऐसा उसके भीतर अवधारण बना हुआ है। भले ही कदाचित् दूसरोंका विषयसाधन नष्ट होता देखकर कह उठते हैं कि यह जो मिला है सब नष्ट होगा, पर अपने बारेमें नहीं सोच सकता, क्योंकि उसे उन साधनोंमें प्रीति लगी है। जिनमें प्रीति लगी है उनके नष्ट होनेकी कल्पना न कर पायगा। तो भले ही यह जान रहा कि मेरेको सुख साधन मिले हैं और ये सदा रहेंगे, स्त्री पुत्रादिक ऐसे आज्ञाकारी मिले हैं, मैं बड़ा भाग्यशाली हूं, मेरे समान भाग्यशाली और कौन होगा ? यों

बड़ा मस्त हो रहा, लेकिन जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होगा। यह नहीं कल्पनामें लाता कि इनका वियोग होगा, पर इसके न सोचनेसे कहीं वियोग रुक तो न जायगा। तो जब वियोग होता है तब यह उन सुखके दिनोंकी मौजसे कई गुना कष्ट भोगता है। चित्त की चंचलताके बस ये ही तो फल हैं।

(१७४) **नैमित्तिक भावोंसे विविक्त अन्तस्तत्त्वके आलम्बनमें शाश्वत शान्तिका क्षाभ**—अपने आपके स्वरूपका आलम्बन लें तो चित्तमें एकाग्रता बनेगी और संसार संकटोंसे छुटकारा पानेका अवसर मिलेगा। अतः हे हितैषी पुरुष तू इस चंचल चित्तको रोक, इस चंचल चित्तको जीत। जीव अजीव आदिक यथार्थ तत्त्वोंके प्रकट करने वाले जैन शास्त्रोंके चिन्तत मननमें अपने चित्तको लगा और आत्माधीन शान्तिको प्राप्त कर। आत्मकल्याण स्वाधीन है और सुगम है और जिन बाह्य विषयोंमें रम रहा है, संग्रह कर रहा है, जिसकी व्यवस्था बना रहा हैं ये सारी बातें पराधीन हैं और कठिम हैं। कठिन क्या असम्भव हैं। कल्पनामें ही यह मानता है कि मैं ऐसा कर लेता हूं, पर कर थोड़े ही पाता। यह तो अपने भाव भर बनाता है बाकी जो कुछ होता है वह सब ओटोमेटिक याने निमित्तनैमित्तिक योग से होता है जिसे कहते हैं ओटोमेटिक हो रहा। लोग बोलते ना कि यह छापने वाली प्रेस मशीन जर्मनीसे आयी है ६०-७० हजारमें, यह ओटोमेटिक काम करती है, यह कागजको खुद उठाती है, छापती है, और छपे हुए कागजको एक जगह धरती है, यह ओटोमेटिक काम करती है। तो इसका अर्थ क्या है कि इस निमित्तनैमित्तिक योग पूर्वक काम हो रहा, अमुक पेंच पुर्जा इस प्रकार चल रहा, उसके संयोगमे दूसरा इस प्रकार चल गया, उसका निमित्त पाकर यह पुर्जा इस प्रकार चल गया, उसका वहाँ सम्बन्ध बना, इस तरह सब काम चल रहा। तो संसारकी जितनी घटनायें हैं सुखकी दुःखकी वे सारी घटनायें निमित्तनैमित्तिक योगपूर्वक हैं। उनमें तेरा स्वरूप नहीं। उन सब विडम्बनासे उपयोग हटाकर सहजानन्दमय निजधाममें मनको विलीन कर।

(१७५) **निमित्तनैमित्तिक योगके यथार्थ परिचयसे प्राप्त उपलब्धियां**—यहाँ इतनी बात समझना कि हमारे सुख दुःख रागद्वेषादिक विकारमें केवल कर्मविपाक निमित्त है। जो बाहर इतनी चीजें पड़ी हैं विषयभूत घर मकान, कुटुम्ब, मित्र, शत्रु आदिक ये निमित्त नहीं कहलातीं। ये निमित्त हैं ही नहीं। हमारे विकारमें ये बाहरी पदार्थ आश्रयभूत बनते हैं, निमित्त नहीं होते। निमित्त तो केवल कर्मविपाक है, सो कर्मविपाक निमित्त है, रागद्वेषादिक भाव नैमित्तिक हैं, ऐसा जाननेसे हमको दो प्रेरणायें मिलीं। पहली तो यह कि जितने बाहरी विषयभूत दृश्यमान पदार्थ है ये मेरे विकारके बिगाड़के निमित्त नही हैं, इनपर तू रोष तोष

मत कर, इनमें तू विकल्पबुद्धि मत कर। ये तो आश्रयभूत हैं। तूने स्वयं अपने विषयभूत बनाकर इनको आरोपित किया है। इनमें आश्रय हटा, आलम्बन इनका तज। पहली प्रेरणा तो यह मिलती है निमित्तनैमित्तिक योगका सही परिचय होनेसे। दूसरी प्रेरणा यह मिलती है कि ये रागद्वेष सुख दुःख आदिक भाव ये नैमित्तिक हैं, ये तेरे स्वभाव नहीं हैं। तेरे ही मात्र सत्त्वसे, केवलसे ये बन गए हो परप्रसंग बिना, ऐसा नहीं है। ये तेरे स्वरूप नहीं, तेरे स्वभाव नहीं, ये परभाव हैं, रागद्वेषादिक भाव परभाव हैं कि स्वभाव। यदि स्वभाव हैं तो सदा रहना चाहिए, फिर तो इनसे कभी मुक्ति हो ही नहीं सकती, जब परभाव हैं, रागद्वेषादिक भाव परभाव हैं यह आपने कैसे समझा? तो कुछ लोग यह उत्तर देने लगते कि आश्रयभूत परपदार्थोंमें उपयोग जानेसे ये रागद्वेषादिक होते हैं इस कारण परभाव हैं, पर इस कारण परभाव नहीं हैं ये। यद्यपि यह भी बात है व्यक्त विकारमें, पर विकारोंके परभावपने का कारण यह नहीं है कि इन विषयभूत पदार्थोंका आश्रय लेकर विकार जगे हैं इस कारण परभाव हैं, किन्तु किस कारण परभाव हैं कि कर्मोदय निमित्तके सन्निधानमें ही ये हो पाते हैं इस कारण परभाव हैं। इन दो बातोंमें अन्तर क्या है? कोई रागद्वेषादिक भाव जो अबुद्धि पूर्वक हैं, अव्यक्त हैं, उन विकारोंके समय तो किसी भी आश्रयभूतका आश्रय नहीं रहता और विकार सो हो गए, मगर उन अव्यक्त विकारोंके समय कर्मविपाक रूप निमित्त सान्निध्य है ही। तो पर मायने निमित्तभूत कर्मोदय, उसका सन्निधान पाकर होने वाले भावको परभाव कहते हैं। सो एक मुख्य काम तो यह है ना कि हम अपने आपको अपने स्वभावरूप अनुभवें। सो जब हमने यह जाना कि ये विकार औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, तो इनसे हमारी उपेक्षा हो जाना प्राकृतिक बात है। इनमें क्या सिर रगड़ना? इनमें क्या मन फंसाना? यह तो बिगाड़ है, विकार है। ये तो परभाव हैं, विनश्वर हैं, मेरे स्वरूपसे निराले हैं। मैं तो एक शाश्वत चैतन्यस्वरूप मात्र हूं, इस स्वभावकी दृष्टि सुगमतया हो जाती है निमित्तनैमित्तिक भावका यथार्थ परिचय होनेसे यह तीसरी प्रगति है।

(१७६) सहजात्मस्वरूपकी सम्हालका चमत्कार--अब पुनः सम्हाल कीजिये कि कैसी सम्हाल रखना है? पहली सम्हाल तो यह है कि जगतमें जितने दृश्यमान पदार्थ हैं, जिनमें चित्त जानेसे ये विकार बढ़ते हैं, व्यक्त होते हैं, ये दृश्यमान पदार्थ मेरे विकारके निमित्त कारण नहीं हैं, किन्तु आश्रयभूत कारण हैं, पहले तो यह सम्हाल बने, दूसरी यह सम्हाल बने कि ये रागद्वेषादिक भाव कर्मोदयका निमित्त पाकर हुए हैं इसलिए ये परभाव हैं, ये निमित्तके खातेसे जुड़कर मेरेसे दूर हट जावें। जैसे दर्पणके सामने हाथ किया, वहां हाथका फोटो आ गया तो दर्पणमें आया हुआ फोटो यह नैमित्तिक है, हाथका सान्निध्य पाकर

हुआ है। यह दर्पणके स्वभावरूप नहीं है, स्वाभाविक नहीं है, निरुपाधिक नहीं है, इसलिए समझदार आदमी अगर दर्पणमें वह फोटो नहीं चाह रहा तो हाथको हटा देता है। तो उस नैमित्तिकको, फोटोको निमित्तके खातेमें डालकर निमित्तके साथ ही उसको दूर कर देता है, पर यहाँ नैमित्तिक तो है और निमित्तके हटनेपर यह नैमित्तिक हट जाता है, पर निमित्तको हटानेका उपाय निमित्तपर दृष्टि डालना नहीं है, किन्तु अपने स्वभावकी सम्हाल करना है। इतना अन्तर है। इन सर्व अन्य पदार्थोंसे विविक्त अपने आपके स्वरूपमें एकत्वगत शुद्ध अर्थात् परसे रहित अपनेमें परिपूर्ण चैतन्यशक्ति मात्र अपनेको समझें, प्रतीतिमें लें, अनुभवें तो वहाँ कर्मोंमें संक्रमण होना, कमजोरी होना, क्षीण होना, घात होना ये सब बातें स्वयं उनकी परिणतिसे होती रहती हैं। हमारा कर्तव्य तो अपने सहज स्वरूपकी सम्हाल है। इस सम्हाल में संतोष, शान्ति, धीरता, स्थिरता, सन्मार्ग ये सब बातें पायी जा रही हैं।

(१७७) **सहजात्मस्वरूपकी सम्हालके संदर्भमें प्रभुभक्तिकी उपयोगिता**—अपने सहज स्वरूपकी सहज सम्हालमें जब हम नहीं रह पाते तो यह सम्हाल जिनके बन चुकी है ऐसे आत्मावोंका भजन करना, गुणस्मरण करना ताकि हम अपनी सम्हालके लिए फिरसे उद्यमी बन जायें। यह ही है प्रभुभक्तिका सम्बंध। प्रभुभक्ति क्यों कर रहे हैं? प्रभुका स्वरूप, मेरा स्वरूप एक समान है, किन्तु 'अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान।' सो यह अन्तर नैमित्तिक है। जो नैमित्तिक होता वह मिटाया जा सकता। जो स्वाभाविक होता वह मिटाया नहीं जा सकता। यह मिट जायगा अपने स्वरूपकी सम्हाल करनेसे। बाहरके अचेतन अचेतनमें जो निमित्तनैमित्तिक योगकी व्यवस्था है वहाँ तो यह बात चलती है कि निमित्तको हटा दिया जाय तो नैमित्तिक न रहेगा। हाथको हटा लिया जाय तो दर्पणमें वह फोटो न रहेगा। यहाँ भी यही विधि है कि निमित्तके दूर होनेपर नैमित्तिक भी दूर हो जायगा, मगर यहाँ इस निमित्तपर वश नहीं चल सकता। यह तो केवल एक यह ही तंत्र है कि अपने सहज आत्मस्वरूपकी सम्हाल करिये, उसरूप अनुभविये, यहाँ ही अपना उपयोग रखिये, यहीं संतुष्ट होइये, यहीं रत होइये, यहीं रहकर परम विश्राम करिये तो वे सब बातें जो होनी चाहियें कर्म हटनेके लिए, निमित्त दूर होनेके लिए जैसा कि करणानुयोगमें बताया है वह सब प्रक्रिया स्वयं होने लगती है। तो हमारे दो ही काम तो मुख्य रहे, उनमें भी एक ही मुख्य रहा निज सहज आत्मस्वरूपकी सावधानी, दृष्टि, प्रतीति, अनुभूति और इस ही प्रयोजनकी सिद्धिके लिए जो सम्हाल कर चुके हैं ऐसे शुद्ध आत्माकी भक्ति, पंच परमेष्ठियोंकी भक्ति। प्रभुभक्ति, सहज आत्मस्वरूपका मनन। बस यह ही हम आपको इस दुर्लभ जीवनमें करनेकी बात है। इसीकी पूर्तिके लिए अन्य सब व्यवस्थायें धार्मिक चला करती हैं। तो

अपने स्वरूपके अभिमुख हों और चित्तकी चंचलता समाप्त करें, इस ही उपायसे हम अपने मोक्षमार्गमें प्रगति कर पायेंगे।

मित्रत्वं याति शत्रुः कथमपि सुकृतं नापहर्तुं समर्थो
जन्मन्येकत्र दुःखं जनयति भविनां शक्यते चापघातुं।
नैवं भोगोऽथ वैरी मृतजननजरादुःखतो जीव ! शश्व-
त्तस्मादेनं निहत्य प्रशमशितशरैर्मुक्ति भोगं भज त्वं ॥४०६॥

(१७८) भोगवैरीकी अपरिवर्तित प्रबल शत्रुता—इन भोगासक्त संसारी प्राणियोंको सम्बोधन किया जा रहा कि हे जीव संसारमें जैसा अहित ये विषयभोग करते हैं वैसा अन्य कोई भी तेरा अहित नहीं कर पाता। हम आपका वास्तविक दुश्मन कौन ? मिथ्यात्व और ये विषयकषाय। ये हम आपके प्रबल बैरी हैं। दूसरा कोई मेरा बैरी नहीं है। कोई भी जीव मेरे विरोधके कारण कुछ नहीं करता, किन्तु जिसमें उसे भला मालूम होता वह काम वह करता है और हम यहाँ विषयोंमें बाधा समझते हैं तो उसके विषयमें कल्पना करते हैं कि यह मेरा विरोधी है। जगतमें मेरा विरोधी दुश्मन, अहितकारी कोई दूसरा पदार्थ नहीं। मेरे ही ये विषयभोग, काल्पनिक काम ये ही प्रबल शत्रु हैं। कुछ विवेक पाया है, ज्ञान पाया है तो उसका फल यही है कि इन विषयोंसे विराम लें। यदि विषयोंसे विरक्ति नहीं होती, इनसे उपेक्षा नहीं होती, विराम नहीं लेते, तो वह ज्ञानकी वार्ता एक तोता रटंत मात्र है। खुद पर उसका कुछ असर न पड़ा और ज्योंका त्यों दुःखी रहता। बात बातमें, धर्मकी चर्चा ही में जो क्रोध उमड़ आता है उसका कारण क्या है ? अज्ञान। शरीरमें अज्ञान, शरीरमें अहंकार, मनके विषयोंसे प्रीति, ये सभी दोष उस पुरुषमें मौजूद हैं, उसको लाभ क्या मिला ? सो हे जीव तू निर्णय कर कि मेरे अहितके करने वाले हैं ये विषयसाधन, भोग। दूसरा कोई अहित नहीं करता। ये विषयभोग, पञ्चेन्द्रियके भोग, मनके यश कीर्तिका लाभ ये ही प्रबल बैरी है जो इस आत्माको परेशान किए हैं, तिड़बिड़ा रहे हैं और यह आत्मा क्षुब्ध होकर कर्म बाँध रहा है। देहधारी शत्रु तो कभी किसी कारणसे शत्रु हुए पर मित्र भी हो सकता है, पर अपनी वासना विषयोंके भोग, ये कभी मित्र नहीं हो सकते। आज जिस पुरुषको हम मान रहे कि यह हमारा विरोधी है, दुश्मन है, पर कलके दिन कहो कोई ऐसी बात बन जाय कि वह मित्र बन जाय, पर ये विषय कषाय किसी भी समय मित्र नहीं हो सकते। और फिर ये व्यर्थकी कल्पनायें। मानो स्पर्शन, रसना आदिक इन्द्रियके विषयोंको भोग डालें तो इस जीवके पास बढ़ क्या गया यह तो ज्योंका त्यों रिक्त है, क्योंकि तृष्णा है, आशा है, उसके कारण इसका गड्ढा ज्योंका त्यों खाली है। सो बाहर कोई पुरुष जिन्हें लोग शत्रु

मानते हैं वे तो कदाचित् मित्र हो जायेंगे, पर ये विषय तेरे कभी भी मित्र नहीं हो सकते।

(१७६) भोगबैरीमें पुण्यापहरण व निष्प्रतिक्रिय दुःखजननकी विशेषता—अब देखिये—इन विषयोंमें माने गए अन्य शत्रुवोंकी अपेक्षा कितनी प्रबलता है। दूसरे प्राणी जिनको हमने शत्रु करार किया है वे शत्रु उसके पुण्यको नहीं छीन सकते, और हुआ भी ऐसा ही। कितनी ही घटनायें हुईं ऐसी कि उन शत्रुवोंने बुरा करना चाहा, पर उसका पुण्य न छीन सके। श्रीकृष्ण नारायणके पुत्र प्रद्युम्नपर कालसम्वरके अनेक पुत्रोंने कितने उपद्रव ढाया, कहीं गुफामें ले गए, कहीं बावड़ीमें ढकेला, पर सर्वत्र निधि पाया। उसके पुण्यको न छीन सके, पर ये विषयबैरी इसके पुण्यको छीन डालते हैं, यहाँ विषय बैरीमें और लौकिक शत्रुमें तुलना बतायी गई है, यह कितना प्रबल बैरी है। कोई शत्रु अधिकसे अधिक एक जन्ममें दुःख दे देगा, पर विषय शत्रु भव-भवमें दुःख देते हैं। अब तुलना करो, जो विषय रुचते हैं, जिनके लिए जीवन समझ डाला है वे विषय हम आपके कितने बड़े दुश्मन हैं, उनसे विराम लेना चाहिए और आत्महितके लिए जो मार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके पालनका उस मार्गसे चलना चाहिए। ये विषय बैरी कैसा प्रबल शत्रु हैं। ये माने गए मनुष्य दुश्मन कभी कोई प्रहार करे तो हम उसका प्रतिकार कर लें, मुकाबला कर लें, उसे हरा दें, कुछ प्रतिबंध किया जा सकता है, किन्तु जब ये विषयशत्रु मुझपर लद जाते हैं तो हम निष्प्रतिबंध हो जाते हैं, उस वासनाके वश होकर जो कुबुद्धि जगती है उसके अनुसार ही व्यवहार कर बैठते हैं। तो देखिये अन्य शत्रुवोंसे कितनी अधिक प्रबल शत्रुता है इन विषमोंमें। कभी कोई शत्रु दुःख दे दे तो उस दुःखको हम दूर कर सकते हैं, पर विषय शत्रु ऐसे नहीं हैं। वे विलक्षण हैं, प्रबल दुःखके हेतुभूत हैं, ये किसीके भी हितकारी नहीं हैं।

(१८०) आत्मज्ञान व विषयविरक्तिमें अपना हित—अब अपनी अपनी बीती व होनी सब कुछ सोचिये—भीतर इस जगतमें जो प्रिय लग रहा है, इन्द्रियके विषय, उन विषयोंके साधन, स्त्री-पुत्र, मित्रादिक, सुजन जो जो भी प्रिय जच रहे हैं उनके मौजका फल क्या होगा ? कष्ट। दुःख, संसारमें जन्ममरणकी परिपाटी, इस अज्ञानका फल यही है। तो यह बात हमें प्रतिदिन सोचनी चाहिये और उसके अनुसार हमें प्रयोग करना चाहिए भीतरमें कि मेरे बैरी ये विषय शत्रु हैं, इनसे हटना तत्त्वज्ञान और वैराग्यके बलसे बनेगा। तत्त्वज्ञान में जब यह समझ बन जाय कि मेरा परमार्थ निरपेक्ष वास्तविक अपने ही स्वरूपके कारण जो कुछ मुझमें है वह तो एक चेतनामात्र है। शुद्ध प्रतिभास हैं। वहाँ राग रंग कषाय विषय ये हमारे स्वरूपमें नहीं हैं। यह कर्मकी छाया है। कर्मका प्रतिफलन, नैमित्तिक भाव, पर भाव इनसे मेरा मेल नहीं है। तो अविकार ज्ञानस्वरूपकी आराधना करिये तो ये विषयोंके

आक्रमण सब दूर हो जायेंगे। ये विषयशत्रु, ये गंदे परिणाम ये अनेक दुःखोंको उत्पन्न करने वाले हैं। भव भवमें जन्म मरणके कारणभूत हैं। पुण्यको हरने वाले, किसी तरह रोके न जा सकें ऐसे विषयोंका लगाव इस जीवके लिए कलंक है, कष्ट है, अभिशाप है, बरबादी है। ये भोग आज बड़े सस्ते लग रहे, सरल मालूम होते, पर ये बड़े महँगे पड़ते हैं। इनका फल बड़ा कटुक होता है। आत्माका ज्ञान, आत्माकी दृष्टि, आत्मस्वरूपमें ही आत्मत्वका अनुभव, संतोष, यह है सन्मार्ग, जिसमें धोखा नहीं। वर्तमानमें शान्ति, आगे शान्ति, और इन इन्द्रिय-विषयोंकी प्रीति, विषयसाधनोंका व्यामोह ये सब पर हैं, परभाव हैं, अतएव इनका लगाव नियमसे कष्टका ही देने वाला है। सो हे जीव समझ और शान्तिरूपी तीक्ष्ण बाणोंके प्रहारसे अपने इस विषयवासना शत्रुका विनाश कर और मोक्षमार्गकी प्रगति करके मुक्तिका आनन्द प्राप्त कर। जो समागम है उसमें न रमना। वह सब लगाव दुःखका हेतु है, उनकी उपेक्षा करके अपने सहज आत्मस्वरूपमें मनको लगाना यह तो है कल्याणका उपाय और यदि ऐसा नहीं बनता तो जैसे संसारमें रुलते चले आये, रुलते आ रहे, आज ऐसे शुभ अवसरको यदि यों ही खो दिया गया तो इसका कुछ प्रायश्चित्त न हो पायगा। कीड़ा मकोड़ा एकेन्द्रिय आदि किसी भी भवमें उत्पन्न हो गए तो अब क्या करेंगे ? यहाँ तो जरा जरासी कला पाने पर शान बगराते, अहंकार करते, घमंड करते, मैं ही सब कुछ हूं ऐसा मानकर ऐंठे जा रहे भीतर ही भीतर मगर जैसी करनी वैसी ही आगे भरनी। कीड़ा मकोड़ा, पेड़-पौधे बन गए अब कहाँ रहेगी शान ? क्या गुजरेगी ? इस वास्ते नम्र रहना, क्षमाशील रहना, सरल रहना, इन परवस्तुवोंसे तृष्णाको त्यागना, ऐसी सही करनी करनेमें ही अपना हित है।

रे जीव ! त्वं विमुंच क्षणरुचिचपलानिंद्रियार्थोपभोगा-
नेभिर्दुःखं न नीतः किमिह भववनेऽत्यंतरौद्रे हतात्मन् !
तृष्णा चित्ते न तेभ्यो विरमति विमतेद्यापि पापात्मकेभ्यः
संसारात्यतदुःखात्कथमपि न तदा मुग्ध ! मुक्ति प्रयासि ॥४१०॥

हे आत्मन् ! इन बादलोंमें चमकती हुई बिजलीके समान विनश्वर इन इन्द्रिय विषयों के भोगोंको छोड़ दे। जैसे मेघमें बिजली चमकती है। तो तुरन्त नष्ट हो जाती ऐसे ही ये इन्द्रिय विषयभोग क्षणभरको मिले हैं, क्षणके बाद ही ध्वंस हो जाते हैं। वे साधन ध्वंस नहीं हुए, यहाँका भाव ध्वंस हो गया, मति ध्वंस हो गई। तो ये सब क्षण विनश्वर हैं। और देखो इन विषय शत्रुवोंने इन इच्छा आदिक विकारोंने इस संसाररूपी गहन वनमें भटकते हुए तुझको क्या क्या दुःख नहीं दिया। दुःख जितना मिलता है वह विषयोंकी प्रीतिके कारण मिलता है। कोई किसी विषयमें प्रीति किए है, कोई मनके विषयमें प्रीति किए हुए है। इस

जगतमें मेरा यश फैल जाये, हाय यह कितनी गंदी भावना है। चाहे औरका विध्वंस हो, पर मेरा नाम बढ जाना चाहिए, ऐसा सोचने वालेके कितना मिथ्यात्व लगा है। शरीरमें अहं-बुद्धि हुए बिना मेरा यश फैल जाय यह भावना नहीं बनती। क्या कोई अमूर्त ज्ञानमात्र आत्माको मैं समझे और सोचे कि मेरा यश हो जाय ऐसे किसीके भाव बना ? जो यशके पीछे मर रहा है और यशके पीछे दूसरोंकी बरबादी तकको भी तक रहा है, मेरा नाम सर्वत्र फैले, इस धुनमें लगा हुआ है, उसको तीव्र मिथ्याभाव बना हुआ है। तो यह विषयोंकी प्रीति इस जीवका अनर्थ करने वाली है। क्या क्या दुःख नहीं दिया इन विषयोंके प्रेमने ? जो संसारमें बड़ेसे बड़े क्लेश हैं वे सब विषयप्रेमसे ही तुझको प्राप्त हुए हैं। सबकी विचित्र विचित्र घटनायें हैं, नाना ढंगके क्लेश हैं। सबकी बात सब अपनी अपनी जानते हैं। परख लो, अपने बचपनसे लेकर अब तक जो भी कष्ट पाये हैं वे कष्ट किस कारणसे मिले ? इन्द्रिय और मनके विषयोंसे प्रेम है तब कष्ट पाया। सो यदि अब भी इन विषयोंके साथ ही रहनेकी इच्छा है तो पापस्वरूप विकार इच्छाओंके साथ ही तेरेको मौज आ रहा है। अब भी इनको ही भोगना चाहता है। तो हे मूढ़ जीव निश्चयसे यही समझ कि अनन्त दुःखोंके देने वाले इस संसारसे फिर छुटकारा न हो पायगा। किसी तरह निस्तारा होना शक्य नहीं है। अज्ञान, मोह, मिथ्यात्वभाव ये तेरे प्रबल बैरी हैं। फिर तो सदा ही संसारमें रहकर, पड़कर, गिरकर दुःख पाता रहेगा। अपनेको सम्हालिये, ज्ञानप्रकाशमें प्रेम कीजिए, गुणी जनोंका सत्संग कीजिए। अपने आपमें अहंकार भाव न रखिये। जो भली-भाँति चलोगे तो रास्ता सही मिलेगा। जो खोटी बुद्धिसे चलोगे तो रास्ता न मिलेगा। यह आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। अपने आपके ज्ञानबलसे यह हित, अहित, सत्य, मिथ्या सबका निर्णय कर सकता है, पर जब कोई खोटी श्रद्धा हो जाती है तो विवेक करने वाली प्रतिभा फिर चित्तमें नहीं रहती। एक गाँवकी ऐसी घटना है। उस गाँवके एक छोरपर एक बढ़ई रहता था। तो मुसाफिर जब दूसरे गाँवके जाने वाले उस गाँवसे गुजरते थे, तो जो सबसे पहले घर मिलता वहाँ मुसाफिर उससे पूछता कि अमुक गाँवका रास्ता किधर गया ? तो वह बढ़ई बड़ा ही मजाकिया (मजाक करने वाला) दूसरेके कष्टको न समझने वाला उल्टी राह बताता था। मानो है तो पश्चिमकी ओर वह गाँव, और बता दिया दक्षिणकी ओर। बता दिया इसी तरफ़ जाना। थोड़ा गाँवमें जाकर रास्ता फूटा है दक्षिणको, उस रास्तेसे जाना, और देखो इस गाँवमें सभी लोग मजाकिया रहते हैं, तुम किसीसे पूछोगे कि अमुक गाँवका रास्ता किधरको गया तो वे तुम्हें उल्टा बतायेंगे। अब वह बेचारा मुसाफिर आगे जाता है और लोगोंसे पूछता है कि अमुक गाँवका रास्ता किधरको गया ? तो वे लोग सही-सही बता देते कि पश्चिमको गया, मगर वह यह

विश्वास किए बैठा था कि देखो बढ़ई ठीक ही कह रहा था, वास्तवमें इस गाँवके सभी लोग मजाकिया हैं। इस उल्टी श्रद्धा होनेके कारण फल क्या होता है कि वह दक्षिणकी ओर बढ़ता चला जाता है। जब आगे दूसरा गाँव मिलता है, वहाँ पूछता है तो वे लोग बताते हैं कि अरे तुम तो उस गाँवसे ही रास्ता भूल गए। उल्टे जावो और वहाँसे फिर पश्चिमकी ओर जाना। खोटी श्रद्धामें फिर सन्मार्गकी ओर चाहे कोई कितना ही समझाये मगर वह लग नहीं सकता। देखिये कितनी बड़ी विपत्ति है कि जिसने दिमागको ही खोटा कर दिया ऐसा मिथ्या श्रद्धान इस जीवका प्रबल बैरी है, और उस ही के प्रसंगसे ये इन्द्रियविषय इसपर प्रेक्टिकल शत्रुता निभा रहे हैं। सो इस संसारके जंजालसे बचना है तो विषयोंकी प्रीति छोड़ो। तत्त्वज्ञानकी ओर लगो। तत्त्वज्ञानकी ओर मन लगेगा तो पार हो जावोगे और अपनी पुरानी हठपर ही अड़े रहोगे तो संसारमें रुलोगे।

यत्तस्त्रीनेत्रलोलाद्विरम रति सुखाद्योषितामंतदुःखा-
त्प्राज्ञान् प्रेक्षातितिक्षामतिधृतिकरुणामित्रताश्रीगृहांश्च।
एतास्तारुण्यरम्या न हि तरलदृशो मोहयित्वा तरुण्यो
दुःखात्पातुं समर्था नरकगतिमितांनंगिनो जीव! जातु ॥४११॥

(१८१) **विषयरतिकी घातकता व दुःखोंसे बचानेमें अत्यन्त असमर्थता**—५ इन्द्रिय और एक मन इन ६ के विषयोंमें रहकर यह जीव अपने आपको बरबाद किए जा रहा है। उनमें प्रधान अज्ञानविषय है स्पर्शनइन्द्रिय। उसके विषयमें यहाँ आचार्यदेव समझा रहे हैं कि हे जीव मत्त स्त्रियोंके नेत्रकी तरह चंचल और अन्तमें दुःखके देने वाली इस स्त्रीविषयक रतिका सुखका त्याग कर दो। यौवन अवस्थासे जो सुन्दर लगती हैं ऐसे स्त्रीजन बड़े-बड़े प्रतीक्षा गुणोंके धारी पुरुषोंको भी चलित कर देती हैं, जिनमें बड़ी प्रतिभा, जिनमें अधिक सहनशीलता, बुद्धि, करुणा, मित्रता आदिक सर्व गुणोंमें सम्पन्न पुरुषोंको भी मलिन करनेके ये साधन हैं। वास्तविक बात तो यह है कि इस जीवको स्त्रीजन क्या, अन्य साधन कोई भी विचलित नहीं करते, किन्तु यह ही जीव अज्ञानवश कामादिक प्रकृतियोंके उदयका निमित्त पाकर स्वयं विकृत बनता है। उस विकारके समय जब बाह्य साधनोंको उपयोगमें लेता है तो विकार प्रकट हो जाता है। देखो विकारके बारेमें बहुत सूक्ष्मतया यह सिद्धान्त समझना कि ये विकार नैमित्तिक भाव है, परभाव हैं, कर्मोदयका निमित्त पाकर हुए हैं, इस कारण परभाव हैं। इनके साथ जब दृश्यमान किसी भी पदार्थमें उपयोग लगता है तो ये विकार प्रकट होते हैं। यदि नहीं उपयोग लगता है तो ये विकार अव्यक्त होकर निकल जाते हैं, पर विकार कर्मोदयका निमित्त पाकर ही हो पाते हैं इस कारण ये परभाव कहलाते हैं। यद्यपि

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं करता, पर उपादानमें ही ऐसा स्वभाव पड़ा है कि अशुद्ध उपादान अनुकूल निमित्त सान्निध्य पाकर अपनी परिणतिसे अपनेमें विकारभावको प्रकट करता है। यदि ऐसा न होता तो ये विकार मिट न सकते थे नित्यविकारका कर्ता बन जाता। वास्तविकता तो यह है। इस वास्तविकताको जानने वाला पुरुष इन विषयोंके फंदेमें नहीं पड़ता। सो हे आत्महित चाहने वाले पुरुष विषयवासनाओंसे विराम लेकर अपनी रक्षा कर। ज्ञान और वैराग्य ये दो ही अपने वास्तविक मित्र हैं, दूसरा कोई मित्र नहीं। मोह और विषय ये ही वास्तवमें अपने शत्रु हैं, दूसरा नहीं।

(१८२) **आत्मस्वरूपमें उपयुक्त होना अहितसे हटनेका उपाय**—भैया, क्या करना कि हम अहितसे तो हट जायें और हितमें लग जायें, बस उसका उपाय यह है कि आत्माके अविकार स्वरूपका परिचय करें और बाह्यविषयोंसे अपने मनको हटा लें। मिलावटमें भी प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्वरूपमें ही रहती है। तैल पानी मिल गया, पर तैलमें तैलका स्वरूप, पानीमें पानीका स्वरूप, दूध पानी मिल गया, पर पानीमें पानीका स्वरूप, दूधमें दूधका स्वरूप। उपाय बनाया जाय, अग्निमें तपाया जाय तो पानी पानी उड़ जायगा, दूध रह जायगा। तो शरीर, कर्म और जीव इन तीन चीजोंका आज मिलावट है, मिश्रण है और उस ही प्रसङ्गमें यह पर्याय बनी है। इसे असमानजातीय द्रव्य पर्याय कहते हैं। इस संश्लेषके होनेपर भी जीवके स्वरूपमें जीव है। पुद्गलके स्वरूपमें पुद्गल है। युक्तिसे, प्रतिभासे इस भेदको समझ लें और अपने स्वरूपसे प्रीति रुचि रखें और अन्य स्वरूपसे अरुचि रखें। यह इन्द्रजाल है, मायाजाल है। इसमें लुभ गए तो बरबादी है, न लुभा गए, अपनेको सम्हाल लिया, सावधान रहे तो अपनी उसमें विजय है। बात दोनों सामने हैं। यदि संसारमें रुलना है तो उसका उपाय है शरीरादिकमें अहंबुद्धि रखिये, और इन विषय कषायोंका खूब मौज लूटिये। और यदि जन्ममरणके संकटसे छूटना है तो आत्माके सहज चित्स्वरूपमें आस्था बनाइये। उसमें मैं का अनुभव करनेका पौरुष कीजिए और समस्त बाह्य तत्त्वोंसे मोह ममत्व हटा लीजिए। अब इन दोनोंमें जो पंथ रुचता हो उसपर चलिये। कल्याण रुचता हो तो कल्याणमार्गपर चलिये और पतन रुचता हो तो उसपर तो चल ही रहे हैं। उसका विवेक करें, अहितको छोड़ें और हितपंथमें लगें।

दृष्ट्वा लक्ष्मीं परेषां किमिति हतमते खेदमतः करोषि
नैषा नैते न च त्वं कतिपयदिवसैर्गन्त्वरं येन सर्वं।
तत्त्वं धर्मं विधेहि स्थिरविशदधिया जीव मुक्त्वान्यवार्त्ता।
येन प्रध्वस्तबाधा विततसुखमयीं मुक्तिलक्ष्मीमुपैषि ॥४१२॥

(१८३) धनिकोंको दयापात्र जानकर उनसे ईर्ष्या न कर धर्ममें चित्त लगाते हुए खेदरहित होनेका उपदेश—हे अविवेकी पुरुष ! तू दूसरेकी बढ़ती हुई लक्ष्मीको देखकर क्यों भीतर घुला जाता है ? ईर्ष्या करके क्यों अपनेको दीन बना रहा है ? मनुष्योंकी प्रकृति है ऐसी कि दूसरे बड़े लक्ष्मीवान धनिकोंकी विभूति देखकर यह भीतर ईर्ष्या करता है, जलन करता है, घूरता रहता है । उसको समझाया है कि तू क्यों व्यर्थ अपना घात कर रहा है ? क्यों नहीं चलना चाहता ? उसका यह कारण है, पहली बात तो यह है कि जो उसको वैभव लक्ष्मी प्राप्त हुई है वह विनाशशील है, सदा न रहेगी । दूसरी बात यह है कि जिस लक्ष्मीको पाकर उसमें यह मस्त हो रहा है तो वह अपनेको भूल गया, अपने स्वरूपसे बेसुध हो गया, यह एक बड़ी विपत्ति उसने अपने आपपर लदी है । वह तो दयाका पात्र है, न कि ईर्ष्याका पात्र है । वह तो बहुत बड़ी विपत्तिमें है, वह अपना विघात कर रहा । तीसरी बात यह है कि ये तो बाह्य पदार्थ हैं, उनकी लालसा रखनेसे लोभ नहीं बल्कि हानि ही है । आत्मा अपने एकत्वस्वरूपमें है, अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें है, इसका कोई साथी नहीं, इसका साथ कोई देने वाला नहीं, न रहने वाला है । तो व्यर्थ ही बाह्य पदार्थोंमें जिनका मुझसे कोई लेन देन नहीं, कल्पना करके कर्मबंध किया जा रहा और जन्म मरणकी परम्परा बढ़ाई जा रही है, तू ऐसे धनिकोंको देखकर जले मत, किन्तु उनको विपदामें ग्रस्त समझ और उनको तो दयापात्र समझ । ये धनिक जन जो अपने वैभवमें मस्त हैं उनपर यह बड़ी विपत्ति है । संसारके जो जितने अधिक इन सुखोंसे सुख समझते हैं वे उससे कई गुना दुःख पायेंगे, यह बिल्कुल निश्चित बात है । तो वे दयापात्र हैं ऐसा समझ, न कि धनिकोंको देखकर उनसे जलन रख । यह वैभव, यह दृश्यमान जगत क्षणभर बाद न रहेगा, तब तू स्थिर हो, शान्त चित्त हो, धर्मका सेवन कर । धर्म क्या वस्तु है ? धर्म आत्माका स्वरूप है । अपने आप सहज मेरे ही सत्त्वके कारण जो मेरेमें शक्ति है, कला है बस वही धर्मका स्वरूप है । उसरूप अपनेको मान । मैं यह केवल चेतना मात्र हूं । और इसका कोई कार्य है तो चिद्वृत्ति, शुद्ध प्रतिभास, जिसमें कोई कल्पना नहीं जगती, वह मेरा कार्य है, ऐसा अपने आपको निरख, यही धर्मसेवन है, इसके प्रतापसे सारे संकट टलते हैं । तो तू अपने धर्मका पालन कर और बाह्यविभूतिको देखकर उनकी वाञ्छा न कर । यदि ऐसी चर्या रहेगी तो सदा बाधावोंसे जो रहित है ऐसा निर्वाणपद तू प्राप्त कर लेगा और जो यहींके इन दृश्यमान क्षणभंगुर अत्यन्त भिन्न असार बाह्य वैभवोंको ही तरसता होगा तो बस मरे, पैदा हुए, जिन्दगीसे जिए, वहाँ भी नाना कष्ट पाया, फिर मरे फिर जिए, बस यह ही धारा चलती रहेगी । यदि यही पसंद है तो यहींके सुख साधनोंमें तू अपना मन फँसा और यदि सदाके लिए निर्बाध आनन्द चाहता

है तो अपने सहज स्वरूपकी दृष्टि कर ।

भोगा नश्यंति कालात्स्वयमपि न गुणो जायते तत्र कोपि
तज्जीवैतान् विमुंच व्यसनभयकरानात्मना धर्मबुद्धया ।
स्वातंत्र्याघेन याता विदधति मनसस्तापमत्यंतमुग्रं
तन्वंत्येते तु मुक्ताः स्वयमसमसुखं स्वात्मजं नित्यमर्च्यं ॥४१३॥

(१८४) **विनश्वर भोगोंको शीघ्र ही स्वयं त्याग देनेमें आत्मलाभ**—देख ये इन्द्रियके विषय जो कुछ भी नजर आ रहे हैं तो वे क्या नजरमें आ रहे, क्या ज्ञानमें आ रहे ? इन बाह्य पदार्थोंके बारेमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द और नामवरीकी कल्पनायें ये ही तो विषयभूत हैं । तो ये सब विषय किसी न किसी समय निकट ही कालमें स्वयमेव नष्ट हो जाने वाले हैं । सो इस तरह ये पदार्थ स्वयं नष्ट हो जायें, तो ये विमुक्त होकर जिनमें तू रम रहा था वे पदार्थ तुझे कोई गुण प्राप्त करा जायेंगे क्या ? तेरेमें कुछ सुधार बना जायेंगे क्या ? नहीं । बिगाड़ किया था और वियोग होनेपर भी इसके ख्यालमें बिगाड़ ही रहेगा । जिन पदार्थोंको यह मोही पुरुष इष्ट समझता है उनके संयोगमें भी बिगाड़ उनके वियोगमें भी बिगाड़ । जब संयोग बना है तब आत्मासे बेसुध और बाह्यमें उपयोग, अज्ञानदशाका प्रसार, अपना घात ही घात चल रहा है और जब इसका वियोग हो गया तो इसके वियोगमें कष्ट, महा संक्लेश, आर्त ध्यान कर करके अपना घात करेगा । तो इन सब पदार्थोंकी उपेक्षा करके यह आत्मस्वरूपकी दृष्टिमें ही अपना निर्वाह है, बाकी तो इन बाह्य पदार्थोंके संयोगमें भी कष्ट और वियोगमें भी कष्ट, इस कारण हे जीव ! भयंकर दुःख देने वाले इन बाह्य विषयोंको तू खुद ही तज दे इनका वियोग होनेसे पहले, इसमें तू लाभ पायगा । पहले ज्ञान द्वारा समझ तो सही कि ये मेरी सत्तासे अत्यन्त भिन्न हैं, इनकी सत्ता इनमें है, मेरी सत्ता मुझमें है । क्या सम्बंध है ? कौनसी गुंजाइश है जिससे कि यह बात बने कि ये भोग विषय, ये मकान धन-धान्य ये कुटुम्बीजन ये मेरे कुछ तो कहलायें ? उनके सत्वको परखिये, रंच भी गुंजाइश नहीं है कि एक भी परमाणु, एक भी जीव कुछ भी मेरा हो सके । मोहकी कैसी विचित्र दशा है कि इन अनन्त जीवोंमें से जिनको आज गैर समझ रहे, परिचय भी नहीं, कोई एक जीव घरमें पैदा हो गया, पुत्र हो गया, अब उसकी शक्ल देख देखकर यह ही मेरा सर्वस्व है, ऐसा समझते हैं उस भिन्न जीवको एकमेक कर डालते हैं, 'यह तो इस जीवपर बड़ी विपदा है, मोहके समान प्रबल शत्रु इस जीसका और कौन हो सकता है ? सो जब तक ये विषय, ये साधन, ये पाये हुए वैभव नष्ट न हों, उससे पहले ही तू छोड़ दे, क्योंकि ये तो नष्ट होंगे ही । ये नष्ट होंगे और तू छोड़ न सके तो उनके वियोगमें भी कष्ट पायगा । और उससे पहले

तू छोड़ देगा तो उनसे तेरा चित्त भी हट गया, शान्ति पायगा, सन्मार्ग पायगा। यदि तुझसे पहले इसने छोड़ा तो तू कष्टमें रहेगा। उनके छूटनेसे पहले तूने अगर छोड़ दिया तो तू अनंत धाम, अनन्त सुख पायगा। अब यह तू विचार ले कि तू पहले ही इन सबसे मुक्त होना चाहता है या ये अपने आप छूटें और तू उनके वियोगका दुःख पाये, यह ही स्वीकार करता है ? कुछ विवेक कर। जो हितका मार्ग है उस मार्गपर चल।

धर्मे चित्तं निधेहि, श्रुतिकथितविधिं जीव भक्त्या विधेहि,
सम्यक्स्वांतं पुनीहि, व्यसनकुसुमितं कामवृक्षं लुनीहि।
पापे बुद्धिं धुनीहि, प्रशमयमदमान् शिंढि, पिंढि प्रमादं,
छिंधि क्रोधं, विभिंद्धि प्रचुरमदगिरीस्तेऽस्ति चेन्मुक्तिवांछा ॥४१४॥

(१८५) **धर्ममें चित्त लगाने व शास्त्रोक्तविधिसे आचरण करनेका मुमुक्षुवोंका कर्तव्य**—हे आत्मन् ! यदि तुझे मुक्तिकी इच्छा है तो अपनी चर्या इस प्रकार बना, उस चर्याका इस छंदमें जिक्र किया है। मुक्ति मायने छुटकारा, किससे छुटकारा ? जन्ममरणसे छुटकारा जन्म मरण क्यों होता है ? आयुकर्मके उदयमें नया भव मिला, आयुकर्मके उदयमें यह भव मिटा, उस ही समय नवीन आयुकर्मका उदय हुआ, दूसरा भव मिला। इस निमित्तनैमित्तिक योगमें यह परिपाटी चली आ रही है। तो जहाँ समस्त संकटोंसे छुटकारा होता है वहाँ शरीरसे, कर्मसे, विकारसे सबसे छुटकारा हुआ। यदि संकटोंसे छुटकारा पाना है तो उनसे छुटकारा पानेका उपाय क्या है ? क्या शरीरको मले, शरीरका घात करे तो यों शरीर मिटेगा ? अरे यों तो और भी बुरा शरीर मिलेगा। तो क्या जो कर्मोंकी बात सुन रखी है उन कर्मोंका नाम ले लेकर उनको मिटानेकी बात कहें ? प्रभुस्तवनमें उन कर्मोंको ही खूब गालियाँ दें, इस प्रकार कर्मोंसे छुटकारा हो जायगा क्या ? यों भी छुटकारा नहीं है। तब कैसे छुटकारा होगा ? कर्मफल जो रागद्वेषादिक विकार हैं ये नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं, परभाव हैं, मेरे स्वरूपमें इनका क्या सम्बंध है ? मेरे स्वरूपसे बाह्य हैं। इन बाह्य तत्त्वोंको क्यों लपेटें ? मैं अपने स्वभावरूप ही अपनेको अनुभवूं, यह स्थिति बन सके, केवल चैतन्यमात्र प्रतिभ समात्र अपने आपको अनुभव सके तो यह पुरुषार्थ समस्त संकटोंसे छुटकारा दिलायगा।

(१८६) **जीवविकारके संदर्भमें निमित्तनैमित्तिक योगके यथार्थ परिचयमें आत्मप्रगतिका अवसर**—सब कुछ तत्त्वज्ञान विकारसे हटने और स्वभावमें रमनेके लिए कराया जाता है। सबका एक ही प्रयोजन है, क्योंकि आत्माकी शान्ति, वास्तविक समृद्धिका लाभ विकारसे हटकर स्वभावमें रमनेपर ही होता है, सो आप आत्माके सहज स्वरूपका ज्ञान करें और जिनसे छुटकारा पाना है उन विकारोंका भी निर्णय बनायें जिससे कि उपेक्षा बन जाय। तो

संक्षेपमें आप एक सुगम विधिसे समझिये, ये विकार हैं, ये नैमित्तिक हैं, यह बात अगर यथार्थ रूपसे समझमें आये तो आपमें तीन प्रकारसे प्रगति बनेगी। यथार्थ समझ क्या कि पूर्वबद्ध कर्म जिसमें प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग चार प्रकारका बन्ध तत्काल हो गया था उनका जब अनुभाग उदय होता है तो होता है, कर्मके अनुभागका उदय कर्ममें है, सो जैसे कोई चूने का डला है और उसका काल समाप्त हो जाय या उसपर कोई पानी डाल दे, उदीर्णा हो जाय तो जैसे उस डलेका विडरूप बन जाता है, फूल जाता है, विचित्र स्थिति बन जाती है और उसके बाद वह शक्तिहीन हो जाता है, ऐसे ही कर्ममें जो अनुभाग पड़ा है, फलशक्ति उदय आनेपर या उदीर्णा होनेपर उस कर्मनिषेकमें बड़ा भयंकर विस्फोट होता है। जैसे दर्पण में यदि किसी लड़केने दांत निकाला हो, बुरी प्रकारकी चेष्टा वाला मुख फोटोमें आ रहा है तो आप यह समझिये कि ऐसी भयंकर चेष्टाका वह मुख बना रहा है और उसका निमित्त पाकर यह भयंकर फोटो आ रहा है, ऐसे ही जब कर्ममें अनुभाग उदय होता है तो कर्ममें ही भयंकर स्थिति बनती है और उसकी फोटो, प्रतिफलन यह है जो रागद्वेष जैसा भयंकर रूप जीवमें बन रहा है, बस विकारका निमित्तनैमित्तिक योग यहाँ है, अन्यत्र नहीं। ऐसा परिचय करनेमें आपको तीन सुविधायें मोक्षमार्गकी प्रगतिके लिए मिलती हैं।

(१८७) **निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयमें होने वाली प्रगतियोंका निरूपण**—निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका प्रथम लाभ यह है कि जो लोगोंने यह भ्रम कर रखा है कि ये दृश्यमान पदार्थ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिक, धन वैभव कुटुम्ब मित्र आदिक ये मेरेको सुख दुःख देनेके निमित्तभूत हैं, एक तो यह भ्रम खत्म हो जायगा। वास्तवमें ये दिखने वाले पदार्थ मेरे सुख दुःखके निमित्त नहीं हैं। हमारे सुख दुःख रागद्वेष विकारके निमित्तभूत केवल कर्मविपाक है, दूसरा नहीं है। फिर लगता तो है यह। ये आश्रयभूत कहलाते हैं। इनमें उपयोग लगाया जायगा तो व्यक्त विकार बनेगा। तो विकारको प्रकट करनेके लिए ये आश्रयभूत कारण बनते हैं, आरोपित कारण बनते हैं। हमारे बनाये हुये कारण बनते हैं। ये वास्तवमें निमित्त नहीं हैं। निमित्त तो केवल कर्मोदय है। तो देखिये कितना शान्तिका अवसर मिला। जो घबड़ाते थे—हाय यों हो जायगा तो मुझे कष्ट हो जायगा। बाहरमें यों चीज बन बैठेगी तो मेरा क्या हाल होगा? अरे कुछ भी बन बैठे उससे मेरा हाल नहीं बिगड़ता। वह तो आश्रयभूत है। हम उनको उपयोगमें ही न लें तो फिर क्या बिगाड़ होगा? तो एक तो आश्रयभूत पदार्थोंसे उपेक्षा हो जाती है जिससे तत्काल शान्तिका अवसर मिलता है निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयमें दूसरी प्रगति यह है कि जहाँ यह जाना कि ये रागद्वेष सुख दुःख आदिक विकार नैमित्तिक हैं, वहां यह बोध तो हुआ ना कि ये मेरी चीज नहीं हैं.

मेरे लिए वह कलंक है, अभिशाप है। मेरेसे विकार निपटकर केवल मेरे दुःखका ही बीज बनता है, जब यह बोध हो गया तो उन विकारोंके भी लगाव न रहेंगे। तीसरी प्रगति क्या कि जिसने विकारको नैमित्तिक समझा है उसने उससे निराले अपने स्वभावको समझा है। जिसने चैतन्यमात्र अपने स्वरूपको समझा है वही इस परभावको समझ सकता है। तो स्वभावदृष्टि होते ही सुगमतया ये तीन प्रगतियां चलती हैं।

(१८८) विकारसे हटने व स्वभावमें लगनेके पुरुषार्थियोंका कर्तव्य—विकारसे हटना, स्वभावमें लगना, बस यह ही एक काम पड़ा हुआ है, दूसरा मेरेको कोई काम नहीं पड़ा। यदि यह कर सके तब तो हमारे ये क्षण सफल हैं और यह बात यदि नहीं बनती तो लोग कहा करते हैं ना एक कहावत कि "आये थे हरिभजनको, ओटन लगे कपास।" यह जैनशासन, यह सुकुल, यह जिनवाणीका श्रवण, यह प्रतिभा, यह क्षयोपशम, ये मानो पाया था, इसलिए कि सदाके लिए संकट छूट जायें, ऐसा यह उपाय बना लें, किन्तु उपाय बनाया इसने संसारमें रुलनेका ही। सो यदि तू मुक्ति चाहता है तो उसका उपाय बना ले। चाहता कि नहीं चाहता ? देख सारे दुःखकी जड़ यह शरीरका सम्बन्ध बन रहा है। एक मोटे रूपसे सोचो—यदि शरीर न होता, केवल मैं ही मैं आत्मा होता जैसा कि मैं स्वरूपसे सत् हूं तब क्षुधा, तृषा, रोग, खांसी, ज्वर, श्वांस आदिक ये कहांसे होते ? यदि शरीर न होता इस जीवके साथ तो इसको वेदना यहां आती क्या ? केवल ज्ञानपुञ्ज जैसा कि मैं अपने शरीरसे हूं वैसा ही रहता तो इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग अपमान, निन्दा, गाली गलौज, कल्पना आदि ये बनते क्या ? किसी पुरुषने समझा कि मेरेको तो बड़ा अपमान हो गया तो उसने शरीरको समझा कि यह मैं हूं तब जाकर अपमानकी कल्पना बनी। ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको मानें कि यह मैं हूं तो उसके अपमानकी कल्पना बन ही नहीं सकती। इसका अपमान होता ही नहीं है। तो सारे कष्ट इस शरीर सम्पर्कमें हुए हैं। तो एक तो भावना बनाना कि मुझे तो शरीररहित अपना सत् चाहिए। ऐसी वाञ्छा होनेपर आपका शरीरसे मोह हट जायगा। इस शरीरका क्या मोह करना कि जिसके सम्बन्धसे दुःख ही दुःख रहता है और जो कुछ ही समय बाद इन इष्ट जनों द्वारा जला दिया जायगा। उस शरीरको इस ज्ञानसे पकड़े रखनेमें तुझे लाज नहीं आती। यह तो अत्यन्त भिन्न वस्तु है।

(१८९) मोहके इच्छुक जनोंको संतोंका आदेश—भैया, अपने ज्ञानस्वरूपको सम्हाल, धर्ममें चित्तको लगा दे। जैसी वास्तवमें विधि बतायी है, धर्मसाधनाका उपाय बताया है उस उपायमें मन लगाकर चल, अपने मनको पवित्र रख। मनकी पवित्रता उसके बन सकती है जो कि सर्व जीवोंमें उस चैतन्यस्वरूपको निरख सकता है। इसीके बलसे दूसरोंसे घृणा न

रहेगी, दूसरोंसे द्वेष न रहेगा, अपने आपमें नम्रता जगेगी, गुणोंमें प्रमोद जगेगा, अपना विकास होगा। अपने मनको पवित्र रखें और व्यसन रूपी फूलोंसे फूले हुए इस कामरूपी वृक्षको काट डालें, कामभावको त्याग दें, इसके फूल फल केवल विपत्तियाँ हैं, व्यसन हैं। पापकर्मसे अपने चित्तको हटा लें, शान्ति, दमन, और यम नियमका सहारा लें, विषयोंका शमन करें, इन्द्रियों का दमन करें। अयोग्य कार्योंका सदाके लिए त्याग करें या कुछ अवधि लेकर त्याग करें। बाह्यपदार्थोंका त्याग करना यदि कठिन लग रहा है तो इसके मायने है कि उनमें व्यामोह है। विषयोंका परिग्रहोंका यथाशक्ति याने शक्ति न छिपाकर उनका परिहार कर। यदि तू चाहता है तो प्रमादको दूर कर, क्रोधादिक कषायोंको नष्ट कर, घमण्डको चूर कर। घमण्ड कोई एक विधिका नहीं होता, किसीको बलका घमण्ड, किसीको रूपका, किसीको ज्ञानका, किसीको अपने ऐश्वर्यका, किसीको अपने चलाका घमंड है। जहाँ मद भरा हुआ है चित्तमें वहाँ आत्मस्वरूपकी दृष्टि नहीं बन सकती। अहङ्कारका मोह मिथ्यात्वसे सीधा सम्बन्ध है। जो मैं नहीं हूं उसमें अहंबुद्धि रखना अहङ्कार है और इस ही का अर्थ प्रसिद्धिमें घमण्ड है। सो हे आत्मन्! जैसा कि इस छन्दमें बताया गया उन विधियोंको किए बिना वास्तविक आनन्द पानेकी आशा करना केवल दुराशा है। तू मुक्ति चाह और मुक्तिके लिए धर्ममें चित्त लगा, कषायोंका परित्याग कर, सर्व जीवोंको अपने स्वरूपके समान निरख। तत्काल भी आनन्द पायगा और इसी विधिसे कर्म नष्ट होंगे, सदाके लिए आनन्द पायगा।

बाधाव्याघावकीर्णे विपुलभववने भ्राम्यता संचितानि
दग्ध्वा कर्मेंधनानि ज्वलितशिखिवदत्यंतदुःखप्रदानि।
यद्दत्ते नित्यसौख्यं व्यपगतविपदं जीव मोक्षं समीक्ष्य
बाह्यांतर्ग्रंथमुक्ते तपसि जिनमते तत्र तोषं कुरुष्व ॥४१५॥

(१९०) अनादि भवभ्रमणमें संचित कर्मेन्धनको जलानेके लिये निर्ग्रन्थ तपश्चरणमें संतोष करनेका उपदेश—हे आत्मन्! बाधा रूपी व्याधोंसे व्याप्त इस संसाररूपी गहन वन में तूने अनादिकालसे भ्रमण किया है। जीव कबसे है? क्या कोई दिन बता सकते कि इससे पहले न था। जो न था वह है नहीं हो सकता। जो है उसका आदि अन्त नहीं होता। जीव है तो यह अनादिसे है। तो अनादिसे क्या इसकी हालत रही? यदि यह शुद्ध होता पहले तो अशुद्ध हो न सकता। यह अनादिसे ही अशुद्ध पर्यायमें चला आ रहा है। जीव यह स्वतंत्र सत् है, जैसे कि अन्य सभी पदार्थ सत् हैं इस कारण इनका स्वरूप इनमें है और वह स्वरूप यही है। जो है इस प्रकारका शुद्ध स्वरूप है, किन्तु परिणति अनादिसे अशुद्ध ही चली आ रही है। सो अनादिसे भ्रमण करते हुए तूने जिन कर्मोंको कमाया, जो कर्म जाज्वल्मान अग्नि

के समान दुःख देने वाले हैं ऐसे जिन कर्मोंका संचय किया है उनको जलानेके लिए उपाय बना। वह उपाय है बाह्य और अन्तरङ्ग दोनों परिग्रहोंसे रहित होकर चैतन्यस्वरूपमें उपयोग लगानेरूप परम तपश्चरणका करना। तू तपश्चरणमें अपना चित्त लगा, विषयोंसे चित्त को हटा। इस परम तपश्चरणका फल नित्य और आपत्तिरहित मोक्षसुख है। तू तू ही है, तुझमें दूसरेके सत्त्वका मिलावट नहीं है, अब तू जैसा है वैसा अपनेको मान ले तब तो मोक्ष को प्राप्त कर लेगा और दूसरोंसे मिला हुआ दूसरोंके कारण ही मेरा अस्तित्व है, ऐसा अगर भाव रहेगा तो संसारका रुलना ही बना रहेगा।

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजो ज्ञानदृष्टिस्वभावो
नान्यत्किंचिन्निजं मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि।
कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे
पर्यालोच्येति जीव ! स्वहितमवितथं मुक्तिमार्गं श्रय त्वं ॥४१६॥

(१९) **सहजस्वरूपदृष्टि करके मोक्षमार्गमें विहार करनेका उपदेश**—जैसे बताते हैं कि जलका स्वभाव ठंडा होता है, और जिस समय अग्निका संयोग पाकर वह जल गरम हो गया तो परिणति क्या है और स्वभाव क्या है, जैसे वहाँ बात समझमें आ रही है कि परिणति गरम है, विकृत है, अशुद्ध है, स्वभाव शीतल है। एक दृष्टान्त है। दृष्टान्त एक देश हुआ करता है, ऐसे ही अपने वर्तमान आत्माका विचार करे, परिणति अशुद्ध है, स्वरूप इसका चेतनामात्र है, जैसे दर्पणका स्वरूप स्वच्छ है, पर उसमें वर्तमान फोटो रहा ही करता है, दर्पणको आप सन्दूकमें बन्द कर दें तो क्या वहाँ प्रतिबिम्ब न रहेगा ? दर्पणको डिब्बेमें बन्द कर दीजिए तो क्या वहाँ प्रतिबिम्ब न रहेगा। जो सामने है उसका प्रतिबिम्ब। तो वहाँ निजी स्वच्छता और प्रतिबिम्ब जैसे दोनों पाये जाते हैं ऐसे ही आत्मामें निजी स्वरूप स्वच्छता और प्रतिबिम्ब नाना प्रकारके ज्ञान और जब कर्मोदयका निमित्त सन्निधान है तो वहाँ नाना प्रकारके रागद्वेषादिक विकार। तो परिणति अशुद्ध है, स्वभाव अपने रूप है, प्रयोग किसका होगा ? फल किसका मिलेगा, अनुभव किसका बनेगा ? जैसा परिणमन है उसका, और जिसके विवेक जग गया, ज्ञान जग गया वह अपने स्वरूपको दृष्टिमें लेकर मोक्षमार्गमें प्रगति करता है। सो मेरा एक शाश्वत आत्मा है, पर इस समय यह संसारमें दुःख भोग रहा है। मेरा स्वभाव ज्ञान, दर्शन, आनन्द यह सब है और वर्तमान हालत संसारमें दुःख भोगनेकी है, सो भले ही यह परिणति चल रही है, परन्तु परमार्थ तत्त्व तो देख, तेरा मात्र आत्मा ही तेरा है, अन्य कुछ तेरा नहीं, एक वस्तुका दूसरा कुछ होता नहीं। तब धन, स्त्री पुत्रादिक पदार्थ कुछ भी तेरे नहीं हैं। तेरा सत्त्व मात्र तेरा है जो तेरे अस्तित्वमें है,

परिणमनमें है वह तो तेरे पास है। तेरी वस्तु है, बाकी अन्य कुछ भी तेरा नहीं है। परिणमन भी जो नैमित्तिक है वह भी तेरा नहीं, क्योंकि यह मेरा नहीं है, सोच तो सही। मेरे घरमें आये हैं, मेरे शरीर सम्बंधसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिए सब कुछ नाता रिश्ता बन रहा है यह तो कहता नहीं यह इस कारण तेरे नहीं कि ये कर्मोंसे उत्पन्न हैं और विनाशीक हैं, यह संयोग, यह सम्बन्ध ये कर्मजन्य हैं, और इसी कारण विनाशीक हैं, इनका वियोग होगा, अतः ये सब तेरे नहीं हैं, इनमें मोह करना बिल्कुल व्यर्थ है। ऐसा कुछ ध्यान तो ला। अपने स्वरूपको तो टटोले नहीं और बाहर ही बाहर दृष्टि करके क्षोभ मचाये तो इसका कष्ट कोई दूसरा भोगने न आयगा। तेरेको ही कष्ट भोगना पड़ेगा। सो हे आत्मन्! परम हितकारी सत्य मोक्षमार्गका आलम्बन कर, ये बाहरी कुछ भी तत्त्व आलम्बनके योग्य नहीं हैं, अपनेको बार-बार अनुभव कर कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानघन हूं, सहज आनन्दमय हूं, ज्ञानमात्र हूं अर्थात् मैं अपने सर्व प्रदेशोंमें ज्ञानसे ठोस हूं, सहज आनन्दमय हूं, मेरे स्वरूपमें कष्ट है ही नहीं। दुःख तो बताया जाता है, आनन्द मेरे स्वभावमें है, सो अपने स्वभावकी दृष्टि कर और मोक्षमार्गका आलम्बन कर।

ये बुध्यंतेऽत्र तत्त्वं न प्रकृतिचपलं तेऽपि शक्ता निरुद्धुं
प्रोद्यत्कल्पांतवातक्षुभितजलनिधिस्फीतवीचिस्यदं वा।
प्रागेवान्ये मनुष्यास्तरलतरमनोवृत्तयो दृष्टनष्टा-
स्तच्चेतश्चेद्गतंतत्स्थिरपरमसुखं त्वं तदा किं न यासि ॥४१७॥

(१९२) **प्रकृतिचपल चित्तके वेगकी प्रबलता और उसके विघातका उपाय**—यह मन बड़ा चंचल है, इसका वेग बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी रोकनेमें असमर्थ हो जाते हैं। इस चंचल मनके वेगको कौन रोक सकता है? जैसे कल्पांतकालमें अर्थात् प्रलयके समयमें जो प्रबल वायु का वेग चलता है उस वायुसे प्रेरित समुद्रकी लहरोंको कौन रोक सकेगा? ऐसे ही इस अज्ञानी के प्रबल मनकी चंचलताको कौन दूर कर सकता है? पूर्व समयमें भी अनेक चञ्चल मन वाले रहे, मरण किया, अन्यत्र उत्पन्न हुए, कोई न रह सके। मनकी चंचलतासे कोई सिद्धि नहीं। इन विषयोंकी चञ्चलतासे कोई सिद्धि नहीं, इन विषयोंके प्रेमसे कोई सिद्धि नहीं। एक अपने सहज आत्मस्वरूपका परिचय पा ले तो तेरा हित है। ऐसा यह मन चञ्चल है, इसको चञ्चलता दूर करनेके लिए सभी प्रकारका उपदेश है, जो शुद्धोपयोगमें तो ठहर नहीं पाता, यह तो बड़े त्याग तपश्चरण द्वारा साध्य है और शुभोपयोगसे घृणा कर करके अपना समय गुजारा तो उसके खोटे भवितव्यको कौन रोकने वाला है? निरन्तर इस मनको सत्कार्योंकी ओर लगाये रहें अन्यथा अशुभमें, पापमें इसका मन लगेगा। दूसरे जीवोंसे घृणा

करना यह पाप है और धर्मके नामपर घृणा रखना यह और भी महापाप है। सर्व जीवोंका स्वरूप एक समान है, उस सहज स्वरूपपर दृष्टि क्यों नहीं जाती ? परिणतिपर क्यों दृष्टि जाती है ? स्वरूपपर दृष्टि प्रथम जाय तो प्रयोग तो परिणतिसे ही होगा, बाद परिणतिका ख्याल रखें ऐसा ज्ञानबल है तब तो अपनेमें सन्तोष करिये और किसीको देखते ही बाहरी दृष्टि जगे तो इस अज्ञानका फल कोई दूसरा भोगने न आयगा।

(१९३) स्वरूपदृष्टिके बलसे परम आनन्द पानेका तंत्र करनेका उपदेश—भैया ! अपने आपमें सही विचार करिये—सर्व जीव एक चित् स्वरूप हैं। जितना अपराध है यह सब नैमित्तिक है। जीवका स्वयंका स्वरूपका क्या अपराध ? पर वह प्रकट नहीं है अतएव भ्रमण कर रहा। सो हे चञ्चल मन वाले पुरुष, देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिमें, गुणी जनोंकी संगतिमें, गुणी जनोंसे अपने आपके दोषोंकी गर्हा निन्दा करनेमें दूसरेके गुणोंका स्मरण करनेमें, सभी प्रकारके सत्कार्योंमें तू अपने चित्तको लगा, पर ध्यान रख केवल एक ही कि मुझे शरीर रहित आत्माकी स्थिति पानी है और वह स्थिति जिस उपायसे प्राप्त हो सकती है वह उपाय है इस अपने सत्तामात्र सहज आत्मस्वरूपको दृष्टिमें लेना। सो ध्येय तो यह रहे मुख्य, पर प्रवृत्ति अपनी शुभोपयोगकी करें, गृहस्थोंके शुभोपयोगकी प्रधानता आचार्योंने कहा है। शुभोपयोगसे भ्रष्ट हुए गृहस्थोंको कहीं ठिकाना न पड़ पायगा। एक कथानक है कि एक राजाको देवता सिद्ध हो गया वह देवता बड़ा कठोर था। सिद्ध होते ही बोला—राजन् काम बताओ, हम तुरन्त करेंगे और अगर काम न बताओगे तो हम तुम्हें तुरन्त खा जायेंगे ? तो राजाने कहा—अच्छा अमुक महल बना दो।...लो महल बन गया, राजन् काम बताओ।....तालाब बना दो।....लो तालाब बन गया, राजन काम बताओ।....सड़क बना दो।....लो सड़क बन गयी, काम बताओ। अब वह राजा बड़ी चिन्तामें पड़ गया कि आखिर कहाँ तक इसे काम बतायेंगे। यदि इसे काम न बतायेंगे तो यह मुझे मार देगा सो उसे एक युक्ति समझमें आ गई। बोला—एक ५० हाथका लम्बा लोहेका डंडा गाड़ दो...गाड़ दिया, काम बताओ। इसके एक छोरमें लोहेकी लम्बी सांकल बाँध दो और एक छोर अपने कमरमें बाँध लो।... बाँध लिया, काम बताओ।....अच्छा अब तुम बन्दर बन जावो और हम जब तक मना न करें तब तक इस लोहेके डंडेमें चढ़ो उतरो। अब चढ़ गया तो उतरनेका काम पड़ा है, उतर आया तो चढ़नेका काम पड़ा है। इस तरह करते करते वह तो बड़ा हैरान हो गया, अन्तमें हार मानकर बोला—राजन् माफ करो, हमें इस परेशानीसे बचावो, अब जब कभी आप याद करेंगे तभी हम आपकी सेवामें हाजिर होंगे...। तो यह मन बन्दरकी तरह चञ्चल है। इसको काममें लगाये रहो तो यह वशमें रहेगा और अगर इसको काम न बतावोगे तो यह

अशुभ कामोंमें लग जायगा। यह आप सब अनुभव भी कर रहे होंगे। तो इस बेईमान मन को जो धीरता पूर्वक वश कर लेगा, शान्त कर लेगा, उसे आत्मतत्त्वमें लगा लेगा तो परम सुख साधन भूत मोक्ष पद निकट कालमें ही प्राप्त होगा। अपनेसे बाहर कोई भी पदार्थ आश्रय करने योग्य नहीं है, एक आत्मस्वरूप ही आश्रय लेने योग्य है। और उसके नातेसे जिसके आत्मस्वरूप प्रकट हो गया है, परिणतिमें भी वही अवस्था आयी है जो स्वभाव है वह परमात्मा आराध्य होता है। अपने मनको परमेष्ठियोंकी भक्तिमें अपने आपके स्वरूपके मननमें लगा, तेरेको कल्याणमार्ग मिलेगा।

रे पापिष्ठातिदुष्ट ! व्यसनगतमते निंद्यकर्मप्रसक्त
न्यायान्यायानभिज्ञ प्रतिहतकरुण व्यस्तसन्मार्गबुद्धे।
किं किं दुःखं न यातो विनयवशगतो येन जीवो विषह्यं
त्वं तेनैनो निवर्त्यं प्रसभमिह मनो जैनतत्त्वे निधेहि ॥४१८॥

(१९४) पापाशयवश किये कर्मोंके फलका स्मरण कर निवृत्तिमार्गमें चलनेके कर्तव्य का उपदेश—सदा पाप कर्मोंमें ही लवलीन रहने वाले ये पुरुष अपने आपके आचरणपर विचार तो करें, तृष्णावश न जाने किन किनसे क्या-क्या व्यवहार करते हैं। असत्य, छल कपट, मायायुक्त वचन बोलकर न जाने किस किस प्रकारके व्यवहार करके अपना आचरण करते हैं। सो हे पाप करनेमें लवलीन रहने वाले पुरुष और भी अपनी त्रुटियोंको तो निरख। इन्द्रियविषयोंका तो तू लोलुपी बना है और अहंकारमें ऐसा डूबा है कि मैं ही समझदार हू, मैं ही बुद्धिमान हूं, अपने आपको ज्ञानी समझ रहा है और है विषयलम्पटी। सो अपने आपकी त्रुटिको तो निरख। नीचकर्ममें लगे हुए हे पापिष्ट, न्यायकी पहिचानसे रहित निर्दय होकर तू मोक्ष मार्गसे भृष्ट हो रहा और पुण्योदयसे कुछ सुखसाधन पाया तो तू इतना अहंकार बसा रहा है कि तेरी दृष्टिमें अन्य कोई मानो जीव ही नहीं है, मैं ही सब कुछ हूं, ज्ञानी हूं, ध्यानी हूं, समझदार हूं, पुण्यशाली हूं, वैभववान हूँ, ऐसा अपनेमें अहंकार बसाये है और अन्तः नीचकर्ममें लग रहा। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पापोंमें रहना यह अपने आपको भृष्ट करना ही तो है। ऐसे श्रेयोमार्गसे भृष्ट हुआ जीव न जाने क्या क्या दुःख नहीं भोगता। नरकोंमें नरक जैसा, पशुपक्षियोंमें रहकर उन जैसा, मनुष्योंमें मनुष्य जैसा, जिस भवमें गया उस ही भवमें तू ने कल्पनासे या शरीरकी व्याधिसे या अनेक कारणोंसे अहंकारवश तू ने दुःख भोगा। अब तू पापके परिणामोंको तिलाञ्जलि दे दे और जैन शासनके अनुसार जो चर्या कही गई है, आचरण कहा गया है उस आचरणमें, उस संयममें अपने मन को लगा। शरीरका यह जीव इतना रुचिया बन गया है कि संयम साधना किये जानेके प्रश्न

पर ज्ञानकी गप्प लगाकर अपनेको विषयोंका प्रेमी रखना चाहता है, इतना विषयलोलुपी है। कदाचित कोई यह कहे कि ज्ञान बिना विषयोंका त्याग करना, संयमका पालन करना ये फल नहीं देते, तो क्या ज्ञान बिना असंयमसे बना रहना यह फल दे देगा ? कुछ तो बिचार, इस अपवित्र शरीरसे इतनी प्रीति क्यों की है ? अपनी शक्तिको न छिपाकर जैन शासनमें बताया गई विधिसे अपनेको आचरणमें लगा और साथ ही साथ अन्तः विशुद्धिके लिए तू परमात्मतत्त्व की, सहज आत्मस्वरूपकी उपासनामें चल। जो इन विषयोंको तिलाञ्जलि न देगा तो संसार में जन्म मरणके दुःख सहते ही रहना पड़ेगा।

लज्जाहीनात्मशत्रो कुमतगतमते त्यक्ततत्त्वप्रणीते
धृष्टानुष्ठाननिष्ठ स्थिरमदनरते मुक्तिमार्गाप्रवृते।
संसारे दुःखमुग्रं सुखरहितगताविंद्रियैः प्रापितो वै-
मापिद्या स्तेषजोव ! व्रजसि गतघृण ! ध्वस्तबुद्धे ! वशित्वं ॥४१६॥

(१६५) दुःखबीज कुकर्मोंमें उमंग करनेकी निन्दा—हे लज्जारहित आत्माके शत्रु-भूत मिथ्या धारणावों के मतोंके आलम्बन करने वाले तत्त्वश्रद्धानसे रहित जीव, कुछ तो विचार कर। जो पापकी प्रवृत्तियां हैं, इन्द्रियके विषय सेवन हैं, कामादिकमें जो दृढ़ प्रतीति कर रखी है उन प्रवृत्तियोंसे इस संसारमें तू ने अपने आपको बड़े कष्टमें रखा। रंच भी अपने को आनंद न दिला सका। चिन्ता, विचार, कल्पना, क्षोभ, हापड़ धूपड़ अधीरता, पराधीनता आदि कितनी ही तकलीफ पायी, पर तू अपने उस मोहको न छोड़ सका, कष्ट ही पाता रहा, जिस मोहके कारण उस ही मोहसे तू लगाव भी रखता रहा। तो जिन इन्द्रियों ने दुःखमयी संसारमें तुझे नाना प्रकारके कष्ट दिया तू उन इन्द्रियोंके वश अब भी चल रहा है। अब तो इन्द्रियकी दासता छोड़ दे और अपने धर्माचरणमें लगा दे। देखिये—इस शरीरके प्रति जो लगाव है, यह मैं हूँ इस प्रकारकी भीतर जो बुद्धि है यह बहुत बड़ा पाप है, इसीके कारण ही दूसरेका अपमान करना, दूसरोंसे अपमान मानना, कितनी ही मनकी उड़ान ये सारे कष्ट इस शरीरके लगावसे चल रहे हैं। शरीरकी कल्पना छोड़कर स्वयं ज्ञानमय अपने आपके इस ज्ञानस्वरूपको निरख और देख ले कि ज्ञानमें ज्ञानको रमानेसे कैसी निराकुलता मिलती है, जब कि इन बाह्य समागमोंमें चित्तको रमानेसे कष्ट ही कष्ट भोगना पड़ता है। सो इन इन्द्रियके वश मत हो, इनका लगाव छोड़ अर्थात् इनको अपना सर्वस्व मत मान। एक सेवककी भाँति जब तक आवश्यकता है तब तक इस शरीरकी रक्षा करते हुए अपने आत्म-स्वरूपकी उपासनामें, मननमें अपने चित्तको लगा।

सर्वव्याघ्रेभवैरिज्वलनविषयमग्राहशत्रुग्रहाद्यान्
हित्वा दुष्टस्वरूपान् ददति तनुभृतां ये व्यथां सर्वतोऽपि ।
तान् कोपादीन्निकृष्टानतिविषमरिपून्निर्जय त्वं प्रवीणान्
रे रे जीव ! प्रलीनप्रशमगतिमते दग्धभग्नस्वशत्रो ॥४२०॥

(१९६) **जीवके प्रबल शत्रु कामादिक विकार**—शान्ति सुखसे विमुख हुए हे प्राणी तू जिन पदार्थोंको अपना बैरी समझता है वे वास्तवमें तेरे बैरी नहीं हैं। ये लोग जिन्हें बैरी समझते हैं सांप, शेर, हाथी, अग्नि आदिक वे वास्तवमें तेरे शत्रु नहीं हैं, किन्तु तेरे ही चित्त में जो काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदिक बसे हैं ये ही तेरे बैरी हैं, क्योंकि वे बाह्य पदार्थ तेरे शुद्ध स्वरूपका विघात करने वाले नहीं हैं। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ परिणमन नहीं कर पाता क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वयं अपना अस्तित्व लिए हुए है, किन्तु ये विकार, मोह, काम क्रोधादिक भाव ये तेरे शुद्धस्वरूपका साक्षात् विघात करने वाले हैं, अर्थात् तेरी शुद्ध अवस्थाको प्रकट नहीं होने देते। तब वास्तवमें तेरा शत्रु कौन रहा ? ये काम क्रोधादिक भाव। तो अब तू किसी भी पर पदार्थको अपना बैरी मत समझ, किन्तु विकारभावको ही अपना घातक समझ कर उनकी असलियत जान और उनको उपेक्षा कर। इसी प्रकार जिन को तू अपना हितू समझता हैं वे वास्तवमें तेरे कठोर शत्रु है, इस ओर ध्यान दे।

(१९७) **मोही जीवका मौलिक मोह**—इस मोही जीवको सबसे प्यारा क्या है ? सबसे अधिक प्यारा है इसको अपना विकार। यह तो एक कहना मात्र है कि बन्धु प्रिय है, पुत्र प्रिय है, धन प्रिय है, बाह्य वस्तु प्रिय हैं। बाह्य वस्तु प्रिय बने ऐसा वस्तुस्वरूपमें हो ही नहीं सकती, क्योंकि प्रेम एक पर्याय है। राग परिणति है। किसकी परिणति है ? इस मोही रागी अशुद्ध जीवकी परिणति है। तो परिणति स्व द्रव्यके प्रदेशोंमें रहेगी या परद्रव्यके प्रदेशोंमें पहुंचेगी ? चाहे विकार परिणति हो वह भी अपने ही द्रव्य प्रदेश में रहती है अन्य जगह नहीं रहती। परिणति इस जीवकी है, तो रागका प्रयोग स्वयंपर हुआ या अन्य पर हुआ ? स्वयं पर हुआ। तो यह जीव अपने पर ही प्रेम करता है दूसरे पर नहीं करता। और यह करता है अपने इस विकार रूप पर। घरमें कोई लुटेरा आ जाय बंदूक लिए हुए तो सबको अपनी-अपनी पड़ती है। वहाँ फिर जो प्रेमकी गप्प मारी जा रही थी वह कहाँ जाती है ? एक दूसरेका ख्याल कोई नहीं करता, वह स्वयं अपने प्राण बचाकर झट भगता है। तो खुद पर ही तो वास्तवमें इसने प्रेम किया, पर विकृत स्वयं पर प्रेम किया। कोई ऐसे भी महापुरुष हुए हैं कि वे शुद्ध स्वरूपकी रुचि करते हैं। मोही जीव अपने विकृतरूप की रुचि करते हैं, पर कोई किसी दूसरेमें प्रेम नहीं कर पाता। तूने अपना हितू समझा है हे

मोही अपने विकारस्वरूपको। क्रोध, मान, माया, लोभ इन विकारोंसे तू प्रेम करता है। राग में राग होनेमें ही तू अपना महत्त्व समझता है।

(१९८) विकार शत्रुवोंसे हट कर शाश्वत शरण्य सहज स्वतत्त्वमें रुचि करनेका कर्तव्य—राग भी खोटा होता है, ज्ञान जग जानेपर भी कुछ काल तक राग चलता है, मगर ज्ञानी जीवको अपने राग परिणमनमें राग कभी नहीं होता। मोही, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव को अपने विकार परिणमनसे बड़ा प्रेम होता है। यह मैं हूं। सो हे प्राणी जिसको तू अपना हितू समझता है वह तेरा वास्तवमें शत्रु है। तुझे सब तरहसे पीड़ा देने वाला कौन ? यह भीतरकी कल्पना, भीतरका विकार, भीतरका मोहविलास, यह तुझे पीड़ा देता है। यह निकृष्ट है और बड़ी कठिनतासे जीतने लायक है। यह सुगमतया नहीं जीता जा पा रहा। जीता तो जाता सुगमतया, जिसे मार्ग मिल गया उसे सब सुगम है, जिसको वह मार्ग नहीं मिल उसके लिए कठिन है। एक निज अंतस्तत्त्वमें आपा माने, फिर यह सब सुगमतया जीत लिया जायगा, पर कोई कुमार्गपर तो चल रहा और उसे मान रहा कि मैं ठीक चल रहा हूं तो उसका यह हठ इतना कठिन होता है कि उसे इस आग्रहका छोड़ना कठिन होता है और वह संसारमें रुलता है। ये विषय ही तेरे कठिन शत्रु हैं। तब तू अन्य जीवोंमें बैर बुद्धिको त्याग दे और अपने इन विकारोंको शत्रु समझकर विकारोंसे हटनेके लिए तू अपना पौरुष कर।

मैत्रीं सत्त्वेषु मोदं गुणवति करुणां क्लेशिते देहभाजि
माध्यस्थत्वं प्रतीपे जिनवचसि रतिं निग्रहं क्रोधयोधे।
अक्षार्थेभ्यो निवृत्तिं मृतिजननभवाद्भीतिमत्यंदुःखाद्
रे जीव त्वं ! विधत्स्व च्युतनिखिलमले मोक्षसौख्येभिलाषं ॥४२१॥

(१९९) सर्व प्राणियोंमें मैत्रीकी सद्भावना—हे आत्मन् ! तू अपने कल्याणके लिए शाश्वत मोक्षका आनन्द पानेके लिए तू सद्भावनाको कर। सर्व प्राणियोंमें मैत्री भाव कर। कहाँ तो यह चाहिए कि चाहे एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक कोई भी जीव हो सर्व जीवोंमें उनके सहज चैतन्यस्वरूपको निरखना और इस नातेसे उनमें मैत्री भाव आना और कहाँ रागद्वेष मोहके वश होकर गुणीजनोंसे भी विमुख होना, घृणा होना और अपने आपमें अहंकार लाना। एक ऊँची स्थिति पाकर भी यदि विकल्पका काम चल रहा है तो इतना कठिन विकल्प होगा कि फिर सुलटना बड़ा कठिन होगा। करणानुयोगमें बताया है कि यह जीव त्रस पर्यायमें आता है तो कुछ अधिक दो हजार सागर तकके लिए आता है, इसके बाद फिर त्रस पर्याय नहीं रहती। इसके बाद नियमसे स्थावरोंमें जन्म लेना होता है। जीवनका एक एक क्षण कीमती है। जिसमें परिणामोंकी सावधानी रखना परिणामोंको नम्र, क्षमाशील कपट रहित

सही रखना अन्यथा इतने ऊँचे स्थानसे गिरकर उसको बहुत ही खोटी अवस्था प्राप्त होगी। तो देखो सर्व जीवोंमें तू मैत्री भाव रख, अपने पर करुणा कर, बाहरमें कुछ मत समझ, मत देख। न बाहरका कोई संकोच बना, अपने आप पर दया करके जो अपने योग्य पंथ है, मार्ग है आत्ममार्ग उस मार्गके अनुसार प्रवृत्ति कर। सबसे पहली विजय यह है कि प्रत्येक जीवमें मेरे सहज स्वरूपका दर्शन हो। जैसे अन्य लोग कहते हैं कि घट-घटमें भगवान बसा है, उन के घट घट तो समस्त पदार्थ हैं पर यहाँ हम आपका घट घट जीव पदार्थ है। समस्त जीवोंमें वह भगवत् स्वरूप बसा हुआ है। अपने सत्त्वके कारण अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप स्वयं सहज किस रूप है उस रूपके सर्व प्राणियोंमें दर्शन करें। इससे लाभ यह होगा कि शत्रुता और मित्रता इन दोनोंकी कल्पना दूर हो जायगी और सहज विरक्ति जगेगी। सर्व जीवोंमें मित्रता करें अर्थात् किसी भी जीवके दुःखकी भावना मत करें। सर्व जीव अपना स्वरूप प्राप्त करें। एक चादरकी ओटमें ही बड़े समुद्रका अवगाह रुक गया, ऐसे ही एक स्व परके विभ्रमकी ओट में इस आनन्दधाम भगवान अंतस्तत्त्वका अनुभवरूप अवगाह रुक गया। स्वरूपदृष्टि करें और स्वरूपदृष्टि करनेका पात्र तब ही हो पायगा जब कि कषायें मंद हों। कुछ थोड़ा विवेक हो, जैन शासनके अनुसार आचरण वृत्ति चलनेका प्रयास हो, ऐसे योग्य आत्मामें वह दृष्टि जगती है जिससे सहज स्वरूपका दर्शन होता है। तो हे मुक्ति सुख चाहने वाले पुरुष सर्व जीवोंमें मित्रताका प्रयोग कर।

(२००) **गुणवंतोंमें प्रमोदकी सद्भावना**—हे मोक्षाभिलाषी आत्मन्, गुणवानोंका आदर कर। मनुष्योंमें एक बड़ी दुर्बलता यह होती है प्रकृत्या कि वे अपनेको यह मान बैठते हैं कि मैं जो समझता हूं बस समझ वही है और अन्य जीवोंमें शायद यह भी नहीं समझ पाता कि इसमें भी ज्ञानस्वरूप है। वह समझता है कि अगर यह जान रहा है तो कुछ उधार जान रहा है, एक ऐसी अहंकारकी वृत्तिकी दुर्बलता मनुष्योंमें प्रकृत्या होती है और इस त्रुटि के कारण वे गुणवंतोंके प्रति आदरभाव नहीं रख सकते। उसका फल यह होता है कि दर्शन-मोहका तीव्र बन्ध होता है और संसारके जन्म मरणकी परिपाटी लम्बी हो जाती है। हितके लिए तो यह प्रकृति बनना चाहिए कि अपनेमें अपनी कमी देखें, दोष देखें ताकि घमंड न आये और उन दोषोंको दूर करनेका मनमें भाव जगे। यदि कोई ज्ञानी पुरुष है, सम्यग्दृष्टि है, चतुर्थ गुणस्थानमें है तो अपने अविरत भावके प्रति उसे खेद है, अविरत भावको दूर करने का निरन्तर भाव रहता है और उसे अपनी यह अविरत त्रुटि नजर आती है और कोई अज्ञानी है तो अपनेमें ज्ञानकी, सम्यक्त्वकी कल्पना बनाकर अविरत भावकी ओरसे तो कुछ कल्पना ही नहीं जगती। दूसरोंके व्रत महाव्रत आदिकको विष देखता है मगर अपने अविरत

भावकी मोहविषता उसकी नजरमें भी नहीं आती और कल्पित अपनेमें बुद्धि बनाकर अहंकार करता है। तब ही तो बताया है कि ज्ञानी वही है जिसके संयमके लिए एक भीतर छटापटी का भाव रहता है। मैं कब संयम पालूं, कब आत्ममग्न रहूं, यह बुद्धि उनके ही जग सकती है जिनको गुणवंतोंमें प्रमोदकी भावना है और अपने आपमें अहंकार नहीं जगता। सो हे मुक्तिसुखके इच्छुक तू गुणवानोंमें प्रेम कर। कदाचित् कोई न हो गुणवान सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संयमी और उसके बाह्य रूपसे और अपनी एक भक्ति परिपाटीसे उनमें प्रमोद जगे तो उससे हानि नहीं है, किन्तु किसी ज्ञानीकी आसादना हो जाय तो उससे विकट हानि है। अतः सावधान रह और गुणवंतोंके प्रति प्रमोद रख। दूसरोंमें क्यों नहीं गुणका दर्शन होता ? उसका कारण यह है कि स्वयंमें गुणोंके प्रति प्रेम नहीं, किन्तु विकारके प्रति दोषके प्रति प्रेम है, जिसको दोषकी प्रकृति रहती है जिसको दोषका आदर रहता है उसे अन्यत्र तुरन्त पहले दोष ही नजर आते हैं, जिसको गुणोंसे प्रेम रहता है, अपने गुणोंमें रुचि रहती है उसको अन्यत्र प्रथम गुणके दर्शन होते हैं। तो हे मुक्तिसुखके इच्छुक पुरुष इस जगतमें कोई किसीका सहाय नहीं, अपने आपपर स्वयं करुणा करनी होगी और अपने आपमें अपना पौरुष जगाना सोगा। तू गुणप्रेम कर। गुणीजनोंका आदर कर, उनमें प्रमोदभाव कर।

(२०१) **दुःखी जनोंमें कारुण्यकी तथा विपरीतवृत्तियोंमें माध्यस्थ्यकी सद्भावना**—हे सुखेच्छुक ! जो रागादिकसे पीड़ित हैं, किसी भी कारण दुःखी हैं उन दुःखी जीवोंमें करुणा भाव कर। तेरेमें सामर्थ्य है कि अपने किसी पौरुषसे उसके संकटके दूर करनेमें हम सहयोग दे सकते हैं और फिर भी तू उनपर दया नहीं करता है, क्रूर परिणाम रखता है तो उस रौद्रध्यानका फल कोई दूसरा भोगने न आयगा। तू दुःखी जीवोंपर दया कर। चौथी बात—शत्रुवोंमें, अज्ञानियोंमें, विरोधियोंमें जिन्हें मान रखा कि ये विपरीत वृत्ति वाले हैं उनमें मध्यस्थ भाव रख, क्योंकि विपरीत वृत्ति वाले अर्थात् दुष्ट लोगोंमें यदि राग करे तो आपत्ति, द्वेष करे ती आपत्ति। तो जो दुष्ट जन हैं उनमें तू मध्यस्थ भाव रख, उनसे शत्रुता मत कर, उनसे बदला लेनेकी भावना मत रख। जान ले कि परवस्तु हैं, ऐसा परिणमन है, उनमें मध्यस्थ भाव रख।

(२०२) **जिनोपदिष्टतत्त्वश्रद्धान, क्रोधपरिहार व भोगपरिहारकी सद्भावना**—५वीं बात—जिनेन्द्रभगवानके वचनोंपर श्रद्धा कर। प्रभुने क्या उपदेश दिया। कैसे आत्मदृष्टि करना, कैसे कषायोंपर विजय करना, कैसे अन्य पदार्थोंकी उपेक्षा करना। जो उपाय बताये गए हैं उन उपायोंका श्रद्धान कर और शक्ति न छुपाकर उन उपायोंपर चल। छठवीं बात—क्रोधरूपी योद्धावोंके शत्रुवो के निग्रह करनेमें लवलीन हो। क्रोध परिणति, जरासी प्रतिकूल

बात किसीकी दिखी तो झट चित्तमें क्रोध भर आता है। ऐसे कायर जन आत्मकल्याण कैसे कर सकते हैं ? तो क्रोधका निग्रह कर। ७वीं बात--इन्द्रियभोगोंसे सर्वथा दूर रह। कामसेवन किया, स्पर्शनइन्द्रियका सुख लिया तो कौनसा लाभ पा लिया ? बहुत बड़ी अवस्थामें पहलेके किए हुए अपराधोंपर पछतावा होता है। किसी पुरुषको तो अत्यन्त बुढ़ापा होनेपर भी पछतावा नहीं होता, बल्कि उनका स्मरण करके भीतर मौज मानता है। अनेक प्रकारके पुरुष हैं जो बुढ़ापेमें भी पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण कर मौज मानते हैं। शान समझते हैं और दूसरोंको जताते हैं कि हमने ऐसे ऐसे सुख भोगे, वे तो बहुत हीन नम्बर वाले व्यक्ति हैं, उनसे अच्छे तो वे हैं जो अपने भोगे गये भोगोंपर, अपराधोंपर पछतावा करते हैं कि हमने व्यर्थ समय खोया, और सबसे भले वे हैं कि अपनी जवानीके समय भी उन सब अपराधोंसे दूर रहनेकी भावना रखते हैं और उनसे भले वे हैं जो बचपनमें ही उन सबसे दूर रहनेकी भावना रखकर शुद्ध आचरण वाले बन जाते हैं।

(२०३) **भोगासक्तोंका एक चित्रण**— वेदान्तकी जागदीशी टीकामें एक छोटासा दृष्टान्त दिया है कि एक भंगिन मलका टोकना लिए जा रही थी, बाजारमें से निकली, तो एक सज्जनने उसको बहुत बढ़िया सफेद चमकीला तौलिया दिया और कहा कि तू इस तौलियासे ढाक ले, इस मलको देखकर बहुतसे लोगोंको कष्ट होता है, सो उसने उस चमकीले, साफ तौलियासे ढाक दिया मलके टोकनेको। अब उसे देखकर उसके पीछे तीन व्यक्ति लग गए। तो भंगिनने पूछा--आप लोग मेरे पीछे क्यों लगे हैं ? तो वे बोले--हम लोग देखना चाहते हैं कि तुम इस टोकनेमें क्या लिए जा रही हो ? तो भंगिन बोली—मल है इस टोकनेमें। तो मलका नाम सुनकर उनमेंसे एक व्यक्ति वापिस हो गया, दो व्यक्ति अभी भी पीछे लगे रहे। फिर भंगिनने पूछा--आप लोग अभी भी पीछे क्यों लगे हैं ? तो वे बोले--हमें तुम्हारी बातपर विश्वास नहीं होता, तुम झूठ बोलती हो। हमें तो खोलकर दिखाओ तब विश्वास होगा। सो भंगिनने तौलिया उघाड़ दिया, सो मल देखकर उन दो में से एक व्यक्ति वापिस लौट गया। उस तीसरे व्यक्तिको अभी भी विश्वास न हुआ, वह फिर भी भंगिनके पीछे लगा रहा। भंगिनने फिर पूछा—भाई अभी भी तुम मेरे पीछे क्यों लगे हो ? तो वह व्यक्ति बोला--हम तो जब सूंघ सूंघकर अच्छी तरह परीक्षा करके समझ लेंगे तब विश्वास होगा, तभी वापिस लौटेंगे। आखिर भंगिनने टोकना उघाड़कर रख दिया, उसने भली-भाँति सूंघ-सूंघकर परीक्षा कर लिया तब वापिस लौटा। तो ऐसे ही समझो कि कुछ लोग ऐसे होते कि जरासे उपदेशमें, निर्देशमें विषयभोगोंका परिहार करते हैं, कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उनको देख-भालनेके बाद छोड़ते हैं और कुछ ऐसे मोही होते हैं कि उस ही की चिन्तामें

रहेंगे, छोड़ेंगे कभी नहीं। ये विषय तेरे शत्रु हैं, इनमें प्यार न रख, प्रीति कर तो अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, धर्मपालनमें, आत्मस्वरूपके निरखनेमें। और उसमें उपयोग रमाकर तृप्त रहनेमें तू अपना पौरुष कर।

(२०४) **जन्ममरणव्याप्त संसरणसे निवृत्त होने व शाश्वत मोक्षका आनन्द पानेकी सद्भावना**—हे आत्महितैषी, अब तो दुःख देने वाले जन्म, जरा, मरणसे भयभीत हो। देख तुझे यदि जन्म चाहिये तो उसका सबसे सुगम उपाय है कि इस शरीरकी मानता रह कि यह मैं हूं। बस तुझे खूब जन्म मिलते रहेंगे। जरा और मरण प्राप्त करते रहनेकी भी यही विधि है कि खूब इस शरीरको आपा मान कि यह ही मैं सर्वस्व हूं, बस तुझे खूब जीवन मिलेंगे, अनेक जन्म मिलेंगे। सो जरा सोच तो सही कि जन्म ले लेकर तूने क्या नफा पाया? कष्ट ही कष्ट पाया। जन्मते समयका कष्ट, मरते समयका कष्ट और जन्ममरणके बीचमें जितनीसी जिन्दगी मिलती है उसमें नाना तरहके कष्ट, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, नाना वेदनायें, नाना आशायें करके नाना कल्पनायें करके कष्ट पाता है। सो अब तू जन्म जरा मरण आदिसे भयभीत हो अर्थात् उनसे दूर होनेके लिए शरीरसे उपेक्षा कर। ९वीं बात—अन्तिम बात यह है कि कर्ममलरहित पवित्र नित्य शाश्वत सुखके प्राप्त करनेकी अभिलाषा रख। यह पूर्ण निर्णय बना कि मुझे तो शरीररहित केवल स्वरूपमात्र रहनेकी स्थिति प्राप्त हो और इसके लिए इसी समय शरीरसे निराले ज्ञानमात्र अपने अंतःस्वरूपकी उपासना कर।

कर्मानिष्टं विधन्ते भवति परवशो लज्जते नो जनानां
धर्माधर्मौ न वेत्ति त्यजति गुरुकुलं सेवते नीचलोकं।
भूत्वा प्राज्ञः कुलीनः प्रथितपृथुगुणो माननीयो बुधोपि
ग्रस्तो येनात्र देही तुद मदनरिपुं जीव! तं दुःखदक्षं ॥४२२॥

(२१५) **कामविषयकी अतिनिन्द्यता**—आत्मस्वरूपका बोध न होनेसे इस जीवके इन्द्रियविषयोंमें प्रीति अनादिसे चली आ रही है। शरीरको माना कि यह मैं हूं और इन्द्रिय द्वारा ज्ञान हो सक रहा है, परोक्षज्ञानकी यही विधि है, जाननहार तो आत्मा है, पर जैसे किसी कमरेमें बन्द पुरुष खिड़कियों द्वारा ही देख सकता है ऐसे ही इस बन्धनमें बद्ध जीव इन इन्द्रियों द्वारा ही जान सकता है। सो इस जीवको इन्द्रियोंमें प्रीति होना प्राकृतिक बात है। सो यह जीव इन्द्रिय विषयोंमें आसक्त हो रहा है, इसे सहज आनन्दके धाम निज स्वरूप की सुध ही नहीं है और आनन्द पानेका इसका व्रत है, सो आनन्द यह जरूर पायेगा, चाहेगा, चाहे विकृत हो, चाहे शुद्ध हो। तो यह इन्द्रियविषयोंसे इन्द्रियकी सेवाके लिए प्रीति कर रहा है और उन विषयोके दुःखमें दत्त विषय है कामविषय। जो अन्य विषयोंकी अपेक्षा

बहुत ही बेकार है। विषय सभी बेकार हैं, पर खाना पड़ता है, संयमका साधनभूत शरीरकी रक्षा करनी होती है, खाना जरूरी हो गया जीवन रखनेके लिए। एक सही वातावरण भी चाहिये नहीं तो यह शरीर मुर्झा जायगा, तो थोड़ा गंधका वातावरण भी जीवनके लिए उपयोगी है। नेत्र सदा काम करते रहते हैं। हाँ पलक बन्द कर लो तो न करेंगे काम, देखते तो रहते ना, इन नेत्रोंसे हम स्वाध्याय करें, सत्संग करें, गुरुदर्शन करें, प्रतिबिम्बदर्शन करें, हम कई कामोंमें इनका उपयोग कर सकते हैं। अच्छा कर्णेन्द्रियकी भी बात देख लो—प्रवचन सुनना, जिनवाणी सुनना, उपदेश सुनना, यों बहुतसे कामोंमें इन कानोंका उपयोग कर सकते हैं, पर स्पर्शनइन्द्रियका उपयोग तो बताओ और क्या हो सकता ? उसमें कामसाधनकी बात कह रहे, इन इन्द्रियविषयोंमें रसनादिके विषयोंको तो हम कुछ ठीक उपयोग भी बना सकते, पर इस कामविषयक जो विषय है उसका उपयोग कोई नहीं बन सकता। इतना गंदा अपवित्र अहितकारक यह विषय है, जिसके विचारसे खोटा बंध, जिसके आरम्भमें खोटा बन्ध, जिसके प्रयोगमें खोटा बंध।

(२०६) **कामवशी जीवोंकी अयोग्य कार्य करनेमें निर्लज्जता व विवेकशून्यता**—हे प्राणी सबसे प्रबल शत्रु तेरा है काम जिसके कारण कुछ बड़ा बन जानेपर भी विद्वान्, कुलीन, गुणी, सम्माननीय होनेपर भी अनिष्ट कार्योंको कर डालता है। कैसा यह भूत है कि देवोंका भूत फिर भी अच्छा, पर अपने आपमें जो कामविषयक भूत है वह कितना विनाशकारी है कि बुद्धिको बिगाड़ दे और अनिष्ट कार्योंको करा दे। और कामके वश होकर यह जीव ऐसा पराधीन हो जाता कि इसको तनिक भी लज्जा नहीं आती। जो कामके वशीभूत हैं अनेक लोग उनको कोई तिरस्कारपूर्व वचन भी सुना देता है, वे परोक्ष भी सुन लेते हैं पर वे कामासक्त जन अपने आग्रहको नहीं छोड़ पाते। कैसा विवश है यह जीव अज्ञानके कारण। अज्ञान मोह जैसी कोई विपदा नहीं। जिसको परिचय न हो पदार्थोंका उसपर बड़ी विपदा है। चूंकि जगतमें हम आप रहते हैं, कर्मके वातावरणमें रहते हैं तो हमको सर्वतोमुखी ज्ञान चाहिए तब हम आत्माके स्वरूपकी आराधना कर सकते हैं। जिनसे हमें हटना है उनका परिचय करते नहीं हैं सही, सो हटनेका प्रयोग न बन पायगा, सो अनात्म तत्त्वोंका भी विधिवत् परिचय चाहिये। कार्य यह होगा फिर कि अनात्मतत्त्वसे हटना आत्मतत्त्वमें लगना, पर इस विधिके लिए हमें सर्व प्रकारसे ज्ञान चाहिए, और ज्ञान बढ़ता जाय वह लाभ ही देगा। तो यथार्थ ज्ञान बिना इस जीवके इन्द्रिय विषयोंमें आसक्ति बन जाती है और उनमें प्रधान हैं स्पर्शनइन्द्रियका विषय। सो इसके वश होकर लोग निर्लज्ज होते हैं, अनिष्ट कार्य कर डालते हैं। कामी पुरुषके धर्म अधर्मका विचार नहीं रहता है, मानो उसके दिमागमें कीड़ा

नाचने लगता है। बुद्धि व्यवस्थित नहीं रहं पाती।

(२०७) निष्काम अन्तस्तत्त्वकी भावनासे कामादि विकारोंका शमन—कामव्याधिसे निवृत्त होनेके लिए मौलिक उपाय निष्काम अविकार अंतस्तत्त्वका अनुभव है। आत्मभक्तिमें कोई कोई चरण हैं ऐसा जिनका अर्थ सबको विदित नहीं हो पाता। उनमें एक चरण यह भी है— "सर्वगत आत्मगत रत न, नाही विरत, ब्रह्मप्यारे।" यहाँ आत्मस्वरूपके चार विशेषण दिए गए हैं—यह आत्मस्वभाव ऐसा है कि जैसा स्वभाव है वैसा विकास हो जाय तो यह सर्वगत हो जाता है। अर्थात् ज्ञानद्वारा लोकालोक सबमें पहुंच जाता है। सर्वज्ञ होकर, लेकिन सर्वथा एकान्ततः यह न समझना, वह आत्मगत है सदैव यह बहुत आत्मस्वरूप आत्मप्रदेशोंमें ही रहता है। सर्वज्ञदेव सब जगह जा जाकर नहीं जानते, किन्तु अपने स्वरूपमें ही लीन रहकर जानते हैं, आत्मप्रदेशोंमें ही यह ज्ञान अपनी ऐसी परिणतिसे परिणम रहा है कि जिसमें सर्व सत् ज्ञेय हो रहे सो आत्मगत। रत न, आत्मस्वरूप रागी नहीं है इसका स्वरूप है जानना। देखिये वर्तमानमें ऐसी बात है उस मुझमें विकार तो है पर मेरे स्वरूपमे विकार नहीं। जैसे पानी गरम है तो गर्मी पानीमें तो है पर गर्मी पानीके स्वभावमें नहीं है। जैसे यह बात खूब समझमें आ जाती, यद्यपि पानीका स्वभाव ठंडा नहीं है, न गर्म है, वह कोई द्रव्य भी नहीं है पर दृष्टान्त एकदेश होता है, यह बात भली-भांति समझमें आ जाती है, पानीमें गर्मी है, पानीके स्वभावमें गर्मी नहीं। हाँ कोई उस गर्म पानीको पी ले तो स्वभावकी मेहरबानी वहाँ प्रयोगमें न आयगी, पर्यायकी मेहरबानी प्रयोगमें आयगी याने गरम पानीको पीनेसे स्वभाव ठंडा है इस कारण जीभ न जले सो बात न बनेगी याने जीभ जल जायगी। सो परिणतिकी ओरसे तो मुझमें सब प्रदेशोंमें विकार बन रहे हैं पर स्वरूपमें विकार नहीं। जो अपने आपके सत्त्वसे है जो सत्त्वमें है वह है मात्र चेतना। अब उसमें राग है तो यह नैमित्तिक है इसलिए स्वरूपमें नहीं, पानीमें गर्मी है वह नैमित्तिक है इसलिए गर्मी पानीका स्वभाव नहीं। नैमित्तिकताके परिचयकी बड़ी मेहरबानी है कि आश्रयभूतसे उपेक्षा हो जाय, नैमित्तिकसे उपेक्षा हो जाय, निमित्तसे उपेक्षा हो जाय और स्वभावकी अभिमुखता हो जाय। तो ये सब विकार नैमित्तिक हैं, मेरे स्वरूपमें नहीं हैं। सो अविकार स्वरूपकी आराधनाके प्रतापसे इन निमित्तोंमें छंटनी बनेगी, स्वयं सहज और यह नैमित्तिक भी गायब हो जायगा। सहज आत्मस्वरूपके आलम्बनका ऐसा चमत्कार है कि यह जीव जैसा सही है वैसा ही विकसित हो जाय।

(२०८) कामादिविकारोंसे हट कर अविकार स्वभावमें लीन होकर शाश्वत शान्ति पानेके लिये आचार्य द्वारा जीवोंको संबोधन—यहाँ जीवोंको सम्बोधन किया है कि यह काम

भाव बड़ा अनर्थकारी भाव है। कामके वशीभूत होकर यह जीव गुरुजनोंकी संगति छोड़कर नीचोंकी प्रीति करने लगता है। विकारी पुरुषोंको गुरुजन न जचेंगे ठीक, उनको तो आसक्त, व्यमोही, अविरती, परिग्रही, विषयव्यामोही पुरुष ही भले जचेंगे और कदाचित् उनसे यह उपदेश मिल जाय कि तुम ज्ञानकी बात मुखसे बोल लो, तुमको सब छुट्टी है, तुम मोक्षमें जावोगे, कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं। तो जैसी प्रकृति अनादिसे पड़ी है उसी प्रकृतिको पोषने वाले वचन मिल जायें तब तो और भी अच्छा लगेगा। इसे गुरुजनोंकी, विरक्तजनोंकी संगति नहीं सुहाती, कामी पुरुष तो प्रकट ही नीच लोगोंका सहवास करेंगे। नीच मायने व्यामोही आसक्त कामप्रेमी। उनकी संगतिमें जायगा। सो हे भाई सर्वप्रथम तू कामको तो जीत। ब्रह्मचर्यके मायने क्या है? स्पर्शनइन्द्रियके विषयोंको जीतेगा, कामको जीतेगा। सिर्फ इसीके मायने ब्रह्मचर्य नहीं है। ब्रह्मचर्यका शुद्ध अर्थ है—अविकार ब्रह्मस्वरूपमें लीन होना। तो इसका अर्थ यह है कि सर्व विषयोंसे हटकर केवल अविकार चित्स्वरूपमें रमना, इसे ब्रह्मचर्य कहते है, लेकिन यह बात सोचिये कि प्रसिद्धि इसीकी क्यों हुई? स्पर्शनइन्द्रियके विषयों पर विजय करनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं। प्रसिद्धि ऐसी है ना? रसना इन्द्रियके विजयमें ब्रह्मचर्यकी प्रसिद्धि नहीं। अन्य इन्द्रियके विषयके विजयसे ब्रह्मचर्यकी प्रसिद्धि नहीं। एक काम वासना स्पर्शनइन्द्रियके विजयमें ब्रह्मचर्यकी प्रसिद्धि है। इसका कारण यह है कि सर्वविषयों में गंदा, अपवित्र, घातक, किसी भी अपेक्षामें इस जीवका भला न करने वाला, कभी भी हितके उपयोगमें न आने वाला विषय है यह काम, इसलिए इसके त्यागमें ब्रह्मचर्यकी प्रसिद्धि हुई, सो हे हितार्थी पुरुष सर्व प्रथम इस काम पर विजय कर।

रागाद्युक्तोपि देवोंतरतदितररजः ग्रंथशक्तोपि साधु—
र्जीवध्वंसोपि धर्मस्तनुविभव सुखं स्थाष्णु मे सर्वदेति।
संसारापातहेतुं मतिगतिदुरितं कार्यते येन जीव—
स्तं मोहं मर्दय त्वं यदि सुखमतुलं वांछसि व्यक्तबाधं ॥४२३॥

(२०६) **जीवका मौलिक व्यामोह**—हे आत्मन्! यदि तू अनन्त निर्बाध शाश्वत सुख की चाह करता है तो तू मोहरूपी प्रबलशत्रुका मर्दन कर। व्यामोह जिसका जिस ओर मूड गया, जिसमें अपना माहात्म्य समझने लगा बस उसका उपयोग उस ही का आग्रह कर बैठता है। इसीको कहते हैं व्यामोह। विवेक जहाँ नहीं जानता किन्तु अपनी पसंदगी ही जच रही है, ऐसी विवेक रहित पसंदप्रियताको व्यामोह कहते हैं। मोह मूलमें यह है कि यह जीव विकारभाव और स्वभावमें अन्तर नहीं जान पाता और विकारभावमें ही इसका राग मोह बना रहता है, अन्तर नहीं जान पाता और विकारभावमें ही इसका राग मोह बना रहता है। जैसे दर्पणमें होने वाले फोटोमें और दर्पणके कांचके भीतरकी स्वच्छतामें अन्तर लोग समझते हैं

और इसी कारण उसका सही प्रयोग बना लेते हैं ऐसे ही विकारभावमें और आत्माके सहज स्वभावमें अन्तर जानता है ज्ञानी। जैसे यहाँ हर कोई समझता है कि यह फोटो दर्पणकी निजी प्रकृति नहीं है, स्वभाव नहीं है, स्वच्छता नहीं है, दर्पणकी निजी चीज नहीं है, फोटो दर्पणमें है फिर भी दर्पणकी निजकी चीज नहीं, क्योंकि वह जानता है कि फोटो परभाव है, नैमित्तिक है, परका प्रसंग पाकर हुई है, इसलिए यह दर्पणकी निजकी चीज नहीं है। ज्ञानी भी जानता है कि यह विकार कर्मअनुभागकी छाया है, नैमित्तिक है, परभाव है, विनश्वर है, पराधीन है, यह मेरा स्वभाव नहीं है। मेरी अनादि अनन्त स्वच्छता, चेतना, चित्शक्ति जो प्रकट तो कभी हुई नहीं, पर अन्तः प्रकाशमान है। कैसी समस्या है कि जरासे शब्दोंका सही प्रयोग न होने पर लोग भ्रममें पड़ जाते हैं। सही-सही प्रकार शब्दोंसे चलें तो भ्रम होनेका अवसर नहीं हो सकता। तो यह मोह अपनी सुध नहीं और जो मुझपर परभाव लद गया उसको अपना डाला, इसे कहते हैं मूल मोह। अब इसके कारण बाह्य वस्तुवोंमें भी मोह अज्ञान यह सब चलता है। तो इस मोहको यदि दूर करना है तो विकारका और स्वभावका अन्तर जान। बाह्य पदार्थका और निज आत्मतत्त्वका स्वतंत्र सत्त्व पहिचान। मोह मिटेगा जिसका उसकी पीड़ा मिटेगी।

(२१०) **मोहकी विचित्र लीलायें**—इस मोहका मिटना बड़ा कठिन है, पर जिसको दृष्टि मिल गई उसके लिए बड़ा सुगम है। मोहकी कैसी विचित्र लीला है कि यह मोही शरीर में मोह बनाता है और धर्मका कोई कार्य करे जिसे प्रायः लोग करते हैं—स्वाध्याय, पूजा, ज्ञानवार्ता, चर्चा करना, उन चेष्टावोंको करते हुए उन चेष्टावोंको जो भीतर सर्वस्व समझ लेता है और उससे अपनेको महान् भाग्यशाली, मैं समझदार हूं, विवेकी हूं इस प्रकारकी बुद्धि आ जाना यह कितनी इस मोहकी लीला है। तो मोहका तजना बड़ी पैनी अन्तर्दृष्टिसे हो पाता है और यहाँ एक स्थूल रूपसे सम्बोधन किया है कि तू मोहरूपी प्रबल शत्रुका नाश कर अर्थात् जो व्यासंग लगा है, बाह्य पदार्थोंका निबंध बना है उसका तू त्याग कर, जिसके वशीभूत होकर तू रागद्वेषयुक्तको भी देव मानता है और उसके तालसे तारीफ भी करता है। तूने उसको सुखी किया, उसको तारा, उसको दर्शन दिया। रागद्वेषमय चारित्र बनाकर देवकी भक्ति करता है। तेरी बड़ी लीला है, तेरी महिमा अपरंपार है, तेरी महिमा कोई जान नहीं सकता, तूने दही, मक्खन चुराया था, तू कामिनियोंके बीच रहता था, तूने अमुकका चीर हरा था,.... आदि अनेक रूपसे प्रभुकी लीलायें मानी जाती हैं। रागद्वेषसे दूषित आत्माको तो यह मोही जीव देव मानता है और परिग्रहसे युक्तको गुरु मानता है। इसकी दृष्टिमें यह नहीं रह पाता कि जो बाह्य आभ्यंतर परिग्रहरहित है, निर्ग्रन्थ है वह ही गुरु हो सकता है, यह इसकी दृष्टि में नहीं रह पाता, क्योंकि व्यामोह लगा है। अपने आपकी जो संसारकी पसंदगी है उसमें

इसके व्यामोह लगा है इसलिए यह परिग्रहसहितको गुरु मानता है। यह मोहकी लीला है, और जो आत्माका विनाशक है, धर्मका नाशक है, जीवोंका विघात करने वाला है तो ऐसे उपदेशको यह धर्म मानता है। ऐसी प्रवृत्तिको यह धर्म मानता है। यह मोहकी लीला बतायी जा रही है।

(२११) **शाश्वत आनन्द पानेका बाधक अनित्य असार सुखोंमें भ्रामक व्यामोह**—अनित्य सुखको यह मोही शाश्वत सुख मानता है। अभी किसी बूढ़े व्यक्तिसे पूछा जाय कि भाई तुम कैसे हो ? तो वह कहेगा कि बड़ा मौज है, खूब हरे भरे हैं, अनेक लड़के हैं, अनेक नाती पोते हैं, बीसों लोगोंका परिवार है, बड़ी भारी जायदाद है, आरामके सब प्रकारके साधन हैं, बड़ा मौज है····। अरे उस आत्माको कहाँ मौज ? किसीकी बात किसीमें लपेट रहा है, और अपनी खबर नहीं है कि हमारे मरनेके दिन आ रहे हैं। तो यह अनित्य सुख को, दुःखस्वरूप सुखको सुख मानता है, यह ही तो व्यामोह है, जिसके कारण यह जीव संसार समुद्रमें गोते खायगा। भोग तजना शूरोंका काम, भोग भोगना बड़ा आसान। वीरता है भोगोंके तजनेमें। कायरता है भोगोंके भोगनेमें। एक जीवनमें यह ही एक बात बना ले कि जो जीवनके लिए, जिन्दा रहनेके लिए आवश्यक है, उसे तो करना पड़ता है पर अनावश्यक व्यर्थके विषयोंमें मैं न पड़ूंगा। एक इतना ही बोध बना लें। जैसे बहुत रसीले व्यञ्जन बन रहे हैं, बड़ा एक भंडार बनाया जा रहा है, अनेक प्रकारके आरामके साधन बनाये जा रहे हैं। अरे इससे तेरेको क्या मिलेगा ? अगर पुण्यका उदय है और यह धन अटूट आ ही पड़ता है तो तू मध्यम या साधारण जनोंकी भाँति सात्त्विक वृत्तिसे रह और पाये हुए द्रव्यका उपयोग कर, परके उपकारमें लग। अपने आराम और भोगोंकी वृद्धिमें मत पड़। यह तो है विवेक। और मानो आज धन मिला है तो जितनी दुःख और सुखकी बात बनेगी उतनी ही मलिनता बढ़ती चली जायगी और सात्त्विक वृत्तिसे रहेंगे और आये हुए द्रव्यका उपयोग पर के उपकारके लिए करेंगे तो संतोष मिलेगा, सत्कार मिलेगा और सन्मार्ग मिलेगा। भोगनेके जीवन न समझिये किन्तु आत्मदृष्टि बनाये रखनेके लिए इस जीवनका उपयोग करिये। जिसका ध्येय सही बन जाय वह सदाचारसे, संयमसे रहेगा, गुणी जनोंका सम्मान रखेगा, अपने आपमें नम्रताका भाव रहेगा, अहंकार फटकने न पायगा। तो जगतमें दुःखमयी स्थिति है और करेंगे विषयकषायोंके ओटपाये तो इसका शरण कोई नहीं है। खुद ही खुदका शरण है इसलिए सात्त्विक वृत्तिसे रहना, संयत आचरणसे रहना और अहङ्कारको तजना, गुणीजनों का मनमें विनयभाव रखना, यदि ऐसी वृत्ति चलेगी तब तो मिल जायगा उद्धारका अवसर' अन्यथा संसारमें जन्म मरण करते रहना ही हमारी करतूतका फल रहेगा।

तीव्रत्रासप्रदायिप्रभवमृतिजराश्वापदव्रातपाते
दुःखोर्वीजप्रपंचे भवगहनवनेनेकयोन्यद्रिरौद्रे ।
भ्राम्यन्नाप्यापि नृत्वं कथमपि शमतः कर्मणो दुष्कृतस्य
नो चेद्धर्मं करोषि स्थिरपरमधिया वंचितस्त्वं तदात्मन् ॥४२४॥

(२१२) **वर्तमान उपलब्धि और परिस्थितिपर ध्यान देनेका सुझाव**—हे आत्मन् ! कुछ अपनी वर्तमान पायी हुई उपलब्धियोंका तो विचार कर । यह मैं जीव अनादि कालसे भव-भवमें भटकता चला आया। उसके साथ सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर ये दोनो लगे चले आ रहे हैं । सूक्ष्म शरीरका तो एक क्षण भी अलगाव आज तक नहीं हुआ अनादिकालसे । इस स्थूल शरीरके मरणके बाद जन्मस्थान पर पहुंचनेके लिए यदि मोड़े वाली गतिसे जाना पड़े तो एक समय, दो समय, तीन समय अधिकसे अधिक स्थूल शरीरका वियोग रहा । स्थूल शरीर मायने औदारिक और वैक्रियक शरीर । सूक्ष्मके मायने तैजस और कार्माण शरीर । तो सूक्ष्म शरीरका आज तक भी अनादिकालसे एक समयको भी वियोग न हो सका । वह लगा हुआ है । नया आना, पुराना खिरना यह तो बना है मगर उसकी धारा अब तक चली आपी है, तो वर्तमानकी खोटी परिस्थिति और उपलब्धि इन दोनों ही पर ध्यान दें ।

(२१३) **हमारी वर्तमान उपलब्धियां**—अबकी उपलब्धिपर ध्यान दें तो आज मनुष्य भव पाया है, उसमें भी अच्छे कुलमें जन्म हुआ है और उस पर भी शरीर स्वस्थ है । यों तो किसीका भी शरीर स्वस्थ नहीं, कोई न कोई रोग प्रत्येक शरीरमें मिलता है मगर काम चले, हमारे ज्ञान ध्यानकी वार्ता बनी रहे, इतनी स्वस्थता तो है ही । फिर इन्द्रियाँ भी सही हैं । बहिरे हो जायें, अंधे हो जायें तो उसमें बाधा है । हाँ ज्ञानी पुरुषोंको तो बहिरे होनेमें भी बाधा नहीं, अंधे होनेमें भी बाधा नहीं, मगर जहाँ हमारी साधना प्रारम्भ हो रही है वहाँ तो इनकी आवश्यकता है । सो ये भी सही हैं । मन भी कुलीनताको लिए हुए है । समागम भी गुरुजनों का प्राप्त होता रहता है, कुछ बुद्धि भी सही है प्रतिभा भी है युक्तिको भी समझ है, अनुभव भी बन सकता है, तो इतनी बड़ी उपलब्धियाँ हम आपको मिली हैं, ऐसी उपलब्धियोंको पाकर यदि प्रमाद करेंगे, विषय कषायोंमें चित्तको लगायेंगे तो इस संसारमें जन्ममरणकी परिपाटी ही बनायेंगे । देखो यहाँ जो दिख रहा है यह हमारा कुछ नहीं है । किसको अपनी शान बतानेके लिए तुम किसी आग्रहपर उतारू हो, इसका निर्णय तो बताइये । किसपर शान बनाते ? ये दिखने वाले जितने पुरुष हैं सब माया है, क्योंकि ये सब असमानजातीय-द्रव्यपर्याय है । जहाँ मिलावट है माया कहा जाता है । जहाँ केवल है उसे परमार्थ कहा जाता

है। तो इस मायामय इन दृश्य देहियोंको आप अपनी शान बताना चाहते। मैं समझदार हूं, ज्ञानी हूं और इस जगतमें अपनी कोई पार्टी सी बनाकर इन्हें क्या दिखाना चाहते हो? न यह पार्टी संग रहेगी, न लोग संग रहेंगे। एक अपने आपको अकेला तो अनुभव कर, और उस अकेलेके ही नाते तू समस्त जीवोंसे मैत्रीभाव बना, यह तो है उद्धारका उपाय, बाकी कषायावेशमें जो मर्जी हो सो कीजिये, पर उससे कल्याण नहीं होता।

(२१४) वर्तमान परिस्थिति और अपना कर्तव्य—यह संसार अनेक विपत्तियोंसे भरा हुआ है। खुद पर ही क्या विपत्तियां हैं सो तो देख। जन्म लेगा वहां तीव्र त्रास होगा, मरण करेगा वहां भी त्रास होगा जो बीचकी जिन्दगी मिलेगी वहां भी नाना प्रकारके दुःख जाल हैं। केवल कभी कल्पनामें कुछ सुख मान लिया सो केवल कल्पनाकी ही बात है, सांसारिक सुख जितने हैं वे सब आकुलताके मूल पर खड़े हुए हैं। उस सुखके साधनके लिए आकुलताकी, सुखके भोगनेके समय आकुलता हो रही। देख लो, संसारके जितने सुख हैं उनके भोगनेके समयमें यह जीव शान्त रहता है कि आकुलित रहता है? भली प्रकार परीक्षा करें तो सही उत्तर मिल जायगा तो जहां अनेक विपदायें भरी हैं ऐसे इस संसारमें अनादि कालसे भ्रमण कर करके आज तू इतनी उत्तम स्थितिमें आया है यह संसार महा बन है, अनेक दुःख रूपी वृक्षोंसे यह घनीभूत है। जहां अनेक योनियोंके पहाड़से यह बन महा भयंकर बना हुआ है, सो कैसे कैसे जन्म पाये तूने, सो यदि बहुतोंका तू स्मरण नहीं कर सकता तो जो पशु पक्षी कीड़ा मकोड़ा दिख रहे हैं इनका ही ध्यान धर ले कि ये ही तो पहले मैं भी था और अब यदि ठीक ठीक न चलेंगे तो ये ही फिर बनेंगे। यहां तो अहंकारमें चूर हो रहे, थोड़ा सा सुखसाधन मिला, ऐश्वर्य मिला ज्ञान मिला, बल मिला, प्रतिष्ठा मिली, उस पुण्यफलमें यहां अहंकार कर रहे, पर इसके फलमें जब कीड़ा मकोड़ा पशु पक्षी बनेंगे तो फिर शान कहां रहेगी? यह झूठा शान झूठा गर्व है जिसमें बने रहते हैं, मुह फुलाये रहते हैं और अपने भीतर ही एक अपनेको सर्वाधिक मानते हैं। स्वरूपदृष्टि कर, सबको समान निरख। यदि यहां भी आत्महित न कर सके तो उसका फल इस संसारमें ही तो जन्म लेना रहेंगा। तू जानता है कि यहां मैं बड़ी चतुराईकी बातें कर रहा, पर यह ध्यान नहीं कि अपने आपको ही ठगे चले जा रहे हैं, और ऐसी दुर्लभ मनुष्य पर्यायको पाकर आपना सर्वस्व खोये जा रहे हैं। सो हे आत्मन्! अब तू प्रमाद न कर याने विषय कषायमें प्रेम मत कर और मोक्षमार्गमें अपनी प्रगति बना।

ज्ञानं तत्त्वप्रबोधो जिनवचनरुचिर्दर्शनं धूतदोषं
चारित्रं पापमुक्तं त्रयमिदमुदितं मुक्तिहेतु प्रधत्स्व।

मुक्त्वा संसारहेतुत्रितयमपि परं निद्यबोधाद्यवद्यं
रे रे जीवात्मवैरिन्नमितगतिसुखे चेत्तवेच्छास्ति पूते ॥४२५॥

(२१५) आत्मीय अनन्त आनन्द पानेका उपाय रत्नत्रयधर्मधारण—अपने आप अपना अहित करने वाले हे मोही जीव ! यदि तेरे आत्मीय अनन्त आनन्दके प्राप्त करनेकी इच्छा है तो तू सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयको धारण कर। मोही कहना या मूढ़ कहना इन दो में कुछ अन्तर है क्या ? मुह धातुसे ही तो मोह शब्द बनाया गया और मुह धातुसे ही मूढ़ शब्द बना, अर्थमें कोई अन्तर नहीं, मगर आपको मोही कहकर पुकारें और सम्बोधन करें तो उतना अधिक बुरा न मानेंगे और मूढ़ शब्द अगर कहें तो आप बुरा मान जायेंगे। अरे मोह और मूढ़में फर्क क्या रहा ? व्याकरण वालोंसे पूछ लो कि इन दो के अर्थ में कोई फर्क है क्या ? उसीका नाम मोही है और उसीका ही नाम मूढ़ है, अन्तर कुछ नहीं है, पर मूढ़ शब्द क्यों नहीं सुनना चाहते ? मोही शब्द सुनकर तो अधिकसे अधिक इतना सोच लेंगे कि ठीक कह रहे, पर अधिक बुरा न मानेंगे और कितने ही लोग तो उसमें प्रशंसा समझेंगे। अगर कहा जाय कि इनका बच्चा बड़ा अच्छा है, आज्ञाकारी है, सज्जन है और इनको बस बच्चेमें मोह है और कुछ नहीं, तो इतनी बात सुनकर वह खुश हो जायगा, समझेगा कि कोई बुरी बात नहीं कही जा रही। और अगर कहा जाय कि ये तो बच्चेमें मूढ़ बन रहे हैं तो यह सुनकर बुरा मान जायेंगे। अरे मोही और मूढ़ एक ही बात है। तो हे मूढ़ आत्मन् ! तू यदि वास्तविक आनन्द चाहता है तो रत्नत्रयका धारणका :

(२१६) आत्महितकी धुनवालेका सर्वारम्भसे आत्महितमें प्रवर्तन—जब धनकी इच्छा और तृष्णा होती है तो उसके लिए आप सैकड़ों उपाय करते हैं और किसी उपायमें भूल होती है तो भी उस उपायको नहीं छोड़ते। ऐसे ही जिनको वास्तवमें रत्नत्रय धर्मसे प्रेम है वे इस के पालनके लिए अपने सभी पौरुष बनाते हैं। कहते हैं ना कि सर्व आरम्भ पूर्वक मोहके क्षयके लिए मैं अब खड़ा हुआ हूं। तब वह यह नहीं सोचता कि मेरे पहले सम्यग्दर्शन हो जाय फिर मैं व्रत ग्रहण करूँगा। इस प्रकारकी वार्ता वचनालाप वह स्वयंके लिए न करेगा। उस सम्यग्दर्शनकी कहाँ परीक्षा लेने जावोगे कि कोई यह कहे कि सम्यग्दृष्टि हो गया, तब व्रत शुरू करेंगे। अरे सम्यक्त्व चाहे न जगे, बादमें जग लेगा मगर अपने बिवेकसे व्रत ले लिया, पापोंका परित्याग कर दिया तो वह तो अपने आपमें पवित्रताकी ओर बढ़ ही रहा है। वहाँ यह निरीक्षण करना यह एक बहाना है, छल कहलाता है। एक साधारणतया हम चल रहे हैं, श्रद्धा है, जान रहे हैं तो आत्मकृपालु सर्व कुछ त्याग करनेको तैयार रहता है, सम्यक्त्व साथ है, तो मोक्षमार्गकी विशेषता बन जायगी। यदि सम्यक्त्व नहीं है तो भी हम किसी एक

पुण्यकार्यमें तो चल रहे हैं। आगे सिलसिला बन जायगा। तो जैसे जिसको धन जोड़नेमें प्रेम है वह अनेक कार्य करता है, किसी कार्यमें सफल होता है किसीमें सफल नहीं होता है। सफल न होते हुए भी उन्हीं उपायोंमें आस्था रखता है—होगा तो इस ढंगसे होगा। शास्त्रका अध्ययन, मनन, ज्ञान, चर्चा, शुद्ध आचरण, अभक्ष्यका त्याग, गुणीजनोंको देखकर प्रमोद, अपना अहंकार मिटानेके लिए गुणी जनोंकी भक्ति आदिक जो जो भी इसको आरम्भ आत्महितके लिए जचते हैं और आम्नाय परिपाटीमें जो चला आया है, सभी प्रकारके आरम्भसे वह अपने आपको पुरुषार्थी बनाता है। तो तू पौरुष कर और रत्नत्रयको धारण कर। शक्ति माफिक कर। जब यह कहा जाता कि शक्ति माफिक कर तो मनुष्यकी दुर्बलता देखिये—उसका अर्थ लोग यह लगाते हैं कि शक्तिसे अधिक न कर, शक्तिसे कम कर। और शक्तिमाफिक कर, इस का अर्थ क्या यह नहीं होता कि शक्तिको न छिपाकर बराबर साहसके साथ कर? दोनों अर्थ हैं। मगर जिनको प्रमाद है उनको यह अर्थ सुहाता कि शक्तिसे अधिक न करना, थोड़ा करना, और जिनको उसकी धुन है उन्हें यह अर्थ सुहायेगा कि शक्ति न छिपाकर करना, अपनी पूर्ण शक्तिके साथ कर।

(२१७) **संसारसंकटोंसे छूटनेका भाव होनेपर सन्मार्गकी सुलभता**—जिनको वास्तविक मायनेमें मुमुक्षा बनी है, इस संसारके संकटोंसे छूटनेका भाव बन गया है उनको अधिक समझानेकी आवश्यकता नहीं होती है। उनमें स्वयं प्रतिभा है और वे सब पौरुष करेंगे, थोड़ा मार्गदर्शन भर चाहिये। और जिनको इस संसारसे ऊब नहीं आयी है, इन संकटोंसे हटनेका मनमें भाव ही नहीं जगा है, बस इस समुदायमें मेरा नाम हो, इनमें मैं बड़ा कहलाऊँ, इनमें मैं खास कहलाऊँ, इनमें मेरी बात बने···। और, तब ही तो जरा जरा सी प्रतिकूल बात सुनकर बुरा लगना यह किसका द्योतक है? यह मिथ्यात्वका, मोहका द्योतक है। शरीरमें इतनी तीव्र ममता है कि रंच भी प्रतिकूल बात सुनना नहीं चाहते। कोई अगर प्रतिकूल बात बोलता है तो वह किसको बोल रहा है? प्रथम बात तो यह है कि वह किसी को नहीं बोल रहा। वह अपनेमें कोई लक्ष्य बनाये है और अपनी कषायके अनुसार अपने भाव उगल रहा है। और, साथ ही सोचना कि किसको बोल रहा है? तो आप ही बताओ—वह गाली देने वाला, वह प्रतिकूल बोलने वाला क्या मुझ ज्ञानमात्र अमूर्त आत्माको बोल रहा है? क्या उसकी दृष्टिमें यह बसा है कि यह जो अमूर्त ज्ञानमात्र परमज्योति तत्त्व है इसको सुनाऊँ कुछ? इस तरहका लक्ष्य रखने वाला तो सुनायगा ही नहीं। वह तो इस मूर्त शरीरपर दृष्टि दिए हुए है उसीको लक्ष्यमें लेकर सुना रहा है। वह तो यों कर रहा है। तो जो शरीरको माने कि मैं यह हूं वही तो बुरा मानेगा। और जो शरीरको समझ चुका कि यह पौद्गलिक है, पिण्ड है,

भिन्न है, असार है, कुछ नहीं है, जला देंगे, मैं इससे निराला ज्ञानमात्र अमूर्त हूं, वह कैसे बुरा मानेगा ? तो जो भीतर यह समायी नहीं होती कि कोई जरा बिरुद्ध बोल जाय, थोड़ा ही प्रतिकूल बोल जाय तो उसमें बन गया द्वेष, बन गया मोह । सो यह तो संसारतत्त्व है, मोक्ष-तत्त्व नहीं ।

(२१८) **आत्मव्यवहारसे मोहलपटोंके क्लेशका शमन**—इस मोहकी बड़ी लपटें हैं । मोहकी कोई लपट धर्मका रूपक बनाकर फैलती है, कोई लपट बुद्धूपन प्रकट करके फैलती है, पर लपटमें ज्वाला सबके है चाहे किसी ढंगसे लपट फैले ? तो प्रथम सो यह विचार करें कि मैं इस जगतमें केवल अकेला एक पदार्थ हूं, मेरा दुनियामें कोई साथी नहीं, एक यह निर्णय बनायें और फिर इस नाते ही अपना व्यवहार बनायें और अपना सब कुछ बनावें तो इसमें सफलता मिलेगी और एक अपने इस आत्मतत्त्वका नाता तोड़ा और रागद्वेष पक्षपात, पार्टी, मजार्टी अमुक तमुक इस तरहका अपनेमें मोह बनायें तो बस यह जीवन खोया । आत्मकल्याण का अवसर पाया था उसे बिल्कुल खो दिया। सो हे विवेकी आत्मन् ! प्रमाद न कर, अपने आपका जैसे उद्धार हो, कल्याण हो, जैसे संसारके संकट मिटें उस प्रकारका अपनेमें अपना व्यवहार करें उसे बोलते हैं आत्मव्यवहार ।

(२१९) **श्रद्धान ज्ञान चारित्रसे आत्मोद्धारके पौरुषीका उदात्त वात्सल्य**—जिनेन्द्र भगवानके उपदेशे गए तत्त्वमें श्रद्धान करना यह सम्यग्दर्शन है । देखिये मिलान–अनुभव होने पर जो शास्त्रोंमें लिखा वह मैंने अपनेमें पाया । जो मैने अपनेमें पाया देखो वही शास्त्रोंमें लिखा । दोनोंका परस्पर समन्वय है और उसीमें ही यह संतोष पायगा । आत्मामें सहज होने वाली बात ही तो शास्त्रोंमें लिखी गई । पदार्थोंमें अनादि अनन्त धाराप्रवाह जो-जो कुछ बात स्वरूप है वही तो शास्त्रोंमें लिखी गई । वही प्रभुने बताया । तो जो अनुभवमें आया वही शास्त्रोंमें मिला । जो शास्त्रोंमें देखा वही मैने अनुभवमें पाया । दोनो ओरसे उसको अपना निर्णय बन जायगा । सम्यग्ज्ञान वास्तविक तत्त्वका बताने वाला सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्-चारित्र—पापसे बचाने वाला सम्यक्चारित्र । ऐसे रत्नत्रयका धारण कर । सम्यग्दर्शनके जो ८ अंग हैं वे अंग तब निभेंगे जब आपकी उदारता और सार्वभौमता प्रकट होगी । साधर्मी जनोंसे वात्सल्य करना । अब यदि उन साधर्मीजनोंमें यह छांट करने लगें कि ये हमारी जैसी बात बोलते कि नहीं, नहीं तो साधर्मी नहीं, इन्होंने ऐसा ज्ञान किया कि नहीं, ये तो साधर्मी नहीं । ये ऐसी ऐसी बात बोलते कि नहीं, ये तो साधर्मी नहीं···इस प्रकारसे अगर साधर्मी की छांट करेंगे तो उनसे वात्सल्य अंग न पलेगा । जैसे घरमें रहने वाले पुरुष मंद बुद्धि वाले पुत्रका भी निभाव करते, अच्छी बुद्धि वाले पुत्रका भी निभाव करते, वहां पुत्रपनेकी दृष्टि रहती

है ऐसे ही कोई अधिक ज्ञान रखता है तो वह भी वात्सल्यका पात्र है और कोई कम ज्ञान रखता है तो वह भी वात्सल्यका पात्र है। उनमें परीक्षाकी ही धुन रखना यह वात्सल्यकी प्रेरणा नहीं है। यह कषायकी प्रेरणा है और वैसा अनुभव पायेंगे।

(२२०) **धर्मप्रेमीका अल्पज्ञानी बहुज्ञानी सभी साधर्मियोंके प्रति वात्सल्य**—चाहे मरो चाहे जियो इस प्रकारकी उपेक्षा सौतके तो हो जायगी पर जिसके पेटसे वह बच्चा पैदा हुआ उससे उपेक्षा न बनेगी। उन दोनोके विचारोंमें बड़ा अन्तर हो जायगा। एक ऐसा कथानक है कि एक पुरुषके दो स्त्रियाँ थीं, पहली और दूसरी। दूसरी स्त्रीके एक लड़का था और पहली स्त्री उससे बहुत जला करती थी। कुछ दिन बीते उस पहली स्त्रीने उस लड़के पर अपना कुछ अधिकार सा जमाया। उसपर दोनो स्त्रियोमें विवाद बढ़ गया। वह विवाद इतना बढ़ गया कि उसका केस राजाके पास गया। पहली स्त्री कहे कि यह लड़का मेरा है, युक्ति भी दी कि जो पतिका धन होता है वह सब धन स्त्रीका भी होता है। उधर दूसरी स्त्री कहे कि यह लड़का मेरा है। अब राजाकी समझमें न आया कि इसका क्या न्याय करना चाहिये। आखिर एक युक्ति सूझी और कहा—अच्छा जावो कलके दिन इसका न्याय होगा। इधर राजाने जल्लादोंको समझा दिया कि देखो कलके दिन इन दोनो स्त्रियोंका न्याय होना है। तुम लोग तलवार लिए पासमें खड़े रहना, हम कहेंगे कि इस बालकके बराबर-बराबर दो टुकड़े करके एक एक टुकड़ा दोनो स्त्रियोंको दे दो, ऐसा हम कहेंगे पर तुम तलवारसे उसके टुकड़े करना नहीं। केवल दोनो स्त्रियोंको परीक्षा लेनेके लिए हम वैसा उपाय करेंगे। जल्लाद लोग सब बात समझ गए। दूसरे दिन जब राजाके सामने न्याय सुननेके लिए दोनो स्त्रियाँ पहुची तो वहाँ राजाने न्याय दिया कि यह लड़का तुम दोनों स्त्रियोंका है। इसपर तुम दोनों का बराबर बराबरका अधिकार है इस लड़केके बराबर बराबर दो टुकड़े किए जायेंगे और एक एक टुकड़ा तुम दोनोंको दे दिया जायगा, यही इसका न्याय है। इतना कहकर जल्लादों को आदेश दिया कि ऐ जल्लादो तुम इस बालकके बराबर बराबर दो टुकड़े करके एक एक टुकड़ा इन दोनो स्त्रियोंको दे दो। अब राजाका इस प्रकारका न्यीय सुनकर पहली स्त्री तो बड़ी खुश हुई, क्योंकि वह तो ऐसा चाहती ही थी कि यह लड़का न होता तो अच्छा था। उधर दूसरी स्त्री राजाका न्याय सुनकर बड़ी दुःखी हुई और बोली—राजन इस बालकके दो टूक मत करो। यह बालक मेरा नहीं है। इसीका है। देखिये—उसके मनमें यह आया कि यह बालक यदि मर गया तो मुझे देखनेको भी न मिलेगा और यदि जीवित रहा तो चाहे कहीं रहे पर मैं इसे देख देख कर ही खुश रहूंगी। आखिर राजाने समझ लिया कि वास्तवमें यह लड़का इस दूसरी स्त्रीका है सो वैसा ही फैसला कर दिया। तो यहाँ वात्सल्य अंगकी

बात चल रही थी कि धर्मात्माजनोंके प्रति उपेक्षाका भाव न होना चाहिए बल्कि एक धर्मात्मा को दूसरे धर्मात्माके प्रति वात्सल्यभाव होना चाहिए। वहाँ छाँट करना, परीक्षा करना यह आचार्योंने नहीं बताया। जो प्रवाह मूल आम्नायका अभी तक चला आया वही चलता रहेगा तो स्वयं एक निरापद रहेंगे और आत्मानुभवके लिए उसके अपने आपमें जागृतियाँ होंगी।

पापं बर्धयते, चिनोति कुमतिं, कीर्त्यंगनां नश्यति,
धर्मं ध्वंसयते, तनोति विपदं, संपत्तिमुन्मर्दति।
नीतिं हंति विनीतिमत्र कुरुते कोपं धुनीते शमं,
किं वा दुर्जनसंगतिर्न कुरुते लोकद्वयध्वंसिनी ॥४२६॥

(२२१) **दुष्टसंगसे पाप और कुमतिकी वृद्धि**— यहाँ दुर्जननिरूपणका परिच्छेद चल रहा है। इस छंदमें बतला रहे हैं कि तीनों लोकोंका बिगाड़ करने वाली दुर्जन संगति न जाने क्या क्या अनर्थ नहीं करती। दुर्जन कहते किसे हैं ? जिनको बिषयोंकी रुचि है, जिनको पापोंसे विरक्ति नहीं है, जिन्होंने अपने सांसारिक सुखोंमें ही आग्रह कर रखा है, जो किसी भी पापके करनेमें हिचकते नहीं हैं, जिनके चित्तमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें भरी हुई हैं। ऐसे पुरुष और उनके बारेमें अधिक क्या कहना, सब जान लेते हैं कि ये दुष्ट प्रकृतिके हैं। तो जो दुर्जन हैं उनकी संगति इस जीवका बड़ा अनर्थ करती है। पहला अनर्थ यह है कि वह पापको बढ़ाता है, क्योंकि पापियोंके संगसे वैसी ही बुद्धि बनेगी। स्वयंमें भी पापका ही भाव बनेगा। संगकी बड़ी महिमा है, सत्संगकी महिमा प्रधानतया अन्य लोगोंने गाई है। किन्हीं साधुवोंके आनेपर वे कहते हैं कि चलो सत्संग करें। कहीं प्रवचन आदिक होनेपर लोग कहते हैं कि सत्संगमें जा रहे हैं। सत्संगकी बड़ी महिमा है। इस जीवको कुपथसे बचाकर सन्मार्गमें ले जानेके लिए प्रथम सहारा सत्संगका होता है। जिन जिनका उद्धार हुआ है वे जानते हैं कि मुझे जीवनमें संत समागम जो मिला उससे हमारी दृष्टि सन्मार्गकी ओर बढ़ी है। जो संसार, शरीर भोगोंसे विरक्त हैं और सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना रखते हैं, जो अपना कोई स्वार्थ नहीं चाहते उनका संग सत्संग कहलाता है। सबसे बड़ा भारी स्वार्थ है यश कीर्तिकी चाह, नामवरीकी चाह। यह जीव वह सब कुछ कर डालता है जिसमें दूसरे जीवोंको चाहे कुछ भी कष्ट उठाना पड़े। कल बताया था कि इन पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें सबसे खोटा, अनर्थकारी, अनुपयोगी विषय है स्पर्शइन्द्रियका, पर जरा मनके विषयकी ओर भी दृष्टि दें तो यह बहुत बड़ा व्यभिचार है जो यश कीर्तिकी ओर आग्रह बन गया है। सर्वप्रथम इसपर विजय होना चाहिए। जिसको आत्मकल्याणकी इच्छा हो वह पहले यह साधना बनाये

स्वरूपाभ्यासके बलसे कि मुझे इस हड्डी चमड़ी वाले शरीरकी मूर्तिकी इज्जत दुनियामें कायम करनेका आग्रह न रहे। तो जो विषयोंसे विरक्त हैं, संसार, शरीरसे विरक्त हैं, जो किसी भी पापकर्ममें नहीं पड़ना चाहते हैं ऐसे पुरुष सज्जन हैं, और जो कषायोंमें लिप्त हैं, नामवरीका आग्रह है, भले ही कुछ पुरुष देखनेमें या प्रवृत्तिमें बहुत ठीक जंचते हैं, पर जो जितना विशेष कपट रखता हो, सबसे बड़ा कपटी पुरुष वह है कि लोग उसका कपट पहिचान न सकें। तो दुर्जनोंमें सबसे पहला नम्बर है छल कपट करने वाले पुरुषका। तो ऐसी संगति इस जीवसे क्या क्या नहीं करवा डालती। दुर्जनका स्वरूप स्वयं आचार्यदेव आगेके छंदोंमें बतायेंगे, पर सामान्यतया सभी जानते हैं कि दुष्टकी संगति इस जीवके लिए अनर्थकारी है, पापवर्द्धक है, कुमतिवर्द्धक है।

(२२२) **कुसंगसे बिगाड़का एक उदाहरण**—चारुदत्त जो विवाहित हो जानेपर भी कामबाधावोंसे भी अपरिचित था। उसका प्रयत्न कुटुम्बी जनोंने किया, तो क्या किया कि उसके चाचा उनको एक बार वेश्यावोंकी गलीमें ले गए और पहलेसे ही यह प्रबन्ध करवा लिया कि गलीके सामनेसे एक हाथी आया, और यह भय दिखाकर डरके कि ये दोनों (चाचा और चारुदत्त) एक वेश्याके घरमें घुस गए, जब वेश्याके घरमें चारुदत्त और उसका चाचा रुद्रदत्त पहुंचे तो सब बात पहलेसे कही हुई थी। वहाँ चौपड़ खेलना शुरू किया जिसमें हार जीतकी दृष्टि होती। वहाँ चारुदत्त और उस वेश्याकी लड़की ये दोनों खेलने लगे और उस समय बस वह चारुदत्त रागमें बह गया और इतना बह गया कि घरकी उपेक्षा कर दी। घर का बहुतसा द्रव्य उस वेश्याके नाम खर्च कर डाला। बहुत बुरी स्थिति हो गई चारुदत्तकी और जब उसके पास कुछ न रहा तो उस वेश्याने उसे अपने यहाँ आनेको मना कर दिया, इतनेपर भी चारुदत्त न माना तो उस वेश्याने चारुदत्तको एक संडासमें पटक दिया। उस संडासमें चारुदत्तको सूकर चाट रहे थे फिर भी चारुदत्त यही समझ रहा था कि मेरी प्रेमिका मेरेको चाट रही है। तो बताओ संगतिका असर क्यासे क्या नहीं करवा देता। ऐसी दुर्जन की संगति त्याज्य है जो पापमें ढकेले और कुबुद्धि बढ़ाये। दुर्जन संगतिसे कीर्ति भी नष्ट हो जाती है। इसका प्रभाव अहितकर है। जब बच्चेकी उम्र कुछ बड़ी होती है, बच्चा किशोर अवस्थामें आता है तब उसके माता-पिताको इस ओर ध्यान देना आवश्यक है कि हमारा बेटा कहीं कुसंगमें तो नहीं पड़ गया। नहीं तो उस अवस्थामें कहो शराबी बन जाय, जुवा खेलने वाला बन जाय, घरको लूटने वाला बन जाय। जैसी चाहे स्वच्छंद वृत्ति हो जाती है। यदि धर्मके कुछ अंकुर जमाया हो पहलेसे जैसे कि मन्दिर आना, दर्शन करना, त्यागियोंके निकट बैठाना, उनकी वैयावृत्ति कराना, शास्त्र सुनाना, कुछ यम नियम दिलाना आदि तो

इन धार्मिक प्रसंगोंमें आनेका फल बड़ा होता है। नहीं तो कुसंग मिलनेपर वह बच्चा बरबाद हो जाता है। सो ऐसे कई दृष्टान्त मिलेंगे।

(२२३) **दुष्टसंगसे कीर्तिका विनाश धर्मका ध्वंस व विपत्तिका प्रसार**—यह दुर्जन संगति कीर्तिको नष्ट कर देती है। वहाँ लोग कहने लगते कि काहेका बड़ा कुल, इसने तो बाप दादाका भी नाम डुबो दिया। खुदका भी अनर्थ और दूसरेका भी अनर्थ। तो यह दुर्जन संगति तीनों लोकोंका ध्वंस करने वाली है। दुष्टसंगतिसे धर्मका विध्वंस होता है, विपत्तिका विस्तार होता है। बड़ा पुरुष वह है जो विपत्तिसे बचाये और सबको समान दृष्टिसे देखे, सबको सुखी होनेकी भावना रखे। जो दूसरेको विपत्तिका निमित्त बने और दूसरेको विपत्ति में देखकर खुश रहे, ऐसा यदि कोई करता है तो समझो कि वह बड़ा ही अनर्थकारी है। आर्षपरम्परामें सबके लायक सबको समय-समयपर उपदेश किया गया है। एक चाण्डालको यही नियम दिलाया, जब पूछा कि तुझे किसका मांस पसंद है? तो उसने कहा—कौवेका। ....अच्छा तू कौवेका ही मांस छोड़ दे। घटना देखिये—किस किस प्रसंगमें किसको कहाँसे प्रारम्भ किया और उद्धारका कहाँसे साधन बना। जो चाण्डाल जैसा है उसके लिए ऐसे मूल गुणोंकी व्यवस्था की कि भाई मद्य, मांस, मधु और पंच उदम्बर फल छोड़ दे, तू श्रावक है। अच्छे कुलमें जन्म लेने वालेके लिए यह मूल गुण बताया कि मद्य, मांस, मधुका त्याग, उदम्बर फलोंका त्याग, देवदर्शन, जीवदया, जल छानकर पीना, रात्रिभोजन त्याग। तो सबपर सहानुभूति हो, सबके योग्य जिस प्रकारसे इसका उत्थान हो उस प्रकारका उनको सहयोग करें ऐसे महापुरुष उदात्त और समझिये कि सबके माता-पिताके रूपमें होते हैं। जैसे माँ अपने सब बच्चोंपर एक पुत्रवत स्नेह रखती है ऐसे ही ज्ञानी धर्मप्रेमी पुरुष नामका भी जैन, स्थापनाका जैन, द्रव्य जैन, भाव जैन, अल्पज्ञानी हो, बहुज्ञानी हो, न जानता हो पर एक मैं जीव हूं हित चाहता हूं इतनी भर श्रद्धा रखता हो, सबपर उसका साधर्मिता सम्बंधित वात्सल्य होता है। सबपर उसका प्रेम होता है, पर यह मेरा है, यह पराया है, यह गणना लघु चित्त वालोंके होती है और अपने परायेका भी निर्णय क्या? अपनी कषायसे जिसकी कषाय मिल गई उसे कहा जाता है अपना और जिसकी कषायसे दूसरेकी कषाय नहीं मिलती उसे कहा जाता है पराया। ये सब जहाँ दोष पाये जाते हैं, जिनके निन्दाकी आदत बनी रहती है समझिये वह संगति भली नहीं होती।

(२२४) **संगति व मननकी सावधानी**—भैया, एक मोटी पहिचानमें तो जहाँ अपने को कुछ प्रेरणा मिलती है—वैराग्य मिले, शान्ति मिले, सन्मार्ग मिले वह संगति तो श्रेष्ठ है और जहाँ पापकी ओर बुद्धि जाय वह संगति श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि इस जीवका अनर्थ करने वाला स्वयंका विकार है। उसकी पुष्टि यदि होती है तो वह हमारे लिए बड़ी कठिन समस्या

है और हमें उस समय विवेक करना चाहिये कि मेरे द्वारा किसी जीवका बिगाड़ न हो, मेरे द्वारा मेरा बिगाड़ न हो, इस बातकी ओर बहुत सावधानी रखनेकी जरूरत है। अन्यथा संसारमें पुण्यके बलपर कोई किसी प्रकार बड़ा बन गया तो उस बड़ा बननेका कोई महत्त्व नहीं, राजा भी मरकर कीड़ा बन जाता है। कीड़ा भी मरकर राजा बन जाता है। जहाँ इतना विचित्र परिवर्तन होता है वहाँ सांसारिक बड़प्पनका क्या महत्त्व है ? सो स्वरूपदृष्टि के बलसे इस बातका अभ्यास जरूर होना चाहिए धार्मिक प्रसंगोंमें, सामायिकमें, आत्मकल्याण के कार्योंके प्रसंगमें कि मुझे इस संसारमें यश, कीर्ति, नामवरी ये लाभदायक नहीं हैं, इनमें मुझे चित्त नहीं फँसाना है। यह अभ्यास होना चाहिए, यह आत्मदयाके लिए बहुत आवश्यक है, क्योंकि जितना बाह्य विकल्पोंसे हटा हुआ रहेगा उतना ही इसे अवसर है कि वह सहज आत्मस्वरूपकी अनुभूति पा ले। इस शरीरको निरख करके अहंकार होना—मैं कितना ज्ञान वाला हूं, कैसा रूप वाला हूं, कैसा प्रतिष्ठा वाला हूं, कैसा चला ऐश्वर्य वाला हूं, जितना जो कुछ अहंकार होना है वह सब शरीरको अपनानेसे होता है। फोटो, नाम, ये सब शरीरमें आत्मबुद्धि वाले ही तो किया करते हैं नहीं तो क्या आग्रह ? तो अपने आपमें यह साधना बनाये बिना हम आत्मानुभवके पात्र नहीं हो सकते। पड़े रहेंगे मायामें और चाहें कि मुझे उस सहज ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति जगे तो यह बात नहीं बन सकती। तो सन्मार्गपर चलनेके लिए आवश्यकता है हमें सत्संगकी और दुर्जन संगतिसे हटनेकी।

(२२५) **दुष्टसंगतिसे संपत्तिका विनाश एवं नाना विकृतियां**—दुष्ट संगतिके कारण सम्पत्तिका भी विनाश हो जाता है। बहुतसे लोग जिनके पास इतना धन है कि बिना कमाये ही यदि खर्च चलाना चाहें तो दो-चार पीढ़ी चले, मगर जो एक जो सालमें ही साराका सारा धन खर्च हो जाता है उसका कारण आजीविका सम्बंध नहीं है, त्याग नहीं है, दान नहीं है, उसका कारण है दुर्जनसंगति। दुष्टसंगति होनेपर, कुसंग मिलनेपर बरबादी होती है। खायें पियें, दूसरोंके उपयोगमें लगायें, इसमें कभी बरबादी नहीं होती। आपको ऐसी घटनायें अनेक मिलेंगी। तो दुष्ट संगतिसे सम्पत्तिका उन्मर्दन हो जाता है। दुष्टसंगतिसे फिर न्याय नीति कुछ नहीं रहती, विनय भी नहीं रहता। और दुष्टसंगति होनेपर ऐसी विचारधारा वह निकलती है कि वह फिर किसीका भी सन्मान न कर पायगा और साधुजन, गुणीजन इनसे तो द्वेष ही रखेगा। तो यह दुष्ट संगति क्या क्या इस जीवको अनर्थ नहीं करती। यह बताकर आचार्यदेव इहलोक और परलोकको बिगाड़ने वाली दुर्जनसंगतिसे बच्चेका आदेश देते हैं। चित्तमें क्रोध भरा रहता है। यह दुष्टसंगतिका ही असर है। जो क्षमाशील हैं, मानरहित हैं, जैनशासनके अनुसार अपने आचरणमें कदम बढ़ाये हुए हैं उन पुरुषोंकी संगतिमें कोई रहे तो

उसे क्रोधका क्या अवसर आयगा ? क्रोधका अवसर दुष्टसंगति होनेसे होता है और शान्तिका विध्वंस हो जाता है। अशान्त चित्त हो जाता है। आत्महितके लिए जिसे आत्महित चाहिए वह सही ज्ञानप्रकाश उस थोड़ेमें भी पा लेता। कोई विरुद्ध दशामें चलता है और बहुत कुछ जाननेमें सूक्ष्मता भी करे तो भी उसे आत्महित न मिलेगा।

(२२६) **सही श्रद्धाके बिना कल्याणमार्गमें आनेकी असंभवता**—सत्य श्रद्धा बिना जीव कल्याणके मार्गमें लग ही नहीं सकता, और सत्य श्रद्धा क्या ? अपने आपका जो सहज आत्मस्वरूप है अपने आपके ही सत्त्वके कारण अपने आपमें जो स्वरूप है उस रूपमें अपने आपको मान लेना कि मैं वास्तवमें यह हूं और ऐसी ही धुन बनाये रहना, दृष्टि बनाये रहना, जिसके प्रतापसे कभी यह स्थिति बने कि ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, इसका पौरुष करना चाहिए और यह होता है शान्तिमें, कषायोंके शमनमें। अपने आपको निष्पक्ष बनाये रहनेमें। आत्माके नाते ही अपने आपका व्यवहार बनायें। हम अपने आपको ही गिराते हैं, और हम अपने आपको ही उठा सकते हैं, हम अपने आपको ही नरकादिकमें ले जाते हैं तो हम अपने आपको ही संसार संकटोंसे छुटा सकते हैं। इसके लिए चाहिए सत्य का आग्रह और असत्यका असहयोग। ये विकार, ये बाह्य संग पदार्थ ये सब मेरे स्वरूपास्तित्वमें नहीं हैं, इनका सहयोग न चाहिए। मेरे स्वरूपास्तित्वमें मेरा चित्प्रतिभास चैतन्यस्वरूप है उसरूप आग्रह करिये। मैं सही हूं और इस भावनाकी सिद्धिके लिए जिन्होंने ऐसे स्वरूप को प्रकट किया है उन अरहंत सिद्ध प्रभुकी भावना कीजिये, भक्ति कीजिये और ऐसा होनेके लिए जो प्रयत्नशील हैं ऐसे आचार्य, उपाध्याय, मुनि इनकी भक्ति कीजिए। पंच परमेष्ठी ही तो एक आदर्श हैं, आराध्य हैं, पूज्य हैं। तो जब इस अपने सहज आत्मस्वरूपमें हम न रह सके तो जिनके विकास हुआ है उनकी आराधना जो इस पंथमें चल रहे हैं, मोक्षमार्गमें प्रयत्नशील हैं, साधक हैं उन साधु जनोंकी भक्ति, यह तो व्यवहारमें करने योग्य बात है और परमार्थमें शुद्ध सहज आत्मस्वरूपकी आराधना यह करने योग्य बात है। जब स्वरूपकी बात कहा तब ऐसा ध्यान धरना चाहिए कि बस मेरे ही सत्त्वके कारण जो मेरेमें अभिन्न अनादि अनंत तत्त्व है उसकी बात कही जा रही है। तब ही आप यह समझ जायेंगे कि आज मुझमें विकार है, पर मेरे स्वरूपमें विकार नहीं। उस स्वरूपकी आराधना करनी है, उस ही को शुभ द्रव्य के रूपसे आदेय बताया जाता है। तो ये सब दृष्टियां हमारी बनें, उसके लिए हमारा व्यवहार ऐसा चाहिए कि दुर्जनोंके संगमें हमारा समय न व्यतीत हो और जो निश्छल पुरुष हों जिनकी आशा इन संसार, शरीर, भोगोंसे छूटनेकी हो उनकी संगतिमें हमारा अधिकाधिक समय व्यतीत हो।

न व्याघ्रः क्षुधयातुरोऽपि, कुपितो नाशीविषः पन्नगो,
नारातिर्बलसत्त्वबुद्धिकलितो मत्तः करीन्द्रो न च ।
तं शक्नोति न कर्तुमत्र नृपतिः कंठीरवो
दोषं दुर्जनसंगतिर्वितनुते यं देहिनां निंदिता ॥४२७॥

(२२७) **समस्त घातक संगोंसे भी कुसंगकी सर्वाधिक घातकता**—इस जीवका अहित यह दुष्टसंगति करती है । हमारा अहित करने वाला संसारमें कोई पदार्थ नहीं । यदि कोई भूखसे पीड़ित व्याघ्र है तो वह अधिकसे अधिक क्या करेगा ? एक भवका मरण कर देगा । पर यह दुष्टजनोंका संग ऐसा भयंकर है कि इसके फलमें भव-भवमें जन्म मरण करना पड़ता है । यदि कोई सर्प क्रुद्ध हो गया तो वह उतना अधिक अहित न करेगा जितना कि दुर्जनकी संगति करती है । कोई बड़ा पराक्रमी बलशाली शत्रु हो तो वह उतना भयंकर नहीं है जितना कि दुष्टजनोंका संग भयंकर है । मदोन्मत्त हाथी क्रुद्ध हो, राजा या बड़े-बड़े बलवान सिंहादिक जंतु क्रुद्ध हों तो ये अधिकसे अधिक एक भवमें ही दुःख दे सकेंगे, पर दुष्टोंका संग पापको बढ़ाने वाला होनेसे अनेक भवोंमें दुःख उत्पन्न करता है । इसलिए जीवनमें दुष्टसंगसे बचना और सत्संगमें अपने आपको लगाना यह बहुत ध्यान देनेकी बात है, और ऐसे ही अपनी सन्तानके प्रति भी ध्यान रखना कि वे कुसंगमें न पड़ें । ज्ञानी ध्यानी विरक्त साधु संत, उनकी ही संगति करते रहें । धर्म ध्यानमें कुछ चित्त लगता रहे, व्यसनोंका त्याग करा दें, अभक्ष्यका त्याग करा दें तो उस नियमके पालनेमें उसका उपयोग लगेगा, खोटी संगतिकी ओर चित्त न जायगा, ऐसे ही अपनेको और अपने परिजनोंको भी धर्मके मार्गमें लगानेकी बात सोचना चाहिये और करना चाहिये ।

व्याध व्यालभुजंगसंगभयकृत्कक्षं वरं सेवितं
कल्पांतोद्गतभीमवीचिनिचितो वार्द्धिर्वरं गाहितः ।
विश्वालोषकरोज्ज्वलशिखो वह्निर्वरं
चाश्रितस्त्रैलोक्योदरवर्तिदोषजनके नासाधुमध्ये स्थितं ॥४२८॥

(२२८) **कुसंगमें सर्वाधिक बुराई**—शिकारी हो, सर्प हो ऐसे ये अनेक भयानक प्राणनाशक जन्तुवोंसे भरे हुए वनमें निवास करना तो भला है, पर दुष्टोंके संगमें निवास करना भला नहीं है, क्योंकि यहाँ भाव बिगड़ते हैं, पाप वृद्धि होती है और जन्म जन्मके लिए अपनी खराबी बनती है । प्रलयकालके समय उठे हुए भयानक तरंगोंसे तरंगित समुद्रकी धारा में डूब जाना भला है, पर दुष्टसंग भला नहीं । अभी इस छन्दमें आगे दुष्टसंगतिकी व्याख्या की जायगी । उसी प्रसंगमें बतला रहे हैं कि बड़ेसे बड़े उपद्रव, प्राणविनाश भी भला है पर

दुष्टसंग भला नहीं। सारे संसारको भस्म करनेमें समर्थ जाज्वल्यमान अग्निकी ज्वालामें में जलकर भस्म हो जाना भला है, परन्तु दुर्जनोंके सङ्गमें रहना भला नहीं, क्योंकि वहाँ दोष ही उत्पन्न होंगे अतएव भव भवमें बुरा होगा। सो दुष्टसंग इस जीवके लिए सबसे अहितकारी प्रसंग है।

वाक्यं जल्पति कोमलं सुखकरं कृत्यं करोत्यन्यथा
वक्रत्वं न जहाति जातु मनसा सर्पो यथा दुष्टधीः।
नो भूति सहते परस्य न गुणं जानाति कोपाकुलो
यस्तं लोकविनिंदितं खलजनं कः सत्तमः सेवते ॥४२९॥

(२२९) **दुर्जनका लक्षण प्यारे वचन, किन्तु चित्तमें कपट**—दुर्जनका लक्षण क्या है, इसका संकेत इस छन्दमें दिया गया है। यह दुष्ट पुरुष कोमल वचन बोलता है इस प्रकार कि सुन करके उसे सुख उत्पन्न हो। सो ऐसा बोलना बुरा नहीं है मगर बोलना तो इस प्रकारका है कि कोमल बोलें, सुखकारी बोलें, बड़े सम्मान वाले वचन बोलें, पर कर्म उससे विरुद्ध करें। बस उसको फसाना, बहकाना यह भावना रखकर कोमल और प्रिय वचन बोलते हैं दुर्जन पुरुष और वे इस प्रकार विरुद्ध चलते हैं, अपना कपट, टेढ़ापन, वक्र चलना नहीं छोड़ते, सदा टेढ़ा ही चलते हैं। जिस प्रकार कि सर्प कभी सीधा नहीं चलता इसी प्रकार दुर्जन भी अपने मनसे टेढ़ा ही टेढ़ा चलते हैं। तो वे कपटको कभी नहीं छोड़ पाते। पहिचान करना भी बड़ा कठिन है। क्योंकि जो कपट जालमें बढ़े चले हैं, जिनको जितना ऊँचा कपट करनेकी आदत है उनका ऐसा सुन्दर व्यवहार बनता है कि लोग पहिचान नहीं सकते और उल्टे ये बड़े साधु हैं, सन्त हैं, बहुत ही उच्च पुरुष हैं इस प्रकारकी भावना उसके प्रति बन जाती है, बस यह ही दुर्जनका लक्षण है। मनमें और, वचनमें और, करे कुछ और। दुर्जन पुरुषके लक्षण बताये जा रहे हैं।

(२३०) **दुर्जनका लक्षण ईर्ष्या करना व गुणी व उपकारीका अपमान व विघात**—जो दूसरेकी बढ़तीको देखकर मन ही मन जल भुनकर खाक हो जाते हैं, सह नहीं सकते, ईर्ष्या वाले पुरुष हैं वे दुष्ट पुरुष हैं। उनकी संगति करनेपर कभी वह उसपर भी ईर्ष्या करे, आक्रमण करे अथवा जिसका चित्त कलुषित है उस पुरुषके साथ रहनेपर सदैव धोखा ही धोखा रहता है। कदाचित् वह पुरुष कारणवश क्रुद्ध हो जाय तो वह गुणियोंके गुणोंको तनिक भी नहीं गिनता, क्रोधवश नहीं गिनता, कपटवश नहीं गिनता, मानवश नहीं गिनता। अपने आपमें कीर्तिकी इच्छाके कारण गुणियोंके गुण नहीं गिनता। जिसकी दृष्टिमें गुणीजन न कुछ हैं ऐसा भाव बना रहता है वहाँ दुर्जनताका निवास है। दुष्ट पुरुष उपकारीके उप-

कारको भी तनिक भी नहीं मानता, तुच्छ हृदय है। स्वार्थकी गंध है। दूसरा कितनी ही तकलीफ पाये उस ओर उसकी दृष्टि नहीं। इतना मन स्वच्छंद हो जाता है कि वह उपकारी पुरुषके उपकारको भी भूल जाता, ऐसा उसका कषायसहित हृदय है तो ऐसे दुष्ट पुरुषका संग विवेकी पुरुष नहीं करते।

(२३१) **दुर्जनोंके प्रथम और द्वितीय लक्षणका पुनः परिचय**—इस छंदमें दुष्टोंके लक्षण में पहला लक्षण तो यह बतलाया कि जो बोल तो बहुत मीठे बोले, सुखकारी बोले मगर भीतरी भाव विरुद्ध हो। वह दूसरा मेरी चालमें फस जाय, यह मेरा सेवक सा बन जाय। यह मेरा ही गुणगान करने वाला, कार्य करने वाला, बन जाय ऐसे किन्हीं आशयोंसे वह मीठे वचन बोलता है। दूसरोंका सम्मान करने वाले वचन बोलता है, दुष्ट पुरुषोंका पहला प्रधान चिन्ह यह है, जिनकी संगतिके लिए कितना अभी वर्णन हुआ था कि दुष्ट संगसे भला तो अग्निमें जल जाना है, समुद्रमें डूब जाना है, पर दुष्ट संग भला नहीं है, क्योंकि उस प्रसंगसे संस्कार बढ़ता, कषायभाव बढ़ता, मोहभाव बढ़ता, जिससे जन्म-जन्ममें दुख भोगना होता है। दूसरा लक्षण है कि वह किसी भी समय कपटको नहीं त्याग सकता। अपने बारेमें कितनी ही कथनी गढ़ेगा, लोगोंको तैयार करेगा यहाँ वहाँ प्रशंसाके पुल बँधायगा, अनेक प्रकारकी अपनी करतूत करेगा एक अपने कपट द्वारा, जिससे कि अपने स्वार्थकी सिद्धि हो। स्वार्थ केवल धनसंचयमें ही नहीं है, नामवरीकी चाह रखना यह इतना बुरा स्वार्थ है कि जिसके पीछे अपने संग प्रसंगमें रहने वाले लोग धोखेमें आ जाते हैं और दुःखी होते हैं। तो दुनियामें अनेक प्रकार के जीव बस रहे हैं, रहें, पर अपने आपको सावधान रखना।

(२३२) **अपने प्रयोजनमें सावधानीका कर्तव्य**—भैया, आपको केवल दो ही तो चीजें चाहिए—एक आजीविका, दूसरा धर्म। आजीविकाके बिना गृहस्थका निभाव नहीं और धर्म बिना तो गृहस्थका निभाव होगा ही नहीं। आजीविका थोड़ी हो उसमें भी गुजारा हो जायगा, जैसा हो उसमें ही गुजारा किया जा सकता, पर धर्मके बिना तो आत्माका कभी गुजारा सही बन ही नहीं सकता, सदा अशान्ति रहेगी। सो दो बातें चाहिए, दोनो बातोंमें सावधान रहना चाहिए। धर्मके प्रसंगमें इतनी ही तो बात है कि अपनेको अपने स्वभावकी दृष्टि बने और यह आस्था बने कि मैं स्वभावमात्र हूं, चेतना मात्र हूं। जो मैं अपने आप अपने ही बलसे अपनी ही सत्तासे जैसा मेरा स्वरूप है बस उसकी आस्था बने कि मैं तो यह हूं, बाकी सब पर हैं। मेरे लिए बेकार हैं। वे अन्य पदार्थ हों अथवा विकार भाव हों, ये सब मेरे लिए बेकार हैं। इनमें लगाव न रखूंगा और मैं अपनेको एक चेतना मात्र अनुभवनेका प्रयास करूँगा, यह बात जिन जिन भवोंमें मिले, इसका अपात्र न बनूँ, इसके लिए शुभो-

पयोग भी करना पड़े तो करता है और उस कालमें वह उपादेय समझता है, वह कभी भगवानके सामने ऐसी स्तुति न करेगा कि हे प्रभो, तुम परद्रव्य हो, तुम्हारी श्रद्धा करनेसे संसार बढ़ता है····, बताओ यह भी कोई भक्ति है क्या ? यह तो गुणोंका इस ढंगसे स्मरण करेगा कि वह अपने आपका नाता उसमें जोड़ लेगा, स्वरूपसाम्य। तो गृहस्थजनोंमें तो शुभोपयोग की ही मुख्यता कही गई है आस्था और श्रद्धामें क्या बोलेंगे कि यहाँ हमारे लेप हूं, परिग्रहमें वसना है, कुटुम्बमें वसना है, व्यापारके समय कितने प्रसंग मिलते हैं, नीचसे नीच लोगोंसे वार्ता करनी होती है कितने ही दुष्ट जनोंका भी संग प्रसंग मिलता है तो इतना जहाँ लेप बना है वहाँ अगर शुभोपयोगको भी छोड़ दे तब तो यह क्या ? अशुभोपयोगका वतावरण हैं। शुभोपयोगको छोड़ दें, शुद्धोपयोग वहाँ अशक्य है, तब तो वह अपने आपको बस बरबाद ही कर रहा। सो दो ही तो कार्य हैं—आजीविका करें और अपनी पदवीमें धर्मका पालन करें और अपनी पदवीमें धर्मका पालन करें। ये दो वस्तु चाहिए, ऐसा जिनका निर्णय है वे कहीं धोखा न खायेंगे। चाहे कोई उतने तकका भी संग हो कि जिसका कपट हम पहिचान भी न पायें, लेकिन उसका लगाव अपने आपकी ओर होगा, दूसरेकी ओर न होगा।

(२३३) **दुष्ट पुरुषके अन्य लक्षण**—यहाँ दुष्टोंके लक्षणमें दूसरा लक्षण बताया है कि वे कपटको कभी छोड़ नहीं सकते। तीसरा लक्षण यह कहा है कि दूसरे पुरुष किसी कार्यमें प्रगति कर रहे हों लौकिक अलौकिक किसी भी कार्यमें तो उनके प्रति उसे ईर्ष्या जग जाती है। वह उसे सहन नहीं कर पाता। और भीतर मानो जलकर खाक हो जाता है। चौथा लक्षण बताया कि गुणीजनोके गुणोंको न देखकर केवल दोष ही निरखता है, दोष ही उगलता रहता है। मनुष्यकी यह सबसे बड़ी भारी कमी है, भला यह तो बतलावो कि दूसरेके दोषों को निरखते समय उसके उपयोगमें क्या बसा ? दोष बसा कि गुण ? दोष बसा है। तो स्वयं दोषमय हो गया तब तो उसकी दोष बोलनेकी आदत बन गई। सो गुणीजनोंके गुणोंको न निरखकर दोषोंको ही निरखता है, यह दुष्ट पुरुषका चौथा चिन्ह है। ५ वाँ चिन्ह यह है कि उसका किसीने तनसे, मनसे, धनसे ज्ञानसे भला सोचनेके सद्भावसे कितनाही उपकार किया हो, पर वह उपकारको नहीं गिनता और वह अपनी कषायोंका ही लगाव रखता है। वह अपने लिए कष्ट नहीं झेल सकता। चाहे उस प्रसंगमें उपकारी पुरुषके विरुद्ध भी चलना पड़े तो विरुद्ध भी चलता उपकारी पुरुषके उपकारको तनिक भी नहीं गिन सकता मायने कृतघ्न नहीं हो सकता यह दुष्ट पुरुषका ५ वाँ लक्षण है। तो ऐसे अन्य भी लक्षण समझना। ऐसे दोषयुक्त पुरुषोंका संग करना भला नहीं है। अब इनमें कितनी ही बातें तो अनुभवमें उतरती होंगी कि ऐसे पुरुषका संग करनेसे अपने भावोंमें क्या प्रभाव पड़ता

है और किस तरहसे हमारी बरबादी प्रारम्भ हो जाती है ।

नीचोच्चादिविवेक नाशकुशलो बाधाकरो देहिना—
माशाभोगनिरासनो मलिनताच्छन्ननात्मनो बल्लभः ।
सद्दृष्टिप्रसरावरो घनपटुर्मिथ्रप्रतापाहतः
कृत्याकृत्यविदा प्रदोषसदृशो वर्ज्यः सदा दुर्जनः ॥४३०॥

(२३४) दुष्ट जनोंकी प्रदोषकालवृत् अनर्थकारिता—जिस दुष्टके संगका निषेध किया गया है उस दुष्टको कुछ बातें बतायी जा रही हैं जिन लक्षणोंसे पहिचान बने और उसका संग छोड़ दिया जाय जाय । जैसे प्रदोष कालमें रात्रिके समय पश्चिम रात्रिमें वह समय कुछ ज्ञान नहीं होने देता कि वह जगह ऊँची है, यह नीची है, कहाँ क्या पड़ा है, क्योकि वह अंधकार का समय है । तो जैसे अंधकारका समय ज्ञान न होने देनेमें कारण है इसी प्रकार दुष्ट मनुष्यों का प्रसंग भी ऊँच नीचका विचार न करनेमें कारण होता है । क्या श्रेष्ठ है, क्या लघुता है, इसका विचार फिर दुष्ट संगतिमें नहीं रहता । देखिये—अच्छा कुलमें होना, अच्छा वातावरण होना अच्छा संग प्रसंग होना, यह बड़ी उत्तम चीज हुआ करती है । उसका बड़ा दुर्भाग्य है कि अच्छे कुलमें उत्पन्न होकर भी कोई ऐसी दुष्ट संगति रुच जाय जिससे व्यसनकी ओर, पाप की ओर, दूसरेको बाधा देनेकी ओर अथवा अपनी कीर्तिको जिस किसी भी प्रकार बढ़ानेका भाव बने । यह सब इस जीवके लिए विपदा है । जैसे प्रदोषकाल याने पश्चिम रात्रिका समय है, प्राणियोंको ठंड आदिककी बाधासे दुःख पहुंचाता है इसीतरह यह दुष्ट प्रसंग भी प्राणियोंको नाना तरहसे दुःख पहुचाता है । जैसे प्रदोष काल दिशावोंके विस्तारका ज्ञान नहीं होने देता, याने कुछ दिखता ही नहीं कि किस जगह क्या हैं, है इसी प्रकार यह दुष्ट प्रसंग भी सत्य अ-सत्य तत्त्वका परिचय नहीं होने देता । उसी समय तो चोर आदिक मलिन मनुष्य लोग अपना ऊधम बखेड़ा मचाते हैं और उनको यह पिछली रात्रि बड़ी प्रिय होती है । चोरो का समय पिछली रात ही हुआ करती है दो बजे तीन बजे, तो जैसे पिछली रात्रि चोरोंको प्रिय है इसी प्रकार यह दुष्ट प्रसंग, यह दुष्ट संग चोर जुवारी, परस्त्री लम्पटी आदिक पुरुषोंको प्रिय होती है । ५ प्रकारके पाप कहे गए, उनमें अपने आप पर कुछ बात घटाते रहना चाहिए । मेरे द्वारा दूसरे जीवोंको कष्ट होता क्या ? यदि मैं दूसरेको व्यर्थ ही कष्टका कारण बना जा रहा हूं तो वह मेरी चर्या धिक्कारके योग्य है । क्या मैं दूसरे पुरुषोंपर झूठे कपटभरे वचन बोलकर उनका विघ्न कर्ता बनता हूं ? यदि यह झूठ बोलनेका मुझमें संग प्रसंग बनाता हैं तो उसके लिए हितरूप नहीं है । ऐसा चोरी, कुशील किया, किसी पर नारीपर यदि मेरे भाव खोटे बनते हैं तो यह मेरे हितके लिए नहीं है, ऐसे ही पौद्गलिक इन ढेरोंके लिए यदि तृष्णा जग

रही है तो उसमें मेरा हित नहीं है। अपनी वृत्ति पापोंसे रहित दूसरोंका हित करने वाली होनी चाहिए।

(२३५) **दुष्टप्रसंगसे अज्ञानान्धकार व व्यर्थ विसंवादका प्रसार**—यहाँ दुष्ट प्रसंगमें कह रहे हैं कि जैसे वह प्रदोष काल तेज आँख वालेको भी कुछ दिखने नहीं देता ऐसे ही यह दुष्ट प्रसंग सज्जनोंकी सज्जनता रोकनेमें चतुर होता है, शुद्ध भाव नहीं रह पाता। हमारे शुभ, अशुभ, शुद्ध, विशुद्ध कुछ परिणाम चलते रहें तो यह तो हमारे लिए हितकी बात है और यदि कोई बातका प्रसंग बना लेवें कि जिसमें हितसे दूर होते जायें तो वह हमारे हितके लिए बात नहीं है। कितने ही विवाद बिना काम व्यर्थ चलते हैं जिनसे कोई लाभ भी नहीं होता, पर कषायकी प्रेरणा है कि चाहे लाभ भी न हो पर चाहिये अपनी कषायका लगाव। जैसे कभी दो मनुष्योंमें वार्ता छिड़ जाय कि भाई अमुक गाडी मान लो बाम्बेमेल इस स्टेशनसे बाम्बेके लिए कितने बजे जाता है। तो एक तो बोला कि रात्रिको ९ बजे जाता है। दूसरा बोला—नहीं तू झूठ बोलता ११ बजे जाता है। बस इसी बात पर दोनोमें विवाद बढ़ गया और इतना विवाद बढ़ गया कि हाथापाई होनेकी नौबत आ गई। अब वहाँ कोई तीसरा व्यक्ति आया पूछा भाई आप लोग क्यों झगड़ते हो, बात क्या है ? तो उनमें से एक बोला—देखो यहाँसे बाम्बेमेल रात्रिको ९ बजे जाता है और यह झूठ बोलता कि ११ बजे जाता है, दूसरा बोला—नहीं नहीं, झूठ तो यह बोल रहा, बाम्बे मेल तो रात्रिके ११ बजे ही यहाँसे बाम्बेके लिए जाता है न कि ९ बजे। तो उस तीसरे व्यक्तिने पूछा—अच्छा यह तो बताओ कि तुम दोनोमें से बाम्बे किसको जाना है ? तो वे बोले—जाना तो हम दोनोमें से किसीको भी नहीं है, केवल बात ही बातकी लड़ाई है। तो ऐसी ही बात यहाँ समझ लो, धर्म तो कोई करना नहीं चाहता पर धर्मके पीछे लड़ाई, पार्टीबाजी मनमोटाव करनेको तैयार रहते हैं। आजकल कुछ ऐसा ही वातावरण बन गया। मेरे विचारसे तो आजसे कोई ५०-६० वर्ष पहले का वह वातावरण अच्छा था जो कि मान लो कम पढ़े लिखे होते थे पर उनमें श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य आदिके कारण आनन्द बरसता था। आजके जो वृद्ध लोग हैं वे सब इस बातको अच्छी तरहसे जानते हैं। तो व्यर्थके विवादके प्रसंग किसीके भी हितके कारण नहीं बनते, तो ऐसे प्रसंगोंसे दूर रहें और अपने आपको वर्तमानमें कुछ शान्ति संतोषका अनुभव हो तो हम आगे प्रगतिकी भी आशा रख सकते हैं। जब वर्तमानमें ही हम व्यग्र हो गए तो हम आगे हितकी क्या आशा कर सकेंगे ? सो अपनेको बहुत सम्हालकर रखनेकी जरूरत है। यहाँ कोई किसीका शरण और रक्षक नहीं है, खुदको खुदके विवेकसे काम लेना होगा और अपने ही ज्ञानप्रदेशी प्रभुसे कुछ निर्णय लेकर अपना जीवन चलायें, इसमें ही अपना हित है।

ध्वांतध्वंसपरः कलंकिततनुर्वृद्धिक्षयोत्पादकः
पद्माशी कुमुदप्रकाशनिपुणो दोषाकरो यो जड़ः ।
कामोद्वेगरसः समस्तभविता लोके निशानाथवत्
कस्तं नाम जनो महासुखकरं जानाति नो दुर्जनं ॥४३१॥

(२३६) **दुर्जनोंकी ध्वान्तध्वंसभिन्नता**—यह दुष्टसंग निरूपणका परिच्छेद चल रहा है याने दुर्जनकी संगतिसे जीवका कैसा अनर्थ होता है यह बात बतायी जा रही है। उसी सिल सिलेमें यहाँ दुर्जनका लक्षण बताया गया। दुष्ट पुरुष कौन-कौन कहलाते हैं ? तो इन विशेषणोंमें साहित्यिक ढंग है सो शब्दों द्वारा ज्ञान कराया गया है। प्रथम विशेषण दिया है कि यह दुर्जन चंद्रमाकी तरह ध्वांतध्वंसपर है। अब इन सब विशेषणोंके दो दो अर्थ चलेंगे। चंद्रमाका अर्थ और दुष्टजनोंका अर्थ, चंद्र है ध्वांतध्वंसपर, ध्वांत मायने अंधकार उसके ध्वंस मायने विनाशके करनेमें तत्पर जब चंद्रकी किरणें फैलती हैं तो वहाँ अंधकार नहीं रहता। तो दुर्जन कैसे हैं ? ध्वांतध्वंसपर, ध्वांत मायने अज्ञान अंधकार, उसका ध्वंस करने वाले जीव उससे पर मायने भिन्न है, मायने अज्ञानका नाश नहीं करते किन्तु अज्ञान नाशक पुरुषोंसे जुदा है। दुर्जन दुष्टोंकी संगतिसे अज्ञानका प्रसार होता है, बुद्धि खराब हो जाती है, तो उसके अज्ञानकी ही बातें बनती हैं। दुष्ट संगतिका वर्णन किया जा रहा, इसमें दुष्टोंका लक्षण कहा गया था और आगेके छंदमें कहा जायगा। यह कहा गया था कि दुष्टजनमें सबसे पहला लक्षण तो यह है कि बात तो बड़ी कोमक सुखकारी नम्रताकी बोलेंगे, पर उनके चित्तमें कपट रहेगा, यह दुष्टका प्रधान लक्षण है। देखनेमें बड़े सुहावने, बड़े सुखकारी वचन बोलते हैं मगर चित्तमें कपट भरा है। कपट क्यों हुआ करता ? विषयोंके लोभसे। कोई इन्द्रियके विषयोंके लोभसे कपट कर रहा है तो कोई कीर्ति नामवरीकी चाहसे कपट कर रहा है। सो कपटी पुरुष दूसरों का अहित और दुःख नहीं विचारता है। चाहे दूसरेकी कैसी ही बरबादी हो, पर स्वयंका स्वार्थ सिद्ध होना चाहिए, यह उनके मनमें बात रहती है, पर ऐसे पुरुषोंका संग प्राणियोंका अहित करता है। ये दुर्जन अज्ञानी अज्ञानविनाशक पुरुषोंसे विपरीत हैं।

(२३७) **दुर्जनोंकी कलंकितशरीरिता व वृद्धिबाधकता**—दूसरा विशेषण है कलंकिततनुः। चन्द्रमाके शरीरमें कलंक बना हैं। चन्द्र कहलाता है पृथ्वीका यह पिण्ड जो लोगोंको दिखता है। यह खुद देवता नहीं है किन्तु चन्द्र देवताके रहनेका विमान है। सो उस विमान में कलंक है, उसमें काला काला दाग रहता है। जिसे कोई लोग कहते हैं कि बुढ़िया रहटा कात रही है, कोई लोग कहते हैं कि यह जंगल है, उसमें हिरण बना है। तो वह जो दाग है वह चंद्रमामें कलंक है। तो यह दुष्ट कैसा है ? कलंकिततनुः, दोषसहित शरीर वाला है।

जिसका मन दोषसे भरा हुआ होता है उसके शरीर पर भी दोष उतरते हुए दिखते हैं। तो यह दोषोंका घर है, ऐसे दुर्जनोंकी संगति लाभकारी नहीं होती। तीसरा विशेषण है, वृद्धि-क्षयोत्पादकः याने चन्द्रमा तो वृद्धि और हानिको उत्पन्न करता है। कृष्णपक्षमें चन्द्रकी कलायें घटती जाती हैं। शुक्लपक्षमें चन्द्रकी कलायें बढ़ती जाती हैं। तो दुर्जन कैसा है ? वृद्धिक्षयोत्पादक याने दूसरोंकी वृद्धिमें यह दुःखी होता है तो उनका विनाश करनेका ही उसके चित्तमें चिन्तन चलता है। उसे कोई बड़े पुरुष नहीं सुहाते। कोई धनमें बड़ा है तो उससे द्वेष रखेगा। तो दुर्जनोंका हृदय ऐसा कषायसे भरा है कि वह दूसरे लोगोंकी प्रगति नहीं देख सकता। तो जो ऐसी दुष्ट प्रकृतिका है वह दूसरेकी प्रगति नहीं देख सकता। ऐसे दुर्जनका संग करना वह दूसरेकी प्रगति नहीं देख सकता। योग्य नहीं है।

(२३८) दुर्जनोंकी धनविनाशकता दुःखकारिता व दोषपूर्णता—चौथा विशेषण है पद्माशी। चंद्रमा तो पद्मा मायने कमलको मुरझा देने वाला है याने कमल दिनमें फूलता है और रात्रिमें मुरझा जाता है। तो यह दुर्जन कैसा है कि पद्मा मायने लक्ष्मी, उसका विनाश करने वाला है याने धनका नाश करने वाला है। दुष्टोंकी संगतिमें संगति करने वालेका धन खतम हो जाता है। जैसे बड़े घरके बालक छोटे हृदय वाले बालकोंका संग करें, उनकी दोस्ती बनायें तो उसमें कुलीन बालक लुटते ही हैं, उन्हें लाभ कुछ नहीं प्राप्त होता। तो दुष्टोंके संगसे सम्पत्तिका भी नाश होता है। ५वां विशेषण है—कुमुदप्रकाशनिपुण, चंद्रमा तो कुमुद जातिके फूलोंका प्रकाश करनेमें निपुण है। जैसे गदूलके फूल रात्रिको फूलते हैं, तो ये दुर्जन कैसे हैं ? कुमुद प्रकाश निपुण, कु कहो खोटा, मुद कहो हर्ष अर्थात् दुःखके प्रकाश करनेमें निपुण हैं। ये दूसरेका दुःख ही करेंगे। दुष्टसंगसे कोई जीव सुख शान्तिसे नहीं रह सकता। छठा विशेषण है दोषाकर। जैसे चन्द्रमा दोषा मायने रात्रिका करने वाला है तो यह दुष्ट दोषोंका आकर मायने खान हैं। कषायभरा, स्वार्थभरा, कपट भरा दुनियाको धोखा देनेका ही काम है, तो ऐसा दोषाकर दुर्जन संगति करनेके योग्य नहीं है।

(२३९) दुष्टोंकी मूर्खता कामोद्वेगप्रियता व परपीडाकारिता—७वां विशेषण है जड़। चंद्रमा तो जड़ है मायने शीतल है और दुर्जन जड़ मायने मूर्ख है। संग उसका बताया गया है जो अपने समान हो या अपनेसे गुणोंमें अधिक हो। उसका संग लाभ करने वाला होता है। और जो अधम हैं, दुष्ट प्रकृतिके हैं उनके संगमें कभी चैन नहीं मिल सकती। ८वां विशेषण है कामोद्वेगरस। जैसे चन्द्रमा कामके उद्वेगको बढ़ाने वाला है ऐसे ही दुर्जन पुरुष काम के उद्वेगसे प्रीति करने वाले हैं। जिनको काम विषय अधिक रुचे, दूसरी स्त्रीजनोंको देखकर भी कामकी बाधा ज्यादा आये और विषय रुचे वह पुरुष दुष्ट कहलाता है। ऐसे दुर्जनोंका

संग किसीको भी लाभकारी नहीं है। सो यह दुर्जन पुरुष महान दुःखको उत्पन्न करने वाला होता है। यहां अंतिम विशेषण दिया है महासुखकर चंद्रमा तो महान् सुखका करने वाला है और दुर्जन महा असुखकर याने बहुत बड़े दुःखका करने वाला है। इस छंदमें आचार्यने साहित्यिक छटाके आधारपर दुर्जनकी विशेषता कहा है। अब अगले छन्दमें दुर्जनके कर्तव्यसे उनका परिचय कराया गया है।

दुष्टो यो विदधाति दुःखमपरं पश्यन्सुखेनान्वितं
दृष्ट्वा तस्य विभूतिमस्तघिषणो हेतुं बिना कुप्यति।
वाक्यं जल्पति किंचिदाकुलमनादुःखावहं यन्नृणां
तस्माद्दुर्जनतो विशुद्धमतयः काँडाद्यथा विभ्यति ॥४३२॥

(२४०) **दुर्जनोंकी परक्लेशकारिता व परसुखासहता**—दुष्टजनोंकी प्रकृति होती है कि वे दूसरे मनुष्योंको सुखी नहीं देख सकते हैं। वे दूसरोंको सुखी देखकर भीतर ही भीतर जल भुन जाते हैं। ऐसी दुष्टता विरले पुरुषोंमें पायी जाती है, वे तो बहुत नीच वृत्ति वाले हैं। सो ऐसी बात प्रायः लोगोंमें नहीं मिलती, पर किसी किसी पुरुषमें यह दुर्भावना मिल जाती है। वह दूसरोंको सुखी नहीं देख सकता। कोई सुखी न हो, मैं ही एक मात्र सुखी रहूं बाकी सब दुःखी रहें, यही जिन्हें पसंद है ऐसे दुर्जनोंकी कौन कहानी कहे ? ये दुर्जन पुरुष किसी न किसी प्रकार दूसरोंपर विपत्ति डालकर उनको दुःखी कर देते हैं। होते हैं कुछ ऐसे दुष्टजन कि जो दूसरोंको दुःखी करनेकी ही बात सोचा करते हैं और उस उपायमें यदि वे सफल हो गए तो उसमें बड़ा हर्ष मानते हैं। यह है हिंसानन्द रौद्रध्यान। दूसरोंको दुःखी देखनेमें ही मौज मानना यह बहुत अधर्म प्रकृति है, दुर्जन पुरुष दूसरोंकी बढ़ती हुई विभूतिको देखकर क्रुद्ध हो जाते हैं, क्रोध उमड़ जाता है। कैसा विचित्र उनके पापका उदय है कि वे स्वयं बड़े कठिन दुःखमें पड़े रहते हैं। यही उनको दुःख है, वे दूसरोंकी विभूतिको नहीं देख सकते।

(२४१) **दुर्जनोंकी क्रोधशीलता व दुर्वचनव्यवहारिता**—ये दुष्ट जन लोगोंपर बिना ही किसी कारण क्रोध कर बैठते हैं। क्रोध करनेकी प्रकृति बहुत बुरी प्रकृति है इससे यह मनुष्य न इस लोकमें सुखी रह सकता है और न परलोकमें सुखी रह सकता है। अज्ञान बसा है। जरा जरासी बातपर क्रोध उमड़ आता। जिनके ज्ञान है उनके एक समान वृत्ति चलती है। वे क्षमाशील होते हैं, दूसरोंको क्षमा कर देते हैं, किसी भी समय क्रोधभाव नहीं लाते, पर दुष्टजनोंकी प्रकृति ऐसी है कि कोई न कोई कारण हो तो क्रोध करें, पर कारण भी कुछ नहीं तो भी क्रोध करनेकी उनकी आदत बनी हुई होती है। ये दुष्टजन दूसरोंको

खोटे वचन कहकर आकुलित कर देते हैं और इस कारण दूसरे लोग बड़े दुःखी हो जाते हैं। जब हृदय खोटा है, स्वार्थमें अंधा है तो वचन सही कैसे निकल पायेंगे। जो भीतर बात बसी है उसके अनुकूल ही वचनव्यवहार होगा। सो जो निर्मल बुद्धिके धारक हैं ऐसे पुरुष उन दुष्टजनोंके उन वचनबाणोंसे दूर रहते हैं, भयभीत रहते हैं अर्थात् ऐसा प्रसंग नहीं बनाना चाहते कि जिससे मुझपर दुष्टजन वचनबाणोंकी वर्षा करें। ये वचन बाणकी तरह चुभते हैं। बल्कि उससे भी अधिक चुभते हैं। एक बार बाणका घाव तो कोई सहसता है पर वचनोंका घाव नहीं सह सकता। और ऐसा क्या पड़ी है कि ऐसे खोटे वचन निकलें कि जिससे दूसरों का हृदय दुःखी हो जाय। मर्मभेदी वचन किसलिए निकाले जायें ? मगर दुर्जनोंको तो भीतर अज्ञान बसा है सांसारिक सुख ही उसे सर्वस्व जचते हैं, तो कपट वहाँ बढ़ता ही है और उनके वचन भी दूसरोंको दुःखी कर दें इस प्रकारके निकलते हैं।

(२४२) कुसंग तजकर सत्संग करनेका उपदेश—यह एक शुद्ध व्यवहार बनानेके लिए आचार्यदेव यह सब उपदेश कर रहे हैं, संगति यदि भली रहेगी तो इसका उत्थान होगा। संगति जिसकी खोटी हो जाती है वह सभी प्रकारके व्यसनोंमें लग जाता है। जुवा खेलनेकी आदत बन जाती जिससे अपने घरका सब धन लुटा देते। नहीं रहता धन फिर भी जुवाकी आदत कहाँ जाय ? तो वह चोरी करता है। फिर झूठ बोलना पड़ता है, दूसरोंपर डकैती करता है, फिर ऐसा जिसका भाव गंदा हो गया वह ब्रह्मचर्य कहाँ पाल सकेगा, वह तो पर-स्त्रीगामी, वेश्यागामी बन जाता है। तो खोटा संग करने वाले पुरुष बड़ी विपत्तिमें पड़ जाते। कुलीन घरोंमें सत्संगका वातावरण होनेसे उनके संतान अच्छे भावके होते हैं। बचपन से ही मंदिरमें आना, विनती पढ़ना, पूजा सीखना, पूजा करना, व्रती, त्यागी, साधु संत आयें तो उनकी सेवा करना, गुणियोंका गुणगान करना यह सब ऐसा सत्संग है कि जिसमें रहकर बच्चा सम्हला रहता है और वह अपना इहलोक भी सम्हालता है और परलोक भी सम्हाल लेता है।

यस्त्यक्त्वा गुणसंहतिं वितनुते गृह्णाति दोषान्परे
दोषानेव करोति जातु न गुणं त्रेधा स्वयं दुष्टधीः।
युक्तायुक्तविचारणाविरहितो विध्वस्तधर्मक्रियो
लोकानन्दिगुणोपि कोपि न खलं शक्नोति संबोधितुं ॥४३३॥

(२४३) गुणदृष्टि न करके दोषग्रहण करनेकी दुर्जनप्रकृति—दुष्ट पुरुष अपने मन ही मन समझदार बनते हैं कि उनको समझानेके लिए बड़े-बड़े पुरुष भी समर्थ नहीं हो पाते। जिन्होंने समस्त लोकको आनन्दमय कर दिया ऐसे पुरुष भी दुष्ट पुरुषोंको सम्बोधन नहीं कर

पाते । ये दुष्ट जन दूसरोंके गुणोंको छोड़कर दोषोंपर ही दृष्टि देते हैं । जैसे एक जोंक कीड़ा होता है जो प्रायः पानीके किनारेपर रहा करता है वह यदि किसी दुधारू गाय या भैंसके थनमें लग जाय तो भी वह दूधको नहीं ग्रहण करता, बल्कि उसके खूनको ही ग्रहण करता है, ऐसे ही दुष्टजन गुणी पुरुषोंके गुणोंको न देखेंगे बल्कि उनमें दोष ही निकालेंगे । उनकी दोषोंकी दृष्टि है, उनके हृदयमें भी दोष भरे हैं । तो वे कषायका उगाल किया करेंगे । दोष ही दोष देखेंगे । तो यह दुष्टजनोंका प्रधान लक्षण है कि वे गुणग्राही नहीं होते किन्तु दोष-ग्राही होते और दोषोंको ही उत्पन्न कराते रहते हैं । ऐसे दुष्टजन गुणोंको तो पैदा नहीं कर सकते, किन्तु दोषोंका ही विस्तार करते रहते हैं । ऐसे मनुष्योंका संग न करना जिनकी आदत दोष बखाननेकी अधिक रहती है, जिसकी चाहे निन्दा करते हैं, जिस चाहेकी कमी बताते हैं, दोष बताते हैं, यह आदत जिनके लग गयी हो उसका संग करनेसे कोई लाभ नहीं ।

(२४४) **दुर्जनोंकी विवेकहीनता व धर्मनाशकता**—ये दुष्ट जन योग्य अयोग्यका बिल्कुल विचार नहीं करते । कैसा विचित्र कर्मोदय है कि ये दुर्जन पुरुष कैसा दुःखी हैं ? उनके मन, वचन, कायकी कोई चेष्टा भली न होगी, बल्कि दूसरोंके दुःखका ही कारणभूत होगी । तो दुष्ट पुरुष योग्य अयोग्यका विचार नहीं रख पाते और वे धार्मिक क्रियावोंका नाश करनेमें उद्यमी रहते हैं । धार्मिक क्रियायें जो परम्परासे आम्नायमें चली आयी है उन सबमें कोई न कोई रहस्य रहता है अन्यथा रूढ़ि न चले, पर उस रहस्यको जब कोई नहीं जानते तो वे केवल रूढ़िपर चलने वाले हो जाते । पर आज जितने पर्व और जितने क्षेत्र जितने जो कुछ भी व्यवहारधर्ममें किये जा रहे हैं उन सबमें तत्त्व है, गुणकी शिक्षा है, मगर जिसके तत्त्वदृष्टि नहीं होती, केवल दोष देखनेकी ही जिनकी आदत होती वे पुरुष बड़े भयंकर होते हैं, वे धार्मिक क्रियावोंको उखाड़कर फेंक देते हैं, पर ये माने जाने जितने हमारे पुरषा लोग जो कुछ भी करते आये है उनमें अवश्य ही कोई उत्तम रहस्य है, लक्ष्य है, पर उसका ध्यान रहे नहीं तो उसकी रूढ़ि बन जाती है ।

(२४५) **महापुरुषोंसे चली आई हुई प्रथाका प्रयोजन न जाननेपर ही रूढ़िका आरोप**—एक ऐसा ही कथानक है कि एक सेठने जब उसका कोई काम काजका अवसर आया, प्रीति भोज किया तो वहाँ यह सोचा कि लोग जिस पातलमें भोजन करते हैं उसीमें छेद कर जाते हैं, पातलमें भोजन परोसा गया तो लोग भोजन कर चुकनेके बाद दाँतोंका मल निकालनेके लिए उस पातलमें से ही सींकें निकालते हैं जिससे उस पातलमें छेद हो जाता है । यह सोचकर उसने क्या किया कि जब पातलमें भोजन (पूड़ी, कचौड़ी, मिठाई आदि) परोसा तो उसके साथ ही चार-चार अंगुलकी दो दो सींक भी परोस दिया । तो देखिये सींक परोसनेका

यहाँ प्रयोजन तो यह था कि कोई पातलमें छेद न करे पर इस प्रयोजनका पता न होनेसे देखना क्यासे क्या बिडम्बना बन गई। सेठ जी तो गुजर गए। अब उनके लड़कोंका कोई कामकाज आया, मानो किसी लड़केकी लड़कीका विवाह हुआ तो उस लड़केने सोचा कि हमको अपने पिताका नाम ऊँचा रखता है, अपने पिताकी कोई बात गिराना नहीं है, बल्कि उठाना है। सो हमारे पिताने जैसा समारोह किया था उससे हमें डबल काम करना है, कम नहीं करना है। तो सेठने मानो दो मिठाइयाँ बनवायी थीं तो उसने ४-५ मिठाइयाँ बनवायीं और और भी चीजें अपने पितासे अधिक बनवायीं। सभी चीजें पातलमें परोसी गईं। जब सींक परोसनेकी बारी आयीं तो अंगुलके बजाय १२-१२ अंगुलके डंडे परोसवाये। देखिये— प्रयोजनका पता न होनेसे सींककी जगह डंडा परोसनेकी नौबत आ गई। अब उसके मरनेके बाद जब उसके लड़केको कोई कामकाज करना हुआ तो उसने विचारा कि हम अपने पितासे भी दूने स्टैन्डर्डसे काम करेंगे। उन्होंने ४-५ मिठाइयाँ बनवायी थीं तो हम ८-१० मिठाइयाँ बनवायेंगे। देखिये चाहे दो चार मिठाई बनवाई जायें चाहे ८-१० खर्चा करीब-करीब उतना ही लगेगा। क्योंकि ४-५ मिठाइयाँ होनेसे अधिक अधिक परोसना पड़ेगा और ८-१० मिठाइयाँ हो जानेसे थोड़ा थोड़ा परोसना पड़ेगा। खर्चमें कोई खास फर्क नहीं होता, सो उसने करीब १० तरहकी मिठाइयां बनवायीं। जब पंगत बैठी तो सभी चीजें परोसते गए, अन्तमें जब सींककी बारी आयी तो उसने कोई डेढ़ डेढ़ हाथके डंडे भी पातलमें परोसवा दिए। अब क्या होगा उन डंडोंका सो बताओ ? तो प्रयोजनका पता न होनेसे जैसे वहाँ विडम्बना बन गई इसी प्रकार यहां धार्मिक कार्योंमें भी प्रयोजनका पता न होनेसे रूढ़िवाद बन गया और कुछसे कुछ अटपट वृत्तियाँ लोगोंकी बन गईं। पहले जमानेमें जो भी धार्मिक क्रियाकांड किये जाते थे उनमें कुछ तथ्य था, बेकार न थे, पर आज उनके प्रयोजनका पता न होनेसे वे सब बातें उठ गईं और यदि कोई उनको करता भी है तो देखने वाले लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हैं. तो हमें उन धार्मिक क्रियाकाण्डोंका ख्याल रखना चाहिए पूजन, दर्शन, वंदन, यम, नियम आदिकमें। हमारी सर्वत्र एक धार्मिक दृष्टि रहे, पर दुष्ट लोग उन धार्मिक कृत्योंका विनाश कर डालते हैं।

दोषेषु स्वयमेव दुष्टधिषणो यो वर्तमानः सदा
तत्रान्यानपि मन्यते स्थितिदतस्त्रैलोक्यवर्त्यंगिनः।
कृत्यं निंदितमातनोति वचनं यों दुःश्रुवं जल्पति
चापारोपितमार्गणादिव खलात्संतस्ततो विभ्यति ॥४३४॥

(२४६) **दुष्टकी दुष्ट बुद्धिका एक उगाल**—दुर्जन पुरुषोंकी बुद्धि दुष्ट होती है, उनकी

बुद्धिमें ऐसी ही बातें उतरेंगी जिनसे दूसरोंको पीड़ा हो, धोखा हो। और ज्यों ज्यों वे दूसरों को कष्ट देंगे त्यों त्यों वे आनन्द मनायेंगे। दुष्ट जन तीव्र रौद्रध्यानी होते हैं। रौद्रध्यान तो औरोंके भी पाया जाता है। सम्यग्दृष्टिके भी अविरत अवस्थामें रौद्रध्यान होता है मगर भद्र और जो दुष्ट प्रकृतिके लोग हैं उनके रौद्रध्यान ही मुख्य है, मानो उनमें जीव ही नहीं है, झूठ बोलनेमें, मजाक करनेमें उनको बहुत आनन्द आता है। चाहे किसीपर कैसी ही आफत आये, किसीकी चीज चुरा लेना इसे तो वे कुछ भी अयोग्य नहीं समझते। दूसरेकी स्त्रीपर कुदृष्टि करना, व्यभिचारकी प्रकृति होना यह सब गुंडागर्दी दुष्ट पुरुषोंसे होती है। तृष्णा लालच इस ढंगसे होता कि कुछ न कमाना पड़े किन्तु लूटमार करने, धोखा देनेकी आदत होती है। तो ऐसे जो दुष्ट जन हैं उनका संग न करना चाहिए, क्योंकि दुष्संगसे अपने परिणाम भी बिगड़ते हैं। ये दुष्ट जन सदा दूसरोंके दोषोंकी तरफ ही दृष्टि रखते हैं। गुणियों के ऐब देखना, साधारणजनोंके ऐब देखना, उन ऐबोंकी कथनी करना, दोष सुन सुनकर प्रसन्न रहना, यों दोषदृष्टि रहती है। वे दुष्टजन बड़े दयापात्र हैं जिनको अपनी कुछ सुध नहीं है, खुद विपत्तिमें अपनेको डाल रहे हैं, वे दुष्ट जन अज्ञानी हैं, इस संसारमें रुलने वाले हैं। सो हैं तो वे दयापात्र मगर उनकी संगति कोई करेगा धीरे-धीरे उसका भी वैसा ही परिणाम बन जायगा। यह दुर्जन जिस पुरुषकी या जिस पदार्थकी संगति करता है उसके दोष ही दोष ग्रहण करता रहता है। दुष्टताकी प्रकृति प्रायः जन्मसे होती है, किसीकी सोहबतसे भी वैसी प्रकृति बन जाती है।

(२४७) **दुष्टमें दोषकी** उद्भूति—दोष देखनेकी, दोष बोलनेकी जिसकी प्रकृति है ऐसा पुरुष चाहे किसी समय बड़ा हितू बन रहा हो तो भी उसका संग ठीक नहीं होता। वह तो दोष ही ग्रहण करता है, यदि खुदके गुणपर दृष्टि हो तो दूसरी जगह गुण ग्रहण करे। जैसे खुदमें वीतराग होनेका परिणाम बने तो वीतराग भगवानको भक्ति की जाय तो ऐसे ही जिसमें खुद गुण हों वह दूसरेके गुणोंको देखेगा। जो स्वयं दोषमय है उसे सब जगह दोष ही दिखेंगे। जैसे लोकमें देखा जाता है कि कोई पुरुष किसी कारण दुःखी है तो उसे दुनियामें सब दुःखी नजर आते हैं, क्योंकि उसका उपयोग स्वयं दुःखमें है और कोई पुरुष सांसारिक सुखमें है तो उसे सभी जगह सुख नजर आयगा, उसे कोई दुःखी न दीखेगा। कोई दुःखी भी हो तो उसे देखकर यह समझेगा कि यह वास्तवमें दुःखी नहीं है, यह तो दुःखका रूपक बना रहा है। यों नजर आयगा। एक चुटकला है कि एक खवास बादशाहकी हजामत बनाने आता था। तो नाई लोग बातें बहुत करते हैं हजामत बनानेमें, सो वह खवास बादशाहसे भी खूब बातें करे। एक बार बादशाहने उससे पूछा कि खवासजी

यह तो बताओ कि इस समय हमारी प्रजाके लोग दुःखी हैं या सुखी ? तो खवास बोला—महाराज इस समय आपकी प्रजा बहुत सुखी है घर घर घी दूधकी नदियां बहती हैं। तो बादशाहने फिर पूछा कि तुम्हारे यहाँ कितनी गाय, भैंसें हैं ? तो २०-२५ जितनी भी बताया, तो बादशाह समझ गया कि इसके यहाँ खूब घी दूध होता है और सुखसे रहता है इसलिए इसको सारी प्रजा सुखी नजर आ रही, सो क्या किया कि उसपर कोई झूठा मूठा आरोप लगवाकर उसकी सब गाय, भैंसें कुड़क कर लीं। फिर ५-७ दिन बाद वही खवास बादशाह की हजामत बनाने आया तो बादशाह फिर पूछ बैठा—कहो खवास जी इस समय हमारी प्रजा सुखी है या दुःखी ? तो खवास बोला—महाराज इस समय आपकी प्रजा बड़ी दुःखी है, घी दूधके तो दर्शन ही किसीको नहीं होता। तो बादशाह बोला—देखो जब तुम खुद सुखमें थे तब सारी प्रजाको सुखी समझ रहे थे और जब तुम खुद दुःखमें हो तो सारी प्रजा तुमको दुःखी नजर आ रहा। खैर तुम चिन्ता मत करो, तुम्हारी सब गाय, भैंसें तुमको वापिस कर दी जायेंगी। तो अपने अनुभवसे ही देख लीजिए यदि खुदको मौज है, खूब काम चल रहा है, सब प्रकारसे खुशहाली है, तो उसे सारी जनता सुखी नजर आयगी और अगर खुद दुःखमें है तो सबके ऊपर उसे दुःख ही दुःख दिखेगा। यह तो एक आदत है ऐसी। तो दुर्जन पुरुष स्वयं दोषसे खूब भरे हैं, छल कपट उनमें बहुत अधिक भरा है, तृष्णा बहुत अधिक बढ़ी है, और और भी दोष भरे हैं तो ऐसे दोषसे भरे दुर्जन पुरुषको बाहर नजर आयगा तो दोष ही नजर आयेंगे, गुण नजर न आयेंगे, और जिनको गुणोंमें प्रेम है उनको गुण ही नजर आयेंगे।

(२४८) **दुर्जनोंकी दोषप्रियता व दोषग्राहिता**—देखिये—जैसे आजकल साधु जन, मुनिजन जितने साधक होते हैं तो वे गुण ही गुणसे भरे हों यह बात नहीं हो सकती, अगर दोष न होते तो वह साधक ही क्यों बनता ? वह तो साधक कहलाता। आखिर साधक बनकर दोषोंका ही तो निवारण कर रहा है। तो साधु जनोंमें कुछ दोष भी होते और गुण तो विशेषतया होते, यह नियमकी बात है। अगर दोष न हो तो वह अरहंत ही न हो जाय। सो कुछ दोष तो होते ही हैं, यह तो प्राकृतिक बात है, मगर उनकी आस्था तो मोक्षमार्गकी है और अपनी बुद्धि माफिक वे गुणके रास्तेपर ही चल रहे हैं। अब श्रावक जन जिनको गुणोंसे प्रेम है उन्हें साधु संतोंमें गुण ही गुण नजर आयेंगे, अगर कोई एक आध दोष भी हों तो वे भी गुणग्राही प्रकृतिके कारण गुणके रूपसे ही नजर आयेंगे, दोष रूपसे नहीं, और जिनका दिल दोषोंसे भरा हुआ है। कषायसे भरा हुआ है उनको साधुवोंमें दोष ही नजर आयेंगे, गुणकी तरफ रंच भी दृष्टि नहीं। तो जो दुष्टजन हैं उनकी दृष्टि दोषोंपर ही रहती है

और वे दूसरोंके दोष ही ग्रहण करते हैं और वे दूसरोंको दोषी ही समझते हैं । अर्थात् कोई व्यभिचार प्रिय पुरुष हो, जो व्यभिचारकी आदत रखता है, परस्त्री, वेश्यागमन आदिक कितने ही प्रकारके दोष रखता हो तो उसको नजरमें प्रायः सब लोग दोषी ही नजर आयेंगे, और वह सब पर शंका रखेगा कि शायद ये भी ऐसे ही होंगे । भले ही ऊपरसे ऐसे दिख रहे मगर इनको भी आदत यह ही होगी, यों ही उसे नजर आयगा । और जिनको ब्रह्मचर्य प्रिय है उनको सर्वत्र ये गुण नजर आयेंगे, सब ठीक हैं, शीलसे रहते हैं, अपनी धार्मिक वृत्तिसे चल रहे हैं···यही नजर आयगा । तो जो दुष्ट जन हैं उनको सर्वत्र दोष ही नजर आते हैं ।

(२४९) **क्रूर चित्त वालोंके संगकी हेयता**—यहाँ दुर्जनोंकी व्याख्या करनेका ध्येय नहीं है किन्तु दुर्जनोंका संग न करना चाहिए यह बात बता रहे हैं । जो जैसा है सो रहे, हमको दुर्जनोंके दोषोंपर दृष्टि नहीं देना है मगर दुर्जनोंका संग छोड़ना है । संग छोड़नेके ही प्रयोजनसे दुर्जनोंके दोषोंका वर्णन किया जा रहा है । ये दुष्ट जन निन्द्यसे निन्द्य कार्य भी कर डालते हैं । जिसको चाहे मार डालते हैं । आजकल अनेक लोग ऐसे उद्दण्ड हो गए हैं कि थोड़ेसे रुपयोंके पीछे लोगोंकी जान ले लेते हैं । कहीं भी लूट मार रहे अथवा जरासा भी गुस्सा आया और उनके हाथमें हथियार हो तो जान ले लेनेमें जरा भी रहम नहीं करते । तो समझिये ऐसे लोगोंका हृदय कितना क्रूर है । तो जो ऐसे दुष्ट जन हैं वे निन्द्यसे भी निन्द्य कार्य कर डालते हैं और वे कड़वे, दूसरोंको तुरन्त दुःख देने वाले वचन बोलनेमें रंच भी नहीं हिचकते ।

(२५०) **सब जीवोंके सुखकी भावना होनेपर प्रवृत्तियोंकी शुभरूपता**—देखो जीवन में और अधिक गुण न आ सकें तो एक यह गुण तो आ ही जाय कि हममें जितनी सामर्थ्य है उतना दूसरोंका भला करनेका ही प्रयास करें, और अपने वचन दूसरोंको सुखकारी, हितकारी बोलें । उन वचनोंसे चाहे बुरा बोल लें चाहे भला बोल लें । अगर बुरा बोलते हैं तो जब तक खुदमें दुःख न हो तब तक कोई बुरे वचन नहीं बोल सकता । जब स्वयं दुःखी हैं तब ही बुरा बोलते हैं । और बुरा बोलनेके फलमें आफतें बढ़ती हैं, दूसरा व्यक्ति तो बुरे वचन सुनेगा वह भी बुरा बर्ताव करेगा । फिर झगड़े बढ़ते जाते हैं । तो खोटे वचन न बोलें, प्रिय, हितकारी, परिमित, कमसे कम वचन बोलें और मन इतना विशुद्ध रखें कि सबका भला हो । किसीका बिगाड़ सोचनेसे पापका ही बंध होगा और यह जीव दुःखी रहेगा इसलिए मन इतना साफ होना चाहिए कि किसी भी जीवका अनिष्ट न विचारें, दुःख न विचारें, कभी कोई किसी तरहका दुर्व्यवहार भी करे तो भी उसका अहित न विचारें । इतनी साधना अगर किसीकी बन गई हो तो समझ लो कि वह उन्नतिकी ओर चल रहा और किसीने अगर दुर्व्यवहार किया और हम भी उसके साथ दुर्व्यवहार करने लगे तो इसके मायने यह हुआ कि

दूसरा तो मूर्ख है ही, उसके साथ हम भी मूर्ख बन गए। तो अपने वचनोंपर एक नियंत्रण रहना चाहिए फिर देखिये उसका आनन्द। अगर दूसरेसे सम्मानके वचन बोलेंगे तो वह भी अच्छे वचन बोलेगा और वह खुश होकर आपकी सेवामें तत्पर रहेगा। तो खोटे वचन न निकालना और सबका भला सोचना ये दो गुण अपनेमें आने चाहिएँ, नहीं तो मनुष्य होनेका लाभ क्या?

(२५१) **मन, कर्ण, नेत्र आदिका सही उपयोग न होनेपर इनके पुनः न मिलने और स्थावर जैसे भवोंमें रुलते रहनेकी नौबत**—मनुष्यको श्रेष्ठ मन मिला है, चारों गतियोंमें सैनी जीव पाये जाते हैं पर इतना श्रेष्ठ मन अन्य गतियोंमें नहीं होता जितना श्रेष्ठ मन मनुष्यमें हो सकता। और इस मनके नामपर ही इसका नाम मनुष्य रक्खा गया। जिसके श्रेष्ठ मन हो उसका नाम मनुष्य। तो इतना श्रेष्ठ मन पाकर यदि हम मनको बिगाड़ें तो कर्म मानो यह कहेंगे कि तुझे मनकी जरूरत ही नहीं है, तुझे मन दिया है, और तूने इस मनका खोटा उपयोग किया है तो अब तुझे मन न मिलेगा याने अब तू असंज्ञी बन जायगा। सभी इन्द्रियोंका ऐसा ही प्रयोग है। कर्णेन्द्रिय मिली है तो कानोंसे प्रभुका उपदेश सुनना, भगवान का पूजा पाठ स्तवन सुनना इसमें कर्णेन्द्रियका उपयोग है। अब कोई मनुष्य श्रेष्ठ कर्णेन्द्रिय को पाकर भी यदि खोटी ही बात सुनना चाहता है, रागरागनी, प्रेमकी बातें, कामवर्द्धक बातें सुनना पसंद करे तो उसको फिर अगले भवमें कान थोड़े ही मिलेंगे। कर्म मानो उससे यह कहेंगे कि तुझे कानोंकी जरूरत नहीं है तू चल चारइन्द्रिय जीव बन जा। अब कोई आँखोंका यदि खोटा उपयोग करे जैसे किसी अन्य स्त्रीका रूप निहारना खोटे भावसे या ऐसे ही खेल तमाशे देखना, सिनेमा देखना, राग रागनीकी बातें देखना, चोरी चमारीकी बातें देखना आदि तो ऐसा आँखोंका उपयोग करने वालेको यह समझ लो कि उसे अगले भवमें आँखें न मिलेंगी, तीनइन्द्रिय या उससे भी कम इन्द्रियका जीव बनेगा। तो इन इन्द्रियोंका यदि सही प्रयोग न कर सके तो आगे यह आशा न रखें कि कोई अच्छा भव मिलेगा। हमारा मन सही हो, वचनव्यवहार ठीक हो, कायकी चेष्टा ठीक हो तो आगे भी हम प्रगति पायेंगे।

(२५२) **दुष्टोंका मर्मभेदी वचनव्यवहार**—जिसका मन, वचन, काय दूषित है ऐसे दुर्जन पुरुषोंका संग भला नहीं है। दुष्टोंका वचन ऐसा खोंटा निकलता है और ऐसा बुरा घाव करता है जैसे कि धनुषपर चढ़ा हुआ वाण धनुषसे छूट जाय तो जिसको लगे उसको व्यथा पहुचाता है। देखिये—मुखकी जो शक्ल है सो जिस समय यह गुस्सामें आता है और वचन बोलता है तो इसका मुख धनुषकी तरह चढ़ा हुआ हो जाता है। चित्रमें धनुषका जैसा चित्रण है ठीक वैसा धनुष सा बन जाता है। और जब यह बोलता है तो यह धनुषकी तरह चढ़ जाता है और इस चढ़े हुए धनुषसे बचनवाण निकलता है तो जैसे धनुष परसे वाण निकल

जाय तो फिर यदि वह धनुष चलाने वाला कुछ पछतावा करे, विवेक करे, मन्नतें करे कि ऐ बाण मैंने व्यर्थ ही तुझे छोड़ दिया, तू वापिस आ जा, तो वह छोड़ा हुआ बाण वापिस नहीं आ सकता। वह तो जिसका लक्ष्य करके छोड़ा गया उसके हृदयको बेध देगा, ठीक ऐसे ही यह मुख धनुषकी तरह है और इससे जो वचन निकलते हैं वे बाणकी तरह हैं। यदि मुखसे वचन रूपी बाण निकल चुका तो फिर कोई कितनी ही मिन्नतें करे पर वह वापिस नहीं हो सकता, वह तो जिसका लक्ष्य करके बोला गया उसके हृदयमें गहरी चोट पैदा करेगा। जब कषाय जगती है तब इस जीवको सूझता कुछ नहीं है, वह दुर्वचन बोलता है, पर दुर्वचन बोलनेसे इसको फायदा क्या मिला ? उल्टा विपत्तिमें पड़ गया। जिसपर वह वचनबाण लगा उसका भी अनर्थ हो गया। तो जो कषायवान हैं, कपट रखते हैं, आरामप्रिय हैं, तृष्णाका जिनके बहुत लगाव है, अन्यायका दूसरोंसे व्यवहार कर, उनको पीड़ा देकर धनोपार्जन करना चाहते हैं वे दुष्ट हैं, और ऐसे प्राणियोंकी संगति करना अनर्थकारी होता है।

योन्येषां भषणोद्यतः श्वशिशुवन्निछद्रेक्षणः
सर्षवदग्राह्यः परमाणुवन्मुरज वद्वक्त्रद्वयेनान्वितः।
नानारूपसमन्वितः शरदवद्वको भुजंगेशवत्कस्यासौ
न करोति दोषनिलयश्चित्तव्यथां दुर्जनः ॥४३५॥

(२५३) **दुष्टोंकी भौंकने व दोषदेखनेकी प्रकृति**—दोषोंका घर यह दुर्जन पुरुष किस के चित्तकी पीड़ाको नहीं करता। जिसकी आदत कुत्ते अथवा कुत्तेके बच्चेकी तरह दूसरोंको देखकर भौंकनेकी है। जैसे बिना ही कारण कुत्तेके बच्चे जिस मनुष्यको देखते हैं उस ही की तरफ भोकने लगते हैं ऐसे ही ये दुर्जन मनुष्यको देखते हैं, वे चाहे गुणवान हों चाहे दोषवान हों, उनसे कुछ न कछ कह ही बैठते हैं। दुष्ट प्रकृति वाले पुरुषोंकी आदत बकवाद करनेकी अधिक होती है, गुणीको भी मजाक करते, दोषीकी भी मजाक करते, तो ऐसे पुरुषोंसे जो कुलीन जन हैं, भले लोग हैं वे दूर ही रहते हैं, बल्कि कभी कोई दुष्ट गुंडा पुरुष कुछ बात भी कहे तो वे सज्जन पुरुष इस तरहसे निकल जाते हैं जैसे मानो कुछ सुना ही नहीं। और यह दुष्ट भी यह जान लेगा कि इसने तो मेरी कुछ बात सुना ही नहीं। तो जो दुष्ट जन हैं वे कुत्ते के बच्चोंकी तरह बिना ही कारण जिस चाहे मनुष्यको देखकर बरबाद करते हैं, भौंकते रहते हैं, ये दुष्ट पुरुष सांपकी तरह छिद्र ही देखते हैं। जैसे सांप इसी फिक्रमें रहता है कि मुझे कोई छिद्र दिख जाय जमीनमें कहीं पर जिससे मैं वहाँ पर घुसकर अपने प्राण बचा सकूं। भले ही वह सांप कहीं बाहर लोटे फिर भी उसके चित्तमें यह बात रहती है कि वह है बिल। वह है छिपनेकी जगह। यह बात पहले मालूम करके रखता है तब ही बाहरमें वह डोलता—

फिरता है। तो जैसे सांप छिद्रको ही खोजता, छिद्र मायने बिल ऐसे ही दुष्ट लोग दूसरेके छिद्र को ही मायने दोषको ही देखने वाले होते हैं। कैसा पापका उदय है उन दुष्ट जनोंके कि उन का उपयोग सदा मलिन रहता है, गुणकी ओर उनका चित्त ही नहीं जाता। तो दुष्टजन सांप की तरह दूसरेके दोषोंको ही खोजते रहते हैं।

(२५४) **दुर्जनोंकी अग्राह्यता व द्विमुखता**—दुर्जन परमाणुकी तरह अग्राह्य हैं। जैसे कोई परमाणुको ग्रहण नहीं कर सकता। ये जितने दिखने वाले पदार्थ हैं हैं तो ये पुद्गल, मगर अनन्त परमाणुवोंके पिण्ड हैं तब हम इनको छू सकते हैं, इन्हें किसी उपयोगमें भी ले सकते हैं, मगर एक परमाणु ग्रहण करने लायक नहीं हो पाता। उसका पता ही नहीं पाड़ सकते कि है कहाँ ? ऐसे ही दुर्जन पुरुषके भीतरका कोई पता ही नहीं पाड़ सकता कि इसके दिलमें क्या बसा हुआ है। तो जैसे परमाणु इन्द्रियके ग्रहणमें नहीं आता इसीप्रकार यह दुर्जन पुरुष भी दूसरेके द्वारा पकड़ा नहीं जा सकता। याने वह किसीके फन्देमें नहीं आ पाता। वह उद्दण्ड है। सज्जन लोग तो उससे दूर ही रहा करते हैं। जैसे मृदंग दो मुख वाला होता, दोनों तरफसे बजता है ऐसे ही यह दुर्जन पुरुष भी दो मुख वाला है, तब ही उसे दोगला कहते हैं। उसके दो गले हैं, मायने किसीसे कुछ कहना किसीसे कुछ कहना एकसे दूसरी बात कहना, दूसरेसे उससे खिलाफ बात कहना, मित्रोंमें वह द्वेष उत्पन्न कर देगा। कोई दो मित्र हों और दुर्जनको मिल जायें तो उसे उसके खिलाफ कहेगा, उसको उसके खिलाफ कहेगा। दोष वाले मनुष्योंकी यह आदत ही है खिलाफ बात बोलें जिससे उसे भी गुस्सा आये। उसे दोष ही प्रिय होते हैं। तो जैसे मृदंगके दो मुख होते हैं और दोनों मुखोंसे बजता रहता है ऐसे ही दुर्जन पुरुषके भी दो मुख होते हैं, किसीसे कुछ कहा किसीसे कुछ कहा और दोनों मुखोंको ही बजाता रहता है।

(२५५) **दुष्ट जनोंकी विचित्ररूपधरता व अवशता**—दुष्ट पुरुषोंका अलंकारके रूप में साहित्यके ढंगसे चित्रण किया है। ये शरदऋतुकी तरह हैं। जैसे शरद ऋतुमें नाना तरह के फल फूल वाली होती है ऐसे ही दुर्जन पुरुष भी तरह तरहके रूप बदलने वाले होते हैं। शरीरका रूप भी बदलें, मनका रूप बदलें, वचनका रूप बदलें। अत्यन्त धोखा देने वाले होते हैं। ऐसे युगके निन्दा प्रिय दोष देखने वाले पुरुषोंका संग न करना चाहिए। इस रूप बदलनेके कारण कभी किसीका शत्रु बन जाता, कभी किसीका मित्र बन जाता, यह ही रूप बदलता है। कभी यों जचेगा कि यह मेरा बड़ा हितू है पर है वह दुष्ट, कपट वाला तो किसी समय उससे भयंकर चोट पायगा। यह दुष्ट पुरुष काले सर्पकी तरह अवश है। जैसे महाभुजंग किसीके द्वारा वश नहीं किया जा पाता, मुश्किलसे वश होता है ऐसे ही दुर्जन पुरुष भी बड़ी

कठिनतासे वशमें आ पाते हैं। ये सर्पकी तरह वक्र होते हैं, इनकी गति, इनकी प्रवृत्ति टेढ़ी ही होती है। तो ये दुष्ट जन दोषोंका घर होनेके कारण सभी जीवोंके चित्तको कष्ट पहुंचाते रहते हैं। क्या नफा है कि मेरे द्वारा किसीको कष्ट पहुंचे ? यदि मैं किसीका बहुत अधिक उपकार भी नहीं कर पाता, नहीं है सामर्थ्य इतना तो ध्यान रखा जाय कि मेरे द्वारा किसी को कष्ट भी तो न पहुंचे, मगर दुर्जनोंमें यह बुद्धि नहीं होती है। दोषोंका घर होनेके कारण ऐसा ही मन, ऐसे ही वचन, और ऐसी ही कायकी चेष्टा होती है कि दूसरे लोग धोखा खा जायें और कष्ट सहन करें। तो ऐसे दुर्जनोंका संग त्याज्य है यह बात इस प्रकरणमें बतायी जा रही है।

गाढं श्लिष्यति दूरतोऽपि कुरुतेऽभ्युत्थानमार्द्रेक्षय
दत्तेऽर्द्धासनमातनोति मधुरं वाक्यं प्रसन्नाननः।
चित्तांतर्गतवंचनो विनयवान्मिथ्यावधिर्दुष्टधीं
र्दुःखायामृतभर्मणा विषयो मन्ये कृतो दुर्जनः ॥४३६॥

(२५६) **दुर्जनोंका ऊपरसे अतिमधुर व्यवहार व अन्तः ठगनेका भाव**—यहाँ दुर्जनका प्रकरण चल रहा है, दुर्जनकी संगतिसे बचना बहुत आवश्यक है, क्योंकि जीवनमें दुष्टसंगति से बड़ी बड़ी विपत्तियाँ आती हैं। सो ही इस प्रकरणमें यह बतला रहे हैं कि दुष्टोंका संग तजना चाहिये। दुष्ट कैसे होते हैं, उनकी क्या पहिचान है, यह वर्णन चल रहा है। मुख्य पहिचान और उनकी मुख्य क्रिया है यह कि दूसरोंको देखकर वे उनका बड़ा सम्मान करेंगे, पर भीतरमें कपट रखेंगे, यह दुष्ट जनोंकी क्रिया होती है, दुर्जन पुरुष दूसरोंको दूरसे ही देखकर उठकर सत्कार करेंगे, पास आनेपर बड़े प्रेमसे मिलेंगे उनको अपने आसनपर बैठायेंगे, बड़े प्रसन्न होंगे, बड़े भले वचन बोलेंगे, इतना करनेमें तो कोई हानि नहीं मगर उनके दिल में कपट है और कोई अपनी स्वार्थ साधनाकी ही बात रख रहे हैं इस कारण ये सब उनके अवगुणमें आ गए। करेंगे दूसरोंका सत्कार और भीतर रखेंगे उनके प्रति कपट जिससे अपना स्वार्थ सिद्ध करेंगे और उन दूसरोंका चाहे कुछ हो।

(२५७) **वस्तुतः कर्मसंगकी अनर्थकारिता**—मुख्य बात तो यह है कि वास्तवमें देखा जाय तो दुष्टसंग तो कर्मोंका संग है, उन कर्मोंके संगसे दूर हटना चाहिए, पर उसका पात्र वही बनेगा जो कुसंगको छोड़कर सत्संगमें रहेगा। वही कर्मोंके नाशका उपाय बना सकता है। लोग बाहर देखते हैं और और बातें, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा विरोधी है, यह गैर है पर यह नहीं देखते कि मेरे साथ जो कर्म लगे हैं वे ही मेरे शत्रु हैं, दूसरा जीव कोई मेरा शत्रु नहीं। स्वयंके पापका उदय होगा तो दूसरे भी उसके एक साधन बन जायेंगे दुःखके,

पर स्वयंके असाताके उदय बिना दूसरोंसे कभी कष्ट नहीं मिल सकता। तो निमित्तदृष्टिसे देखें तो कर्म ही बैरी हैं। मैं स्वभावसे ज्ञान और आनन्दमय हूं, स्वरूप ही मेरा ऐसा है, जो प्रभुका स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है। फर्क यह हो गया कि प्रभु निर्दोष हैं, वीतराग हैं और यहाँ हम आप सब रागसहित हैं। जैसे एक चावल बोरोमें भरा या कनस्तरमें भरा है और एक चावलका सीझकर भात बन गया, तो जाति दोनोंकी एक है, एक अभी कच्चा पड़ा है और एक पक गया है मगर स्वरूप दोनोंका एक है, ऐसे ही हम आप अभी कच्चे हैं और भगवान सीझ गए, सिद्ध हो गये। सिद्ध कहते किसे हैं ? जो सीझ गए, जो अंतिम पाकपर उतर गए। सीझना क्या है कि जैसा हमारे आपके आत्माका सही स्वरूप है बस वही भर रह जाय उसीके मायने सिद्ध भगवान है।

(२५८) बीत रहे संकटका रहस्य—वर्तमानमें हो क्या रहा है कि हम आपके साथ एक तो शरीर बँध गया, कर्म बँधे हैं ही मूलमें और उसके कारण रागद्वेष मोह आदि विकार जग रहे हैं तो यह तीनका बंधन हो गया मेरेमें शरीरका, कर्मका और विकारका। तो समझ लो हम आप कितनी गिरी स्थितिमें हैं, कितने कष्टकी स्थितिमें हैं। आज कुछ पुण्यका उदय पाया, कुछ सुख समागम पाया तो उनमें लोग मस्त हो जाते, कितनी अज्ञानदशा है। पर आचार्यदेव कहते हैं कि अरे क्या सुखमें मग्न हो रहा, तेरेपर तो भयंकर विपदा छायी हैं। आज कुछ कर लेगा, दूसरोंपर शान जमा लेगा, पर निभेगा तो नहीं सदा। कर्मबंध होगा, संसारकी परिपाटी चलेगी। तो बुद्धिमान पुरुष वह है जो इन तीनों बंधनोंसे हटनेका उपाय बनाये। जिसमें मस्त हो रहा है, जिसको मान रहे मेरा घर, मेरा कुटुम्ब, मेरा बच्चा, अमुक तमुक, और बड़े खुश हो रहे, पर इस खुशीका कुछ महत्त्व नहीं, क्योंकि आज पुण्यका उदय है सो यह सब दिख रहा, पर आगे यह कुछ न रहेगा यदि अच्छी करनी नहीं है तो पापका उदय आयगा और इसे कठिन दुःख होगा। और वैसे भी मोटे रूपसे देख लो तो जिनको जितना अधिक सुख है दुनियावी दृष्टिसे उनको नियमसे उतना ही अधिक दुःख आयगा। सब बातें बीत ही रही हैं हम आपपर। क्या अधिक सिखाना बताना इस सम्बंधमें। आज अगर कोई परिजनके लोग हमसे बड़ा-बड़ा प्यार करने वाले हैं, और उनमें मौज मान रहे हैं तो क्या ये समागम सदा रहेंगे ? अरे इन सबका वियोग नियमसे होगा। सबपर ही बीत रही है यह बात। तो जितना अधिक सुख माना जायगा उसके वियोगमें उससे अधिक दुःख मानना पड़ेगा। तबका कष्ट देखिये।

(२५९) मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनेका स्वकीय अधिकार—यह संसार अजायबघरकी तरह है। इसको तुम देखे जावो पर छुवो नहीं, इसमें लगाव न रखो। किसी अजायबघरमें

देखने वाले जाते हैं तो उन्हें देखनेभरकी इजाजत रहती है, ये कोई चीज छू नहीं सकते। अगर किसी चीजमें हाथ लगायेंगे तो उसके निरीक्षक लोग उसे पकड़ लेंगे, दण्ड देंगे, अपमान करेंगे। तो ऐसे ही दुनियामें जितने भी समागम मिले हैं ये समागम केवल जानने देखनेभरके लिए हैं। इनमें लगाव करनेकी, प्रेम करनेकी इजाजत नहीं है। कोई अगर इनमें लगाव रखता है, प्रेम रखता है तो उसको कर्म दण्ड देंगे। तो देखिये—तीन चीजें बतायीं—शरीर, कर्म और विकार। जितने कष्ट हम आपपर आ रहे हैं वे सब इस शरीरके सम्बंधसे ही तो आ रहे हैं। भूख प्यासका लगना, खाँसी ज्वर आदिकका होना सम्मान अपमान आदिकी बातें होना ये सब इस शरीरके सम्बंधसे ही तो हैं। लेकिन शरीर निराली चीज है। जिनके शरीर नहीं रहा उनकी पूजा होती है। अब जन्म नहीं होना है जिनका वे आदर्श हैं। तो इतनी बात तो चित्तमें आना ही चाहिए कि हे प्रभो मेरेको शरीर न चाहिये। आगे भी कभी मुझे शरीर न मिले। इस शरीरके बिना जैसा मैं अपने आप हूं वैसा ही हो जाऊँ यह भावना होना चाहिए। शरीर मिला क्यों? कर्मके उदयसे। तो इसके प्रति भावना रखिये कि कर्म मुझे न चाहिये। ये कर्म दुःखके हेतुभूत हैं। मैं कर्मसे रहित हूँ। जैसा यह मैं केवल हूं वैसा ही रहना चाहता हूं। जब कर्म नहीं तो विकार भी नहीं। पर ऐसा होनेका उपाय क्या है? उपाय है स्वरूपदृष्टि। अपने स्वभावमें आत्मत्व अनुभव करना, मैं यह हूं। जो मैं अपने आप अकेला, अपने सत्त्वसे जिस स्वभावमें हूं, जिस रूप हूं उस रूप अपनेको अनुभवना, यह है उपाय सर्व उपयोगोंसे हट जानेका।

(२६०) **आत्मसर्वस्वको आत्मारूप अनुभव कर आत्महित कर लेनेका अनुरोध**—देखिये—जीवनमे आज अन्य जीवोंकी अपेक्षा कितनी भली स्थिति पायी है। श्रेष्ठ मन मिला, जैनशासनका शरण मिला, आचार्य संतोंका उपदेश सुगम मिला है, ऐसी भली स्थितिमें हम यदि आत्माके कल्याणका उपाय न बनायें और जो धर्मव्यवहार चल रहा उसको एक अपनी मात्र रूटीन (दिन चर्या) सी ही बनाकर रह जायें और उसमें भी प्रयोजन यह ही रखें कि मेरेको सुख शान्ति मिले, केवल इतना ही प्रयोजन रखें तो समझिये कि यह दुर्लभ अवसर हम खो रहे हैं। ध्यान यह रखना चाहिये कि जैसा मैं खुद अपने आप हूं बस वही मात्र मैं रह जाऊँ, सारा झगड़ा दंद फंद मेरा मिट जाय, बस यह दृष्टि होनी चाहिये। आज जिन जिनका संग मिला है। जो जीव आये हैं घरमें क्या उनसे पूर्वभवमें भी आपका कुछ सम्बन्ध था? अनन्त जीवोंमें से कोई दो-चार जीव आपके घर आ गए तो उनसे मोह किया जा रहा। ये ही मेरे सब कुछ हैं। तो यह तो अज्ञान है, और इसमें बहुत विकट कर्मबन्ध होता है। यद्यपि गृहस्थीमें रहकर प्रेम रखना होगा, राग चलेगा पालन पोषणकी जिम्मेदारीसी

भी मानी जायगी। उचित व्यवहार होगा पर यह समझो कि यह सब गुजारेके लिए करना पड़ रहा है। पर मेरा ही है सब कुछ ऐसा मान करके यदि कोई चले तो उसमें मिथ्यात्वका बंध है। मेरा सर्वस्व तो मेरा स्वरूप है जो मेरेमें अनादिसे अनन्तकाल तक रहता है। बस यह ही मैं हूं, अन्य कुछ मैं नहीं। यह श्रद्धा जब तक नहीं बनती तब तक संसारमें जन्ममरण करना पड़ेगा। तो वास्तविक दुष्ट कौन रहा? मेरा ही मोह रागद्वेष। उसका निमित्त कारण कौन रहा? कर्मविपाक। यह कर्मविपाक क्यों आया? यह पहले बँध गया था। यह पहले क्यों बँधा था? हमारी ही गल्तीसे, हमारी कषायसे। इससे मोह और कषाय ये हमारे प्रबल बैरी हैं, ये दुष्ट भाव हैं, ये मुझ आत्माको बरबाद कर रहे हैं, सो अपने आपपर दया करें और यह हिम्मत लायें कि मैं इन मोह कषायोंसे हटकर अपने आपके स्वरूपका प्रकाश ही पाऊँ।

(२६१) ज्ञान और वैराग्यकी वास्तविक उपकारिता—पहले जो पुरुष छोटी अवस्था में ही विरक्त हो जाते थे, सुकौशल मुनिकी चर्या देख लो—कोई उनकी अधिक उम्र तो न थी। जवानी प्रारम्भ ही हुई थी, कारण पाकर विरक्त हो गए। लोगोंने उनको बहुत बहुत समझाया कि अभी तुम्हारी पत्नीके पहला गर्भ है, कमसे कम बच्चेका मुख तो देख लो, उसे राजतिलक करनेके बाद विरक्त हो जाना। तो क्या उत्तर उनका था कि जो भी बच्चा पेटमें हो उसको मैंने अभीसे तिलक कर दिया। जिसमें मोह नहीं रहता और आत्मज्ञान जग जाता है वह तो आत्महितकी ही बात करेगा, अन्य बात न करेगा। लेकिन आप देख लीजिए, मोही मनुष्योंका खोटे कार्य करते करते सारा जीवन गुजर जाता है, वृद्धावस्था आती है, मरण होता है लाभ क्या हुआ उससे? ज्ञान और वैराग्य ये दो ही इस जीवके लिए उपकारी हैं, अन्य कोई उपकारी नहीं। यहां कोई मेरा मददगार हो ही नहीं सकता। यदि कोई बच्चा बच्ची यदि मेरी सेवामें तत्पर हो रहे तो समझना चाहिए कि मेरे ही पुण्यका उदय है जिससे ये सब मेरे सेवक बन रहे। अन्यथा राजा श्रेणिकका लड़का जिसका नाम कुणिक था वह आखिर राजाका लड़का ही तो था मगर वह अपने पिताका ही विरोधी हो गया और राजा श्रेणिकको उसने कितना कष्ट दिया···। यद्यपि राजा श्रेणिक सद्व्यवहारी था, किन्तु उसके पूर्वबद्ध कर्मका ऐसा ही तीव्र उदय आया।

(२६२) स्वयंके भलेपन और पुण्यविपाकसे ही सुविधा विश्रामका लाभ—कोई यदि भला बर्ताव कर रहा है तो हम भले हैं तभी तो भला बर्ताव मिल रहा है दूसरोंसे। यदि हम भले नहीं हैं, हमारा उदय खोटा है, हमारा भाव विपरीत है तो कोई भला व्यवहार करने वाला न रहेगा। तो खुदकी खुदपर बड़ी जिम्मेदारी है। जो दूसरोंका आसरा तकते हैं उनका जीवन भी क्या जीवन है। वे अपने

जीवनको यों ही बिता रहे। तो ज्ञान और वैराग्यकी दिशामें बढ़ें और दूसरेकी अपेक्षा न रहे, एक ही हो कि मुझे अपने आत्माको पहिचानता है और अपने आपके आत्माको निरखकर अन्तः प्रसन्न रहना है। संसारके जालसे सदाके लिए छूटना है। ऐसा कोई कदम रखे वह तो बड़ा ऊँचा कदम है। तो यह समझ लीजिए कि हम लोगोंका अनर्थ करने वाला हमारा ही विकार है और उस विकारका निमित्तभूत कर्म उसका बंधन मेरे लिए खोटा है। सो अपनेको शरीरसे रहित, कर्मसे निराला, विकारसे परे केवल प्रतिभासमात्र चैतन्यमात्र जहाँ केवल ज्ञानप्रकाश है अन्य कुछ नहीं है, इस रूपमें अपने आपको निरखना यह है धर्मपालन। बाहरी साधन तो साधनमात्र हैं। उन साधनोंमें रहकर यदि यह भीतरी काम किया जा सके तो उसके धर्मपालन है, और यदि यह भीतरी काम न कर सके तो वह रूढ़ि पालन है। जैसे यहाँ दुर्जन पुरुष दूसरोंका बड़ा सत्कार करें, मीठे वचन बोलें, पर भीतरमें कपट रखें तो अन्तिम परिणाम दुःखका ही रहता है ऐसे ही ये पुण्यकर्मके उदय बड़े अच्छे लग रहे हैं, सुख साधन मिल रहे हैं, मनचाहे भोग साधन प्राप्त हो रहे हैं मगर इसका परिणाम क्या है ? कटुक। नियमतः ये सब मुझे छोड़ेंगे। जितने भी संग मिले हैं वे सब आपको छोड़ देंगे। चाहे आपसे पहले ये चीजें अलग हो जायें या खुद मरण कर जाय तो ये छूट गए। तो यों छूटना भला नहीं है किन्तु खुद उनको छोड़ दें ज्ञानबलसे, संयमबलसे और ऐसा जीवन बिताये तो उसका भला है, सो वर्तमान सुख साधनमें अपनेको रमाना नहीं किन्तु इन विपत्तियोंको देखना कि मेरे साथ शरीरका बंधन लगा, कर्मका बंधन लगा, रागद्वेष विकारका आक्रमण हो रहा, मुझे तो बड़ी सावधानी चाहिए जिससे कि ये सारी विपत्तियाँ दूर हो जायें।

(२६३) आत्मनिरीक्षण व आत्मप्रगतिचिन्तन—भैया ! रोज रोज ऐसी प्रार्थना करते पूजनमें, भजनमें, स्तवनमें कि हे प्रभो आप अनन्त आनन्दमय हैं, आप ही सर्वज्ञ हैं, निर्दोष हैं, आदर्श हैं। आपकी उत्कृष्ट अवस्था है, पर ऐसा आप अपने लिए चाहते कि नहीं चाहते ? चाहते। और चाहना तब कहलायगा जब कि हम उसके अनुसार परमात्म पंथपर तो चलें उनके बताये मार्गपर तो चलें। उनका बताया मार्ग है मोह दूर करना, सो जीवनमें यह अपना गुंतारा तो लगाइये कि मोह दूर किया जा रहा है या भीतरमें मोह और दृढ़ हो रहा है ? केवल बातसे तो कुछ न बनेगा। भोजनकी खूब बात करें और भोजन न मिले तो पेट तो नहीं भरता, तो ऐसे ही हम बातें तो धर्मकी खूब करें और मार्गपर जरा भी न चलें तो उसका फल तो नहीं मिलता। अपना लेखा जोखा लगायें। मैं कितना तृष्णा और मोहमें चल रहा हूं कि अपने आत्माको कभी सुख ही नहीं ले पाता, कभी विश्राम ही नहीं मिल

पाता कि ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव तो कर लूं। यदि ऐसी गति है तो कुछ थोड़ा अपने आपपर अफसोस करना चाहिए और उसका उपाय बनना चाहिए। उपाय यह ही है ज्ञान और वैराग्य। सीधी सी बात। अगर शान्ति चाहिये, आनन्द चाहिए, स्वतंत्रता चाहिए, सत्य आनन्दका अनुभव चाहिए तो ज्ञान और वैराग्यमें बढ़िये पर चल रहे इससे उल्टी चाल। 'आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखें आपको कष्ट दान।' आत्माका हित करने वाला है ज्ञान भाव और वैराग्यभाव, पर यह मिथ्यादृष्टि जीवको कष्टदायक प्रतीत होता है। ज्ञानभावमें चाहिए अपने स्वरूपका चिन्तन। मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूं। जैसे दर्पण है न, तो उसमें दो बातें पायी जाती हैं। खुदकी स्वच्छता और दूसरे पर, पदार्थोंकी झलक, ज्ञान यह मेरा स्वरूप है। राग करना, द्वेष करना यह मेरा स्वरूप नहीं। यह तो कर्मकी फोटो है। इससे मैं निराला हूं बस इसपर दृढ़ रहिये तो समझिये आप ज्ञानमें बढ़ रहे, और इसीके प्रतापसे सबका मोह भी छूटेगा, राग छूटेगा। परमें रहकर भी स्वरूपको सुध तो रखें फिर गृहस्थीसे सम्बंधित कार्य भी करें क्योंकि गृहस्थीमें रहना तभी बन सकता है जब कि सब ठीक-ठीक व्यवस्था बनी रहे। गृहस्थीमें रहते हुए यह तो उन्नतिका मार्ग है और यदि मोहमें लिप्त हो गए तो यह संसारमें रुलनेका मार्ग है।

यद्वच्चंदनसंभवोपि दहनो दाहात्मकः सर्वदा
संपन्नोपि समुद्रवारिणि यथा प्राणांतको दुंदुभिः।
दिव्याहारसमुद्भवोपि भवति व्याधिर्यथा बाधकस्तद्वद्-
दुःखकरः खलस्तनुमतां जातः कुलेप्युत्तमे ॥ ४३७ ॥

(२६४) दुष्ट जनोंकी दुःखकरता—जिन पुरुषोंका मन कपटसे, खुदगर्जीसे भरा हुआ रहता है, जिनको क्रोध करनेकी आदत है ऐसे पुरुषोंका संग छोड़ने योग्य बताया है, क्योंकि जिसमें खुदको भी दोष आने लगे और कषाय बढ़नेका प्रसंग होने लगे, विपत्ति भी आये तो ऐसा सत्संग आत्महित चाहने वालोंको योग्य नहीं होता, इसी कारण इस प्रकरणमें दुष्टजनों के लक्षणका वर्णन चल रहा है। यह प्रसंग सर्वदा जीवोंको जलन करने वाला होता है। जैसे चंदनके वृक्ष ठंडे माने जाते हैं, चंदनका लेप ठंडा माना जाता है, पर चंदनके वृक्षसे उत्पन्न होने वाली अग्नि सदा जलाने वाली ही होती है, ऐसे ही जिसका हृदय क्रूर है, रुद्र है वह चाहे किसी समय कितना ही मीठा व्यवहार करता हो उसका संग जीवोंको कष्ट देने वाला ही होता है। इसलिए जिसका हृदय स्वच्छ है, धर्मसे प्रीति रख रहा है ऐसे पुरुषका संग ही इस जीवका भला कर सकता है। जैसे समुद्रके जलसे विष पैदा होता है, ऐसा लोग कहते हैं तो भले ही समुद्रके जलसे हो विष, जिससे अमृत भी होता है लेकिन विष तो प्राणों

का घातक हुआ करता है। ऐसे ही चाहे बड़े कुलमें ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो, चाहे कितना ही उसे पढ़ा लिखा लिया हो, लोकव्यवहारमें भी कुछ चतुराई पा ली हो, फिर भी यदि हृदय स्वार्थ, कपट और क्रोधसे भरा हुआ रहता है तो उसका संग जीवोंको हितकारी नहीं होता। जैसे रोग कभी हितकारी नहीं होता। चाहे वह रोग बड़ा मीठा आहार करनेसे हुआ हो पर रोग तो दुःख ही पैदा करता है इसी प्रकार ये कपट हृदय वाले पुरुष चाहे कैसा ही वातावरण बना हो, लेकिन वे दुःखके ही कारणभूत होते हैं। इस कारण संगति भली करनी।

(२६५) सत्कर्तव्योंमें सत्संगकी सुगन्ध—पूजामें कहते ना—आर्य पुरुषोंकी हमें संगति प्राप्त हो, सबके सत्संगकी बात ही बसी हो। जैसे अन्तमें बोलते हैं—शास्त्रका हो पठन सुखदा, शास्त्रका पठन हो तो शास्त्र पढ़नेसे हृदयपर छाप किसकी पड़ती है? जो सत् आत्मा हैं, सिद्ध आत्मा हैं, महापुरुष हैं, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक धर्मोंके पालनहार हैं उनका ही तो प्रताप पूजते हैं। तो वहांपर भी सत्संग चल रहा है। लाभ सत्संगति यह तो साक्षात् ही लाभ है। ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, संत पुरुषोंका लाभ मिल रहा, सद्वृत्ति सुजस, जिनका चारित्र अच्छा है, उनका गुणगान करना चाहिए। उनके गुणोंकी संगति मिल गई, गुणोंपर दृष्टि होगी तो गुणोंका प्रसर होता है। लाभ सत्संगतिका, सत् पुरुषोंके दोषोंको ढांकूं। प्रथम तो किन्हीं धर्मात्मा जनोंके द्वारा कभी कोई अपवादकी बात आती हो तो धर्मप्रभावनाके हेतु उसको ढकना, लोगोंमें प्रकट न करना, हां उसे समझाना, अपनी गोष्ठीसे बताना वह तो व्यवस्थाके लिए है, पर लोगोंमें उसका प्रसार करना यह अंगसे खिलाफ है। फिर पड़ी ही क्या है? जगतमें अन्य साधारण लोग भी दोषोंके भरे हुए हैं मगर उनके दोषों को प्रकट करनेसे इसे लाभ क्या है? यह तो अपने आत्महितके काममें लगे। बोलूं प्यारे वचन हितके, प्रिय वचन बोलूं, इसमें सत्संग ही तो आया। यदि हम दूसरेसे अच्छे वचन बोलेंगे तो दूसरे भी हमसे अच्छे वचन बोलेंगे। हे प्रभो! मैं आपके रूपको ध्याऊं, अपने आत्माके स्वरूपका ध्यान करूं। यह तो परमार्थ सत्संग है। अपने आपमें जो परमार्थ वास्तविक सत्य है उसका संग किया है उपयोगने और भगवानके चरणोंकी सेवा, पूजा, भक्ति यह भी सत्संग है। प्रभुसे बढ़कर और सत् कौन मिलेगा दुनियामें? जिसके रागद्वेष नष्ट हो गए हैं, ज्ञान दर्शन आदिक गुण परिपूर्ण प्रकट हो गए हैं ऐसे शुद्ध आत्मा वे महान् सत् हैं। उनके गुणोंका स्मरण, उनकी पूजा, उनकी आराधना यह ऊँचा सत्संग है।

(२६६) सत्संगकी प्रचुर उपादेयता—अपने जीवनमें भला संग चाहिए, खोटे संगसे संक्लेश होता है, कष्ट होता है, कषाय भी होती है, बुद्धि बिगड़ती है, अपने भलेके लिए सत्संग करें। यदि साधर्मी जनोंका संग रहेगा, जो आत्महितके मार्गमें लगे हैं उनका संग

निरन्तर रहेगा तो अपनी भी प्रगति है। कभी लोग प्रश्न करने लगते हैं कि हमारा मन बड़ा चंचल रहा करता है। जब हम ध्यान करने बैठते तो मन स्थिर नहीं रहता, इधर उधर दौड़ता है तो उसका कारण क्या है ? तो उसका कारण यह है कि कुसंगमें अधिक रहना हो रहा, सत्संग बहुत कम मिलता है। जैसे घर गृहस्थी बाल बच्चे इनका प्रसंग यह भी कुसंग है आत्महितकी दृष्टिसे। जिस बातमें मोह बढ़े, रागद्वेष बढ़े वह सब कुसंग कहलाता है। अच्छा, घरके वातावरणसे दूकानपर गये तो वहाँ भी कितनो ही तरहके लोग मिलते हैं, न जाने कितनी तरहके हृदय वाले लोग मिलते हैं, सबके साथ बात करनी पड़ती है और धनार्जनके प्रसंगमें कितना कितना श्रम, पौरुष, विचार करने पड़ते हैं। तो उन सब संगोंका फल तो मिलेगा। जहाँ उपयोग बाहर ही बाहर रमा और वह भी रमा अयोग्य साधनोंमें तो चित्त फिर स्थिर कैसे रह सकता ? चित्तकी स्थिरताका कारण है सत्संग। स्वाध्याय किया जाय मननपूर्वक अपने आपपर ज्ञानसे घटित करते हुए और उसका लाभ लिया जाय। अभ्यास बनाइये। संत, त्यागी, व्रती, ज्ञानी, जो संसार शरीर भोगोंसे विरक्त हों ऐसे पुरुषों का संग अधिक होगा तो चित्त स्थिर होने लगेगा। चित्त जो स्थिर नहीं रहता उसका मुख्य कारण है कुसंग। सो गृहस्थीके प्रसंगमें, घरमें, बाहर सब जगह रागी द्वेषी मोही लोगोंका संग अधिक मिलता है यही कारण है कि चित्त स्थिर नहीं हो पाता।

(२६७) सारहीन तत्त्वोंसे लगावका फल कष्ट—संसारमें किसी भी बातमें कुछ सार रखा है क्या ? ममता तो किये जा रहे हैं पर यह तो बतलावो जिस जिसमें ममता पहुंच रही है वह वस्तु आपके लिए सारभूत है क्या ? आत्माका हित कर सकते हैं क्या ? सब अपनी अपनी बात जानते हैं कि कहाँ ममता लगी हुई है। सो सोच लीजिए। जिस कुटुम्बमें, जिस किसी भी व्यक्तिमें मोह ममता जग रही है वे आपकी परिणति कुछ बना सकेंगे क्या ? कोई सुधार कर सकेंगे क्या ? आपको मोक्षके रास्तेमें लगा सकेंगे क्या ? अरे उनका लगाव तो अपने कल्याणसे विरुद्ध ही चलायगा। तो सार कहाँ रखा ? धन वैभवकी तृष्णा बढ़ाये जा रहे हैं, खूब उसका संचय करनेमें लगे हैं पर आत्माके लिए वह कुछ सारभूत चीज है क्या ? आत्माके साथ वह जायगा क्या ? और जब तक पास है तब तक भी उससे शान्ति मिल रही है क्या ? जो विश्वके बड़े बड़े धनिक हैं उनपर जरा दृष्टिपात करके देख लो, वे निरन्तर आकुलित रहते हैं, क्योंकि विकल्पका आश्रय उनके बहुत बढ़ गया है। तो जहाँ इतने विकल्प चल रहे हैं वहाँ इस जीवका शान्तिका क्या प्रसंग ? सारी बात खोज डालो कहीं सार रखा है क्या ? खुदका भी देह जिसमें इतनी ममता बन रही है, जिस देहके आधारपर ही अहंकार ममकार, रोग, शोक, सम्मान अपमान आदिककी सारी बातें बन रही

हैं वह देह भी कुछ सारभूत है क्या ? कुछ भी सारभूत नहीं है, बल्कि जीवको बड़ी विपत्ति रूप है। जब बिल्कुल भिन्न वस्तु हैं आत्मा और शरीर, शरीर पौद्गलिक है, आत्मा चेतन है, जाति भी नहीं मिलती हैं तो फिर इस शरीरसे आत्माको कुछ लाभ मिलेगा या बिगाड़ होगा ? बिगाड़ ही होगा। तब फिर इस शरीरसे भी ममता क्यों ?

(२६८) गुणिभक्ति, आत्मभक्ति व निर्मोहताका प्रसाद—देखिये धुन होनी चाहिए गुणी पुरुषोंमें और अपने आत्माके स्वरूपमें। तीसरी बात कोई भली नहीं है। जिनके सम्यक्त्व है, ज्ञान है, संयम है, व्रत, तप, नियम है ऐसे पुरुषोंकी प्रीति करें और अपने आत्माके स्वभावकी रुचि करें तो कुछ सारका मार्ग मिलेगा, मगर बाह्य संग प्रसंग कुटुम्ब मित्र आदिक इन संग प्रसंगोंमें कुछ भी सार नही मिलनेका। अब तक जिन्दगी भी काफी बीत गई, वृद्ध हो गए पर चित्तसे बाह्य विषय व्यामोह नहीं निकलता। परिवार तो छोड़ना ही पड़ेगा। वह यों छूट जाय इससे पहले विवेक करके खुद क्यों न छोड़ दिया जाय ? तो ऐसा विवेक रखें, मोह ममता हटायें, गुजारेके लिए भले ही प्रेम व्यवहार करना पड़ता है, घरमें रहना लड़ झगड़कर नहीं हो पाता। शास्त्रोंमें बताया है कि स्त्री पुत्र आदिक परिजन करके ले जानेके हेतुभूत हैं तो क्या घरमें रहकर आपसमें यों बोलेंगे कि तुम तो मेरे लिए नरक ले जानेके हेतुभूत हो, हटो यहाँसे····। अरे गुजारा चलानेके लिए सबके साथ प्रेमका व्यवहार करना पड़ेगा पर अपनी प्रतीतिमें सही बात बनी रहे। वहाँ किसीसे मोह ममता न रखें। यदि मोह ममता न रहेगी तो उनके बीच रहकर भी किसी प्रकारको उलझन न आयगी। उलझन जितनी होती है वह मोहके कारण होती है। कुछ बचपनसे बढ़े, कुछ ख्याल हुआ धर्मका तो सोचते हैं कि हमें जीवनमें ज्ञान और धर्मकी सिद्धि करता है जब कुछ ही दिनोंमें हो गया विवाह तो अब स्त्रीकी ओर आकर्षण हो गया, धर्ममें अब लगन कम हो गई, और कुछ दिन बाद यह आशा करने लगते कि मेरे संतान हों। जब संतान हो गये तो उनके पालन पोषणमें लग गए। जब वे सन्तान बड़े हुए तो उनको पढ़ाने लिखाने तथा उनके विवाह आदिकी अनेक बातें सामने आ गईं। वहाँ फिर धन कमाने तथा सब प्रकारकी व्यवस्थायें बनानेकी पड़ती है। यों जीवनमें कभी चैन नहीं मिल पाती। धनार्जन करनेमें तो कभी चैन मिल ही नहीं पाती। जिसके पास जितना धन है वह उससे आगेकी ही सदैव दृष्टि रखता है, वह जितना है उससे सन्तुष्ट नहीं हो पाता। परपदार्थोंकी आशा तृष्णामें सारी जिन्दगी यों ही निकल जाती है। तो अब कुछ अपने हितकी भी बात सोचना चाहिए। अपना रात दिनके २४ घंटेमें कुछ समय जाप, सामायिक, पूजा पाठ, आत्मध्यान आदि कार्योंके लिए भी लगायें, अपने भाव विशुद्ध बनायें। तो जिन जिन पदार्थोंका सङ्ग होनेसे आत्माका

संसार बढ़ता है वे सब इस आत्माके लिए कुसंग हैं। सो घरमें रहनेमें बड़ी सावधानी चाहिये। तो यह तो चर्चा है, जो इस भवमें परका हित चाहते हैं उनके संगकी, मगर जिनके चित्तमें कपट बसा है, कुछ भी धार्मिक नातेसे प्रीति नहीं है, और अज्ञानके कारण स्वार्थ ही जिनके समाया हुआ है, अपने आपमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें बसाये रहते हैं ऐसे पुरुषोंका संग हम लोगोंको धार्मिक वातावरणसे दूर कर देता है। इसी कारण बतला रहे कि अधिकसे अधिक सत्संगका प्रयत्न करना चाहिये।

(२६९) **वर्तमान उपलब्ध श्रेष्ठ अवसरको व्यर्थ न गमानेका विवेक**—भैया यह बड़ी भली बात है कि जैन कुलमें पैदा होने वालोंको सत्संगके बहुत अवसर आते हैं। एक तो वर्ष में इतने दिन हैं पर्वके, तीर्थंकरोंके, कल्याणकी तिथियोंके या सोलह कारण, कर्मदहन आदिक व्रत विधानोंके, उनके सहारे धर्मध्यान चलता है। व्रत चले, उपवास चले, ज्ञानध्यान चले, पूजा चले, यों कितने ही अवसर आते। समय समयपर साधु संत जनोंका समागम भी प्राप्त होता है, वह भी लाभदायक है। बड़ा अवसर प्राप्त होता है मगर यहाँ ही कोई इसकी ओर दृष्टि न दे और अपने आपके स्वार्थ और मोहमें ही चित्त लगाये है तो समझो उसने अपना दुर्लभ अवसर व्यर्थ खो दिया। देखो जिस देवकी हम आराधना करते हैं वह देव परम विशुद्ध है। पूजामें किस ओर आपका ध्यान जाता? जो पूर्ण केवलज्ञानी सर्वज्ञ है। सर्व दोषोंसे पूर्णतया रहित है, जिसमें कभी विकार आनेका संदेह नहीं है ऐसे परमात्माकी ओर ध्यान जाता है। कैसी विशुद्ध आराधना जैनशासनमें बतायी गई है और वह भी इस प्रयोजनसे कि जिस मार्गसे चलकर प्रभु भगवान हुए बस वही मार्ग मेरे लिए हितकारी है। उस मार्गसे मैं भी चलकर सदाके लिए संसारके संकटोंसे हट जाऊं। तो देवपूजामें कैसा शुद्ध भावनाका प्रसंग मिलता है। शास्त्रस्वाध्यायमें प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग जिसका भी स्वाध्याय किया जाता है उससे रागको शिक्षा नहीं मिलती। कैसा ही कथानक हो उस कथानकमें भी वैराग्यकी शिक्षा बसी हुई है। आचार्यसंतोंके उपदेशका ध्येय ही यह है—वैराग्यकी ओर ले जाना। तो कितना आपको शुभ अवसर मिला है, जैनशासनके गुरु जो त्यागकी ओर ही बढ़ रहे हैं, केवल आत्माके मननकी ओर ही जिनकी धुन रहती है। जिनके विषयवासना नहीं, किसी प्रकारका संचय नहीं, कषायका अवसर नहीं ऐसे साधु संत जनोंकी सेवा भक्तिके अवसर मिलते हैं। तो अपने उद्धारके लिए इस वर्तमान समयमें कैसा सुन्दर अवसर मिल रहा है तिसपर भी यदि कोई इस ओर न लगे और बाह्य पदार्थोंकी धुन, तृष्णामें ही अपना समय गमा दे तो यह तो उसकी भूल है। उसका भवितव्य भला नहीं है। अपना भवितव्य अपने आधीन है। हम सत्कार्योंमें अपना उपयोग लगायें तो हमारा

भला होगा। छह आवश्यक कर्तव्योंमें कैसी पवित्रता है। प्रभुकी पूजा करें, उनके गुणोंका गान करें, गुरुवोंकी सेवा करें, स्वाध्याय करें इन्द्रियसंयम पालें, यथा तथा न खावें, जीवोंकी दया पालें, मेरे द्वारा किसी भी जीवका प्राणविघात न हो। इच्छायें आती हैं उनका निरोध करें। मैं इच्छारहित केवल ज्ञाताद्रष्टा मात्र रहूं ऐसी भावना बनायें और अन्तिम आवश्यक है दान। धन पाया है तो उसे अच्छे कार्योंमें लगायें जिससे दूसरोंका उपकार हो, अपना भी भला हो। तो ये छह आवश्यक कार्य श्रावकोंके ये कितना पवित्र विचारोंको बढ़ाने चलते हैं तो जो हमें समागम मिला है उस समागमका हमें पूरा लाभ उठाना चाहिए। ऐसी उमंग अपने चित्तमें रहे तो यह हम आपके लिए बहुत ही भलेका काम बनेगा।

लब्धं जन्म यतो यतः पृथुगुणा जीवंति यन्नाश्रिता
ये तत्रापि जने वने फलवति प्लोषं पुलिंदा इव।
निस्त्रिंशा वितरंति धूतमतयः शश्वत्खलाः पापिनस्ते
मुंचंति कथं विचाररहिता जीवंतमन्यं जनं ॥४३८॥

(२७०) दुष्ट जनोंकी जंगली भील लोगोंकी तरह भयंकर प्रवृत्ति—जिस प्रकार जंगली भील लोग जिस ही जंगलमें पैदा होते हैं, जिस ही जंगलसे उनका संरक्षण होता है, जहांके फल खाकर भूख मिटाते हैं। जिस जंगलके बलसे ही जीवित रहते हैं उसी जंगलको दयारहित होकर वे निर्बुद्धि पापी जला डालते हैं और उस समय कितने ही जीवित जीवोंको मार गिराते हैं, इसी तरह दुर्जन जिससे गुण सीखता है, सैंकड़ों हुनरकी बात सीखता है, जिनके सहारेपर जीवित रहता है उसी फल वाले उपकारी पुरुषको दुष्टबुद्धि होकर राक्षसके समान दयारहित होता हुआ मार गिराता है, अर्थात् कोई कितना भी उपकार करे उसका भी अपकार कर बैठता है। तब वह जिससे कोई सम्बंध नहीं, जिसका उसपर कोई उपकार नहीं ऐसे पुरुषोंको तो छोड़ेगा ही क्यों? अर्थात् यह दुर्जन पुरुष उनका अहित किए बिना नहीं रह पाता। दुष्ट प्रकृति होनेसे सदैव चित्तमें क्रोध भरा रहता है। क्रोधका कारण दुष्टता होती है। क्रूरता हुए बिना चित्तमें क्रोध नहीं आ सकता। तो यह दुर्जन पुरुष क्रोधी होकर सभी जीवोंको दुःख पहुंचता है। ऐसे दुष्ट प्रकृति वाले मनुष्यका संग त्यागने योग्य है।

यः साधूदितमंत्रगोचर मतिक्रांतो द्विजिह्वाननः
क्रुद्धो रक्तविलोचनोसिततमो मुंचत्यवाच्यं विषं।
रौद्रो दृष्टिविषो विभीषित जनो रंध्रावलोकोद्यतः
कस्तं दुर्जनपन्नगं कुटिलगं शक्नोति कर्तुं वशं ॥४३९॥

(२७१) दुष्ट जनोंकी उद्दंडता और स्वच्छन्दता—दुर्जन पुरुष सज्जनोंके कहे हुए

वचनोंका उल्लंघन करते हैं। दुर्जनोंको अपनी दुर्बुद्धिपर अहंकार रहता है। उस अहंकार के कारण बड़े पुरुषोंके कहे हुए वचनोंका उल्लंघन कर देते हैं। और ये दुष्ट पुरुष दो जीभ वाले होते हैं। एक ही बातको दो तरहसे कहने वाले होते हैं अथवा कहो दो गला। किसी पुरुषसे वही बात प्रशंसात्मक रूपसे कहता है और किसी पुरुषसे परोक्षमें निन्दारूपसे बात करता है। ये दुष्ट जन सदा क्रुद्ध रहा करते हैं और इस कारण आंख आदिक भी लाल हो जाया करते हैं। ये पेटके काले होते हैं, इनमें कपट होता है, इनके मनमें कुछ रहता, वचनमें कुछ कहते और इनकी बुद्धिपर किसीको भरोसा नहीं होता, क्योंकि ये विश्वासके योग्य नहीं होते। ऐसे ये दुर्जन न कहने योग्य वचनरूपी विषको सदा उगलते रहते हैं अर्थात् जो वचन न कहे जाने चाहिएँ ऐसे वचन निकलते रहते हैं। उसका कारण यह है कि हृदय उनका मलिन है अतएव वचन उनके सही नहीं निकल पाते, जिनकी दृष्टिमें, चिन्तवनमें विषका सा असर रहता है, क्रूर परिणाम निरन्तर रहता है। जिस समय ये दुर्जन अपनी दृष्टि डालते हैं उस समय उसका सर्व नाश कर छोड़ देते हैं, जिनको देखकर लोग सदा भंग खाया करते हैं। ये दुर्जन पुरुष सदैव दूसरोंके दोष खोजनेमें लगे रहते हैं। ये दुष्टजन उन नागोंके समान भयंकर हैं जो विषैले होते हैं। जो सदैव छिद्र देखनेकी खोजमें रहा करते हैं। जैसे भयंकर सर्प सपेरोंके भी वश नहीं आ पाता, मंत्रवादियोंके भी वशमें नहीं हो पाता ऐसे ही ये दुर्जन पुरुष किसीके वश नहीं आ पाते, ऐसा स्वच्छन्द चित्त रहता है कि जिस चित्तपर किन्हीं भी बड़े पुरुषोंका, सज्जनोंका असर नहीं हो पाता। ये नेत्रमें विषैले होते हैं, लोगोंके लिए बड़े भयंकर होते हैं। ऐसे कुटिल सर्पकी तरह ये दुर्जन पुरुष सदैव सर्वके अहितकारी होते हैं। दुष्टों का संग रहनेसे आत्मपरिणामोंमें शुद्धि नहीं आती, इस कारण ऐसा संग सर्वथा त्यागने योग्य ही है।

नो निर्धूतविषः पिबन्नपि पयः संपद्यते पन्नगो
निंबागः कटुतां पयोमधुघटैः सिक्तोपि नो मुंचति।
नो सीरैरपि सर्वदा विलिखितं धान्यं ददात्यूषरं
नैवं मुंचति वक्रतां खलजनः संसेवितोप्युत्तमैः ॥४४०॥

(२७२) दुष्ट जनोंकी कुटिलताकी कठिनता—जैसे सांपको दूध भी पिलाया जाय तो भी सांप अपने विषैलेपनको कभी छोड़ नहीं सकता। जब वह सर्प उगलेगा तो विष ही उगलेगा। इस ही प्रकार दुर्जन पुरुषका कितना ही उपकार किया जाय पर जब भी वह उगलेगा तो विषैले वचन ही उगलेगा जिनको सुनते ही हृदयपर चोट आये और जिसके कारण दूसरोंका बिगाड़ होवे। जैसे नीमका पेड़ चाहे दूधसे सींचा जाय या शक्करसे सींचा जाय या

मीठे जलसे सींचा जाय, पर नीमका पेड़ कभी मीठा नहीं हो सकता इसी प्रकार बड़े-बड़े पुरुषोंसे सेया गया भी दुर्जन पुरुष अर्थात् जिसका बड़े पुरुष भी सत्कार रखें, सेवा करें ऐसी स्थितिमें भी दुर्जन पुरुष कभी दुर्जनता नहीं छोड़ सकते। सज्जनोंकी संगतिमें रहकर भी दुर्जन पुरुष अपनी कुटिलताको किसी भी प्रकार नहीं छोड़ सकते क्योंकि उनका ऐसा ही विकट कर्मोदय है, ऐसा ही चिरकालकी संगतिका असर है, ऐसा ही उनका संस्कार है जिस कारण सज्जनोंके बीच रहकर भी कभी सज्जनता नहीं पा सकते। ऐसे दुष्ट जनोंके संगमें रहने वाले पुरुष स्वयं अधीर हो जाते हैं और नाना विपत्तियोंमें पड़ जाते हैं। इससे आत्म-हित चाहने वाले पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे दुष्ट पुरुषोंका संग कभी न करें।

वैरं यः कुरुते निमित्तरहितो मिथ्यावचो भाषते
नीचोक्तं वचनं शृणोति सहते स्तौति स्वमन्यं जनं।
नित्यं निंदति गर्वितोभिभवति स्पर्धां तनोत्यूर्जितामेवं
दुर्जनमस्तशुद्धधिषणं संतो वदंत्यंगिनां ॥ ४४१ ॥

(२७३) दुर्जनोंमें अकारण बैर करते, दुर्वचन बोलने व निन्दा करनेकी खोटी प्रकृति—दुर्जन पुरुष बिना ही कारण विपत्ति कर डालते हैं। उनकी प्रकृति बैर, दोष, शत्रुता संस्कारमें पड़ी रहती है, ऐसे दुष्ट पुरुष बिना ही कारणके बैर करते रहते हैं, और ये झूठ मूठकी बात बनाकर यहाँ वहाँ कहते रहते हैं। दुष्टोंको मिथ्या वचन कहनेमें या दूसरेके दोष कहनेमें संतोष होता है। ये नीच पुरुषोंके कहे गए वचनोंको बड़े चावसे सुनते हैं और नीच पुरुषोंके वचनोंको सहन कर डालते है। ये दुष्ट पुरुष स्वयं अपने आप अपनी प्रशंसा गाते हैं और अहंकार होनेके कारण सदा दूसरोंकी निन्दा और दूसरोंका तिरस्कार किया करते हैं। नीच और तुच्छ जीवन ही दुष्टोंको पसन्द रहता है। वे शुद्ध वातावरणमें कदाचित् पहुंच जायें तो उनको ऊब आती है और वहांसे हटकर नीच वातावरणको ही पसंद करते हैं। ये दुष्ट जन हमेशा स्पर्धा अथवा दूसरोंसे शर्त ठाना करते हैं। स्वयं गुणहीन होकर भी गुणियों से अपने आपको अधिक मानते हैं और उनसे अधिकपना जतानेकी ही सदैव कोशिश करते रहते हैं। ये दुष्ट जन पवित्र बुद्धिसे रहित होते हैं, इनकी बुद्धिमें वह बात आती है जिसके प्रयोगसे दूसरोंका बिगाड़ होता रहना है। ऐसे दुष्ट पुरुष किसी भी प्रकार संग किये जाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि दुष्टोंके संगसे इस भवमें भी आपत्ति आती है और विशुद्ध भाव नष्ट हो जानेसे परभवमें भी दुःख भोगना पड़ता है।

भानोः शीतमतिग्मगोरहिमता शृंगात्पयोऽधेनुतः
पीयूष विषतोमृताद्विषलता शुक्लत्वमंगारतः।

वह्नेर्वारि ततोनलः सुरसजं निर्याद्भवेज्जातुचिन्नो
वाक्यं महितं सतां हितमतेरुत्पद्यते दुर्जनात् ॥४४२॥

(२७४) दुर्जनोंसे सद्वचन निकलनेकी असंभवता—चाहे एक बार सूरजमें ठंडी पैदा हो जाय, पर दुर्जन पुरुषोंसे कभी श्रेष्ठ हितकारी वचन नहीं निकल सकते। दुष्टजन जब भी बोलेंगे तब दूसरोंको क्लेश करने वाले खोटे ही वचन बोलेंगे। हाँ अपनी गोष्ठीमें अथवा जो इसे रुच जायें उनसे मधुर वचन बोलेंगे सो वे भी ठगनेकी अभिलाषासे ही बोलेंगे। उन के मधुर वचन बोलकर किसी न किसी स्वार्थकी साधना अपने विषयोंकी साधना ही उनके प्रयोजनमें रहती है। एक बार चाहे चंद्रमा गर्मी उत्पन्न कर ले, वैसे चन्द्रमें गर्मी कभी उत्पन्न नहीं होती, बल्कि गर्मीके दिनोंमें भी शुक्लपक्षकी रातोंकी अपेक्षा कृष्ण पक्षकी रातें कुछ ठंडी ही रहती हैं। सो चंद्र कभी गर्मी उत्पन्न नहीं करता, पर मान लो यह असम्भव बात भी सम्भव हो जाय पर दुर्जन पुरुषोंसे कभी भी हितकारी वचन निकलना सम्भव नहीं। उनकी चेष्टा दूसरोंके लिए सुखकारी नहीं हो सकती। गायकी सींग अति रुक्ष होती हैं, उनमें कोमलताका नाम नहीं, सो चाहे गायकी सींगसे कभी दूध भी निकल जाय, असम्भव बात भी सम्भव हो जाय तो हो जाय, पर दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषोंसे कभी भी सही वचन नहीं निकल सकते। कभी विष अमृत बन जाय, कोई विष खा ले और अमृतका काम कर दे, ऐसा भी चाहे सम्भव हो जाय तो भी यह सम्भव नहीं हो सकता कि दुर्जन पुरुषोंके वचन कभी भी हितकारी और प्रिय निकल सकें। कभी अमृतसे विषकी बेल उत्पन्न हो जाय तो हो जाय, असम्भव बात भी एक बार चाहे सम्भव हो जाय, पर दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषोंके वचन कभी भी श्रेष्ठ नहीं हो सकते। जब भी बोलेंगे तो दूसरोंको दुःख देने वाले और खोटे वचन ही बोलेंगे। कोयला भीतर बाहर सर्वत्र काला ही होता है। कोयलेमें सफेदीका कहीं भी अंश नहीं होता, सो चाहे कोयला कभी सफेद होने लगे, पर दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषोंसे कभी मोहनीय वचन अर्थात् जो कुछ श्रेष्ठ हों, भले हों, जिनसे आशय ठीक झलकता हो ऐसे वचन नही निकल सकते। कभी अग्निसे चाहे जल बहने लगे या कोई नदी निकलने लगे, ऐसी असम्भव बात भी चाहे सम्भव बात भी चाहे सम्भव हो बैठे पर दुष्ट पुरुषोंके मुखसे कभी सुन्दर हितकारी उपकारी वचन नहीं निकल सकते। कदाचित वे कभी उपकार भी करें तो उनका वह उपकार कोई किसी समय किसी प्रयोजनको लेकर धुनमें हो जाता है। सो उनका भी आशय कोई अपने स्वार्थसे भरा हुआ रहता है। दुष्ट पुरुष किसीके उपकारके काम नहीं आ पाते। उनके वचन भी कभी सही नहीं निकल पाते। जलसे अग्नि चाहे पैदा हो जाय, तो कभी कभी बड़े-बड़े समुद्रोंमें बड़वानल उत्पन्न हो जाता है, ऐसा कठिन बात हो जाय सो वह बड़वानल कोई अग्नि नहीं

किन्तु जलमेंसे जल सम्बंधित ही संताप है। कदाचित् जलसे ऐसी अग्नि पैदा हो जाय जैसे ईंधनमें अग्नि लगी रहती है, ऐसा असम्भव समाचार बन जाय लेकिन दुर्जन पुरुष कभी अपने मुखसे श्रेष्ठ वचन नहीं निकाल सकते। यों ही चाहे नीमसे मीठा मीठा रस चूने लगे, लोगोंको नीमके रससे मिठास आने लगे अथवा वह मीठा बन जाय, तो ऐसी असम्भव बात भी सम्भव हो जाय परन्तु दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषोंके वचन कभी सही नहीं निकल सकते, वे दूसरोंको उल्झनमें डालने वाले ही वचन बोलते हैं। तो ऐसे दुष्ट आशय वाले पुरुषोंका संग ग्रहण करना बिल्कुल योग्य नहीं है।

सत्या योतिरुजं वदंति यमिनो दंभं शुचेर्धूर्तता
लज्जालोर्जडता पटोर्मुखरता तेजस्विनो गर्वता।
शांतस्याक्षमतामृजोरमतितां धर्मार्थिनो मूर्खता-
मित्येवं गुणिनां गुणास्त्रिभुवने नादूषिता दुर्जनैः ॥४४३॥

(२७५) **गुणोंको दोषरूप बनाकर कहनेकी दुर्जनोंमें दुष्टप्रकृति**—इस लोकमें दुर्जन पुरुष सज्जनोंके गुणोंको भी दूषित कर रहे हैं। जिन लोगोंकी दृष्टि गुणोंपर नहीं पहुंचती और गुण भी अवगुणके रूपमें दिखते हैं। तो जिसको दूसरोंके दोष ही नजर आयें और गुण भी दोषरूपसे ही नजर आयें ऐसे दुर्जन पुरुषोंका संग सदा ही कष्टको उत्पन्न करने वाला होता है। सो इन दुर्जनोंने सज्जनोंके सारे गुणोंको दूषित कर डाला और समस्त गुणोंको किसी न किसी कारणके बहाने ये खोटा ही बतलाते हैं। जैसे कोई पुरुष संसारसे विरक्त है अथवा महिलायें जो अपना शील व्रत पालन करती हैं, ब्रह्मचर्यको अखण्डित करती हैं उन्हें खोटी कह दें, दोषी बतलायें, गुणवान पुरुषोंको भी ये दोषी बताते रहते हैं। जो दोषी हैं ही नहीं, बिल्कुल दोषरहित हैं, गुणसहित हैं तो एकदम मिथ्या वचन कहकर उनको दोषयुक्त ही बताते रहते हैं। जो संयमी पुरुष हैं, अपने मन, वचन, कायको वशमें रखने वाले हैं उनको ये कपटी, तृष्णावान आदि नाना प्रकारके ऐब लगाकर दूषित ठहराते हैं। जो पुरुष पवित्र हैं, व्रतके धारक हैं उनको धूर्त आदिक कहकर पुकारते हैं। जो गुरुजन हैं, लज्जाशील हैं, अपने यम संयमकी साधना करने वाले हैं ऐसे गुरुजनोंकी विनय करनेमें दुष्ट जनोंको लज्जा आती है, वे उनकी विनय नहीं कर सकते, क्योंकि दुर्बुद्धिके कारण उनके स्वयं अहंकार बना हुआ है। वे अपनी दुर्बुद्धिको सही बुद्धि मानते हैं और अन्य जनोंकी बुद्धिको, गुणियों की बुद्धिको दूषित कहते हैं, और ऐसा समझते कि लोग कुछ समझते नहीं हैं।

मेरेमें जो चतुराई है और चतुराईके बलसे हम जो चाहते हैं वह काम कर डालते हैं, ऐसे दुष्ट पुरुष जिनके संगमें रहते हैं उनका जीवन इस लोकमें भी

कष्टकारी रहता है और अगले भवमें भी उससे कायरता बनती है और कष्ट भोगते हैं। दुष्ट जन गुणी जनोंको मूर्ख बतलाते हैं, और जो चतुर हैं, वक्ता है, भला उपदेश करने वाले हैं उन्हें व्यर्थ बकवाद करने वाला कहकर बदनाम किया करते हैं। जो पुरुष तेजस्वी हैं, पराक्रमी हैं, स्वाभिमानमें रहते हैं उन्हें ये अहंकारी बतलाते हैं। दुष्टजन शान्त पुरुषोंको असमर्थ बतलाते हैं। अनेक सज्जन हैं ऐसे जो अपराधीके अपराधको तुरन्त क्षमा कर देते हैं और शान्त चित्त होकर सहन करने वाले होते हैं। तो ये दुष्ट जन यह समझकर कि ये सर्व बातें सहन कर लेते हैं, दूसरेके द्वारा कितने ही उपद्रव, आक्रमण दुर्वचन मिलें तो भी ये शान्तिसे सह लेते हैं तो ये असमर्थ हैं अतएव सह लेते हैं, क्योंकि जिसको जैसी दुष्ट प्रकृति है उसके अनुसार ही सबका हृदय परखते हैं, ये दुष्टजन सरल पुरुषोंको यों समझते हैं कि ये कुछ जानते ही नहीं। जो मायाचार नहीं जानते, सरल व्यवहार रखते हैं ऐसे पुरुषोंको ये दुष्ट पुरुष अपने चित्तमें मूर्ख समझते हैं, बुद्धिहीन, भोंदू समझते हैं। तो धर्मके अर्थी पुरुष हैं, जो धर्मका सेवन करते हैं, धर्म धारण करते हैं उन्हें ये पुरुष बेवकूफ कहकर पुकारते हैं। ये बुद्धिहीन हैं और धर्मके कार्योंमें लगे हैं, इन्हें दुनियाकी कुछ खबर नहीं है, इस प्रकार धर्मात्माजनोंको ये मूर्ख कहकर पुकारते हैं। दुष्ट जन संसारमें जितने भी गुण हैं उन सबको ये दूषित ठहराते हैं। इनकी दृष्टिमें न कहीं गुण हैं और न कहीं कोई धर्म है, ये स्वयं ही धर्महीन हैं और अनेक दोषोंसे दूषित रहते हैं। दूसरोंसे ईर्ष्या करते, अपनेसे हीन समझते, अपनेको चतुर मानते, स्वच्छ हृदय बनाकर स्वार्थमें अंधे रहते ऐसे पुरुष दूसरे पुरुषोंके गुणोंको कैसे गुण समझ सकते हैं? उन्हे दोषरूप ही वे ठहराते हैं। तो जिनकी निरन्तर दोषदृष्टि रहती है, सदैव निन्दाकी प्रकृति रहती है ऐसे पुरुषोंके संगमें रहने वाले पुरुष अपनी भलाई कैसे कर सकते हैं?

प्रत्युत्थाति समेति नौति नमति प्रहलादते सेवते
भुक्ते भोजयते घिनोति वचनैर्गृह्णाति दत्ते पुनः।
अंगं श्लिष्यति संतनोति वदनं विस्फोरितार्द्रेक्षणं
चित्तारोपितवक्रिमोनुकुरुते कृत्यं यदिष्टं खलुः ॥४४४॥

(२७६) दुःसंगसे निवृत्त होकर लोकोत्तम प्रभुकी भक्तिमयी अलौकिक संगति करनेका कर्तव्य—संगका प्रभाव प्रायः सभीपर पड़ जाता है, खोटी सङ्गति होनेसे अनेक प्रकारके उलझन बन जाया करते हैं। इसी कारण कुछ दुष्ट जनोंके हृदयका परिचय दिया। प्रायः जिनके चित्तमें कपट है जिनको अपने स्वार्थका ही ख्याल है, स्वार्थके मायने बाहरी विषयोंकी पूर्ति करना। बाहरमें चाहे वह कैसी ही चेष्टायें करे परन्तु ध्यान उसका अपने स्वार्थसिद्धिका

ही रहता है। ऐसे दुर्जनोंका संग बड़ा कष्टकारी होता है सो कुसंगका पूर्ण त्याग किया जाना चाहिये। जब मनुष्य कुसंगसे हट कर सत्संगमें रहता है तो उसकी बुद्धि स्वच्छ रहती है। स्वच्छ बुद्धि होनेसे आत्माके गुणोंका विकास होता है। तो आत्महितार्थी पुरुष लोकोत्तम व अलौकिक तत्त्वकी भक्ति करता है। लोकोत्तम प्रभु है उन्होंने अलौकिक तत्त्व पाया है। ज्ञानी पुरुष प्रभुभक्त व आत्मदृष्टा होता है प्रभुके गुणोंका स्मरण करनेपर स्वरूपका स्पर्श होता है। इस नातेसे प्रभुकी स्तुति की जाती है। यदि लौकिक जनोंकी भाँति प्रभुका यह स्वरूप बना दिया जाय कि ये मुझे सुख देते हैं इस कारण प्रभुकी विनय करना चहिये, तो भला बतलावो कि प्रभुकी भक्ति डरसे हुई या गद्गद् होकर हुई? यदि ईश्वर मुझे सुख दुःख देता है ऐसी श्रद्धा है तो ऐसी श्रद्धा वाले लोग प्रभुकी भक्ति डरसे करेंगे, गद्गद् होकर न करेंगे। गद्गद् हृदय तब होगा जब कि स्वरूपसाम्य समझमें आयगा। प्रभु चेतन हैं, हम आप भी एक चेतन पदार्थ हैं। सर्व चैतन्य पदार्थोंका वही स्वरूप है जो चेतनमें हुआ करता है। प्रभुमें स्वरूप और परिणमन एक समान हो गया है, हममें स्वरूप और परिणमन एक समान नहीं है। जैसे ठंडा जल उसका स्वभाव और परिणमन दोनो समान हैं। जैसा स्वभाव है उस ही के अनूकूल परिणमन है गरम जलमें स्वभाव और परिणमन इनकी समानता नहीं है। स्वभाव ठंडा है। परिणमन गरम है। तो हममें स्वभाव वही है जो प्रभुका स्वरूप है, पर परिणमन कषायरूप बन रहा है यही तो अन्तर है यह अन्तर तो मिटाया जा सकता। स्वरूप समान है। यह तो बहुत बड़ा बल है कि हम कषायको दूर कर सकते हैं, प्रभुवत् हो सकते हैं। तो प्रभुभक्ति सातिशय किसके होती है? एकरस होकर प्रभुभक्ति बने और प्रभुमें और अपनेमें अन्तर न रहे ऐसी अभेदभक्ति रहे, यह तब ही हो सकता जब स्वरूप की समता दृष्टिमें हो। तो जब यह बात रहेगी चित्तमें कि ये प्रभु सुख देने वाले हैं, ये हमारे कुटुम्बकी रक्षा कर देंगे, ये हमारी प्रगति कर देंगे, या इनकी भक्तिसे हमारा यह काम प्रगति का बनेगा। यह भाव अगर रखेंगे तो सातिशय भक्ति नहीं बन सकती, उसमें डर कारण रहेगी, पर आनन्दाश्रुसे गद्गद् हो जायें, इस प्रकारकी भक्ति न बनेगी।

(२७७) **सहजात्मस्वरूपकी निरख**—अपने स्वरूपको देखिये—यह है दर्शनज्ञानानन्दस्वरूप। दर्शन अन्तर्मुख चित्प्रकाश है, ज्ञान बहिर्मुख चित्प्रकाश है। दर्शनका महत्त्व ज्ञानसे क्या कम है? स्वरूप ही तो है। दर्शन कहते हैं एक अन्तः स्वच्छताको और ज्ञान उसे कहते हैं कि जिसमें सर्वका प्रतिबोध रहता ऐसी कला। तो स्वच्छता जिसमें है उस ही में प्रतिबिम्ब हो सकता है। जैसे दर्पणमें दर्पणकी निजी स्वच्छता और दर्पणमें बाहरी अनेक चीजोंका फोटो आता तो फोटो आना यह तो ज्ञान जैसा काम है और निजकी झिलमिलाहट

रहना अन्दर वह दर्शन जैसा काम है। तो आत्माके दर्शन स्वरूपका भी ध्यान दीजिये, जिसे कहते हैं सामान्यचेतना, निराकार चेतना अन्तः स्वच्छता। मैं दर्शनज्ञान स्वरूप हूं, सहज आनन्दस्वरूप हूं।

(२७८) **जीवमें गड़बड़ी, गड़बड़ीका कारण व उसके यथार्थपरिचयका प्रभाव**—अहो विकारवाली यह गड़बड़ी क्यों मुझ दर्शनज्ञानानन्दस्वरूपीमें हो गई? गड़बड़ यद्यपि अभी यह जीव चल रहा है मगर यह गड़बड़ी जीवके स्वभावकी चीज नहीं है। यह बात सुगमतया तब समझमें आयगी जब निमित्त नैमित्तिक भावका यथार्थ स्वरूप ज्ञानमें रहे। यहाँ दो भूलें हो जाती हैं—एक तो यह भूल कि जगतके ये जितने पदार्थ दिख रहे हैं रूप, रस, गंध, स्पर्शवान, इनका निमित्त मान लेते हैं कि मेरे विकारके ये निमित्त हैं, पर मेरे विकारके ये बाह्य पदार्थ निमित्त नहीं होते। इनका जब आलम्बन लें, इनको जब ज्ञानमें लें तो ये आश्रय भूत कारण कहलाते हैं। विषयभूत पदार्थ विकारके निमित्त कारण नहीं है वास्तवमें किन्तु आश्रयभूत कारण हैं। एक तो यह ध्यानमें रखना, दूसरी बात यह ध्यानमें रखना कि निमित्त कारण कहीं कहने मात्रका ही निमित्त नहीं है, अर्थात् कुछ नहीं है यों कह डालने जैसी बात नहीं है, निमित्त कहलाता है कर्मोदय, सो हमारे जितने विकार प्रसंग होते हैं वे कर्मोदयका सन्निधान पाकर ही होते हैं। कर्मोदयके अभावमें कहीं भी विकार होना बताया हो या होता हो सो खूब खोज लीजिये। ऐसा हो ही नहीं सकता। ये विकार स्वभावतया नहीं होते। यदि निमित्त सन्निधान बिना विकार होने लगे अपनी मर्जीसे, अपनी बातसे, तो एक बार आत्मा सिद्ध प्रभु हो जाय तो भी विकार होनेका संदेह बना रहेगा अथवा कभी विकार मिट ही नहीं सकता। यदि विकार निमित्त सन्निधान बिना होता हो तो सदैव विकार चलता रहेगा, विकार मिटेगा नहीं। ये विकार परभाव हैं, नैमित्तिक हैं अतएव ये हटाये जा सकते हैं। इस यथार्थ परिचयमें स्वभावदृष्टि सुगमतया होती है। स्वभावदृष्टि पाने के लिए ही निमित्त नैमित्तिक भावका परिचय होता है, न कि वहाँ कुछ निमित्तके जुड़नेका परिचय किया जा रहा है या अपने उपयोगमें निमित्तकी बलवत्ता धारण करनेके लिए परिचय कराया जा रहा है।

(२७९) **निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयका प्रयोजन अहंकार व कायरता मिटकर स्वभावदृष्टि होना**—निमित्त नैमित्तिकके परिचयका प्रयोजन मात्र स्वभावदृष्टि है। मैं अपने स्वभावको निराला स्वच्छ कैसे निरख पाऊं। जैसे दर्पणका स्वरूप, स्वभाव निराला निजमें स्वच्छता मात्र है उसे यह आप कैसे समझ पाते हैं? जब यह भाव रहता है कि इसमें हाथ छाया या पुस्तककी छाया, कपड़ेकी छायाँ आदिक जो भी फोटो पड़ रहे हैं ये नैमित्तिक हैं, यह ध्यानमें रहेगा तो उस फोटो विकारसे आप उपेक्षा करके दर्पणकी स्वच्छताकी दृष्टि

आपको सुगमतया मिलेगी। तो ध्यानमें यह लाना चाहिये कि निमित्तसे उपेक्षा, नैमित्तिकसे उपेक्षा करनेके लिए ही इनका सही परिचय किया जाता है। तब ही तो समयसार बंधाधिकारमें बारबार यह समझाया गया है कि तू ऐसा ख्याल मत कर कि मैं इसको सुखी करता हूं, दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं, मारता हूं, क्योंकि यह तेरा भाव अर्थ क्रियाकारी नहीं है। जैसा परिणाम तू कर रहा है वहाँ वैसा काम बन जाय तेरे परिणामके किए जानेसे तब तो उसे अर्थ क्रियाकारी कहेंगे, किन्तु ऐसा नहीं होता। तेरे वशकी ही बात नहीं है। तू उनका निमित्त कारण नहीं। उनका जीवन उनकी आयुके उदयसे ही होगा, उनका मरण उनकी आयुके क्षयसे ही होगा। उनका सुख दुःख उनके साता असाताके उदयका निमित्त पाकर ही होगा। यह स्पष्ट लिखा है। तो यह ध्यान दिलाया गया है कि तू यथार्थ निमित्त नैमित्तिकको देख और इन आश्रयभूत पदार्थोंमें मैं करता हूं या मुझे इसने कुछ कर दिया ऐसे अहंकारको और कायरताको तज दें। देखिये—कायरता तो यों छूटी निमित्त नैमित्तिकके परिचयमें कि इन आश्रयभूतके प्रति संदेह न रहा कि ये मेरेको सुखी दुःखी करेंगे, ये मेरा बिगाड़ करेंगे···। निश्चय हो गया कि मुझ द्रव्यका ये अन्य जीव कुछ नहीं कर सकते। स्वरूप तो यों है कि निमित्त भी उपादानमें कोई वृत्ति नहीं कर रहा है, वह तो वहाँ उपस्थित है, पर उस उपस्थिति बिना यह उपादान अपनी विकृतिकी कलाको नहीं खेल पाता है। इसीको कहते हैं विकार होनेके प्रसंगमें ऐसा ही वस्तुस्वभाव है याने उपादानमें खुद ऐसी कला है कि वह अशुद्ध उपादान अनुकूल निमित्त पाकर उस प्रकारका विकार परिणाम करता है, पर निमित्त सान्निध्य बिना विकार परिणमन होता नहीं है। अतएव वे परभाव हैं और वे हटाये जा सकते हैं। सब कुछ उपदेश स्वभावदृष्टि करानेके लिए है न कि बाह्यवस्तुवोंका ही परस्पर संबंध ध्यान जुडाव निरखनेके लिए। विकारसे हटें स्वभावमें आयें, बस यह ही पौरुष करना है। यह या बनेगा, यह दृष्टि बनेगी तो आपको सर्व बातें ऐसी स्पष्ट होंगी कि आप विकारसे हटेंगे और स्वभावमें लगेंगे।

(२८०) जीवके वैरीका निर्णय—देखिये मेरे प्रति दुष्टताका काम कोई भी इन्द्रिय विषयभूत पदार्थ नहीं कर रहा है। दुष्टताका साक्षात् काम तो उसका अज्ञान और कषायभाव कर रहा है और निमित्त दृष्टिसे जिसे कहते हैं अष्टकर्म, ये शत्रु हैं, दुःखके कारण हैं, सो वे दुष्ट लगे हैं और वैसे सबके अनुभवमें आ रहा कि जितने भी हम आपको कष्ट हो रहे हैं वे इस शरीरके कारण हो रहे। यदि शरीर हमारे साथ न होता तो हमारे लिए कोई कष्ट न था। हम शरीर वाले हैं, शरीरका बन्धन भी साथ चल रहा है तो सारे कष्ट हम पर आ रहे हैं, जन्मका कष्ट, मरणका कष्ट, जीवनमें इष्टवियोग अनिष्ट संयोग, व्याधि, वेदना आदि अनेक

प्रकारके आशा तृष्णा आदिक जितने भी हम आप कष्ट पा रहे हैं वे सब इस शरीरके लगावसे पा रहे हैं। कल्पना करलो कि यदि मेरे साथ यह शरीर न होता, मैं अकेला ही रहता, जैसा मेरा स्वरूप है वैसा ही मैं प्रकट होता तो मेरे लिए क्या बाधा थी? अनन्त आनन्द था निराकुलता थी, पवित्रता थी। निस्तरंग रहता। यह शरीरका प्रसंग और इस शरीरका लगाव यह हमारी सारी बाधावोंका कारण बन रहा है। एक बात और भी सोचिये—जब कभी धार्मिक चर्चायें करते हैं और अपनी अपनी आदतके अनुसार जब तालमेल नहीं खाता तो यह जल्दी क्रोध क्यों आ जाता है? चर्चा तो धर्मकी कर रहे, ज्ञानस्वरूपकी कर रहे, आत्माकी कर रहे वहाँ क्रोध क्यों आ जाता? उसका भी कारण है शरीरका लगाव। यह मेरी बात नहीं मानता····अरे यहाँ मेरेके मायने क्या? जिसकी फोटो उतरती है, जिसका कि नाम रखा है यह शरीर, इसे कहता है मैं, और इसने मेरी बात नहीं माना, वहाँ यह भाव नही है कि ज्ञानमात्र मुझ आत्माकी बात नहीं मानी। वहाँ तो शरीरको निरखकर ही वह चित्तमें अवधारण कर रहा कि इसने मेरी बात नहीं मानी। तो आप देख लो, सारे झंझट उलझन, विवाद, झगड़े ये सब कुछ इस शरीरको व्यामोहके कारण हो रहे हैं। तब यह भावना भाइये कि मैं शरीरसे न्यारा हूं, कर्मसे न्यारा हूं और कर्मके प्रतिफलनसे निराला हूं। स्वयं केवल चैतन्यमात्र हूं, यह है मेरा स्वरूप। और इस स्वरूपको अपना लिया जाय फिर कषाय न होगी। विवाद न होगा। अशान्ति न होगी, उलझन न रहेगी। जब स्वरूपकी दृष्टि तो हो नहीं पाती। शरीरको तो माने हुए हैं कि यह मैं हूं और धर्मके कुछ प्रसंगमें मुखिया नेता बननेका दावा रखते हैं तो वहाँ फिर ये कषाय बनते हैं अन्यथा कषायका क्या काम?

(२८१) कल्याणार्थीका कर्तव्य सहज स्वभावमें आत्मत्वकी प्रतीति और इस ही का अनुयोगोंमें समर्थन—जिसे कल्याण चाहिए उसका कर्तव्य तो यह है कि अपने सहज स्वभावको निरखकर उसको अपनाये। उसमें आत्मत्वका अनुभव करे। यह है उसके कल्याण का उपाय और उसी स्वभावके निरखनेके ये सब परिचय हैं। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग सबमें जो कुछ लिखा है उन सबका उद्देश्य यह है कि ये इसी स्वभावका दर्शन कर लें। अनुयोगोंकी पद्धति जुदी जुदी है, पर अन्तमें निष्कर्ष ध्येय यह ही आयगा कि स्वभावदृष्टि करें। पुराणोंमें कितने ही कथन आये हैं। क्या गृहस्थी थी, क्या भोग भोगे, अन्तमें कैसे विरक्त हुए, कैसे तपश्चरण किया, कैसे उन्होंने मोक्ष पाया उनका कल्याण कब हुआ? तो सर्वसंग छोड़कर केवल स्वभावदृष्टिमें ही समय व्यतीत हो तो उनको यह निर्वाण मिले। यह ही तो शिक्षा मिली प्रथमानुयोगके कथनमें। अब उसमें कथन अनेक प्रकारसे किए गए हैं, पर शिक्षा यह ही मिलती है। करणानुयोगमें जीव और कर्मकी

जो दशायें बतायी गई हैं उनमें निमित्तनैमित्तिककी घटना बतायी गई है जीवोंके परिणाम का निमित्त पाकर कर्मोंमें दशा बनती है, शुद्ध निर्मल परिणाम हुए तब कर्मोंका विध्वंस होने लगता। कषाय परिणाम हुए तो कर्मोंमें कर्मत्व आने लगता। हो रहे दोनों जगह दोनों काम। एक काम दो का नहीं और एकके दो काम नहीं। परिणति सबकी अपने आपमें हो रही है मगर ऐसा सहज निमित्त नैमित्तिक योग चल रहा है वस्तुस्वरूपको परखिये। प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमनसे ही परिणम रहा है। हाँ अनुकूल निमित्तयोगमें यह उपादान इस रूप परिणम जाता, पर परिणमने वाला वह अकेला उपादान ही है उस रूप। सबका अपने में अपना ही परिणमन चलता है। तो चूँकि जैसे सामने आयी हुई चीजका निमित्त पाकर दर्पणमें फोटो प्रतिबिम्ब हुआ है तो इस कारण वह परभाव है तभी तो तुरन्त हाथ हटा दिया तो प्रतिबिम्ब भी हट गया। हाथ कर दिया तो प्रतिबिम्ब हो गया। इतना सब कुछ होने पर भी हाथकी परिणति हाथमें ही है। हाथकी कोई परिणति हाथके प्रदेशसे निकलकर बाहर न होगी, पर ऐसा ही योग है। यह योग स्वभावदृष्टिका परिचय कराता है। मैं स्वभावतः विकाररूप नहीं परिणम रहा। मेरा स्वरूप विकार परिणमनके लिए नहीं है किन्तु मात्र चिद्वृत्तिके लिए है। जैसा मेरा सहज स्वरूप है उस प्रकारकी वृत्ति चले यह है मेरे स्वरूपका काम स्वभावका काम और बाकी जो हो रहा है वह सब औपाधिक है। इन औपाधिकमें लगाव न रखें, अपने सहज स्वरूपकी संभाल करें। तो स्वभावदर्शनके लिए करणानुयोगमें भी जीव और कर्मकी दशावोंके प्रसंगमें बताया गया है विशुद्ध अध्यात्म कि तू यथार्थतया किस रूप है इसको पहिचान।

(२८२) **औपाधिकभावसे निराले स्वभावमात्र अन्तस्तत्त्वके परिचयका चमत्कार**— मैं स्वयं अपने सत्त्वके प्रतापसे चैतन्यमात्र हूं। केवल प्रतिभास ही, इतना मात्र हूं। इसमें जो रागद्वेषादिक विकार चलते हैं वह कर्मकी छाया, माया, फोटो है, उपचारसे वे कर्मके कहे जाते वस्तुतः वहाँ निमित्त नैमित्तिक योग है। जैसे प्रकाश जो है सो ही है, हरा कागज लगा तो हरा प्रकाश हुआ। अब इस हरे प्रकाशमें प्रकाशका स्वरूप क्या है और हरापन क्या है? यह भेद तो जान रहे ना? प्रकाश तो है प्रकाशकका निजीरूप और यह हरापन औपाधिक रूप है। रागद्वेषादिक औपाधिक रूप हैं और निज चिद्वृत्ति, चित्प्रतिभास यह एक स्वाभाविक वृत्ति है। इस मिश्रसे मिश्रणको हटाना, इसमें भेद करना और अपनेको स्वभावमात्र निरखना यह ही तो एक पौरुष है, जिसके किये जाने पर हमारेमें प्रगति होगी। तो अपना किसीको शत्रु न समझें, कोई जीव मेरा हित नहीं करता, उसका अपना परिणमन चल रहा। जैसी योग्यता है जैसे कषायादिक भाव हैं उस प्रकारसे उसका परिणमन चल रहा

है पर वह मेरा कुछ बना नहीं है। सुख दुःख रागद्वेषादिक ये मेरे कमाये अर्जित कर्मोंके विपाकके अनुसार हैं, इनके अनुसार नहीं है। तो बाह्य आश्रयभूतसे मेरा बिगाड़ नहीं है ऐसा जानने से कायरता मिटती है। मैं किसी भी दूसरे प्राणीको सुख दुःख देने वाला नहीं हूं, ऐसा जाननेसे अहंकार मिटता है। आप देखिये प्रायः सभी कभी अहंकारके शिकार हो रहे हैं। कभी कायरताके शिकार हो रहे हैं, ऐसी ही बुद्धि तो चलती है, मंडरा रही है। देखनेमें बड़े सुन्दर जंचते हैं बड़े-बड़े लोग, बड़े-बड़े ढंग जैसे मानो बहुत ही उदात्त हों, पर चित्तमें अहंकार और कायरता ये मूलसे नहीं मिटें तब तक इसका धर्ममें प्रवेश नहीं हो पाता है। खूब सोच लीजिए कि अहंकार बुद्धि कैसे मिटेगी ? निमित्त नैमित्तिकके सम्बन्धमें की जाने वाली भूल खतम करनेसे मिटेगी, जो यह भूल लगा रखी है कि मैं इनके सुख दुःखका निमित्त हूं, मैं इनके सुख दुःखका करने वाला हूं तो न मैं निमित्त हूं दूसरेके सुख दुःखका, न मैं करने वाला हूं, मेरे सुख दुःखका निमित्त मेरा कर्मोदय है। ऐसा जानते ही अपना अहंकार खतम हो जाता है। ये मेरा न जाने क्या बिगाड़ कर देंगे, मैं इनको प्रसन्न रखूंगा तो ये मुझे सुख देंगे, इस प्रकार की जो भीतर कातर बुद्धि चलती है यह भी कैसे मिटे ? तो वह भी मिटेगी निमित्त नैमित्तिकके यथार्थ परिचयसे। ये मेरे सुख दुःखके निमित्त नहीं हैं, ये मेरा सुधार बिगाड़ करने वाले नहीं है। लोगों पर जो कुछ यहां बीत रहा है वह कर्मविपाकके अनुसार बीत रहा है। अन्य मेरेको कुछ नहीं करते, ऐसा जान लेनेपर यहांसे कायरता तो हट गई।

(२८३) दैववाद व पौरुषवादका निर्णय—अब कोई कहे कि कर्मको निमित्त जानें, तो वहां कायरता रहेगी। तो भाई अष्टसहस्रीमें बताया है कि दैवसे कार्य होता कि पुरुषार्थसे ? सांसारिक कार्योंकी बात कह रहे। मोक्षका कार्य तो पौरुषसे ही है। उसकी बात नहीं कह रहे, पर सांसारिक कार्य तो साक्षात् दैवके निमित्तके अनुसार होते हैं। मगर इसीका ही कोई हठ कर ले तो बताओ वह जो दैव बना वह किस कारणसे बना ? वह आत्माके परिणामसे बना। तो परिणाम मायने पौरुष है, और कर्मोदय मायने दैव है। तब एकान्त नहीं कर सकते। जब यह कह दिया जाय कि जैसा मैंने किया वैसा भोग रहा हूं तो यह हो गई पौरुषकी ओरसे बात और जैसा कर्मोदय है वैसा मैं भोगता हूं, यह हुई दैवकी बात। सब समन्वय है। यथार्थ ज्ञान रखें तो उसमें उलझन सब खतम हो जाती है।

सर्वोद्वेगविचक्षणः प्रचुरमामुंचन्नवाच्यं विषं।
प्राणाकर्षपदोपदेशकुटिलस्वांतो द्विजिह्वान्वितः।

भीमभ्रांतविलोचनोऽसमगतिः शश्वद्दयावर्जि
तश्छिद्रान्वेषणतत्परो भुजगवद्दुर्ज्यो बुधैर्दुर्जनः ॥४४५॥

(२८४) दुर्जनोंकी सर्वोद्वेगविलक्षणता—दुर्जन पुरुष सर्पकी तरह नाना प्रकारसे अनर्थकारी होते हैं इसी कारण जैसे लोग सर्पसे दूर रहा करते हैं ऐसे ही विवेकी पुरुष दुर्जनोंसे दूर रहा करते हैं, न कोई सर्पको अपने पास रखता है न सर्पके रहनेके स्थान पर पहुंचता है ऐसे ही विवेकी पुरुष न अपने पास किसी दुष्ट पुरुषको रहने देते हैं और न दुष्टोंके संगमें वे जाते हैं। सर्पकी तरह कैसे अनर्थक हैं ये दुर्जन, सो देखिये—सर्वप्रथम तो जैसे सर्प सभी तरहके उद्वेगका कारण होता है। जहाँ सर्प निकला कि सब लोग घबड़ा जाते हैं, सबको उद्वेग हो जाता है, चित्तमें विह्वलता हो जाती है, इसी तरह दुर्जन पुरुष सबके चित्तमें उद्वेग उत्पन्न करने वाले होते हैं। वे दुर्जन पुरुष दुष्ट जन जहाँ भी पहुंचते हैं वहाँ उनसे अनेक लोगोंको बाधा होती है तो उद्वेग उत्पन्न होने लगता है। तो ये दुर्जन सर्पकी तरह सर्व प्रकार उद्वेग उत्पन्न करानेमें समर्थ होते हैं। दुष्टजन अपनी प्रकृति छोड़ नहीं सकते। उनमें ईर्ष्या भरी है, क्रोध भरा है, स्वार्थ भरा है। उसके निकट जो रहेगा उनके मन, वचन, कायकी चेष्टावोंके कारण उद्वेग होता ही रहेगा। तो विवेकी पुरुष दुर्जन पुरुषोंका संग नहीं किया करते। सर्प किसे उद्वेग करानेके लिए नहीं बनता? वह निकला और लोगोंको उद्वेग हो जाता है। डर लगता है। लोगोंको उससे प्राण जानेका भय रहता है। तो ऐसे ही कोई दुर्जन चाहे यह भी मनमें ध्यान न रखे कि मैं दूसरेको दुःखी करूँ पर उसकी कुछ चेष्टायें ही ऐसी बनती हैं कि जिससे दूसरोंको कष्ट पहुंचता है। दुर्जन लोगोंके पास रहने वालोंको उनसे अनेक बाधायें आती हैं, तिरस्कार होता है और उद्वेग होता है। तो दुष्ट पुरुषोंका संग सर्वके उद्वेगका कारणभूत है। अतः दुष्टोंका संग न करें।

(२८५) दुर्जनोंकी अवाच्यविषप्रमोचकता व प्राणापघातकता—जैसे सर्प विष ही उगलता है, चाहे उसे दूध पिलाया जाय, या अमृत पिलाया जाय फिर भी वह विष ही उगलेगा, ऐसे ही दुर्जन पुरुषको चाहे कोई कितनी ही सेवा कर लेकिन वह ऐसे ही वचन बोलेगा कि जिन्हें न बोलना चाहिए। दूसरोंके दिलको पीड़ा करें ऐसे वचन उसके मुखसे निकलते हैं। तो अवाच्य वचन विषसे कम नहीं कहलाते। तो दुर्वचन बोलनेकी प्रकृति है, निन्द्यनीय वचन ही दुर्जन लोग बोला करते हैं क्योंकि उनका चित्त वशमें नहीं है, जो मनमें आया और मनमें क्या आया, उनके दोष दृष्टि हुआ करती है इस कारण वे दूसरोंकी निन्दा के ही वचन कहेंगे। अब उनका संग कोई करे तो जो अवगुण नहीं हैं फिर भी निन्दाके वचन बोला करे तो लोगोंकी दृष्टिमें कुछ फर्क आ सकता है। निन्दाके वचन जो भी पुरुष

बोले समझना चाहिए कि उसका आशय मलिन रहता है। नहीं तो निन्दाके शब्द बोलनेका क्या प्रयोजन ? अपना धर्म करना है। अपना कल्याण करना है तो अपनेसे मतलब रखा जाना चाहिए। दूसरे पुरुषोके वचन, निन्दाके वचन बोलते रहने की प्रकृति खोटे आशय बिना नहीं हो सकती। तो ये दुष्टजन अवाच्य विषवचन बोला करते हैं। जैसे सर्प निकल आया, सम्पर्क हो जाय तो वह पुरुषको डस लेता है ऐसे ही दुष्टोंके चित्तमें दया तो होती नहीं है, क्योंकि वे स्वार्थसे अंधे हैं, अपनी कषाय आग्रहके हठी है। तो वे दूसरोंके प्राणघात के कारण बन जाते हैं। तो जैसे जहाँ सर्प रहते हैं उस स्थानमें न रहना चाहिये क्योंकि सर्प प्राणनाशक होते हैं ऐसे ही दुष्टजन जहाँ रहते हैं वहाँ सज्जन पुरुषोंको न रहना चाहिये क्योंकि वे भी प्राणोका नाश करने पर उतारु हो जाते हैं।

(२८६) दुर्जनोंकी कुटिल हृदयता, द्विजिह्वता व निर्दयता आदि—जैसे सर्प खोटी जगहमें रहते हैं, साफसुथरी जगहमें रहनेका उनका भाव नहीं रहता, अटपट जगहमें रहते हैं और कुटिल चालसे चलते हैं ऐसे ही ये दुष्टजन छल कपटसे कुटिल रहा करते हैं। जिस प्रकार सर्प दो जीभ वाले होते हैं उसी प्रकार ये दुष्ट पुरुष भी दो जीभ वाले हैं अर्थात् एक ही बात को दो तरहसे कहने वाले होते हैं याने कपट होनेके कारण ऐसी बात बोलेंगे कि जिसके दोनों अर्थ हो जायें। यह देखनेमें बड़े-बड़े पुरुषोंके भी बात पायी जाती है तथा किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ कहा, ऐसी इनकी प्रकृति होती है। साँप जिस प्रकार भयंकर इधर उधर घूमते हुए चंचलनेत्रोंसे युक्त रहता है इसी प्रकार ये दुर्जन पुरुष भी अपनी भयंकर नजरसे इधर उधर घूमते रहते हैं। वे अपना दाँव देखते रहते हैं कि किस प्रकार अपना स्वार्थ सिद्ध किया जाय, किस प्रकार इनको धोखा दिया जाय। जिस प्रकार साँप विसम गति वाला होता है, टेढ़ा चलता है, उसी प्रकार दुर्जन पुरुष भी विसम गति वाले होते हैं याने किसीसे कुछ बोलते किसीसे कुछ, कभी हितकी भी बात बोलते और अक्सर अहितकी बात बोलते। साँप जैसे निर्दयी होता है, बाल, वृद्ध, युवक सभीको डस लेता है ऐसे ही दुर्जन पुरुष दयारहित होते हैं, शत्रु मित्र, अपराधी, गरीब धनी कोई भी हो, सभीको तंग करते हैं क्योंकि दुष्ट प्रकृतिमें यही रहता है। साँप जैसे बिल ढूढनेमें सदैव तत्पर रहता है इसी प्रकार दुष्ट पुरुष भी दूसरोंके दोष ढूढ़नेमें सदैव तत्पर रहते हैं। इन दुष्टोंका संग अपने लिए विपत्ति का कारण है अतः उनका संग तजना योग्य है।

धर्माधर्म विचारणा विरहिता सन्मार्गविद्वेषिणो
निन्द्याचारविधौ समुद्यतधियः स्वार्थैकनिष्ठापराः।

दुःखोत्पादकवाक्यभाषणरताः सर्वाप्रशंसाकरा
द्रष्टव्या सपरिग्रहव्रतिसमा विद्वज्जनैर्दुर्जनाः ॥४४६॥

(२८७) दुर्जनोंकी दोषपूर्णताका चित्रण—दुष्टजन मानो परिग्रही पाखण्डी संन्यासी जनोंकी तरह हैं जैसे कोई पाखण्डी पुरुष धन धान्य दासी दास, चेतन अचेतन परिग्रहसहित होते हैं तो ऐसे ही ये दुर्जन भी धर्म अधर्मका विचार इनके नहीं है, पुण्य पापका विचार इनके नहीं है तो ये भी उन्हीं परिग्रहोंकी तृष्णामें लगे हुए हैं। इस छंदमें दुष्ट पुरुषोंके मुख्य मुख्य लक्षण विशेषणके रूपमें कहे गए हैं, जिनमें प्रथम परिचय यह है कि दुष्टजन धर्म और अधर्म अथवा पुण्य और पापके विचारसे रहित होते हैं। दूसरा लक्षण यह है कि ये दुष्टजन सन्मार्गके विद्वेषी होते हैं, जैसे पाखण्डी तपस्वीजन सन्मार्गके विद्वेषी होते हैं। जो वास्तविक साधुजन हैं उनसे विद्वेष रखते हैं। उसी प्रकार ये दुर्जन पुरुष भी श्रेष्ठ मार्गसे विद्वेष करने वाले होते हैं। क्योंकि इन दुष्टोंको चाहिए विषय और कषाय। विषय कषायके साधन गुणीजन या साधुजन नहीं होते। सन्मार्ग तो पापोंको दूर हटाता है और ये हैं पापके अभिप्राय वाले तो इन्हें व्यसनी पुरुष पापी पुरुष जो स्वयं गुण्डागर्दीके भावके हों वे तो सुहा जायेंगे पर जो ज्ञानी संयमी श्रेष्ठ आचरणके हैं वे पुरुष इसे भी न सुहायेंगे। तो इसने समीचीन मार्गसे द्वेष ही तो किया। दुष्टजन धर्मात्माजनोंको इस प्रकार देखते हैं जैसे कि वे तुच्छ हों, असहाय हों अथवा उनको कोई सुविधा न होनेसे यह मार्ग बनाया हो, इस ढंगसे देखते हैं। तो दुष्टजन सन्मार्गके विद्वेषी होते हैं, यह उनका दूसरा लक्षण है। तीसरा लक्षण है कि निन्द्यनीय आचरणके करनेमें उनको बुद्धि तैयार रहती है याने निन्द्य आचार उनको पसंद रहता है, उन आचरणोंके करनेमें ही उनका सारा प्रयत्न चलता है। चौथी पहिचान यह है कि दुष्टजन एक स्वार्थमें ही अपनी बुद्धि रखते हैं, अपने इन्द्रियके साधन मिलें, आरामके साधन मिलें, भोग विषयोंके साधन मिलें, ऐसी उनकी दुर्बुद्धि होती और निजके स्वार्थमें ही उनकी आस्था बनी रहती है। ५वां परिचय उनका यह है कि वे ऐसे ही वचन बोलते हैं जिन वचनोंसे दूसरोंको दुःख उत्पन्न हो। उनके वचनोंमें निष्ठुरता होती है। कदाचित मधुरता भी हो तो भीतर कपटपना बना रहता है जिससे दूसरे लोग दुःख पायेंगे। तो उनका वचनसम्भाषण सर्व दुःखोंको उत्पन्न करने वाला होता है। दुष्टजनोंका छठा परिचय यह है कि सभी पुरुषोंकी वे निन्दा किया करते हैं। चाहे गुण हों उसकी भी निन्दा करेंगे। किसीमें गुण कम हों उसकी भी निन्दा करेंगे। निन्दा करना ही उनका स्वभाव पड़ गया है और इस कारणसे वे अपने मनको संतुलित नहीं रख पाते और कषायोंमें ही व्यग्र रहकर वे स्वयंको निरन्तर क्लेश संक्लेशमें रखा करते हैं। ऐसे दुष्टजनोंका संग छोड़ना ही उचित है।

मानं मार्दवतः क्रुद्धं प्रशमतो लोभं तु संतोषतो ।
मायामार्जवतो जनोमवनतेर्जिह्वाजयान्मन्मथं ।।
ध्वांतं भास्करतोनलं सलिलतो मंत्रात्समीराशन ।
नेतुं शांतिमलं कुतोपि न खल मर्त्यो निमित्तादभुवि ।।४४७।।

(२८८) दुर्जनको शान्त कराये जानेकी अशक्यता—ये दुष्टजन किसी भी प्रकारसे वशमें नहीं आते । अनेक खोटी और कठिन बातोंपर विजय प्राप्त किया जा सकता है मगर दुष्ट पुरुषोंपर विजय प्राप्त नहीं किया जा पाता । उनको वशमें नहीं कर पाते । देखिये मान कषाय एक बहुत खोटा भाव है मगर उसे भी मार्दव धर्मके द्वारा शमन कर दिया जा सकता क्रोधभावको प्रशमभावसे नष्ट किया जा सकता है । यह क्रोध भी इतना भयंकर विकार है कि जब क्रोधभाव जगता है तो यह सद्बुद्धिसे दूर हो जाता है और वहां चित्तमें जो आता वो करता है । ऐसे क्रोधको भी प्रशमके द्वारा वश किया जा सकता है । लोभ कषाय जो जीवोंको निरन्तर क्लेश उत्पन्न करती है उस लोभ कषायको भी संतोषसे शान्त किया जा सकता है । न लोभ रहे, संतोष वृत्तिसे रहे, यह बात आ सकती है । माया कपट भाव एक ऐसा विकार भाव है कि इस मायाके रहते हुए धर्मका प्रवेश भी नहीं हो सकता । ऐसे छल कपट जैसे खोटे भावको आर्जव धर्मके द्वारा दूर किया जा सकता है । तो इन कषायोंके वेगको तो दूर किया जा सकता है किन्तु दुष्टजनोंको किसी भी प्रकारसे वशमें नहीं किया जा सकता, उनका शमन नहीं किया जा सकता । स्त्रीजनोंको अनुनय विनयसे प्रसन्न किया जा सकता है पर इन दुष्टजनोंको किसी भी प्रकारसे प्रसन्न नहीं किया जा सकता, सिद्ध नहीं किया जा सकता । ये किसीके वशमें नहीं आ पाते । जिह्वा इन्द्रियको जीतनेसे कामके वेग को शान्त किया जा सकता है लेकिन इन दुष्टजनोंको किसी भी प्रकारसे वशमें नहीं किया जा सकता । अंधकारको प्रकाशक पदार्थोंका सम्बन्ध दूर कर देता है । प्रकाश द्वारा अंधकार दूर किया जा सकता है किन्तु ये दुष्टजन किसी भी प्रकार दूर नहीं किए जा सकते, अर्थात् इनके चित्तको शुद्ध नहीं किया जा सकता । अग्नि जलके द्वारा बुझ सकती है । लोग प्रयोग करते ही हैं । जब अग्नि प्रज्वलित होती और उसके बुझानेकी आवश्यकता होती तो झट पानी डालकर उसे शान्त कर दिया जाता है परन्तु दुर्जन पुरुष किसी भी प्रकारसे शान्त या वशमें नहीं किए जा सकते । सर्प एक भयंकर जानवर है जब उसे किसी पर क्रोध आता है तो कितना ही दूर हो, वहीं पहुंचकर उसे डस लेता है, ऐसे सर्पको मंत्रके वशसे कीलकर शान्त किया जा सकता, परन्तु दुर्जन पुरुष किसी भी प्रकार वश नहीं किया जा सकता । ऐसे स्वच्छंद चित्त वाले दुर्जन पुरुषोंका संग त्यागने योग्य ही है ।

वीक्ष्यात्मीयगुणैर्मृणालधवलैर्यद्वर्धमानं जनं ।
राहुर्वा सितदीधितिं मुखकरैरानन्दयंतं जगत् ॥
नो नीचः सहते निमित्तरहितो न्यक्कारवद्धस्पृहः ।
किंचिन्मात्रं तददभुतं खलजने येन वृकेव स्थितः ॥ ४४८ ॥

(२८९) दुर्जनोंकी भेड़ियेकी तरह दृष्टि व दुष्प्रवृत्ति—दुष्ट जन अपनी दुष्टताकी प्रकृतिको नहीं छोड़ते । कोई पुरुष निर्मल गुणोंसे बड़ा प्रगतिशील हो रहा हो, जो समस्त जगतको आनंदित कर रहा हो, ऐसे उत्तम गुणी पुरुषोंको देखकर दुष्टजन अकारण ही उनको नीचा करनेका प्रयत्न किया करते हैं । तो मानो उनको ग्रसकर गिराना चाहते हैं । जैसे कि चन्द्रमा जो जगतको शीतलता प्रदान करता है, जिसकी किरण बड़ी उज्ज्वल है उस चन्द्रसे मानो यह राहु गुणोंको दृष्टि न देख सकनेसे उसे ग्रसनेका प्रयत्न करते हैं, भले ही कुछ समयके लिए चन्द्र ग्रसा जाता है मगर उसका वश सदा नहीं चलता । तो भले ही कोई दुर्जन किसी गुणीको सताये तो वह गुणी अपनी सद्भावनाके कारण अन्तमें सुरक्षित ही रहता है मगर दुष्टजन उनको सताये बिना नहीं रहते । अर्थात् दुष्टजन गुणी पुरुषोंके गुणोंमें ईर्ष्या रखकर उसका बुरा ही करनेमें लग जाते हैं । सो मालूम होता कि ये दुष्टजन भेड़ियेकी तरह हैं । जैसे भेड़िया टकटकी लगाकर भीतर ही भीतर झुन्नाता रहता है, अवसर देखता रहता है । जैसे ही उसने अवसर पाया कि झट भेड़ बकरी आदिक जानवरोंका शिकार कर लेता है इसी तरह दुष्ट पुरुष भी सदा ताक लगाये बैठे रहते हैं, वे अवसर देखते रहते हैं और जैसे ही अवसर मिलता है तो ये गुणोंको मलिन कर डालते हैं । गुणी पुरुषोंके गुणोंको भी अवगुणरूपमें प्रकाशित करते हैं और अपने गुणोंको तो मलिन कर ही रहे हैं । तो जो दुष्टजन मिथ्या मलिन आशयके हैं उनका संग करने से इस मनुष्य को लाभ कुछ नहीं, उल्टे हानि ही हानि है । इसलिए अपनी बुद्धिके सुधारके लिए सन्मार्गमें निर्बाध गमन करनेके लिए विवेकी पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे दुष्टजनोंका संग छोड़ दें ।

त्यक्त्वा मौक्तिकसंहतिं करटिनो गृह्णंति काकाः पलं ।
त्यक्त्वा चंदनमाश्रयंति कुथितयोनिक्षतं मक्षिकाः ॥
हित्वान्नं विविधं मनोहररसं श्वानो मलं भुंजते ।
यद्वल्लांति गुणं विहाय सतत दोषं तथा दुर्जनाः ॥४४९॥

(२९०) दुर्जनोंकी सतत दोषग्राहिता—दुष्टजन गुणियोंके गुणोंको छोड़कर निरन्तर उनके दोषोंको ही ग्रहण करते हैं और प्रकट करते हैं । जैसे कि कौवा हाथीके गजमोतियों को तो छोड़ देता है और मांसको ही ग्रहण करता है । किसी किसी गजके मस्तकमें मोती

भी होते हैं। जैसे हड्डियां होती तो वे भी पौद्गलिक हैं ऐसे ही कोई विशिष्ट जातिका लौकिक उत्तम मूल्यवान पदार्थ भी वहां उत्पन्न होता है। तो काग जब कुछ कमज़ोर हाथीको या तुरन्तके मरे हुए हाथीको चोटते हैं तो उनकी दृष्टि केवल मांस खानेमें रहती है, भले ही वहां और भी मूल्यवान पदार्थ है, पर उनको वे छोड़ देते हैं, करें क्या ? कौवेकी प्रकृति मांसकी ही तो होती है अएतव मोतियोंके समुदायको छोड़कर केवल मांसका ही भक्षण करते हैं इसी तरह ये दुष्ट पुरुष गुणीजनोंके गुणोंको त्यागकर केवल उनमें दोषको ही ग्रहण करते हैं। उपयोगमें लेते हैं और उसीको ही जिभ्यासे बोलते हैं ? दुष्टोंको गुणोंसे क्या मतलब रहा ? उसमें रुचि ही नहीं। गुणोंसे प्रेम ही नहीं, गुणोंको तो वे देखते हैं जिनको गुणोंमें प्रेम होता है। तो गुणोंसे द्वेष रखने वाले दुष्टजन गुणीजनोंके गुणोंको छोड़कर केवल दोषोंको ही ग्रहण करते हैं। जैसे मक्खियां चंदनको छोड़कर निन्द्य घावका ही आश्रय करती हैं। जैसे किसी पुरुषको घाव हुआ हो और उसमें चंदनका लेप किया हो तो मक्खियां उस चंदनसे प्रेम नहीं करती, चंदनके लेपको तो छोड़ देती हैं और उस घाव पर मुख देती हैं ऐसे ही दुष्टजन गुणीजनोंके गुणोंका उनपर पूरा लेप है लेकिन उन गुणोंको दुष्टजन ग्रहण नहीं करते, बल्कि कोई थोड़ा दोष हो तो उसका ही आश्रय करते हैं। दोष ही उसकी दृष्टिमें रहते हैं। कदाचित दोष न भी हों तो दोष बना बनाकर वे उगलते रहते हैं। जैसे कुत्ते बड़े रसीले भोजनको छोड़कर केवल वमन जैसे मलोंको ही खाते हैं। उन कुत्तोंको उस वमनके खानेमें ही प्रेम होता है ऐसे ही ये दुष्टजन गुणी पुरुषोंके गुणोंको त्याग कर केवल उनके दोषको ही निरखते रहते हैं। दुष्टजन क्या करें, उनको दोषमें प्रेम है इस लिए दूसरोंमें दोषको ही देखते हैं और वे स्वयं दोषको श्रेष्ठ समझते हैं। वे दोषोंके करनेमें पापकार्योंके करनेमें अपनी बहादुरी भी मानते हैं। मैं पुरुषार्थी हूं, मैं बड़ा हूं, सबसे अधिक समझदार हूं, मैं अनेक लोगोंकी आंखोंमें धूल झोंककर अपना काम बना लेता हूं, ऐसा उन दुष्टजनोंके मनमें गर्व रहता है। तो इन दुष्ट प्रकृति वाले लोगोंका दोष ही दोषमें निवास है। उनका संग करनेसे कभी भी धर्मका लाभ नहीं हो सकता, बल्कि धर्ममें हानि होती है, उद्वेग बढ़ता है इस कारण धर्मके इच्छुक पुरुषोंका दुष्टजनोंका परित्याग करना ही चाहिये।

ये जल्पंति व्यसनविमुखा भारतीयस्तदोषं
ये श्रीनातिद्युतिमतिधृतिप्रीतिशांतीर्ददंते।
येभ्यः कीर्तिर्विगलितमला जायते जन्मभाजां
सश्वत्संतः कलिलहतये ते नरेणाद्य सेव्याः ॥४५०॥

(२९१) सत्संग किये जानेके योग्य सज्जनोंका हितकारिणी वाणीसे परिचय व

सत्संगके लाभ—यह सज्जन निरूपण नामका परिच्छेद है। संग सज्जनोंका सेवन करनेके योग्य है। दुष्टसंगसे तो बनवास या अन्य कार्य भी भले हैं। संग होना चाहिये सत्पुरुषोंका क्योंकि सत्संगसे बुद्धि पवित्र रहती है। सन्मार्ग मिलता है, शान्ति प्राप्त होती है। तो वह सज्जन पुरुष कौन होता है उसका वर्णन इस छंदमें किया है। सज्जनकी पहिचान है निर्दोषवाणी। जिनकी निर्दोष वाणी दुःखोंसे अलग रखती है वे सज्जन पुरुष कहलाते हैं। जिन्होंने आत्माका और संसारके स्वरूपका भली भाँति निर्णय किया है उनमें ही यह कला आती है, वे ही वास्तवमें सत्पुरुष कहलाने योग्य है, उनकी ही वाणी ऐसी निर्दोष निकलती है कि जिसमें मिथ्याका काम नहीं, दूसरोंका अहित नहीं। मनुष्योंकी पहिचान वाणीसे होती है मगर कभी कभी यह भी धोखा रहता है कि जिसकी वाणी सुननेमें तो भली लग रही है मगर हृदयमें कपट है, स्वार्थवासना है तो उसकी पहिचान थोड़ा कठिन तो होती है मगर बहुत दिन बसे बसे सब ज्ञात हो जाता है कि यह वाणी तो वास्तवमें निर्दोष है और यह कपटभरी है। सज्जन पुरुषोंकी निर्दोष वाणी दूसरोंको विपत्तियोंसे हटाती है, विभूति, कीर्ति, कान्तिका वर्द्धन करती है। जिनका हृदय पवित्र है, इस संसारके सर्वसंकटोंसे हटनेकी खुदको वाञ्छा है उनकी वाणी कपटभरी कैसे हो सकती ?

(२९२) **परविविक्त स्वैकत्वगत सहजात्मस्वरूपकी प्रतीतिका कर्तव्य**—देखो इस जीवनमें करने योग्य खास काम क्या है ? जो करने योग्य काम है वह कठिन नहीं, सुगम है, स्वाधीन है। वह काम क्या है ? अपने आपके सहज स्वरूपका परिचय बना लेना। मैं हूं तो अपने आप ही तो हूं, मेरी सत्ता किसी दूसरे पदार्थकी दया पर नहीं है। अपने आपसे ही सत्त्व हूं। तो स्वयं अपने आपसे मैं कैसा हूं इसका जिसको निर्णय हुआ है वह ही वास्तविक विरक्त होगा और अपनी स्वरूपदृष्टि करके संसारसे पार होगा। स्वरूपदृष्टि करनेके लिए एक संक्षिप्त मनन करें कि मैं देहसे, कर्मसे, विकारसे निराला केवल चेतनामात्र हूँ। ऐसी बात दृष्टिमें आनी चाहिए। किसी परपदार्थके सम्बन्धसे क्या हो रहा ? निर्णय तो रखिये जरूर मगर अनुभवके प्रसंगमें दृष्टि केवल निज सहज स्वरूपपर देनी है। भले ही कई चीजोंका मिलाप हो और उस मिलापमें सभी अपने स्वभावके विपरीत परिणम रहे हों तिसपर भी सबकी सत्ता अपने आपके निरपेक्ष है और स्वयंके रूप ही हुआ करती है। मैं देहसे निराला हूं। यह बात सही है या नहीं ? कहनेमें तो झट आ जायगा कि सही है मगर परीक्षाके अवसर जब आते हैं तब जैसे कहते हैं अपनी सिट्टी भूल गए। अच्छा एक दिन खाना न मिले या तीव्र ज्वर हो जाय, या कोई बिकट रोग हो जाय तो उस समय जो ऊपरी बातें कर रहे थे वे तो डिग जायेंगे और जिन्होंने पदार्थोंके सहज स्वरूपका निर्णय बनाया है वे धैर्य

पायेंगे उन कठिन परिस्थितियोंमें भी।

(२९३) **देहबन्धनकी असुविधायें**—भैया, इतना तो स्पष्ट निर्णय सबको है कि मरेके बाद लोग शरीरको क्यों जला देते हैं? जिस शरीरसे लोगोंका ऐसा प्रेमपूर्ण व्यवहार रहा ऐसे मित्रजन, वे ही सगे भाई बंधु इस मुर्देको झट ले जाकर जला आते हैं। दो घड़ी भी उसको घरमें नहीं रहने देते तो क्यों नहीं रहने देते? उनको इस बातका ज्ञान है कि जीव न्यारा है, देह न्यारा है। जीव चला गया, खली यह देह रह गया, तो यों भी झट समझमें आता है कि जीव न्यारा है, कर्म न्यारे हैं, और शरीर न्यारा है, पर बंधन ऐसा है कि इनका प्रयोग रूप देनेमें बड़ी बाधा आती है। भूख प्यास आदिक रोगोंकी बात तो दूर जाने दो, इष्टवियोग हो गया या अपनी कषाय वश विरुद्ध कोई बात बोल दी तो उसमें झट तिलमिला जाते हैं। अब बताओ कहां गया वह ज्ञान कि देह जुदा और मैं आत्मा जुदा? कोई विपरीत बात वह दे तो बात कहने वाला जुदा है। मूर्तिक है, भाषावर्गणाके शब्द हैं, अपनी कषायके अनुकूल काम कर रहा है, उसमें मुझ ज्ञानमात्र आत्माका क्या सम्बंध है? किन्तु उसे सुनकर झट तिलमिला जाते। मालूम होता है कि वह सब तोतारटन्त बात है—शरीर जुदा मैं जुदा, इसका अभ्यास नहीं बनाया, मनन नहीं बनाया सो बुरा लग रहा। अपने शरीरको माना कि यह मैं हूं और दूसरे शरीरोंको माना कि ये दूसरे लोग हैं और उस गालीके शब्दोंमें यह बात जोड़ ली कि इतने लोगोंके सामने यह मुझे गाली दे रहा, तो शरीरमें लगाव है, तब तो गाली दे रहा, तो शरीरमें लगाव है, तब तो गाली बुरी लगी, इष्ट वियोगका दुःख हुआ।

(२९४) **गुणरुचि व साम्यभावमें वास्तविक समृद्धि**—जो बात कहनेमें भली लगती है उसका अगर प्रयोग हो जाय, तब तो बेड़ा पार हो। सभाके बीच किसीको व्याख्यान देने खड़ा कर दिया तो वह जितनी बातें कहेगा वे सब भली कहेगा। किसीकी निन्दाकी बात न बोलेगा अगर बोलेगा भी तो वह प्रशंसाके रूपमें बोलेगा। निन्दाकी बात कहनेको तैयार होगा तो उसके हाथ पैर कांपने लगेंगे। वह ठीक तरहसे बयान नहीं कर सकता, और अगर किसी की प्रशंसाकी बात बोलेगा तो वह स्थिर रहेगा, प्रसन्न रहेगा। तो आप प्रयोग करके देख लो, जो बात करनेमें भली लगती है उस रूपसे प्रयोग बने तो इसमें आत्माका कल्याण है। देह जुदा मैं जुदा यह कहनेमें कितना भला लगता और यह ही व्याख्यानमें बोला जाता और इसका यदि भीतरी मनन बन जाय तब तो इसे शान्ति प्राप्त होगी। तो अभ्यास यह बनाइये कि मैं देहसे न्यारा हूं। जैसे प्रतिकूल किसीको क्रिया हो जाती तो वहाँ क्यों कषायका वेग होता? अरे प्रतिकूल कुछ नहीं है दुनियामें जो बाहरी पदार्थ जैसा परिणमते हैं, परिणम रहे हैं वे मेरे प्रतिकूल क्या? अज्ञानसे।

हम मान रहे कि ये मेरे प्रतिकूल हैं। कोई लोग कहते कि मेरा ही बेटा और मेरी ही बात नहीं मानता। जिसकी २०-२५ वर्ष तक सेवा की, पढ़ाया लिखाया, शादी करायी, सब प्रकारकी सेवायें कीं, मगर यह मेरेसे प्रतिकूल बोलता है।....अरे वह प्रतिकूल कुछ नहीं बोलता, वह तो अपनी कषायके अनुकूल बोल रहा। जिसमें उसे सुख शान्ति नजर आती वह कार्य कर रहा है। चाहे वह कार्य उसके ही खिलाफ बने, उसके ही बिगाड़का कारण बने, मगर सब लोग अपने-अपने माने हुए सुखके लिए अपनी प्रवृत्ति करते हैं। जो करते हैं सो करने दो, दुनियामें करोड़ों मनुष्य कर रहे ऐसा काम जैसे कि यह मनुष्य कर रहा, वहाँ क्यों बुरा मानते? उनमें लगाव न रखें, उनमें मोह बनाया है, लगाव रखा है इससे बुरा मानते हैं, और लगाव कब है? जब उसने अपने शरीरको माना कि मैं यह हूँ। तब तो लगाव है, नहीं तो ज्ञानमात्र अमूर्त आत्मस्वरूपको दृष्टिमें लेकर कौन कहेगा कि यह मेरे प्रतिकूल है।

(२९५) **स्वरूपाभिमुखतामें स्वरूपदृष्टि**—धर्म स्वरूपाभिमुख होनेपर धर्म बड़ा सुगम है, लेकिन जो लोग खोटे पथकी ओर चल रहे हों उनके लिए अतीव दुर्गम है। जैसे दर्पण है, इसके समक्ष मुख कर लिया तो अपना दर्शन बड़ा सुगम है और दर्पणकी ओर पीठ कर लें तो अपना दर्शन बड़ा दुर्गम है। देखिये जासे में हो कितना अन्तर हो गया। तो जिनको कल्याण इष्ट है, जो जान चुके कि मेरा हित किसी बाह्य पदार्थके लगावमें नहीं है वह भिन्न है, मेरे लिए असार है, मुझे वहाँ क्या करना? अनन्त भव गुजर गए इसी चक्करमें मेरा किसी अन्यसे प्रयोजन नहीं। आत्मस्वभाव मेरी दृष्टिमें आये बस एक मात्र यही करनेका काम पड़ा हुआ है। मैं देहसे न्यारा हूँ। और देहसे भी बहुत सूक्ष्म पुद्गल, जिनका कि विकट बंधन बना है, अनादिसे भरे चल रहे हैं, बंधन है, वे कर्म भी पौद्गलिक हैं। उन कर्मोंसे भी मैं न्यारा हूँ। जैसे शरीरसे न्यारा ऐसे ही कर्मसे न्यारा। यद्यपि मरण हो जानेपर शरीर साथ नहीं जाता कर्म साथ जाते हैं। वे पौद्गलिक सूक्ष्म कर्म जीवके साथ जाते हैं इतनेपर भी उन कर्मोंसे यह आत्मा जुदा है। तो मनन करें कि मैं आत्मा इन कर्मोंसे भी न्यारा हूँ। तीसरा मनन करिये कर्मका उदय आया। जब कर्म बंधे हैं तो अपने समयपर उनका विपाक आया। तो कर्मका विपाक कर्ममें आया। कर्मके उदयमें कर्ममें ही भयंकर रूप बन गया। लेकिन जब यह निमित्त नैमित्तिक बंधन है तो कर्मके उदयका वह भयंकर रूप यहाँ उपयोगमें आया, यहाँ उसका प्रतिफलन हुआ। फोटो आयी कैसे? छाया बनी तो वह बनी जिनके विकार भाव रूप और इसीको जीवने मान लिया कि मैं यह हूँ और इस मान्यतासे संसारमें रुलता है। मैं इन विकारोंसे भी नि-

राला हूँ, क्योंकि वे मेरे स्वरूपकी चीज नहीं हैं, वे नैमित्तिक हैं, इनसे मैं न्यारा हूँ। तो देह से न्यारा कर्मसे न्यारा और विकारसे न्यारा केवल चेतना मात्र।

(२९६) **पुद्गल व पौद्गलिक भावका बन्धन होनेपर भी स्वरूपसत्त्वकी विविक्तता**—अब अपने स्वरूपकी ओरसे देखिये यह मात्र चैतन्यस्वरूप है। अपने आपके बारेमें उस चैतन्य स्वरूपकी दृष्टि जाय तो जीवको धर्मका मार्ग मिलता है। सो धर्मकी इच्छा तो है सबके इसी लिए तो मंदिर आते, धर्म भावोंसे ही तो आते। तो यह धर्ममार्ग कितना सुगम है, थोड़ा इसका ज्ञान बना ले और अपने आपको मात्र चैतन्यरूपमें सही स्वरूप मानें, बिगाड़ कितने ही हो रहे मगर स्वरूप तो सही है। जैसे दूध और पानी भले ही मिल गए हैं मगर पानी पानीसे ही रचा है दूध दूधसे ही रचा हुआ है। यद्यपि मिले हुए दूध पानीमें से कोई दूध दूध पी ले, पानी न पिये ऐसा करना कठिन है। प्रयोगमें न आ पायगा किन्तु स्वरूप तो देखो वहाँ कि पानी पानीमें ही है, दूध दूधमें ही है उसको आगसे तपा दिया जाय तो दूध दूध तो रह जाता और पानी भाप बनकर ऊपर उड़ जाता। मशीनों द्वारा भी दूध और पानी अलग अलग देखे जा सकते। हंस पक्षीकी चोंचमें भी कोई ऐसा रसायन होता जिससे उस चोंचको मिले हुए दूध पानीमें डालने पर दूध अलग हो जाता और पानी अलग हो जाता तो जैसे मिले हुए दूध पानीमें दूधकी सत्ता अलग है और पानीकी सत्ता अलग है ऐसे ही शरीर कर्म और जीव इन तीनोंका मिश्रण होनेपर भी सब एक दूसरेसे भिन्न हैं।

(२९७) **सहजात्मस्वरूपभावनासे पवित्रताकी संभूति**—मैं आत्मा केवल चैतन्यमात्र हूँ, यह जिनकी दृष्टिमें आ गया है उनका मन शुद्ध है, उनके वचन शुद्ध हैं। और की तो बात क्या कहें उनके कायको भी शुद्ध कहते हैं। जो रत्नत्रयसे पवित्र हैं ऐसे साधुवोंके देह को किसने अपवित्र कहा ? उनके स्नानका त्याग है लेकिन उनके शरीरको किसी ने अपवित्र कहा क्या ? कोई साधु स्नान न करके आहारके लिए आया हो तो उसे आप आहार देनेमें मना तो नहीं करते। भले ही कोई ऐसा तेज शोधिया बना हो कि इस ही भावसे अलग भोजनका प्रबंध करे, आँगनमें लगाये कि ये नहाते तो हैं नहीं, ये चौकेमें आ गए तो हमारा चौका अपवित्र हो जायगा ऐसा सोचकर यदि कोई अलग प्रबंध करे तो उसका दूषित भाव है, पर ऐसा कोई करता नहीं। साधुका, रत्नत्रयधारीका देह सदा ही पवित्र माना जाता। उनके वचन तो पवित्र हैं ही किसीको पीड़ा कारक वचन नहीं हैं। उनके क्रोध, मान, आदिक कषाय नहीं जगते। साधुसंतोंने वास्तविक क्या चीज पायी है जिसके बलपर उनके कषाय नहीं जगते ? तो उन्होंने पाया है स्वभावदृष्टिका बल। मैं यह हूँ, चैतन्यमात्र। जैसा जो कोई अपने बारेमें बार बार सोचता है उस रूप उसका परिणाम, परिणमन होने लगता

है। आप किसीके बारेमें सोच रहे हों कि यह मेरा बड़ा विरोधी है, यह मेरेको देखता नहीं है तो आपको ऐसा ही दिखने लगेगा और उसकी प्रत्येक क्रिया आपको यों ही समझमें आयगी कि यह मेरा विरोध कर रहा है। जो बार बार यह सोचता है कि मैं मनुष्य हूँ। मनुष्य हूँ मायने यह देह वाला हूँ तो उसके सब संसार बढ़ने वाली बात बनेगी और जिनका मनन बराबर यह चलता है कि मैं चैतन्यमात्र हूँ, केवल चैतन्यस्वरूप पदार्थ हूँ तो उसके ज्ञाताद्रष्टा रूप व्यवहार चलने लगेगा।

(२९८) भावनानुसार भविष्य—देखो जैसे पहाड़से कोई रत्न निकालता है या आग निकालता है ऐसे ही आत्मामेंसे सुभाव निकालते हैं या दुर्भाव निकालते हैं यह अपने भावोंके आधार पर है। उसने किसका मनन कर रखा है, किसको अपना रखा है उस आधार पर बात है कि कोई चाहे रत्न निकाले या आग। जिसने अपनेको पर्यायरूपसे मनन किया है उससे आग निकलेगी और जिसने अपने आपके लिए चैतन्यस्वरूप मात्र मनन किया है उसकी वाणी निर्दोष निकलेगी। तो सज्जन पुरुष वह है जिसकी निर्दोष वाणी दूसरोंका दुःख दूर कर देती है। जो विभूति, नीति, कान्ति, शुद्ध लक्ष्मी वर्द्धक वृद्धिको करती है जिसके सम्बन्धसे निर्मल कीर्तिका प्रादुर्भाव होता है ऐसे सज्जन पुरुषोंका सदा सेवा सत्संग करना चाहिए। पहले एक यह निर्णय बना लो कि आपको इस संसारमें बारबार जन्म लेने में मजा आता है या जन्म बिल्कुल न हो आगे यह आपको चाहिए? इसका निर्णय बनायें पहले। यदि कोई यह कहे कि मुझे तो जन्म चाहिये, जन्म अच्छी चीज है, जन्ममें ही तो बड़े उत्सव समारोह होते हैं, स्वर्गोंमें देव समारोह करते हैं यहाँ सेठ लोग समारोह करते हैं, तो जन्म अच्छा है ना? तो ठीक है जन्म लेना यदि आपको पसंद है तो आप एक काम करिये कि इस शरीरको खूब मानते रहिये कि बस यह ही मैं हूँ, बस इस ही मान्यतासे आपको खूब शरीर मिलते रहेंगे। और अगर आपको जन्म न चाहिए, जन्म लेना पसंद नहीं है और आपके मनमें यह भाव हो कि मैं शरीरसे रहित केवल आत्मा ही रहूँ, अन्य पदार्थ भी तो अकेले अकेले ही हैं। निर्लेप धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य वगैरह तो इनकी भाँति मैं आत्मद्रव्य भी अकेला ही रहूँ, कोई संग न चाहिए, कुछ लेप न चाहिए, अगर ऐसी इच्छा है तो उसका उपाय यह है कि शरीरको हम (मैं) न मानें और शरीरसे निराला अपने को ज्ञानमात्र, चैतन्यमात्र मनन करें। दोनो ही बातें सामने रखी हैं। अब यह अपनी छटनी कर लें कि जन्म लेना पसंद है या जन्मसे हटकर केवल आत्मा रहना आपको पसंद है? यदि जन्म लेना पसंद है तो देखलो संसारमें ये ही सब तो जीव भरे हुए हैं—निगोदिया, अन्य एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय,

पंचेन्द्रियमें तिर्यंच और नारकी देव, मनुष्य, ऐसे प्राणी होते रहना पसंद है, तो यह बात कोई विवेककी नहीं है। प्रभुभक्ति करके यह ही तो एक उमंग बढ़ाना है कि हे प्रभो, जैसे आप सर्व लेपसे रहित हो गए। हे सिद्ध भगवान जैसे आप शरीरसे सदाके लिए छूट गए। अब केवल निर्लेप ज्ञानपुञ्ज ही रह गए ऐसा ही मैं अपने आपको चाहता हूं, क्योंकि ऐसा हुए बिना आत्मकल्याण नहीं सो जन्म लेता रहूं यह बात रंच भी पसंद न कीजिए। किन्तु मैं जन्मरहित हो जाऊँ, केवल आत्मा ही आत्मा रह जाऊं, बस यह भावना भरें।

(२९९) अन्तः आशयके अनुसार उपलब्धि—देखो भीतरकी लगनका फर्क होता है। जिसने यह भावना भरी उसके मोह कहाँ रहेगा। कैसे मान सकेगा कि ये पुत्रादिक मेरे हैं। यह मैं हूं यह बुद्धि उसके आ ही नहीं सकती। हां रहना है तो प्रेमका व्यवहार तो बनाये रखना पड़ेगा, क्योंकि मुझ समान ही ये भी चेतन हैं, मगर रागका व्यवहार बना कर भी ज्ञानीके निर्मोहता रहती है। तो हे प्रभु मैं देहरहित होना चाहता हूं, याने जन्मरहित होना चाहता हूं। देह और जन्मका बीज है कर्म। कर्मके उदय होते, देहका बंधन होता, यही परम्परा अनादिसे चली आयी है। तो भावना करे कि मैं कर्मसे रहित होना चाहता हूं। न मुझे शुभ कर्म चाहिये न अशुभ कर्म, न पुण्य चाहिये न पाप चाहिए, क्योंकि पुण्यकर्मके फलमें एक बार राजा नेता धनी बन जायें तो उसकी क्या गारन्टी है कि वह दुःखी न होगा या अगले भवमें उससे हीन पद पर न आयगा ? बल्कि प्रायः यह होता है जिसके पुण्यका उदय है, धन वैभव मिला है तो उसका हृदय स्वच्छंद हो जाता है, विषयोंमें लग जाता है, मनमाने पाप करता है। यह पुण्यके उदयसे नहीं कर रहा, यह तो अपने वर्तमान भावोंके अनुसार कर रहा मगर ऐसी बात होने तो लगती है। तो इस पुण्यकी कोई गारंटी नहीं है कि पुण्य मिल गया तो उसका कल्याण होगा ही। इससे न पाप चाहें बल्कि उनसे हटनेका काम करें। उनसे हटनेका क्रम यह ही है कि पहले पाप भावोंको छोड़कर पुण्य भावोंमें आयें पर लक्ष्य अपना रखें शुद्धभावोंका तो बात बनेगी। यदि शुद्ध भावना हो जाय, अपने सहज स्वरूपका निर्णय हो जाय तो ये सब बातें आसान हो जाती हैं। तो हमें यह चाहिये कि जो ज्ञानी पुरुष हैं, सज्जन पुरुष हैं उनका सत्संग करें तो उनकी मुद्रासे, चेष्टासे हमें सन्मार्ग मिलेगा।

नैतच्छद्मा चकितहरिणीलोचना कीरनासा
मृद्वालापो कमलवदना पक्वबिंबाधरोष्ठी।
मध्ये क्षामा विपुलजघना कामिनी कांतरूपा
यन्निर्दोषं वितरति सुखं संगतिः सज्जनानां ॥४५१॥

(३००) सत्संगतिसे निर्दोष सुखका लाभ—सज्जन पुरुषोंकी संगति जिस निर्दोष

सुखको प्रदान करती है वैसे सुखको दुनियावी लोगोंके द्वारा मानी गई कामिनी भी प्रदान नहीं करती। लौकिक जन सर्व पदार्थोंमें सर्वाधिक सुख देने वाली स्त्रीको माना है, और साहित्यकार अपने साहित्यमें उसकी प्रधानताका बड़े गौरवके साथ वर्णन करते हैं। किस प्रकार वर्णन करते हैं कि जो युवती जन हैं वे चकित हिरणीके समान चंचल नेत्र वाली हैं। नेत्रोंको जल्दी यहां वहां घुमायें ऐसी स्त्रियोंको उनकी सुन्दरता मानते हैं। कीरनाशा जिनकी नाक सुवा को तरह है, उसका भाव यह है कि नासिकामें छिद्र सीधे यदि दिखें तो लोगोंको ग्लानि उत्पन्न होती तो ऐसी नाक जिसमें कि छिद्र दिखें नहीं वह तो तोतेकी होती है। साहित्यकार जिस-जिस ढंगमें स्त्रियोंकी सुन्दरताका वर्णन करते हैं, लौकिक पुरुष भी उस उस ढंगमें उस सुन्दरताको निरखते हैं। ऐसी सुन्दर स्त्रियां भी वह सुख नहीं प्रदान करतीं जो निर्दोष आल्हाद सज्जनों की संगतिसे प्राप्त होता है स्त्रियोंका वर्णन मृदु आलाप वाली सुन्दरता बतानेके लिए है। ये लौकिकजन भी उसीको ही अधिक प्रिय मानते हैं जो मधुर वचन बोलें। जिनका वदन कमल के समान कोमल हो। जैसे कमलके पत्ते कोमल होते हैं इसी तरह जिनका वदन भी कान्तिमय और कोमल हो ऐसी स्त्रियोंमें लौकिकजन सुन्दरता समझते हैं। जिनके ओंठ वक्र हों, बिम्ब-फलके समान लाल हों याने ललाई प्राकृतिक ओंठों पर पायी जाय वहां लौकिकजन सुन्दरता मानते हैं और साहित्यकार कवि भी उसी ढंगसे वर्णन करते हैं, जिनकी कमर मध्यमें अत्यन्त पतली हो और जंघा मोटे हों उस कामिनीको लौकिक जन सुखका कारण मानते हैं और अच्छे ढंगसे साहित्यकार भी वर्णन करते हैं, लेकिन ऐसी युवती स्त्रीजनोंसे उत्पन्न होने वाला सुख सदोष है। तत्काल भी खोटे परिणाम ही बनते हैं और कर्मबंध भी होता है। भविष्यमें उसका परिणाम खोटा भोगना पड़ता है। तो भले ही कुछ कल्पनामें लौकिकजन स्त्रियोंको सुखका कारण मानें लेकिन सुखका कारण नहीं हैं तत्काल भी और आगे भी क्षोभका कारण हैं लेकिन सज्जन पुरुषोंकी संगति तत्काल भी और भावीकालमें भी संतोष और आनन्दको प्रदान करने वाली होती है। अतः सत्संगति करना योग्य है और उसमें ही आत्मा अपने गुणोंको समृद्ध बना सकेगा।

यो नाक्षिप्य प्रवदति कथानाभ्यसूयां विधत्ते।
न स्तौति स्वं हसति न परं वक्ति नान्यस्य मर्म॥
हंति क्रोधं स्थिरमति शमं प्रीति तो न व्ययीति।
संतः संतं व्यपगतमदं तं सदा वर्णयंति॥४५२॥

(३०१) सज्जनपुरुषोंके आक्षेपकथन, ईर्ष्या व स्वप्रशंसाके भावकी असंभवता — सज्जन पुरुषोंका संग लाभदायक होता है यह प्रकरण इस ग्रन्थमें चल रहा है। तो वे

सज्जन पुरुष कौन होते उसका कुछ वर्णन इस छंदमें है। जो पुरुष कभी भी दूसरोंपर कटाक्ष न करें, आक्षेप न करें ऐसी उनकी व्यावहारिक प्रवृत्ति रहती है जिसके चित्तमें सर्व जीवोंका स्वरूप समाया है और जानते हैं कि जो भी त्रुटि है वह सब औपाधिक है। इनके स्वभावमें से यह त्रुटि नहीं आयी है ऐसा जो देखते हैं, जीवोंके स्वरूपकी दृष्टि रखते हैं ऐसे सत्पुरुष दूसरोंका कटाक्ष और आक्षेपके वचन कैसे बोल सकते हैं? चित्तमें कषाय हो तो उसके कारण लोग आक्षेप भरी बातें बोला करते हैं। तो प्रथम परिचय यह है कि जिनकी वाणी दूसरोंके कटाक्ष और आक्षेप भरी नहीं होती। कोई दोष भी करता हो तो उसे जान तो जाते हैं, पर उस दोषको उसके स्वभावमें उत्पन्न नहीं करते। ज्ञानी पुरुषोंकी ऐसी रीति नीति होती। ज्ञानी पुरुष सज्जन पुरुष किसीके गुणोंमें दोषका आरोप नहीं करते। जिनको गुणोंमें रुचि होती है वे अन्यत्र भी गुणोका दर्शन करते हैं। रुचिके अनुसार लोगों की बाह्य प्रवृत्ति होती है। जैसे जिसका कलुषित हृदय है वह बाहर सबमें कलुषित ही कल्पना करता है, जिसकी गुणोंमें रुचि है, निर्मल चित्त है उसको बाहरमें प्रथम तो दोषके दर्शन ही नहीं होते। गुण और दोष सबमें मौजूद होते हैं, पर जिनकी गुणोंमें रुचि है उन-की गुणोंपर प्रधानतया दृष्टि रहती है। जिनके दोषोंमें रुचि हैं, दोषमय जिनका हृदय है उनको सब जगह दोष ही दोष दिखते हैं। जैसे जो स्वयं अवगुणसे भरा है, कहिये चोरी जैसी वृत्ति है वह दूसरोंपर किसी प्रकारकी शंका रखता है और झट उन्हें पहिचान भी लेता है, जिनकी गुणोंपर दृष्टि है उन्हें गुणोंके दर्शन होते हैं और उनमें प्रमोदभाव जगता है। ईर्ष्या अहंकार ये एक ऐसे दोष हैं कि जिनके कारण प्रकृति दुष्ट हो जाती है। तो जो सत्पुरुष हैं वे कभी कटाक्ष नहीं करते और किसीके गुणोंमें दोषका आरोप नहीं किया करते। जो जैसा है वैसा बाहरमें वे परख लेते हैं। सत्पुरुष कभी अपनी प्रशंसा और दूसरोंकी बुराई नहीं करते। ये तो नीच गोत्रका बंध करने वाले भाव हैं। अपनी प्रशंसाका भाव भी वे नहीं रखते। ऐसी सरलता उन सत्पुरुषोंमें होती है।

(३०२) **सत्पुरुषोंके सहजात्मस्वरूपकी धुन**—सत्पुरुषो में केवल जो एक उनका कर्तव्य है उसकी ही धुन होती है। वह कर्तव्य क्या है? अपने आपको सहज स्वरूपमें देखनेका पौरुष होना। धर्मपालन वस्तुतः अपने आपको जैसा कि सहज सत्त्व है, स्वयं स्वरूप है उस रूपमें अपने आपको मानना व उसपर दृढ़ रहना और ऐसा ही निरन्तर जानते रहना यह है वास्तविक धर्मपालन। यह जिसने निर्णय कर लिया है वह पुरुष इस वृत्तिका पात्र रहे इसके लिए आगे बढ़ता है। चरणानुयोगके अनुसार व्रत, तप, संयम आदिक ग्रहण करता है ताकि हम अपने स्वभावदर्शनके पात्र बने रहें और समय समयपर यह दृष्टि करके अपना जीवन

सफल करें। मुख्य बात है अपने आपके सही स्वरूपको पहिचान लेना, यह जिसने नहीं किया वह भले ही थोड़ासा पुण्यबंध कर ले, लेकिन उसे मोक्षमार्ग नहीं मिलता। तो सर्व आरम्भ करके, पौरुष करके जैसे आत्माके सही स्वरूपका परिचय बने वह काम करिये। वह है ज्ञान। भेदविज्ञान। वस्तुस्वरूपका परिचय। निरखना क्या है कि मैं केवल चेतना मात्र हूं। मेरे सत्त्वमें दूसरेका सत्त्व मिल करके बना हो ऐसी बात नहीं है। जो भी सत् है वह स्वयं है, स्वयं पूर्ण है। किसीकी सत्ता अधूरी नहीं रहती। तो मैं जब सत् हूं तो वह वस्तुतः क्या हूं यह बात जिनके अनुभवमें आ जाती है उनको मोक्षमार्गका लाभ होता है।

(३०३) **अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति विना गल्पवादका प्रवर्तन**—देहसे मैं न्यारा हूं ऐसी बात तो प्रायः सब बोलते हैं और थोड़ा इस पर विश्वास भी रखते हैं। जैसे कोई पुरुष गुजर गया तो सभी कहते हैं कि हंसा उड़ गया, मिट्टी रह गयी, इसको तो उन्होंने भी स्वीकार किया। देहसे न्यारा यह मैं आत्मतत्त्व हूं। भले ही विपर्ययरहित विधिसे नहीं जान पाया फिर भी साधारणतया सभी लोग इस बातको थोड़ा थोड़ा जानते हैं कि यह जीव देहसे निराला है। जरा इसी बातको वस्तुस्वरूपके परिचयके साथ और जाननेकी आवश्यकता है। यह देह क्या है ? अनेक परमाणुओंका पिण्ड है, स्तम्भ है, रूप, रस, गंध, स्पर्शवान है। इसमें चैतन्यस्वरूप नहीं है। मूर्त कोई चेतन हो ही नहीं सकता, और मैं एक जाननहार आत्मतत्त्व हूं। बंधन है आज और वह बंधन भी विकट है। जब आरामसे है तब भेदविज्ञानकी बात सब बोल लेंगे (आजकी स्थितिकी बात कह रहे) और कोई ज्वर हो, खांसी हो, श्वांस हो, कोई रोग हो, चोट हो, कोई वेदना आ जाय तो प्रयोगात्मक विधिसे अपने आपमें तको कि मैं अब भी भेदविज्ञानपर अमल कर पाता हूं कि नहीं। तो गप्प करना तो सबको आसान रहता है और गप्प सप्पमें ही विवाद हो जाया करता है। तब विवादात्मक विधिसे जितने क्षणका संकल्प हो उसकी प्रायः सारी समस्यायें सुलझ जाती हैं और ठीक विधिसे वे अपने स्वरूप तक पहुंच लेते हैं। आज ऐसा बन्धन है, पर स्वरूप देखो तो सबका अपना अपना जुदा-जुदा है। उसका अभ्यास नहीं है। अपने आपके एकत्वकी लगन नहीं है। पूरी तरहसे निर्णय भी नहीं किया है, अतएव ऐसी बातें गप्पोंमें आती हैं, पर प्रयोग रूपमें उत्तीर्ण नहीं हो पाते। तो जरूरत इस बातकी है कि मैं अपने आप स्वयं जैसा चैतन्यमात्र हूं उस प्रकारकी निरख करें।

(३०४) **अन्तस्तत्त्वकी अनुभूति होनेपर ही सहजात्मस्वरूपका वास्तविक परिचय**—मोह ममतासे अन्य पदार्थोंको मानना कि ये ही सब मैं हूं, ये मेरे हैं, रागद्वेषके जितने व्यवहार हैं, जितनी रागद्वेषकी भीतरी जागृतियां हैं उनसे तो अपनेको अलग कर सकते हैं अन्तर

में पर कुछ प्रयोगात्मक विधिसे हो तो अपने आपका स्पष्ट बोध हो। जैसे मिश्री मीठी है, ऐसा बारबार कहने पर भी जिसने मिश्री नहीं चखी है उसे उस मीठेपनकी बात भीतर उतरती नहीं है, मुखसे तो वह कह देगा, सुन रखा है, कुछ युक्तियां बताती है कि गन्ना इतना मीठा होता है, उसका रस निकाल लिया जाय तो वह और भी मीठा होता उसको पकाकर राब बना दिया जाय तो वह उससे अधिक मीठा होता, राबका गुड़ बना दिया जाय तो वह उससे अधिक मीठा, गुड़से शक्कर बना दी जाय तो वह और भी अधिक मीठा और फिर उस शक्करका मैल निकालकर मिश्री बना दिया जाय तो वह और भी मीठा, इस तरह कोई शब्दों द्वारा मिश्रीका खूब ज्ञान भी कर ले, शब्दोंसे बोल भी ले पर सही रूपसे मिश्रीके स्वादका निर्णय वह नहीं कर सकता। हां उसको मिश्रीकी एक डली खिला दी जाय तो वह मिश्रीका सही सही स्वाद समझ लेगा, जान लेगा। तो ऐसे ही आत्मस्वरूपकी बात कोई बहुत बहुत सुन ले, मुखसे भी बोल ले फिर भी उसे आत्मस्वरूपका सही सही अनुभव नहीं हो पाता। आत्मस्वरूपके अनुभवका ढंग, आत्मकल्याणका ढंग तो बड़ी शान्तिका है। धीरताका है जब भीतर अपनेको सम्बोधन करें। अपने आपकी ओर उन्मुख हों, उसका प्रयोग करें। प्रयोग भी तब ही बनेगा जब कि कुछ आचरण सही हो।

(३०५) सदाचरण होनेपर सम्यक्त्वलाभकी संभवताका एक सिद्धान्तसे परिचय—करणानुयोगमें बताया है कि क्षायिकसम्यक्त्व कैसे होता। अन्य सम्यक्त्वकी भी विधि बतायी है। ७ प्रकृतियां जो इसके मिथ्या दर्शनके निमित्तभूत हैं उन प्रकृतियोंका क्षय होने पर सम्यक्त्व प्रकट होता है। तो उस प्रसंगमें यह बताया है ना कि जब करणलब्धि होती है तो उसके प्रसादसे सर्वप्रथम अनन्तानुबंधीका अन्तर करण, विसंयोजन व अनन्तानुबंधीसे हटनेकी बात आती है। अनन्तानुबंधीका क्षय हुए बाद यह जीव अन्तर्मुहूर्त विश्राम करता है, उसके पश्चात् दर्शनमोहका क्षय होता है। अनन्तानुबंधी चारित्रमोहकी प्रकृति है। यह विधि भी बतला रही है कि आचरणका अंश जगे बिना यह दर्शनमोहको साफ न कर पायगा और न अनुभव बन पायगा। तो अपने योग्य आचरणमें रहकर भीतर धुन बनाइये, मनन करिये अपने स्वरूपका। उसके प्रसादसे जो जैसा होना है ऑटोमेटिक निमित्तनैमित्तिक योग में हो जायगा। कैसे कर्म दूर होते हैं, क्षीण होते हैं, क्या उनमें स्थिति बनती है वह सब आत्माके विशुद्ध परिणामका निमित्त पाकर होता रहेगा। अपना काम है अपने स्वरूपपर दृष्टि देना।

(३०६) विकारोंकी नैमित्तिकता व परभावताके परिचयका प्रथम लाभ—देखो जितने विकार होते हैं, जिन्हें कहते हैं परभाव, रागद्वेषादिक भाव, ये क्या जीवमें स्वभावतया

होते ? नहीं होते। हो रहे जीवके परिणमन, पर जीवोंमें स्वभावतया नहीं होते। रागद्वेष करनेका जीवका स्वभाव नहीं है। और हो सो जाते हैं। जैसे एक दर्पणमें किसी भी चीजका फोटो आते रहना क्या परके सान्निध्य बिना दर्पणके स्वभावसे ही होता है जिस वस्तुका सामने सान्निध्य होता है उसके अनुरूप वैसा दर्पणमें फोटो रूप परिणमन होता है। यह निमित्त नैमित्तिक भाव है, ऐसे ही मुझमें जो रागद्वेषादिक विकार जगते हैं वे पूर्वबद्ध कर्मके उदयका निमित्त पाकर ये जीवमें विकार परिणतियाँ बनती हैं, ऐसा सब लोग जानते हैं, मानते हैं, पर इस श्रद्धासे अपनेको लाभ क्या मिलता है ? पहला लाभ तो यह है कि जो एक यह त्रुटि बन रही है कि जितने ये बाहरी पदार्थ है रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द इनको लोग विकारका निमित्त कारण मान मानकर अहंकार और कायरता इन दो भावोंको बढ़ा रहे हैं। मैंने अमुक को सुख दिया। अमुकको दुःख दिया ऐसा मानकर वह अहंकार बढ़ा रहा है, मुझको अन्य जीवने सुख दिया, दुःख दिया ऐसा मानकर यह कायरता बढ़ा रहा है। तो निमित्त नैमित्तिक योग केवल जीवके विकारके प्रसंगमें कर्मके साथ है। जगतमें जो अन्य इतने पदार्थ हैं, इनके साथ नहीं है, इनको हम उपयोगमें लेते हैं, इन्हें आश्रयभूत बनाते हैं तो ये आरोपित निमित्त बन जाते हैं सो भी व्यक्त विकारके प्रसंगमें। आश्रयभूत का हम ध्यान न धरें और किसी प्रतिपक्षभावका हम प्रवर्तन करें, जैसे मानो भगवानके गुणोंके स्मरणमें लग रहे हैं व आत्माकी चर्चामें हम चल रहे हैं तो यद्यपि क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें निरन्तर उदयमें चल रही है पर आश्रय भूत हमने बाहरी पदार्थोंको नहीं बनाया और हम अपनी आत्मचर्चा, आत्मचर्यामें लग गए, तो वहाँ विकार अव्यक्त रहेगा। जिसे अबुद्धिपूर्वक कहते हैं, व्यक्त न हो पायगा, बुद्धिपूर्वक न बनेगा। व्यक्त विकार होता ही तब है जब कि आश्रयभूत पदार्थमें हमारा उपयोग जाय। तो जब हमने– कर्म-विपाक और विकारका ही निमित्त नैमित्तिक योग है, यह बात परख ली तो आश्रयभूत पदार्थोंसे हमारा अहंकार और कायरता बननेका एक दोष निकल गया। पहला लाभ तो यह है। अब निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका दूसरा लाभ सुनिये।

(३०७) निमित्त नैमित्तयोगके परिचयका द्वितीय लाभ—निमित्त नैमित्तिकयोगके परिचयका दूसरा लाभ यह है कि इस निमित्त नैमित्तिक योगके परिचयमें सहज स्वभावकी दृष्टि साथ पड़ी हुई है, यह स्वभावदृष्टि सुगमतया बन जाती है। यह विकार नैमित्तिक है मायने मेरा स्वरूप नहीं। ऐसा बोध करनेके साथ एकस्वभाव नजरमें आ रहा है। अगर स्वभाव दृष्टि नहीं है तो वह विकारको नैमित्तिक नहीं बोल सकता। उसकी दृष्टिमें है कि मैं केवल चैतन्यमात्र हूं। इस चैतन्यमात्रकी स्वभाववृत्तिमें रागद्वेष विकार नहीं हैं। ये आये

हैं, ऐसा ही कर्ममें भयंकर विस्फोट है वही झलक रहा है, यह नैमित्तिक है। परभाव शब्द का अर्थ है यह कि परका निमित्त पाकर होने वाला भाव। यहाँ परभावका यह अर्थ नहीं है कि पर पदार्थको उपयोगमें लेकर होने वाला भाव। उसे परभाव कह तो सकते हैं, किन्तु वह व्याप्य मात्र है और परकर्मका निमित्त पाकर होने वाला भाव परभाव है, यह व्यापक रूप है। अर्थात् जितने परभाव होते हैं वे सब किसी पर पदार्थको उपयोगमें लेकर नहीं होते कोई परभाव परपदार्थको उपयोगमें लेकर होते हैं। कोई परको उपयोगमें न लेने पर भी होता है जो परको उपयोगमें लेनेसे परभाव होते हैं वे कहलाते हैं व्यक्त, बुद्धिपूर्वक और परको उपयोगमें न लेने पर भी निमित्तनैमित्तिक योगवश जो विकार बनते हैं वे होते अव्यक्त, बुद्धिपूर्वक तो देखो ये परभाव बाह्यपदार्थका आलम्बन लिए बिना भी हो गए, यह एक ऐसी ओटोमेटिक बात है। तो जहाँ हमने यह जाना कि ये विकार भाव तो कर्मविपाक की छाया भर है, और इसे जीवने अपना लिया, यह अज्ञान है। तो ऐसा नैमित्तिकपना समझमें आते ही उसकी दृष्टिमें स्वभाव आ गया। यह मैं चैतन्यमात्र हूं और ये भाव नैमित्तिक हैं। तो देखिये एक लाभ यह हुआ कि सुगमतया स्वभावकी दृष्टि बन गई।

(३०८) **यथार्थ स्वलक्ष्य होनेपर परिणमनकी विशुद्धता**—भैया! चाहिये तो यही ना, विकारसे हटना, स्वभावमें उपयुक्त होना और एक यही लक्ष्य बनाइये इस लक्ष्यके होने पर फिर आपको सही सही सर्वज्ञ दर्शन होगा। उसका प्रयोजन है विकारसे हटना और स्वभावमें लगना। यदि भीतरमें यह प्रयोजन नहीं बनता है अपनी ईमानदारीके साथ कि सचमुच मुझे इस जन्म-मरणसे इस शरीरसे रहित होना ही है, ऐसा हुए बिना मेरा हित नहीं, उद्धार नहीं, ऐसी एक पक्की बात ठान लें तब यह धुन बन जायगी कि मुझे तो अब इस शरीर और कर्मबंधनके मूलभूत इस विकारभावसे हटना है और अपने आपको स्वभाव मात्र अनुभवना है। तो जैसे विकारसे हटा जाय उस तरहसे ज्ञान बनेगा। जैसे स्वभावदृष्टि बने उस प्रकारसे ज्ञान बनेगा। तो मौलिक लाभ यह है और ऐसी बात जग जानेपर फिर जो व्यवहार बनना चाहिये योग्य वह योग्य व्यवहार बनने लगता है। ऐसे जीव दूसरोंपर क्या कटाक्ष करेंगे, दूसरोंकी क्या निन्दा करेंगे और अपनी क्या प्रशंसा करेंगे। प्रशंसा और निन्दाकी बातें शरीरके लगावके साथ रहा करती हैं। जैसे किसी ने निन्दा की, उसे सुनकर बुरा मानते तो क्यों बुरा मानते? इसलिए कि अभी इसको शरीरसे उपेक्षा नहीं है। मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हूं। ऐसी दृष्टि होने पर कैसे यह भाव बनेगा कि इसने मेरी निन्दा की? यह मुझको देख ही नहीं रहा। जो मुझको नहीं देख रहा वह मेरी निन्दा कहाँ कर सकता और जो मुझको देख रहा वह मेरी निन्दा कैसे कर सकता? मैं हूं अमूर्त ज्ञानमात्र। यह बात न

निन्दकके परिचयमें है और न इस सुनने वालेके परिचयमें है तब यह झगड़ा बन गया कि इसने मेरी निन्दा की। तो ध्यानमें रखिये जितने उपद्रव मुझपर बीत रहे हैं वे सब उपद्रव इस शरीरके लगावमें बीत रहे हैं, यदि बड़ी सच्चाईके साथ अपने आपके सहज स्वरूपकी धुन बन जाय कि मैं तो यह हूँ और मुझे यह ही प्रकट होना है ऐसी वास्तविक धुन बन जाय तो उसकी कितनी ही आदतें जो खोटी थी वे निकल जायेंगी और जो अच्छी हैं वे बातें आ जाती हैं। पर एक बार ऐसी धुन बनना चाहिए अन्यथा हित न होगा।

(३०९) सत्पुरुषोंकी उदात्त वृत्ति—सहजात्मस्वरूपकी प्रतीति प्राप्त कर लेने वाले पुरुष मौलिक सत्पुरुष कहलाते हैं और वे आत्मप्रशंसा और परनिन्दासे दूर रहते हैं। ये पुरुष कभी दूसरेके गूढ़ अभिप्रायको प्रकट नहीं करते किसीको मर्मभेदी वचन नहीं कहते बड़ा इनका उदात्त भाव हो जाता है। जितना हो सके दूसरोंका हित हो उसके लिए तो इनकी वृत्ति रहती है मगर किसीके अहितके लिए इनकी वृत्ति नहीं होती। ये सत्पुरुष क्रोधको सदा शान्त किया करते हैं। क्रोध किनके जगता है ? जिनको कि शरीरमें कुछ लगाव है। इसने मेरी प्रतिकूल बात कह दी, ऐसा सोचने वाले ने मेरा किसे कहा ? इस शरीरको। या शरीर धारीके लिए मेरा कहा है। जो निराला मेरा स्वरूप है उसको मेरा सोचता हुआ कोई दुःखी न होगा कि इसने मेरे प्रतिकूल बात कहा है। जो इसने कहा वह इसका परिणमन है। दूसरे के कल्याणकी वह इतनी तेज धुन बनाये रहता कि प्रतिकूलताकी बुराइयाँ अपनेमें लादे तो यह बात ज्ञानवृत्तिमें नहीं होती। कोई अगर उल्टा चलकर अपनी हठ चला रहा हो तो उस का खेद नहीं। जहाँ अनन्तानन्त जीव उल्टे हैं वैसे ही ये कुछ लोग भी उल्टे हो गये तो उस का क्या बुरा मानना ? कहीं तेजकमर कसकर धर्मका प्रसार करना ज्ञानीके मनमें नहीं होता। कमर कसी जाती है किसी त्रुटिके कारण। पर जैसे सभी आचार्योंने बहुत बहुत लिखा, उपदेश किया मगर कोई भीतरमें उन्होंने ऐसी कषाय नहीं बनायी कि वे लोगोंका इस इस तरहसे कमर कसकर कार्य करें। होता है। स्वयं जब उपकारमें चल रहे हैं, अपने आपके उद्धारमें चल रहे हैं तो सहज ही ऐसा वातावरण होता है कि लोग उससे लाभ ले लेते हैं। आत्मधुन अर्थात् सहज ज्ञानस्वरूप मैं हूं, इस प्रकारकी अपने आपकी दृढ भावना जहाँ जगती है वहाँ फिर कुछ नहीं समझाना पड़ता कि आपको किस किस तरहसे बात करना है। बोलना है ? वे सब बातें सहज ही आयेंगी। एक भीतरमें ज्ञानप्रकाश बने उसके प्रतापसे सारी बातें सही चलने लगती हैं।

(३१०) प्रतिभा तर्कणा योग्यता हो जानेपर बुद्धिकी गतिशीलता—बुन्देलखण्डकी एक ऐसी घटना गुरु जी सुनाते थे चाहे वह छत्रशाल राजाका किस्सा हो, कि उस बालकका

छोटी ही उमरमें पिता वहाँका राजा था। तो उस राजाके गुजरनेके बाद जब तक उसकी संतान बालिग नहीं हो जाती थी तब तक उस राज्यकी संभाल उस राज्यके एजेन्ट लोग किया करते थे, सो जब तक वह बालक नाबालिग रहा तब तक उस राज्यको एजेन्ट लोग चलाते रहे! धीरे धीरे वह बालक बड़ा हुआ तो उस राजमाताने एजेन्टोंसे अपील की कि मेरा बालक अब बालिग हो चुका है उसे राज्य दे दिया जाय। तो उस राज्यके साहबने एक तिथि निश्चित कर दी कि अमुक तिथिको उस बालकको हमारे पास भेज दो, पहले हम उसकी बुद्धिमानीकी परीक्षा लेंगे और यदि वह बालक राज्य चलाने योग्य जंचा तो जरूर उसे राज्य दे दिया जायगा। अब जिस तिथिको उस बालकको साहबके सम्मुख उपस्थित होना था उस तिथि तक उस राजमाताने अपने बेटेको बीसों बातें सिखा दी, बेटा यदि साहब यह पूछे तो यों जवाब देना, यह पूछे तो यों जवाब देना, पर बादमें वह बालक बोला और यदि इनमें से एक भी बात साहबने न पूछा तो ? ··· तो वह राज माता बोली बेटा अब मैं समझ गई कि तुम जरूर सही सही उत्तर देकर आवोगे। क्योंकि जब तुम्हारी बुद्धिमें यह तर्क पैदा हो गया कि यदि इन सब बातोंके अतिरिक्त अन्य कुछ पूछा तो क्या उत्तर देंगे। तो तुम जरूर उत्तर देकर आवोगे चाहे कुछ भी साहब पूछे। आखिर वह बालक उस निश्चित तिथिपर साहबके सम्मुख उपस्थित हुआ तो साहबने कुछ पूछा तो नहीं पर उस बालकके दोनो हाथ बड़े जोरसे पकड़ लिया और कहा देखो अब तुम कुछ नहीं कर सकते, मेरे आधीन हो गए ना ? तो वह बालक बोला—साहब आप क्या बात करते ? अरे आधीन हम हो गए कि आप। आप स्वयं हमारे आधीन बन गए न कि हम आपके आधीन बने। तो साहब ने पूछा कि हम कैसे तुम्हारे आधीन बने ? तो वह बालक बोला—देखो जब किसी लड़कीका विवाह होता है तो वहाँ लड़का उस लड़कीका केवल एक हाथ पकड़ लेता है भाँवर पड़ते समय तो वह उस लड़कीके आधीन जीवन भर रहता है याने जीवन भर उस लड़की की उसे रक्षा करनी पड़ती है, फिर आपने तो मेरे दोनों ही हाथ पकड़ लिए फिर मुझे अब क्या डर ? मैं तो पूर्ण रक्षित हो गया ···· इस प्रकारका तर्कणा पूर्ण उत्तर सुन कर साहब उस बालक पर अति प्रसन्न हुआ और उसे राज्य दे दिया। तो बात यहाँ यह बताया कि जब कोई एक प्रतिभा हो जाती है तब उसके लिए सब आसान हो जाता है। जिसको आत्मस्वरूपकी दृष्टि हो जाती है उसके मन वचन कायकी सब क्रियायें आसान बन जाती हैं। मूल स्वभाव तो यह है कि मेरेमें देह नहीं, कर्म नहीं, विकार नहीं, मैं तो वास्तवमें चैतन्यस्वरूपमात्र हूं। इस दृष्टिकी आवश्यकता है। फिर जितनी प्रवृत्तियाँ होती हैं करनी पड़ती है वे सब बाह्य प्रवृत्तियाँ बनती हैं। ये सज्जन पुरुष लोगोंके अपराधको क्षमा

करते हैं, उनमें भ्रान्ति स्थिर नहीं रखते हैं, कभी अहंकार नहीं करते। यह बात इस परमार्थ दृष्टिके प्रतापसे सहज ही बन जाती है। तो ऐसे कोई सत्पुरुष हों उनका संग, सेवनके योग्य है ताकि खुदमें गुणोंकी वृद्धि हो और कभी भी सन्मार्गसे भ्रष्ट न हो सकें।

घृत्वा घृत्वा ददति तरवः सप्रणामं फलानि
प्रायं प्रायं भुवनभृतये वारि वार्दाः क्षिपंति।
हत्वा हत्वा वितरति हरिर्दंतिनः संश्रितेभ्यो
भो साधूनां भवति भुवने कोऽप्यपूर्वोऽत्र पंथा ॥४५३॥

(३११) सज्जनोंका फलवान वृक्ष व वारिदोंकी तरह उपकारशीलता—संसारमें साधुजनोंका उपकार करनेका मार्ग अपूर्व ही होता है। सज्जन पुरुष अपना स्वार्थ नहीं तकते किन्तु दूसरे पुरुषोंका भला हो ऐसी ही प्रवृत्ति करते हैं। जैसे वृक्ष अपने मतलबके बिना, उद्दण्डताके बिना घमंडसे रहित होकर, नम्र शाखाओंमें प्रवृत्त होकर, नम्र होकर फल देते है, कोई भी वृक्ष जब फलवान हो जाता है तो उसकी शाखायें झुक जाती हैं और लोगोंको मधुर फल वहाँसे प्राप्त होते हैं, तो साहित्यकार अलंकारमें कहते हैं कि वृक्ष भी नम्र होकर दुनियाको अपना फल प्रदान करते हैं इसी प्रकार सज्जन पुरुष भी नम्र होकर दूसरोंका उपकार करते हैं। ऐसा भी नहीं है कि किसीका उपकार कर दें, कोई कार्य बना दें फिर उसपर एहसान बतायें या शान बतायें, ऐसा भी नहीं होता, किन्तु सज्जनोंकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि वे स्वभावतः नम्र भी होते हैं और दूसरोंका हित भी करते हैं। जैसे मेघ समुद्रसे जल खींच खींचकर अपनेमें भरकर पीछे लोगोंमें उस जलका वितरण कर देते हैं याने वर्षा कर देते हैं, जिस वर्षाका इतना बड़ा फल कि लोग अन्न पाते हैं और सुखसे जीते हैं, तो मेघोंका कितना बड़ा उपकार है। वे अपनेमें मानो कष्ट ही सह रहे हैं। समुद्रसे बड़ी गर्मी द्वारा भापसे पानीका खींचना, फिर जड़ होकर घन होकर आकाशमें यत्र तत्र डोलना। जब वे बादल आपसमें टकरा जाते हैं तो बड़ी गर्जना होती है, आघात होता है, ये सब बातें सह लेते हैं वे मेघ और दुनियाको वर्षा देकर, जल वर्षा कर अन्नादिक उत्पन्न करके सुखी करते हैं ऐसे ही सज्जन पुरुष कठिनसे कठिन परिश्रम उठाते हैं और दूसरोंका हित करनेका ही भाव रखते हैं।

इस छंदमें तीसरा एक लौकिक दृष्टान्त दिया है। जैसे सिंह अपने शरणमें आये हुए जीवोंको आहारकी सुविधा देता है और अन्य प्राणियोंको मारकर भी वहाँ उन्हें भोजन दे देता है तो इस दृष्टान्तके अनुसार सिर्फ यह ही बात समझना है कि सज्जन पुरुष भी दूसरेके उपकारके लिए अपनेमें कुछ थोड़ी बहुत मर्यादामें किसी कालमें कमी आ जाय तो भी वे

उनका उपकार करते हैं और वे कभी अपना उपकार करके एहसानका घमंड नहीं करते। तो सज्जन पुरुष दूसरोंके हितके लिये अपनी प्रियसे प्रिय वस्तुको भी प्रदान कर देते हैं ऐसे सज्जन पुरुष जिनके स्वार्थ नहीं लगा है। केवल दूसरोंके उपकारकी वृत्ति है और साथ ही जिनको अपने स्वरूपकी दृष्टि है जिन्होंने सर्व जीवोंको अपने समान समझ पाया है उन महा पुरुषोंका तो कहना ही क्या है? सो सत्पुरुषोंकी संगतिसे सन्मार्ग मिलता है, आदर्शकी आराधना होती है और सब क्षण शान्तिमें व्यतीत होते हैं।

वार्धेश्चंद्रः किमिह कुरुते नाकिमार्गस्थितोऽपि
वृद्धौ वृद्धिं श्रयति यदयं तस्य हानौ च हानिं।
अज्ञातो वा भवति महतः कोप्यपूर्वस्वभावो
देहेनापि त्रजति तनुतां येन दृष्ट्वान्यदुःखं ॥४५४॥

(३११) सज्जनोंका चन्द्रवत् सर्वसुखकारिता—सज्जन पुरुष दूसरोंके दुःखको देखकर खुद भी दुःखी हो जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि सब जीवोंको अपने ही स्वरूपके समान भले प्रकार माना है, तब उनमें कोई दुःख होता है तो उसी प्रकारका स्वरूप तो खुदका है सो खुदमें भी वैसा ज्ञान होता है और तद् विषयक सहानुभूति बनने लगती है। सो ऐसे पुरुष दूसरोंके उपकारके लिए क्या क्या नहीं कर डालते? देखो आकाशमें हजारों कोशों की दूरी पर है चन्द्रमा, पर इतनी दूर रहता हुआ भी चन्द्रमा समुद्रका कितना उपकार कर देता है सो लोगोंको विदित ही है कि जब चन्द्रकी किरणोंमें वृद्धि होती है तो समुद्रकी वृद्धि होने लगती है, पर जब चंद्रकी कला ही घटने लगे तो बेचारा चंद्र क्या करे? वहाँ समुद्र भी घटने लगता है, पर चन्द्र उपकार तो सही है कि उसकी किरणोंका स्पर्श पाकर यह समुद्र वृद्धिको प्राप्त होता है, अथवा समुद्रकी ओरसे भी तो देखिये—समुद्रका कैसा उदार स्वभाव है कि चंद्रमाकी वृद्धिमें तो यह समुद्र बढ़ता है, फूला नहीं समाता और चंद्रकी हानिमें यह समुद्र भी घटने लगता है, उदास हो जाता है तो ऐसे ही सज्जन लोग भी दूसरोंकी वृद्धि और विभूतिकी उन्नति देखते हैं तो वे हर्ष मानते हैं और उनकी घटती अथवा अवनति दिखती है तो उसमें भी दुःख मानता है। तो सज्जन पुरुषोंकी प्रकृति भी ऐसी है कि संसारके जीवोंको वे सुखी ही देखना चाहते हैं। उनके हृदयमें सतत भावना है कि सर्व जीव सुखी हों, सर्व जीव निरोग हों। जीवोंको अपने स्वरूपका भान हो जिसके प्रतापसे वे सर्व जीव संकटोंसे दूर हो जाते हैं। तो ऐसी सद्भावना वाले सज्जनोंकी संगति आत्माका कल्याण करने वाली होती है।

सत्यां वाचं वदति कुरुते नात्मशंसान्यनिंदे
नो मात्सर्यं श्रयति वनुते नापकारं परेषां।

नो शप्तोपि व्रजसि विकृतिं नैति मन्युं कदाचित
केनाप्येतन्निगदितमहो चेष्टितं सज्जनस्य ॥ ४५५ ॥

(३१३) **सज्जन पुरुषोंकी सत्यवादिता, आत्मप्रशंसापरिहार परनिन्दापरित्यागका निर्देश**—सज्जन पुरुषोंकी चेष्टा अद्भुत होती है। सज्जन लोग सदा सत्य ही वाणी बोलते हैं। सत्य उसे कहते हैं जो हितकारी हो, परिमित हो, प्रिय हो, सबका भला करने वाली हो। तो सबका भला करने वाली वाणी वही हो पाती है जो वस्तुस्वरूपके अनुरूप हो और इसी कारण उसको सत्य वाणी कहते हैं। तो सज्जन पुरुष सदा सत्य वाणी ही बोलते हैं। सत्पुरुष कभी अपनी प्रशंसा नहीं करते। वे जानते हैं कि आत्मप्रशंसासे क्या होता? संसार में देह कर्म और विकारके बंधनके बीच फंसा हुआ यह मैं प्रशंसा योग्य भी नहीं हूं और फिर प्रशंसा बिल्कुल व्यर्थकी चीज। किसको अपनी प्रशंसा बतलायें? संसारके ये मनुष्य सब अपनी अपनी कषायके अनुसार अपनी अपनी दशायें भोग रहे हैं, स्वार्थको सिद्ध कर रहे हैं, छद्मस्थ हैं, संसारमें रुलने वाले हैं। इनको क्या अपनी प्रशंसा सुनाना? अथवा प्रशंसा है ही क्या? जब प्रशंसनीय आत्मा हो जाता है तो वहां विकार नहीं रहता। जब प्रशंसाका भाव रहता है तो निश्चित समझिये कि वह विकारी है, प्रशंसाके लायक रंच भी नहीं है। सर्व तत्त्वोंको स्पष्ट सही जानने वाले सज्जन पुरुष कभी भी अपनी प्रशंसा नहीं करते और किसी अन्य पुरुषकी निन्दा भी नहीं करते, क्योंकि अन्यकी निन्दा करनेसे क्या प्रयोजन है? उससे क्या बढ़वारी होती? बल्कि ईर्ष्या आदिक अवगुण जाहिर होते हैं। तो सज्जन पुरुष अन्य किसीकी निन्दा नहीं करते।

(३१४) **सज्जन पुरुषोंमें मात्सर्यादि अवगुणोंकी असंभवता**—जिन पुरुषोंकी संगति उपादेय है उन पुरुषोंका कुछ परिचय दिया जा रहा है। सज्जन पुरुष दूसरे लोगोंमें कभी मात्सर्य भाव नहीं रखते। मात्सर्यमें मात्सर्य करने वाले पुरुष दूसरोंके गुणोंको दोषरूप ठहरानेका प्रयत्न किया करते हैं। भले ही गुण हों मगर उन्हें दोषरूपमें ही साबित करने की आदत दुष्टजनोंके होती है। जो ज्ञानी पुरुष है जिन्होंने स्व और परपदार्थके स्वरूपका भले प्रकार निर्णय किया है, वे जानते हैं कि कोई जीव बड़ीसे बड़ी समृद्धि पाये, ऊँचासे ऊँचा विकास पाये तो उसमें वे खुशी मानते हैं, उनका विकास हो, उन्नति हो इसकी तो वे ज्ञानी पुरुष अनुमोदना करते हैं। जब ऐसी बात है तो फिर वे किसीके साधारण विकासमें ईर्ष्या कैसे कर सकते? सज्जन पुरुष कभी भी दूसरेके गुणोंको दोषी ठहरानेका प्रयत्न नहीं करते संतजन कभी किसीको कैसा ही मानसिक, वाचनिक अथवा कायिक (शारीरिक) दुःख नहीं देते। सज्जनोंकी ऐसी ही, चेष्टा और अपने आपका ध्यान रहता है कि जिससे कभी दूसरों

को मानसिक व्यथा हो ही नहीं सकती। यदि कोई दुष्ट सज्जनको ही निरखकर दुःखी हुआ करे तो उसका कोई उपाय नहीं, किन्तु सज्जन पुरुषोंकी कोई वृत्ति ऐसी नहीं है जिससे दूसरे लोग मानसिक दुःख पायें। उनके वचन तो कभी खोटे निकलते ही नहीं। तो वाचनिक दुःख कैसे उनके द्वारा हो सकते हैं? इसी प्रकार शारीरिक दुःख भी सज्जन पुरुषोंके द्वारा सम्भव नहीं है।

(३१५) सज्जनपुरुषोंके किसी भी स्थितिमें परोपकारभावकी असंभवता—सज्जन पुरुषोंका यदि कोई उपकृत पुरुष बिगाड़ भी कर दे तो भी वे अपने भीतर विकृत नहीं होते अर्थात् अपकार करने वालेसे बदला लेनेकी कभी मनमें भावना नहीं जगती, क्योंकि वे जानते हैं कि मुझको दुःखी करने वाला कोई दूसरा पदार्थ हो ही नहीं सकता। केवल अपने बांधे हुए कर्मोंके उदयका सान्निध्य पाकर ही ये दुःखी हुआ करते हैं। सो उन दुःखोंके लिए भी मैं कर्मोंको क्या जिम्मेदार ठहराऊँ? वे कर्म भी तो मेरे परिणामके अनुसार ही बंधे हैं। अर्थात् जैसा मैंने किया था वैसा ही मैं आज भोग रहा हूं। इसमें किसी दूसरेको क्या करामात? यह निर्णय उनके बड़ी दृढ़तासे बैठा हुआ है इस कारण सज्जन पुरुष कभी भी दूसरोंके द्वारा बिगाड़ होने पर भी कभी वे विकृत नहीं होते। संत पुरुष दुनियाके समस्त समागमोंको असार जान रहे हैं और इसी कारण किसी भी घटना पर उन्हें क्रोध नहीं जगता। समस्त बाह्य परिणमन हैं। जैसा जहाँ जिसका हो रहा है वह उसकी योग्यतासे चल रहा है, उस पर क्रोधका क्या अवकाश? और इसी तरह शोक भी नहीं करते, कोई पदार्थ कैसा ही परिणमें उससे मेरेको क्या हानि? तो सज्जन पुरुष क्रोध अथवा शोकको प्राप्त नहीं होते और सदा प्रसन्न मुख ही बने रहते हैं, इसलिए सज्जन पुरुषोंका एक विलक्षण उदारता पूर्ण ही समस्त व्यवहार होता है। ऐसे सज्जनोंकी संगतिमें जो पुरुष रहते हैं वे संतोष शान्ति और सन्मार्गपर गमन करने वाले होते हैं।

नश्यत्तंद्रो भुवनभवनोद्भूततत्त्वप्रदर्शी
सम्यग्मार्गप्रकटनपरो ध्वस्तदोषाकरश्रीः।
पुष्पत्पद्मो गलिततिमिरो दत्तमित्रप्रतापो
राजतेवा दिवससदृशः सज्जनो भाति लोके ॥४५६॥

(३१६) सत्पुरुषोंकी निष्प्रमादता—एक पुराने भजनकी टेक है—धनि धनि साधु मिलनकी घड़ी। साधर्मी जनोंके समागम की घड़ीको धन्यवाद किया है। जगतमें अनेक चीजें मिलना सुलभ है पर साधर्मी पुरुषोंका सत्संग मिलना बड़ा दुर्लभ है और इस मनुष्य का उद्धार सत्संगके बिना नहीं हो पाता। पुराने चरित्र देख लो—किसको कहाँ क्या सत्संग

मिला। कैसे उसका उद्धार हुआ। यह सब चरित्र आपको मिलेगा। इस समय भी देखलो जो जिस संगमें रहता है उसकी वैसी बुद्धि बन जाती है। तब यह आवश्यक है कि हम आप सबको सज्जनोंका सत्संग अधिक प्राप्त हो ताकि इस पाये हुए मनुष्यजन्मकी सफलता हो। उन्हीं सज्जनोंका इसमें स्वरूप बताया जा रहा है। ये सज्जन पुरुष इस लोकमें दिनके समान शोभित होते हैं याने लौकिक दृष्टिमें, जो दिनमें गुण मिलते हैं वैसे ही गुण सज्जन पुरुषोंमें होते हैं। कैसे कि विवश होते हैं। नश्यत्तंद्रो मायने जब दिन होता है तो आलस्य दूर हो जाता है, यह सब लोग जानते हैं। जब रात रहती है तो लोग प्रमादमें और आलस्यमें रहते हैं। जब रात्रि समाप्त होती है तब लोगोंका आलस्य स्वयं छूट जाता है। लोग जगते हैं, मुख धोते हैं, नहाते हैं। तो ऐसे ही सज्जन पुरुषोंकी तंद्रा नष्ट हो गई, उन्हें भी आलस्य नहीं, प्रमाद नहीं। प्रमाद नाम किसका ? जो मोक्षमार्गमें बाधक हो उस भावका नाम है प्रमाद। कोई पुरुष बड़ी वीरता जताये कि मुझे आलस्य नहीं है तो उसका वह केवल कहना मात्र है। आलस्य वहाँ न कहेंगे जहाँ परिणामोंमें निर्मलता हो, जिससे मोक्षमार्ग बने, क्योंकि जगतमें कोई भी वस्तु सारभूत नहीं है।

(३१७) असारसमागमोंसे व्यामोह दूर कर दुर्लभ नरपर्यायको सफल करनेका संदेश—भैया, खूब सोच लो, जहाँ आपका मन हो उस बातका विचार कर लो। क्या यह धन वैभव सदा मेरे काम आयगा ? अरे अब भी काम नहीं आ रहा आत्माके तो आगे क्या काम आयगा ? यह कुटुम्ब मित्रजनोंका समागम मेरेको शरण है क्या ? ये अनेक सुखसाधन इनसे शान्ति किसीको मिली है क्या ? बड़े-बड़े धनिक पुरुषोंसे भी पूछ लो कि धन होनेसे आपको तो बड़ी शान्ति हुई होगी ?....तो वह यही कहेगा कि शान्ति तो नहीं मिली हाँ कुछ काल्पनिक मौज भर माना गया। तो जगतमें कोई भी समागम ऐसा नहीं है कि जिसमें शांति उत्पन्न हो सके। प्रथम बात तो यह ही देख लो—यह जो शरीर लग बैठा जीवोंके साथ भिन्न सत्ता होनेपर भी अनादिसे धारा चली आ रही है सूक्ष्म शरीरकी और उसीके कारण सूक्ष्म शरीर भी साथ लगा है, तो यह ही बड़ी विपत्ति है। सारे कष्ट इस शरीरके सम्बन्धसे हैं। और की तो बात क्या कही जाय, ऐसे भयानक इस संसारवनमें आलस्य करनेसे अर्थात् धर्मसे दूर रहनेसे क्या लाभ है ? हानि ही है। बहुत कालमें आज यह दुर्लभ मनुष्य जन्म पाया है। यहाँ बताया गया है कि असंख्यात कालके बाद कभी किसीको दो हजार सागर तक ही त्रस पर्याय मिलती है और त्रस पर्यायमें दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, नारकी, पशु पक्षी, देव, मनुष्य आदिक सभी प्रकारकी पर्यायें हैं। ये दो हजार सागर अगर व्यतीत हो जायेंगे इस मनुष्य पर्यायके साथ या थोड़ा बहुत कम होगा तो अन्य पर्यायके साथ, तो

फल क्या होगा ? स्थावरमें ही जन्म होगा, पेड़, पृथ्वी, आग, हवा, फल फूल आदिक बनना पड़ेगा । फिर उद्धारका मार्ग कहांसे मिलेगा ? तो यह मनुष्यभव बड़ा दुर्लभ है, यह विषयोंमें खोनेके लिए नहीं है । आज पुण्यका उदय है, सुख साधन प्राप्त हैं, शरीरकी स्थिति भी सबल है, तो इस समय कोई यदि यह सोचे कि खूब विषयसाधन करें, खूब सुख लूटें और वह विषयोंमें मस्त रहे तो अन्तमें उसे बहुत पछताना पड़ता है । जितना समय रह गया उतने समय ही चेत लीजिए । बहुत समय निकल गया । थोड़ीसी आयु रह गई, अब रही सही आयुमें यदि मोह किया, अज्ञान रहा, आत्मस्वभावकी दृष्टिके लिए न चले तब यह भव ऐसा ही खो दिया समझियेगा । अब जीवनका रहा सहा समय तो धर्मदृष्टिमें लगाना चाहिये । तो जो ज्ञानी पुरुष हैं, जिन्होंने आत्मस्वरूपका परिचय पाया है वे पुरुष मोक्षमार्गमें प्रमाद नहीं करते ।

(३१८) सत्पुरुषों द्वारा सन्मार्गप्रकाश व उनके गुणप्रकाशसे दोषाकर जनोंकी शोभा का ध्वंस—सत्पुरुष सूर्यकी तरह इस लोकभवनमें रहने वाले पदार्थोंका सही प्रकाश करते हैं । सूर्यका उदय होता है, सब चीजें प्रकाशमें आ जाती हैं । तो सज्जन पुरुष भी ऐसे ज्ञानी होते हैं कि परोक्षज्ञानसे या कुछ प्रत्यक्षज्ञानसे वे समस्त लोक और पदार्थोंको जान लेते हैं । और देखिये प्रयोजनकी बात तो इतनी है कि मैं जीव हूं, चैतन्यस्वरूप वाला हूं और मेरे ही समान अनन्त जीव भी चैतन्यस्वरूप वाले हैं पर मेरी सत्तासे जुदे हैं, और जितने भी पुद्गल हैं सभी पुद्गल मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, सभी पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, ऐसा एक भेद-विज्ञान बने तो इसमें सारा जान लिया । जो कुछ समझना था वह सब परख लिया, क्योंकि बहुतको जानना इसीलिए होता है कि मैं अपने स्वभावको समझ लूं । अपने सत्को जान लूं । तो जिसने आत्मस्वरूपको जाना उसने सब जान लिया समझिये । अन्य विशेष जाननेसे क्या प्रयोजन रहा ? तो सत्पुरुष वास्तविक तत्त्वमें जाननहार होते हैं । जैसे—सूर्य सही मार्गके प्रकट करनेमें तत्पर होता है ऐसे ही ये सज्जन सही मार्गके प्रकट करनेमें तत्पर हैं । सही मार्ग क्या ? ज्ञाताद्रष्टा रहना, विकल्प त्यागना यह ही सही मार्ग है । सो इसको प्रकट करते ही हैं । वस्तुस्वरूप जानकर यह ही तो अवधारण किया जाता है कि मैं आत्मा स्वयं स्वभावतः ज्ञानानन्दमय हूं, मैं किस स्वरूपसे रचा हूं, जैसे ये दिखने वाले पदार्थ हैं तो ये रूप, रस, गंध, स्पर्शसे बने हुये हैं, स्पष्ट मालूम होते हैं ऐसे ही यह आत्मा किस रूपसे रचा हुआ है वह भी तो अंतः परखिये । यह है ज्ञान और आनन्दसे रचा हुआ । दुःख बनाया जाता है आनन्द स्वयमेव होता है । जब कि आज लोग इस बातको तरसते हैं कि हमें आनन्द चाहिये । आनंद बने । तो बननेकी चीज आनन्द नहीं होती । क्लेश है बनावटकी चीज । किन किन आश्रय-

भूतोंपर दृष्टि दी, किन किन साधनोंपर मोह ममत्व कर रहे, दुःख ही बन रहे। सही ढंगसे चलें, यथार्थ श्रद्धा रखें, आनन्द अपने आप है। तो ये सज्जन पुरुष सही मार्गके प्रकट करनेमें तत्पर होते हैं। जैसे सूर्य चन्द्रकी शोभाको नष्ट कर देता है। सूर्यके उदयकालमें दिनमें कभी चंद्र भी आकाशमें रहता है पर उसकी शोभा तो नहीं रहती, ऐसे ही ये सज्जन पुरुष दोषाकरके अर्थात् दोषोंकी खान दुर्जन पुरुषोंकी शोभाको ध्वस्त कर देते हैं याने लोकमें सज्जनोंकी ही शोभा है उनके सामने दुर्जनोंकी शोभा नहीं है।

(३१९) आत्मविकासके उपाय सत्याग्रह व असहयोग—सत्पुरुषोंके गुणविकास कैसे बना कि उन्होंने अपने उस स्वरूपको पहिचाना जिस स्वरूपकी पहिचानपर आत्माका विकास होता रहता है। स्वरूप क्या है ? ज्ञानप्रकाश जाननमात्र। अन्य विकल्पोंको हटाकर केवल ज्ञान ज्योति मात्र ही तत्त्वज्ञानमें रखें तो वह प्रकाश, वह अनुभव अपने आप बन जायगा। देखो आत्मा तक पहुंचनेके या आत्माकी आजादी पानेके दो उपाय हैं—सत्याग्रह और (२) असहयोग। जैसे भारत देशको आजाद करनेके लिए ये दो ही उपाय अपनाये गए थे ना—सत्याग्रह और असहयोग, क्या किया था नेताओंने असहयोगमें कि विदेशी मालको न खरीदना, बल्कि यहाँ तक आन्दोलन किया था कि कोई विदेशी टोपी लगाये हो तो उस की टोपी लेकर टोपीको जला देना, यह तो था उनका असहयोग और सत्याग्रहमें क्या किया था कि हमारे देशकी उपज देशकी चीज यह हमारे प्रयोगकी चीज है। उपयोगकी चीज है, इस पर प्रतिबन्ध न होना। जैसे नमक बनाना आदिक कामोंमें प्रतिबंध था उनको तोड़ा। जिनकी बड़ी उम्र होगी वे सब लोग इस बातको भली भाँति जानते ही होंगे। तो असहयोग और सत्याग्रह इन दो के बलपर जैसे भारतदेशकी आजादी प्राप्त की थी ऐसे ही आत्माकी वास्तविक आजादी भी इन दो उपायोंसे प्राप्त की जा सकती है असहयोग और सत्याग्रह। विदेशी तत्त्वोंसे याने नैमित्तिक तत्त्वोंसे, बाह्य पदार्थोंसे और रागद्वेषादिक परभावोंसे उपेक्षा रखना उन्हें न अपनाना, उनमें लगाव न रखना, यह तो करें असहयोग और सत्याग्रहमें क्या करें कि आतमाका जो सहज स्वरूप है चैतन्यमात्र, उसका आग्रह करें। मैं यह हूं चैतन्य स्वरूप मैं अन्य कुछ नहीं हूँ। मैं मनुष्य नहीं, मैं त्यागी नहीं, मैं गृहस्थ नहीं, व्यापारी नहीं कुटुम्ब वाला नहीं, अमुक गाँव वाला नहीं, यों आप सारी बातें लगाते जाइये, ये कुछ भी मैं नहीं हूँ। मैं तो एक चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। एक द्रव्य हूँ ना, सत् हूँ ना। तो मैं केवल चैतन्यस्वरूप हूँ। अन्य चीजोंको भुला दीजिये, और अपने आपका जो सत्यस्वरूप है उसका आग्रह करिये। तो ये दो उपाय ऐसे हैं सत्याग्रह और असहयोगके कि हम अपने आत्माकी आजादी प्राप्त कर सकते हैं। यह ही किया, अन्य सब संतोंने, तीर्थंकरोंने जिनकी आज हम

भक्ति भावसे पूजा करते हैं।

(३२०) **प्रभुताका साधन व प्रताप**—प्रभुको पूजनेका क्या प्रयोजन है, जरा प्रयोजन भी तो अपना निर्णीत करें। ये सुख देंगे, नरकसे बचा देंगे, स्वर्गमें पहुंचा देंगे या कुटुम्ब को बढ़ा देंगे या दूकान चला देंगे, इस प्रयोजनसे क्या प्रभुकी भक्ति करने आया करते हैं? यदि यह प्रयोजन भी सिद्ध न होगा और आपका परिश्रम भी व्यर्थ जायगा, क्योंकि खोटा प्रयोजन रखनेसे पुण्यरस भी नहीं बनता और कदाचित कुछ हो भी जाय तो यह पूर्वबद्ध पुण्य के उदयसे हुआ। तो अपना प्रयोजन क्या रखें कि हे प्रभो! तुम भी कभी मुझ जैसे ही संसारी प्राणी थे जितने भी सिद्ध हुए उन सब सिद्धोंने पहले निगोद अवस्था भोगा था इतना तो निश्चित है। अन्य पर्यायमें क्या भोगा क्या नहीं भोगा, भले ही कुछ कम बढ़ बात हो मगर सबने निगोद पर्याय तो भोगा था। निगोदसे निकलकर मनुष्यपर्याय पाया। तो मनुष्य पर्यायमें यह ही विवेक किया, यही तपश्चरण किया असहयोग और सत्याग्रह। देह मैं नहीं, यह स्थूल पौद्गलिक है। कर्म मैं नहीं, ये सूक्ष्म पौद्गलिक है। विकार मैं नहीं। ये औपाधिक नैमित्तिक हैं, परभाव हैं। मैं तो केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। तो ये मैं नहीं, ये परभाव मैं नहीं। ऐसा जानकर उनका सहयोग न रखें, उनमें उपयोगको न फंसाया जाय यह तो है असहयोग और मैं आत्मा एक चेतना मात्र हूँ। यह सत्य बात है, परमार्थ सत्य है, अनादि अनन्त सत्य है। उस चैतन्यस्वरूपका आग्रह होना चाहिए कि मैं यह हूँ। ये दो उपाय तो अपनाइये, फिर आपके अणुव्रत, महाव्रत, ध्यान, तपश्चरण आदिक साधनायें होती जायेंगे। और आप मोक्षमार्गमें बढ़ते जायेंगे। तो ये सज्जन पुरुष अपने आपके इस ही सन्मार्गको प्रकट करने वाले हैं और समस्त दोषोंको दूर करने वाले हैं। ऐसे सत्पुरुषों का संग करना चाहिए। सत्पुरुषोंका एक सीधा लक्षण यह मिलेगा जो देखनेमें अनुमानमें आये कि संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त रहेंगे। उनकी कुछ प्रवृत्तिसे, उनकी वाणीसे, उनके व्यवहारसे यह समझमें आ जायगा कि यह रागद्वेषादिकका झगड़ा रगड़ा इनसे अलग हैं, ये विषय भोगोंसे दूर रहते हैं। ये अपने शरीरमें ममत्व नहीं रखते, यह बात उस संगसे समझ में आ जाती है। यह सत्पुरुषोंकी एक मौलिक पहिचान है।

(३२१) **सत्पुरुषोंकी पुण्यत्पद्मता**—ये पुरुष सूर्यके समान पुण्यतपद्म अर्थात् जैसे सूर्य के उदयसे पद्म पुष्ट हो जाते हैं, कमल फूल जाते हैं, विकसित हो जाते हैं ऐसे ही इन सज्जन पुरुषोंके संगसे इनकी पद्मा कहो विभूत, लक्ष्मी, शोभा, कान्ति, लौकिक सिद्धि ऐश्वर्य ये सब पुष्ट हो जाते हैं। देखिये ऊँचासे ऊँचा पुण्य कौन बांध सकता है? पुण्यमें ही चलें और यही निरीक्षण करें कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके जितना उच्च पुण्यबंध हो सकता है उतना अज्ञानी

मिथ्यादृष्टिके नहीं हो सकता। और यह खासियत देखिये कि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुण्यको चाहते नहीं, उस पुण्यमें उनका मन नहीं रमता फिर भी रहे सहे भावके कारण ऐसा पुण्यबंध होता है जैसा कि अज्ञानीके नहीं हो सकता। तो यहाँ एक बातपर दृष्टि दें कि मिनिस्टरके साथ रहने वाला कोई चपरासी, सिपाही या राष्ट्रपतिके साथ या राजाके साथ कोई पहरेदार, चपरासी हो तो वह भी कितना प्रभाव वाला होता है। सब लोग वहाँ नहीं फटक पाते हैं। उनका भी कुछ आन मानते हैं, तो उस सिपाहीमें, उस राजाके साथ रहनेके कारण इतना प्रभाव बनता हैं तो ऐसे ही समझिये कि वैराग्यभूमि तो राजा है, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन उसका धनी, उस आत्माके जो राग शेष रह गए उस राग चपरासीमें जो इतना प्रभाव आया है सो ज्ञानी आत्माके संगसे प्रभाव आया। तो सज्जन पुरुष पुण्यंतपद्म होते अर्थात् इनकी सम्पत्ति लक्ष्मी ऐश्वर्य पुष्ट होते हैं। चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदिक जैसे बड़े-बड़े पद ये सम्यग्दृष्टिको ही प्राप्त हो पाते हैं। भले ही नारायण प्रतिनारायण उस भवमें सम्यग्दृष्टि नहीं रहे, मगर ऐसे पदका बंध उन्होंने किया था पूर्वभवमें मुनि होकर, शुद्ध ज्ञानी होकर, उस तपश्चरणके साथ भले ही थोड़ी गल्ती रही जिससे निर्वाण न हो सका मगर संसारकी बड़ीसे बड़ी विभूतियाँ शुद्ध श्रेष्ठ आत्मावोंको प्राप्त होती हैं।

(३२२) **सत्पुरुषोंका अज्ञानान्धकारापहरण**—ये सत्पुरुष सूर्यके समान अंधकारके नष्ट करने वाले हैं। यहाँ अज्ञानभाव नहीं रहता। जैसे सूर्यके उदयमें अंधेरा नहीं रहता ऐसे ही ज्ञानियोंके कोई अंधेरा नहीं रहता। सारी बात स्पष्ट रहती है, जीव क्या, अजीव क्या, तत्त्व क्या ? यह सब उनके स्पष्ट रहता है। देखिये धर्मकी भावना है सबके मगर क्या चाहते हैं अनेक लोग कि मेरे ऐसा हो तो आलस्य रहे और कुछ परिश्रम न करना पड़े, न ज्ञान सीखना पड़े, न तत्त्वज्ञानमें उपयोग देना पड़े और हमको धर्मलाभ होता रहे। तो ऐसे धर्मलाभ नहीं होता। इस पायो हुई प्रतिभाको, बुद्धिको प्राप उपयोगमें लोजिए। जीवादिक ७ तत्त्वोंका ही जिनको परिचय न हो उनको क्या कहा जाय ? चाहे निश्चयतया सम्यग्दर्शन नहीं है मगर व्यवहारसम्यक्त्व जो कि निश्चयसम्यक्त्वका हेतु बनता है वह कुछ होना ही चाहिए। ७ तत्त्वोंका परिचय यह प्रत्येक भाईको हो तो ये कुछ धर्ममार्गमें आगे प्रगति कर सके। तो ७ तत्त्व क्या हैं ? मैं जीव हूं, देह अजीव हैं, कर्म अजीव है और कर्मोंका उदय पाकर जो भाव जगते हैं विकार वे भी चेतनासे रहित हैं। मैं चैतन्यस्वरूप हूं। जीव और अजीवका ज्ञान किया। जब यह जीव रागद्वेष विकार भाव करता है, यह अजीव ये कार्माणवर्गणा, ये कर्मरूप धारण कर लेते हैं तो जीवके साथ इन कर्मोंका एक क्षेत्रावगाह होता है। आना और बँधना यह ही आश्रव बंध है। जब जीव अपने ज्ञान वैराग्यकी सम्हाल करता है,

अपने स्वरूपकी दृष्टि करता है तो कर्म बँधना बंद हो जाता है। वे बहुत कम रह जाते हैं। उनके बंधका रुकना यह हुआ सम्वर और इसी ज्ञान और वैराग्यके प्रतापसे पहले बँधे हुए संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है। सम्वर और निर्जरा होते जायेंगे इस ज्ञान और वैराग्यके प्रसादसे तो मोक्ष हो जाता है। जीवका हित मोक्षमें है, जहाँ रंच भी आकुलता नहीं है। आकुलता संसार है और निराकुलता एक मुक्ति है। जहाँ पूर्ण निराकुलता है उसे मोक्ष कहते हैं। एक ऐसी कथासी है कि एक भाई भगवानके आगे बहुत बहुत कहा करते थे कि हे भगवान मुझे मोक्ष दीजिए। मैं मोक्ष ही चाहता हूं, अन्य कुछ नहीं चाहता। तो मानो किसी देवने आकर उसकी परीक्षा की। देव बोला—भाई चलो मोक्ष, हम तुम्हें वहाँ लेनेके लिए आये हैं। तो वह पुरुष बोला—पहले यह तो बताओ कि वहाँ स्त्री, पुत्र, मकान, चाय, लड्डू हलुवा आदि सब चीजें मिलेंगी कि नहीं ? तो वह देव बोला—भाई वहां ये कोई चीजें नहीं मिलेंगी, वहाँ तो तुम सिर्फ आत्मा ही आत्मा रहोगे। तो वह पुरुष बोला—तो फिर हमें ऐसा मोक्ष न चाहिये। अभी आप जावो, फिर कभी आगे देखा जायगा।....तो जब तक यह भीतरमें तीव्र भावना नहीं बनती कि मुझे तो केवल चैतन्यमात्र आत्मा ही रहना है। शरीर और कर्मका मेरेको लेप और सम्बंध न चाहिये। ऐसा जब तक पक्का निर्णय नहीं बनता तब तक वह धुन नहीं आ पाती, जिसमें धर्म बनता है, मोक्षमार्गकी प्रगति होती है। एक यह ही निर्णय कर लेना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। मुझे शरीरका सम्बन्ध न चाहिए। मुझे केवल जैसा मैं हूं वैसा ही रहना चाहिए। यह निर्णय बने तो वहाँ धर्मकी प्रगति है।

(३२३) **सत्पुरुषोंका प्रताप और तेज**—ज्ञानी सत्पुरुषोंका सर्व प्रकारका अज्ञान अंधकार हट गया अतः उनके संसर्गसे मित्र जनोंका भी प्रताप बढ़ता है, सत्संगसे दूसरोंकी भी प्रगति होती है। जैसे सूर्यके उदयमें अनेक पदार्थोंका प्रताप बढ़ता है सूर्य अपने तेजसे शोभायमान होता है। ऐसे ही ये ज्ञानी सत्पुरुष अपने तेजसे शोभायमान होते हैं। तेज क्या ? अपना शुद्ध ज्ञान। आनन्द शुद्ध ज्ञानमें है, कल्पनामें आनन्द नहीं। किसी बाह्य पदार्थको अपनानेमें ममता करनेमें आनन्द नहीं है। आनन्दस्वरूप तो यह आत्मा स्वयं है। अन्य दार्शनिक कहते हैं—आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, यही बात तो यहाँ भी है। वहाँ जरा एकान्त कर लिया गया और यहाँ उसके साथ ज्ञान भी माना गया। सभी अनन्त गुण माने गए, यहाँ एकान्त नहीं है, पर प्रयोजनकी दृष्टिसे तो आनंद मुख्य चीज है। तो आनंद तो मेरा स्वयंका स्वरूप है। ज्ञान जगे तो आनन्द भी बढ़े, पर बाह्य पदार्थोंका लगाव लगेगा तो आनन्द घटेगा और दुःख बनेगा। यदि एक ज्ञानका प्रकाश आ जाय तो समझिये कि बहुत बड़ी विभूति है। "धन कन कंचन राजसुख सबहि सुलभ कर जान, दुर्लभ है संसारमें एक यथारथ ज्ञान।" यदि यथार्थ ज्ञान

हो गया तो संसारमें फिर रुलता क्यों ? वह तो सर्व संकटोंसे छूट जाता। तो हमें यथार्थ ज्ञानका प्रयत्न करना चाहिए, और बाहरी बातोंका अधिक विकल्प न रखना चाहिए जैसे कि सम्मान किया, अपमान किया, निन्दा किया प्रशंसा किया···, अरे ये सब मायामयी चीजें हैं, ये कोई मेरेको तार न देंगे, किन्तु मेरे स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो तो वह ही मुझे तार देगा इसलिए एक यह ही भावना होनी चाहिए कि मेरेको यथार्थ स्वरूपका ज्ञान जगे, तो ये सत्पुरुष इस लोकमें प्रतापी सूर्यकी तरह शोभायमान होते हैं, और ऐसे सत्पुरुषोंका संग कल्याण का उपाय है। इस बातकी बहुत दृष्टि रखना चाहिए।

(३२४) **सत्संगका प्रभाव**—लोग कहते कि मेरा चित्त स्थिर नहीं रहता। पूजा पाठ भी करने आये। गुरुवोंके पास बैठकर उनकी वाणी भी सुनते, और और भी अनेक उपाय करते पर चित्त क्यों नहीं स्थिर रहता ? तो भाई देख लो इस जीवनमें कुसंग कितने समय तक रहता है ? दुकानमें, घरमें, परदेशमें, मोही ज्ञानी जनोंके संगमें कितना अधिक समय बीतता है और निर्मोह पुरुषोंका, सत्पुरुषोंका कितना संग आप करते हैं जरा इस पर भी तो विचार कीजिए। तो जिनमें उपयोग अधिक फंसा रहता है उनका प्रभाव तो रहेगा ही। तो सत्संगमें अपना अधिकाधिक समय लगे, ऐसा प्रयत्न बनाना चाहिए और ऐसी भावना रखना चाहिये कि निर्मोह पुरुष, साधुसंत पुरुष मेरे सच्चे बंधु हैं जो मेरेको संसारसे उद्धार करनेका उपाय लगायेंगे या उनके संगसे उद्धारका उपाय बनेगा। धर्मात्मा जनोंको अपने कुटुम्बके प्रेमसे भी अधिक साधर्मी जनोंसे, गुरुजनोंसे प्रेम होता है। वे जानते हैं कि साधर्मीजनोंके वात्सल्यसे तो हमारे आत्माकी प्रगति होगी पर कुटुम्बीजन, मित्रजन, इनकी भक्तिसे आत्माकी प्रगति नहीं हो सकती। तो सत्संगका महत्त्व दीजिए और जीवनमें अधिक से अधिक प्रसंग सत्संग मिले और रोज सभावों द्वारा सत्संग बनाये रहें तो अपना उद्धार सम्भव ही नहीं, बल्कि निकट है।

ये कारुण्यं विदधति जने सापकारेऽनपेक्षा
मान्याचारा जगति विरला मंडनं ते धरित्र्याः।
ये कुर्वंति ध्रुवमुपकृतिं स्वस्य कृत्यप्रसिद्धयैः
मन्यां: संति प्रतिगृहममी काश्यपीभारभूताः ॥४५७॥

(३२५) **दयाशील सदाचारी उपकारी सत्पुरुषोंकी विरलता**—जो सज्जन अपना अपकार करने वाले पुरुषोंपर भी दया धारण करते हैं वे सज्जन इस जगतमें बड़े बिरले हैं। साधारणतया किसी जीवको दुःखी देखकर दया हो जाना स्वाभाविक बात है, पर कोई पुरुष जिसका अपकार कर रहा हो, जिसका बिगाड़ कर रहा हो वह पुरुष फिर भी दया दिखलाये

उनको मूर्ख अज्ञानी समझकर दया करे और कभी भी उनसे बदला लेनेकी इच्छा न करें ऐसे पुरुष पृथ्वीमें भूषण स्वरूप है और वे जगतमें बहुत बिरले हैं। लेकिन ऐसे पुरुष जो कोमसिद्ध हो जाने के लिए तो उपकार करते हैं और उस कार्यके बिगड़ जानेपर अपकार कर बैठते हैं ऐसे लोग सर्वत्र निन्द्यवान हैं और पृथ्वी पर भाररूप हैं। सत्जन वही है कि अपकारीका भी उपकार करें। ऐसी योग्यता ज्ञानवान पुरुषोंमें ही हुआ करती है। जिनका चित्त अज्ञान अंधेरेसे भरा पड़ा है उनकी कभी भी ऐसी वृत्ति नही बनती। हाँ अपना उपकार करने वालेका उपकार करना और अपना बुरा करने वालेका बुरा करना, ऐसी जिनकी प्रकृति है वे पुरुष बहुतसे हैं। वे यत्र तत्र सभी जगह मिलते हैं परन्तु अपकार करने वालोंका भी उपकार करें ऐसे सत्जन पुरुष बिरले ही देखनेमें आते हैं।

सम्यग्धर्मव्यवसितपरः पापविध्वंसदक्षो
मित्रामित्रस्थिरसममनाः सौख्यदुःखैकचेताः।
ज्ञानाभ्यासात्प्रशमितमदक्रोधलोभप्रपंचः
सप्तत्ताढ्यो मुनिरिव जनः सज्जनो राजतेत्र ॥४५८॥

(३२६) सज्जनोंका मुनिकी तरह निर्मल हृदय—सत्जन पुरुष सच्चरित्र मुनियोंकी तरह शोभायमान होते हैं। जैसे मुनियोंकी वृत्ति सम्यक्चारित्रके धारण करनेकी होती है सो सम्यक्चारित्रके धारक श्रेष्ठ मुनि होते हैं वैसे ही और वही वृत्ति श्रेष्ठ आचरणके आचरने वाले सत्जन पुरुषोंकी भी होती है। लोकमें जो सत्जन हैं उनका आचरण पापसे दूर रहने का और सत्कार्योंमें लगने का होता है। जैसे ये मुनिजन समीचीन धर्मके धारण करनेमें तत्पर रहते हैं इसी प्रकार ये सत्जन पुरुष भी जो चाहे मुनि भेषमें न आ सकें, किन्तु ज्ञान और श्रद्धान सही है वे समीचीन धर्मके धारण करनेमें निपुण होते हैं। महाव्रत है उनके पापोंका सर्वथा त्याग है तो ऐसे ही अन्य सत्जन पुरुष भी अपनी पदवीके अनुसार पापका विध्वंस करनेमें चतुर होते हैं। साधुजन जैसे शत्रु और मित्रमें समान भाव रखते हैं, शत्रु भी सदा संगमें न रहेगा, मित्र भी सदा संगमें न रहेगा। शत्रु भी अपने भावोंके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है, मेरा कुछ नहीं करता, तो मित्र भी अपनी कषाय वृत्तिके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है, मेरा कुछ नहीं करता ऐसा जिनका निर्णय है उनके लिए शत्रु और मित्र दोनो एक समान जंचते हैं। जो शत्रु और मित्रमें सत्जनोंके समता भाव रहता है, सत्जन पुरुष सुख और दुःखको एक समान समझते हैं, दुःख आया तो क्या है? बाह्यपदार्थ की परिणति है और यदि कोई बंधन है तो थोड़ा उसे कष्ट होता है। तो सुख भी क्या है?

बाह्यपदार्थोंका जो परिणमन है वह हो रहा है, उसमें कुछ अनुकूल कल्पनायें करते हैं और वहाँ कुछ सुख माना जाता है। पर ज्ञानी जीव सुख और दुःखको एक समान समझते हैं क्योंकि दोनो संसाररूप हैं। आज सुख है तो थोड़ी देर बाद दुःख हो गया, या अभी दुःख है तो थोड़ी देर बाद सुख हो गया। तो सत्जन पुरुष सुख और दुःखको एक समान समझते हैं। दोनो ही परभाव हैं। उपयोग जब आत्मासे दूर होता है तब ही ये सुख दुःखकी वेदनायें, कल्पनायें चलती हैं। ज्ञानी पुरुष अपने परमार्थस्वरूपको जानता है। उसे सुख और दुःखमें इष्ट और अनिष्ट बुद्धि नहीं होती। जैसे मुनिजन ज्ञानके अभ्याससे क्रोधादिक कषायों को शान्त कर डालते हैं ऐसे ही सत्जन पुरुष भी अपने ज्ञानबलसे इन कषायोंको शान्त कर डालते हैं। तो यों सत्जन पुरुष सच्चरित्र मुनिकी तरह शोभायमान होते हैं। उनका संग समागम जीवोंको लाभकारी है।

यः प्रोत्तुंगः परमगरिमा स्थैर्यवान्वानगेंद्रः
पद्मानंदी विहतजडिमो भानुवद् धूतदोषः।
शीतः सोमोमृतमयवपुश्चंद्रवद् ध्वांतघाती
पूज्याचारो जगति सुजनो भात्यसौ ख्यातकीर्तिः ॥४५९॥

(३२७) सत्पुरुषोंमें नगेन्द्रवत् उत्तुंगता व स्थिरता एवं सूर्यवत् निर्दोषता व आनन्दकारिता—सज्जन पुरुष उदार हृदयके होते हैं, उनका चित्त स्थिर होता है वे थोड़ी अनुकूलता प्रतिकूलतामें भी या विशेष अनुकूलता प्रतिकूलता हो तो भी वे अपने पदसे विचलित नहीं होते। सो सज्जन पुरुष सूर्यके समान तीन विशेषणोंसे युक्त हैं, पद्मानंदी हैं, अर्थात् जैसे सूर्य कमलोंको आनन्दित करने वाला है ऐसे ही ये सज्जन पुरुष पद्म अर्थात् लक्ष्मी ऐश्वर्यको आनन्दित करने वाले हैं। उनके इतना पुण्योदय चलता है कि उनका ऐश्वर्य वृध्यंगत होता रहता है। सूर्य विहतजडिम होता है अर्थात् जडिम मायने सर्दी, उसको नष्ट करने वाला होता है। सूर्यका यह गुण है कि उसके उदयमें ठंड नहीं रहती। तो ये सज्जन पुरुष जडिम कहो मूर्खता, मोह बुद्धि, उसको नष्ट करने वाले हैं याने सज्जनोंके चित्तमें किसी प्रकारका व्यामोह नहीं रहता। सूर्य जैसे धूतदोष होता है, धूत मायने नष्ट कर दिया है रात्रिको जिसने, सूर्योदय होनेपर रात्रि नहीं रहती ऐसे ही सज्जन पुरुष भी धूतदोष होते हैं अर्थात् दोषको नष्ट करने वाले होते हैं। तो ये श्रेष्ठ मनुष्य अपने विचारके उन्नत ऐसे ऊँचे कि किसी दुर्जनके द्वारा उल्लंघन नहीं किये जा सकते और अचल, किसी भी कार्यसे विचलित नहीं होते और गौरव-सहित होते। जैसे कि पर्वत उन्नत होता, स्थिर होता और गुरु होता, ऊँचा तो होता ही है तो ऐसे ही सज्जन पुरुष दिलके ऊँचे होते हैं, पर्वत जैसे स्थिर रहते हैं, ऐसे ही सज्जन पुरुष

१६– १०५७ द्रव्यके त्रैकालिक, एकाकार (अखण्ड) स्वभावको 'सामान्य' कहते हैं, और उसकी प्रतिसमयकी अवस्थाओंको विशेष कहते हैं।

१७– १०५८ "सामान्यकी दृष्टिमें विकल्प नहीं, विशेषकी दृष्टिमें नाना विकल्प हैं।"

१८– १०५९ जीवके गुणोंका सामान्य स्वभावके अनुकूल विशेष (अवस्था) होना मोक्ष है, मुक्तात्माओंमें इसी कारण परस्पर विलक्षणता नहीं होती।

१९– १०६० मुक्तात्मा पूर्ण समान हैं, पूर्ण सर्वज्ञ हैं; जिनकी सत्य उपासना होने पर उपासकके उपयोगमें कोई व्यक्ति नहीं रहता।

२०– १०६१ जिस भावमें व्यक्ति नहीं उस भावमें परमात्मा एक है, वह भाव है शुद्ध चैतन्य भाव।

२१– १०६२ कोई भी आत्मा परमात्मा होकर शुद्ध चैतन्य भावरूप ब्रह्ममें मग्न हो जाता, उससे विपरीत सत्ता वाला नहीं रहता।

२२– १०६३ यही एक सत्य है, यही कल्याण है, यही "ॐ तत् सत्" यही "सत् चित् आनन्द" यही 'सत्यं शिवं सुन्दरं" है।

मुद्रक—सहजानन्द शास्त्रमाला प्रेस, सदर मेरठ।

